शारदातिलकतन्त्रम्



डॉ० सुधाकर मालवीय

।। श्रीः ।।

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला

१००

श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचितं

शारदातिलकतन्त्रम्

श्रीमद्राघवभट्टसत्सम्प्रदायकृत-'पदार्थादर्शा'भिधा-व्याख्यासहितम्

'सुधा'-हिन्दीव्याख्योपेतञ्च

(प्रथमो भागः)

(१ - १० पटलात्मकः)

सम्पादक एवं व्याख्याकार

डॉ० सुधाकर मालवीय

एम. ए., पीएच्. डी., साहित्याचार्य

संस्कृत-विभाग : कला-संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली

प्रकाशक

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

38 यू . ए . बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० 2113

दिल्ली 110007

फोन : 3956391

प्रथम संस्करण 2001

(1-2 भाग सम्पूर्ण)

मूल्य **600.00**

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० 37/117, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० 1129, वाराणसी 221001

फोन : 335263, 333371

*

प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० 1069, वाराणसी 221001

फोन : 320404

कम्प्यूटर टाइप सेटर :
चित्तरञ्जन कम्प्यूटर वर्क्स
नई दिल्ली

मुद्रक :
ए० के० लिथोग्राफर
दिल्ली

'The

VRAJAJIVAN PRACHYABHARATI GRANTHAMALA

100

ŚĀRADĀTILAKA-TANTRAM

Of

LAKṢMAṆA DEŚIKENDRA

With the Sanskrit Commentary 'Padārthādarśa' of Rāghava Bhaṭṭa

&

'Sudhā' Hindi Translation

PART ONE
(From 1 to 10 Paṭalas)

Edited & Translated by

Dr. SUDHAKAR MALAVIYA

M. A., Ph. D. Sahityacarya

Department of Sanskrit : Arts Faculty,
Banaras Hindu University
Varanasi - 5



CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
DELHI

Publishers:
© CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 3956391

First Edition
2001

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37 / 117, Gopal Mandir Lane
Post Box No.1129
VARANASI 221001
Telephone { *335263* / *333371* }

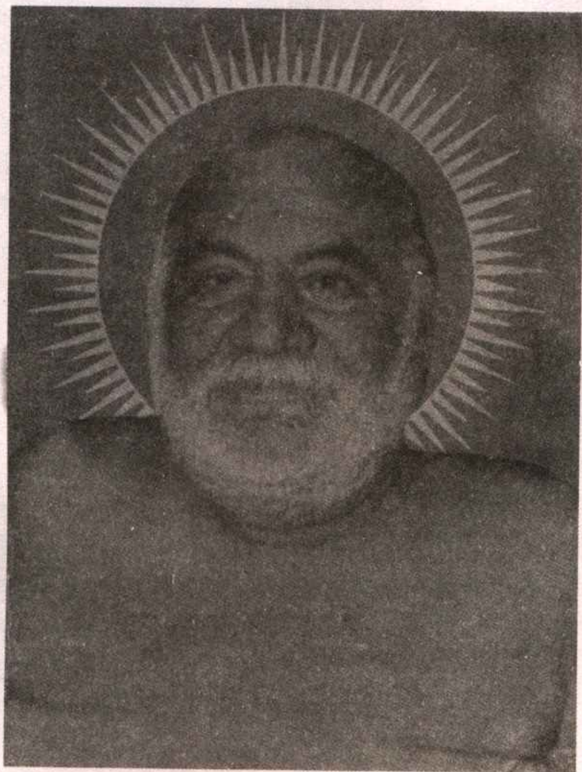
*

Sole Distributors :
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 320404

Computer Type-setters :
Chittaranjan Computer Works
New Delhi

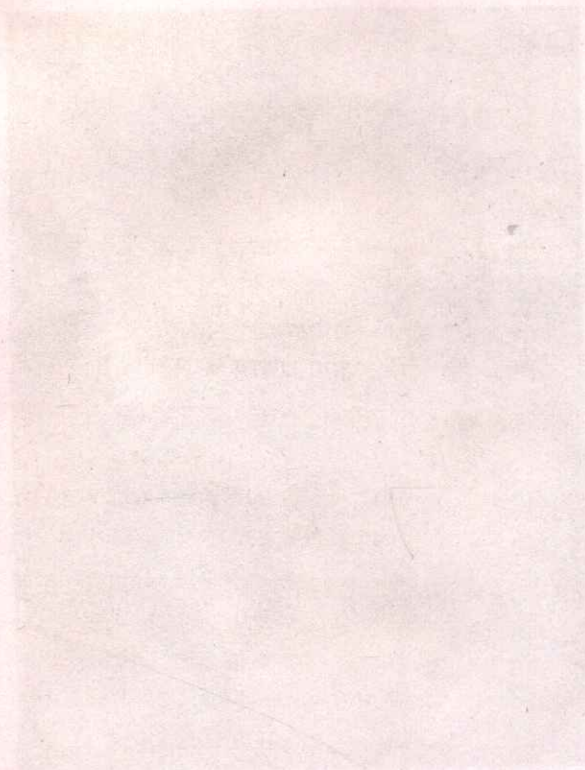
Printers :
A. K. Lithographers
Delhi

समर्पणम्



पीताम्बरापीठ दतिया के स्वामी जी को समर्पित श्रद्धा सुमन *

— सुधाकर मालवीय



सम्पादकीयम्

अथेदानीं सप्रश्रयं सामोदं च विद्वज्जनसमक्षं प्रस्तूयते हिन्दीव्याख्यासहितस्य अथ च राघवभट्टकृतपदार्थादर्शाभिधाव्याख्ययोपेतस्य श्रीमल्लक्ष्मणाचार्यविरचित-**शारदातिलक**तन्त्रस्य प्रथमादितः दशपटलात्मकः प्रथमो भागः, अथ च एकादशादितः पञ्चविंशपटलात्मकः द्वितीयो भागः ।

'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवाऽपरा च । तत्रापरा ऋग्वेदोयजुर्वेदः सामवेदो-ऽथर्ववेदश्चेत्यादिः, अथ परा यया तदक्षरमवगम्यते' इति ।

निगमागमयोश्चाविशेषेण धर्मस्थानत्वमामनन्ति । विद्यास्थानत्वं धर्मस्थानत्व-माह यथा याज्ञवल्क्येन—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ —याज्ञ. स्मृ. १. ३

एवं विद्यास्तावच्चतुर्दशसंख्याकाः । तत्र आगमशास्त्रस्य धर्मशास्त्रे परिगणना कृतास्ति ।[१]

निगमो हि श्रुतिनाम्नायते—**'या हि श्रूयत एव गुरुपरम्परया, न केनचित् क्रियत इति श्रुतिः'** इत्युपवर्णिता श्रीमद्वाचस्पतिमिश्रादिभिः ।

आगमो हि—जगति निजकर्मपाशबद्धानुत्पत्तिमरणप्रवाहपतितान् संसारसिन्धुं तरीतुमक्षमान् जन्तूनुद्धर्तुं परमकारुणिकः शिवः शिवाया उपदिष्टः—इति तत्पद-निरुक्तिस्मरणादवगम्यते, आगमशब्दः **आ ग म** इति त्रिभिरक्षरैर्निष्पन्नः । त्रीण्यपि आगमाक्षराण्युपादायाहुः स्वच्छन्दतन्त्रे—

आगतं शिववक्त्राब्जाद् गतं तु गिरिजाश्रुतौ ।
मतं च वासुदेवेन तस्मादागम उच्यते ॥

इदञ्चोपासनाकाण्डमागमीयं रामपूर्वोत्तरतापनीय-नृसिंहपूर्वोत्तरतापनीय-सौराष्टा-क्षर-शैवपञ्चाक्षरादिरूपेण श्रुतावप्याम्नायते ।

एवञ्च शिवमुखादागत्य गिरिजाश्रवणविषयतामनुभावकत्वमागमत्वमित्यवगम्यते ।

---

१. तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भावः (वरिवस्यारहस्यप्रकाशः)। परमार्थतस्तु तन्त्राणां स्मृतित्वा-विशेषेऽपि मन्त्रादिस्मृतीनां कर्मकाण्डशेषत्वं तन्त्राणां ब्रह्मकाण्डशेषत्वमिति सिद्धान्तात् ।

—भास्कराचार्यप्रणीत सौभाग्यभास्कर (ललितासहस्रनामभाष्य), प्रथमशतकस्योपक्रमः ।

एष्वागमशास्त्रेषु तत्तन्मन्त्रसाधकानि शक्तितत्त्वसाधकानि च बहून्यागमग्रन्थरत्नानि तन्त्रशास्त्रप्रणेतारैराचार्यैर्विरचितानि। तत्र तेषां बहुत्त्वेन गौरवाल्लक्ष्य श्रीमदुत्पलाचार्य-शिष्यः श्रीमल्लक्ष्मणाचार्यः एकस्मिन्नेव ग्रन्थे वैष्णव-शैव-शाक्त-गाणपत्य-सौराख्य-तन्त्राणां श्रेष्ठसंग्रहरूपं शारदातिलकनामानं तन्त्रग्रन्थसारं व्यरीरचत् ।

आगमशास्त्रस्य गाम्भीर्यं सूक्ष्मत्वं दुर्बोधत्वञ्च न कस्माचिदपि संस्कृतज्ञात् तिरोहितम् । अतएव हिन्दीव्याख्यामाध्यमेन तन्त्रशास्त्रानुसारि व्याख्यानं साहस-मात्रमेव, तथापि सुकोमलमतीनां तन्त्रविद्याजिज्ञासूनां कष्टं विलोक्य शास्त्ररक्षणं स्वकर्तव्यमितिधिया च भाषाभाष्येण यथामति व्याख्या विहिता । सा च 'सुधा' इति नाम्नाऽत्र संस्करणे समायोजिता ।

सम्प्रति ग्रन्थस्यास्य संस्करणद्वयमुपलभ्यते—१. आर्थर एवलोन सम्पादितः राघवभट्ट कृत सत्सम्प्रदायव्याख्योपेतः शारदातिलकतन्त्रग्रन्थः, २. मुकुन्द झा बख्शी सम्पादितः चौखम्भातः प्रकाशितमपरः ग्रन्थः । अत्र मया आर्थर एवलोन सम्पादित संस्करणमाधृत्य पाठो स्वीकृतः । एतदर्थं तस्य संस्करणस्य सम्पादकं प्रति प्रणतिमभ्यर्थनाञ्च विधीयते ।

हस्तिनापुरी चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानस्याधिपतीनां दुर्लभप्राचीनसंस्कृतग्रन्थ-रत्नानां प्रकाशने रतानां श्रीवल्लभदासगुप्तमहोदयानाम् आभारो मया हृदयेन स्वीक्रियते ।

ग्रन्थस्यास्य संशोधने भाषाभाष्ये च येषां सन्मन्त्रणया प्रवृत्तोऽहमभवम् येषाञ्च तन्त्रागमशास्त्रार्थानुशीलनपद्धत्या बहुशोऽहमुपकृतो जातः, तेषामेव विमलधीयुतानाम् अस्मद् गुरुचरणानां पं० हीरामणिमिश्रमहोदयानाम् आशीर्वादकामनया प्रणतिपुरस्सरं तान् अभ्यर्थये ।

भावेन लभ्यते योगं भावेन भाव्यते शिवः ।
भावेन शक्तिमाप्नोति तस्माद्भावं समाश्रयेत् ॥

इति शम् ।

विदुषां वशंवदः
सुधाकर मालवीयः

गुरुपूर्णिमा, २०५८ वि०सं०
संस्कृत विभागः, कला-संकायः
काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः
वाराणसी - २२१००५

प्राक्कथन

आश्रित्य वाग्भवभवांश्चतुरः परादीन्
भावान् पदेषु विहितार्थमुदीरयन्तीम् ।
कण्ठादिभिश्च करणैः परदेवतां त्वां
संविन्मयीं हृदि कदापि न विस्मरामि ॥

हे मातः! त्रिकोण के आधारभूत, नाभि (एवं हृदय) का आश्रय लेकर कण्ठ, तालु, मुख आदि करणों के द्वारा परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी वाणी से आप ही जगत् के समस्त अभीष्ट भावों को प्रगट करती हैं । परदेवता एवं मोक्ष स्वरूपा भी आप ही हैं । अतः ऐसा वरदान दीजिए कि मैं आपको कभी विस्मृत न करूँ ।

श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्र विरचित 'शारदातिलकतन्त्र' इदंप्रथमतया 'सुधा' हिन्दी टीका के साथ विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत है । इस संस्करण में श्रीमद्राघवभट्ट सत्संप्रदायकृत 'पदार्थादर्श' संस्कृत व्याख्या को भी आमूलचूल सम्पादित कर प्रकाशित किया गया है ।

हिन्दी टीका में मन्त्रों के अक्षरों की गणना कर उन्हें प्रकाशित किया गया है। कहीं कहीं इन्हें मन्त्रोद्धार के बाद कोष्ठ में दर्शाया गया है । मन्त्रों के बीजाक्षरों की वर्तनी का ध्यान पदे-पदे रक्खा गया है । यन्त्रों के चित्र भी यथासम्भव शुद्ध करके मुद्रित किए गए हैं । फिर भी कोई सर्वज्ञ नहीं है, त्रुटि मानव स्वभाव है । अतः बिना गुरु के मन्त्र दीक्षा लिए इनका (विशेषकर मारण, मोहन एवं उच्चाटन कर्म में) प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

शारदातिलक में सात्त्विक, राजस एवं तामस तीनों प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग वर्णित है । सात्त्विक मन्त्रों का प्रयोग तो मानव मात्र को अवश्य ही करना चाहिए और राजस मन्त्रों का प्रयोग आवश्यकता पड़ने पर करे । किन्तु तामस मन्त्रों का प्रयोग किसी लालचवश या बिना गुरु के कदापि नहीं करना चाहिए । वस्तुतः इन तामस मन्त्रों (मारण, मोहन, उच्चाटन) के अनुष्ठान में जरा सी भी त्रुटि रह जाने पर ये साधक का सर्वस्व नाश कर देते हैं । यदा कदा इन मन्त्रों को किसी को देना या कहना भी नहीं चाहिए ।

आजकल के युग में कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता । अतः हर किसी को इन मन्त्रों हेतु गुरु भी नहीं बनाना चाहिए । इतना बड़ा ग्रन्थ पूर्ण करने में कहीं

त्रुटि रह जाना सम्भव है । अतः किसी अनुष्ठान को करने के पहले ग्रन्थ में आए मूल का यथोचित मनन एवं चिन्तन कर लेना चाहिए और इनसे सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों का भी अवलोकन कर लेना चाहिए ।

तन्त्रप्रयोग में प्रक्रिया का अत्यन्त महत्त्व है । साधक के लिए तन्त्र की पूजा पद्धति का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है । तन्त्र सम्प्रदाय में मुख्य रूप से यन्त्र पर पूजा होती है । अतः यन्त्र निर्माण गुरु परम्परा से जानना चाहिए और साधक को इन्हें बनाने से पहले गुरु से विचार विमर्श अवश्य कर लेना चाहिए । मात्र पुस्तकीय ज्ञान से प्रयोग का सफल होना संदिग्ध रहता है ।

तन्त्र सम्प्रदाय के इस ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या एवं सम्पादन करके मैं अपने आप को अत्यन्त भाग्यशाली मानता हूँ क्योंकि शब्दब्रह्म की उपासना में समय का सदुपयोग हुआ । इस ग्रन्थ में जो कुछ भी मेरी गति हो सकी है या जो कुछ भी मैं समझ सका हूँ उसमें मेरे पूज्य गुरुवर्य पं० हीरामणि मिश्र जी का ही कृपाप्रसाद है । तन्त्र साहित्य में मुझे गति प्रदान करने वाले उन गुरुवर्य के चरणों में मेरा शतशः नमन है ।

तन्त्र सम्प्रदाय में प्रयोग एवं प्रक्रिया पद्धति के मेरे आद्यगुरु पूज्य पिता पं० श्रीरामकुबेर मालवीय के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ । इस ग्रन्थ में जो कुछ अच्छा है वह उन्हीं का है, जो त्रुटियाँ हैं वह मेरी हैं ।

मन्त्रशास्त्र का यह अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ जो विद्वानों के समक्ष इस रूप में आ सका है इसके लिए मैं चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान के संचालक श्री बल्लभदास गुप्त का अत्यन्त आभारी हूँ । यही मेरे प्रेरणास्रोत रहे हैं । मेरे चिरञ्जीव श्रीरामरञ्जन एवं श्रीचित्तरञ्जन ने कम्प्यूटर कार्य तथा इस ग्रन्थ के सम्पादन में मेरी अत्यन्त सहायता की है । भगवान् शंकर एवं मां जगदम्बा पार्वती इनका अभ्युदय करें । अन्ततः भगवान् काशी विश्वनाथ से करबद्ध प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ से मानवमात्र का अजस्र कल्याण होता रहे ।

सहस्रचन्द्रप्रतिमोदयालुर्लक्ष्मीमुखालोकनलोलनेत्रः ।
दशावतारैः परितो परीतो नृकेसरी मङ्गलमातनोतु ॥

सहस्रों चन्द्र समूहों के समान कान्ति पुञ्ज से युक्त, दयालु स्वभाव वाले, लक्ष्मी का मुख देखने के लिए, पुनः पुनः आकुल नेत्रों वाले, चारों ओर से दशावतारों से घिरे हुए भगवान् नृसिंह हम लोगों का मङ्गल करें ।

शिवरात्रि **विद्वद्वशंवदः**

२१ फरवरी २००१ **डॉ० सुधाकर मालवीय**

संवत् २०५८

३१/२१, ए, लंका, वाराणसी

भूमिका

देवीं दूर्वादलश्यामां दधानां शालिमञ्जरीम् ।
चिन्तयेद् भारतीं देवीं वीणापुस्तकधारिणीम् ॥

शारदातिलक प्रधान रूप से मन्त्रयोग साधना विषयक ग्रन्थ है । नामरूपात्मक विषय जीव को बन्धन युक्त करते हैं और इस नामरूपात्मक प्रकृति वैभव से जीव अविद्याग्रस्त हुए रहते हैं । अत: अपनी अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्ति की गति के अनुसार नाममय शब्दब्रह्म तथा भावमय रूप के अवलम्बन से जो योग साधना की जाती है उसे **मन्त्रयोग** कहते हैं ।

मन्त्र-शास्त्र का विषय गहन और जटिल है । उसे समझ लेना साधारण बात नहीं । यद्यपि उसके सम्बन्ध में यहाँ तक लिखा है कि—**'एतद् गोप्यं महागोप्यं न देयं यस्य कस्यचित्'** तथापि इस विषय का जो विवेचन शास्त्र में किया गया है, वह अत्यन्त सुन्दर, बुद्धिपुरस्सर और मननीय है ।

भारतीय वाड्मय में **मन्त्र-विद्या** का आसन बहुत ऊँचा माना गया है । वैदिक-साहित्य, जैन-साहित्य और बौद्ध-साहित्य में इस विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त हैं । जैसे काव्य, कोश, अलंकार, व्याकरण, न्याय और छन्द आदि विषयों के स्वतन्त्र ग्रन्थ अलग-अलग हैं, वैसे ही मन्त्र-विद्या के सैकडो स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं । **जैन-साहित्य** में नमस्कार मन्त्र-कल्प, प्रतिष्ठा-कल्प, चक्रेश्वरी-कल्प, ज्वालामालिनी-कल्प, पद्मावती-कल्प, सूरिमन्त्रकल्प, वाग्वादिनीकल्प, श्रीविद्या-कल्प, वर्द्धमान-विद्या-कल्प, रोगापहारिणी-कल्प आदि अनेक कल्पग्रन्थ विद्यमान हैं । इसी प्रकार **बौद्ध साहित्य** में तारा कल्प, वसुधारा-कल्प, घण्टाकर्ण-कल्प आदि अनेक ग्रन्थ मौजूद हैं । वैदिक साहित्य में तो इस शास्त्र का एक अलग भण्डार ही है; उसमें कत्यायनी तन्त्र, महानिर्वाण तन्त्र एवं कुलार्णव आदि अनेक और अपरिमित तन्त्र ग्रन्थ मौजूद है ।

कल्पग्रन्थ—जिन ग्रन्थों में मन्त्र-विधान, यन्त्र-विधान, मन्त्र-यन्त्रोद्धार, बलिदान, दीपदान, देवता का आवाहन एवं पूजन, विसर्जन और साधन आदि विषयों का वर्णन किया गया हो, वे ग्रन्थ 'कल्प-ग्रन्थ' कहलाते हैं ।

तन्त्र-ग्रन्थ—जिनमें गुरु-शिष्य के संवादरूप से तथा शिव-पर्वती के संवाद रूप से मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र और औषधिवल्ली आदि द्रव्यों का वर्णन होता है, वे 'तन्त्र-ग्रन्थ' हैं ।

पटल-ग्रन्थ—किसी एक देवता को आराध्य मानकर उसी देवता से सम्बन्ध रखने वाली मन्त्र, यन्त्र आदि की साधन-विधियाँ जिनमें लिखी हों तथा मान्त्रिक भूमिकाओं का वर्णन भी हो, अनेक काम्यकर्मों में निष्णात होने की बातें वर्णित हों, वे 'पटल-ग्रन्थ' कहलाते हैं।

पद्धति-ग्रन्थ—जिन ग्रन्थों में अनेक देवी-देवों की साधना का प्रकार बताया गया हो, उन्हें 'पद्धति-ग्रन्थ' कहते हैं।

बीज-कोश—मन्त्रों के पारिभाषित शब्दों को समझने की तथा एक-एक अक्षर तथा बीज की अनेक व्याख्याएँ जिन ग्रन्थों में लिखी हो उन्हें 'मन्त्र-कोश' या 'बीज-कोश' कहते हैं।

मन्त्र-दीक्षा—गुरु के समीप यथाविधि मन्त्रोपदेश लेने को 'दीक्षा' कहते हैं। जिस सम्प्रदाय की विधि के अनुसार मन्त्र दीक्षा ली हो, उसी के प्रकार से साधना करने से मन्त्र सिद्ध होता है, अर्थात् मन्त्र-दीक्षा शिष्य की योग्यता को सूचित करती है।

मन्त्र-पीठिका—मन्त्र-शास्त्र में चार पीठिकाओं का वर्णन है। बिना पीठिका के मन्त्र नहीं सिद्ध हो सकता। श्मशानपीठ, शव-पीठ, अरण्य-पीठ और श्यामा-पीठ—ये चार पीठिकाएँ है।

श्मशान-पीठ—जिस साधना में प्रतिदिन रात्रि में श्मशान-भूमि में जाकर यथाशक्ति विधि से मन्त्र का जप किया जाता है उसे श्मशान-पीठ कहते हैं। जितने दिन का प्रयोग होता है, उतने दिन तक मन्त्र का साधन यथाविधि किया जाता है। जैन-ग्रन्थों में लिखा है कि श्रीकृष्ण वासुदेव के लघुभ्राता गज सुकुमाल मुनीश्वर इसी पीठिका में परमेष्ठी महामन्त्र का साधन करते हुए आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर सिद्धि और मुक्ति को पहुँचे थे। इसे 'प्रथम पीठिका' भी कहतें हैं।

शव-पीठ—किसी मृतक कलेश्वर के ऊपर बैठकर या उसके भीतर घुसकर मन्त्रानुष्ठान करना शव-पीठिका है। यह पीठिका वाममार्गियों की प्रधान पीठिका है। कर्ण-पिशाचिनी, उच्छिष्ट-गणपति, कर्णेश्वरी, उच्छिष्ठ चाण्डालिनी आदि देवताओं की साधना तथा अघोर पन्थवालों की साधनाएँ इसी पीठिका के द्वारा होती हैं।

अरण्य-पीठिका—मनुष्य-जाति का जहाँ संचार न हो, सिंह, स्वापद, सर्प आदि हिंस्त्र पशु-प्राणियों की जहाँ बहुलता हो, ऐसे निर्जन वन-स्थान में किसी वृक्ष या शून्य मंदिर आदि का आश्रय लेकर मन्त्र-साधन करना और निर्भयतापूर्वक मन को एकाग्र रखकर तल्लीन हो जाना अरण्य-पीठिका है। निर्वाण-मन्त्र की विधि में लिखा है कि **'निर्वाणमन्त्रं यदि साधको जपेदरण्यभूमौ शिवसन्निधौ स्थितः।'** अर्थात् 'अरण्य में जाकर शिव-मन्दिर में निर्वाण-मन्त्र का जप करने से शीघ्र सिद्धि होती है।' संस्कृत साहित्य के इतिहास से पता चलता है कि प्रथमतः

आरण्यक ग्रन्थों के अनुसार आत्मसिद्धि करने के लिये निर्जन वन में ही रहने की प्रथा थी। वे साधक नगर, ग्राम आदि में या उनके समीप नहीं रहते थे, सदा एकान्त वन में ही रहकर आत्मध्यान किया करते थे। तब उनको अनेक सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती थीं। जबसे त्यागीवर्ग वनवास त्यागकर नगर, ग्राम आदि का आश्रय लेकर रहने लगा, तभी से ये सिद्धियाँ नष्ट हो गयीं और वे माया-मोह में फँसकर मारे-मारे फिरने लगे अर्थात् त्यागी जीवन के लिये एकान्तवास ही श्रेष्ठ है।

श्यामा-पीठिका—यह कठिन-से-कठिनतर है। बिरला ही कोई महापुरुष इस पीठिका से उत्तीर्ण हो सकता है। एकान्त स्थान में षोडशवर्षीया, नवयौवना, सुन्दरी स्त्री को वस्त्ररहित कर, सम्मुख बैठाकर साधक मन्त्र-साधने में तत्पर हो और मन को कभी भी यत्किञ्चित् भी विचलित न होने दे और कठोर ब्रह्मचर्य में स्थिर रहकर मन्त्र का साधन करे। इसे 'श्यामा-पीठिका' कहते हैं। जैन-ग्रन्थ में लिखा है कि द्वैपायनपुत्र मुनीश्वर शुकदेव, स्थूलीभद्राचार्य और हेमचन्द्राचार्य ने इस पीठिका का अवलम्बन किया था और मन्त्र-साधना करके वे सिद्ध हुए थे।

मन्त्र किसे कहते हैं ? मन्त्र क्या वस्तु है ? इससे क्या लाभ है ? किस प्रकार लाभ हो सकता है ? ऐसा होने का क्या कारण है ? इस प्रकार के प्रश्नों का होना स्वाभाविक है। इन प्रश्नों के समाधान के लिये 'मन्त्र'शब्द की परिभाषा जान लेना आवश्यक है। यह विषय व्यावहारिक नहीं है, इसका सम्बन्ध मानसशास्त्र से है। मन की एकाग्रता पर इसकी नींव है। इन्द्रियों के विषयों की ओर से लक्ष्य हटाकर मन को एकाग्रकर मन्त्र साधन करने से मन्त्र सिद्ध होता है। मन की चञ्चलता जितनी जल्दी हटेगी, उतनी ही जल्दी मन्त्र सिद्ध होगा। मन्त्र शब्द का शब्दार्थ भी महर्षियों ने यही किया है कि **'मननात् त्रायते यस्मात्तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्त्तितः'** (श० क० ६१७) अर्थात् 'म'कार से मनन और 'त्र'कार से रक्षण अर्थात् जिन विचारों से हमारे कार्य सिद्ध हों वह 'मन्त्र' है।

मन्त्र-विद्या योग का उच्चकोटि का विषय है। यह मन की बे-तार की तारवर्की है। हीप्नोटिज्म, मैस्मैरिज़्म् आदि इस विद्या के सम्मुख अत्यन्त तुच्छ हैं। मन से वर्णोच्चारों का घर्षण होने से एक दिव्य ज्योति प्रकट होती है। उन्हीं वर्णों के समुदाय का नाम मन्त्र है। इस विषय का ज्ञाता सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। इसलिये शास्त्रकारों ने मन्त्र शब्द का अर्थ 'विचार' किया है। राजनीति शास्त्र में इसी से लिखा गया है कि जिन विचारों को गुप्त रखकर राज्य-तन्त्र चलाया जाता है, वे मन्त्र हैं। इसीलिये राज्य-तन्त्र के प्रधान संचालक को 'महामन्त्री' और उसके साथ काम करने वालों के समूह को 'मन्त्रिमण्डल' कहते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्राचार्य ने लिखा है—

तन्मन्त्राद्यषडक्षीणं यत्तृतीयाद्यगोचरम्।
रहस्यालोचनं मन्त्रो रहश्छन्नमुपहनरम्॥ (श० क० ६१६)

मन्त्र साधक के योग्यतानुसार ही सिद्ध होता है । इसलिये मान्त्रिक कहा करते हैं कि **'जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिः'** जपते ही चले जाओ ! अवश्य सिद्धि होगी !

मन की शुद्धि पर मन्त्रशास्त्र की नींव है । जबतक मनुष्य को विषय लालसा रहती है, तब तक बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती । मन तल्लीन नहीं होता है । वह विषयवासना से अशुद्ध रहता है । इसलिये कहा है कि यदि किसी कार्य को सिद्ध करना हो तो वासनारहित होकर कार्य में तल्लीन हो जाना चाहिये । तब वह शीघ्रतम सिद्ध हो जाता है । मन्त्र का जप तल्लीन होकर करने से मन्त्र शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है । पर मन्त्र साधन के समय साधनीय कार्य की ओर ही लक्ष्य रहने से मन्त्र में तल्लीनता नहीं हो सकती । बार-बार उस कार्य का स्मरण होता है और बिना एकाग्रता के मन्त्र नहीं सिद्ध होता । यही मन्त्रशास्त्र का रहस्य है और वासनारहित होकर एकाग्रता-तल्लीनता प्राप्त कर लेना सहज बात नहीं है । यह बडा कठिन है ।

यन्त्र साधना—अष्टगन्ध, सुरभिद्रव्य आदि की स्याही बनाकर भोजपत्र, कागज या सुवर्ण, रजत, ताम्र आदि धातुपत्र पर षड्दल, अष्टदल, शतदल, सहस्त्रदल तथा त्रिकोण, चतुष्कोण या बर्तुल रेखाओं के भीतर अक्षर या अंको को लिखना और उसका यथाविधि पूजन आदि कर साधन करना 'यन्त्र-साधना' कहलाती है । सिद्धचक्र-यन्त्र, श्रीचक्र-यन्त्र, भैरवीचक्र-यन्त्र, ऋषिमण्डल-यन्त्र, विजय-यन्त्र आदि हजारों यन्त्र हैं । किसी-किसी स्थल पर मन्त्र-यन्त्र दोनों साथ-साथ करने पडते हैं और किसी-किसी स्थल पर ऐसा नहीं भी है । किन्तु यह यन्त्र-विद्या भी मन्त्र-शास्त्र का ही एक अंग है । वर्णों या अंको को एकाग्रतापूर्वक लिखना ही इस साधना की मुख्य क्रिया है ।

तन्त्रसाधना—औषधि-द्रव्यों के द्वारा कार्य सिद्ध करना 'तन्त्र-साधना' है । कितने तन्त्रों में ओषधि-द्रव्यों के मिश्रण के साथ मन्त्र-यन्त्र का भी उपयोग होता है । जड और चेतन-शक्ति के संयोग द्वारा कार्य-साधन का विषय है और मन्त्र, यन्त्र तथा तन्त्र का एक दूसरे के साथ प्रायः सर्वत्र उपयोग होता है । अतः तन्त्र-साधन भी मन्त्रशास्त्र का एक अंग है ।

मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र—तन्त्रशास्त्र से क्या काम लिये जाते है ? इसके लिये काम्य कर्मों के प्रयोगों का मान्त्रिकों नें वर्गीकरण किया है । वह 'वर्गीकरण' इस प्रकार है—

स्तम्भनं मोहमुच्चाटं वश्याकर्षणजृम्भणम् ।
विद्वेषणं मारणं च शान्तिकं पौष्टिकं तथा ॥
विद्याप्रवादपूर्वस्य तृतीयप्रभृतादयम् ।
उद्धृतः कर्मघाताय श्रीवैरस्वामिसूरिभिः ॥ (मन्त्रद्वात्रिंशिका)

अर्थात् स्तम्भन, मोहन, उच्चाटन, वश्याकर्षण, जृम्भण, विद्वेषण, मारण, शान्तिक और पौष्टिक—इस प्रकार नौ प्रकार से मन्त्र के प्रयोग है । यह श्री वैरस्वामिसूरि ने कर्मों के घात करने के लिये विद्याप्रवाद पूर्व के तृतीय प्राभृत से उद्धृत किया है ।' किसी-किसी के मत से सान्तानिक दसवाँ प्रयोग माना जाता है।

(१) जिस मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र के करने से चोर, डाकू, सर्प, श्वापद और परचक्र (शत्रुसेना) के आक्रमण का भय मिटकर वह जहाँ का तहाँ अटक जाय, स्थगित रह जाय, उसे **'स्तम्भन'** प्रयोग कहते हैं । (२) जिस प्रयोग के करने से साधक किसी की भी अपने वशीभूत कर ले उसे **'मोहन'** प्रयोग कहते है। राज-मोहन, सभा-मोहन और स्त्री-पुरुष-मोहन आदि मोहन-प्रयोग के तीन प्रकार हैं । इन तीनों की साधनाएँ भी पृथक्-पृथक् हैं । (३) जिस प्रयोग के करने से विद्वेषी रोगाक्रान्त हो जाता है, उसका मन अस्थिर, उल्लासरहित तथा निरुत्साह हो जाता है, वह स्थान और पद् से भ्रष्ट हो जाता है, उस प्रयोग को **'उच्चाटन'** कहते हैं । (४) जिस प्रयोग के करने से इच्छित पदार्थ साधक के पास स्वयं चला आये, यदि चेतन प्राणी हो तो उसका विपरीत मन भी अनुकूल होकर साधक की शरण में आ जाय, उसे **'वश्यकर्षण'** कहते हैं ।

(५) जिस प्रयोग के करने से शत्रु आदि साधक से डरने लग जायँ या भयभीत हो जायँ, काँपने लग जायँ, वही **'जृम्भण'** प्रयोग है । (६) जिस प्रयोग-बल से देश, कुटुम्ब, जाति या समाज में परस्पर विद्वेष-फूट-कलह होने लगे, उसे 'विद्वेषण' कहते हैं । (७) आततायी, अन्यायियों को आत्मशक्ति-पूर्वक जिस मन्त्र-प्रयोग-द्वारा साधक प्राणदण्ड दे सके, उस प्रयोग का नाम **'मारण'** है ।

(८) जिस प्रयोग के करने से महामारी, राजभय, परचक्र आदि शत्रुभय एवं रोग और विप्लवों की शन्ति हो जाय, उसे **'शान्तिक'** प्रयोग कहते हैं । वैद्यक-शास्त्रों ने भी लिखा है कि **'सिद्धवैद्यस्तु मान्त्रिक'** अर्थात् बिना औषध के मन्त्र प्रयोग करके रोगों को हटाने वाले जो वैद्य हैं । वे चारों प्रकार के वैद्यों में श्रेष्ठ और 'सिद्ध वैद्य' कहलाते हैं ।

(९) जिस प्रयोग के करने से ऐश्वर्य बढे, सुख-प्राप्ति हो, देवदर्शन हो, शुभाशुभ भविष्य प्रतीत हो, सब कामनाएँ सिद्ध हों, उसे **'पौष्टिक'** प्रयोग कहते हैं ।

(१०) जिस प्रयोग के करने से बन्ध्या को भी पुत्र का लाभ हो जाय, वंश की वृद्धि हो, उसे **'सान्तानिक'** प्रयोग कहते हैं । मृत-वत्सा रोग आदि का उपाय इसी प्रयोग में हैं ।

(इनमें 'मोहन', 'उच्चाटन', 'जृम्भण', 'विद्वेषण' और 'मारण' तामसी प्रयोग हैं । इन्हें श्रेयसाधक को कभी नहीं करना चाहिये ।)

इस वर्गीकरण में मन्त्रों के १० प्रयोग बताये गये हैं, किन्तु कितने ही तान्त्रिक-सम्प्रदाय वाले केवल छः प्रयोग ही मानते हैं और उपर्युक्त दसों प्रयोगों में ही उनका अन्तर्भाव कर लेते हैं ।

तन्त्र-ग्रन्थों के कर्ता मान्त्रिकों ने शिवजी से इस शास्त्र की उत्पत्ति बतलायी है । पर कल्प-ग्रन्थों के कर्ता मान्त्रिकों ने 'पूर्वधरों' से इसका विकास हुआ माना है और इस विद्या का अधिकारी 'त्यागी वर्ग' को ही कहा गया है ।

मन्त्र और मातृकाएँ—

देवनागरी में १६ स्वर हैं और ३५ व्यञ्जन वर्ण हैं । इन्हीं ५१ वर्णों को मातृका नाम से अभिहित किया जाता है । यतः मन्त्र वर्ण इन्हीं मातृकाओं के बीच बिखरे हैं अतः मातृकाओं का पूजन तन्त्रशास्त्र में प्रथमतया होता है । राघवभट्ट ने भी यही चर्चा नवम पटल में की है । यही कारण है कि मन्त्र भावों के सहयोग से देवता से काम्य कर्म करवा लेते हैं । सभी बीजाक्षर संकेत समूह हैं जैसे आज भी (कम्प्यूटर) संगणक में संकेत दिए जाते हैं । यही कारण है कि तन्त्रशास्त्र में मन्त्राक्षरों का अत्यन्त महत्त्व है ।

त्यागी साधक मन्त्राक्षरों को जपते थे अवश्य, परन्तु मन्त्राक्षरों के सभी वर्णों को लोम-विलोम सन्निपात करके वे स्वयं मन्त्र रूप हो जाते थे और तब उनकी तपश्चर्या तथा एकाग्रता से, आत्मिक स्वरूप प्रकट हो जाने से, मन्त्राधिष्ठायक देवता स्वयं आकर उनकी सेवा-भक्ति करने लग जाता था और उनके अधीन बना रहता था । जिस कार्य के लिये उनकी इच्छा देखता था, वह कार्य उनके बिना कहे ही देवता स्वयं करने लग जाता था । इसमें वह अपना सौभाग्य समझता था कि आज मैं एक महात्मा की सेवा कर कृतकृत्य हुआ । यह विषय अत्यन्त उच्च कोटि का है । ऐसे महात्मा के लिये लिखा भी गया है कि—

'देवाऽपि तं नमस्यन्ति यस्य धर्मः सहायकः ।'

इसी प्रकार तन्त्रों में भी लिखा है—

देवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः ।
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदेवताः ॥

इसका मतलब भी वही है कि मन्त्र के अधीन मन्त्राधिष्ठायक देवता हैं और वे मन्त्र ब्रह्मज्ञानी (आत्मज्ञानी) महापुरुषों के अधीन हैं, इसलिये आत्मज्ञानी महापुरुष स्वयमेव साक्षात् देव-स्वरूप है । उसको दूसरे देवता की उपासना करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता । उपर्युक्त श्लोकों में जो 'ब्राह्मण' शब्द आया है, वह हमारी धारणा में जातिवाचक नहीं है, गुण-वाचक है । इसलिये यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द का आत्मविद् अर्थ करने से ही अर्थ की संगति लगती है । अतएव मन्त्र वही सिद्ध कर सकता हे जो अध्यात्म-विद्या का ज्ञाता होता है । काश्मीर-सम्प्रदाय

के मान्त्रिक सरस्वती के उपासक होते है । **'मुखे प्रसरणं यस्याः सा सरस्वती'** यह 'सरस्वती' शब्द की व्युत्पत्ति है । अर्हन्मुखपद्मं में वास करने वाली अर्थात् भगवद्-वाणी का नाम ही सरस्वती है । यह सात्त्विक उपासना है । यह सिद्धि और मुक्ति की दाता है । राजस और तामस उपासना करने से लौकिक कार्य हो भी जाँय तो भी परलोक सिद्धि नहीं होती । इसलिये ऐसी उपसनाएँ हेय तथा त्याज्य होती हैं ।

न्यास का रहस्य—

साधक के लिए साधना में न्यास का अत्यन्त महत्त्व है । न्यास का अर्थ है स्थापन । बाहर और भीतर के प्रत्येक अङ्ग में इष्टदेवता और मन्त्र का स्थापन ही न्यास है । इस स्थूलशरीर में अपवित्रता का ही साम्राज्य है, इसलिए इसे देवपूजा का तब तक अधिकार नहीं जब तक कि यह शुद्ध एवं दिव्य न हो जाय । जब तक इसकी अपवित्रता बनी रहती है, तब तक इसके स्पर्श और स्मरण से चित्त में ग्लानि का उदय होता रहता है । ग्लानियुक्त चित्तप्रसाद और भावोद्रेक से शून्य होता है, विक्षेप और अवसाद से आक्रान्त होने के कारण बार-बार प्रमाद और तन्द्रा से अभिभूत हुआ करता है । यही कारण है कि न तो वह एकतार स्मरण ही कर सकता है और न विधि-विधान के साथ किसी कर्म का साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान ही । इस दोष को मिटाने कि लिए न्यास सर्वश्रेष्ठ उपाय है । शरीर के प्रत्येक अवयव में जो क्रियाशक्ति सुषुप्त हो रही है, हृदय के अन्तराल में जो भावनाशक्ति मूर्च्छित है, उनको जगाने के लिए न्यास अव्यर्थ महौषाधि है ।

न्यास के प्रकार—

न्यास कई प्रकार के होते हैं । **मातृकान्यास**, स्वर और वर्णों का होता है । **मन्त्रन्यास** पूरे मन्त्र का, मन्त्र के पदों का, मन्त्र के एक-एक अक्षर का और एक साथ की सब प्रकार का होता है । **देवतान्यास** शरीर के बाह्य और आभ्यन्तर अङ्गों में अपने इष्टदेव अथवा अन्य देवताओं के यथास्थान न्यास को कहते हैं । **तत्त्वन्यास** वह है, जिसमें संसार के कार्य-कारण के रूप में परिणत और इनसे परे रहने वाले तत्त्वों का शरीर में यथास्थान न्यास किया जाता है । यही **पीठन्यास** भी है । जो हाथों की सब अंगुलियों में तथा करतल और करपृष्ठ में किया जाता है, वह **करन्यास** है । जो त्रिनेत्र देवताओं के प्रसङ्ग में षडङ्ग और अन्य देवताओं के प्रसङ्ग में पञ्चाङ्ग होता है, उसे **अङ्गन्यास** कहते हैं । जो किसी भी अङ्ग का स्पर्श किये बिना सर्वाङ्ग में मन्त्रन्यास किया जाता है, वह **व्यापकन्यास** कहलाता है । **ऋष्यादिन्यास** के छः अङ्ग होते हैं—सिर में ऋषि, मुख में छन्द, हृदय में देवता, गुह्यस्थान में बीज, पैरों में शक्ति और सर्वाङ्ग में कीलक । इनके अतिरिक्त और भी बहुत से न्यास हैं, जिनका वर्णन प्रसङ्गानुसार किया जा सकता हैं

न्यास चार प्रकार से किए जाते हैं । मन से उन-उन स्थानों में देवता, मन्त्रवर्ण, तत्त्व आदि की स्थिति की भावना की जाती है । अन्तर्न्यास केवल मन से ही होता है । बहिर्न्यास केवल मन से भी होता है और उन-उन स्थानों के स्पर्श से भी । स्पर्श दो प्रकार से किया जाता है, किसी पुष्प से अथवा अंगुलियों से । अंगुलियों का प्रयोग दो प्रकार से होता है । एक तो अंगुष्ठ और अनामिका को मिलाकर सब अंगों का स्पर्श किया जाता है और दूसरा भिन्न-भिन्न अंगों के स्पर्श के लिए भिन्न-भिन्न अंगुलियों का प्रयोग किया जाता है ।

न्यास में अंगुलियों का क्रम—

विभिन्न अंगुलियों के द्वारा न्यास करने का क्रम इस प्रकार है—मध्यमा, अनामिका और तर्जनी से हृदय, मध्यमा और तर्जनी से सिर, अंगूठे से शिखा, दसों अंगुलियों से कवच, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका से नेत्र, तर्जनी और मध्यमा से करतल-करपृष्ठ में न्यास करना चहिए । यदि देवता त्रिनेत्र हो तो तर्जनी, मध्यमा और अनामिका से, द्विनेत्र हो तो मध्यमा और तर्जनी से नेत्र में न्यास करना चाहिए । पञ्चाङ्गन्यास नेत्र को छोड़कर होता है ।

वैष्णवों के लिए इसका क्रम भिन्न प्रकार का है । ऐसा कहा गया है कि अंगूठे को छोड़कर सीधी अंगुलियों से हृदय और मस्तक में न्यास करना चाहिए । अंगूठे को अन्दर करके मु ी बाँधकर शिखा का स्पर्श करना चाहिए । सब अंगुलियों से कवच, तर्जनी और मध्यमा से नेत्र, नाराचमुद्रा से दोनों हाथों को ऊपर उठाकर अंगूठे और तर्जनी के द्वारा मस्तक के चारों ओर करतलध्वनि करनी चाहिए । कहीं-कहीं अङ्गन्यास का मन्त्र नहीं मिलता, ऐसे स्थान में देवता के नाम के पहले अक्षर से अङ्गन्यास करना चाहिए ।

शास्त्र में यह बात बहुत जोर देकर कही गयी है कि केवल न्यास के द्वारा ही देवत्व की प्राप्ति और मन्त्रसिद्धि हो जाती है । हमारे भीतर-बाहर अङ्ग-प्रत्यङ्ग में देवताओं का निवास है, हमारा अन्तस्तल और बाह्य शरीर दिव्य हो गया है— इस भावना से ही अदम्य उत्साह, अद्भुत स्फूर्त्ति और नवीन चेतना का जागरण अनुभव होने लगता है । जब न्यास सिद्ध हो जाता है, तब तो भगवान् से एकत्व स्वयंसिद्ध ही है । न्यास का कवच पहन लेने पर कोई भी आध्यात्मिक अथवा आधिदैविक विघ्न पास नहीं आ सकते । जबकि बिना न्यास के जप, ध्यान आदि करने पर अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं । प्रत्येक मन्त्र के, प्रत्येक पद के और प्रत्येक अक्षर के अलग-अलग ऋषि, देवता, छन्द, बीज, शक्ति और कीलक होते हैं । मन्त्रसिद्धि के लिए इनके ज्ञान, प्रसाद और सहायता की अपेक्षा होती है । जिस ऋषि ने भगवान् शङ्कर से मन्त्र प्राप्त करके पहले-पहल उस मन्त्र की साधना की थी, वह उसका ऋषि है । वह गुरुस्थानीय होने के कारण मस्तक में स्थान पाने योग्य है । मन्त्र के स्वर-वर्णों की विशिष्ट गति, जिसके द्वारा मन्त्रार्थ, और मन्त्रतत्त्व आच्छादित रहते हैं और जिसका उच्चारण मुख के द्वारा

होता है, छन्द है और वह मुख में ही स्थान पाने का अधिकारी है । मन्त्र का देवता, जो अपने हृदय का धन है, जीवन का सञ्चालक है, समस्त भावों का प्रेरक है, हृदय का अधिकारी है, हृदय में ही उसके न्यास का स्थान है । इस प्रकार जितने भी न्यास हैं, सबका एक विज्ञान है और यदि ये न्यास विधिवत् किए जायँ तो शरीर और अन्तःकरण को दिव्य बनाकर स्वयं ही अपनी महिमा का अनुभव करा देते हैं ।

अष्टाङ्गयोग—

शारदातिलक के पच्चीसवें पटल में अष्टाङ्गयोग साधना का वर्णन है । अन्य ग्रन्थों से लेकर यहाँ अष्टाङ्गयोग का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है—

अष्टाङ्गयोग का साधन मन्त्रसिद्धि के लिए परमावश्यक है । 'अष्टांगयोग' जगत् के त्रिविध ताप से छुटकारा दिलाने का साधन है । ब्रह्म को प्रकाशित करने वाला ज्ञान भी 'योग' से ही सुलभ होता है । एकचित्त होना-चित्त को एक जगह स्थापित करना 'योग' है । चित्तवृत्तियों के निरोध को भी 'योग' कहते हैं । जीवात्मा एवं परमात्मा में ही अन्तःकरण की वृत्तियों को स्थापित करना उत्तम 'योग' है । (१) यम और (२) नियम—

(१) अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह—ये पाँच '**यम**' कहे गए हैं । (i) किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना '**अहिंसा**' है । 'अहिंसा' सबसे उत्तम धर्म है । जैसे राह चलने वाले अन्य सभी प्राणियों के पदचिन्ह हाथी के चरणचिन्ह में समा जाते हैं, उसी प्रकार धर्म के सभी साधन 'अहिंसा' में गतार्थ माने जाते हैं । 'अहिंसा' के दस भेद हैं—किसी को उद्वेग में डालना, संताप देना, रोगी बनाना, शरीर से रक्त निकालना, चुगली खाना, किसी के हित में अत्यन्त बाधा पहुँचाना, उसके छिपे हुए रहस्य का उद्घाटन करना, दूसरे को सुख से वञ्चित करना, अकारण कैद करना और प्राणदण्ड देना । (ii) जो बात दूसरे प्राणियों के लिये अत्यन्त हितकर है, वह '**सत्य**' है । 'सत्य' का सही लक्षण है—सत्य बोले, किन्तु प्रिय बोले; अप्रिय सत्य कभी न बोले । इसी प्रकार प्रिय असत्य भी मुँह से न निकाले; यह सनातन धर्म है । (iii) '**ब्रह्मचर्य**' कहते हैं—'मैथुन के त्याग को' । 'मैथुन' आठ प्रकार का होता है—स्त्री का स्मरण, उसकी चर्चा, उसके साथ क्रीडा करना, उसकी ओर देखना, उससे लुक-छिपकर बातें करना, उसे पाने का संकल्प, उसके लिये उद्योग तथा क्रियानिर्वृत्ति (स्त्री से साक्षात् समागम)—ये मैथुन के आठ अंग हैं—ऐसा मनीषी पुरुषों का कथन है । 'ब्रह्मचर्य' ही सम्पूर्ण शुभ कर्मों की सिद्धि का मूल है; उसके बिना सारी क्रिया निष्फल हो जाती है । वसिष्ठ, चन्द्रमा, शुक्र, देवताओं के आचार्य बृहस्पति तथा पितामह ब्रह्माजी—ये तपोवृद्ध और वयोवृद्ध होते हुए भी स्त्रियों के मोह में फँस गये । गौडी, पैष्टी और माध्वी—ये तीन प्रकार की सुरा जाननी चाहिये । इनके बाद चौथी सुरा—'स्त्री' है, जिसने सारे जगत् को मोहित कर रक्खा है । मदिरा

को तो पीने पर ही मनुष्य मतवाला होता है, परंतु युवती स्त्री को देखते ही उन्मात्त हो उठता है । नारी देखने मात्र से ही मन में उन्माद करती है, इसलिये उसके ऊपर दृष्टि न डाले । (iv) मन, वाणी और शरीर द्वारा चोरी से सर्वथा बचे रहना '**अस्तेय**' कहलाता है । यदि मनुष्य बलपूर्वक दूसरे की किसी भी वस्तु का अपहरण करता है, तो उसे अवश्य तिर्यग्योनि में जन्म लेना पड़ता है । यही दशा उसकी भी होती है, जो हवन किये बिना ही (बलिवैश्वदेव द्वारा देवता आदि का भाग अर्पण किये बिना ही) हविष्य (भोज्यपदार्थ) का भोजन कर लेता है । (v) कौपीन, अपने शरीर को ढकनेवाला वस्त्र, शीत का कष्ट-निवारण करने वाली कन्था (गुदडी) और खडाऊँ—इतनी ही वस्तुएँ साथ रक्खे । इनके सिवा और किसी वस्तु का संग्रह न करे—(यही अपरिग्रह है) । शरीर की रक्षा के साधनभूत वस्त्र आदि का संग्रह किया जा सकता है । धर्म के अनुष्ठान में लगे हुए शरीर की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये ।

(२) '**नियम**' भी पाँच ही हैं, जो भोग और मोक्ष प्रदान करने वाले हैं । उनके नाम ये हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वराराधन (ईश्वरप्राणिधान) ।

(i) '**शौच**' दो प्रकार का बताया गया है—'ब्राह्य' और 'आभ्यन्तर' । मिट्टी और जल से 'बाह्यशुद्धि' होती है और भाव की शुद्धि को 'आभ्यन्तर शुद्धि' कहतें हैं । दोनों ही प्रकार से जो शुद्ध है, वही शुद्ध है, दूसरा नहीं । (ii) प्रारब्ध के अनुसार जैसे-तैसे जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसी में हर्ष मानना '**संतोष**' कहलाता है । मन और इन्द्रियों की एकाग्रता को '**तप**' कहते हैं । (iii) मन और इन्द्रियों पर विजय पाना सब धर्मों से श्रेष्ठ धर्म कहलाता है । 'तप' तीन प्रकार का होता है—वाचिक, मानसिक और शारीरिक । मन्त्रजप आदि 'वाचिक', आसक्ति का त्याग 'मानसिक' और देवपूजन आदि 'शारीरिक' तप हैं । यह तीनों प्रकार का तप सब कुछ देने वाला है । (iv) वेद प्रणव से ही आरम्भ होते हैं, अत: प्रणव में सम्पूर्ण वेदों की स्थिति है ।

वाणी का जितना भी विषय है, सब प्रणव है; इसलिये प्रणव का अभ्यास करना चाहिये (यह स्वाध्याय के अर्न्तगत है) । 'प्रणव' अर्थात् 'ओंकार' में अकार, उकार तथा अर्धमात्राविशिष्ट मकार है । तीन मात्राएँ तीनों वेद, भू: आदि तीन लोक, तीन गुण, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ तथा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, स्कन्द, देवी और महेश्वर तथा प्रद्युम्न, श्री और वासुदेव—ये सब क्रमश: ॐकार के ही स्वरूप हैं । ॐकार मात्रा से रहित अथवा अनन्त मात्राओं से युक्त है । वह द्वैत की निवृत्ति करने वाला तथा शिवस्वरूप है । ऐसे ॐकार को जिसने जान लिया, वही मुनि है, दूसरा नहीं । प्रणव की चतुर्थीमात्रा (जो अर्धमात्रा के नाम से प्रसिद्ध है) 'गान्धारी' कहलाती है । वह प्रयुक्त होने पर मूर्द्धा में लक्षित होती है । वही 'तुरीय' नाम से प्रसिद्ध परब्रह्म है । वह ज्योतिर्मय

है । जैसे घड़े के भीतर रक्खा हुआ दीपक वहाँ प्रकाश करता है, वैसे ही मूर्द्धा में स्थित परब्रह्म भी भीतर अपनी ज्ञानमयी ज्योति छिटकाये रहता है । मनुष्य को चाहिये कि मन से हृदयकमल में स्थित आत्मा या ब्रह्म का ध्यान करें और जिह्वा सदा प्रणव का जप करती रहे । (यही 'ईश्वरप्राणिधान' है ।) 'प्रणव' धनुष है, 'जीवात्मा' बाण है तथा 'ब्रह्म' उसका लक्ष्य कहा जाता है । सावधान होकर उस लक्ष्य का भेदन करना चाहिये और वाण के समान उसमें तन्मय हो जाना चाहिये । यह एकाक्षर (प्रणव) ही ब्रह्म है, यह एकाक्षर ही परम तत्त्व है, इस एकाक्षर ब्रह्म को जानकर जो जिस वस्तु की इच्छा करता है, उसको उसी की प्राप्ति हो जाती है । इस प्रणव का देवी गायत्री छन्द है, अन्तर्यामी ऋषि है, परमात्मा देवता हैं तथा भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिये इसका विनियोग किया जाता है ।

इसके अंगन्यास की विधि इस प्रकार है—'ॐ भूः अग्न्यात्मने हृदयाय नमः ।'—इस मन्त्र से हृदय का स्पर्श करे । 'ॐ भुवः प्राणापत्यात्मने शिरसे स्वाहा ।' ऐसा कहकर मस्तक का स्पर्श करे । 'ॐ भूर्भुवः स्वः सत्यात्मने कवचाय हुँ ।' इस मन्त्र से दाहिने हाथ की अँगुलियों द्वारा बायीं भुजा के मूलभाग का और बायें हाथ की अँगुलियों से दाहिनी बाँह के मूलभाग का एक ही साथ स्पर्श करे । तत्पश्चात् पुनः 'ॐ भूर्भुवः स्वः सत्यात्मने अस्त्राय फट् ।' कहकर चुटकी बजाये। इस प्रकार अंगन्यास करके भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिये भगवान् विष्णु का पूजन, उनके नामों का जप तथा उनके उद्देश्य से तिल और घी आदि का हवन करे; इससे मनुष्य की समस्त कामनाएँ पूर्ण होती है । (यही ईश्वरपूजन है; इसका निष्कामभाव से ही अनुष्ठान करना उत्तम है ।) जो मनुष्य प्रतिदिन बारह हजार प्रणव का जप करता है, उसको बारह महीने में परब्रह्म का ज्ञान हो जाता है । एक करोड जप करने से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती है, एक लाख के जप से सरस्वती आदि की कृपा होती है ।

विष्णु का यजन तीन प्रकार का होता है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र । तीनों में से जो अभीष्ट हो, उसी एक विधि का आश्रय लेकर श्रीहरि की पूजा करनी चाहिये । जो मनुष्य दण्ड की भाँति पृथ्वी पर पड़कर भगवान् को साष्टांग प्रणाम करता है, उसे जिस उत्तम गति की प्राप्ति होती है, वह सैकड़ों यज्ञों के द्वारा दुर्लभ है । जिसकी आराध्य देव में पराभक्ति है और जैसी देवता में है, वैसी ही गुरु के प्रति भी है, उसी महात्मा को इन कहे हुए विषयों का यथार्थ ज्ञान होता है ।

आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—

पद्मासन आदि नाना प्रकार के 'आसन' बताये गये हैं । उनमें से कोई भी आसन बाँधकर परमात्मा का चिन्तन करना चाहिये । पहले किसी पवित्र स्थान में अपने बैठने के लिये स्थिर आसन बिछावे, जो न अधिक ऊँचा हो और न

अधिक नीचा । सबसे नीचे कुशका आसन हो, उसके ऊँपर मृगचर्म और मृगचर्म के ऊपर वस्त्र बिछाया गया हो । उस आसन पर बैठकर मन और इन्द्रियों की चेष्टाओं को रोकते हुए चित्त को एकाग्र करे तथा अन्त:करण की शुद्धि के लिये योगाभ्यास में संलग्न हो जाय । उस समय शरीर, मस्तक और गले को अविचलभाव से एक सीध में रखते हुए स्थिर बैठे । केवल अपनी नासिका के अग्रभाग को देखे; अन्य दिशाओं की ओर दृष्टिपात न करे । दोनों पैरों की एडियों से अण्डकोष और लिंग की रक्षा करते हुए दोनों ऊरुओं (जाँघों) के ऊपर भुजाओं को यत्नपूर्वक तिरछी करके रक्खे तथा बायें हाथ की हथेली पर दाहिने हाथ के पृष्ठभाग को स्थापित करे और मुँह को कुछ ऊँचा करके सामने की ओर स्थिर रक्खे । इस प्रकार बैठकर प्राणायाम करना चाहिये ।

अपने शरीर के भीतर रहने वाली वायु को 'प्राण' कहते हैं । उसे रोकने का नाम है—'आयाम' । अत: प्राणायाम का अर्थ हुआ—'प्राणवायु को रोकना' । उसकी विधि इस प्रकार है—अपनी अँगुली से नासिका के एक छिद्र को दबाकर दूसरे छिद्र से उदरस्थित वायु को बाहर निकाले । 'रेचन' अर्थात् बाहर निकालने के कारण इस क्रिया को 'रेचक' कहते हैं । तत्पश्चात् चमड़े की धौंकनी के समान शरीर को बाहरी वायु से भरे । भर जाने पर कुछ काल तक स्थिरभाव से बैठा रहे । बाहरी वायु की पूर्ति करने के कारण इस क्रिया का नाम 'पूरक' है । वायु भर जाने के पश्चात् जब साधक न तो भीतरी वायु को छोड़ता है और न बाहरी वायु को ग्रहण ही करता है, अपितु भरे हुए घड़े की भाँति अविचलभाव से स्थिर रहता है, उस समय कुम्भवत् स्थिर होने के कारण उसकी वह चेष्टा 'कुम्भक' कहलाती है ।

बारह मात्रा (पल) का एक 'उद्‌घात' होता है । इतनी देर तक वायु को रोकना कनिष्ठ श्रेणी का प्राणायाम है । दो उद्‌घात अर्थात् चौबीस मात्रा तक किया जाने वाला कुम्भक मध्यम श्रेणी का माना गया है तथा तीन उद्‌घात अर्थात् छत्तीस मात्रा तक का कुम्भक उत्तम श्रेणी का प्राणायाम है । जिससे शरीर से पसीने निकलने लगे, कँपकँपी छा जाय तथा अभिघात लगने लगे, वह प्राणायाम अत्यन्त उत्तम है । प्राणायाम की भूमिकाओं में से जिस पर भलीभाँति अधिकार न हो जाय, उन पर सहसा आरोहण न करे, अर्थात् क्रमश: अभ्यास बढ़ाते हुए उत्तरोत्तर भूमिकाओं पर आरूढ होने का यत्न करे । प्राण को जीत लेने पर हिचकी और साँस आदि के रोग दूर हो जाते हैं तथा मलमूत्रादि के दोष भी धीरेधीरे कम हो जाते हैं । नीरोग होना, तेज चलना, मन में उत्साह होना, स्वर में माधुर्य आना, बल बढ़ना, शरीर वर्ण में स्वच्छता का आना तथा सब प्रकार के दोषों का नाश हो जाना—ये प्रणायाम से होने वाले लाभ हैं ।

प्राणायाम दो तरह के होते है—'अगर्भ' और 'सगर्भ' । जप और ध्यान के बिना जो प्राणायाम किया जाता है, उसका नाम '**अगर्भ**' है तथा जप और ध्यान

के साथ किये जाने वाले प्राणायाम को '**सगर्भ**' कहते हैं । इन्द्रियों पर विजय पाने के लिये सगर्भ प्राणायाम ही उत्तम होता है; उसी का अभ्यास करना चाहिये । ज्ञान और वैराग्य से युक्त होकर प्राणायाम के अभ्यास से इन्द्रियों को जीत लेने पर सब पर विजय प्राप्त हो जाती है । जिसे 'स्वर्ग' और 'नरक' कहते है, वह सब इन्द्रियाँ ही हैं । वे ही वश में होने पर स्वर्ग में पहुँचाती हैं और स्वतन्त्र छोड़ देने पर नरक में ले जाती है । शरीर को 'रथ' कहते है, इन्द्रियाँ ही उसके 'घोड़े' हैं मन को 'सारथि' कहा गया है और और प्राणायाम को 'चाबुक' माना गया है । ज्ञान और वैराग्य की बागडोर में बँधे हुए मनरूपी घोड़े को प्राणायाम से आबद्ध करके जब अच्छी तरह काबू में कर लिया जाता है तो वह धीरे धीरे स्थिर हो जाता हैं जो मनुष्य सौ वर्षों से कुछ अधिक काल तक प्रतिमास कुश के अग्रभाग से जल की एक बूँद लेकर उसे पीकर रह जाता है, उसकी वह तपस्या और प्राणायाम—दोनों बराबर है ।

विषयों के समुद्र में प्रवेश करके वहाँ फँसी हुई इन्द्रियों को जो आहूत करके, अर्थात् लौटाकर अपने अधीन करता है, उसके इस प्रयत्न को '**प्रत्याहार**' कहते हैं । जैसे जल में डूबा हुआ मनुष्य उससे निकलने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार संसार समुद्र में डूबे हुए अपने-अपने को स्वयं ही निकालने का प्रयत्न करे । भोगरूपी नदी का वेग अत्यन्त बढ़ जाने पर उससे बचने के लिये अत्यन्त सुदृढ़ ज्ञानरूपी वृक्ष का आश्रय लेना चाहिये ।

(६) ध्यान—

'**ध्यै-चिन्तायाम्**'—यह धातु है । अर्थात 'ध्यै' धातु का प्रयोग चिन्तन के अर्थ में होता है । 'ध्यै' से ही 'ध्यान' शब्द की सिद्धि होती है । अत: स्थिरचित्त से भगवान् विष्णु का बारंबार चिन्तन करना 'ध्यान' कहलाता है। समस्त उपाधियों से मुक्त मनसहित आत्मा का ब्रह्मविचार में परायण होना भी 'ध्यान' ही है । ध्येय रूप आधार में स्थिर एवं सजातीय प्रतीतियों से युक्त चित्तको जो विजातीय प्रतीतियों से रहित प्रतीति होती है, उसको भी 'ध्यान' कहते हैं । जिस किसी प्रदेश में भी ध्येय वस्तु के चिन्तन में एकाग्र हुए चित्त को प्रतीति के साथ जो अभेद भावना होती है, उसका नाम भी '**ध्यान**' है । इस प्रकार ध्यानपरायण होकर जो अपने शरीर का परित्याग करता है, वह अपने कुल, स्वजन और मित्रों का उद्धार करके स्वयं भगवत्स्वरूप हो जाता है । इस तरह जो प्रतिदिन एक या आधे मुहूर्त तक भी श्रद्धापूर्वक श्रीहरि का ध्यान करता है, वह भी जिस गति को प्राप्त करता है, उसे सम्पूर्ण महायज्ञों के द्वारा भी कोई नहीं पा सकता ।

तत्त्ववेत्ता योगी को चाहिये कि वह ध्याता, ध्यान, ध्येय तथा ध्यान का प्रयोजन—इन चार वस्तुंओं का ज्ञान प्राप्त करके योग का अभ्यास करे । योगाभ्यास से मोक्ष तथा आठ प्रकार के महान् ऐश्वर्यों (अणिमा आदि सिद्धियों) की प्राप्ति होती है । जो ज्ञान-वैराग्य से सम्पन्न, श्रद्धालु, क्षमाशील, विष्णुभक्त

तथा ध्यान में सदा उत्साह रखने वाला हो, ऐसा पुरुष ही '**ध्याता**' माना गया है। 'व्यक्त और अव्यक्त, जो कुछ भी प्रतीत होता है, सब परब्रह्म परमात्मा का ही स्वरूप है'—इस प्रकार विष्णु का चिन्तन करना '**ध्यान**' कहलाता है। सर्वज्ञ परमात्मा श्रीहरि को सम्पूर्ण कलाओं से युक्त तथा निष्कल जानना चाहिये। अणिमादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति तथा मोक्ष—ये **ध्यान के प्रयोजन** हैं। भगवान् विष्णु ही कर्मों के फल की प्राप्ति कराने वाले हैं, अत: उन परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये। वे ही **ध्येय** हैं। चलते-फिरते, खड़े होते, सोते-जागते, आँख खोलते और आँख मिचते समय भी, शुद्ध या अशुद्ध अवस्थाओं में भी निरन्तर परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये।

अपने देहरूपी मन्दिर के भीतर मन में स्थित हृदय कमलरूपी पीठ के मध्य भाग में भगवान् केशव की स्थापना करके ध्यान योग के द्वारा उनका पूजन करे। ध्यान यज्ञ श्रेष्ठ, शुद्ध और सब दोषों से रहित है। उसके द्वारा भगवान् का यजन करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। बाह्य शुद्धि से युक्त यज्ञों द्वारा भी इस फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। हिंसा आदि दोषों से मुक्त होने के कारण ध्यान अन्त:करण की शुद्धि का और चित्त को वश में करने का प्रमुख साधन है। इसलिये ध्यानयज्ञ सबसे श्रेष्ठ और मोक्षरूपी फल प्रदान करने वाला है; अत: अशुद्ध एवं अनित्य बाह्य साधन रूप यज्ञ आदि कर्मों का त्याग करके योग का ही विशेष रूप से अभ्यास करे। पहले विकारयुक्त, अव्यक्त तथा भोग्य-भोग से युक्त तीनों गुणों का क्रमश: अपने हृदय में ध्यान करे। तमोगुण को रजोगुण से आच्छादित करके रजोगुण को सत्त्वगुण से आच्छादित करे। इसके बाद पहले कृष्ण, फिर रक्त, तत्पश्चात् श्वेतवर्ण वाले तीनों मण्डलों का क्रमश: ध्यान करे। इस प्रकार जो गुणों का ध्यान करके 'शुद्ध ध्येय' का चिन्तन करे। पुरुष (आत्मा) सत्त्वोपाधिक गुणों से अतीत चौबीस तत्त्वों से परे पचीसवाँ तत्त्व है, यह 'शुद्ध ध्येय' है। पुरुष के ऊपर उन्हीं की नाभि से प्रकट हुआ एक दिव्य कमल स्थिर है, जो प्रभु का ऐश्वर्य ही जान पडता है। उसका विस्तार बारह अंगुल है। वह शुद्ध, विकसित तथा श्वेत वर्ण का है। उसका मृणाल आठ अंगुल का है। उस कमल के आठ पत्तों को अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य जानना चाहिये। उसकी कर्णिका का केसर 'ज्ञान' तथा नाल 'उत्तम वैराग्य' है। 'विष्णु-धर्म' ही उसकी जड है। इस प्रकार कमल का चिन्तन करे। धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं कल्याणमय ऐश्वर्य-स्वरूप उस श्रेष्ठ कमल को, जो भगवान् का आसन है, जानकर मनुष्य अपने सब दु:खों से छुटकारा पा जाता है। उस कमल कर्णिका के मध्य भाग में ओंकारमय ईश्वर का ध्यान करे। उनकी आकृति शुद्ध दीपशिखा के समान देदीप्यमान एवं अँगूठे के बराबर है। वे अत्यन्त निर्मल हैं। कदम्बपुष्प के समान उनका गोलाकार स्वरूप है जो तारे की भाँति स्थिर है। अथवा कमल के ऊपर प्रकृति और पुरुष से भी अतीत परमेश्वर विराजमान हैं, ऐसा ध्यान करे तथा परम अक्षर ओंकार का निरन्तर जप करता रहे। साधक को अपने मन को स्थिर करने

के लिये पहले स्थूल का ध्यान करना चाहिये । फिर क्रमशः मन के स्थिर हो जाने पर उसे सूक्ष्म तत्त्व के चिन्तन में लगाना चाहिये ।

कमल आदि का ध्यान दूसरे प्रकार से भी किया जाता है—नाभि-मूल में स्थित जो कमल की नाल है, उसका विस्तार दस अंगुल है । नाल के ऊपर अष्टदल कमल है, जो बारह अंगुल विस्तृत है । उसकी कर्णिका के केसर में सूर्य, सोम तथा अग्नि-तीन देवताओं का मण्डल है । अग्नि-मण्डल के भीतर शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण करने वाले चतुर्भुज विष्णु अथवा आठ भुजाओं से युक्त भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं । अष्टभुज भगवान् के हाथों में शंख-चक्रादि के अतिरिक्त शार्ङ्गधनुष, अक्षमाला, पाश तथा अंकुश शोभा पाते है। उनके श्रीविग्रह का वर्ण श्वेत एवं सुवर्ण के समान उद्दीप्त है । वक्षःस्थल में श्रीवत्स का चिन्ह और कौस्तुभमणि शोभा पा रहें हैं । गले में वनमाला और सोने का हार है । कानों में मकराकार कुण्डल जगमगा रहे है । मस्तक पर रत्नमय उज्ज्वल किरीट सुशोभित हैं । श्रीअंगो पर पीताम्बर शोभा पाता है । वे सब प्रकार के आभूषणों से अलंकृत हैं । उनका आकार बहुत बडा अथवा एक वित्ते का है । जैसी इच्छा हो, वैसी ही छोटी या बडी आकृति का ध्यान करना चाहिये ।

ध्यान के समय ऐसी भावना करे कि 'मैं ज्योतिर्मय ब्रह्म हूँ—मैं ही नित्यमुक्त प्रणवरूप वासुदेव संज्ञक परमात्मा हूँ ।' ध्यान से थक जाने पर मन्त्र का जप करे और जप से थकने पर ध्यान करे । इस प्रकार जो जप और ध्यान आदि में लगा रहता है, उसके ऊपर भगवान् विष्णु शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं । दूसरे-दूसरे यज्ञ जपयज्ञ की सोलहवीं कला के बराबर भी नही हो सकते । जप करने वाले पुरुष के पास आधि, व्याधि और ग्रह नहीं फटकने पाते । जप करने से भोग, मोक्ष तथा मृत्यु विजयरूप फल की प्राप्ति होंती है ।

(७) धारणा—

ध्येय वस्तु में जो मन की स्थिति होती है, उसे '**धारणा**' कहते हैं । ध्यान की ही भाँति उसके भी दो भेद हैं—'साकार' और 'निराकार' । भगवान् के ध्यान में जो मन को लगाया जाता है, उसे क्रमशः 'मूर्त' और 'अमूर्त' धारणा कहते हैं। इस धारणा से भगवान् की प्राप्ति होती है । जो बाहर का लक्ष्य है, उससे मन जबतक विचलित नहीं होता, तब तक किसी भी प्रदेश में मन की स्थिति को '**धारणा**' कहते हैं । देह के भीतर नियत समय तक जो मन को रोक रक्खा जाता है और वह अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता यही अवस्था '**धारणा**' कहलाती है । बारह आयाम की 'धारणा' होती है, बारह 'धारणा' का 'ध्यान' होता है तथा बारह ध्यानपर्यन्त जो मन की एकाग्रता है, उसे 'समाधि' कहते है । जिसका मन धारणा के अभ्यास में लगा हुआ है, उसी अवस्था में यदि उसके प्राणों का परित्याग हो जाय तो वह पुरुष अपने इक्कीस पीढी का उद्धार करके अत्यन्त उत्कृष्ट स्वर्गपद को प्राप्त होता है ।

योगियों के जिस जिस अंग में व्याधि की सम्भावना हो, उस-उस अंग को बुद्धि से व्याप्त करके तत्त्वों की धारणा करनी चाहिये। आग्नेयी, वारुणी, ऐशानी और अमृतात्मिका-ये विष्णु की चार प्रकार की धारणा करनी चाहिये। उस समय अग्नियुक्त शिखामन्त्र का, जिसके अन्त में 'फट्' शब्द का प्रयोग होता है, जप करना उचित है। नाडियों के द्वारा विकट, दिव्य एवं शुभ शूलाग्र का वेधन करे। पैर के अँगुठे से लेकर कपोल तक किरणों का समूह व्याप्त है और वह बडी तेजी से साथ ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर फैल रहा है, ऐसी भावना करे। श्रेष्ठ साधक को तबतक रश्मिमण्डल का चिन्तन करते रहना चाहिये, जबतक कि वह अपने सम्पूर्ण शरीर को उसके भीतर भस्म होता न देखे। तदनन्तर उस धारणा का उपसंहार करे। इस धारणा के द्वारा द्विजगण शीत और श्लेष्मा आदि रोग तथा अपने पापों का विनाश करते हैं। यह 'आग्नेयी धारणा' है।

तत्पश्चात् धीरभाव से विचार करते हुए मस्तक और कण्ठ के अधोमुख होने का चिन्तन करे। उस समय साधक का चित्त नष्ट नहीं होता। वह पुनः अपने अन्तःकरण द्वारा ध्यान में लग जाय और ऐसी धारणा करे कि जलके अनन्त कण में प्रकट होकर एक-दूसरे से मिलकर हिमराशि को उत्पन्न करते हैं और उससे इस पृथ्वी पर जल की धाराएँ प्रवाहित होकर सम्पूर्ण विश्व को आप्लावित कर रही हैं। इस प्रकार उस हिमस्पर्श से शीतल अमृतस्वरूप जल के द्वारा क्षोभवश ब्रह्मरन्ध्र से लेकर मूलाधारपर्यन्त सम्पूर्ण चक्र-मण्डल को आप्लावित करके सुषुम्णा नाडी के भीतर होकर पूर्ण चन्द्रमण्डल का चिन्तन करना चाहिये तथा उस समय आलस्य छोडकर विष्णुमन्त्र का जप करना भी उचित है। यह 'वारुणी धारणा' बतलायी गयी है।

ऐशानी धारणा—प्राण और अपान का क्षय होने पर हृदयाकाश में ब्रह्ममय कमल के ऊपर विराजमान भगवान् विष्णु के प्रसाद (अनुग्रह) का तबतक चिन्तन करता रहे, जबतक कि सारी चिन्ता का नाश न हो जाय। तत्पश्चात् व्यापक ईश्वररूप से स्थित होकर परम शान्त, निरञ्जन, निराभास एवं अर्द्धचन्द्रस्वरूप सम्पूर्ण महाभाव का जप और चिन्तन करे। जबतक गुरु के मुख से जीवात्मा को ब्रह्म का ही अंश (या साक्षात् ब्रह्मरूप) नहीं जान लिया जाता, तब तक यह सम्पूर्ण चराचर जगत् असत्य होनेपर भी सत्यवत् प्रतीत होता है। उस परम तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर ब्रह्मा से लेकर यह सारा चराचर जगत्, प्रमाता, मान और मेय (=ध्याता, ध्यान और ध्येय)—सब कुछ ध्यानगत हृदयकमल में लीन हो जाता है। जप, होम और पूजन आदि को माता की दी हुई मिठाई की भाँति मधुर एवं लाभकर जानकर विष्णुमन्त्र के द्वारा उसका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करे।

अमृतमयी धारणा—मस्तक की नाडी के केन्द्रस्थान में पूर्ण चन्द्रमा के समान आकार वाले कमल का ध्यान करे तथा प्रयत्नपूर्वक यह भावना करे कि 'आकाश में दस हजार चन्द्रमा के समान प्रकाशमान एक पूर्ण चन्द्रमण्डल उदित

हुआ है, जो कल्याणमय कल्लोलों से परिपूर्ण है ।' ऐसा ही ध्यान अपने हृदय कमल में भी करे और उसके मध्य भाग में अपने शरीर को स्थित देखे । धारणा आदि के द्वारा साधक के सभी क्लेश दूर हो जाते हैं ।

(८) समाधि—

चैतन्य स्वरूप से जो युक्त और प्रशान्त समुद्र की भाँति स्थिर हो, जिसमें आत्मा के सिवा अन्य किसी वस्तु की प्रतीति न होती हो, उस ध्यान को 'समाधि' कहते है । जो ध्यान के समय अपने चित्त को ध्येय में लगाकर वायुहीन प्रदेश में जलती हुई अग्निशिखा की भाँति अविचल एवं स्थिर भाव से बैठा रहता है, वह योगी 'समाधिस्थ' कहा गया है । जो न सुनता है न सूँघता है, न देखता है न रसास्वादन करता है, न स्पर्श का अनुभव करता है न मन में संकल्प उठने देता है, न अभिमान करता है और न बुद्धि से दूसरी किसी वस्तु को जानता ही है, केवल काष्ठ की भाँति अविचलभाव से ध्यान में स्थिर रहता है, ऐसे ईश्वरचिन्तनपरायण पुरुष को 'समाधिस्थ' कहते है । जैसे वायुरहित स्थान में रक्खा हुआ दीपक कम्पित नहीं होता, यही उस समाधिस्थ योगी के लिये उपमा मानी गयी है । जो अपने आत्मस्वरूप श्रीविष्णु के ध्यान में संलग्न रहता है, उसके सामने अनेक दिव्य विध्न उपस्थित होते हैं । वे सिद्धि की सूचना देने वाले है । साधक ऊपर से नीचे गिराया जाता है, उसके कान में पीडा होती है, अनेक प्रकार के धातुओं के दर्शन होते है तथा उसे अपने शरीर में बडी वेदना का अनुभव होता है । देवता लोग उस योगी के पास आकर उससे दिव्य भोग स्वीकार करने की प्रार्थना करते है, राजा पृथ्वी का राज्य देने की बात कहते और बड़े-बड़े धनाध्यक्ष धन का लोभ दिखाते हैं । वेद आदि सम्पूर्ण शास्त्र स्वयं ही (बिना पढ़े) उसकी बुद्धि में स्फुरित हो जाते हैं । उसके द्वारा मनोनुकूल छन्द और सुन्दर विषय से युक्त उत्तम काव्य की रचना होने लगती है । दिव्य रसायन, दिव्य ओषधियाँ तथा सम्पूर्ण शिल्प और कलाएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं । इतना ही नहीं, देवेश्वरों की कन्याएँ और प्रतिभा आदि सन्दुण भी उसके पास बिना बुलाये जाते है; किन्तु जो इन सबको तिनके के समान निस्सार मानकर त्याग देता है, उसी पर भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं ।

अणिमा आदि गुणमयी विभूतियों से युक्त योगी पुरुष को उचित है कि वह शिष्य को ज्ञान दे । इच्छानुसार भोगों का उपभोग करके लययोग की रीति से शरीर का परित्याग करे और विज्ञानानन्दमय ब्रह्म एवं ईश्वररूप अपने आत्मा में स्थित हो जाय । जैसे मलिन दर्पण शरीर का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में असमर्थ होने के कारण शरीर का ज्ञान कराने की क्षमता नहीं रखता, उसी प्रकार जिसका अन्तःकरण परिपक्व (वासनाशून्य) नहीं है, वह आत्मज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है । देह सब प्रकार के रोगों और दुःखों का आश्रय है; इसलिये

देहाभिमानी जीव अपने शरीर में वेदना का अनुभव करता है । परंतु जो पुरुष योगयुक्त है, उसे योग के ही प्रभाव से किसी भी क्लेश का अनुभव नहीं होता । जैसे एक ही आकाश घट आदि भिन्न-भिन्न उपाधियों में पृथक्-पृथक् सा प्रतीत होता है और एक ही सूर्य अनेक जलपात्रों में अनेक सा जान पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा एक होता हुआ भी अनेक शरीरों में स्थित होने के कारण अनेकवत् प्रतीत होता है ।

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँचों भूत ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। ये सम्पूर्ण लोक आत्मा ही है; आत्मा से ही चराचर जगत् की अभिव्यक्ति होती है। जैसे कुह्मार मिट्टी, डंडा और चाक के संयोग से घड़ा बनाता है, अथवा जिस प्रकार घर बनाने वाला मनुष्य तृण, मिट्टी और काठ से घर तैयार करता है, उसी प्रकार जीवात्मा इन्द्रियों को साथ ले, कार्य करण संघात को एकचित्त करके भिन्न-भिन्न योनियों में अपने को उत्पन्न करता है । कर्म से, दोष और मोह से तथा स्वेच्छा से ही जीव बन्धन में पड़ता है और ज्ञान से ही उसकी मुक्ति होती है । योगी पुरुष धर्मानुष्ठान करने से कभी रोग का भागी नहीं होता । जैसे बत्ती, तैलपात्र और तैल—इन तीनों के संयोग से ही दीपक की स्थिति है—इनमें से किसी एक के अभाव में भी दीपक रह नहीं सकता, उसी प्रकार योग और धर्म के बिना विकार (रोग) की प्राप्ति देखी जाती है और इस प्रकार अकाल में ही प्राणों का क्षय हो जाता है ।

हमारे हृदय के भीतर जो दीपक की भाँति प्रकाशमान आत्मा है, उसकी अनन्त किरणें फैली हुई हैं, जो श्वेत, कृष्ण, पिंगल, नील, कपिल, पीत और रक्त वर्ण की हैं । उनमें से एक किरण ऐसी है, जो सूर्यमण्डल को भेदकर सीधे ऊपर को चली गयी है और ब्रह्मलोक को भी लाँघ गयी है; उसी के मार्ग से योगी पुरुष परमगति को प्राप्त होता है । उसके सिवा और भी सैकड़ों किरणें ऊपर की ओर स्थित हैं । उनके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न देवताओं के निवासभूत लोकों में जाता है । जो एक ही रंग की बहुत सी किरणें नीचे की ओर स्थित हैं, उनकी कान्ति बड़ी कोमल है । उन्ही के द्वारा इस लोक में जीव कर्मभोग के लिये आता है ।

समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, कर्मेन्द्रियाँ, अहंकार, बुद्धि, पृथिवी आदि पाँच भूत तथा अव्यक्त प्रकृति—ये 'क्षेत्र' कहलाते हैं और आत्मा ही इस क्षेत्र का ज्ञान रखने वाला 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है । वही सम्पूर्ण भूतों का ईश्वर है । सत्, असत् तथा सदसत्—सब उसी के स्वरूप हैं । व्यक्त प्रकृति से समष्टि बुद्धि (महत्तन) की उत्पत्ति होती है, उससे अहंकार उत्पन्न होते हैं, जो उत्तरोत्तर एकाधिक गुणों वाले हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये क्रमशः उन पाँचों भूतों के गुण हैं । इनमें से जो भूत जिसके आश्रय में है,

वह उसी में लीन होता है । सत्त्व, रज और तम—ये अव्यक्त प्रकृति के ही गुण हैं । जीव रजोगुण ओर तमोगुण से आविष्ट हो चक्र की भाँति घूमता रहता है । जो सबका 'आदि' होता हुआ स्वयं 'अनादि' है, वही परमपुरुष परमात्मा है ।

मन और इन्द्रियों से जिसका ग्रहण होता है, वह 'विकार' (विकृत होने वाला प्राकृत तत्त्व) कहलाता है । जिससे वेद, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, भाष्य तथा अन्य वाङ्मय की अभिव्यक्ति हुई है, वही 'परमात्मा' है । पितृयानमार्ग की उपवीथी से लेकर अगस्त्य तारे के बीच का जो मार्ग है, उससे संतान की कामना वाले अग्निहोत्री लोग स्वर्ग में जाते हैं । जो भलीभाँति दान में तत्पर तथा आठ गुणों से युक्त होते हैं, वे भी उसी भाँति यात्रा करते हैं । अठासी हजार गृहस्थ मुनि हैं, जो सब धर्मों के प्रवर्तक है; वे ही पुनरावृत्ति के बीज (कारण) माने गये हैं । वे सप्तर्षियों तथा नागवीथी के बीच के मार्ग से देवलोक में गये है । उतने ही (अर्थात अठासी हजार) मुनि और भी हैं, जो सब प्रकार के आरामों से रहित हैं । वे तपस्या, ब्रह्मचर्य, आसक्ति, त्याग तथा मेघाशक्ति के प्रभाव से कल्पपर्यन्त भिन्न-भिन्न दिव्यलोक में निवास करते हैं ।

वेदों का निरन्तर स्वाध्याय, निष्काम यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, इन्द्रिय-संयम, श्रद्धा, उपवास तथा सत्य-भाषण—ये आत्मज्ञान के हेतु हैं । समस्त द्विजातियों को उचित है कि वे सत्त्वगुण का आश्रय लेकर आत्मतत्त्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं साक्षात्कार करें । जो इसे इस प्रकार जानते हैं, जो वानप्रस्थ आश्रम का आश्रय ले चुके हैं और परम श्रद्धा से युक्त हो सत्य की उपासना करते हैं, वे क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, देवलोक, सूर्यमण्डल तथा विद्युत् के अभिमानी देवताओं के लोकों में जाते हैं । तदन्तर मानस पुरुष वहाँ आकर उन्हें साथ ले जा, ब्रह्मलोक का निवासी बना देता है; उनकी इस लोक में पुनरावृत्ति नहीं होती । जो लोग यज्ञ, तप और दान से स्वर्ग लोक पर अधिकार प्राप्त करते हैं, वे क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक तथा चन्द्रमा के अभिमानी देवताओं के लोकों में जाते हैं और फिर आकाश, वायु एवं जल के मार्ग से होते हुए इस पृथ्वी पर लौट आते है । इस प्रकार वे इस लोक में जन्म लेते हैं और मृत्यु के बाद पुनः उसी मार्ग से यात्रा करते हैं । जो जीवात्मा के इन दोनों मार्गों को नहीं जानता, वह साँप, पतंग अथवा कीड़ा-मकोड़ा होता है । हृदयाकाश में दीपक की भाँति प्रकाशमान ब्रह्म का ध्यान करने से जीव अमृतस्वरूप हो जाता है । जो न्याय से धन का उपार्जन करने वाला, तत्त्वज्ञान में स्थित, अतिथि-प्रेमी, श्राद्धकर्ता तथा सत्यवादी है, वह गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है । अतः मन्त्रशास्त्र का आश्रय लेकर गृहस्थ मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को मुक्त कर ले ।

श्रवण एवं मननरूप ज्ञान से मुक्ति—

संसाररूप अज्ञानजनित बन्धन से छुटकारा पाने के लिये 'ब्रह्मज्ञान' आवश्यक है । 'यह आत्मा परब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं ही हूँ ।' ऐसा निश्चय हो जानेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है । घट आदि वस्तुओं की भाँति यह देह दृश्य होने के कारण आत्मा नहीं है; क्योंकि सो जाने पर अथवा मृत्यु हो जाने पर यह बात निश्चित रूप से समझ में आ जाती है कि 'देह से आत्मा भिन्न है' । यदि देह ही आत्मा होता तो सोने या मरने के बाद भी पूर्ववत् व्यवहार करता; (आत्मा) 'अविकारी' आदि विशेषणों के समान विशेषण से युक्त निर्विकाररूप में प्रतीत होता है । नेत्र आदि इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं है; क्योंकि वे 'करण' हैं । यही हाल मन और बुद्धि का भी है । वे भी दीपक की भाँति प्रकाश के 'करण' हैं, अतः आत्मा नहीं हो सकते । 'प्राण' भी आत्मा नहीं है; क्योंकि सुषुप्तावस्था में उस पर जड़ता का प्रभाव रहता है । जाग्रत् और स्वप्नावस्था में प्राण के साथ चैतन्य मिला सा रहता है, इसलिये उसका पृथक् बोध नहीं होता; परंतु सुषुप्तावस्था में प्राण विज्ञानरहित है—यह बात स्पष्ट रूप से जानी जाती है । अतएव आत्मा इन्द्रिय आदि रूप नहीं है । इन्द्रिय आदि आत्मा के करणमात्र हैं । अहंकार भी आत्मा नहीं है; क्योंकि देह की भाँति वह भी आत्मा से पृथक् उपलब्ध होता है । पूर्वोक्त देह आदि से भिन्न यह आत्मा सब के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित है । यह रात में जलते हुए दीपक की भाँति सब का द्रष्टा और भोक्ता है ।

समाधि के आरम्भ काल में मुनि को इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये— 'ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी तथा पृथ्वी से सूक्ष्म शरीर प्रकट हुआ है ।' अपञ्चीकृत भूतों से पञ्चीकृत भूतों की उत्पत्ति हुई है । फिर स्थूल शरीर का ध्यान करके ब्रह्म में उसके लय होने की भावना करे । पञ्चीकृत भूत तथा उनके कार्यों को 'विराट्' कहते हैं । आत्मा का वह स्थूल शरीर अज्ञान से कल्पित है । इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे धीर पुरुष 'जाग्रत-अवस्था' मानते हैं । जाग्रत के अभिमानी आत्मा का नाम 'विश्व' है । ये (इन्द्रिय-विज्ञान, जाग्रत-अवस्था और उसके अभिमानी देवता) तीनों प्रणव की प्रथम मात्रा 'अकारस्वरूप' हैं । अपञ्चीकृत भूत और उनके कार्य को 'लिंग' कहा गया है । सत्रह तत्त्वों (दस इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा तथा मन और बुद्धि) से युक्त हो आत्मा सूक्ष्म शरीर है, जिसे 'हिरण्यगर्भ' नाम दिया गया है, उसी को 'लिंग' कहते है ।

जाग्रत् अवस्था के संस्कार से उत्पन्न विषयों की प्रतीति को 'स्वप्न' कहा गया है । उसका अभिमानी आत्मा 'तैजस' नाम से प्रसिद्ध है । वह जग्रत् के प्रपञ्च से पृथक् तथा प्रणव की दूसरी मात्रा 'उकाररूप' है । स्थूल और सूक्ष्म-दोनों शरीरों का एक ही कारण है—'आत्मा' । आभासयुक्त ज्ञान को 'अध्याहृत ज्ञान' कहते हैं । इन अवस्थाओं का साक्षी 'ब्रह्म' न सत् है, न असत् है और न

सदसत् रूप ही है । वह न तो अवयवयुक्त है और न अवयवरहित; न भिन्न है न अभिन्न और भिन्नाभिन्नरूप भी नहीं है । वह सर्वथा अनिर्वचनीय है । इस बन्धनभूत संसार की सृष्टि करने वाला भी वही है । ब्रह्म एक है और केवल ज्ञान से प्राप्त होता है; कर्मों द्वारा उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती । अतः शब्दब्रह्म (मन्त्रशास्त्र) की उपासना के माध्यम से हमें ब्रह्मज्ञानी होने का प्रयत्न करना चाहिए ।

प्रणवोपासना—जब बाह्यज्ञान के साधनभूत इन्द्रियों का सर्वथा लय हो जाता है, केवल बुद्धि की ही स्थिति रहती है, उस अवस्था को 'सुषुप्ति' कहते हैं । 'बुद्धि' और 'सुषुप्ति' दोनों के अभिमानी आत्मा का नाम 'प्राज्ञ' है । ये तीनों 'मकार' एवं प्रणवरूप माने गये हैं । यह प्राज्ञ ही अकार, उकार और मकारस्वरूप है । 'अहम्' पद का लक्ष्यार्थभूत चित्स्वरूप आत्मा इन जाग्रत् और स्वप्न आदि अवस्थाओं का साक्षी है । उसमें अज्ञान और उसके कार्यभूत संसारादिक बन्धन नहीं हैं । मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, आनन्द एवं अद्वैतस्वरूप ब्रह्म हूँ । मैं ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ । सर्वथा मुक्त प्रणव (ऊँ) वाच्य परमेश्वर हूँ । मैं ही ज्ञान एवं समाधिरूप ब्रह्म हूँ । बन्धन का नाश करने वाला भी मैं ही हूँ । चिरन्तर, आनन्दमय, सत्य, ज्ञान और अनन्त आदि नामों से लक्षित परब्रह्म मैं ही हूँ । 'यह आत्मा परब्रह्म है, वह ब्रह्म तुम हो'—इस प्रकार (प्रणवोपासना रूप) गुरु द्वारा बोध कराये जाने पर जीव यह अनुभव करता है कि मैं इस देह से विलक्षण परब्रह्म हूँ । वह जो सूर्यमण्डलों में प्रकाशमय पुरुष है, वह मैं ही हूँ । मैं ही ॐकार तथा अखण्ड परमेश्वर हूँ । इस प्रकार ब्रह्म को जानने वाला पुरुष इस असार संसार से मुक्त होकर ब्रह्मरूप हो जाता है और यही शारदातिलक तन्त्र का मुख्य प्रयोजन है ।

शारदातिलक के संस्करण—

शारदातिलक का मूल पं० रसिकमोहन चट्टोपाध्याय के द्वारा कलकत्ता से प्रथमतया १८८० में प्रकाशित किया गया । यह संस्करण मूल रूप से बंगला लिपि में था । कुछ ही दिनों बाद पं० जीवानन्दविद्यासागर ने देवनागरी में एक शारदातिलक का संस्करण प्रकाशित किया । राघवभट्ट की पदार्थादर्श व्याख्या के साथ १८८६ में बनारस से प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ । यह शारदातिलक महादेव भट्ट की गूढ़ार्थदीपिका व्याख्या के साथ संवत् १९४१ में भी छपा था । यह गूढ़ार्थदीपिका राघवभट्ट की व्याख्या से पुरातन है । क्योंकि राघवभट्ट ने इस व्याख्या को कई स्थानों पर आलोचित किया है । राघवभट्ट ने अपनी व्याख्या में कहा है कि इन्होंने संवत् १५५१ (ई० १४८४) में अपनी व्याख्या को लिखा था । तन्त्र जगत के प्रसिद्ध विद्वान् आर्थव ऍवलोन के द्वारा संपादित होकर राघवभट्ट की टीका के साथ शारदातिलक आगमानुसंधान समिति से १९३३ में प्रकाशित हुआ । यह तान्त्रिक टेक्स्ट सिरीज़ का १७वाँ वैल्यूम था ।

16

इसी का पुनर्मुद्रण १९८२ में दिल्ली से हुआ । वाराणसी से प्रकाशित संस्करण मात्र एक पाण्डुलिपि पर आधारित था अतः त्रुटियाँ होना स्वाभाविक था । शारदातिलक पर और भी अनेक संस्कृत टीका हैं जो अद्यावधि अप्रकाशित हैं । उनमें से एक टीका संस्कृत कॉलेज कलकत्ता के पुस्तकालय में प्रेमनिधि पन्त के द्वारा रचित शब्दार्थचिन्तामणि सुरक्षित है । राघवभट्ट की टीका में स्थान स्थान पर अर्थद्योतनिका संस्कृत व्याख्या का उल्लेख किया गया है । यह भी अद्यावधि अप्रकाशित है ।

इस प्रकार शारदातिलक की छः टीकाएं विद्यमान हैं जो इस प्रकार हैं—

१. त्रिविक्रम भट्टारक (राम-भारती-शिष्य) द्वारा रचित गूढार्थदीपिका या सुगूढार्थदीपिका,

२. प्रेमनिधि पन्त रचित शब्दार्थचिन्तामणि,

३. श्रीहर्ष दीक्षित रचित हर्षकौमुदी,

४. कामरूप पण्डित अथवा जगद्गुरु भट्टाचार्य सिद्धान्त-वागीश द्वारा रचित गूढार्थप्रकाशिका,

५. माधवकृत शारदातिलक टीका, एवं

६. राघवभट्ट कृत पदार्थादर्श टीका ।

शारदातिलक के रचयिता—

शारदातिलक श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्र के द्वारा रचित है । उन्होंने इस ग्रन्थ के अन्त में श्री कृष्ण को अपना पिता बताया है और उनके पितामह आचार्य पण्डित थे और प्रपितामह महाबल थे । वे सभी यशस्वी पण्डित थे लेकिन उनके द्वारा रचित किसी भी अन्य ग्रन्थ की हमलोगों को जानकारी नहीं है । श्रीमद्राघवभट्ट के अनुसार श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्र के गुरु उत्पलाचार्य थे और उनकी गुरु परम्परा में उत्पलाचार्य, सोमानन्द, वसुमत और श्रीकण्ठ थे । राघवभट्ट के अनुसार लक्ष्मणदेशिकेन्द्र के शिष्यों के आग्रह के कारण उन्होंने शारदातिलक में विभिन्न पूजाओं का वर्णन किया था । इसीलिए कि साधकगण विभिन्न तन्त्रों के विस्तार से अवगाहन न करके सार रूप से इस ग्रन्थ में षडङ्गपूजा एवं न्यास इत्यादि को देखकर पूजा प्रयोग करें । विभिन्न देवताओं के तन्त्र में दक्षता हासिल करना कठिन था क्योंकि वे सीमित बुद्धि वाले थे । इसलिए श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्र ने विभिन्न तन्त्रों से संग्रहित करके विभिन्न देवताओं के प्रयोग शारदातिलक में सारगर्भित रूप में प्रतिपादित किए ।

इनकी रचना 'शारदातिलक' शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर, गाणपत्य आदि सनातनधर्म की सभी शाखाओं में समानरूप से समादृत है । यह २५ पटलों में उपनिबद्ध है । भगवती सरस्वती की कृपा से ये प्रथम श्रेणी के सिद्धहस्त कवि थे । उदाहरणतः—

अन्तःस्मितोल्लसितमिन्दुकलावतंस-
मिन्दीवरोदरसहोदरनेत्रशोभि ।
हेतुस्त्रिलोकविभवस्य नवेन्दुमौले-
रन्तःपुरं दिशतु मङ्गलमादराद् वः ॥ (१. ३. पृ० १०)

भाव यह है कि नवचन्द्रशेखर भगवान् सदाशिव के अन्तःपुर की अधिष्ठात्री भगवती भुवनेश्वरी आप हम सब लोगों के लिए सादर सुमंगल प्रदान करें । भगवान् का यह अन्तःपुर सदैव स्मित से उल्लसित है और उनके मुकुट पर अर्धचन्द्र की कला विराज रही है तथा नत्र नीलकमल के समान शोभा से सम्पन्न हैं । व्याख्याकार राघवभट्ट के अनुसार इस श्लोक में भुवनेश्वरी-बीज 'ह्रीं'कार की व्याख्या है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'स्फोट' द्वारा विश्व की उत्पत्ति बतलाई गई है और यज्ञादि समस्त कर्मकाण्डसहित देवमन्दिर-निर्माण, प्रतिमा-प्रतिष्ठा, भुवनेश्वरी, सरस्वती, त्वरिता, पद्मावती, अन्नपूर्णा, दुर्गा, वनदुर्गा, भैरवी, बाला, त्रिपुरभैरवी, राज-मातङ्गिनी, वज्रप्रस्तारिणी, नित्या, अश्वारूढा आदि सभी शक्तियों के साथ-साथ गणपति, कार्त्तिकेय, दक्षिणामूर्त्ति शिव के चिन्तामणि आदि मन्त्र, गायत्री सहित नृसिंह, हयग्रीव, समग्र राम, विष्णु, सौर-परिकर, दशावतारों में हयग्रीवादि तथा पुरुषोत्तम-प्रकरण नामक विशिष्ट प्रकरण सहित गोपाल के षडक्षरादि त्रयस्त्रिंशत्-अक्षरान्त १० मन्त्रों का विधान है । अन्त में त्रयम्बक, मृत्युंजय, वरुण के साथ योग एवं वेदान्त के प्रकरण के साथ ब्रह्मस्वरूप का विस्तार से प्रतिपादन है । कुण्डलिनी-जागरण, उनके स्थान सहित पूर्ण स्वरूप एवं फल का भी निर्देश है । निःसंकोच कहा जा सकता है कि इसके परवर्ती सभी ग्रन्थों का यही शारदातिलक उपजीव्य है ।

इतिहास की दृष्टि से श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्र को विजयनगर के राजा प्रौढदेव ने उनकी विद्वत्ता, साधना एवं तपस्या से आकृष्ट हो अपना सभापण्डित बनाया था, किंतु राजा के कुछ अशिष्ट व्यवहारों से असंतुष्ट होकर, राजा को शाप देकर ये उसके राज्य से चले गए । फलस्वरूप वह राज्य निर्वंश हो गया । किसी प्रकार श्रीविद्यारण्य यति ने उसे बचाकर पुनः उस राज्य का संवर्धन कर दिया । श्रीविद्यारण्य श्रीदेशिकेन्द्र के अनन्य भक्त थे ।

शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट—

शरदातिलक के यशस्वी टीकाकार राघवभट्ट महाराष्ट्र प्रदेश के नासिक के जनस्थान ग्राम के निवासी थे । इनके पिता श्रीपृथ्वीधर थे और इनके पितामह का नाम रामेश्वर भट्ट था । दोनों ही अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे । श्रीपृथ्वीधर विद्या की नगरी काशी में आ गए और यहीं उनका देहान्त हो गया । उनके पुत्र राघवभट्ट वेदान्त, न्याय, भाट्टनय, गणित, साहित्य, आयुर्वेद, कला,

कामशास्त्र और अर्थशास्त्र के प्रकाण्ड ज्ञाता हुए। यह वेद के पारदृश्वा विद्वान् थे एवं गायन और वादन में बड़ी अच्छी अभिरुचि थी।

शारदातिलक की पदार्थादर्श टीका राघवभट्ट की बहुमुखी प्रतिभा का द्योतक है। यही राघवभट्ट हैं जिन्होंने गणित के ग्रन्थ लीलावती और कालिदास के शाकुन्तल पर भी टीका लिखी थी। इस टीका में भारत की सांस्कृतिक समृद्धता का बड़ा अनूठा परिचय प्राप्त है। अपनी पदार्थादर्श टीका के लिए मात्र मन्त्रशास्त्र से ही इन्होंने उद्धरण नहीं दिए हैं बल्कि उन्होंने गणितीय ग्रन्थों—ज्योतिष, शास्त्र, आयुर्वेद, वेद और उपनिषद, पुराण, संहिता, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, ब्राह्मण ग्रन्थ, शुल्बसूत्र, दर्शन, छन्द और पंचरात्र आगम से भी उद्धृतियाँ दी हैं।

इस प्रकार इनकी व्याख्याओं में अपार ज्ञान भरा है। इनकी टीका न होती तो लीलावती तथा शारदातिलक के रहस्य समझ में ही न आते। वस्तुतः इनकी टीका स्वयं विशाल सर्वतन्त्र का सार है। मुद्राभेद, अष्टचन्दनभेद, उपचार ज्ञानादि के लिए यह टीका ज्ञान प्रकाशिका एवं दिव्य कुंजिका है। इनकी जितनी भी प्रशंसा की जाए कम है। भारतीय तान्त्रिक समाज इसके लिए चिर ऋणी रहेगा।

राघवभट्ट ने अपनी व्याख्या में प्रपंचसार को अनेक बार उद्धृत किया है। जब दूसरे विद्वानों से इनका मतभेद होता है तब वे अपने अर्थ को ठीक बताने के लिए मात्र प्रपंचसार को ही नहीं अपितु पद्मपादाचार्य की व्याख्या को भी उद्धृत करते हैं। प्रपंचसार शंकराचार्य द्वारा रचित है। किन्तु विद्वानों द्वारा इसे शंकर की रचना नहीं जाता रहा है। लेकिन राघवभट्ट की उद्धृतियों के सन्दर्भ में यह कहना ठीक होगा की प्रपंचसार आचार्य शंकर की रचना है। भास्करराय लक्ष्मीधर नीलकण्ठ और भी अनेक टीकाकारों के अनुसार प्रपंचसार आचार्य शंकर की रचना है। प्रपंचसार और शारदातिलक दोनों ही भारतीय विद्वत्ता का वस्तृत विवेचन करते हैं। दोनों ही कृतियों में विभिन्न पूजा प्रयोग एवं यजमान संस्कृति का उत्कृष्ट प्रतिपादन है। वस्तुतः यह इसलिए है कि सभी रास्ते मात्र उस एक परमात्मा की ओर ही ले जाते हैं।

शारदातिलक—

शारदातिलक २५ पटलों में विभक्त है। क्योंकि २५ ही सांख्य तत्त्व होते हैं। शारदातिलक के २५वें पटल के ८७वें श्लोक में राघवभट्ट कहते हैं कि शारदातिलक का प्रथम पटल (सांख्य की) प्रकृति है क्योंकि यह सृष्टि के विषय में प्रतिपादन करता है। आगे के तेईस पटल अर्थात् २ से २४ तक प्रकृति एवं विकृति दोनों ही हैं और अन्तिम २५वाँ पटल जो योग से सम्बन्धित है सांख्य के पुरुष को सूचित करता है जो कि प्रकृति एवं विकृति से परे है। यहां पर यह कह देना आवश्यक है कि प्रपंचसार तन्त्रराज है जो कि ३६ पटलों

में विभाजित है क्योंकि शैवागम के अनुसार ३६ तत्त्व होते हैं । शारदातिलक के २५ पटलों में विभिन्न देवियों के बीजमन्त्र, देवी-देवता, उनकी शक्तियाँ, दीक्षा, अठारह संस्कार, मातृकाएँ, तान्त्रिक मन्त्रों से पूजा, जगद्धात्री, त्वरिता, दुर्गा, त्रिपुरा, गणेश, नृसिंह एवं पुरुषोत्तम आदि के मन्त्र और उनके जप, पूजन, ध्यान आदि के प्रकार वर्णित हैं ।

शारदातिलक का अर्थ है स्थूलकर्म का फल जो प्रदान करे उसे 'शारदा' कहते हैं, उसका तिलक अर्थात् भूषण स्वरूप शारदातिलक है । अथवा शरः/स्वतन्त्रम्, तस्य भावः शारम्/स्वातन्त्र्यम् तद् ददातीति शारदा, तस्याः तिलकम् । प्राणी का जीवभाव निरस्त कर उसे अनन्त ऐश्वर्य प्रदान करने वाली शारदा का यह तिलक है । तिलक कहने का एक अभिप्राय यह भी है कि शरीर में सर्वप्रथम तिलक दिखाई पड़ता है उसी प्रकार यह भी तन्त्र के सभी ग्रन्थों में मुख्य एवं अपने ढङ्ग का अनूठा ग्रन्थ है । शारदातिलक सब ग्रन्थों का सार है एवं चारों पुरुषार्थों की सिद्धि का हेतु है । स्वयं ग्रन्थकार कहते हैं—

सारं वक्ष्यामि तन्त्राणां शारदातिलकं शुभम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्तेः परमकारणम् ॥

इस ग्रन्थ में शब्दार्थ सृष्टि आदि **विषय** हैं, धर्मार्थादि पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति **फल** है प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव **सम्बन्ध** है । पुरुषार्थ चतुष्टय को चाहने वाला **अधिकारी** है ।

शारदातिलक का प्रथम श्लोक परमात्मा की स्तुति में प्रतिपादित है जिन्हें महः नाम से कहा गया है । महः वस्तुतः परमात्म तत्त्व है जो कि पुरुष एवं प्रकृति दोनों को सूचित करता है । तेईसवें और पचीसवें पटल में इस परमतत्त्व के बारे में अधिक विवेचन किया गया है ।

प्रथम पटल ब्रह्मस्वरूप प्रकरणं है । इस प्रकरण में गुरु की स्तुति शक्ति की स्तुति एवं शब्दब्रह्मोत्पत्ति का निरूपण है । पश्यन्ती शब्द सृष्टि का कथन करते हुए षट्कोषों की उत्पत्ति एवं कुण्डली शक्ति का विभुत्व वर्णित है । अन्त में मातृका वर्णों का सोमसूर्याग्नि रूपत्व बताया गया है । **द्वितीय पटल** बैखरी सृष्टि पटल है । मातृकाओं से मन्त्र की उत्पत्ति, मन्त्रों का शोधन, पुरश्चरण प्रयोगकर्ता के लिए नियम आदि कहे गए हैं । यहाँ गुरु एवं शिष्य का लक्षण प्रतिपादित है । **तृतीय पटल** दीक्षाङ्गनिर्णय पटल है । वास्तुयाग की उत्पत्ति, वास्तुबलि, वास्तुदेव पूजा इस पटल का मुख्य विषय है । इसी सन्दर्भ में मण्डपनिर्माण, वेदीनिर्माण एवं विभिन्न प्रकार के कुण्डों के निर्माण की विधि वर्णित है । **चतुर्थ पटल** दीक्षा प्रकरण है । दीक्षा शब्द की व्युत्पत्ति एवं विभिन्न प्रकार की दीक्षाओं का वर्णन इस पटल में किया गया है । लोकपाल पूजा एवं अग्निसंस्कार का वर्णन है । **पञ्चम पटल** अग्निजननप्रकरण है । इस पटल में कुण्ड के संस्कार की विधि,

अग्नि का संस्कार, विभिन्न प्रकार के अध्वाओं का कथन है । अन्त में होम के अनेक भेद एवं उनके फल का निरूपण है ।

षष्ठ पटल मातृकाप्रकरण है । इसमें वाग्देवता का ध्यान, मातृका चक्र, शारदा का ध्यान, वर्णेश्वरी का ध्यान एवं महालक्ष्मी का ध्यान तथा मातृका पूजा वर्णित है । **सप्तम पटल** भूतलिपिप्रकरण है । इसमें नववर्गाद्यक्षर का कथन वर्ग वर्णों की भूतात्मकता, वागीश्वरी का ध्याान, एवं उनका पुरश्चरणादि कथन है । **अष्टम पटल** महालक्ष्मी प्रकरण है । इसमें महालक्ष्मी से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के मन्त्रों का उद्धार करते हुए अन्त में लक्ष्मी यन्त्र का विधान किया गया है । **नवम पटल** भुवनेश्वरीप्रकरण है । इस पटल में भुवनेशी पूजा यन्त्र, भुवनेश्वरी मन्त्रोद्धार एवं उनके ध्यानादि तथा पुरश्चरणादि का कथन है । **दशम पटल** त्वरिता पटल है । इसमें त्वरिता देवी के विभिन्न मन्त्र, उनके प्रयोग, श्रीमन्त्र, नित्या ध्यान, त्रैपुट मन्त्र, अन्नपूर्णा मन्त्र, पद्मावती मन्त्र तथा उनका पुरश्चरण वर्णित है ।

एकादश पटल दुर्गा प्रकरण है । दुर्गा देवी के विभिन्न रूपों का जैसे जयदुर्गा, शूलिनीदुर्गा, शालिनीदुर्गा, वनदुर्गा एवं विन्ध्यवासिनी का ध्यान वर्णित है। **द्वादश पटल** भैरवी प्रकरण है। इस पटल में त्रिपुरा भैरवी का मन्त्र, उनका ध्यान, पूजा यन्त्र एवं पुरश्चरणादि का वर्णन है । त्रिपुर भैरवी स्तव, मातङ्गी का ध्यान एवं राजमातङ्गिनी की स्तुति तथा रत्नमाला मातङ्गी देवी की स्तुति इस पटल की विशेषता है । **त्रयोदश पटल** गणपति पटल है । जिसमें गणपति की विभिन्न पूजा पद्धति मन्त्र एवं पुरश्चरण निरूपित किया गया है । **चतुर्दश पटल** सौर प्रकरण है । पञ्चायतन के देवता सूर्य मार्तण्ड का ध्यान, सूर्यार्घ दान के नियम, उनके (सौर) मन्त्र एवं पुरश्चरण आदि का वर्णन है । **पञ्चदश पटल** विष्णु प्रकरण है । इस पटल में विष्णु के विभिन्न दशावतार के मन्त्र एवं पुरश्चरणादि का वर्णन है । रामावतार के साथ में सीता एवं हनुमान आदि के मन्त्रों का भी निरूपण है ।

षोडश पटल नृसिंह प्रकरण है । प्रथमतः नृसिंह मन्त्रोद्धार, सुदर्शन मन्त्र, उनका ध्यान एवं पुरश्चरण प्रयोग वर्णित है । **सप्तदश पटल** पुरुषोत्तम प्रकरण है। इस प्रकरण में जगन्नाथ का ध्यान, वैष्णवी गायत्री एवं विष्णु के आयुधों का पुरश्चरण वर्णित है । **अष्टादश पटल** शिव प्रकरण है । इसमें शिव के मन्त्र, उनका ऋष्यादि का कथन, दुर्गा का ध्यान, षणमुख, नन्दी, विघ्ननायक, सेनापति आदि का ध्यान वर्णित है । इस पटल में मृत्युञ्जय मन्त्र एवं महामृत्युञ्जय का ध्यान प्रयोग वर्णित है । **एकोनविंश पटल** दक्षिणामूर्त्ति पटल है । इसमें दक्षिणामूर्त्ति का ध्यान, नीलकण्ठ मन्त्र, चिन्तामणि मन्त्र, खड्गरावण मन्त्र आदि अनेक मन्त्रों का उद्धार एवं अन्त में सदाशिव का ध्यान तथा पुरश्चरणादि कथन है । **विंश पटल** अघोर देवता से सम्बन्धित है । अघोर मन्त्र, उनका यन्त्र,

पाशुपतास्त्र मन्त्र, बटुक भैरव का सात्त्विक, राजस एवं तामस ध्यान एवं अन्त में शिव की स्तुति की गयी है ।

एकविंश पटल गायत्रीप्रकरण है । गायत्री का न्यास, उनका ध्यान एवं पुरश्चरणादि कथन करते हुए अन्त में आग्नेयास्त्र का प्रतिपादन है । **द्वाविंश पटल** दिनास्त्र एवं कृत्यास्त्र प्रकरण है । इनमें दिनास्त्र एवं कृत्यास्त्र के मन्त्र, चिटि मन्त्र, अग्नि, यामवती, दुर्गा एवं भद्रकाली का ध्यान, उनके मन्त्र एवं पुरश्चरण प्रयोग वर्णित हैं । **त्रयोविंश पटल** त्र्यम्बकप्रकरण है । इसमें मुख्य रूप से मृत्युञ्जय का ध्यान, उनका यन्त्र वर्णित है । इस प्रकरण में वरुण देवता प्राणप्रतिष्ठा, मुद्रा प्रकरण एवं षट्कर्म प्रकरण का निरूपण है । **चतुर्विंश पटल** यन्त्रप्रकरण है । यहाँ यन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति टीकाकार के द्वारा बतलाई गई है । इस पटल में मृत्युञ्जय यन्त्र, ज्वरघ्न यन्त्र, सर्पघ्न यन्त्र, रोगाभिचारघ्न यन्त्र आदि अनेक यन्त्रों का संग्रह है । अन्तिम **पञ्चविंश पटल** योग प्रकरण है । इस प्रकरण में अष्टाङ्ग योग, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा आदि का वर्णन करके ग्रन्थकार ने अन्त में कुण्डलिनी का ध्यान एवं उनकी स्तुति की है । अन्त में ग्रन्थकार अपना परिचय देते हुए ग्रन्थ का समापन करते हैं ।

इस प्रकार शारदातिलक नामक इस तन्त्र ग्रन्थ में मुख्य रूप से ऋषि, छन्द और देवता के सहित शब्दार्थ की सृष्टि तथा यन्त्र एवं मन्त्रों की विधि, न्यास, जप पूजा होम, तर्पण, अभिषेक, संपात एवं पातादि का निरूपण किया गया है । किसी भी मन्त्र में मुनि, छन्द, देवता तथा विनियोग की आवश्यकता होती है, इसके जाने बिना मन्त्र की सिद्धि नहीं होती ।

मुनि—वे हैं जिन्हें तपोयोगबल से मन्त्रों का साक्षात्कार हुआ है, अथवा उस मन्त्र के जप द्वारा उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई हैं, वे ही उस मन्त्र के ऋषि कहे जाते हैं ।

छन्द—जिस प्रकार शरीर को वस्त्र से आच्छादित किया जाता है उसी प्रकार मृत्यु से भयभीत ऋषियों ने जिससे अपने को ढक लिया वही छन्द है, देवताओं को आच्छादित करने के कारण ही उसकी **छन्द** संज्ञा कही गई है । यह छन्द गायत्री आदि नामों से प्रसिद्ध हैं ।

देवता—जिस जिस देवता को उद्देश्य कर जो जो मन्त्र कहे जाते हैं वे ही उस मन्त्र के **देवता** कहे जाते हैं । अतः उन मन्त्रों का भी उस देवता के समान आकार होता है, इसलिये मन्त्र और देवता में कोई भेद नहीं होता । अतः मन्त्र देवता स्वरूप ही होते हैं ।

विनियोग—विनियोग का अर्थ है, कर्त्तव्य । मन्त्रों के उत्पत्ति कर्म के लिये ही हुई है । जिस मन्त्र से जो कार्य कर्त्तव्य हो, उस मन्त्र का वह **विनियोग** होता है, जैसे जपे विनियोगः । न्यासे विनियोगः । पाठे विनियोगः । अथवा धर्म, अर्थ,

काम और मोक्ष रूप कार्यों में शास्त्रीय रीति से सिद्ध मन्त्रों की योजना करने का नाम **विनियोग** है । मन्त्र की फल प्राप्ति के लिये उसके ऋषि छन्द, देवता तथा विनियोग की आवश्यकता है । इसके बिना मन्त्र फलवान् नहीं होता ।

ग्रन्थ का प्रयोजन—

श्रीलक्ष्मणादेशिकेन्द्र ने शारदातिलक में काम्य कर्म और निष्काम कर्म दोनों के ही विधिविधान का प्रतिपादन किया है । उन्होंने षट्कर्मों (शान्ति, वश्य, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन एवं मारण) की विधि का भी दिग्दर्शन कराया है । सर्वप्रथम विधिवत् न्यास द्वारा आत्मरक्षा करने के बाद ही काम्य कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए अन्यथा हानि एवं असफलता ही हाथ आती है । जो व्यक्ति शुभ अथवा अशुभ किसी भी प्रकार का काम्य कर्म करता है मन्त्र उसका शत्रु बन जाता है इसलिए काम्य कर्म न करे यही उत्तम है । काम्य कर्म का प्रतिपादन विषयासक्त चित्त वाले लोगों के संतोष के लिए प्राचीन आचार्यों ने किया है । किन्तु काम्य कर्म हितकारी नहीं है । क्योंकि काम्य कर्म करने वालों के लिए केवल कामनासिद्धि मात्र फल की प्राप्ति होती है जो सीमित है ।

किन्तु निष्काम भाव से देवता की उपासना करने वाले साधकों को सम्पूर्ण सिद्धियाँ स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो जाती हैं । अतः मानव मात्र को मात्र सुख प्राप्ति के लिए विभिन्न मन्त्रों के जो प्रयोग बतलाए गए हैं उनकी आसक्ति का त्याग कर निष्काम रूप से देवता की उपासना करनी चाहिए । यही उत्तम पक्ष है ।

वेदों में कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड एवं ज्ञानकाण्ड तीन काण्ड प्रतिपादित हैं । **'ज्योतिष्टोमेन यजेत्'** यह वाक्य कर्मकाण्ड का प्रतिपादक है । **'सूर्यो ब्रह्मेत्युपासीत'** यह उपासना का प्रतिपादक श्रुति वाक्य है । ये दोनों ही काण्ड ज्ञान के साधक हैं । अतः **'अयं आत्माब्रह्म'** यह ज्ञान है जो स्वयं में साध्य है । यही उक्त दोनों काण्डों का फल भी है । इसलिए ज्ञान प्राप्ति के लिए वेदोदित कर्म और उपासना दोनों में ही वेदोक्तमार्ग के अनुसार प्रवृत्त होना चाहिए ।

देवता की उपासना से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है जिससे उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होती है । वस्तुतः कार्यकारण संघात शरीर में प्रवृष्ट हुआ जीव ही परब्रह्म है । इसी के ज्ञान से साधक मुक्त हो जाता है । अतः मानव देह प्राप्त कर देवताओं की उपासना से मुक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिए । जो मनुष्य देह प्राप्त कर संसार बन्धन से मुक्त नहीं होता वही महापापी है । श्रीमद्भागवत् में ऐसा ही कहा भी गया है—

नेहयत्कर्मधर्माय न विरागाय कल्पते ।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ॥

—श्रीमद्भागवत ३. २३.५६

इस संसार में जिस व्यक्ति का कर्म न तो धर्म के लिए होता है, न वैराग्य के लिए और न तो तीर्थपाद भगवान् की चरणसेवा के लिए ही होता है वह जीते जी भी मरे हुए के समान है । इसलिए उपासना और कर्म से काम क्रोधादि षड् वैरियों का नाश कर आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए सत्पुरुषों को सतत् प्रयत्न करते रहना चाहिए ।

आनन्दजन्मभवनं भवनं श्रुतीनां
चैतन्यमात्रतनुमम्ब समाश्रयामि ।
ब्रह्मेशविष्णुभिरभिष्टुतपादपद्मां
सौभाग्यजन्मवसतिं त्रिपुरे यथावत् ॥

हे त्रिपुरे ! समस्त आनन्दों की एवं समस्त श्रुतियों की एक मात्र जन्मभूमि चैतन्यात्मक आपके उस शरीर का, जिसके पाद पद्मों की स्तुति ब्रह्मा, विष्णु एवं सदाशिव निरन्तर करते रहते हैं और जो समस्त सौभाग्यों का एक मात्र स्थान है, मैं आश्रय लेता हूँ ।

शिवरात्रि **विद्वद्वशंवदः**
२१ फरवरी २००१ **डॉ० सुधाकर मालवीय**
संवत् २०५७
३१/२१, ए, लंका, वाराणसी

प्रणतिः

विषाशनाय विहरद् वृषस्कन्धमुपेयुषे ।
सरिद्दामसमाबद्धकपर्दाय नमो नमः ॥
शुद्धाय शुद्धभावाय शुद्धानामन्तरात्मने ।
पुरान्तकाय पूर्णाय पुण्यनाम्ने नमो नमः ॥
भक्ताय निजभक्तानां भुक्तिमुक्तिप्रदायिने ।
विवाससे विवासाय विश्वेशाय नमो नमः ॥

(शा०ति० २०. १५५-१५७)

कालकूट जैसे महाविष को क्षणभर में पान करने वाले, धर्मरूप बैल के कन्धे पर सवार होकर सर्वत्र विचरण करने वाले, गङ्गा रूपी रस्सी से अपने जटाजूट को बाँधने वाले सदाशिव को हमारा बारम्बार नमस्कार है ।

विकार रहित होने से सर्वथा शुद्ध, शुद्धभाव वाले, शुद्धों के अन्तरात्मा स्वरूप, त्रिपुर के विनाशकर्त्ता, पुण्यात्मा एवं पुण्य नाम वाले सदाशिव को हमारा बारम्बार नमस्कार है ।

अपने भक्तों की स्वयं भक्ति करने वाले, भोग और मोक्ष प्रदान करने वाले, वस्त्रहीन, अनिकेत, विश्वेश्वर को हमारा बारम्बार नमस्कार है ।

विषयानुक्रमणिका

श्लोकाङ्का: ११३

अथ वैखरीसृष्टिप्रकरणम्

तृतीयः पटलः १३४-२३२

अथ दीक्षाङ्गनिर्णयप्रकरणम्

पञ्चमः पटलः ३१७-३६७

अथाग्निजननम्

सप्तम: पटल: ४०७-४३८

अथ भूतलिपिप्रकरणम्

अष्टम: पटल: ४३९-४७२

अथ महालक्ष्मीप्रकरणम्

नवमः पटलः ४७३-५१०

अथ भुवनेश्वरीप्रकरणम्

दशमः पटलः ५११-५४४

अथ त्वरिताप्रकरणम्

श्लोकाङ्काः १२३

एकादशः पटलः ५४५-५७८

अथ दुर्गाप्रकरणम्

श्लोकाङ्काः १२६

द्वादशः पटलः ५७९-६१८

अथ भैरवीप्रकरणम्

त्रयोदशः पटलः ६१९-६६१

अथ गणपतिप्रकरणम्

श्लोकाङ्काः १४७

अथ नृसिंहप्रकरणम्

अष्टादशः पटलः ८३७-८६८

अथ शिवप्रकरणम्

त्रयोविंश: पटल: १००३-१०४४

चतुर्विंश: पटल: १०४५-१०८६



वर्णसंकेतसूची

अक्रूर	अं
अक्षि	इ
अग्नि (२४.५३)	र
अग्निबीज	रं
अग्निसुन्दरी (२४.४९-५०)	स्वाहा
अर्घीश (२०.१३५)	ऊः
अतिथीश	ॠ
अमरेश	उ
अजपा	हंसः
अजेश (२४.५३)	झ
अन्तिम	क्षं
अत्रि	द
अधर	ए
अर्धनारीश	द्व्
अनन्त	अः
अनलः	रं
अनलान्तिम	ल
अनुग्रह	औ
अमृतबीज	वं
अम्भ	ब
अस्त्र (मन्त्र)	अस्त्राय फट्
आकाशबीज	हं
आत्मभूः	क्लीं
आप्यायनी	ॐ
आषाढी	त
अङ्कुशबीज (२३.७२)	क्रोँ
औरस	औ
इन्दु	बिन्दु (ं)

इन्धिका	उ
उमाकान्त	ण
उषर्बुधप्रिया	स्वाहा
एकनेत्र	छ
कपोल	ऌ
कमण्डलू	ठ
कमला	श्रीं
कर्ण	उ
कवच	हुं
काम (बीज)	क्लीं
कामिका	त
कूर्च	हूँ
कूर्म (२०.१४१)	च
कृष्ण	थ
क्लीब (वर्ण)	ऋ ॠ ऌ ॡ
क्रोधबीज	हुँ
क्रोधीश	क
क्रिया	लः
खड्गीश (१३.६६)	व
खम्	हं
गणपतिबीज	गं
गणनायक (बीज)	गं
गोविन्द	ई
गदी	खः
गजमुख	गं
गगन	ह
गिरिसुता (बीज)	ह्रीं
गिरिजा	ह्रीं

चक्री	कं	नभबीज	हं
चतुरानन (२४.५३)	ज	नील	त
चन्द्र	अनुस्वार	नृसिंहाङ्ग	औ
चन्द्रबिम्ब (१९.६३)	ठकार	नेत्र (२४.४९-५०)	इ
चन्द्रमा	अनुस्वार	पञ्चान्तक	ग
जनार्दन	फ	पद्मनाभ	ए
जरासन	ट	पद्मा	श्रीं
जल (२४.७४)	वं	परा	ह्रीं
झिण्टीश	ए	पार्श्व (२४.४९-५०)	प
ठद्वयं	स्वाहा	पावक (१३.६६)	र
णान्त	त	पावककामिनी	स्वाहा
तन्द्री	म	पावकमो(गे)हिनी	स्वाहा
तरल	त	पाश	आं
तर्जनी	न	पाशबीज (२३.७२)	आँ
तार (२४.४९-५०)	प्रणव (ॐ)	पिनाकी	ल
तीव्र	त	पुरुषोत्तम	य
तोयं	वः	प्राण	ह
त्रपा	ह्री	प्रीति	ध
त्रिध्रुव	प्रणव	फान्त	ब
त्रिपुरान्तक	ॠ	बलानुज	ब
त्रिमूर्ति	ईकारं	बाली (२३.७२)	य
दक्षपापांगुलीमूल	ढ	बिन्दु	अनुस्वार
दण्डी	तृ	बिम्बबीज (१४.७६)	ठ्रिं
दहनाङ्गना	स्वाहा	ब्रह्मा	कः
दान्त (२०.१३५)	थ	भग	ए
दारक	ड	भगी	ए
दीर्घत्रय	आ ई ऊ	भानु	म
दीर्घनन्दी	डा	भुवनेश्वरी	ह्रीं
दीर्घा (१९.४२)	नकार	भूबीज (१३.६२)	ग्लौं, लं
दीपिका	ऊ	भृगु (२४.७६)	स
द्युतिसनयना	च्छि	भौतिक	ए
ध्रुव	प्रणव	मनु	औ
नकुल	ह	मनोजन्मा	क्लीं
नन्दी	ड	मध्यबीज (२४.५१)	स्वं
नभ	हं	मन्मथ	क्लीं

मातृकाद्य	अ	वाणी	ऐं
माधव	इ	वामकर्ण	ऊ
माया	ह्रीं	वामकूर्पर	छ
मारुत	य	वामनासिका	ॠ
मार्तण्डभैरवबीज (१४.६६)	ह्रौउं	वामनेत्र	ई
मांस (१३.६२)	ल	वामाक्षि	ई
मीनेश	ध	वाल	व
मुरारी	औ	वायु	य
मुसली	छ	वायुबीज	यं
मेघ	घ	विष	म
मेरु:	क्ष:	विधु	अनुस्वार
मेष	न	विमल	लं
मृत्यु:	श	वियत्	ह
मांस	ल	विशालाक्ष	थ
युग्वसु	र	वेदादि	ॐ
रमा	श्रीं	वैकुण्ठ	म
रति	ण	व्याघ्रपाद	ड
रात्रीश	अनुस्वार	व्यापिनी	औ
लकुली	ह	व्योम (२३.७२, २४.७५)	ह
लक्ष्मी	च	शक्ति	ह्रीं
लक्ष्मी (बीज)	श्रीं	शक्तिबीज (२३.७२)	ह्रीँ
लज्जा	ह्रीं	शशिधर	अनुस्वार
लाङ्गली (१९.४३)	ठ	शशिशेखर	अनुस्वार
लान्त (२०.१३५)	व	शार्ङ्गी	ग
लोहित (१९.४२)	प	शान्ति:	ई
वक	श	शिखी	फ:
वर्म	हूं	शिर:	क
वराह	ह	शिव	ल
वह्न्यासन	र	शिवा	ह्रीं
वह्नि	र	शिवोत्तम	घ
वह्निकामिनी	स्वाहा	शुचिप्रिया	स्वाहा
वह्निबीज	रं	शूर	प
वह्निवधू	स्वाहा	शौरी	थ
वाक्	ऐं	श्वेत	ष
वागीश	ऐं	सत्य:	द

सदागति	य	संवर्तक (२४.४९-५०)	क्ष
सदाशिव	ह	स्थिरा	ज
सदृक्	इ	स्मृति (१३.६२)	ग
सद्य (२३.७२)	ओ	स्वर्गरितसवल्लभा	स्वाहा
समीरणः	यः	हयानन	ह
सर्ग	विसर्ग	हरिः	त
सर्गी (१९.४३)	विसर्ग	हाटकरेतस	वह्नि
सर्गिनन्दज	ठः	हिमाद्रिजा	ह्रीं
सात्वत	ध	हुताशन	र
सुधाबीज	वं	हंसः	सः
सूर्यः	मः	हंस मन्त्र	सोऽहम्
सृष्टिः	कः	हृत्	नमः
सृणि (= पाश)	क्रौं	हृदय	नमः
संकर्षण	औ	हृल्लेखा	ह्रीं

संख्या संकेत सूची

अक्षि	दो	बाहु	दो
अधर	एक	भुजा	दो
अद्रि	सात	भू	एक
अर्क	बारह	मनु	चौदह
आदित्य	बारह	मुनि	सात
इषु	पाँच	रवि	बारह
क्ष्मा	एक	रस	छः
गुण	तीन	राम	तीन
चन्द्र	एक	रुद्र	एकादश
तिथि	पन्द्रह	वह्नयः	तीन
दिक्	दस	वसु	आठ
धरा	एक	वेद	चार
नक्षत्र	सत्ताइस	शिव	एकादश
नन्द	नौ	सागर	चार
नन्दा	नौ	सायक	पाँच
नेत्र	दो	सूर्य	बारह

शारदातिलकतन्त्रम्

(प्रथमो भागः)

॥ श्रीः ॥

श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचितं

शारदातिलकम्

श्रीमद्राघवभट्टकृत 'पदार्थादर्श' टीकासहितम्



अथ प्रथमः पटलः

अथ मङ्गलाचरणम्

महः स्तुतिः

नित्यानन्दवपुर्निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः क्रमाद्
व्याप्तं येन चराचरात्मकमिदं शब्दार्थरूपं जगत् ।
शब्दब्रह्म यदूचिरे सुकृतिनश्चैतन्यमन्तर्गतं
तद्वोऽव्यादनिशं शशाङ्कसदनं वाचामधीशं महः ॥ १ ॥

* पदार्थादर्शः *

श्रीकण्ठं निजताण्डवप्रवणताप्रोद्दाममोदोदयं
पश्यन्त्याः कुतुकाद्भुतप्रियतया सञ्जातभावं मुहुः ।
मन्दान्दोलितदुग्धसिन्धुलहरी लीलालसं लोचन-
प्रान्तालोकनमातनोतु भवतां भूतिं भवान्याः शुभम् ॥ १ ॥

संसेव्यमानमृषिभिः सनकादिमुख्यै-
र्योगेन गम्यमविनश्वरमादिभूतम् ।
संसारहन्त्रिगमसारविचारसारं
शैवं महो मनसि मे मुदमादधातु ॥ २ ॥

भद्राय भवतां भूयाद् भारती भक्तिभाविता ।
स्मृतिरुज्जृम्भते यस्या वाग्विलासोऽतिदुर्लभः ॥ ३ ॥

शारदातिलके तन्त्रे गुरूणामुपदेशतः ।
पदार्थादर्शटीकेयं राघवेण विरच्यते ॥ ४ ॥

सम्प्रदायागतं किञ्चिद् गणितागमसम्मतम् ।
यदुक्तमत्र तत् सन्तो विचारयितुमर्हथ ॥ ५ ॥

पिशुनो दूषकश्चेत् स्यात्र तद्दोषाय दूषणम् ।
दोषावहा हि विकृतिर्न स्वभावो हि दुस्त्यजः ॥ ६ ॥

अथेश्वरः सर्वा अपि श्रुतीर्भवपाशबद्धानां जन्तूनां स्वर्गाय मुक्तये च समुपदिशति स्म । अन्येषां तु स्मृतिशास्त्रादीनां तन्मूलकत्त्वेन तदर्थप्रतिपादकत्त्वेन च प्रामाण्यमिति सुप्रसिद्धतरम् । अस्यास्त्वागमस्मृतेः कथं तन्मूलकत्त्वम् । अन्यच्च तैरेव विशेषेण पर्यालोचितैः स्वर्गोऽथवा मुक्तिरपि भविष्यतीति किमनयेति प्राप्ते ब्रूमः ।

'स ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति ।

तथा च 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व' इत्युपक्रम्य 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इत्यादि । 'इदं सर्वं यदयमात्मा एव' इत्यन्तेनोपसंहृतम् । अथ—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

इत्युक्तत्वादुपक्रमोपसंहाराभ्यां स्वलीलारूपानाद्यनिर्वाच्याविद्यासहायसम्पन्नं परमानन्दस्वरूपं नित्यशुद्धबुद्धस्वभावं परब्रह्मैव स्वात्मविवर्त्तरूपं सकलं जगत् ससर्जेति श्रुतिवाक्यप्रतिपादितोऽर्थः ।

नन्वस्तु जगत्सृष्टिकर्त्तृत्वं ब्रह्मणः अनाद्यविद्याङ्गीकरणं किमर्थम् इति चेन्न । तया विना असङ्गस्य तस्य कारणतैवानुपपन्ना । तथेममर्थं श्रुत्यागमावपि वदतः ।

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति ।

'शिवो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्त्तुं न किञ्चन' इति । एवं जाते जगति निजकर्मपाशबद्धा जन्तवोऽनात्मज्ञा उत्पत्तिमरणप्रवाहपतिता नाशक्नुवन् संसारसिन्धुं तरीतुम् । एवं भूतान् तानवलोक्य परमकरुणतया किञ्चिदुपाधिविशिष्टः सर्वाः श्रुतीः समुपदिशति स्म ।

तत्र सर्वासु श्रुतिषु काण्डत्रयं कर्मोपासनाब्रह्मभेदेन । तत्र कर्मकाण्डं जैमिनिप्रभृतिभिः सम्यक्तया विवृतम् । इदमुपासनाकाण्डं नारदादिभिः ब्रह्मकाण्डं भगवद्व्यासादिभिरपि । श्रुतिमूलकताऽस्य प्रत्यक्षोपलब्धश्रुतिमूलकता अप्रत्यक्षोपलब्धश्रुतिमूलकता च । रामपूर्वोत्तरतापनीय नृसिंहपूर्वोत्तरतापनीयसौराष्टाक्षरशैवपञ्चाक्षरात्मिका तु साक्षात्श्रुतिरूपलभ्यत एव । तत्र कर्मकाण्डे सर्वोऽप्यधिकारी । मुमुक्षोरपि तत्त्वज्ञानपर्यन्तं स्वचित्तशुद्ध्यर्थं प्रत्यवायपरिहारार्थञ्च कर्मकरणेऽधिकारसम्भवात् । तद्वदुपासनाकाण्डेऽपि ।

यतः साकारोपासनातः स्वर्गादिबहुफलं भवति क्रमतो मुक्तिश्च । कर्मकाण्डात्तु स्वर्गादिकं बहुतरव्ययायासेन भवति । ब्रह्मकाण्डान्मुक्तिरपि आदरनैरन्तर्यदीर्घकालाभ्याससाध्यानेकेषु जन्मसु तादृशेषु एव गतेषु भवति । 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' इति वचनात् । अत एतदुपासनाकाण्डमेवागमशास्त्रात्मकं गरीय इति सिद्धम् ।

तत्रोत्पलाचार्यपूज्यपादशिष्यः श्रीलक्ष्मणाचार्यः पूर्वतन्त्राणामनेकेषामेकैकमन्त्रविधानकथनप्रवृत्तानामतिविततानां गम्भीराणामिदानीन्तनानामल्पबुद्धीनामल्पायुषामेकस्मिन् सर्वमन्त्रविधानमभीप्सूनां पुंसामशक्त्या दुरवगाहत्वमत्रावलोक्याति-

कृपालुः शारदातिलकं तन्त्रं चिकीर्षुश्चिकीर्षितस्याविघ्नेन समाप्त्यर्थं प्रचयगमनार्थञ्च सकलशिष्टैकवाक्यतयाऽभिमतकर्मभारम्भसमये तत्समाप्तिकामैर्म्मङ्गलमाचरणीयमिति सदाचारानुमितश्रुतिबोधितपरदेवतानुस्मरणलक्षणं मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थमुपनिबध्नन्नाह—नित्येति । तन्महोऽनिशं वोऽव्यादित्यन्वयः । तन्मह एतावतैव परदेवतानुस्मरणस्य सिद्धौ सत्यामप्यस्य पदस्य यत्किञ्चित् क्रियापेक्षायां विघ्नोपशमनद्वाराऽभिलषितफलवितरणरूपावनक्रियानिर्देशेन देवतासाम्मुख्यं दर्शितम् । तत्र सामान्य कर्मसम्बन्धे प्राप्ते क्रियमाणस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नं पाठमभिप्रेप्सोः शिष्योपरि कृपां सूचयतो व इति कर्मणो निर्देशः । वो युष्मान् शिष्यानित्यर्थः । एषामेवात्र सम्बोधनयोग्यत्त्वात् सम्बोधनप्रधानत्त्वाच्च युष्मच्छब्दस्य । यतः शिष्यकृपयैव विदितवेद्य आचार्यो ग्रन्थकरणे प्रवृत्तः । तेषां कञ्चित्कालमवने सिद्धे स्वशिष्याणां तच्छिष्याणामपि निर्विघ्नं पाठसिद्ध्यसम्भवेन ग्रन्थप्रचारो न भवतीत्युक्तमनिशमिति । तथा च तेषां चिरकालावने सिद्धे स्वशिष्याणां तच्छिष्याणामपि निर्विघ्नं पाठसिद्धौ ग्रन्थप्रचारो भविष्यतीत्याशयः ।

किं तन्मह इत्यपेक्षायामाह—नित्यानन्दवपुरिति । नित्यो योऽयमानन्दः स वपुर्यस्य एतेन शक्त्यभिन्नं परशिवस्वरूपमुक्तम् । ननु 'शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते' इत्युक्तेर्निर्गुणस्याऽसङ्गस्य निराकारस्य तस्य कथमवनक्रियाकर्त्तृत्त्वम् इत्याह—वाचामधीशमिति । अनेन शक्त्युपहितं सदाशिवात्मकं रूपं वागुपदेष्टृत्त्वेनोक्तम् । ननु वागुपदेष्टृत्त्वं चतुर्मुखोपाध्युपहितस्यापि वर्त्तते तन्निवृत्त्यर्थमाह—शशाङ्कसदनमिति । शशाङ्कस्य चन्द्रस्य सदनं स्थानं चन्द्रकलावतंसमित्यर्थः । शब्दसृष्टेरत्र मुख्यत्वात् मन्त्रमयं तत्स्वरूपं सूचयति । यदाभ्यामः विष्णुस्तेन सङ्कर्षणः तेन औ एतेन सहिता निशा हकारो यत्रेत्युत्तरपदलोपी बहुव्रीहिस्तेन हाविति सिद्धम् । शशाङ्केत्यादिना बिन्दुरुक्तः । तत्र वागैश्वर्यमुपबृंहयन् वक्ष्यमाणां शब्दार्थसृष्टिं सूचयन् व्यापकतामाह—येन चराचरात्मकमिदं स्थावरजङ्गमात्मकं शब्दार्थरूपं जगत् क्रमाद् व्याप्तम् । कैः निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः निरन्तरमनवरतं गलन्तो व्यक्तीभवन्तः पञ्चाशदर्णा वर्णास्तैः ।

अत्र समासे वर्णशब्दस्य वावलोपो वक्तव्य इति स्वर्णशब्द इव वलोपे अर्णशब्दो वर्णवाची । केचित्तु नित्येत्याद्यर्णैरित्यन्तमेकमेव पदमित्याहुः । अत्र वर्णानामेकपञ्चाशत्त्वेऽपि सामीप्यसम्बन्धेन लक्षणया पञ्चाशत्त्वमुक्तम् । अन्वयानुपपत्तिवत्तात्पर्या-नुपपत्तेरपि लक्षणाबीजस्याभ्युपगतत्वात् । अथवा 'मकारः पुरुषो यतः' इत्युक्तेः तस्य स्वस्वरूपत्वात् पञ्चाशदित्युक्तिः । यद्वा क्षकारस्य क-ष संयोगात्मकत्वात् तयोरुपदेशेनैवास्योपदेश इत्यपुनरुक्तं पञ्चाशद्ग्रहणम् । यद्वा विसर्गस्य केवलं शक्तित्वात् पञ्चभूतात्मकत्वाभावात् सर्ववर्णोत्पत्तिहेतुत्वाच्च तं त्यक्त्वा तथोक्तिः । तदुक्तम्—

'अमायोऽनन्त्य एव वा' इति ।

क्वचिद्बाह्येऽपि तावतामेवोपयोगाद्वा तथोक्तिः । यद्वा मूलाधारादि आज्ञापर्यन्तं षट्चक्रेषु पञ्चाशद्वर्णानामेव स्थितत्वात् पञ्चाशदित्युक्तिः । अनयोर्व्याख्यानयोः बहिरान्तरभेदेन व्यवस्था ज्ञेया । आन्तरस्य च मुख्यत्वात् शास्त्रे सर्वत्र मुख्येन व्यवहार इति ज्ञेयम् । अनेनान्तर्मातृकान्यासोऽपि सूचितः । स चान्त्यपटले (२५) कुण्डली-

प्रस्तावे स्फुटीभविष्यति । अतएव द्वितीयादिचतुर्विंशतिपटलान्तं यत् प्रपञ्चितं तत् सर्वं मातृकाविकार इत्यपि सूचितम् ।

ननु 'सर्वव्यापी सदाशिवः' (शा. १. १५) इति वक्ष्यमाणत्वात् तस्य स्वत एव सर्वव्यापित्वे कुतः कैरिति कारणापेक्षा इति चेत्, सत्यम्। तस्य स्वत एव सर्वव्यापित्वं किन्तु अत्र शास्त्रे शब्दसृष्टेः मुख्यत्वद्योतनाय निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैरिति कारणतोक्तिः । किञ्च पूर्वमपि यत्किञ्चिच्छक्त्युपाधिविशिष्टत्वे वक्तव्ये या वाचामधीशमित्युक्तिः सा अत्र च वर्णानामर्थरूपव्यापकतोक्तिरपि । तत्र शब्दस्वरूपमभिव्याप्य एव अर्थरूपं व्याप्नोतीति क्रमादित्युक्तिः । तेषां शब्दरूपव्यापकता सम्भवत्येव । अर्थरूपव्यापकता तु सर्वस्याप्यर्थस्य शब्दप्रकाश्यत्वंनियमात् ज्ञेया । तदुक्तं भगवता भर्तृहरिणा—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिदं ज्ञानं सर्वं शब्देन गृह्यते ॥ इति । (वा.)

अथवा येषां मते शब्दार्थयोरभेदस्तन्मतमालम्ब्योक्तम् । तदुक्तं तेनैव—

एकस्यैवात्मनो भेदः शब्दार्थावपृथक्स्थितौ । इति । (वा.)

अतएव मन्त्रदैवतयोरैक्यां मन्त्रशास्त्रे । अतएव पूर्वं सदाशिवमन्त्रोद्धारः । यद्वा शक्तिसम्भिन्नत्वात्तस्य शक्त्यंशत्वेन शब्दरूपव्यापकत्वं शिवांशत्वेन अर्थरूपव्यापकत्वं ज्ञेयम् । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—

शब्दजातमशेषन्तु धत्ते शङ्करवल्लभा ।
अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः ॥ इति ।

एतत्पक्षे तृतीया उपलक्षणत्वेन ज्ञेया । उपलक्षणत्वन्तु तदुत्पन्नत्वात्तेषाम् । शब्दसृष्टिप्राधान्यमेवोपबृंहयन्नाह—सुकृतिनो यदन्तर्गतं चैतन्यं शब्दब्रह्म इत्यूचिरे । सुकृतिनस्तत्त्वज्ञा इत्यर्थः । 'चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः' (शा. १. १३) इति वक्ष्यमाणत्वात् । तस्य सर्वव्यापित्वात् तदंशस्यैव सर्वजन्तुचैतन्यरूपत्वात् शुद्धब्रह्मणः शब्दब्रह्मत्वं सम्भवत्येव । किञ्च यस्माद् बिन्दोः शब्दब्रह्मण उत्पत्तिस्तस्मादेव बिन्दोः सदाशिवस्याप्युत्पत्तिरित्यपि सम्भवति । तत्र शब्दसृष्टौ शब्दब्रह्मेत्युक्तिः अर्थसृष्टौ सदाशिव इति परं विशेषः ।

भिद्यमानात् पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ।
शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः ॥ (शा. १. ११, १२)
अथ बिन्द्वात्मनः शम्भोः कालबन्धोः कलात्मनः ।
अजायत जगत्साक्षी सर्वव्यापी सदाशिवः ॥ (शा. १. १५)

इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

अथवा हेतु-हेतुमद्भावेन योजना कार्या । यतः सुकृतिनः यत् अन्तर्गतं चैतन्यं शब्दब्रह्म इत्यूचिरे अतो येन निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः जगत् व्याप्तमिति ।

तत् प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ।
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥ (शा. १. १४)

इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

अन्ये त्वन्यथा योजयन्ति । यत् परमशिवस्वरूपं सुकृतिनो वेदान्तिनः तत् शब्देन ब्रह्म इत्यूचिरे । अयमर्थः—अस्माभिः परमशिव इत्युच्यते, तैस्तु ब्रह्म इत्युच्यत इति शब्दमात्रेण परं भेदः । वस्तुतस्तु नित्यानन्दादिस्वरूपत्वं तैरिवास्माभिरपि अङ्गीक्रियत एव । तत् कीदृक् वाचामधीशम् 'यस्य निःश्वसितं वेदाः' इत्यादिश्रुतेः वाचामधीशत्वं प्रसिद्धमेव । यतो वाचामधीशमतएव निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैर्येन जगद्व्याप्तमिति यथासम्भवं तत्रापि योजनीयम् । यतो वेदस्य वर्णमयत्वात् ।

यद्वाऽत्र शास्त्रे शब्दसृष्टेरर्थसृष्टेरपि कुण्डलिन्या एवोत्पत्तेस्तस्या एव 'कुण्डली परदेवता' (शा. १. ५७) इति परदेवतात्वोक्तेस्तदनुस्मरणमेवोचितमिति महःशब्देन तेजोरूपा कुण्डलिनीत्युच्यते । 'आदित्येन्द्वग्नितेजोमद्यद्यत्तत्तन्मयी विभुः' इत्युक्तेः। सा कीदृशी नित्यानन्दवपुः । असावेवान्त्यपटले कुण्डलीस्वरूपं वक्ष्यति 'नित्यानन्दमयी गलत्परसुधावर्षैः' (शा. २५. ६९) इत्यादिना । यया कुण्डल्या शब्दार्थरूपं परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी-रूपत्वेन शब्दजनकत्वात् कार्ये कारणोपचारात् शब्दरूपं विषयत्वात् अर्थरूपस्वभावेन चरम् पृथिव्यंशाधिक्यात् कार्ये कारणोपचारात् अचरम्, एवम्भूतं गच्छतीति जगद् विनश्वरं शरीरं व्याप्तम् ।

यद्वा, यया शब्दार्थरूपं चराचरात्मकं जगद् विश्वं व्याप्तम् । 'सर्वगा विश्वरूपिणी, दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना' (शा.१. ५३) इत्यग्रत उक्तेः। कैः निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः 'पञ्चाशद्वारगुणिता पञ्चाशद्वर्णमालिकां सूते' (शा. १. १११) इति वक्ष्यमाणत्वात् । सुकृतिनः पुण्यात्मानस्तत्त्वज्ञा इत्यर्थः । यां शब्दब्रह्ममयीमाहुः 'सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः' (शा. १. १०८) इति वक्ष्यमाणत्वात्। चैतन्यं चिच्छक्तिस्वरूपा । अयमेव वक्ष्यति 'ततश्चैतन्यरूपा सा' (शा. १. ५१) इति । अन्तर्गतं सुषुम्नान्तर्गतमित्यर्थः। 'या मूलाधारदण्डान्तरविवरगता' इत्युक्तेः। शशाङ्कसदनं सहस्रारगमने चन्द्रमण्डलगतत्वात् । वाचामधीशं सर्वशब्दोत्पादकत्वात् सर्वमन्त्रोत्पादकत्वाच्च । तथायमेव वक्ष्यति—'विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमयं जगत्' (शा. १. ५७) इति । यद्वा, वाचामधीशं वाग्देवतारूपेत्यर्थः । 'शक्तिः कुण्डलिनीति या निगदिता आईमसंज्ञा' इत्युक्तेः । यद्वा ग्रन्थारम्भे प्रकृते सरस्वती देवता तस्या एव स्मरणाद् ग्रन्थरूपा स्फूर्त्तिर्भवित्री । किञ्चात्र ग्रन्थे प्रथमतः सरस्वतीमन्त्राणामेव वक्ष्यमाणत्वात् । तेन सरस्वतीदेवतानुस्मरणमेवोचितमिति । तद्वाचामधीशं महः सारस्वतं तेजः वोऽव्यात् । अथ वाचामधीशमित्यनेन केवलं वाग्भवस्य सरस्वतीमन्त्रत्वमुक्तम् ।

एतज्जपन्नरवरो भुवि वाग्भवाख्यं ।
वाचां सुधारसमुचां लभते स सिद्धिम् ॥

इत्युक्तेः । तत् कीदृक् शशाङ्कसदनम् अनेन चन्द्रकलावतंसत्वेन ध्यानमुक्तम् ।

यदाहुः— धृतशशधरखण्डोल्लासिकोटीरचूडा ।
भवतु सपदि वाचामीश्वरी भूतये वः ॥ इति ।

पुनः कीदृक् नित्यं सर्वदा आनन्दयतीत्यानन्दं आनन्दजनकं वपुर्यस्य तत् । साधकानां सुधारससहोदरसरससूक्तिसंस्फुरणादाह्लादजनकमित्यर्थः । तथा च सरस्वतीस्तवे आचार्याः—

क्षौमाम्बरपरीधाने मुक्तामणिविभूषणे, मुदावासे । इति ।

पुनः कीदृक् चैतन्यमन्तर्गतम् अनेन सूक्ष्मा परपर्याया पराख्या उक्ता । यदाहुः—

स्वरूपज्योतिरेवाहुः सूक्ष्मा वागनपायिनी । इति ।

अन्यत्रापि—सूक्ष्मा कुण्डलिनी मध्ये ज्योतिर्मात्रा परा मता । इति ।

येन महसा निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैश्चराचरात्मकं शब्दार्थरूपं जगद् व्याप्तम् । अत्र पञ्चाशदर्णैरित्यनेन वर्णरूपा पश्यन्ती उक्ता । शब्दार्थरूपमित्यनेन पदरूपा मध्यमा उक्ता । यत् सारस्वतं महः सुकृतिनः शब्दब्रह्मेत्यूचिरे । अत्र शब्दब्रह्मशब्देन वेदा उच्यन्ते । तेन वेदात्मकमित्यर्थः । तदुक्तं वार्त्तिककारपादैर्ग्रहाधिकरणे—

शब्दब्रह्मेति यद् वेदशास्त्रं वेदाख्यमुच्यते । इति ।

अनेन वाक्यरूपा वैखरी उक्ता । यदाहुः—

ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम् ।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वागधीशामुपास्महे ॥ इति ।

अन्यत्रापि—आदिक्षान्तविलासलालसतया तासां तुरीया तु या
क्रोडीकृत्य जगत्त्रयं विजयते वेदादिविद्यामयी । इति ।

अपरे त्वत्र ग्रन्थकृता भैरवीमन्त्रोद्धारः कृत इति वदन्ति । तद् यथा । तत् त्रैपुरं महो वोऽव्यात् । कीदृक् अगलत् अविनश्वरम् । पुनः कीदृक् नित्यानन्दवपुः नित्यः पुरुषः तेन हकारः आनन्दमयीत्वात् आनन्दोत्पादकत्वात् वा आनन्दः शक्तिः तेन सः एतौ वपुः शरीरं यस्य । एतेनैतयोः बीजत्रयेऽपि सत्त्वमुक्तम्भवति । अन्तः मध्यं मध्यबीजमित्यर्थः । तत् कीदृक् क्रमात् कश्च रश्च मश्च करमाः तान् अत्ति लक्षणया गृहणातीति क्रमात् । तेन ककारः तदधो लकारः । अत्र रेफेण लकारस्य ग्रहणं व्याकरणपरिभाषया । उक्तञ्च 'रेण लोऽपीष्यते ग्रहणं तेन' इति । संहितायामपि—'अतएव महेशानि र-लयोः समता भवेत् ।' इति । तदधो मकारः पुरुषः तेन हः। पुनः कीदृक् अन्तर्गतं अन्ते रो रेफः गतः सङ्गतो यत्र तत् । पुनः कीदृक् व्याप्तं विः चतुःसंख्या चतुर्थस्वरः तेनाप्तं गृहीतम् । अत्र ग्रन्थकृतो वाररुचः सङ्केतोऽभिप्रेतः । स द्वितीयपटले स्फुटीभविष्यति । 'नञि च शून्यं ज्ञेयम्' इति वाररुचः सङ्केतः । तेन शून्यं तस्य बिन्दुरूपत्वात् बिन्दुरुद्धृतः । एतेन षट्कूटं मध्यबीजमुद्धृतम् । अतएव वक्ष्यते 'षट्कूटं त्रिपुरामन्त्रम्' इति ॥ एवं मध्यमं बीजमुक्त्वा प्रथमबीजे हकारसकारयोः पूर्वमेवोक्तत्वात् एवम् ऐकारोऽपि योजनीयः । कीदृक् प्रथमं शशाङ्कसदनम् एतेन बिन्दुस्थम् । एवं प्रथमबीजमुद्धृतम् । अन्त्यं कीदृक् शब्दार्थरूपम् अत्र शब्दशब्देन शब्दादयो गृह्यन्ते, अर्थशब्दो विषयवाची । तेन शब्दादयो विषयास्ते च दशेति दशसंख्या तया औकारः तद्रूपं यत्र तत्तथा । अन्यच्च 'अङ्कानां वामतो गतिः' इत्युक्तेः वाररुचेन सङ्केतेन तकारस्य षट्संख्या । 'पिण्डान्त्यैरक्षरैरङ्काः' इत्युक्तेः न्यकारान्तयकारस्य एकाङ्कः । एवं षोडश तेन विसर्गः । एवं तृतीयबीजमुद्धृतम् । तदुक्तं सिद्धेश्वरीमते—

हंसास्त्रयो दन्त्यसकारयुक्ता वस्वब्धिपंक्तिस्वरसंविभिन्नाः ।
अन्त्यो विसर्गी इतरौ सबिन्दू मध्यो विरिञ्चीन्द्रहराग्नियुक्तः ॥ इति ।

अस्यायमर्थः—वसु अष्टसंख्या । अब्धिश्चतुःसंख्या । पंक्तिर्दशसंख्या । तथा च 'पंक्तिर्दशाक्षरच्छन्दो दशसंख्यावली अपि' इत्यमरः । हंसा हकारास्त्रयः । कीदृशाः दन्त्यसकारयुक्ताः । तथा क्रमाद् वस्वब्धिपंक्तिस्वरैः क्लीवान् विना अष्टम ऐ चतुर्थ ई दशम औ तैर्युक्ताः । ऋकारादि स्वरचतुष्टयं नपुंसकं 'स्वराणां मध्यकं यत्तु तच्चतुष्कं नपुंसकम्' (शा. २. ६) इत्युक्तत्वात् । नपुंसकस्वरपरित्यागेन बिन्दु-विसर्गसहितानां स्वराणामष्टम ऐकारः दशम औकार इति बोध्यम् । विशेषमाह तृतीयो विसर्गयुक्तः, इतरौ प्रथमद्वितीयौ सानुस्वरौ । मध्यः पुनः विरिञ्च्यादियुतः विरिञ्चिः कः इन्द्रो लः, हरो हः, अग्नी रेफः एतैर्युतः । इदं षट्कूटं मध्यबीजम् । इयं त्रिबीजा भैरवी ।

अथ च ऐचेति स्वतन्त्रतया निर्देशात् व्याप्तमित्याप्तशब्दग्रहणात् शब्दार्थ-रूपमिति रूपशब्दोपादानात् केवलास्त्रयः स्वरा एवास्य मन्त्रस्य चेतनीमन्त्र इति सूचितम् । यदाहुः—

शिवाष्टमं केवलमादिबीजं भगस्य पूर्वाष्टमबीजमन्यत् ।
परं शिरोऽन्तं गदिता त्रिवर्गा सङ्केतविद्या गुरुवक्त्रगम्या॥ इति ।

शिव उकारः, तस्याष्टम ऐकारः । भगम् एकारः, तस्य पूर्वाष्टमश्चतुर्थः स्वरः। शिरो बिन्दुः सोऽन्ते यस्य शिरोऽन्त औकारः ।

उक्तबीजानां क्रमेण वाग्भव-कामराज-शाक्तत्वमाह । वाचामधीशमित्यने-नाद्यस्य वाग्भवत्वमुक्तम् । चराचरात्मकं मैथुनसृष्टजगतः कामोत्पन्नत्वात् मध्यम-बीजस्य कामराजतोक्ता । सुकृतिनः यदन्त्यबीजं शब्दब्रह्मेत्यूचिरे इत्यनेनान्त्यस्य शाक्तत्वमुक्तम् । 'त्रिधामजननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी' (शा. १. ५६) इति वक्ष्य-माणत्वात् । यदुक्तं सिद्धेश्वरीमते—

वाग्भवं प्रथमं बीजं कामराजं द्वितीयकम् ।
शक्तिबीजं तृतीयन्तु चतुर्वर्गफलप्रदम् ॥ इति ।

अथ च—'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इत्युक्तेः शब्दात्मकं ब्रह्म शब्दब्रह्मेति प्रणवम् । चराचरात्मकं जगद् येनेति मैथुनसृष्टेः कामादुत्पत्तेः कामबीजम् । वाचा नकारः । बृहत्तत्त्वन्यासे नकारेण सह शब्दतत्त्वन्यासात् । मश्च[1]। धीः शक्तिरूपः । ईशः प्रभुः अनेन विसर्गः । 'मायाशक्त्यभिधः सर्गः सर्वभूतात्मकः प्रभुः' इत्युक्तेः । एवं नमः शब्दः । एवमस्य मन्त्रस्य ह्लादिनी मन्त्र उक्तः । यदाहुः—

कमलं परिलुप्तमध्यमान्त्यस्वरमीशादियुतं सबिन्दुनादम् ।
निगमादिनमोऽन्तरे विराजद्भुवि देवीहृदयं प्रदिष्टमेतत् ॥ इति ।

त्रयाणां बीजानां सामान्येन विशेषणमाह—अनिशमिति । न विद्यते निशा हकारो यत्र आदाविति शेषः । केशवादिन्यासे निशा हकारः शक्तिः । तेनादौ हका-राभावे सकारस्यादित्वमुक्तम् । तेनादौ सकारः पश्चात् हकारः । यद्वा, निरित्यनेनैव

---

१. मस्वरूपं ग्राह्यमित्यर्थः ।

आद्यबीजस्यापि बिन्दोरुद्धृतत्वात् अनिशं हकाररहितं शशाङ्कसदनम् शशाङ्कः सकारः सदने स्थाने यस्य । अनेन हकारस्य स्थाने सकारः तदधो ह्रस्वर्थायातः । उक्तञ्च—

भैरवीयमुदिताऽकुलपूर्वा देशिकैर्यदि भवेत् कुलपूर्वा ।
सैव शीघ्रफलदा भुवि विद्येत्युच्यते पशुजनेष्वतिगोप्या ॥ इति ।

अनेनास्य मन्त्रत्वं विद्यात्वमप्युक्तम् । यत् पिङ्गलामते—

शक्त्याद्या तु भवेद् विद्या शिवाद्यो मन्त्र उच्यते ।
दीक्षाभिषेकपूजा तु प्राणिनां भुक्तिमुक्तिदा ॥ इति ।

अन्यदपि बीजत्रयसामान्यविशेषणमाह पञ्चाशदर्णैरुपलक्षितमित्यर्थः । अनेन सर्वस्य मन्त्रस्य मातृकान्तरितत्वेन जप उक्तः । यदाहुः—

मन्त्रराजममुं समस्तजगद्विमोहनकारणं ।
मातृकान्तरितं जपेदनुलोमतोऽपि विलोमतः ॥ इति ।

अथवा अनेन विशेषणेन च हहसैं सहसैं इत्यादि 'हसकलह्रीँ सहकलह्रीँ' इत्यादि अहसौः आहसौः इत्याद्यन्तर्मातृकान्यासोऽपि सूचितः । यदाहुः—

क्रमेण षट्चक्रवर्णान् तद्दलेषु प्रविन्यसेत् ।
चक्रद्वयक्रमेणैव देवीरुद्धांश्च मन्त्रवित् ॥ इति ।

अन्यत्रापि मूलाधारकथनप्रस्तावे

चतुर्ष्वब्जपत्रेषु देवीनिरुद्धान् जलेन्द्राग्निवायून् न्यसेत् केवलान् वा ।
सबिन्दूनमन्दप्रभावान् प्रसिद्धान् । इति ।

अथवा पञ्चाशच्छब्देन सामीप्यसम्बन्धेन लक्षणया एकपञ्चाशद्ग्रहणे तैरूपलक्षितमित्यनेन बीजत्रयस्यापि दीपिन्युद्धारः सूचितः । तत्र प्रथमबीजदीपिनी तु व्यञ्जनस्वरैः पृथक्कृतैः सप्तदशवर्णात्मिका । द्वितीयबीजदीपिनी तु पूर्ववदेव पञ्चविंशत्यक्षरा। तृतीयबीजदीपिनी पूर्ववन्नवाक्षरा । एवमेकपञ्चाशद्वर्णात्मिका । तत्र द्वितीयतृतीययोः क्षकारस्य सत्त्वात् तस्य चैकमेव व्यञ्जनं गृहीतम् । मातृकायां पृथगुपदेशात् । यद्ययं व्यञ्जनद्वयात्मैव स्यात् तदा क्षवदस्यापि पृथगुपदेशो न स्यात्। तयोरेव बिन्दुद्वयमस्ति तदपि न पृथग्गणितम् । तादृशस्यैव पञ्चदशस्वरत्वात् । प्रणवेऽपि बिन्दुः प्रणवान्तर्गत एवेति न पृथग्गणित इति सर्वमनवद्यम् । अयञ्च दीपिन्युद्धारो ग्रन्थकृताऽत्र सूचितः । मया तु भैरवीपटले (१२) स्फुटीकरिष्यते ।

अथवा बालामन्त्रोद्धारो ग्रस्थकृतोऽभिप्रेत इति । यतो भैरव्यादीनामपि स एव मूलभूतः । यदाहुः बालामुक्त्वा—

विद्यामूलोत्पत्तिरेषा मयोक्ता ज्ञातव्येयं देशिकैः सिद्धिकामैः । इति ।

तद्यथा—वाचामधीशमिति वाग्भवम् । अन्तर्मध्यं मध्यस्थम् । क्रमात् कश्च रश्च मा लक्ष्मीः तेन ईकारः । रेण पूर्ववल्लस्य ग्रहणम् । निरिति बिन्दुः । एवं मध्यमं बीजम्, शशाङ्कः सकारः, सत् ओंकारः । अकारो नकारश्च शून्यद्वयं तेन विसर्गः । 'नेत्रे च शून्यं ज्ञेयं तथा स्वरे केवले कथिते' इत्युक्तेः । सच्छब्देन कथमोंकारग्रहणमिति चेदुच्यते । ॐकारस्य तावत् 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मण-

स्त्रिविधः स्मृतः' इत्युभयोः ब्रह्मवाचकत्वात् 'सदोंकारो निगद्यते' इत्युक्तेश्च सच्छब्द-वाचकता, सोऽत्राकृतपररूप एव केवलं विवक्षितः । स च सामीप्यसम्बन्धेन अग्रिमस्य लक्षकः।

यद्वा 'तस्यैवोकारयोगेन स्यादौकाराक्षरं तथा' इति आचार्योक्तेः ओकार एव स्वजन्यस्य औकारस्य लक्षकः । यद्वा शशो रूपमस्मिन् इति मत्वर्थीयोऽच् । तेन शशश्चन्द्रः, तेन सः, शशन् गमनशीलः, शशो हंसः, तेन वा सः । अङ्कशब्देन पिण्डन्यायात् अकारः । यथा 'स वामदृक् पवनगुणान्वितः करः' इत्यत्र करशब्देन ककारः । यथा 'हरिहयषष्ठवत्' वनम् इत्यत्र वनशब्देन वकारः । सच्छब्देन ओकार एव । तस्य पूर्वेन सह सन्धौ औकारः । अनाभ्यां विसर्गः । ननु प्रणवस्य सबिन्दु-कत्वात् बालान्त्यबीजे ग्रन्थकारो विसर्गमात्रं वक्ष्यति । अत्र च बिन्दुविसर्गावुद्धृताविति विरोध इति चेन्न । बालाया मन्त्रभेदेषु क्वचिद् बिन्दुः क्वचिद् विसर्गः क्वचिद्बिन्दु-विसर्गावप्युद्धृतौ । तदपि सूचयितुमत्रेदृश उद्धारः कृतः । यदाहुः सनत्कुमारे—

अष्टमस्य तृतीयन्तु चतुर्दशसमन्वितम् ।
दण्डकुण्डलमेतद्धि सारस्वतमुदाहृतम् ॥ इति ।

अन्यत्र तु—दन्तान्तेन युतं तु दण्डिसकलं सम्मोहनाख्यं कुलम् । इति ।

अन्यत् पूर्ववदिति संक्षेपः । एतच्च व्याख्यानद्वयं गुरुवचननियन्त्रितेन मया कृतमिति क्षन्तव्यं देशिकेन्द्रैः ॥ १ ॥

* सुधा *

साम्बं सदाशिवं नत्वा भानुं विष्णुं गणेश्वरम् ।
सर्वश्रेयस्करीं नित्यां मन्त्ररूपां सरस्वतीम् ॥ १ ॥
सर्वलोकस्य जननीं सर्वाभीष्टफलप्रदाम् ।
शब्दब्रह्मात्मिकां देवीं नत्वा कुण्डलिनीं पराम् ॥ २ ॥
मालवीयकुलोत्पन्नः कुबेरविदुषः सुधीः ।
पुत्रः सुधाकरो नाम्ना पदार्थानां प्रकाशिकाम् ॥ ३ ॥
पाठकानां हितार्थाय तन्त्रस्य प्रतिपत्तये ।
शारदातिलकस्यास्य 'सुधां' टीकां तनोम्यहम् ॥ ४ ॥

जिनका शरीर नित्य आनन्द स्वरूप है, निरन्तर प्रवाहित हो रहे पचास वर्णों से जिसके द्वारा शब्दार्थ रूप चराचरात्मक यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, तत्त्वज्ञ लोग जिसे शब्दब्रह्ममय कहते हैं, जो सुषुम्ना के अन्तर्गत चैतन्य रूप से स्थित रहकर सहस्रार पद्म स्थित चन्द्रमण्डल तक गमन करते हैं, जो सभी वर्णो के उत्पादक तथा सम्पूर्ण मन्त्रों के जनक होने के कारण वाणी के अधीश्वर हैं—ऐसे तेज:स्वरूप वाग्देवता आप सभी शिष्यों की रक्षा करें ॥ १ ॥

विमर्श—आरम्भ में ग्रन्थकार क्रियमाण ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये तथा शिष्य प्रशिष्यों की शिक्षा के लिये शिष्टाचारानुमितकर्तव्यताक मङ्गल करते

हैं । यत: इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम सरस्वती के मन्त्रों का प्रतिपादन किया गया है, अत: ग्रन्थारम्भ में सरस्वती का स्मरण करना उचित है । इसलिए ग्रन्थकार सर्वप्रथम वाग्देवता रूप तेज का स्मरण करते है । श्लोक का अन्य अर्थ इस प्रकार भी है—

(१) शिवशक्त्यात्मक जिस तेज का आनन्दमय शरीर है, चन्द्रकला को मस्तक में धारण करने से जो शशाङ्कसदन हैं और जो (अनिशम् अश्न अश्न औ तेन सहिता निशा अर्थात् हकार उस पर शशाङ्कसदन अर्थात् अनुस्वार देने से) हौँ इस मन्त्र के देवता हैं और वाणी रूप सृष्टि का उपबृंहण करने के कारण क्रमश: व्यक्त हो रहे अपने पचास वर्णों से सारे शब्दार्थ रूप चराचर जगत् में व्याप्त हैं, पुण्यात्मा लोग जिसके अन्तर्गत चैतन्य को शब्दब्रह्म कहते हैं इस प्रकार का कोई अभूतपूर्व तेज आप सब शिष्यों की रक्षा करे ।

अथवा शब्दसृष्टि एवं अर्थसृष्टि दोनों ही प्रकार की सृष्टि कुण्डलिनी से होती है इसलिए ग्रन्थकार कुण्डलिनी रूप महातेज का स्मरण करते हैं ।

(२) जिस कुण्डलिनी रूप तेज का नित्य आनन्दस्वरूप शरीर है, जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप वाणी को उत्पन्न करने से वाणी का अधीश्वर है, जो सुषुम्नान्तर्गत चैतन्य रूप में चन्द्रमण्डल तक गमन करता है और पचास बार में पचास बर्णों को उत्पन्न कर उसी से इस शरीर में व्याप्त है, वह कुण्डलिनी रूप तेज आप सभी शिष्यों की रक्षा करें ॥ १ ॥

शक्तिस्तुतिः

अन्तःस्मितोल्लसितमिन्दुकलावतंस-
मिन्दीवरोदरसहोदरनेत्रशोभि ।
हेतुस्त्रिलोकविभवस्य नवेन्दुमौले-
रन्तःपुरं दिशतु मङ्गलमादराद् वः ॥ २ ॥

यदुपहितस्य शिवस्य सृष्टिकर्तृत्वं तामुपस्तौति—अन्तरिति । नवेन्दुमौलेरन्तःपुरं वो मङ्गलमादराद् दिशत्विति योजना । अत्रापि वो मङ्गलं दिशतु इत्यनेन शिष्यकृपा सूचिता । यद्यपि तत्त्वतः शैवदर्शने—

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः ।
न तत्त्वतस्तयोर्भेदश्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ इति

शक्ति-शिवयोरैक्यमेव तथापि द्वितीयेन विना सृष्ट्यनुपपत्तेः लीलागृहीतं रूपं स्त्रीस्वरूपं वर्ण्यते । एतेन मैथुनसृष्टिः सूचिता । तस्या जगत्कारणतामाह—त्रिलोकविभवस्य हेतुरिति । चराचरात्मकत्वेन विस्तारो विभवः । कीदृशं अन्तः-स्मितोल्लसितं कल्पितमिदं जगद् विलसतीति हास्यकारणम् । ईश्वरे साभिलाषतया वा हासः । एतेनास्या ईश्वरक्षोभकता सूचिता । किञ्च 'यत्रानुकूल्यं दम्पत्योस्त्रि-वर्गस्तत्र वर्द्धते'

इति स्मृतेः दम्पत्यानुकूल्यतो विचित्रजगन्निर्माणं सूचितम् । पुनः कीदृक् इन्दुकलावतंसम् । अत्रावतंसशब्देन मुकुटाभरणमुच्यते । तथा नामलिङ्गानुशासने—

'पुंस्युत्तंसावतंसौ द्वौ कर्णपूरेऽपि शेखरे' इति ।

पुनः कीदृक् । इन्दीवरोदरसहोदरनेत्रशोभि । एतेन सर्वातिशायि सौन्दर्यं वर्णितम् । यद्वा नवेन्दुमौलेरित्यनेन भुवनेशीमन्त्र उक्तः । विशेषणैस्तदुद्धारः । त्रिलोकविभवस्य हेतुः शिवस्तेन हकारः । अन्तः स्मितं प्रकाशो यस्यासावन्तः-स्मितोऽग्निः रेफः तेनोल्लसितं युतम् । इन्दुकलावतंसमिति बिन्दुः । इन्दीवरोदर-सहोदरे नेत्रे यस्याः सा लक्ष्मीः तेन दीर्घ ईकारः । यद्वा इन्दीवरोदरस्य सहोदरं सुहृत् यन्नेत्रं चन्द्ररूपं तच्च वाममिति दीर्घ ईकारः तेन शोभि युक्तम् । एवं मिलित्वा भुवनेशीबीजम् ॥ २ ॥

अब ग्रन्थकार **सदाशिव एवं शक्ति की** स्तुति करते हैं—

क्योंकि शिव शक्ति से संयुक्त होने पर ही सृष्टि करने में समर्थ होते हैं । यद्यपि शिव शक्ति की एकात्मकता है तथापि सृष्टि में शक्ति की आवश्यकता होती है । उनके बिना सृष्टि संभव नहीं है। अत: शिव ही लीला से शक्ति का रूप धारण करते हैं ।

अपने अन्त:स्मित मात्र से इस समस्त विश्व की रचना कर देने वाले, इन्दुकला को मुकुटाभरण में धारण करने वाले, कमल के समान विशाल नेत्रों से सुशोभित तथा त्रैलोक्य रूप अनन्त ऐश्वर्य के हेतुभूत भगवान् सदाशिव का अन्त:पुर आदरपूर्वक आप सभी शिष्यों को मङ्गल प्रदान करे ॥ २ ॥

विमर्श—प्रस्तुत श्लोक में श्लेष से भुवनेश्वरी मन्त्र का भी निर्देश है—यथा त्रिलोक विभव 'हकार', अन्त:स्मित अग्नि 'रकार', इन्दीवरसहोदर लक्ष्मी 'दीर्घ ईकार', चन्द्रकलावतंस 'अनुस्वार'—इस प्रकार सब मिलाकर 'ह्रीँ' यह भुवनेश्वरी मन्त्र भी निर्दिष्ट है ॥ २ ॥

गुरुस्तुतिः

संसारसिन्धोस्तरणैकहेतून्
दधे गुरून् मूर्ध्नि शिवस्वरूपान् ।
रजांसि येषां पदपङ्कजानां
तीर्थाभिषेकश्रियमावहन्ति ॥ ३ ॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

इत्यागमात् परदेवताभक्तिवद् गुरुभक्तेरपि विद्याप्राप्तावन्तरङ्गसाधनत्वावगमात् परदेवतायाः स्मरणानन्तरं गुरुनमस्कारमाह—संसारेति । शिवस्वभावान् गुरून् मूर्ध्नि दधे इत्यन्वयः । शिवस्वभावान् शिवस्वरूपानित्यर्थः । एतेन गुरुध्यानं तत्तद्देवता-रूपतया कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति । तदुक्तम्—

गुरुं न मर्त्यं बुध्येत यदि बुध्येत तस्य तु ।
कदापि च भवेत् सिद्धिर्न मन्त्रैर्देवपूजनैः ॥ इति ।

अन्यत्रापि— तस्मादेवं विदित्वा तु गुरुं देवञ्च नान्यथा ।
त्रिकालप्रणिपातेन ध्यानयोगेन संयजेत् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— ललाटे नयनं चान्द्रीं कलामपि च दोर्द्वयम् ।
अन्तर्निधाय वक्ष्यामि गुरुर्मर्त्त्ये महीयते ॥ इति ।
मूर्ध्नि दधे इत्यनेन गुरुध्यानं मूर्द्धनि कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति ।

तदुक्तम्— प्रातः शिरसि शुक्लेऽब्जे द्विनेत्रं द्विभुजं गुरुम् ।
प्रसन्नवदनं शान्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— श्रीमद्गुरुपदाम्भोजं मूर्द्धन्येव सदास्थितम् ।
यः स्मरेत् सात्त्विकैर्भावैः सोऽचिरात् खेचरो भवेत् ॥ इति ।

गुरूनिति बहुवचनं पूजार्थं गुरु-परमगुरु-परापरगुरु-परमेष्ठिगुर्वपेक्षया वा । तथा च ग्रन्थकृद्गुरुपङ्क्तिः । 'श्रीकण्ठं वसुमन्तं श्रीसोमानन्दमुत्पलाचार्यान्' इति । 'लक्ष्मणमभिनवगुप्तं वन्दे श्रीक्षेमराजञ्च' इति तच्छिष्याः । कीदृशान् संसारसिन्धोस्तरणैकहेतून् । अनेन विना गुरूपदेशं संसारतरणमशक्यमित्यप्युक्तम् । तथाच श्रुतिः—

'आचार्यवान् पुरुषो वेद' 'स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इति ।

आगमश्च अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥ इति ।

गुरुप्रणाममाहात्म्यमाह रजांसीति । एतेन पादोपसंग्रहणपूर्वकं गुरुनमस्कारः कर्त्तव्य इत्युक्तं भवति ॥ ३ ॥

अब 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' इस आगम वचन के अनुसार गुरुभक्ति भी विद्या प्राप्ति में अन्तरङ्ग साधन है । इसलिए परदेवता के स्मरण के अनन्तर गुरु को ग्रन्थकार नमस्कार करते हैं—

संसार रूपी समुद्र के तारण में एकमात्र कारण शिवस्वरूप को मैं अपने शिर पर धारण करता हूँ, जिनके चरण कमलों की धूलि तीर्थाभिषेक का फल प्रदान करती है ॥ ३ ॥

विमर्श—श्लोक में 'गुरुन्' इस बहुवचन का प्रयोग है जो आदरार्थ है अथवा 'गुरु, परमगुरु, परापरगुरु और परमेष्ठि गुरु की अपेक्षा से बहुवचन का प्रयोग है—'येषां रजांसि' इस पद से यह व्यक्त किया गया है कि पादोपसंग्रहणपूर्वक गुरु को नमस्कार करना चाहिए ।

ग्रन्थ-प्रयोजनम्

सारं वक्ष्यामि तन्त्राणां शारदातिलकं शुभम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्तेः प्रथमकारणम् ॥ ४ ॥

ग्रन्थ प्रतिपाद्यविषयाः

शब्दार्थसृष्टिर्मुनिभिश्छन्दोभिर्दैवतैः सह ।
विधिश्च यन्त्रमन्त्राणां तन्त्रेऽस्मिन्नभिधीयते ॥ ५ ॥

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

इत्युक्तेः शिष्यबुद्ध्यनुकूलनार्थं ग्रन्थमाहात्म्यं प्रकाशयन् श्रोतृप्रवृत्तिनिमित्तभूतान् विषय-प्रयोजन-सम्बन्धाधिकारिणो दर्शयति सारमित्यादिश्लोकद्वयेन । तन्त्राणां सारं श्रेष्ठं संग्रहरूपञ्च इत्यनेनास्योपादेयताऽतिसंक्षिप्तता चोक्ता । तत्र तन्त्राणामिति वैष्णव-शैव-शाक्त-गाणपत्य-सौराणां यतः सारम् अतएव शुभम् । शब्दसंक्षेपेऽप्याकांक्षित सकलार्थप्रतिपादकत्वमेव शुभत्वम् । धर्मार्थकामेत्यादि वक्ष्यति । तदुपयिको नामनिर्देशः शारदातिलकमिति । शीर्यत इति शारं स्थूलं कर्मफलं तद्ददातीति शारदा। तत्तत्कारणत्वेन ब्रह्मविद्याधिरूढा सती द्यति खण्डयतीति वा शारदा चिच्छक्तिः । यद्वा शरः स्वतन्त्रं तस्य भावः शारं स्वातन्त्र्यां तद्ददातीति अनाद्यविद्यां परिछेद्यजीवभावनिरासेन परमैश्वर्यप्रदायिका । तदुक्तं गौतमेन तन्त्रव्याकरणे—

शरः स्वतन्त्रं हृदयं स्फुरत्ता परमेशिता ।
शारश्चेत्युदिताः शब्दाः पर्यायाः स्वार्थवाचकाः॥ इति ।

तस्यास्तिलको भूषणम् । अनेनोत्कृष्टता दर्शिता । तत्रापि भूषणान्तरं न भवति किन्तु तिलकरूपः । तेन यथा मुखे वर्त्तमानस्तिलकाः सर्वतः प्रथमं दृश्यो भवति तद्वदयमपीत्यभिप्रायः । प्रथमं कारणं मुख्यकारणम् । यथा चास्य मुख्यत्वं तथा ग्रन्थसङ्गतिकथनप्रस्तावेऽस्माभिः पूर्वमेव प्रपञ्चितम् । शब्दार्थसृष्ट्यादि विषयः । चतुर्वर्गः फलम् । अनयोः प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावः सम्बन्धः । तदर्थी चाधिकारी । अस्य शास्त्रस्य च व्युत्पाद्य-व्युत्पादकभावः सम्बन्धः । शास्त्रविषयस्य फलस्य च साध्यसाधनभावः सम्बन्धः । इत्याद्यन्योऽपि यथायथमूहनीयः । सहेति त्रिभिः सम्बध्यते । मुनिभिः तपोयोगबलेन मन्त्रप्रथमज्ञातृभिः प्रथमाराधकैः ।

तदुक्तं गौतमेन—महेश्वरमुखाज्ज्ञात्वा गुरुर्यस्तपसा मनुम् ।
संसाधयति शुद्धात्मा पूर्वं च ऋषिरीरितः ॥ इति ।

तथाऽन्यत्र— येन यदृषिणा दृष्टं सिद्धिः प्राप्ता च येन वै ।
मन्त्रेण तस्य तत् प्रोक्तमृषेर्भावस्तदार्षकम् ॥ इति ।

छन्दः शब्दव्युत्पत्तिरुक्ताऽन्यत्र—

छादनाच्छन्द उद्दिष्टं वाससी इव चाकृतेः ।
आत्मनाच्छादितो देवैर्मृत्योर्भीतैस्तु वै पुरा ।
आदित्यैर्वसुभी रुद्रैस्तेन च्छन्दांसि तानि वै ॥ इति ।

तथाऽन्यत्रापि— मृत्युभीतैः पुरा देवैरात्मनश्छादनाय च ।
छन्दांसि संस्मृतानीह छादितास्तैस्ततोऽमराः ।
छादनाच्छन्द उद्दिष्टं सर्वं छन्दोभिरावृतम् ॥ इति ।

तत्तु गायत्र्यादि प्रसिद्धम् । दैवतं तत्तन्मन्त्रोद्दिष्टम् । यदाहुः—

यस्य यस्य च मन्त्रस्य उद्दिष्टा या तु देवता ।
तदाकारं भवेत्तस्य देवत्वं देवतोच्यते ॥ इति ।

दैवतैरिति विनियोगस्याप्युपलक्षणम् ।
तत्स्वरूपमुक्तमन्यत्र—

पुराकल्पे समुत्पन्ना मन्त्राः कर्मार्थमेव च ।
अनेन चेदं कर्त्तव्यं विनियोगः स उच्यते ॥ इति ।

अन्यत्रापि— धर्मार्थकाममोक्षेषु शास्त्रमार्गेण योजनम् ।
सिद्धमन्त्रस्य सम्प्रोक्तो विनियोगो विचक्षणैः ॥ इति ।

तज्ज्ञानाभावे दोष उक्तोऽन्यत्र—

दौर्बल्यं याति तन्मन्त्रो विनियोगमजानतः ॥ इति ।

छन्द-ऋषि-देवताज्ञानं मन्त्रसाफल्यार्थमवश्यमपेक्षितम् ।

तदुक्तं छन्दोगानामार्षेयब्राह्मणे—

यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति । यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति । अथ यो मन्त्रे मन्त्रे वेद सर्वमायुरेति श्रेयान् भवति अयातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति । तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यादृषीणां संस्थानो भवति संस्थानो भवति ब्रह्मणः स्वर्गे लोके महीयते स्मरन्न जायते पुनरिति ।

कात्यायनोऽपि—एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयति वा तस्य ब्रह्मवीर्यं यातयामं भवति । अनुविज्ञायैतानि योऽधीते वीर्यवत्तरं यो यथार्थवित् तस्य वीर्यवत्तमं भवति । जपित्वा हुत्वेष्ट्वा फलं प्राप्नोतीति ।

'यश्च जानाति तत्त्वेन आर्षं छन्दश्च दैवतम् ।' इत्यादिना आगमेऽपि ।

याज्ञवल्क्योऽपि—आर्षं छन्दश्च दैवत्यं विनियोगस्तथैव च ।
वेदितव्यं प्रयत्नेन ब्राह्मणेन विशेषतः ॥

अविदित्वा तु यः कुर्याद्यजनाध्ययनं जपम् ।
होममन्यच्च यत् किञ्चित् तस्य चाल्पं फलं भवेत् ॥ इति ।

विधिरिति । न्यास-जप-पूजा-होम-तर्पणाभिषेकसम्पातपातादिः । चकारः शब्दसृष्ट्यादेः प्रधानाप्रधानस्य समुच्चये । मन्त्रयन्त्राणामित्येकपदोपादानेऽपि मुन्यादीनां यथायोगं सम्बन्धः । तत्र मुनिच्छन्दसी होमतर्पणे च मन्त्र एव । देवतादीनि अन्यान्युभयत्रापि । सम्पातपातस्तु यन्त्रे तदुपलक्षितेषु प्रतिकृतिकुम्भशिलाप्रतिमाङ्गुलिकातैलघृतादिषु सम्बध्यते । एतानि देवतोपासकस्य स्थूलरूपतयोक्तानि । येषां सूक्ष्मरूपं यथा । यदाहुः—

स्वात्मैव देवता प्रोक्ता मनोज्ञा विश्वविग्रहा ।
न्यासस्तु देवतात्मत्वात् स्वात्मनो देहकल्पना ॥
जपस्तन्मयतारूपभावनं सम्यगीस्तिम् ।

पूजा तु चञ्चलत्वेऽपि तन्मयत्वाप्रमत्तता ॥
होमो विश्वविकल्पानामात्मन्यस्तमयो मतः ।
एषामन्योन्यसम्मेलभावनं तर्पणं स्मृतम् ॥
अभिषेकस्तु विद्या स्यादात्मैव स्वाश्रयो महान् ।
प्रयोगाः स्युरुपाधीनां हेतोः स्वात्मविमर्शनम् ॥
सन्ध्यासु भजनं तासामादिमध्यान्तवर्जनम् ।
मोहाज्ञानादिदुःखानामात्मन्यस्तमयो दृढम् ॥ इति ॥ ४-५ ॥

अब इस ग्रन्थ में शिष्य को प्रवृत्त करने के लिये ग्रन्थ का माहात्म्य तथा ग्रन्थ के विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध एवं अधिकारी रूप चार अनुबन्धों का दिग्दर्शन कराते हैं, क्योंकि इन चार के होने पर ही श्रोता की प्रवृत्ति ग्रन्थ में होती है ।

(वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य एवं सौर) सभी तन्त्रों का सार होने से सर्वथा कल्याणकारक, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति में प्रथम कारण भूत इस शारदा तिलक नामक ग्रन्थ को कहता हूँ ॥ ४ ॥

विमर्श—शारदातिलक का अर्थ है स्थूलकर्म का फल जो प्रदान करे उसे 'शारदा' कहते हैं, उसका तिलक अर्थात् भूषण स्वरूप शारदातिलक । अथवा शरः/स्वतन्त्रम्, तस्य भावः शारम्/स्वातन्त्र्यम् तद् ददातीति शारदा, तस्याः तिलकम् । प्राणी का जीवभाव निरस्त कर उसे अनन्त ऐश्वर्य प्रदान करने वाली शारदा का तिलक है । तिलक कहने का एक अभिप्राय यह भी है कि शरीर में सर्वप्रथम तिलक दिखाई पड़ता है उसी प्रकार यह भी तन्त्र के सभी ग्रन्थों में मुख्य एवं अपने ढङ्ग का अनूठा ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में शब्दार्थ सृष्टि आदि विषय हैं, धर्मार्थादि पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति **फल** है प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव **सम्बन्ध** है । पुरुषार्थ चतुष्टय को चाहने वाला **अधिकारी** है ॥ ४ ॥

अब **इस ग्रन्थ का विषय** कहते हैं—इस शारदातिलक नामक तन्त्र ग्रन्थ में ऋषि, छन्द और देवता के सहित शब्दार्थ की सृष्टि तथा यन्त्र एवं मन्त्रों की विधि न्यास, जप पूजा होम, तर्पण, अभिषेक, संपात पातादि का निरूपण करता हूँ ।

विमर्श—किसी भी मन्त्र में मुनि, छन्द, देवता तथा विनियोग की आवश्यकता होती है, इसके जाने बिना मन्त्र की सिद्धि नहीं होती । मुनि वे हैं जिन्हें तपोयोगबल से मन्त्रों का साक्षात्कार हुआ है, अथवा उस मन्त्र के जप द्वारा उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई हैं, वे ही उस मन्त्र के ऋषि कहे जाते हैं ।

जिस प्रकार शरीर को वस्त्र से आच्छादित किया जाता है उसी प्रकार मृत्यु से भयभीत ऋषियों ने जिससे अपने को ढक लिया वही छन्द है, देवताओं को आच्छादित करने के कारण ही उसकी छन्द संज्ञा कही गई है । यह छन्द गायत्री आदि नामों से प्रसिद्ध हैं । जिस जिस देवता को उद्देश्य कर जो जो मन्त्र कहे जाते हैं वे ही उस मन्त्र के देवता कहे जाते हैं, अतः उन मन्त्रों का भी उस देवता

के समान आकार होता है, इसलिये मन्त्र और देवता में कोई भेद नहीं अतः मन्त्र देवता स्वरूप ही होते हैं ।

विनियोग का अर्थ है, कर्त्तव्य । मन्त्रों के उत्पत्ति कर्म के लिये ही हुई है, जिस मन्त्र से जो कार्य कर्त्तव्य हो, उस मन्त्र का वह विनियोग होता है, जैसे जपे विनियोगः । न्यासे विनियोगः । पाठे विनियोगः । अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप कार्यों में शास्त्रीय रीति से सिद्ध मन्त्रों की योजना करने का नाम विनियोग है । मन्त्र की फल प्राप्ति के लिये उसके ऋषि छन्द, देवता तथा विनियोग की आवश्यकता है । इसके बिना मन्त्र फलवान् नहीं होता ॥ ५ ॥

शिवस्य निर्गुणसगुणभेदेन द्वैविध्यम्

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ॥ ६ ॥

सृष्टिं वक्तुमुपोद्घातमाह निर्गुण इति । सनातनो नित्यः शिवो निर्गुणः सगुणश्च ज्ञेयः । आद्यस्य स्वरूपमाह निरिति । प्रकृतेरन्यः तत्सम्बन्धशून्यः । षष्ठ्या एवात्र प्राधान्येनोद्देश्यत्वात् । तेन सूक्ष्म इत्यर्थः । अतएवान्यशब्दार्थाभावात् न पञ्चमीयम् । तथा सत्यनुवादे पर्यवसानं स्यात् । यदुक्तं प्रयोगसारे—

नित्यः सर्वगतः सूक्ष्मः सदानन्दो निरामयः।
विकाररहितः साक्षी शिवो ज्ञेयः सनातनः ॥ इति ।

नारायणीयेऽपि— निष्क्रियं निर्गुणं शान्तमानन्दमजमव्ययम् ।
अजरामरमव्यक्तमज्ञेयमचलं ध्रुवम् ॥
ज्ञानात्मकं परं ब्रह्म स्वसंवेद्यं हृदिस्थितम् ।
सत्यं बुद्धेः परं नित्यं निर्मलं निष्कलं स्मृतम् ॥ इति ।

द्वितीयस्य स्वरूपमाह स इति । सगुणः सकलः कला प्रकृतिः तत्संहितः । सांख्यमते सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधाना परपर्याया प्रकृतिः । अतएव सगुण इत्युक्तिः । वेदान्तनये तु अविद्या । शिवतन्त्रे शक्तिः ।

उक्तञ्च नारायणीयप्रयोगसारयोः—

तच्छक्तिभूतः सर्वेशो भिन्नो ब्रह्मादिमूर्त्तिभिः ।
कर्त्ता भोक्ता च संहर्त्ता सकलः स जगन्मयः ॥ इति ॥ ६॥

अब **शिव के निर्गुण एवं सगुण भेद** को कहते हैं—सनातन शिव निर्गुण और सगुण दो प्रकार के कहे गये हैं, प्रकृति सम्बन्ध से शून्य शिव निर्गुण हैं और प्रकृति के साथ रहने से सगुण हैं ॥ ६ ॥

विमर्श—वेदान्त मत में प्रकृति को अविद्या कहते हैं तथा उसी को शैव लोग शक्ति कहते हैं । सांख्य के मत में सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था को प्रधान या प्रकृति कहते हैं ।

शक्त्याविर्भावः, नादोत्पत्तिः, ततो बिन्दूद्भवः

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् बिन्दुसमुद्भवः ॥ ७ ॥

सृष्टिमाह सदिति । तस्याविद्याशबलितत्वेन जडत्वे कथं सृष्टिकर्त्तृत्वम् इति शङ्कां वारयति सच्चिदानन्दविभवादिति । अनेनाविद्योपहितत्वेऽपि तस्य न स्वरूपहानिरित्यर्थः । सकलाच्छक्तिरासीदिति योजना । शक्तिसहितादेव पुनः शक्तिः कथमासीदिति चेत् सत्यम् । या अनादिरूपा चैतन्याध्यासेन महाप्रलये सूक्ष्मा स्थिता तस्या गुणवैषम्यानुगुणतया सात्त्विक-राजस-तामसस्रष्टव्यप्रपञ्चकार्य साधने उच्छूनावस्थात्वमेव उपचारादुत्पत्तिः। इयञ्च सदुत्पत्तिवादिसांख्यमतमाश्रित्य ग्रन्थकारस्योक्तिरिति ज्ञेयम् । तदुक्तं प्रयोगसारे—

तस्माद् विनिर्गता नित्या सर्वगा विश्वसम्भवा । इति ।

वायवीयसंहितायामपि—शिवेच्छया पराशक्तिः शिवतत्त्वैकतां गता ।
ततः परिस्फुरत्यादौ सर्गे तैलं तिलादिव ॥ इति ।

पञ्चरात्रेऽपि—एवमालोक्य सर्गादौ सच्चिदानन्दरूपिणीम् ।
समस्ततत्त्वसङ्घात्मस्फुर्त्त्यधिष्ठानरूपिणीम् ।
व्यक्तां करोति नित्यां तां प्रकृतिं परमः पुमान् ॥ इति ।
तस्या एव नादबिन्दू सृष्ट्युपयोगावस्थारूपौ ।

तदुक्तं प्रयोगसारे—
नादात्मना प्रबुद्धा सा निरामयपदोन्मुखी ।
शिवोन्मुखी यदा शक्तिः पुंरूपा सा तदा स्मृता ॥
सैव सर्गक्षमा तेन । इति ।
आचार्यास्तु-सा तत्त्वसंज्ञा चिन्मात्रज्योतिषः सन्निधेस्तदा ।
विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— अभिव्यक्ता परा शक्तिरविनाभावलक्षणा ।
अखण्डपरचिच्छक्तिर्व्याप्ता चिद्रूपिणी विभुः ॥
समस्ततत्त्वभावेन विवर्त्तेच्छासमन्विता ।
प्रयाति बिन्दुभावञ्च क्रियाप्राधान्यलक्षणम् ॥ इति ।

अतएव वक्ष्यमाणशैवतत्त्वेषु शुद्धानां पञ्चानामेव ग्रहणम्। अत्र यद्यप्यन्यैर्ग्रन्थकृद्भिर्नादावस्था नोक्ता तथापि ग्रन्थकृता तारस्य सप्तात्मकत्वं सूचयितुमेतदुक्तिः कृता । कालं प्रस्तुवद्भिराचार्यैः सूचितैव नादावस्था । यदाहुः—'रवात्मन्यथो कालतत्त्वे' इति । भुवनेशीस्तुतावप्याचार्याः 'नमस्ते रवत्वेन तत्त्वाभिधाने' इति ॥ ७ ॥

अब **सृष्टि का क्रम** कहते हैं—सत् चित् एवं आनन्द रूप ऐश्वर्य से पूर्ण उस सगुण परमेश्वर के प्रकृति से युक्त हो जाने पर शक्ति उत्पन्न हुई, शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु की उत्पत्ति हुई ॥ ७ ॥

विमर्श—परमेश्वर की प्रथम कला (शक्ति या प्रकृति) जो प्रलय काल में अत्यन्त सूक्ष्म अनादि और चैतन्य युक्त थी वही परमेश्वर के संयोग होने पर पुनः सत्त्व, रज और तमोगुण से युक्त हो कर सृष्टि के योग्य, प्रपञ्च कार्य में साधन में सक्षम हो कर स्थूल रूप से उत्पन्न हुई । इसीलिये शैवागम में प्रधानतया, शक्ति, नाद और बिन्दु पाँच तत्त्व निष्कल, सकल माने गये हैं ।

नादोत्थबिन्दोस्त्रिभेदः

परशक्तिमयः साक्षात् त्रिधाऽसौ भिद्यते पुनः ।
बिन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदाः समीरिताः ॥ ८ ॥
बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः ।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ॥ ९ ॥

इच्छाशक्त्या(सत्त्वा)दिरूपतया बिन्दोस्त्रैविध्यमाह परेति । साक्षात् परशक्तिमयः अतः पश्चात्तदवस्थात्मकत्वमेवोक्तम् । अथवा परः शिवः तन्मयः शक्तिमयः एवमुभयात्मकः । 'बिन्दुः शिवात्मकः' इति वक्ष्यमाणत्वात् । असौ त्रिधा भिद्यते । एतौ नादबिन्दू प्रथमोक्तनादबिन्दुभ्यामन्यौ तत्कार्यरूपौ ज्ञेयौ । तदुक्तं 'स बिन्दुर्भवति त्रिधा' इति ॥ ८ ॥

बिन्द्वादेर्भेदत्रयस्य परम्परास्वरूपमाह बिन्दुरिति । धर्मिणावुक्त्वा तत् सम्बन्धो वाच्य इत्यभिप्रायेण व्युत्क्रमः शक्त्युत्पत्त्यनुरोधात् पूर्वत्र तथाक्रमः । समवायः सम्बन्धः क्षोभ्यक्षोभकरूपः सृष्टिहेतुः । उक्तेऽर्थे प्रमाणमाह सर्वागमविशारदैरिति ॥ ९ ॥

वह परशक्तिमय बिन्दु पुनः तीन रूपों में प्रविभक्त हुआ । १. बिन्दु, २. नाद और ३. बीज—ये उसके तीन भेद हैं । इसमें कहे गये बिन्दु और नाद प्रथम कहे गये (१, ७) नाद और बिन्दु से भिन्न हैं ।

बिन्दु शिवात्मक है, बीज शक्त्यात्मक है, शिव शक्ति के सम्बन्ध से नाद की उत्पत्ति हुई है ऐसा तत्त्वागम विशारदों ने कहा है । शिव जब शक्ति में क्षोभ उत्पन्न करता है तो उससे उत्पन्न हुआ नाद सृष्टि का हेतु हो जाता है ।

विमर्श—यहाँ बिन्दु के कथन के बाद नाद कहना चाहिए था किन्तु शक्ति का कथन किये बिना नाद नहीं कहा जा सकता था, इसलिये यहाँ क्रम विरुद्ध कहा गया है ॥ ८-९ ॥

रौद्री बिन्दोस्ततो नादाज्ज्येष्ठा बीजादजायत ।
वामा ताभ्यः समुत्पन्ना रुद्रब्रह्मरमाधिपाः ॥ १० ॥

रौद्रीति । ततस्तस्माद् बिन्दो रौद्री यतस्तस्य शिवमयत्वम् अतोऽन्वर्थतापि । नादात् ज्येष्ठा इति मध्योच्चारितत्वे तत्त्वेनान्वर्थत्वं ज्ञेयम् । बीजाद् वामा अजायतेति सम्बन्धः । तस्य शक्तिमयत्वादन्वर्थत्वम् । तदुक्तं प्रयोगसारे—

बिन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम् ।
तयोर्योगे भवेन्नादस्तेभ्यो जातास्त्रिशक्तयः ॥
रौद्री बिन्दोः समुद्भूता ज्येष्ठा नादादजायत ।
वामा बीजादभूच्छक्तिस्ताभ्यो देवास्त्रयोऽभवन् ॥ इति ॥ १० ॥

बिन्दु से रौद्री, नाद से ज्येष्ठा और बीज से वामा की उत्पत्ति हुई । पुनः उनसे क्रमशः रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु उत्पन्न हुये ॥ १० ॥

शब्दब्रह्मोत्पत्तिः

संज्ञानेच्छाक्रियात्मानो वह्निन्द्वर्कस्वरूपिणः ।
भिद्यमानात् पराद् बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ॥ ११ ॥

संज्ञाने इति । संज्ञाने इच्छाक्रियो तदात्मानः तेन रुद्रब्रह्मरमाधिपाः क्रमेण इच्छाशक्ति-क्रियाशक्ति-ज्ञानशक्तिस्वरूपाः । क्वचित् ते ज्ञानेच्छेति पाठः सः असाम्प्रदायिक एव । एते वह्नीन्द्वर्कस्वरूपिणो रुद्रब्रह्मरमाधिपाः शब्दसृष्ट्यन्तर्गताः निरोधिकार्द्धेन्दु बिन्दुरूपाः शक्तेरेवावस्थाविशेषा ज्ञेयाः । एषामिच्छाक्रियाज्ञानात्मत्वं शक्तित उत्पन्नत्वात् । वक्ष्यति च—'इच्छाज्ञानक्रियात्माऽसौ' इति ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामपि—

यत इच्छन्ति तज्ज्ञातुं कर्त्तुं वा स्वेच्छया क्रियाः ।
अनन्तरं हि तत्कार्यज्ञानदर्शनशक्तिता ॥
ज्ञानशक्तिस्तदर्थं हि योऽसौ स्थलः समुद्यमः ।
सा क्रियाशक्तिरुदिता ततः सर्वं जगत् परम् ॥ इति ।

यतः पुनस्तेषां वक्ष्यमाणत्वात् ततो रुद्रसमुद्भवस्ततो विष्णुस्ततो ब्रह्मा इति । अन्यथा पूर्वापरविरोधोऽपि स्यात् । यतो ग्रन्थकृत् तस्यां सूर्येन्दुपावकान् 'प्रणवस्य त्रिभिर्वर्णैरिति' वक्ष्यति । तत्र प्रणवांशा अकारोकारमकारा ब्रह्मविष्णु रुद्रात्मकाः । 'अकाराद् ब्रह्मणोत्पन्नः' इत्यादेर्वक्ष्यमाणत्वात् । आगमान्तरे च—ब्रह्मविष्णवीश्वरास्तत्तन्मण्डलेषु व्यवस्थिताः । इति ।

तेन तत्र सूर्यरूपः अकारो ब्रह्मा अत्र च सूर्यरूपो विष्णुरिति । अतो वक्ष्यमाणक्रमोऽर्थसृष्ट्यनुसारेणानुसन्धेयः । ग्रन्थकृच्च वक्ष्यति—

शब्दार्थभाविभुवनं सृजतीन्दुरूपा या तद्विभर्त्ति पुनरर्कतनुः स्वशक्त्या । वह्न्यात्मिका हरति तत् सकलं युगान्ते तां शारदां मनसि जातु न विस्मरामि ॥ इति। गोरक्षसंहितायामपि—

इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं गौरी ब्राह्मी तु वैष्णवी ।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥
आचार्या अपि—आद्यैस्त्रिभेदै स्तपनान्तिकैर्यत् । इति—

शब्दब्रह्मण उत्पत्तिमाह भिद्यमानादिति । पराद् विन्दोरित्यनेन शक्त्यवस्थारूपो यः प्रथमो बिन्दुस्तस्मादव्यक्तात्मा वर्णादिविशेषरहितोऽखण्डो नादमात्र उत्पन्नः ॥ ११ ॥

वे रुद्र ब्रह्मा और विष्णु, क्रमशः इच्छा, क्रिया और ज्ञानात्मा हैं तथा अग्नि, चन्द्र और सूर्य स्वरूप हैं (प्रथम इच्छा, तदनन्तर कार्य, तदनन्तर ज्ञान यही क्रम है और ये शक्ति से उत्पन्न हुये हैं) इच्छा शक्ति गौरी, क्रिया शक्ति ब्राह्मी और ज्ञान शक्ति वैष्णवी शक्ति है पर बिन्दु के (शक्त्यवस्था रूप) प्रथम बिन्दु (द्र० १. ७) से वर्ण विशेष रहित अखण्ड नाद उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥

शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः ।
शब्दब्रह्मेति शब्दार्थं शब्दमित्यपरे जगुः ॥ १२ ॥

तस्य चैतन्यात्मकता

न हि तेषां तयोः सिद्धिर्जडत्वादुभयोरपि ।
चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः ॥ १३ ॥

तत्स्वरूपमाह शब्देति । सर्वागमविशारदाः सर्वश्रुत्यर्थविदः। तदुक्तमाचार्यैः—

स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते। इति । सृष्ट्युन्मुखपरमशिवप्रथमोल्लासमात्रम् अखण्डोऽव्यक्तो नादबिन्दुमय एवं व्यापको ब्रह्मात्मकः शब्दः शब्दब्रह्मेत्यर्थः ॥ उक्तञ्च—

क्रियाशक्तिप्रधानायाः शब्दः शब्दार्थकारणम् ।
प्रकृतेर्बिन्दुरूपिण्याः शब्दब्रह्माऽभवत् परम् ॥

अथान्तरस्फोटवादिमतं जातिव्यक्तिस्फोटात्मकं वा बाह्यस्फोटमतञ्च दूषयितुमुपक्रमते शब्देति । एके आचार्याः शब्दार्थमान्तरस्फोटं शब्दब्रह्मेत्याहुः । यथाहि—

'निरंश एवाभिन्नो नित्यो बोधस्वभावः शब्दार्थमयान्तरः स्फोटः' इति । अपरे वैयाकरणाः पूर्ववर्णोच्चारणाभिव्यक्तं तत्तत्पदसंस्कारसहायचरमपदग्रहणोद्बुद्धं वाक्यस्फोटलक्षणं शब्दमखण्डैकार्थप्रकाशकं शब्दब्रह्मेति वदन्ति । यदाह—

'एक एव नित्यो वाक्याभिव्यङ्ग्योऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटो वा वहोरूपः' इति ॥ १२ ॥

तदुभयमतं दूषयन् स्वमतमाह नहीति । तेषां वादिनां मते तयोः शब्दशब्दार्थयोः सिद्धिः शब्दब्रह्मत्वसिद्धिर्न । उभयोस्तयोर्जडत्वात् । यदि शब्दार्थः शब्दो वा शब्दब्रह्मेत्युच्यते तदा ब्रह्मपदवाच्यत्वं नोपपद्यते । यतः सच्चिदानन्दरूपो ब्रह्मपदार्थः । तौ च जडौ । तदुक्तं भर्तृहरिणा—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ इति ।

अन्यत्रापि—शब्दब्रह्मेति शब्दावगम्यमर्थं विदुर्बुधाः ।
स्वतोऽर्थानवबोधत्वात् प्रोक्तो नैतादृशो रवः ॥
स तु सर्वत्र संस्यूतो जाते भूताकरे पुनः ।
आविर्भवति देहेषु प्राणिनामर्थविस्तृतः ॥ इति ।

तेन सर्वागमविशारदा इत्यनेन सहैकवाक्यतैवास्य । तद्बिन्दुरूपरवस्यैव सर्वशरीरेष्वाविर्भूतत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ।

यदुक्तं प्रयोगसारे—

सोऽन्तरात्मा तदा देवी नादात्मा नदते स्वयम् ।
यथासंस्थानभेदेन स भूयो वर्णतां गतः ।
वायुना प्रेर्यमाणोऽसौ पिण्डाद् व्यक्तिं प्रयास्यति ॥ इति ।

केचित्तु शब्दब्रह्मेति शब्दस्यार्थं शब्दमेवाहुरिति योजनां कृत्वा सर्वागमविशारदा इत्येकः पक्षः । अपरे बिन्दुरिति द्वितीयः, तयोर्दूषणमित्याहुः । तन्न । जडत्वादिति हेतुः प्रथमपक्षे न सम्भवति आचार्यमतविरोधश्चापद्येत । तेन सर्वागमविशारदा इत्ययमेवपक्षो ग्रन्थकृदभिमत इति ॥ १३ ॥

संपूर्ण आगम शास्त्र के विद्वान् उसे **शब्दब्रह्म** कहते हैं कोई शब्दार्थ को **शब्दब्रह्म** कहते हैं, कोई केवल अखण्ड स्फोटात्मक शब्द को **शब्दब्रह्म** कहते हैं। किन्तु ये दोनों ही जड़ होने से सृष्टि के योग्य नहीं, अत: वे **शब्दब्रह्म** नहीं हो सकते। ग्रन्थकार कहते हैं कि हमारा मत तो यह है कि बिन्दु से उत्पन्न हुआ संपूर्ण प्राणियों के भीतर चैतन्य रूप से विद्यमान अखण्डनाद ही **शब्दब्रह्म** है (द्र. १. ११-१२) यहाँ तक शब्दसृष्टि कही गई । अब नीचे के श्लोक में उसका समापन करते हैं ॥ १२-१३ ॥

तस्य कुण्डलीरूपेण प्राणिदेहे स्थितिः

तत् प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ।
वर्णात्मनाऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥ १४ ॥

एवं परां तां शब्दसृष्टिमुक्त्वा सामान्यतः समापयति तत् प्राप्येति । प्राणिनां देहमध्यगं कुण्डलीरूपं कुण्डलिनीस्वरूपं तच्चैतन्यं गद्यपद्यादिभेदतो वर्णात्मना आविर्भवतीति सम्बन्धः । किं कृत्वा । प्राप्य कण्ठादिकरणानीति शेषः । अतएव वक्ष्यमाणा सृष्टिः कुण्डलिनीत इति ज्ञेयम् ॥ १४ ॥

प्राणियों के शरीर के मध्य में कुण्डली रूप को प्राप्त हुआ वही चैतन्य कण्ठादि स्थानों को प्राप्त कर गद्य पद्यादि भेद से वर्णात्मक स्वरूप से आविभूति होता है । इसलिये ये सारी शब्द सृष्टि कुण्डलिनी से ही होती है ॥ १४ ॥

पश्यन्तीशब्दसृष्टिकथनारम्भः

अथ बिन्द्वात्मनः शम्भोः कालबन्धोः कलात्मनः।
अजायत जगत्साक्षी सर्वव्यापी सदाशिवः ॥ १५ ॥

सदाशिवेशरुद्रविष्णुब्रह्मोत्पत्तिः

सदाशिवाद् भवेदीशस्ततो रुद्रसमुद्भवः ।
ततो विष्णुस्ततो ब्रह्मा तेषामेवं समुद्भवः ॥ १६ ॥

एवं प्राधान्यद्योतनाय प्रथमोद्दिष्टां परां तां शब्दसृष्टिमुक्त्वा पश्यन्त्यादीनां शरीरसृष्टिव्यतिरेकेण वक्तुमशक्यत्वात् तां वक्तुमर्थसृष्टिमारभते अथेति । कला माया तदात्मनः तत उत्पन्नत्वात् । बिन्दुरपि तस्यैवावस्थान्तरम् । तदात्मन इत्युभयत्र कार्ये कारणोपचारात् । तदुक्तम्—

सर्वज्ञादिगुणोपेतामभिन्नामात्मनः सदा । इति ।

यद्वा कला निवृत्त्याद्या अधिष्ठातृसदाशिवादीनां प्रातिलोम्येनोत्पादिकाः तदात्मनः। कालबन्धोरिति । अनाद्यनन्ते काले सृष्टिरूपकालसहायान्नादात्मन इत्यर्थः। शम्भोः परमशिवात् सृष्टिस्थितिध्वंसनिग्रहानुग्रहकार्यपञ्चककर्त्ता, अतएव जगन्निर्माणबीजरूपो जगत्साक्षी सदाशिवो जातः । अथ च कालबन्धोः, अतएव कालात्मन इति हेतुहेतुमद्भावेन योजना ।

'सा तु कालात्मना सम्यक् मयैव ज्ञायते सदा' इति आचार्योक्तेः ।

अनेन विशेषणद्वयेन प्रकृतेः कालस्य च महाप्रलयेऽप्यवस्थानमुक्तम् । अतएव अनयोरापेक्षकनित्यता । स्वतो नित्यत्वं पुरुषस्यैव । सर्वविनाशस्य पुरुषावधित्वादन्यथाऽनवस्थानादित्यादियुक्तिः द्रष्टव्या । अथ च कालबन्धोरिति बन्धुशब्देन कालस्य निमित्तत्वं सूचितम् । यदाहुः—

लवादिप्रलयान्तोऽयं तमः शक्तिविजृम्भितः ।
निमित्तभूतः कालोऽयं भावानां जन्मनाशयोः ॥ इति ।

अन्यत्रापि—अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते ।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः ॥ इति ।

कालबन्धोरित्यनेन अपरो लवादिप्रलयान्तः कालोऽपि सूचितः । तेनैव परकालस्योक्तत्वात् । स च—

'नलिनीपत्रसंहत्या सूक्ष्मसूच्यभिवेधने ।
दले दले तु यः कालः स कालो लवसंज्ञकः ॥
लवैस्त्रुटिः स्यात् त्रिंशद्भिः' इत्यादिना
'तवायुर्मम निश्वासः कालेनैव प्रचोद्यते ।'

इत्यन्तेन ग्रन्थसन्दर्भेणाचार्यैः विवेचितः । अस्माभिस्तु ग्रन्थगौरवभयात् नोक्तः । अन्ये त्वेवं व्याचक्षते कालबन्धोः कालात्मनः कश्च लश्च इति प्रत्याहारेण व्यञ्जनानि गृहीतानि । अश्चेत्यनेन स्वरा अपि गृहीताः । तदात्मन इति । अन्ये त्वन्यथा व्याचक्षते—कश्च लश्च आत्मा दीर्घेकारः । चतुर्णामात्मनां चतुर्थ इत्युक्तेः । कालशब्देनार्कस्तेन मः । यद्वा कालशब्देन महाकालो मकारस्य रुद्रमूर्त्तिगृहीता । भीमो भीमसेन इतिवत् । तेन मकारः। एवं मिलित्वा कामबीजमुद्धृतम् । तस्मादित्युक्तं भवति । तस्य जगन्मूलत्वात् शम्भोः भ्रमन्तं योन्यन्तःस्फुरदरुणबन्धककुसुमप्रभं कामं ध्यायेज्जठरशशभृत्कोटिशिखरम् ।

इत्यादिना शरीरे मूलाधारे तेजस्त्रयरूपस्य तस्यैवोक्तत्वात् शक्तिरूपत्वाच्च बिन्द्वात्मन इति । तदुक्तम्—

विश्वं भूतेन्द्रियान्तःकरणमयमिनेन्द्वग्निरूपं समस्तं
वर्णात्मैतत् प्रधाने कमलनयनमये बीजरूपे क्रमेण ।
नीत्वा तां पुंसि बिन्द्वात्मनि तमपि रवात्मन्यथो कालतत्त्वे
तं वै शक्तौ चिदात्मन्यपि नयतु च तां केवले धाम्नि शान्ते ॥ इति ।

अन्ये तु शम्भोः हकारात् कलाऽर्द्धेन्दुरात्मा ईकारः बिन्दुः बिन्दुरेव कालोऽग्निः प्रलये सर्वविनाशकत्वात् । एवं मायाबीजमुद्धृतम् । तस्मादित्युक्तम् अस्य जगन्मूलबीजभूतत्वं प्रसिद्धमेव । इदञ्च व्याख्यानमाचार्यचरणसम्मतमिति । तदुक्तमाचार्यैः—

स्वामिन् प्रसीद विश्वेश के वयं केन भाविताः ।
किं मूलाः किं क्रियाः सर्वमस्मभ्यं वक्तुमर्हथ ।
इति पृष्टः परं ज्योतिरुवाच प्रमिताक्षरम् ॥

इत्यस्य पद्यस्य व्याख्याने पद्मपादाचार्यैर्व्याख्यातम्—सर्वेश्वर उपादानादिकं संग्रहेणोक्तवान् इत्याह—इति पृष्टेति । प्रकर्षेण मीयते ज्ञायते इति प्रमिता प्रकृतिः प्रमिनोति जानातीति प्रमितः पुरुषः प्रमिनोति परिच्छिनत्तीति प्रमितः कालः । तेषां प्रमितानां वाचकमक्षरं तदभिन्नं प्रमिताक्षरम् । परा वाक् सतत्त्वं हकार इत्यर्थः । तस्य बीजबिन्दुनादरूपेण प्रकृत्यादिवाचकत्वं द्रष्टव्यम् । एतेन इत्युत्तरमुवाचेत्यर्थः । संग्रहेणोक्तस्याप्रतिपत्तिमालक्ष्य तदेव विवृणोति—

यूयमक्षरसम्भूताः सृष्टिस्थित्यन्तहेतवः । इति ।

न क्षरत्यश्नुते वेति व्युत्पत्त्या 'अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्' इत्यादिना । तेषामिति । शब्दसृष्टौ तेषामुद्भव उक्त एव । तेषामेवं समुद्भवः अर्थसृष्टा वित्यर्थः ॥ १५-१६ ॥

अब परा, पश्यन्ती आदि वाणियों के उत्पत्तिस्थानभूत शरीर की सृष्टि का उपक्रम बताते हैं, क्योंकि शरीर के बिना परा, पश्यन्ती आदि वाणियों का उत्पन्न होना संभव नहीं है । इसलिये अर्थ सृष्टि का आरम्भ करते हैं—

माया (प्रकृति) से संवलित बिन्द्वात्मक शरीर वाले उस परम शिव से अनादि अनन्त काल की सहायता से सृष्टि, स्थिति, ध्वंस, निग्रह और अनुग्रह में समर्थ जगन्निर्माणबीजरूप जगत्साक्षी सदाशिव उत्पन्न हुये ।

विमर्श—लव से लेकर प्रलयान्त समय की काल संज्ञा है । सूक्ष्म सूई से कमल पत्र समूह में एक पत्र के भेदन में जितना समय लगता है वह लव कहा जाता है ।। १५ ।।

सदाशिव से ईश्वर उत्पन्न हुये, ईश्वर से रुद्र उत्पन्न हुये रुद्र से विष्णु और विष्णु से ब्रह्मदेव की उत्पत्ति हुई ।

विमर्श—इस प्रकार त्रिदेवों की उत्पत्ति का क्रम कहा गया । शब्द सृष्टि के प्रकरण में इनके उत्पत्ति का क्रम पूर्व (१. ८-११) में कह दिया गया है । इस प्रकार यहाँ अर्थ सृष्टि में इनकी उत्पत्ति कही गई है ॥ १६ ॥

तत्त्वसृष्टिकथनारम्भः

मूलभूतात् ततोऽव्यक्ताद् विकृतात् परवस्तुनः।

महत्तत्त्वोत्पत्तिः

आसीत् किल महत्तत्त्वं गुणान्तः करणात्मकम् ॥ १७ ॥

एवं प्रकृतायामर्थसृष्टौ तत्त्वसृष्टिं वक्तुमारभते मूलेति। मूलभूतात् सर्वसृष्टिमूलरूपादतएव परवस्तुनः अव्यक्ताद् बिन्दुरूपात् । यद्वा शब्दब्रह्मणः विकृतात् सृष्ट्युन्मुखात् महत्तत्त्वं महन्नामपदार्थः आसीत् उत्पन्नः । यस्य शैवमते बुद्धितत्त्वमिति संज्ञा । किं रूपं सत्वरजस्तमोगुणात्मकम् मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तस्वरूपम् । अन्तःकरणचतुष्टयात्मकता तु तत्कारणत्वेन कार्ये कारणोपचारात् । एवं शैवसिद्धान्तविदः । तदुक्तमीशानशिवेन—

बोद्धव्यलक्षणा सैव प्रकृतिः शक्तिजृम्भिता ।
बुद्धितत्त्वं भवेद्व्यक्तं सात्त्विकं गुणमाश्रिता ।
सैव बुद्धिर्महन्नाम तत्त्वं सांख्ये निगद्यते ॥ इति ।

वामकेश्वरेऽपि—

अव्यक्तविग्रहाच्छब्दब्रह्मणः सर्वकारणम् ।
व्यक्तसत्त्वगुणं व्यक्तं बुद्धितत्त्वमजायत ॥ इति ।

सांख्यमते तु—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थारूपं प्रकृतिः प्रधानापरपर्यायमव्यक्तशब्देनोच्यते । तत् परवस्तु सर्वमूलभूतम् । गुणन्यूनातिरेकेण विकृतात्तस्मात् महानुत्पन्नः । स कीदृशः । गुणान्तःकरणात्मा । गुणाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणि । येषामन्तःकरणचतुष्टयस्यापि कारणरूपः । उपचारादुभयात्मकः । तथा तत्सृष्टिक्रमोऽपि प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कार इति ॥ १७ ॥

जगत् के कारण भूत उस अव्यक्त मूल प्रकृति (परवस्तु) में (सत्त्वादि) गुणों के वैषम्य के कारण पञ्चतन्मात्रायें एवं अन्तःकरण चतुष्टय का कारणभूत इस प्रकार उभयात्मक महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ ॥ १७ ॥

अहङ्कारोत्पत्तिः । तस्य त्रैविध्यम्

अभूत्तस्मादहङ्कारस्त्रिविधिः सृष्टिभेदतः।
वैकारिकादहङ्काराद्देवा वैकारिका दश ॥ १८ ॥

ततो देवेन्द्रियभूतानामुत्पत्तिः

दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः।

पञ्चतन्मात्रोत्पत्तिः

तैजसादिन्द्रियाण्यासंस्तन्मात्राक्रमयोगतः ॥ १९ ॥

अभूदिति । तस्मान्महतस्त्रिविधोऽहङ्कारः सृष्टिभेदतो जातः । वैकारिकास्तैजसो भूतादिश्चेति । तदुक्तम्—

अव्यक्तमेव तु व्यक्तं तन्महन्नामलक्षणम् ।
ततोऽहङ्कारतत्त्वं स्यात् सत्त्वादिगुणभेदकम् ॥
सोऽहङ्कारस्त्रिभेदः स्यात् पृथक् सत्त्वादिभेदतः ।
वैकारः सात्विको नाम तैजसो राजसः स्मृतः ।
भूतादिस्तामसस्तेऽपि पृथक् तत्त्वान्यवासृजन् ॥ इत्यादि ।

तत्तत्कार्यं वदन्नेवं त्रैविध्यमुन्मीलयति वैकारिकादित्यादिना। शक्तिसामरस्यविकृतपरमेश्वरादुत्पन्नत्वात् वैकारिकत्वमस्य । तदुत्पन्नत्वाद् देवानामपि तथात्वम् । सांख्यमतेऽपि गुणोद्रेकविकृतप्रधानोत्पत्तेस्तादृक्त्वम् ॥ १८ ॥

तानेवाह दिगित्यादि । अश्वीत्यश्विनीकुमारौ यद्यप्येतौ द्वौ तथापि सहचारित्वात् सहजातत्वादेकत्वेनोक्तिः । उपेन्द्रो विष्णोरेकामूर्त्तिः । मित्रस्तृतीयः सूर्यः । तदुक्तं 'मित्रो भानुस्तृतीयकः' इति । को ब्रह्मण एका मूर्त्तिः । चन्द्रोऽपि ज्ञेयः । एते इन्द्रियाधिष्ठातृदेवा इति ज्ञेयम् । यदाहुः—

वैकारिका दिगाद्या ये चन्द्रेणैकादश स्मृताः ।
इन्द्रियाणामधिष्ठातृदेवास्ते परिकीर्त्तिताः ॥ इति ।

तैजसादिति । तैजसादहङ्कारादिन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि मनश्च । तदुक्तम्—

यच्चापरं मनस्तत्त्वं ससङ्कल्पविकल्पकम् ।
तैजसादेव सञ्जातम् । इति ।

अन्यत्रापि—तैजसतस्तत्र मनो वैकारितो भवन्ति चाक्षाणि ।
भूतादेस्तन्मात्राण्येषां यत् सर्गोऽयमेतस्मात् ॥ इति ।

अक्षाणि अक्षाधिष्ठातृदेवताः । सांख्यमते वैकारिकादहङ्कारात् तैजसाहङ्कारमिलितात् इन्द्रियाण्यासन्निति । एवं तैजसाहङ्कारसहिताद् भूतादेरपि तन्मात्रोत्पत्तिः । तदुक्तम्—

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकारिकादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः तैजसादुभयम् ॥ इति ॥ १९ ॥

उस महत्तत्त्व से सृष्टिभेद के कारण वैकारिक, तैजस एवं भूतादि रूप तीन अहंकारों की उत्पत्ति हुई । वैकारिक अहंकार से दश वैकारिक देव, १. दिक्, २. वात, ३. अर्क, ४. प्रचेता, ५. अश्विनी, ६. अग्नि, ७. इन्द्र, ८. उपेन्द्र, ९. मित्र (द्वादश आदित्यों में तृतीय) और १०. ब्रह्मा उत्पन्न हुये । वैकारिक अहंकार से उत्पन्न होने के कारण ये देव भी वैकारिक कहे जाते हैं जो इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता हैं । ग्यारहवाँ चन्द्रमा भी हैं जो मन के अधिष्ठातृ देवता हैं । तैजस अहंकार से पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एकादश मन तथा तन्मात्राओं (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) की उत्पत्ति हुई ॥ १८-१९ ॥

पञ्चभूतोत्पत्तिः

भूतादिकादहङ्कारात् पञ्चभूतानि जज्ञिरे ।
शब्दात् पूर्वं वियत् स्पर्शाद् वायू रूपाद्धुताशनः ॥ २० ॥

भूतवर्णनिरूपणम्

रसादम्भः क्षमा गन्धादिति तेषां समुद्भवः ।
स्वच्छं वियन्मरुत् कृष्णो रक्तोऽग्निर्विशदं पयः॥ २१ ॥
पीता भूमिः पञ्चभूतान्येकैकाधारतो विदुः ।
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा भूतगुणाः स्मृताः ॥ २२ ॥

भूतेति । भूतादिकादहङ्कारात्तन्मात्राक्रमयोगतः पञ्चभूतानि जज्ञिरे इति सम्बन्धः । कः स्वार्थिकः । तत्रादौ आकाशादीनां कारणभूताः पञ्चतन्मात्रा जाताः । शब्दतन्मात्रास्पर्शतन्मात्रा-रूपतन्मात्रा-रसतन्मात्रा-गन्धतन्मात्राः । एताभ्य आकाश-वायुतेजोजलपृथिवीरूपाणि पञ्चभूतान्युत्पन्नानि । उक्तञ्च—

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
तन्मात्राण्येव विषया भूतादेरभवन् क्रमात् ॥
ततः समभवद्व्योम शब्दतन्मात्ररूपकम् ।
स्पर्शात्मकस्ततो वायुस्तेजोरूपात्मकं ततः ॥
आपो रसात्मिकास्तस्मात् ताभ्यो गन्धात्मिका मही ।
ततः स्थूलानि भूतानि पञ्च तेभ्यो विराडपि ॥ इति ।

तत्र भूतोत्पत्तिप्रकारमाह शब्दादिति । शब्दतन्मात्रात् आकाशः स्पर्शतन्मात्रातो वायुः रूपतन्मात्रातोऽग्निः रसतन्मात्रातो जलं गन्धतन्मात्रातः पृथिवी । केचित् पूर्वपूर्वानुविद्धानामेषां कारणत्वमाहुः पूर्वशब्दसामर्थ्यात् । तदुक्तम्—

शब्दाद्व्योम स्पर्शतस्तेन वायुस्ताभ्यां रूपाद्वह्निरेभ्यो रसाच्च ।
अम्भांस्येभिर्गन्धतो भूः । इति ।

पञ्चभूतवर्णानुपदिशति स्वच्छमिति । स्वच्छं श्वेतम् । अत्र केषाञ्चिदरूपि द्रव्याणां वर्णकथनम् उपासनार्थं स्वशास्त्रानुरोधेन । तेषां स्वरूपमन्यत्रोक्तम्—

खमपि सुषिरचिह्नमीरणः स्याच्चलनपरः परिपाकवान् कृशानुः ।
जलमपि रसवद् घना धरा । इति ।

एतैस्तानि ज्ञायन्ते इत्यर्थः । एकैकाधारत इति । स्वस्वकारणाधाराणीत्यर्थः ।

तदुक्तम्— परस्परानुप्रविष्टैर्महाभूतैश्चतुर्विधैः ।
व्याप्ताकाशैर्जगत् सर्वं दृश्यं निष्पाद्यतेऽखिलम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि—व्योम्नि मरुदत्र दहनस्तत्रापस्तासु संस्थिता पृथ्वी । इति ।

भूतगुणाः तत्तद्विशेषगुणा इति नैयायिकाः । यद्वा शब्दो गुणो वियतः । शब्दस्पर्शौ वायोः । तौ रूपञ्चाग्नेः । रसेन सह तानि जलस्य । गन्धेन सह पञ्च

पृथिव्या इति सांख्याः । इदमेव स्फोटयितुमेकैकाधारत इत्युक्तिः । उक्तञ्च ईशान-शिवेनशब्दैकगुण आकाशः शब्दस्पर्शगुणो मरुत् ।

शब्दस्पर्शरूपगुणैस्त्रिगुणं तेज इष्यते ॥
शब्दस्पर्शरूपरसगुणैरापश्चतुर्गुणाः ।
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः पञ्चगुणा मही ॥ इति ॥ २०-२२ ॥

भूतादि अहंकारों से (तन्मात्राओं के योग द्वारा) पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति हुई । सर्वप्रथम शब्द तन्मात्रा से आकाश, स्पर्श तन्मात्रा से वायु, रूप तन्मात्रा से हुताशन (तेज), रस तन्मात्रा से जल और गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न हुई । इसप्रकार पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुये । उसमें आकाश का वर्ण स्वच्छ है, वायु का काला, अग्नि (तेज) का लाल तथा जल का विशद (स्वच्छ) और पृथ्वी का वर्ण पीत है । ये सभी अपने अपने कारणों के गुण को भी धारण करते हैं । यथा—आकाश में शब्द, वायु में स्पर्श और शब्द, तेज में रूप, स्पर्श एवं शब्द, जल में रस, रूप, स्पर्श और शब्द तथा पृथ्वी में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये गुण हैं ॥ २०-२२ ॥

भूतमण्डलस्वरूपम्

वृत्तं दिवस्तत् षड्बिन्दुलाञ्छितं मातरिश्वनः।
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं वह्नेरर्धेन्दुसंयुतम् ॥ २३ ॥
अम्भोजमम्भसो भूमेश्चतुरस्त्रं सवज्रकम् ।
तत्तद्भूतसमाभानि मण्डलानि विदुर्बुधाः ॥ २४ ॥

भूतमण्डलान्याह—वृत्तमिति । दिवः आकाशस्य वृत्तम् । तद्वृत्तमेव समभागेन वृत्तपरिधिरेखामध्ये षड्बिन्दुलाञ्छितं मातरिश्वनः वायोः । त्रिकोणमूर्द्धाग्रम् । 'ऊर्द्ध वह्निरधः शक्तिः' इत्युक्त्वात् । अन्यत्रापि—

इन्द्रराक्षसवायव्यकोणैस्तद्वह्निमण्डलम् । इति ।

स्वस्तिकोपेतं त्रिकोणसम्पातरेखाः सम्वर्ध्य तत्र स्वस्तिकाकारं कुर्यादित्यर्थः ।

तदुक्तम्—हृदि त्रिकोणं निर्गच्छत् स्वस्तिके रक्ततेजसि । इति ।

स्वस्तिकं नाम परस्परसम्बद्धं विदिग्गतचतुर्वक्त्रं रेखाद्वयम् । वह्नेरिति पूर्वेणान्वयेति । अर्द्धेन्दुसंयुतम् अम्भोजमम्भस इति सम्बन्धः । अर्द्धेन्दौ संयुतम् अर्द्धेन्दुसंयुतमिति । सप्तमीति योगविभागात् समासः । यद्वा अर्द्धेन्दु अम्भोजं संयुतम् उभयं मिलितम् अम्भसो मण्डलं तेनार्द्धेन्दु कृत्वा तदुभयभागे सरोजद्वयं कुर्यादिति ।

यदुक्तमाचार्यैः—अब्जोपेतार्द्धेन्दुमद् बिम्बमाप्यम् । इति ।

अन्यत्रापि—अर्द्धचन्द्रं द्रवं सौम्यं शुभ्रमम्भोजसंयुतम् । इति ।

प्रयोगसारेऽपि—अब्जाङ्कोऽर्द्धेन्दुरम्भसः । इति ।

अन्यत्रापि—तेषां क्रमेण शशिबिम्ब समन्तदेव
षड् बिन्दुमद्दहनशस्त्रयुतं त्रिकोणम् ।
अम्भोजयुग्मशशिखण्ड समानरूपं
वेदास्त्रकं सदशनन्त्विह मण्डलानि ॥ इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—चन्द्रार्द्धमण्डलं वापि श्वेतं पङ्कजयुग्मयुक् । इति ।

स्वायम्भुवे नारसिंहेऽपि—आप्यमर्द्धेन्दुपद्माङ्कितम् । इति ।

यस्तु अष्टदलपद्मं कृत्वा तद्दलाग्रेषु अर्द्धचन्द्राकारान् कुर्यात् इति वदति स्म स भ्रान्त एव । अन्ये तु अर्द्धचन्द्रं कृत्वा तन्मध्ये पद्मं लिखेदिति वदन्ति । तदपि भूतलिपिपटले वक्ष्यमाणत्वात् अत्र न वाच्यम् । सवज्रकं चतुरस्त्रं भूमेरिति सम्बन्धः। चतुरस्त्रसम्पातरेखाः सम्वर्द्ध्य अष्टवज्राणि कुर्यादिति केचित् । सम्प्रदायविदस्तु चतुरस्त्ररेखास्वेव अष्टवज्राणि कार्याणीति वदन्ति । तदुक्तम् शौनककल्पे—

भूग्रहं चतुरस्त्रं स्यादष्टवज्रविभूषितम् । इति ।

हिरण्यगर्भसंहितायामपि—बाह्ये वज्राष्टभूषितं चतुष्कोणं शुभमथो । इति । आचार्यास्तु—'वसुकुलिशगम्' इति । ग्रन्थकारोऽपि—'वज्रेष्वष्टसु' इति ।

अन्योन्याभिमुखतया त्रिवक्त्रं रेखाद्वयं परस्परसंबद्धं वज्रम् । परस्परसम्बद्धमध्यं रेखाद्वयमिति केचित् । मण्डलध्यानमाह तत्तदिति । अनेन भूम्यादौ मण्डललिखने तत्तद्वर्णरजोभिश्च पूरणमप्युक्तं भवति ॥ २३-२४ ॥

अब इन **पञ्चभूतों का मण्डल** कहते हैं—आकाश का मण्डल वृत्ताकार (गोला) है, उस वृत्त परिधि की रेखा में छः बिन्दु अंकित कर देने से वह वायु का मण्डल हो जाता है । त्रिकोण की संपात रेखाओं को बढ़ाकर उसे स्वस्तिकाकार बना देने पर उससे युक्त त्रिकोण अग्नि का मण्डल होता है । कमल को चन्द्राकार दो भागों में विभक्त कर देने पर निष्पन्न अर्धचन्द्राकार दो कमल जल का मण्डल हो जाता है । तथा चौकोर और अष्ट वज्र विभूषित मण्डल पृथ्वी का मण्डल कहा जाता है । पञ्चभूतों में जिस नाम के जो जो मण्डल बनाए जायँ उन्हें उन उनके वर्णों से पूर्ण भी करना चाहिए ॥ २३-२४ ॥

विमर्श—दो परस्पर संबद्ध रेखाओं को आमने सामने तीन जगह मोड़ देवे तो उसे वज्र कहते हैं । इस प्रकार चतुरस्त्र में एक ओर की रेखा में दो वज्र हुये चारों रेखाओं में कुल ८ वज्र हुये । भूमि में जिसका मण्डल बनावे, उसे उसके वर्ण से पूर्ण करना चाहिए ॥ २३-२४ ॥

पञ्चभूतकलाः

वर्णैः स्वैरञ्चितान्याहुः स्वस्वनामावृतान्यपि ।
धरादिपञ्चभूतानां निवृत्त्याद्याः कलाः स्मृताः ॥ २५ ॥
निवृत्तिः सप्रतिष्ठा स्याद् विद्या शान्तिरनन्तरम् ।
शान्त्यतीतेति विज्ञेया नाददेहसमुद्भवाः ॥ २६ ॥

वर्णैर्द्वितीये वक्ष्यमाणभूतवर्णैः । स्वस्वनामावृतान्यपीत्यस्याप्ययमर्थः । वक्ष्यमाणभूतलिपियन्त्रेषु यः कर्णिकालिखितो मन्त्रस्तेनावृतानीति । साम्प्रदायिकाश्चैवं मन्यन्ते । 'कलात्मनः' इति पूर्वमुक्तेः भूतकारणभूताः बिन्दुतत्त्वनिर्गताः शक्तीः । संहारक्रमेण प्रयोगाद्यर्थमाह धरेति । धरादिपञ्चभूतानामुत्पादिका इति शेषः । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—

> शक्तिः प्रथमसम्भूता शान्त्यतीतपदोत्तरा ।
> शान्त्यतीतपदं शक्तेस्ततः शान्तिपदं क्रमात् ॥
> ततो विद्यापदं तस्मात् प्रतिष्ठापदसंग्रहः ।
> निवृत्तिपदमुत्पन्नं प्रतिष्ठापदतः परम् ॥
> एवमुक्ता समासेन सृष्टिरीश्वरचोदिता ।
> आनुलोम्यादथैतेषां प्रातिलोम्येन संहृतिः ॥
> अस्मात् पञ्चपदोद्दिष्टात्र सृष्ट्यन्तरमिष्यते ।
> कलाभिः पञ्चभिर्व्याप्तं यस्माद् विश्वमिदं जगत् ॥ इति ।

नादेति । नादाद् देहो यस्य स नाददेहो बिन्दुः तत्समुद्भवा इति । यद्वा तासां स्थूलवाचकांशमाह नाददेहसमुद्भवा इति । नादो हकारः नादस्य ध्वनेर्देह उत्पत्तिर्यस्मात् स नाददेहो वायुस्तेन यः । धर्मधर्मिणोरभेदात् देहशब्देनोत्पत्तिरुक्ता । 'मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति ध्वनिम्' इत्युक्तेर्नादोत्पत्तिहेतुत्वं तस्य । समुद्दीप्यमाना भा दीप्तिर्यस्येति समुद्भोऽग्निस्तेन रः । व स्वरूपम् । तत्र हयरवलानां क्रमेण ग्रहणे कर्त्तव्ये यच्चतुर्णामेव ग्रहणं कृतवान् तेन लकारोऽप्यस्तीति ज्ञेयम् । प्रथमतो नादग्रहणाद् बिन्दुयोगोऽप्येषां ज्ञेयः । एतानि विलोमेन तन्मात्राबीजानि । अथवा नादो हकारस्तस्य देहः स्वरूपं तत्र समुद्भवः स्थितिर्येषां एवम्भूता आईकारादयः आ ई ऊ ऐ औकाराः । एषां सबिन्दुकत्वञ्च ज्ञेयम् । तदुक्तं त्रिकोणोत्तरे—

> नादाख्यं यत् परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम् ।
> मूर्त्तिदं परमं दिव्यं सर्वसिद्धिप्रदायकम् ।
> शान्तं सर्वगतं शून्यं मात्रापञ्चकसंस्थितम् ॥ इति ।

केचन क्रमेण एषां ल व र य ह योगमाहुः । तद्यथा—ह्लाँ ह्लीँ ह्लूँ ह्लैँ ह्लौँ । एतानि अपञ्चीकृतभूतबीजानि । अथवा नादो हकारः । शरीरस्य पृथिव्यंशाधिक्याद् देहशब्देन लकारस्तस्य समुद्भवः स्थितिर्यत्र स नाददेहसमुद्भवः । येषु आकारादिषु ते नाददेहसमुद्भवाः । अत्र क्रमेण लवरयह योगमाहुः । तद्यथा—ह्लां हल्वीं ह्लूं हल्यैं ह्लौं । एतानि पञ्चीकृतभूतबीजानि । भूतबीजानामेव तदभिमानिनिवृत्त्यादिबीजत्वं ज्ञेयम् । तदुक्तमाचार्यैः 'नादकलादिभूता' इति ॥ २५-२६ ॥

अब **पृथ्व्यादि पञ्च महाभूतों की कला** कहते हैं—पृथ्व्यादि पञ्चभूतों की निवृत्ति आदि कलायें कही गई हैं ॥ २५ ॥

विमर्श—यहाँ प्रथम आकाश की कला कहनी चाहिए थी—किन्तु संहार क्रम से कलाओं का वर्णन करते हैं ॥ २५ ॥

पृथ्वी की कला का नाम निवृत्ति, जल की कला का नाम प्रतिष्ठा, तेज की

कला का नाम विद्या, वायु की कला का नाम शान्ति तथा आकाश की कला का नाम शान्त्यतीता है जो वायु से समुद्भूत है ॥ २६ ॥

जगतः पञ्चभूतात्मकत्वम्

पञ्चभूतात्मकं सर्वं चराचरमिदं जगत् ।

चराचरस्वरूपम्

अचरा बहुधा भिन्ना गिरिवृक्षादिभेदतः॥ २७ ॥

एवं भूतान्युक्त्वा जगतस्तदात्मकत्वमाह पञ्चेति । एतेन त्रिवृत्करणपक्षः पञ्चीकरणपक्षोऽपि सूचितः । तत्र ये तैजसा देवाः तेषामपि शरीरार्द्धो भागः तैजसः पृथिव्याश्चतुर्थांशः चतुर्थांशो जलस्येति त्रिवृत्करणपक्षः । पञ्चीकरणपक्षे तु पृथिव्याश्चत्वारोंऽशा अन्येषामष्टमोऽष्टमोंऽशः । एवमन्यत्रापि । तदुक्तम्—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥ इति ।

अथवा—षडंशास्तेजसः पृथिवीजलवाय्वाकाशानां दशमो दशमोंऽशः । एवं पार्थिवे अस्मदादिशरीरेऽपि षड्भागाः पृथिव्याः अन्येषां दशमो दशमोंऽशः । एवं वरुणादिलोकनिवासिनामाप्यादिशरीराणामपि अवगन्तव्यम् । तदुक्तम्—

पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद् द्विधा ।
एकैकं भागमादाय पञ्चधा विभजेत् पुनः ॥
एकैकभागमेकैकं भूते संवेशयेत् क्रमात् ।
तत आकाशभूतस्य स्वभागाः षड् भवन्ति हि ॥
वाय्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमादिशेत् ।
पञ्चीकरण मेतत्स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः ॥ इति ।

अन्यत्र विशेषः—

अस्थि मांसं त्वचं स्नायु रोम एव तु पञ्चमम् ।
इति पञ्चविधा प्रोक्ता पृथिवीं कठिनात्मिका ॥
लाला मूत्रं तथा शुक्रं शोणितं मज्ज पञ्चमम् ।
अपां पञ्च गुणा एते द्रवरूपाः प्रकीर्त्तिताः ॥
क्षुधा तृष्णा भयं निद्रा आलस्यं क्षान्तिरेव च ।
ऊष्णात्मका गुणा एते तेजसः परिकीर्त्तिताः ॥
धावनं वल्गनं भुक्तिराकुञ्चनं प्रसारणम् ।
एते पञ्च गुणा वायोः क्रियारूपा व्यवस्थिताः ॥
रागद्वेषौ तथा लज्जा भयं मोहस्तथैव च ।
व्योम्नः पञ्चगुणा एते शून्याख्ये सुषिरात्मनि ॥ इति ।

चरं जङ्गमम् । अचरं स्थावरम् । चरेषु बहुवक्तव्यत्वात् प्रथमोद्दिष्टं तं विहायाचरानाह अचरा इति । तत्र ते चराः स्वेदाण्डजजरायुजा इति वक्ष्यति । तेन शिष्टत्वादेषामौद्भिदत्वमुक्तम् । यदाहुः—

देहश्चतुर्विधो ज्ञेयो जन्तोरुत्पत्तिभेदतः ।
उद्भिज्जः स्वेदजोऽण्डोत्थश्चतुर्थस्तु जरायुजः ।
उद्भिद्य भूमिं निर्गच्छेदौद्भिदः स्थावरस्तु सः ॥ इति ।

एषामुत्पत्तिप्रकारोऽन्यत्रोक्तः—

उद्भिदः स्थावरा ज्ञेयास्तृणगुल्मादिरूपिणः ।
तत्र सिक्ता जलैर्भूमिरन्तरूष्मविपाचिता ॥
वायुना व्यूह्यमाना तु बीजत्वं प्रतिपद्यते ।
तथा चोप्तानि बीजानि संसिक्तान्यम्भसा पुनः ॥

उच्छूनत्वं मृदुत्वञ्च मूलभावं प्रयान्ति च । तन्मूलादङ्कुरोत्पत्तिस्तस्मात् पर्णसमुद्भवः । पर्णात्मकं ततः काण्डं काण्डाच्च प्रसवः पुनः ॥ इति ॥ २७ ॥

यह सारा चराचरात्मक जगत् पञ्चभूतात्मक है । जिसमें अचरों के गिरि वृक्षादि भेद से अनेक प्रकार होते हैं ।

विमर्श—यहाँ चराचर में पञ्चभूत हैं यह कह कर त्रिवृत्करण पक्ष और पञ्चीकरण पक्ष दोनों ही सूचित करते हैं । जैसे देवताओं का तैजस शरीर हैं किन्तु उसमें आधा तैजस है चतुर्थांश पृथ्वी का और चतुर्थांश जल का यह त्रिवृत्करण पक्ष हुआ । पञ्चीकरण पक्ष में तेज के छः भाग और पृथ्वी जल, वायु, आकाश के दशम दशम भाग समझना चाहिए ॥ २७ ॥

चराणां त्रिभेदः

चरास्तु त्रिविधाः प्रोक्ताः स्वेदाण्डजजरायुजाः ।
स्वेदजाः क्रिमिकीटाद्या अण्डजाः पन्नगादयः ॥ २८ ॥

विभागपूर्वकं चरानुद्दिशति चरास्त्विति । जनेः प्रत्येकं सम्बन्धं दर्शयन् तद्विशेषानाह खेदजा इत्यादिना । कृमिकीटाद्या इति उभयोरपिदंशकत्वादंशकत्वाभ्यां भेदः । आदिशब्देन पतङ्गादीनां ग्रहणम् ।

यदाहुः—कृमिकीटपतङ्गाद्याः स्वेदजा नाम देहिनः । इति ।

तदुत्पत्तिप्रकारोऽन्यत्र दर्शितः—

स्वेदजं स्विद्यमानेभ्यो भूवह्न्यद्भ्यः प्रजायते । इति ।

तेनैषामयोनिजत्वमुक्तम् । यदुक्तं प्रयोगसारे-

किन्त्वत्र स्वेदजा ये तु ज्ञेयास्ते चाप्ययोनिजाः ।
स्थिरा विवायवो भिन्नाश्चत्वारिंशत्सहस्रधा ॥ इति ।

पन्नगादय इत्यादिशब्देन पक्षिकच्छपादिग्रहणम् । यदाहुः—

अण्डजाः पक्षिणः सर्वे नक्रमत्स्याश्च कच्छपाः । इति ।

तदुत्पत्तिप्रकारोऽपि—

अण्डजो वर्त्तुलीभूताच्छुक्रशोणितसंयुतात् ।
कालेन भिन्नात्पूर्णात्मा निर्गच्छन् प्रक्रमिष्यति ॥ इति ॥ २८॥

स्त्रीपुंनपुंसकोत्पत्तौ हेतुः

जरायुजा मनुष्याद्यास्तेषु नृणां निगद्यते ।
उद्भवः पुंस्त्रियोर्योगात् शुक्रशोणितसंयुतात् ॥ २९ ॥
बिन्दुरेको विशेद् गर्भमुभयात्मा क्रमादसौ ।
रजोऽधिके भवेन्नारी भवेद्रेतोऽधिकः पुमान् ।
उभयोः समतायान्तु नपुंसकमिति स्थितिः ॥ ३० ॥

जरायुर्गर्भाशयो जालिकारूपः । मनुष्याद्या इत्यादिशब्देन पश्वादयः । एषां संख्योक्ता प्रयोगसारे—

योनिजाः प्राणिनो भिन्नाश्चतुःषष्टिसहस्त्रधा । इति ।

तेषु नृणां निगद्यते उद्भव इति सम्बन्धः । यतः सर्वशास्त्रस्य मनुष्याधिकारित्वात् । शोणित संयुतादित्यनेन तस्याप्रधानतोक्ता । अतः पुत्रः पितृजात्यादियुक्तः ।

तथाच महाभारते—माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः । इति । भस्त्रा वाय्वाधारं चर्ममयम् । उभयात्मा शुक्रशोणितात्मा अतएवाग्नीषोमात्मा एको बिन्दुर्गर्भं विशेत् । क्रमादसावित्युत्तरेण सम्बध्यते । असौ बिन्दुः रजोऽधिकः क्रमान्नारी भवेत् । रेतोऽधिकः क्रमात् पुमान् भवेदिति योजना । अत्राधिक्यमुक्त प्रमाणतो ज्ञेयम् । उक्तप्रमाणसाम्ये नपुंसकोत्पत्तिरित्यपि ज्ञेयम् । यदाहुः—

द्वाविंशती रजोभागाः शुक्रमात्राश्चतुर्दशः ।
गर्भसञ्जनने काले पुंस्त्रियोः सम्भवन्ति च ॥
नारी रजोऽधिकेंऽशे स्यान्नरः शुक्राधिकेंऽशके ।
उभयो रुक्तसंख्यायां स्यान्नपुंसकसम्भवः ॥ इति ।

क्रमादित्यनेन नैतदुक्तं भवति । स एवं बिन्दुर्वायुना पृथग् भिन्नः बह्वपत्यतां जनयतीति । यदाहुः—वाग्भटे शारीरस्थाने—शुक्रार्त्तवे पुनः पुनः ।

वायुना बहुशो भिन्ने यथास्वं बह्वपत्यता ॥
वियोनिविकृताकारा जायन्ते विकृतैर्मलैः ।
पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संगता ॥
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ।
वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः ॥
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥ इति ॥ २९-३०॥

स्वेदज, अण्डज और जरायुज भेद से चर के तीन भाग हैं । जिसमें कृमि कीट आदि स्वेदज हैं । पक्षि, कच्छप सर्पादि अण्डज हैं और मनुष्य आदि जरायुज हैं । उन तीनों में मनुष्यों की उत्पत्ति का प्रकार कहते हैं । पुरुष और स्त्री के संयोग से जब शुक्र शोणित योनि में एकत्रित हो जाते हैं तो मनुष्य की उत्पत्ति होती है ॥ २८-२९ ॥

शुक्र शोणित उभयात्मक अथवा अग्नीषोमात्मक एक बिन्दु गर्भ में प्रविष्ट होता है, यदि उस बिन्दु में रज की अधिकता होती है तो स्त्री और रेत की अधिकता होने पर पुरुष पैदा होता है, किन्तु जब दोनों समान समान होते हैं, तो नपुंसक की उत्पत्ति होती है ॥ ३० ॥

बिन्दौ जीवसञ्चारः

पूर्वकर्मानुरूपेण मोहपाशेन यन्त्रितः।
कश्चिदात्मा तदा तस्मिन् जीवभावं प्रपद्यते॥ ३१ ॥

तस्मिन् बिन्दौ जीवसञ्चारमाह पूर्वेति । पूर्वजन्मशतसञ्चितकर्मणां मध्ये फलदानोन्मुखं प्रबलमेकं पुण्यपापात्मकं सुखदुःखोभयात्मकफलकं मनुष्यशरीरोपभोगयोग्यं यत् कर्म तदनुरूपेण मोहपाशेन अविद्यारूपेण यन्त्रितो बद्धः उत्पद्यते । एतेन नित्यस्यात्मनोऽनुत्पत्तिरुक्ता । गृहमिव देहमात्मा प्रविष्ट इत्यर्थः । कश्चिदिति । 'नानात्मानो व्यवस्थातः' इति कणादसूत्रानुसारात् । 'पुरुषबहुत्वं सिद्धम्' इति सांख्योक्तेश्च । वेदान्तनये तु अविद्याकल्पितो भेदोऽङ्गीकर्त्तव्यः । अन्यथा यद्यात्मज्ञानेनाविद्या नष्टा तदा—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।

इति वचनात् पूर्वसञ्चितकर्मणां फलदानासामर्थ्यादग्रिमकर्मनिर्लेप एव नास्ति ।

न लिप्यते कर्मभिः स पद्मपत्रमिवाम्भसा ।

इति वचनात् तस्यैकत्वात् मुक्तत्वाच्च अवतार एव न स्यात् । इत्यवतारकारणं मोहपाशेनेत्युक्तम् । तदुक्तमध्यात्मविवेके—

अस्ति ब्रह्म चिदानन्दं स्वयंज्योतिर्निरञ्जनम् ।
सर्वशक्तिः च सर्वज्ञं तदंशा जीवसंज्ञकाः ॥
अनाद्यविद्योपहिता यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गकाः ।
दीर्घाद्युपाधिसंभिन्नास्ते कर्म्भभिरनादिभिः ॥
सुखदुःखप्रदैः पुण्यपापरूपैर्नियन्त्रिताः ।
तत्तज्जातियुतं देहमायुर्भोगञ्च कर्मजम् ॥
प्रतिजन्म प्रपद्यन्ते । इति ॥ ३१ ॥

अब उस **बिन्दु में जीव सञ्चार की प्रक्रिया का वर्णन** करते हैं—

पूर्वजन्म के किये गये सञ्चित कर्मों (में जब फलदानोन्मुख कोई प्रबल पुण्यपापात्मक कर्म जिसका फल सुख दुःख अथवा उभयात्मक है और जो मनुष्य शरीर के द्वारा भोगा जा सकता है, उस कर्म) के अनुरूप (अविद्या रूप) मोहपाश से बँधने के कारण जीव शरीर में प्रविष्ट होता है, (मनुष्य जैसे घर में प्रवेश करता है, उसी प्रकार कर्म पाश में बँधा हुआ जीव भोगायतन शरीर में प्रवेश करता है) इस प्रकार आत्मा जीवभाव को प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥

गर्भाशये जीवसञ्चारः

अथ मात्राहृतैरन्नपानाद्यैः पोषितः क्रमात् ।

गर्भस्थजन्तोर्वृद्धिक्रमः

दिनात् पक्षात् ततो मासाद् वर्द्धते तत्त्वदेहवान् ॥ ३२ ॥

अथेति । अत्र प्रकारो योगार्णवे—

आविश्य भुक्तमाहारं स वायुः कुरुते द्विधा ।
संप्रविश्यान्त्रमध्यस्थं पृथक् किट्टं पृथग् जलम् ॥
अग्नेरूर्द्ध्वं जलं स्थाप्य तदन्नञ्च जलोपरि ।
जलस्याधः स्वयं प्राणः स्थित्वाग्निं धमते शनैः ॥
वायुना व्यूह्यमानोऽग्निरत्युष्णं कुरुते जलम् ।
अन्नं तदुष्णतोयेन समन्तात् पच्यते पुनः ॥
द्विधा भवति तत् पक्वं पृथक् किट्टं पृथग् रसम् ।
रसेन तेन ता नाडीः प्राणः पूरयते पुनः ॥
प्रतर्पयन्ति सम्पूर्णास्ताश्च देहं समन्ततः ।
मातू रसवहा नाडी मनुविद्धा पराभिधा ॥
नाभिस्थनाडीगर्भस्य मात्राहृतरसावहा । इति ।

दिनादिति । तदुक्तम्—

त्रसरेणुद्वयं जन्तुः क्षणमात्रेण वर्द्धते ।
नाडिकामात्रतो यूका युगलञ्च मुहूर्त्ततः ।
यूकानां वेदसंख्यञ्च दिनमात्राद् यवद्वयम् ॥ इति ।

योगार्णवे च—

कललं चैकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।
शोणितं दशरात्रेण मांसपेशी चतुर्दशे ॥
घनमांसञ्च विंशाहे पिण्डीभावोपलक्षितम् ।
पञ्चविंशति पूर्णाहि पलं सर्वाङ्कुरायते ॥
एकमासे तु सम्पूर्णे पञ्चभूतानि धारयेत् ।
मासद्वये तु सम्प्राप्ते शिरोमेदः प्रजायते ॥
मज्जास्थि च त्रिभिर्मासैः केशाङ्गुल्यश्चतुर्थके ।
कर्णाक्षिनासिकानाञ्च रन्ध्रं मासे तु पञ्चमे ॥
आस्यरन्ध्रोदरं षष्ठे पायुरन्ध्रञ्च सप्तमे ।
सर्वाङ्गसन्धि सम्पूर्णं मासैरष्टभिरिष्यते ॥ इति ।

अध्यात्मविवेके तु विशेषः—

द्रवत्वं प्रथमे मासे कललाख्यं प्रजायते ।
द्वितीये तु घनः पिण्डः पेशी षड्घनमर्वुदम् ॥
पुंस्त्रीनपुंसकानां तु प्रायोऽवस्थाः क्रमादिमाः ।
तृतीये त्वङ्कुराः पञ्च कराङ्घ्रिशिरसो मताः ॥

अङ्गप्रत्यङ्गभागाश्च सूक्ष्माः स्युर्युगपत्तदा ।
विहाय श्मश्रुदन्तादीन् जन्मानन्तरसम्भवान् ॥
एषा प्रकृतिरन्या तु विकृतिः सम्मता सताम् ।
चतुर्थे व्यक्तता तेषां भावानामपि जायते ॥
मातृजञ्चास्य हृदयं विषयानभिकाङ्क्षति ।
अतो मातुर्मनोऽभीष्टं कुर्याद् गर्भविवृद्धये ॥
ताञ्च द्विहृदयां नारीमाहुर्दोहदिनीं बुधाः ।
अदानाद्दोहदानां स्युर्गर्भस्य व्यङ्गतादयः ॥
मातुर्यद्विषयालाभस्तदार्त्तो जायते सुतः ।
गर्भः स्यादर्थवान् भोगी दोहदाद् राजदर्शने ॥
अलङ्कारे सुललितो धर्मिष्ठस्तापसाश्रमे ।
देवतादर्शने भक्तो हिंस्रो भुजगदर्शने ॥
गोधाशने तु निद्रालुर्बली गोमांसभक्षणे ।
माहिषेण तु रक्ताक्षं लोमशं सूयते सुतम् ॥
प्रवृ(बु)द्धं पञ्चमे पिण्डं (त्तं) मांसशोणितपुष्टता ।
षष्ठेऽस्थिस्नायुनखरकेशरोमविविक्तता ॥
बलवर्णौ चोपचितौ सप्तमे त्वङ्गपूर्णता ।
अष्टमे त्वक्श्रुती स्यातामोजश्चेतश्च हृद्भवम् ॥
शुद्धमापीतरक्तञ्च निमित्तं जीविते मतम् ।
पुनरम्बां पुनर्गर्भं चञ्चलं तत् प्रधावति ॥
अतो जातोऽष्टमे मासे न जीवत्योजसोज्झितः ॥ इति ।

याज्ञवल्क्योऽपि— पुनर्धात्रीं पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति ।
अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ इति ।

एवं यदा ओजो बाले भवेत्तदा माता न जीवतीति ज्ञेयम् । यदा तूभयोर्हृदि तदोजो न स्यात् तदोभयोरपि जीवनं नेति ज्ञेयम् । तत्त्वदेहवान् चतुर्विंशति तत्त्वात्मकशरीरः । तत्त्वान्यनन्तरमेव वक्ष्यति ॥ ३२ ॥

वहाँ वह माता के द्वारा खाये गये अन्न से पोषित होकर क्रमशः दिन पक्ष और एक महीने में (चतुर्विंशति) तत्त्वात्मक शरीर धारण कर वृद्धि को प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

दोषदूष्यनिरूपणम्

दोषैर्दूष्यैः सुखं प्राप्तो व्यक्तिं याति निजेन्द्रियैः ।
वातपित्तकफा दोषा दूष्याः स्युः सप्त धातवः ।
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि तान् विदुः ॥ ३३ ॥

दोषैरिति । सुखं यथा स्यात् तथा दोषैः दूष्यैः प्राप्तः निजेन्द्रियैर्व्यक्तिं याति । अनेनाष्टममासपर्यन्तं वृद्धिरुक्ता । दोषादीनेवाह वातेति । तानिति धातून् । एषां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणता ज्ञेया । तदुक्तं सुश्रुते—

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः ।
भवन्त्यन्योन्यतः सर्वे प्रचिताः पित्ततेजसा ॥ इति ।

ननु कथं त्वचोऽसृजं प्रति कारणता इति चेत् सत्यम् । त्वगसृजी तु रसत उत्पन्ने ।

तदुक्तम्—रसः न नाडीमध्यस्थः शारीरेणोष्मणा भृशम् ।
पच्यते पच्यमानाच्च भवेत् पाकद्वयं पुनः ।
चर्मविष्ट्य समन्ताच्च रुधिरञ्च प्रजायते ॥ इति ।

अन्यत्रापि—त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिः मज्जशुक्राणि धातवः ।
सप्त स्युस्तत्र चोक्ता त्वक् रक्तं जाठरवह्निना ॥
पक्वाद्भवेदन्नरसादेवं रक्तादिभिस्तथा ।
स्वस्वकोशाग्निना पक्वैर्जन्यन्ते धातवः क्रमात् ॥ इति ।

नारायणीये तु त्वगित्यादि पठित्वा रसासृगिति पठन्त्येके इत्युक्तम् ॥ ३३ ॥

वह सुखपूर्वक क्रमेण वात, पित्त, कफ तथा सप्त धातुओं को प्राप्त कर धीरे-धीरे अपने इन्द्रियों के द्वारा अभिव्यक्त होता है । वात, पित्त एवं कफ की 'दोष' संज्ञा है और सप्त धातुओं की 'दूष्य' संज्ञा है । वे सप्त धातु १. त्वक्, २. असृङ्, ३. मांस, ४. मेद, ५. अस्थि, ६. मज्जा और ७. शुक्र नामों से कहे गये हैं ॥ ३३ ॥

इन्द्रियव्यापारनिरूपणम्

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रं त्वग् दृग् जिह्वा नासिका विदुः ।
ज्ञानेन्द्रियार्थाः शब्दाद्याः स्मृताः कर्मेन्द्रियाण्यपि ॥ ३४ ॥
वाक्पाणिपादपायूपस्थसंज्ञान्याहुर्मनीषिणः ।
वचनादानगतयो विसर्गानन्दसंयुताः ॥ ३५ ॥

अन्तःकरणस्य चातुर्विध्यम्

कर्मेन्द्रियार्थाः संप्रोक्ता अन्तःकरणमात्मनः ।
मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तञ्च परिकीर्तितम् ॥ ३६ ॥

व्यक्तिं याति निजेन्द्रियैरित्युक्तम् । तानीन्द्रियाणि तत्प्रसङ्गात्तेषां विषयानप्याह ज्ञानेति । अर्थशब्दो विषयवाची उभयत्रापि । शब्दाद्याः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । पूर्वं भूतगुणेषु उक्तेरत्रादिनोक्तिः इत्यवधेयम् । अन्धु लिङ्गम् । आत्मनः ग्राहकमिति शेषः। तेन मनसो विषय आत्मा इत्युक्तं भवति । अन्तःकरणस्यैव चातुर्विध्यमाह मन इत्यादिना । तत्र सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनः । सर्वभावनिश्चयकारिणी बुद्धिः । ज्ञात्रभिमानयुक्तोऽहङ्कारः । निर्विकल्पकं चित्तम् । इत्येतेषां भेदः । तदुक्तम्—

एषा शक्तिः परा जीवरूपिणी प्रोक्तलक्षणा ।
सङ्कल्पञ्च विकल्पञ्च कुर्वाणा तु मनो भवेत् ॥
बुद्धिरूपा तथा सर्वभावनिश्चयकारिणी ।
ज्ञात्र्यस्मीत्यभिमानाद्या सैवाहङ्कारसंज्ञिता ॥

निर्विकल्पात्मिका सैव खलु चित्तस्वरूपिणी ।
एवमेकैव बहुधा नर्त्तकीव प्रतीयते ॥ इति ॥ ३४-३६ ॥

१. कान, २. त्वक्, ३. नेत्र, ४. जिह्वा और ५. नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कही गई हैं । इन ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये विषय हैं । अब कर्मेन्द्रियों को कहता हूँ ॥ ३४ ॥

वाणी (मुख) हाथ, पैर, गुदा और लिङ्ग नाम से विद्वानों ने इन्हें अभिहित किया है । इनका क्रम से बोलना, ग्रहण करना, चलना, मलत्याग करना और आनन्द करना यह काम कहा गया है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार हमने कर्मेन्द्रियों एवं उनसे किये जाने वाले कार्यों को कहा है । मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा चित्त के भेद से अन्तःकरण के चार भेद कहे गये हैं ॥ ३६ ॥

सांख्योक्त-तत्त्वकथनम्

दशेन्द्रियाणि भूतानि मनसा सह षोडश ।
विकाराः स्युः प्रकृतयः पञ्च भूतान्यहङ्कृतिः ॥ ३७ ॥
अव्यक्तं महदित्यष्टौ तन्मात्राश्च महानपि ।
साहङ्कारा विकृतयः सप्त तत्त्वविदो विदुः ॥ ३८ ॥

एवं पूर्वं भूतानि इन्द्रियाण्यप्युक्त्वा तेषां मिलितानां संज्ञान्तराण्यप्याह दशेति श्लोकद्वयेन । अथवा तत्त्वदेहवानित्युक्तं तानि तत्त्वान्याह दशेति । विकारादि संज्ञास्तत्प्रसङ्गसङ्गत्या उक्ता इति ज्ञेयम् । यद्वा सूचीकटाहन्यायेन दोषान् दूष्यानुक्त्वा तत्त्वदेहवानित्युद्दिष्टानि तत्त्वानि । तानि कानीत्यपेक्षायामाह ज्ञानेत्यादि । कर्मेन्द्रियार्थाः सम्प्रोक्ताः पृथिव्यादय इत्यर्थः । तेन पञ्चभूतानि दशेन्द्रियाणि दशेन्द्रियार्था एवं पञ्चविंशतितत्त्वानि । यदाहुः—

भूतेन्द्रियेन्द्रियार्थैरुद्दिष्टस्तत्त्वपञ्चविंशतिकः । इति ।

अथच विसर्गानन्दसंयुता इति भिन्नपदकरणेन पायूपस्थयोः विसर्गस्यैव कार्यत्वात् आनन्दरहितत्वेन चतुर्विंशतिरेव तत्त्वमुक्तं भवति । यदाहुः—

व्यानन्दकैश्च तैरपि तत्त्वचतुर्विंशतिस्तथा प्रोक्ता । इति ।

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तञ्च इत्यनेन वचनादिव्यावर्त्तनेन एतच्चतुष्टययुक्तत्वेन चतुर्विंशतिर्वा तत्त्वानि इत्युक्तं भवति । यदाहुः—

करणोपेतैरेतैस्तत्त्वान्युक्तानि रहितवचनाद्यैः । इति ।

सांख्यमतोक्तचतुर्विंशतितत्त्वानि वदन् तेषां कियतामपि तत्प्रसिद्धाः संज्ञा अप्याह दशेति । अनेन दशेन्द्रियाणि पञ्चभूतानि पञ्चतन्मात्राः मनः अहङ्कारः बुद्धिः प्रधानं प्रकृतिरिति चतुर्विंशतितत्त्वानि इत्युक्तम् । ग्रन्थकृदेव पञ्चमे वक्ष्यति—

पञ्च भूतानि तन्मात्रा इन्द्रियाणि मनस्तथा ।
गर्वो बुद्धिः प्रधानञ्च मैत्राणीति विदुर्बुधाः ॥ इति ।

विकाराः स्युरित्येषां नित्यकार्यरूपत्वेन विकारता । अष्टौ प्रकृतय इति सम्बन्धः । उत्तरोत्तरं प्रतिकारणत्वादेषां प्रकृतित्वम् । अत्र भूतानीति भूतशब्देन तन्मात्रा उच्यन्ते । कारणे कार्योपचारात् । भूतानां केवलकार्यत्वेन विकारेषूक्तत्वात् । अग्रे तन्मात्रा इति परामर्शाच्च । यदाहुः—

अप्राकृतिकानि सप्त प्रकृतिविकृतिसंज्ञकानि स्युः । इति ।

अव्यक्तं प्रधानापरपर्याया प्रकृतिरित्यर्थः । अव्यक्तं महदिति । छन्दोऽनुरोधाद् गोपनार्थं वा व्यत्ययः । साव्यक्तं महदिति वा पाठः । यतोऽत्र संहारक्रमो विवक्षितः।

यदाहुः—चतुर्विंशतितत्त्वानि प्रकृत्यन्तानि संजगुः । इति ।

अन्यत्र सृष्टिक्रमापेक्षयोक्तम् अव्यक्तं महदहङ्कृतिभूतानीति । तन्मात्राश्च इति। साहङ्कार इति तन्मात्रविशेषणं तेन व्यत्ययः । चकारेण प्रकृतय इत्यस्य समुच्चयः । तेनैते सप्तप्रकृतिविकृतिशब्दवाच्या इत्यर्थः । उत्तरोत्तरं प्रति पूर्वपूर्वस्य प्रकृतिभूतत्वात् पूर्वपूर्वं प्रति उत्तरोत्तरस्य विकृतिभूतत्वादेषां प्रकृतिविकृतित्वम् ।

यदाहुः— मूलप्रकृति रविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ इति ।

उपसंहरति तत्त्वविदो विदुरिति। अयमर्थः । ज्ञानेन्द्रियाणीत्यादि एतदन्तं यत्तत्त्वनिरूपणं मया कृतं तत् तत्त्वविदामपि सम्मतमिति । अथ वा तत्त्वविदो विदुरित्यनेन पूर्वप्रकारत्रयोक्ततत्त्वानि नास्मत्सम्मतानि । अपितु एतानि प्रकृत्यन्तान्येव चतुर्विंशतितत्त्वानि । पुरुषान्तानि पञ्चविंशतिः । परान्तानि षड्विंशतिः अस्मत्सम्मतानीत्युक्तं भवति । इयं योजना साम्प्रदायिकी । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—

त्रयोविंशतितत्त्वेभ्यः परा प्रकृतिरुच्यते ।
प्रकृतेस्तु परं प्राहुः पुरुषं पञ्चविंशकम् ॥
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ।
तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥ इति ।

केचनान्यथा योजयन्ति । भूतादिकाहङ्कारसृष्टिमुक्त्वा तैजसादिन्द्रियाण्यासन् इत्युद्दिष्टानीन्द्रियाणि तत्प्रसङ्गात्तेषां विषयानप्याह ज्ञानेत्यादि परिकीर्त्तितमित्यन्तेन । उत्तरव्यवहारशेषतया केषाञ्चिन्मन्त्राणां वर्णतत्त्वन्यासयोगादिशेषतया च विकारादि दर्शयति दशेत्यादि । तत्त्वविद इदं विदुः । एषां तत्रान्तर्भावात् तत्त्वविद्भिरेताः संज्ञाः कृता इत्यर्थः ॥ ३७-३८ ॥

दश इन्द्रियाँ, पञ्च महाभूत और मन—ये १६ विकार हैं । पञ्चभूत, अहङ्कार महत्तत्व और अव्यक्त—ये आठ प्रकृतियाँ हैं । पञ्चतन्मात्रा, महत्तत्व और अहङ्कार—ये सात विकृतियाँ हैं—ऐसा तत्त्ववेत्ता लोग कहते हैं ॥ ३७-३८ ॥

देहस्य अग्नीषोमात्मकत्वम्

अग्नीषोमात्मको देहो बिन्दुर्यदुभयात्मकः।
दक्षिणांशः स्मृतः सूर्यो वामभागो निशाकरः॥ ३९ ॥

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह अग्नीति । देहः अग्नीषोमात्मकः । कुत इत्यपेक्षायां हेतुमाह यद् यस्मात् कारणादुभयात्मको बिन्दुः । शुक्रमग्निरूपं रक्तं सोमरूपम् एतदात्मकः । यदाहुः—

कलाषोडशकश्चन्द्रः स्याद् द्वादशकलो रविः ।
कलादशयुतो वह्निः कलाष्टत्रिंशदंशभुक् ॥
सप्त(अष्ट)त्रिंशद् भवन्तीह गर्भाधानस्य हेतवे ।
अग्नीषोमात्मकं तेन गीयते सचराचरम् ॥
कलांशकेन योगेन भूयाद् गर्भस्य सम्भवः ॥ इति ।

एवमप्यग्नीषोमात्मकत्वमित्यर्थः । अग्नीषोमात्मको देहः इत्युक्तम् । तयोः प्रयोगादिविशेषतया देशविशेषे व्यवहाराय स्थितिमाह दक्षिणांश इति । अत्र शास्त्रे दक्षिणभागः क्वचिदग्निशब्देन क्वचित् सूर्यशब्देनापि व्यवह्रियते । 'अग्नेर्यो दक्षिणो भागः' इत्युक्तेः । वायवीयसंहितायामपि—

द्विधा वै तैजसी वृत्तिः सूर्यात्मा चानलात्मिका । इति ॥ ३९ ॥

यह शरीर अग्नीषोमात्मक है, क्योंकि जिस बिन्दु से यह शरीर बना है, उसमें शुक्र शोणित का संयोग है । शुक्र अग्नि स्वरूप है और शोणित सोमात्मक है । इस प्रकार शरीर अग्नीषोमात्मक हुआ । अब शरीर में अग्नीषोमा का स्थान निर्देश करते हैं, इस शरीर का दाहिना भाग सूर्य या अग्नि है और बायाँ भाग चन्द्रमा है ॥ ३९ ॥

नाडीनिरूपणम् । इडादिस्थितिस्वरूपम्

नाडीर्दश विदुस्तासु मुख्यास्तिस्त्रः प्रकीर्त्तिताः।
इडा वामे तनोर्मध्ये सुषुम्णा पिङ्गला परे॥ ४० ॥

पूर्वोक्तसूर्यनिशाकरयोः स्थितिमुपपादयितुं शरीरे नाडीराह नाडीरिति । तासु अनन्तासु दशनाडीः मुख्या विदुरित्यन्वयः । नाड्योऽनन्ता इति वक्ष्यमाणत्वात् । तासु दशस्वपि तिस्रो मुख्याः प्रकीर्त्तिताः । तासु मुख्या इति पदस्य चावृत्त्या योजना । प्रकीर्त्तिता इत्यस्योपादानमन्यथा विदुरित्यनेनैव गतार्थत्वात् । उक्तञ्च तत्राद्यास्तिस्त्रः । अत्रावृत्तिकरणं मुख्यतमाः स्मृता इति । तासामेव स्थितिमाह इडेति । तनोरिति त्रिषु स्थानेषु सम्बध्यते । वामे इडा वाममुष्कोत्था धनुर्वक्रा सती वामनासापर्यन्तं गतेत्यर्थः। तनोर्मध्ये पृष्ठवंशान्तर्गता सुषुम्णा । 'या मुण्डाधारदण्डान्तरविवरगता' इत्युक्तेः । परे दक्षिणे दक्षिणमुष्कोत्था धनुर्वक्रा दक्षिणनासापर्यन्तं गतेत्यर्थः । यदाहुः—

या वाममुष्कसम्बद्धा सा श्लिषन्ती सुषुम्णया ।
दक्षिणं बृक्कमाश्रित्य धनुर्वक्रा हृदि स्थिता ॥
वामांशजत्र्वन्तरगा दक्षिणां नासिकामियात् ।
यथा दक्षिणमुष्कोत्था नासाया वामरन्ध्रगा ॥ इति ।

तन्त्रान्तरेऽपि— सुषुम्णाकल्पिता याता मुष्कं दक्षिणमाश्रिता ।
हृद्गता वामभागस्य जत्रुमध्यं समाश्रिता ॥

दक्षिणं नासिकाद्वारं प्राप्नोति गिरिजात्मजे ।
वाममुष्कसमुद्भूता तथाऽन्या सव्यनासिकाम् ॥ इति ।

अनयोः स्वरूपमुक्तं योगार्णवे—

इडा च शङ्खकुन्दाभा तस्याः सव्ये व्यवस्थिता ।
पिङ्गला सितरक्ताभा दक्षिणं पार्श्वमाश्रिता ॥ इति ।

अनेन पिङ्गलेडयोः क्रमेण सूर्याचन्द्रमसोः स्थितिरुक्ता भवति ।

'इडायां सञ्चरेच्चन्द्रः पिङ्गलायां दिवाकरः'—इत्युक्तेः ॥ ४० ॥

ऐसे तो शरीर में अनन्त नाडियाँ हैं, किन्तु उसमें दश मुख्य नाडियाँ हैं, उन दशों में भी तीन नाड़ियाँ मुख्यतम हैं—१. शरीर के मध्य में **इडा** वाम अण्डकोश से धनुष के समान वक्र होकर बाईं नासिका तक जाती है । २. शरीर के मध्य में **सुषुम्ना** पीठ की ओर से दण्डाकार रीढ़ की हड्डी से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। ३. पिङ्गला दाहिने अण्डकोश से धनुषाकार वक्र होकर दाहिनी नासिका पर्यन्त जाती है ॥ ४० ॥

मध्या तास्वपि नाडी स्यादग्नीषोमस्वरूपिणी ॥ ४१ ॥

सुषुम्णाया मुख्यत्वं वदन् तत्स्वरूपमाह मध्येति । तास्वपीत्यपिशब्दात् मुख्येत्यनुषज्यते । तासु तिसृषु मध्या सुषुम्णा मुख्या । 'सुषुम्णैव च तासु नाडी' इत्युक्तेः । सा कीदृशी अग्नीषोमस्वरूपिणी । मुख्यत्वे हेतुत्वेन योज्यम् । यतः पूर्वोक्तसोमाग्निरूपयोरिडापिङ्गलयोः अत्रैव लयात् । तदुक्तं—'राहोरास्यगतः' इति। अनेनास्या ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं स्थितिरित्यप्युक्तम् । यदाहुः—

तयोः पृष्ठवंशमाश्रित्य मध्ये सुषुम्णा स्थिता ब्रह्मरन्ध्रं तु यावत् ।

इति ॥ ४१ ॥

सुषुम्ना नाड़ी इडा और पिङ्गला के मध्य में रहती है, यह तीनों नाड़ियों में सबसे मुख्य है, जो अग्निषोमात्मिका है । ऊपर हम कह आये हैं कि यह पीठ की ओर से ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है ॥ ४१ ॥

गान्धारी हस्तिजिह्वा च सुपूषालम्बुषा मता ।
यशस्विनी शङ्खिनी च कुहूः स्युः सप्तनाडयः ॥ ४२ ॥

शिष्टानां सप्तानां नामान्याह गान्धारीति । आसां स्थितिस्वरूपञ्चोक्तम् योगार्णवे—

इडापृष्ठे तु गान्धारी मयूरगलसन्निभा ।
सव्यपादादिनेत्रान्ता गान्धारी परिकीर्त्तिता ॥
हस्तिजिह्वोत्पलप्रख्या नाडी तस्याः पुरःस्थिता ।
सव्यभागस्य मूर्द्धादिपादाङ्गुष्ठान्तमाश्रिता ॥
पूषा तु पिङ्गलापृष्ठे नीलजीमूतसन्निभा ।
याम्यभागस्य नेत्रान्ताद् यावत् पादतलं गता ॥

अलम्बुषा पीतवर्णा कण्ठमध्ये व्यवस्थिता ।
यशस्विनी शङ्खवर्णा पिङ्गलापूर्वदेशगा ॥
गान्धार्याश्च सरस्वत्या मध्यस्था शङ्खिनी मता ।
सुवर्णवर्णा पादादि कर्णान्ता सव्यभागके ॥
पादाङ्गुष्ठादिमूर्द्धान्तं याम्यभागे कुहूर्मता । इति ।

अन्यैस्तु वारणा सरस्वती विश्वोदरा पयस्विनी एता अपि मुख्यत्वेनोक्ताः । यदाहुः—

ताश्च भूरितरास्तासु मुख्याः प्रोक्ताश्चतुर्दश: ।
सुषुम्णेडापिङ्गला च कुहूरथ सरस्वती ॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च वारणा च यशस्विनी ।
विश्वोदरा शङ्खिनी च ततः पूषा पयस्विनी ॥
अलम्बुषा । इति ।

अन्यत्रापि—चतुर्दशात्र यद्देहे प्राधाना नाडयः स्मृताः । इति ।

आसां ध्यानं संस्थानञ्च ग्रन्थगौरवभयान्नोक्तम् । मुख्या इत्यनेनैव सूचिताः ॥ ४२ ॥

ऊपर दश नाडियाँ मुख्य हैं, यह कह आये हैं जिसमें तीन का विवरण दिया गया शेष सात नाडियों के नाम का निर्देश करते हैं—१. गान्धारी, २. हस्तिजिह्वा, ३. सुपूषा, ४. अलम्बुषा, ५. यशस्विनी, ६. शङ्खिनी और ७. कुहू—ये सात नाडियाँ है ॥ ४२ ॥

नाड्योऽनन्ताः

नाड्योऽनन्ताः समुत्पन्नाः सुषुम्णापञ्चपर्वसु ।
मूलाधारोद्गतप्राणस्ताभिर्व्याप्नोति तत्तनुम् ॥ ४३ ॥

एवं मुख्या नाडीरुक्त्वा सामान्या आह नाड्य इति । सुषुम्णापञ्चपर्वसु अनन्तानाड्यः समुत्पन्नाः । पञ्चपर्वाणि स्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धाज्ञान्तानि । तत्राधोधोग्रन्थिमारभ्योर्द्ध्वोर्द्ध्वग्रन्थिपर्यन्तं पर्वसमाप्तिः । यद्यपि 'ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी' इति कोशः 'इक्षुपर्वविधिः स्मृतः' इति व्यवहारश्च तथाप्यत्र षण्णां ग्रन्थीनां सत्त्वादेवं व्याख्यातम् । आश्वलायनश्रौतसूत्रभाष्यकारेण 'पर्वण्यं जपेत्' इत्यत्र पर्वशब्दस्यैवं व्याकृतत्वात् । एतदभिप्रायेणैव वक्ष्यति 'मध्वमाङ्गुलिपर्वणि' इति । सुषुम्णायामेतेषु पर्वसु इडापिङ्गलयोर्योगो भवतीति ज्ञेयम् । अनन्ता इति गणयितुमशक्यत्वादानन्त्यम् । यदाहुः—

पूर्वोक्तायाः सुषुम्णाया मध्यस्थायाः सुलोचने ।
नाभिहृत्कण्ठदेशभ्रू मध्यपर्वसमुद्भवाः ॥
अधोमुख्यः शिराः काश्चित् काश्चिदूर्द्ध्वमुखास्तथा ।
परास्तिर्यग्गतास्याश्च तत्र लक्षत्रयाधिकाः
नाड्योऽर्द्धलक्षसंख्याताः प्रधानाः समुदीरिताः ।
तासु सर्वासु बलवान् प्राणो वायुः समन्ततः ॥
संस्थितः सर्वदा व्याप्तः । इति ।

अध्यात्मविवेके तु विशेषः—

अस्थ्नां शरीरे संख्या स्यात् षष्टियुतं शतत्रयम् ।
त्रीण्येवास्थिशतान्यत्र धन्वन्तरिरभाषत ॥
द्वे शते त्वस्थिसन्धीनां स्यातामत्र दशोत्तरे ।
पेशीस्नायुशिरासन्धिः सहस्रद्वितयं मतम् ॥
नव स्नायुशतानि स्युः पञ्चपेशीशतान्यपि ।
अधिका विंशतिः स्त्रीणां स्तनयोर्दिग् भगे दश ॥
शिराधमनिकानान्तु लक्षाणि नवविंशतिः ।
सार्द्धानिस्युर्नवशती षट्पञ्चाशद्युता तथा ॥ इति ।

तन्नाडीनां फलमाह मूलेति । वक्ष्यमाणेभ्यो भिन्नो मुख्यो देहधारकप्राणाभिधो वायुः । यदाहुः—

राजसः प्राणसंज्ञस्यान्मुख्यो देहस्य धारकः ।
तद्भेदा दश विख्याता यैर्व्याप्तं स्याच्छरीरकम् ॥ इति ।

सा चासौ तनुश्च ताम् पूर्वोक्तं शरीरम् ॥ ४३ ॥

सुषुम्ना नाडी में स्वाधिष्ठान, मणिपूर अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र—ये पाँच पर्व हैं, इन पर्वों से अनन्त नाडियाँ उत्पन्न हुई हैं । मूलाधार से उद्गत प्राण इन नाडियों से सारे शरीर में व्याप्त रहता है ॥ ४३ ॥

दशवायवः । दशाग्नयः

वायवोऽत्र दश प्रोक्ता वहनयश्च दश स्मृताः।
प्राणाद्या मरुतः पञ्च नागः कूर्मो धनञ्जयः॥ ४४ ॥
कृकलः स्याद् देवदत्त इति नामभिरीरिताः।
अग्नयो दोषदूष्येषु संलीना दश देहिनः॥ ४५ ॥

तद्भेदान् वदन् प्रसङ्गादग्नीनप्याह—वायवोऽत्रेति । तन्नामान्येवाह प्राणाद्या इति । आदिशब्देनापानव्यानोदानसमानाः प्रसिद्धत्वेनादिनोक्तिः । तत्र विशेषो योगार्णवे—

इन्द्रनीलप्रतीकाशं प्राणरूपं प्रकीर्त्तितम् ।
आस्यनासिकयोर्मध्ये हृन्मध्ये नाभिमध्यगे ॥
प्राणालय इति प्राहुः पादाङ्गुष्ठेऽपि केचन ।
अपानयत्यपानोऽयमाहारञ्च मलायितम् ॥
शुक्रं मूत्रं तथोत्सर्गमपानस्तेन मारुतः ।
इन्द्रगोपप्रतीकाशः सन्ध्याजलदसन्निभः ॥
स च मेढ्रे च पायौ च ऊरुवङ्क्षणजानुषु ।
जङ्घोदरे कृकाट्याञ्च नाभिमूले च तिष्ठति ॥
व्यानो व्यानशयत्यन्नं सर्वव्याधिप्रकोपनः ।
महारजतसुप्रख्यो हानोपादानकारकः ॥

स चाक्षिकर्णयोर्मध्ये काट्यां वै गुल्फयोरपि ।
घ्राणे गले स्फिगुद्देशे तिष्ठत्यत्र निरन्तरम् ॥
स्पन्दयत्यधरं वक्त्रं गात्रनेत्रप्रकोपनः ।
उद्वेजयति मर्माणि उदानो नाम मारुतः ॥
विद्युत्पावकवर्णः स्यादुत्थानासनकारकः ।
पादयोर्हस्तयोश्चापि स तु सन्धिषु वर्त्तते ॥
पीतं भक्षितमाघातं रक्तपित्तकफानिलान् ।
समं नयति गात्राणि समानो नाम मारुतः ॥
गोक्षीरसदृशाकारः सर्वदेहे व्यवस्थितः ।
उद्गारे नाग इत्युक्तो नीलजीमूतसन्निभः ॥
उन्मीलने स्थितः कूर्म्मा भिन्नाञ्जनसमप्रभः ।
कृकरस्तु क्षुते चैव जवाकुसुमसन्निभः ॥
विजृम्भने देवदत्तः शुद्धस्फटिकसन्निभः ।
धनञ्जयस्तथा घोषे महारजतवर्णकः ॥
ललाटे चोरसि स्कन्धे हृदि नाभौ त्वगस्थिषु ।
नागाद्या वायवः पञ्च सहैव परिनिष्ठिताः ॥ इति ।

आचार्यास्तुधनञ्जयाख्यो देहेऽस्मिन् कुर्यात् बहुविधान् रवान् ।
स तु लौकिकवायुत्वान्मृतञ्च न विमुञ्चति ॥ इति ।

अन्यैस्तु चत्वारो वायवोऽधिका उक्ताः ।

वैरम्भणः स्थानमुख्यः प्रद्योतः प्रकृतस्तथा ।
वैरम्भणादयस्तत्र सर्ववायुवशङ्गताः ॥ इति

अग्नीनां स्थितिमाह अग्नय इति । तेषां नामान्यन्यत्रोक्तानि—

ते जातवेदसः सर्वे कल्माषः कुसुमस्तथा ।
दहनः शोषणश्चैव तपनश्च महाबलः ॥
पिठरः पतगः स्वर्णस्त्वगाधो भ्राज एव च । इति ।

अन्यत्र तु नामान्तराण्युक्तानि—

जृम्भको दीपकश्चैव विभ्रमभ्रमशोभनाः ।
आवसथ्याहवनीयौ च दक्षिणाग्निस्तथैव च ॥
अन्वाहार्यो गार्हपत्य इत्येते दश वह्नयः । इति ।

अन्यैरन्यथोक्तानि— भ्राजको रञ्जकश्चैव क्लेदकः स्नेहकस्तथा ।
धारको रन्धकश्चैव द्रावकाख्यश्च सप्तमः ॥
व्यापकः पावकश्चैव श्लेष्मको दशमः स्मृतः । इति ।

दोषा वातपित्तकफाः । दूष्याः सप्त धातव इति प्रागेवोक्तम् ॥ ४४-४५ ॥

इस शरीर में दश वायु हैं और दश अग्नियाँ भी हैं । प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान ये पाँच प्राण हैं । इनको नाग, कूर्म, धनञ्जय, कृकल और

देवदत्त नाम से भी कहा गया है । दश अग्नियाँ प्राणियों के शरीर में रहने वाले वात, कफ एवं पित्त में तथा सप्त धातुओं में छिपी हुई रहती हैं ॥ ४४-४५ ॥

षडूर्मयः

बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनसः स्मृतौ ।
शोकमोहौ शरीरस्य जरामृत्यू षडूर्मयः ॥ ४६ ॥

एवं प्राणमुक्त्वा तस्य विशिष्टे अवस्थे वदन् प्रसङ्गात् मनःशरीरयोरप्याह बुभुक्षेति । ऊर्मिर्नाम आर्त्युत्पादकः अवस्थाविशेषः ॥ ४६ ॥

भूख और प्यास ये प्राण की ऊर्मियाँ हैं, शोक और मोह मन की ऊर्मियाँ हैं और जरा एवं मृत्यु शरीर की ऊर्मियाँ हैं । इस प्रकार कुल ६ ऊर्मियाँ होती हैं (व्याकुलता उत्पन्न करने वाली अवस्था विशेष को ऊर्मि कहते हैं) ॥ ४६ ॥

षट्कोशोत्पत्तिः

स्नाय्वस्थिमज्जा शुक्रात् त्वङ्मांसास्राणि शोणितात् ।
षाट्कौशिकमिदं प्रोक्तं सर्वदेहेषु देहिनाम् ॥ ४७ ॥

षडूर्मिप्रसङ्गात् षाट्कौशिकं वदन् शुक्रशोणितकार्याणि विविच्याचष्टे स्नाय्विति। शुक्रात् पितुः शुक्रात् स्नाय्वादि । शोणितात् मातुः शोणितात् त्वगादि ।

तदुक्तम्— मातृतस्त्रीणि पितृतस्त्रीणि । इति ।

अन्यत्र तु— मृदवः शोणितं मेदो-मांसं-प्लीहा-यकृद्-गुदः ।
हृन्नाभीत्येवमाद्यास्तु भावा मातृभवा मताः ॥
श्मश्रुलोमकचाः स्नायुशिराधमनयोनखाः ।
दशनाः शुक्रमित्यादि स्थिराः पितृसमुद्भवाः ॥ इति ॥ ४७ ॥

पिता के शुक्र से स्नायु, अस्थि और मज्जा का निर्माण होता है, माता के शोणित से त्वक्, मांस और शोणित का निर्माण होता है । इस प्रकार प्राणी के समस्त देह में छः कोशों की स्थिति है ॥ ४७ ॥

जन्तोर्गर्भाशयस्थितिवर्णनम्

इत्थम्भूतस्तदा गर्भे पूर्वजन्मशुभाशुभम् ।

शुक्रशोणितकार्याणि

स्मरंस्तिष्ठति दुःखात्मा च्छन्नदेहो जरायुणा ॥ ४८ ॥

गर्भाशये तत्स्थिति प्रकारमाह इत्थम्भूत इति । इत्थम्भूत ऊर्वन्तरितहस्तबद्धश्रोत्रः मातृपृष्ठमाश्रितो मोक्षोपायमभिध्यायन्नित्यर्थः । यदाहुः—

पाल्यन्तरितहस्ताभ्यां श्रोत्ररन्ध्रे पिधाय सः ।
उद्विग्नो गर्भसंवासादास्ते गर्भे भयान्वितः ॥

स्मरन् पूर्वानुभूताः स नानायोनीश्च यातनाः ।
मोक्षोपायमभिध्यायन् वर्त्ततेऽभ्यासतत्परः ॥ इति ।

अन्यत्र विशेषः— कृताञ्जलिर्ललाटेऽसौ मातृपृष्ठमभिश्रितः ।
अध्यास्ते सङ्कुचद्गात्रो गर्भे दक्षिणपार्श्वगः ॥
वामपार्श्वाश्रिता नारी क्लीबं मध्याश्रितं मतम् । इति ॥ ४८॥

जीव इस प्रकार गर्भ में शरीर धारण कर अपने पूर्व जन्मों के शुभाशुभ कर्म का स्मरण करता हुआ निवास करता है । उसका शरीर जरायु से आच्छन्न रहता है, जिससे वह बहुत दुःखी रहता है ॥ ४८ ॥

बालोत्पत्तिः

कालक्रमेण स शिशुर्मातरं क्लेशयन्नपि ।
सम्पिण्डितशरीरोऽथ जायतेऽयमवाङ्मुखः ॥ ४९ ॥
क्षणं तिष्ठति निश्चेष्टो भीत्या रोदितुमिच्छति ॥ ५० ॥

कालक्रमेणेति । कालक्रममाह याज्ञवल्क्याः—'नवमे दशमे वापि' इति ।

अन्यत्रापि—समयः प्रसवस्याथ मासेषु नवमादिषु । इति ।

सम्पिण्डितशरीरः सङ्कुचद्गात्रः अवाङ्मुखः अधोमुखः सन् जायते उत्पद्यते। सूतिमारुतैर्नूत्र इति शेषः । यदाहुः—

नवमे दशमे मासि प्रबलैः सूतिमारुतैः ।
निःसार्यते वाण इव जन्तुश्छिद्रेण सज्वरः ॥ इति ।

अन्यत्रापि— क्रियतेऽधःशिराः सूतिमारुतैः प्रबलैस्ततः ।
निःसार्यते रुजद्गात्रो योनिच्छिद्रेण बालकः ॥ इति ।

क्षणं निश्चेष्टस्तिष्ठति भूमाविति शेषः ॥ ४९-५० ॥

कालक्रम से (नवें या दसवें महीने) वह शिशु माता को क्लेश पहुँचाते हुए संकुचित गात्र होकर अधोमुख होकर पृथ्वी पर जन्म लेता है । वह कुछ क्षण के लिए भूमि पर निश्चेष्ट रहकर भय से रोने की इच्छा करता है अर्थात् रोने लगता है ॥ ४९-५० ॥

कुण्डलीतो मन्त्रमयजगदुत्पत्तिः

ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वगा विश्वरूपिणी ।
शिवसन्निधिमासाद्य नित्यानन्दगुणोदया ॥ ५१ ॥

एवं शरीरोत्पत्तिपर्यन्तामर्थसृष्टिमुक्त्वा 'तत् प्राप्य' (१. १४) इति सामान्यत उक्तां शब्दसृष्टिं विविच्य वक्तुं भीत्या रोदितुमिच्छति इत्युक्तरोदनस्याप्यव्यक्त-वर्णात्मकत्वाद् वर्णोत्पत्तिप्रकारञ्च वदन् सर्वमन्त्राणां सामान्यतः कुण्डलीत उत्पत्तिमाह तत इत्यादि । तदुक्तम्—

मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः ।
वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरितो वर्णसङ्घः ॥
स्रोतोमार्गस्याविभक्तत्वहेतोस्तत्रार्णानां जायते न प्रकाशः । इति ।

तत्र ततः शरीरोत्पत्त्यनन्तरं चैतन्यरूपा, अतएव शब्दब्रह्ममयी सा देवी कुण्डली परदेवता सर्वगात्रेण गुणिता, अतएव विश्वात्मना सर्वात्मना प्रबुद्धा जातप्रबोधा मन्त्रमयं जगत् सूते इति दूरेण सम्बन्धः । तत्र मूलाधारे कुण्डलीभूत-सर्पवन्नाडी वर्त्तते। तन्मध्ये वायुवशादस्याः सञ्चरणमेव गुणनम् । तत्र चैतन्यरूपा इति स्वरूपाख्यानम् । सा प्रसिद्धाः । सर्वगेति सामान्यतो व्याप्तिर्दर्शिता । विश्वरूपिणीति विषयव्याप्तिः । शिवसन्निधिमासाद्य स्थितेति शेषः । अनेन शैवसिद्धान्ते शक्ति-शब्दवाच्येयमित्युक्तम् । सन्निधिशब्द औपचारिकः। तन्मते शिवशक्त्योरभेदात् । तदुक्तमभिनवगुप्तपादाचार्यैः:-

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव ॥ इति ।

यद्वा सम्यङ्निधिः स्वरूपं शिवस्वरूपं प्राप्य इत्यर्थः । वक्ष्यति च—'पिण्डं भवेत् कुण्डलिनी शिवात्मा' इति । गुणानां सत्त्वरजस्तमसां उदयो यस्यां सा । नित्यानन्दा चासौ गुणोदया च सा । नित्यानन्देत्यनेन कुण्डलिनीस्वरूपमुक्तम् । गुणोदयेत्यनेन सांख्यमते प्रकृतिवाच्येत्युक्तम् । यदाहुः—

प्रधानमिति यामाहुर्याशक्तिरिति कथ्यते । इति ॥ ५१ ॥

कुण्डलीशक्तेर्विभुत्वम्

दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना सर्वदेहानुगा शुभा ।

कुण्डलीशक्तेः स्फूर्त्तिः

परापरविभागेन परशक्तिरियं स्मृता॥ ५२ ॥

अस्या वर्णमयत्वं भूतलिपित्वञ्च

योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसा ।
आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः ॥ ५३ ॥

कुण्डलीशक्तेः स्थितिप्रकारः

शङ्खावर्त्तक्रमाद् देवी सर्वमावृत्य तिष्ठति ।
कुण्डलीभूतसर्पाणामङ्गश्रियमुपेयुषी ॥ ५४ ॥

कुण्डलीशक्तेर्देहादिव्याप्तिः

सर्वदेवमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा।
सर्वतत्त्वमयी साक्षात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः ॥ ५५ ॥

इदानीमाध्यात्माधिभूताधिगुणाधिविषयाधिज्यौतिषक्रमेण तस्या व्याप्तिमाहदिक्कालेति । सर्वदेहानुगेति देहव्याप्तिः । परापरविभागः । काचन परशक्तिः तद्विभागेनापि इयं परशक्तिरेव । यदाहुः—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ इति

यद्वा परः स्थूलः अपरो महास्थूलः महदादिः तद्विभागेन परशक्तिः स्थूला शक्तिः। 'स्थूलात् स्थूला' इत्युक्तेः । अनेन महदादिव्याप्तिः । यद्वा सर्वदेहानुगेत्यनेन शब्दतोऽर्थतश्च पुंस्त्रीनपुंसकलिङ्गव्याप्तिर्दर्शिता । शब्दतो यथा शिव इत्युच्यते कुण्डलिनीत्युच्यते प्रधानमित्युच्यते । एवम्भूतापि सा स्त्रीत्वेनैव निर्दिश्यते इत्याह परापरेति । परा प्रकृतिः अपरं पुंनपुंसकप्रकृतिः तद्विभागेन तत्त्यागेन इयं परशक्तिः स्मृता । अयमर्थः । यद्यपि लिङ्गत्रयवाच्या तथापि तूर्णमेवाचलभक्तिभारपरिश्रान्तभक्तजनसमस्ताकाङ्क्षाकल्पवल्ली परशक्तिशब्दवाच्येति । अत एव शुभा रमणीया । यदाहुराचार्याः—

पुंनपुंसकयोस्तुल्याऽप्यङ्गनासु विशिष्यते । इति ।

नित्यक्लिन्नाम्नायेऽपि—

सर्वत्रापि स्थिता ह्येषा कामिनीषु विशेषतः ।
प्रकाशते ततस्तासामतिवृत्तिं न कारयेत् ॥ इति ।

अञ्जसा तत्त्वेन । योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमित्यनेन तैरेव गुरूपदेशेन ज्ञायत इत्यर्थः । 'दृश्या देशिकदेशितैः' इत्युक्तेः । सर्वभूतानां सर्वजन्तूनां आधारे मूलाधारचक्रे स्फुरन्तीत्यनेन स्थाननिर्देशः । विद्युदाकृतिरित्यनेन ध्यानमुक्तम् । यदाहुः— तडित्कोटिप्रख्यां स्वरुचिजितकालानलरुचिम् । इति ।

अथवा अनेनानेकशब्दोत्पत्तिहेतुत्वेनानेकविलासवतीत्युक्तम् । शङ्खमध्ये य आवर्त्तः स यथा शङ्खमावृत्य तिष्ठति तद्वदियमपि देवीत्यर्थः । इदमवान्तरवाक्यं भिन्नमेव । शङ्खेति कुण्डलीत्यनयोः हेतुहेतुमद्भावेन योजना । कुण्डलीभूताः कुण्डलाकारतां प्राप्ता ये सर्पास्तेषाम् । केचन कुण्डलीति भिन्नं पदं वर्णयन्ति । भूतानि सर्पाश्च एते तथा कुटिलगतयः तद्वदियमपीत्यर्थ इति । तन्न । कुण्डली परदेवतेत्यनेन पुनरुक्तेः । सर्वदेवमयीति देवव्याप्तिः । दिव्यतीति देवी तेजोरूपेत्यर्थः। अनेन तेजोव्याप्तिः । सर्वमन्त्रमयीति मन्त्रव्याप्तिः । शिवा शिवरूपेत्यर्थः । यद्वा शिवा कल्याणरूपा । अनेन कल्याणव्याप्तिः । साक्षात् सर्वतत्त्वमयीति तत्त्वव्याप्तिः । सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः इति विरोध परिहारस्तु सूक्ष्मतरा दुर्ज्ञाना । यद्वा सूक्ष्मात् त्रसरेणोरपि सूक्ष्मतरा अन्तःस्थितत्वात् सूक्ष्मतरा अणुतरा । अनेन अण्वादिव्याप्तिर्दर्शिता । तदुक्तम्—

बालाग्रस्य सहस्रधा विदलितस्यैकेन भागेन या
सूक्ष्मत्वात् सदृशी त्रिलोकजननी । इति ।

विभुः इयत्तया ज्ञातुमशक्या ॥ ५२-५५ ॥

अस्याः सोमसूर्याग्निरूपत्वम्

त्रिधामजननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी ।
द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मा पञ्चाशद्वर्णरूपिणी ॥ ५६ ॥
गुणिता सर्वगात्रेषु कुण्डली परदेवता ।
विश्वात्मना प्रबुद्वा सा सूते मन्त्रमयं जगत् ॥ ५७ ॥

त्रिधामेति सोमसूर्याग्निरूपम् । यद्वा त्रिधामेति स्थानत्रयम् । पातालभूस्वर्गरूपम् । अनेन स्थानव्याप्तिर्दर्शिता । द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मेति भूतलिपिमन्त्रमयी । पञ्चाशद्वर्णरूपिणीति मातृकामयी ॥ ५६-५७ ॥

इस प्रकार शरीर की उत्पत्ति पर्यन्त अर्थसृष्टि का क्रम कहकर सामान्य रूप से उक्त शब्दसृष्टि का विवेचन करने के लिए 'भय से रोने की इच्छा करता है' यह कह कर अव्यक्त वर्णात्मक रोदन होने से वर्णोत्पत्ति का प्रकार कहते हुए सभी मन्त्रों में सामान्यतः कुण्डलिनी की उत्पत्ति बतलाते हैं—

इसके बाद चैतन्यरूपा वह (कुण्डलिनी) सर्वत्र व्याप्त होने वाली, विश्व स्वरूपिणी, शिव के सन्निधान को प्राप्त कर, नित्य आनन्द एवं सत्त्वादि गुणों को प्राप्त करने वाली, दिशा और काल से परे, संपूर्ण शरीर में व्याप्त, परम रमणीय एवं परापर विभाग से परशक्ति कही जाने वाली, योगियों के हृत्कमल में तत्त्वतः नित्य नृत्य करने वाली, सम्पूर्ण जन्तुओं के मूलाधार में विद्युत् के समान स्फुरित होने वाली, शङ्खावर्त्त के समान सभी वस्तुओं को आवृत करने वाली, कुण्डलीभूत सर्प के समान आकारवाली, सर्वदेवमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा, सर्वतत्त्वमयी, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, विभु, सोम, सूर्य एवं अग्नि—इन तीनों प्रकार के तेजों की जननी (अथवा पाताल, भू एवं स्वर्ग रूप तीन स्थानों में व्याप्त) देवी, शब्दब्रह्मस्वरूपिणी, बयालिस वर्णात्मक भूतलिपिमन्त्रमयी, पञ्चाशद् वर्णमातृकारूपा, सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहने वाली तथा परदेवतास्वरूपा कुण्डलिनी सब प्रकार से प्रबुद्ध होकर मन्त्रमय इस जगत् को उत्पन्न करती है ॥ ५१-५७ ॥

कुण्डलीतो विविधमन्त्रोत्पत्तिः

एकधा गुणिता शक्तिः सर्वविश्वप्रवर्त्तिनी ।
वेदादिबीजं श्रीबीजं शक्तिबीजं मनोभवम् ॥ ५८ ॥
प्रासादं तुम्बुरुं पिण्डं चिन्तारत्नं गणेश्वरम् ।
मार्त्तण्डभैरवं दौर्गं नारसिंहवराहजम् ॥ ५९ ॥
वासुदेवं हयग्रीवं बीजं श्रीपुरुषोत्तमम् ।
अन्यान्यपि च बीजानि तदोत्पादयति ध्रुवम् ॥ ६० ॥

एवं सामान्यत उत्पत्तिमुक्त्वा एकद्वयादिविशेषाकारेण शब्दसृष्टिं वदन् प्रसङ्गादन्तरं तज्जगच्छब्दसूचितामर्थसृष्टिमप्यभिधातुमुपक्रमते एकधेति । सर्वं विश्वं

शब्दार्थरूपं तत्प्रवर्त्तिनी तदुत्पादिका शक्तिः । एकधा गुणिता वेदादिबीजमुत्पादयतीति सम्बन्धः । एवमग्रेऽपि बोद्धव्यम् । वेदादिबीजं प्रणवम् अन्त्ये वक्ष्यति । श्रीबीजम् अष्टमे । शक्तिबीजं नवमे। मनोभवं सप्तदशे। प्रासादम् अष्टादशे । तुम्बुरुमेकोनविंशे। पिण्डमुपान्त्ये । चिन्तारत्नमेकोनविंशे । गणेश्वरं त्रयोदशे । मार्त्तण्डभैरवं चतुर्दशे । दौर्गम् एकादशे । नारसिंहं षोडशे । वाराहं पञ्चदशे । वासुदेवं ग्लौं । इदं गोपाल-बीजत्वेनोद्धृतम् । तद्वासुदेवशब्देनोक्तम् । तत् सप्तदशे । नारदपञ्चरात्रोक्तं वियन्मात्रं वासुदेवबीजं वा । हयग्रीवं पञ्चदशे । श्रीपुरुषोत्तममिति श्रीयुक्तपुरुषोत्तममित्युक्तत्वात् शक्तिशक्तिमतोरभेदात् पुरुषोत्तमशक्तिबीजं श्रीपुरुषोत्तमबीजशब्देनोक्तम् । तत् सप्तदशे । अत्र कामबीजमेव पुरुषोत्तमबीजत्वेनोक्तम् ।

यदाहुः— धरयालिङ्गितो ब्रह्मा मायाबिन्दुविभूषितः ।
पुरुषोत्तमसंज्ञोऽत्र देवो मन्मथविग्रहः ॥ इति ।
अन्यान्यपीति चन्द्रबीजबिम्बबीजादीनि ॥ ५८-६० ॥

शब्दार्थरूप से सारे संसार की उत्पादिका शक्ति जब एक गुणित संख्या में रहती है तो वह वेद का आदि बीज (प्रणव), श्री बीज (श्रीँ), शक्तिबीज (ह्रीँ), मनोभव बीज (क्लीँ) प्रासाद, तुम्बुरु, पिण्ड, चिन्तामणि विनायक का मन्त्र, मार्त्तण्ड, भैरव, दुर्गा, नरसिंह, वराह, वासुदेव, हयग्रीव और श्री पुरुषोत्तम बीज एवं इसी प्रकार अन्य एकाक्षर मन्त्रों (जैसे चन्द्रबीज विम्बबीज) को निश्चित रूप से उत्पन्न करती हैं ॥ ५८-६० ॥

यदा भवति सा संवित् द्विगुणीकृतविग्रहा ।
हंसवर्णौ परात्मानौ शब्दार्थौ वासरक्षपे ॥ ६१ ॥
सृजत्येषा परा देवी तदा प्रकृतिपुरुषौ ।
यद्यदन्यज्जगत्यस्यां युग्मं तत्तदजायत ॥ ६२ ॥
त्रिगुणीकृतसर्वाङ्गी चिद्रूपा शिवगेहिनी ।
प्रसूते त्रैपुरं मन्त्रं मन्त्रं त्रैपुटं चण्डनायकम् ॥ ६३ ॥
सौरं मृत्युञ्जयं शक्तिसम्भवं विनतासुतम् ।
वागीशीत्र्यक्षरं मन्त्रं नीलकण्ठं विषापहम् ॥ ६४ ॥

हंसवर्णौ चतुर्दशे । परात्मानौ वर्णाविति सम्बध्यते । परमात्मवाचकावित्यर्थः । तौ सोहंरूपावन्त्ये । प्रकृतिपुरुषाविति । यद्यपि पुरुषोऽनादिस्तथापि मायाशबलि-तत्वेनात्र प्रादुर्भाव उपचारात् । अन्यद्युग्मं यद्जगति अस्याः सकाशादजायतेति सम्बन्धः । तच्च ज्योतिर्मन्त्रादि । त्रैपुरं मन्त्रद्वयं द्वादशे । शक्तिविनायकं त्रयोदशे । यद्यप्यग्रे नवाक्षरयोगाद् द्वादशाक्षरस्तथापि बीजत्रयात्मकत्वं त्रयाणां बीजरूपत्वेन प्राधान्यात् । ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ इति तन्त्रान्तरोक्तो वा । पाशाद्यं नवमे । त्र्यक्षरमिति त्रिकण्टकीद्वयं दशमे । विशेषणविशेष्यभावो वा । त्रैपुटं दशमे । चण्डनायकं चण्डेश्वरं विंशे । सौरं चतुर्दशे । मृत्युञ्जयमष्टादशे । शक्तिसम्भवं मन्त्रद्वयं नवमे । शाक्तं शाम्भवमिति पाठे शाम्भवं तन्त्रान्तरोक्तं प्रणवमायाबीजप्रासादात्मकम् ।

विनतासुतं क्षिप ॐ इति तन्त्रान्तरोक्तम् । वागीशीत्र्यक्षरं सप्तमे । वागीशमिति पाठे त्र्यक्षरमिति नवमस्थं शाक्तमेकम् । विषापहं नीलकण्ठमेकोनविंशे ॥ ६१-६४ ॥

यन्त्रं त्रिगुणितं देव्या लोकत्रयं गुणत्रयम् ।
धामत्रयं सा वेदानां त्रयं वर्णत्रयं शुभम् ॥ ६५ ॥
त्रिपुष्करं स्वरान् देवी ब्रह्मादीनां त्रयं त्रयम् ।
वह्नेः कालत्रयं शक्तित्रयं वृत्तित्रयं महत् ।
नाडीत्रयं त्रिवर्गं सा यद्यदन्यत् त्रिधा मतम् ॥ ६६ ॥

यन्त्रं नवमे । गुणत्रयं धामत्रयं चतुर्थे । यद्यप्यथर्ववेदोऽस्ति तथापि होत्रध्वर्यूद्गातृरूपपदार्थत्रयेण यज्ञनिष्पादनात् वेदत्रयमित्युक्तम् । श्रुतिरपि—'सैषा त्रयी विद्या यज्ञे' इति । वर्णत्रयं प्रणवस्य अकारोकारमकाराः । त्रिपुष्करं तीर्थत्रयम् । तस्य ज्येष्ठमध्यमकनीयस्त्वेन त्रित्वम् । स्वरान् उदात्तानुदात्तस्वरितान् । देव्यः गायत्रीसरस्वतीसावित्र्यः । ब्रह्मादीनां ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणां त्रयं नवमे । देवीति भिन्ने पदे कुण्डलीविशेषणम् । वह्नेस्त्रयं दक्षिणाग्निगार्हपत्याहवनीयम् । कालत्रयं अतीतवर्त्तमानभविष्यद्रूपम्, प्रातर्मध्याह्नसायंकालरूपं वा । शक्तित्रयं रौद्रीज्येष्ठावामात्मकं तदाद्ये । प्रभावोत्साहमन्त्ररूपं वा । वृत्तित्रयं यजनाध्यापनप्रतिग्रहरूपम् । 'त्रीणि कर्माणि जीविकेति' स्मरणात् । कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यं वा वृत्तित्रयम् । महदिति पाठे नाडीत्रयस्य विशेषणत्वेन महदिति योज्यम् । नाडीत्रयं इडापिङ्गलासुषुम्णारूपमाद्ये । त्रिवर्गं धर्मार्थकामाः । 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैः' इत्युक्तेः । अन्यदिति दोषत्रयादि ॥ ६५-६६ ॥

जब वह ज्ञान स्वरूपा कुण्डलिनी द्विगुणित विग्रहा (दुगुने शरीर वाली) होती है तो परमात्मा के वाचक 'हं' 'स:' इन दो वर्णों को, शब्द अर्थ को दिन रात को तथा प्रकृति पुरुष को उत्पन्न करती है । इस प्रकार इस जगत् में जितने भी युग्म युग्म (जोड़े-जोड़े) पदार्थ हैं वे सभी देवी से उत्पन्न हुये हैं ॥ ६१-६२ ॥

जब वह ज्ञानस्वरूपा शिवगेहिनी त्रिगुणित (तीन गुना शरीर वाली) होती हैं, तब त्रिपुरा मन्त्र, शक्तिविनायक मन्त्र, पाशादि त्र्यक्षर मन्त्र, त्रैपुट चण्डेश्वर, सौर, मृत्युञ्जय, शक्ति से उत्पन्न दो मन्त्र, विनता सुत (गारुड़) मन्त्र (यथा 'क्षिप ॐ'), वागीश्वरी का त्र्यक्षर मन्त्र, नीलकण्ठ का विषापह त्र्यक्षर मन्त्र, देवी का त्रिगुणित यन्त्र, तीन लोक, तीन गुण, तीन धाम, वेदत्रयी, वर्णत्रय (ॐकार अकार मकार उकार वर्ण) ज्येष्ठ मध्यमकनीयस्त्वेन तीर्थत्रय, उदात्त, अनुदात्त, एवं स्वरित तीन स्वर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इस प्रकार त्रिदेव और गायत्री, सरस्वती, सावित्री तीन देवियाँ, अग्नित्रय (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, आहवनीय), कालत्रय (भूत, भविष्यद् वर्तमान अथवा प्रातः, मध्याह्न, सायाह्न) शक्तित्रय (रौद्री, ज्येष्ठा, वामात्मक) वृत्तित्रय (यजन, अध्यापन, प्रतिग्रह अथवा कृषि, वाणिज्य, पाशुपालन), महान् नाडीत्रय (ईडा, पिङ्गला और सुषुम्ना), त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ,

काम), इसके अतिरिक्त और और जो त्रित्व संख्या विशिष्ट पदार्थ (जैसे दोषत्रय आदि) हैं उन्हें उत्पन्न करती हैं ॥ ६३-६६ ॥

चतुः प्रकारगुणिता शाम्भवी शर्मदायिणी ।
तदानीं पद्मिनीबन्धोः करोति चतुरक्षरम् ॥ ६७ ॥
चतुरर्णं महादेव्या देवीतत्त्वचतुष्टयम् ।
चतुरः सागरानन्तःकरणानां चतुष्टयम् ॥ ६८ ॥

पद्मिनीबन्धोरिति । तन्त्रान्तरोक्तः प्रणवमायाहंसवर्णात्मकः । महादेव्या महालक्ष्म्या अष्टमे । देवीतत्त्वचतुष्टयम् आत्मतत्त्वं विद्यातत्त्वं शिवतत्त्वं सर्वतत्त्वञ्चेति। चतुरः सागरानिति । प्रागादिदिगपेक्षया चतुष्ट्यं वस्तुतस्तस्यैकत्वात् । अन्तःकरणानि मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तरूपाणि ॥ ६७-६८ ॥

सूक्ष्मादींश्चतुरो भावान् विष्णोर्मूर्त्तिचतुष्टयम् ।
चतुष्टयं गणेशानामात्मादीनां चतुष्टयम् ॥ ६९ ॥
ओजापूकादिकं पीठं धर्मादीनां चतुष्टयम् ।
दमकादीन् गजान् देवी यद्यदन्यच्चतुष्टयम् ॥ ७० ॥

सूक्ष्मादीनिति आद्ये—सूक्ष्मा परा । आदिशब्देन पश्यन्तीमध्यमावैखर्यः ।

तदुक्तम्— वैखरी मध्यमा चैव पश्यन्ती चापि सूक्ष्मया ।
व्युत्क्रमेण भवन्त्येताः कुण्डलिन्यादितः क्रमात् ॥ इति ।

भावान् अवस्थाविशेषान् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयान् । विशेषणविशेष्यभावो वा । विष्णुमूर्त्तिरष्टमे । गणेशानामिति त्रयोदशे । आत्मादीनामिति चतुर्थे । पीठमिति ओडडीयानजालन्धरपूर्णगिरिकामरूपाणि । धर्मादीनामिति चतुर्थे । अधर्मादीनामप्युपलक्षकम् । धर्मार्थादीनां वा तदाद्ये । गजान् इत्यष्टमे । अन्यदिति सिद्धादिमण्डलदीक्षा हेरम्बमन्त्र देवीदूतीबीजादि ॥ ६९-७० ॥

सबकी कल्याणकारिणी वह शाम्भवी (कुण्डलिनी) जब चौगुनी होती है, तब वह पद्मिनीबन्धु (सूर्य) के प्रणव, माया, हं, सः—इस प्रकार चार अक्षरों में व्यक्त होती है । इसी प्रकार वह महालक्ष्मी के चतुरक्षर मन्त्र, देवी के तत्त्व चतुष्टय (आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व, शिवतत्त्व और सर्वतत्त्व), चतुःसमुद्र, चार अन्तःकरण (परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी रूप) वाक् चतुष्टय, (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय रूप) भावचतुष्टय, विष्णुमूर्त्तिचतुष्टय, गणेशचतुष्टय, आत्मचतुष्टय, (उड्डीयान, जालन्धर, पूर्णगिरि, कामरूप रूप) पीठचतुष्टय, धर्मादिचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष), दमादिचतुष्टय (शम, दम, तितिक्षा उपरति), गजचतुष्टय, इसी प्रकार अन्य अन्य चतुष्टय (जैसे सिद्धादि, मण्डल, दीक्षा, हेरम्बमन्त्र, देवी, दूती बीजादि) को उत्पन्न करती है ॥ ६७-७० ॥

पञ्चधा गुणिता पत्नी शम्भोः सर्वार्थदायिनी ।
त्रिपुरापञ्चकूटं सा तस्याः पञ्चाक्षरद्वयम् ॥ ७१ ॥
पञ्चरत्नं महादेव्याः सर्वकामफलप्रदम् ।
पञ्चाक्षरं महेशस्य पञ्चवर्णं गरुत्मतः ॥ ७२ ॥
सम्मोहनान् पञ्च कामान् बाणान् पञ्च सुरद्रुमान् ।
पञ्च प्राणादिकान् वायून् पञ्च वर्णान् महेशितुः ॥ ७३ ॥
मूर्त्तीः पञ्च कलाः पञ्च पञ्च ब्रह्मऋचः क्रमात् ।
सृजत्येषा पराशक्तिर्वेदवेदार्थरूपिणी ॥ ७४ ॥

पञ्चधेति । क्रमात् पञ्चकूटादिकम् एषा सृजतीति । क्रमस्तु वक्ष्यमाणः शक्तिध्वन्यादिकः । एवमग्रेऽपि षट्क्रमादिति पदानि शब्दसृष्टौ संयोज्य अयमेवार्थस्तेषां व्याख्येयः । पञ्चकूटमिति । ह स क ल र एते पञ्चवर्णाः एकीकृताः कूट शब्देनोच्यन्ते । तस्याः पञ्चाक्षरद्वयमिति । एकः पञ्चकामैरपरे वाणबीजैरेतानि द्वादशे। तदुक्तं दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

त्रिपुरेशी मन्त्रमध्ये वाणाः प्रोक्ता महेश्वरिः ।
तैरेव पञ्चभिर्वार्णैर्विद्या पञ्चाक्षरी भवेत् ॥
पूर्वोक्तपञ्चकामैस्तु पञ्चकामेश्वरी भवेत् । इति ।

पञ्चरत्नमिति । ग्लुं स्लुं म्लुं प्लुं न्लुं इति मन्त्रपञ्चकं तन्त्रान्तरोक्तम् ।

सिद्धाद्या विजया श्यामा वाराही सुन्दरीत्यपि । इति ।

महेशस्येत्यष्टादशे । गरुत्मत इति चतुर्विंशे । समोहनानिति बहुवचनमाद्यर्थं समोहनादीन् । कामान् वाणान् द्वादशे । सुरद्रुमान् मन्दारपारिजातसन्तानकल्पद्रुमहरिचन्दनान् । वायून् आद्ये । वर्णान् शुक्लादीन् तृतीये । महेशितुरिति अग्रिमेण सम्बध्यते । मूर्त्तीरष्टादशे । कला निवृत्त्याद्या आद्ये । ब्रह्मऋच ईशानाद्या अष्टादशे । अन्यदिति ज्ञेयम् । तच्च भूतप्रणवभेदादित्यमूर्त्तिपञ्चगव्यादि धत्ते विधत्ते करोतीत्यर्थः ॥ ७१-७४ ॥

जब वह सम्पूर्ण अर्थों को देने वाली शम्भु पत्नी, जो वेद-वेदार्थ रूपिणी, परा, शक्ति है, वह देवी पञ्चगुणित होती है, तब त्रिपुरा के पञ्चवर्ण समूहों (ह् स् क् ल् र इन पाँच वर्णों को एकत्र करने) से वह त्रिपुरा पञ्चकूट हो जाती है । त्रिपुरा के दो प्रकार को पञ्चाक्षर मन्त्रों सर्वकाम फलप्रद महादेवीं के पञ्चरत्न (ग्लुं स्लुं म्लुं प्लुं न्लुं) महेश्वर के पञ्चाक्षर (नमः शिवाय) मन्त्र को, गरुड़ के पञ्चाक्षर मन्त्र, संमोहनादि पञ्चकामों को तथा संमोहनादि पञ्च वाणों को, (मन्दार परिजात सन्तान कल्पद्रुम हरिचन्दन रूप) पञ्च देव वृक्षों को प्राणादि पञ्च वायु, पञ्चवर्ण, महेश्वर की पञ्चमूर्त्ति (ईशान, सद्योजात, वामदेव, अघोर एवं तत्पुरुष), उनकी पाँच कला निवृत्तियों को तथा ब्रह्म ऋचाओं को क्रमशः उत्पन्न करती हैं ॥ ७१-७४ ॥

षोढा सा गुणिता देवी धत्ते मन्त्रं षडक्षरम्।
षट्कूटं त्रिपुरामन्त्रं गाणपत्यं षडक्षरम् ॥ ७५ ॥
षडक्षरं हिमरुचेर्नारसिंहं षडक्षरम्।
ऋतून् वसन्तमुख्यान् षडामोदादीन् गणाधिपान्॥ ७६ ॥
कोशानूर्मीन् रसान् शक्तीः शाकिन्याद्याः षडध्वनः।
यन्त्रं षड्गुणितं शक्तेः षडाधारानजीजनत्।
षड्विधं यज्जगत्यस्मिन् सर्वं तत् परमेश्वरी ॥ ७७ ॥

षडक्षरं राममन्त्रं पञ्चदशे। षट्कूटमिति त्रिपुरार्णवोक्तम्। षट्कूटं मध्यबीजम्। तदुक्तम्—

कान्तान्तवान्ताकुललान्तवाम नेत्रान्वितं दण्डिकुलं सनादम्।
षट्कूटमेतत् त्रिपुरार्णवोक्तमत्यन्तगुह्यं स्मर एव साक्षात् ॥ इति।

गाणपत्यं तन्त्रान्तरोक्तं चतुर्थ्यन्तं वक्रतुण्डं वर्मान्तम्। षडक्षरं शैवमष्टादशे। षडक्षरं कृष्णमन्त्रं सप्तदशे। विशेषणविशेष्यभावो वा। हिमरुचेः षडक्षरं चतुर्दशे। नारसिंहं षोडशे। षडक्षरं पाशुपतास्त्रं विंशे। विशेषणविशेष्य भावो वा। ऋतूनिति त्रयोविंशे। आमोदादीनिति त्रयोदशे। कोशानूर्मीनाद्ये। रसान् मधुरादीन्। शक्तीरामोदादीनां त्रयोदशे। शाकिन्याद्या इति विंशे। शक्तिः शाकिन्याद्या इति विशेषण-विशेष्यभावो वा। षडध्वनः पञ्चमे। यन्त्रं नवमे। आधारान् पञ्चमे। जगति यत् सर्वं षड्विधं षडङ्गसीतामन्त्रषट्कर्मासनादि ॥ ७५-७७ ॥

जब वह देवी छः गुना रूप (छः भागों में प्रविभक्त होकर) रूप धारण करती है, तो षडक्षर मन्त्र, (त्रिपुरार्णव में कहा गया) षट्कूट मन्त्र, षडक्षर गाणपत्य मन्त्र, हिमरुचि (चन्द्रमा) का षडक्षर मन्त्र, नारसिंह का षडक्षर मन्त्र, बसन्तादि षड् ऋतु आमोदादि षड् विनायक, षड्कोश (द्र० १. ४७) षडूर्मि (१. ४६), षड् रस, षड् शक्तियाँ, षडध्वजा, शाकिनी आदि षड्गुणित यन्त्र षडाधार-आदि जितनी भी षड् जगत् में षड्विध वस्तुयें हैं उन सभी को वह परमेश्वरी उत्पन्न करती हैं ॥ ७५-७७ ॥

सप्तधा गुणिता नित्या शङ्करार्धशरीरिणी।
सप्तार्णं त्रिपुरामन्त्रं सप्तवर्णं विनायकम् ॥ ७८ ॥
सप्तकं व्याहृतीनां सा सप्तवर्णं सुदर्शनम्।
लोकान् गिरीन् स्वरान् धातून् मुनीन् द्वीपान् ग्रहानपि ॥७९॥
समिधः सप्त संख्याता सप्त जिहवा हविर्भुजः।
अन्यत् सप्तविधं यद्‌यत् तदस्याः समजायत ॥ ८० ॥

सप्तार्णमिति। सप्तवर्णं पद्मावतीमन्त्रं दशमे। त्रिपुरामन्त्रमिति मायाबीजा-द्यनुलोमविलोमभैरवीमन्त्रः। सप्तवर्णं शङ्खमन्त्रं सप्तदशे। विनायकं सुब्रह्मण्यं

त्रयोदशे। यद्वा सप्तार्णं त्रिपुरामन्त्रं विनायकं सप्तवर्णमिति विशेषणविशेष्य भावः । व्याहृतीनामिति एकविंशे । सप्तवर्णमिति अङ्कुशमन्त्रं सप्तदशे । सुदर्शनं षोडशे । विशेषणविशेष्यभावो वा । लोकान् भूरादिकान् । गिरीन् विन्ध्यपारियात्रसह्यऋक्ष-मलयमहेन्द्रशुक्तिमतः । स्वरान् षड्जऋषभगान्धार मध्यमपञ्चमधैवतनिषादान् । धातून् त्वगादीन् आद्ये । मुनीन् वशिष्ठकश्यपात्रिजमदग्निगौतमविश्वामित्रभरद्वाजान् वैवस्वतमन्वन्तरे अत एव ऋषयः सप्तः । द्वीपान् जम्बूप्लक्षशाल्मलीकुश-क्रौञ्चशाकपुष्करान् । ग्रहानिति । केषाञ्चिन्मते राहुकेत्वोर्ग्रहत्वाभावात् सप्तेत्युक्ताः तान् षष्ठे । तथा च वराहमिहिराचार्यैः—

अमृतास्वादविशेषात् छिन्नमपि शिरः किलासुरस्येदम् ।
प्राणैरपरित्यक्तं ग्रहभावं नैवमाप्नोति ॥ इत्यादिना ।
एवमुपरागकारणमुक्तमिदं दिव्यदृग्भिराचार्यैः ।
राहुरकारणमस्मिन्नित्युक्तः शास्त्रसद्भावः ॥
योऽसावसुरो राहुस्तस्य वरो ब्रह्मणा पुरा दत्तः ।
आप्यायनमुपरागे दत्तहुतांशेन ते भवितेति ॥

इत्यादिना च बहुना ग्रन्थसन्दर्भेण राहुकेत्वोः ग्रहता निरस्ता । अपिशब्दादजी-जनदिति क्रियाऽनुषज्यते । समिध इत्युत्तरपदमुत्तरक्रिययाऽन्वेति । हविर्भुजः समिधः सप्त श्रुत्युक्ताः । तथाच श्रुतिः—

सप्त ते अग्ने समिधः सप्तजिह्वाः सप्तऋषयः सप्तधाम प्रियाणि । इति ।
सप्तग्रहाणां वा—

अर्कः पलाशः खदिरोऽप्यपामार्गोऽथ पिप्पलः । औडुम्बरः शमी । इति । तदा हविर्भुज इत्यत्र न सम्बध्यते । सप्तजिह्वास्त्रिविधा अपि पञ्चमे । अन्यदिति प्रकृतिविकृतित्रिपुरातत्त्वगरुडमन्त्रयन्त्रपटलमन्त्रद्वयवैवस्वतमन्त्रादि ॥ ७८-८० ॥

जब वह शंकरार्धशरीरिणी (सात भागों में प्रविभक्त होकर) देवी सात गुना मन्त्रात्मक रूप धारण करती हैं, तो सप्ताक्षर त्रिपुरा मन्त्र, सप्तवर्ण विनायक मन्त्र, भूर्भुवः स्वरादि सप्त व्याहृतियाँ, राप्त वर्ण सुदर्शन मन्त्र, सप्त लोक, सप्त मर्यादा पर्वत, सप्त स्वर, सप्त धातु, सप्तर्षि, सप्त द्वीप, सप्त ग्रह (इस ग्रन्थ में राहु केतु को ग्रह की कोटि में नहीं माना गया है), सप्त समिधायें, अग्नि की सात जिह्वायें, आदि जो भी इस जगत के सात सात पदार्थ हैं वे सभी इन देवी से उत्पन्न हुये ॥ ७८-८० ॥

अष्टधा गुणिता शक्तिः शैवमष्टाक्षरद्वयम् ।
विष्णोः श्रीकरनामानं मन्त्रमष्टाक्षरं परम् ॥ ८१ ॥
अष्टाक्षरं हरेः शक्तेरष्टाक्षरयुगं परम् ।
भानोरष्टाक्षरं दौर्गमष्टार्णं परमात्मनः ॥ ८२ ॥
अष्टार्णं नीलकण्ठस्य वासुदेवात्मकं मनुम् ।
यन्त्रं कामार्गलं दिव्यं देवीयन्त्रं घटार्गलम् ॥ ८३ ॥

गन्धाष्टकं शुभं देवीदेवानां हृदयङ्गमम् ।
ब्रह्माद्या भैरवान् सर्पान् मूर्त्तीराशा वसूनपि ॥ ८४ ॥
अष्टपीठं महादेव्या अष्टाष्टकसमन्वितम् ।
अष्टौ सा प्रकृतीर्विघ्नवक्रतुण्डादिकान् क्रमात् ॥ ८५ ॥
अणिमादिगुणान् नागान् वह्नेर्मूर्त्तीर्यमादिकान् ।
अष्टात्मकं जगत्यस्मिन् सर्वं वितनुते यदा ॥ ८६ ॥

शैवं द्वयमप्येकोनविंशे । विष्णोः श्रीकरनामानं परमष्टाक्षरं कृष्णस्य द्वावपि सप्तदशे । हरेरिति पञ्चदशे । शक्तेरिति नवमे युगलमपि । भानोरिति चतुर्दशे । दौर्गद्वयमप्येकादशे । परमात्मन इति षष्ठे । नीलकण्ठस्येति । नीलकण्ठशब्देन क्षेत्रपालमन्त्रो गृहीतः, स विंशे । तन्त्रान्तरोक्तो वा 'ॐ नीलकण्ठाय स्वाहा' इति । वासुदेवात्मकं मनुं मन्त्रम् । आगमशास्त्रे मनुशब्दो मन्त्रस्य संज्ञा । 'ॐ नमो वासुदेवाय' इति तन्त्रान्तरोक्तम् ।

कामार्गलं सप्तदशे । तस्य कामार्गलत्वेन प्रसिद्ध्यभावात् तन्त्रान्तरोक्तं कामार्गलम् ।

व्योम ब्रह्मेन्द्रलोकेशवह्निवामाक्षिबिन्दुमत् ।
कर्णिकायां लिखेत् साध्यं कामिनीञ्च दलाष्टके ॥
मूलं मासकलापत्रेष्वालिखेत् स्वरभेदितम् ।
दन्तपत्रेषु तद्भिन्नवर्णैः सान्तैश्च कादिभिः ॥
वेष्टयेन्मन्दिरेणैतत् वहिः शक्त्याङ्कुशेन च ।
यन्त्रं घटार्गलेनैतत्तुल्यं कामार्गलं विदुः ॥ इति ।

दिव्यं यमार्गलमित्यर्थः । 'दिव्यं यमार्गलं यन्त्रम्' इत्युक्तेः । इदं चतुर्विंशे । देवी भुवनेशी । 'हृल्लेखा शक्तिदेव्याख्या' इत्युक्तेः । तस्या यन्त्रं घटार्गलं नवमे ।

गन्धाष्टकं त्रिविधमपि तूर्ये । देवो विष्णुः देवः शिवश्च देवौ । देवी च देवौ च देवाः तेषाम् । क्वचिद् दिव्यमिति पाठः । तदा देवानामिति सामान्येन । ब्राह्म्याद्याः षष्ठे । अष्टौ भैरवान् नवमे । सर्पांस्त्रयोविंशे । अष्टमूर्त्तीर्विंशे । आशाः पूर्वादिदिशः । वसूनिति—

धरो ध्रुवश्च सोमश्च आपश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च अष्टौ ते वसवः स्मृताः ॥ इति ।

अष्टाष्टकसमन्वितमष्टपीठं चतुःषष्टिविधं यथा—

मायामङ्गलनागवामनमहालक्ष्मीचरित्राभृगु-
च्छायाछत्रहिरण्यहस्तिनमहेन्द्रोडडीश चम्पापुरम् ।
षष्ठक्षीरक मञ्जनेश्वरपुरैलाश्चन्द्रपूः श्रीगिरिः
कोलाकुल्लक पूर्णपर्वत कुरुक्षेत्रैकलिङ्गार्बुदाः ॥
काश्मीरैकाम्रकाञ्चीमलयगिरिवरैकारकन्धूतदेवी
कोट्टाम्रातेशजालन्धरसुरभिमनीषाद्रिकाशीप्रयागाः ।

त्रिस्रोतः कामकोट्टोज्जयिनि समथुरं कोशलाकान्यकुब्जो-
ड्यानौङ्काराट्टहासाविरज इह ततः कुण्डिनं राजगेहम् ॥
नेपालपुण्ड्रवर्द्धनमालवपरसीर कामरूपकेदाराः
विन्ध्यमहामठगोश्रुति काम्पिल्यश्रीपीठमरुदीशाः ॥ इति ।

प्रकृतीराद्ये । विघ्नान् वक्रतुण्डांश्च त्रयोदशे । अणिमादीति ।

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
ईशित्वञ्च वशित्वञ्च प्राकाम्यं प्राप्तिरेव च ॥ इति ।

नागान् गजान् अष्टमे । वह्नेरिति पञ्चमे । यमादिकान् अन्त्ये । अन्यदिति श्रीवाणरतिप्रिय धूमावतीमन्त्रादि ॥ ८१-८६ ॥

जब वह देवी अठगुनी (आठ भागों में प्रविभक्त) होती है, तब वह शिव के दो प्रकार के अष्टाक्षर मन्त्र, विष्णु के श्रीकर नामक अष्टाक्षर मन्त्र, हरि के अष्टाक्षर मन्त्र, शक्ति के दो प्रकार के अष्टाक्षर मन्त्र, सूर्य के अष्टाक्षर मन्त्र, दुर्गा के अष्टाक्षर मन्त्र, परमात्मा के अष्टाक्षर मन्त्र, नीलकण्ठ के अष्टाक्षर मन्त्र, वासुदेवात्मक अष्टाक्षर मन्त्र, दिव्य कामार्गल मन्त्र, देवी का घटार्गल मन्त्र, तीन प्रकार के गन्धाष्टक, देवी और देवताओं के हृदयङ्गम मन्त्रों, ब्रह्मादि आठ देवताओं को, आठ भैरवों को, अष्ट सर्पो को, अष्टमूर्त्तियों को, अष्टदिशाओं को, अष्ट वसुओं को, आठ-आठ संख्या समन्वित महादेवी के आठ पीठों की, आठ प्रकृतियों को, अष्टविघ्नं, अष्ट वक्रतुण्डादि, अष्ट अणिमादि, अष्ट नाग, अग्नि की अष्टमूर्त्तियों को और अष्ट यमादि जितने भी इस जगत् के अष्टात्मक पदार्थ हैं, वह सब इस देवी से उत्पन्न हुये हैं ॥ ८१-८६ ॥

गुणिता नवधा नित्या सूते मन्त्रं नवात्मकम् ।
नवकं शक्तितत्त्वानां तत्त्वरूपा महेश्वरी ॥ ८७ ॥
नवकं पीठशक्तीनां श्रृङ्गारादीन् रसान् नव ।
माणिक्यादीनि रत्नानि नववर्गयुतानि सा ॥ ८८ ॥
नवकं प्राणदूतीनां मण्डलं नवकं शुभम् ।
यद्यन्नवात्मकं लोके सर्वमस्या उदञ्चति ॥ ८९ ॥

नवधेति । जगति यावान् नवात्मको नवाक्षरो मन्त्रस्तं सूते । सशार्ङ्ग-नवार्णगोपालमन्त्रादि । सेत्यन्तं पूर्वक्रियया उत्तरपद्यमुत्तरक्रियया सम्बध्यते । शक्ति-तत्त्वानामिति प्रकृतिर्नादो बिन्दुः बिन्दुर्नादो बीजं रौद्री ज्येष्ठा वामेति नवशक्तितत्त्वानि आद्ये । वक्ष्यमाणानि दश सदाशिवव्यतिरिक्तानि नवेत्यन्ये । पीठशक्तीनामिति तत्त-न्मन्त्रेष्वपि तत्र तत्र । शृङ्गारादीन् ।

शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतहास्यभयानकाः ।
बीभत्सरौद्रशान्ताश्च नव काव्ये रसाः स्मृताः ॥ इति ।

रत्नानि नव वर्गाश्च षष्ठे । प्राणदूतीनामिति त्रयोविंशे । मण्डलं नवनाभं तृतीये । यद्यदिति । नवकुण्डनवग्रहकूर्मचक्रनवकोष्ठादि ॥ ८७-८९ ॥

नवात्मक सृष्टि—जब वह देवी अपने को नव भागों में विभक्त करती है तब वह जगत् के जितने नवात्मक मन्त्र, नव शक्ति तत्त्व, नव पीठ शक्तियाँ, शृङ्गारादि नव रस, नव प्रकार के माणिक्य आदि रत्न, नव वर्ग आदि उत्पन्न करती है, इसी प्रकार नव प्राणदूती, नव मण्डल आदि जो भी (लोक में ९ कुण्ड, ९ ग्रह और ९ कोष्ठक के कूर्मादि चक सभी) नव संख्यक वस्तुयें हैं उन्हें यह देवी उत्पन्न करती है ॥ ८७-८९ ॥

दशधा विकृता शम्भोर्भामिनी भवदुःखहा ।
दशाक्षरं गणपतेस्त्वरिताया दशाक्षरम् ॥ ९० ॥
दशाक्षरं सरस्वत्या यक्षिण्याः सा दशाक्षरम् ।
वासुदेवात्मकं मन्त्रमश्वारूढादशाक्षरम् ॥ ९१ ॥
त्रिपुरादशकूटं सा त्रिपुराया दशाक्षरम् ।
नाम्ना पद्मावतीमन्त्रं रमामन्त्रं दशाक्षरम् ॥ ९२ ॥
दशकं शक्तितत्त्वानां तत्त्वरूपा महेश्वरी ।
नाडीनां दशकं विष्णोरवतारान् दश क्रमात् ।
दशकं लोकपालानां यद्यदन्यत् सृजत्यसौ ॥ ९३ ॥

गणपतेरिति । क्षिप्रप्रसादनस्य त्रयोदशे । त्वरिताया इति दशमे मायाहीनम् ।

तदुक्तम्— वर्म खे च तदन्त्यः शिवयुक् चरमोऽङ्गनाद्यु सार्विलवम् ।
अन्त्यः सयोनिरस्त्रान्तिकः सतारो मनुर्दशार्णयुतः ॥ इति ।

वर्मेति । वर्म हुं । खे स्वरूपम् । च स्वरूपम् । तदन्त्यः छः शिवयुगेकारयुतः छे । चरमः क्षः । अङ्गना स्त्रीँ । द्यु हकारः सार्विलवं उकारानुस्वारयुतं तेन हुं । अन्त्यः क्षः सयोनिरेयुतः क्षे । अस्त्रं फट् तदन्तः । सतारः प्रणवयुक् आद्यौ । इति त्वरितादशाक्षरोद्धारः । नारायणीयेऽपि—

भुवनेशो भूतदण्डी कलान्तान्त्यं सयोनिकम् ।
तत्पञ्चमं तदन्तं सरुद्रं सामन्तान्तालयम् ॥
वामाख्या दीर्घमाद्यञ्च कोपतत्त्वं हरान्तयुक् ।
एतत् फडन्तं तारादि मन्त्रं विद्याद्दशाक्षरम् ॥ इति ।

भुवनेति । भुवनेशो हः भूत उः दण्डोऽनुस्वारः तेन हुं । कलाः स्वराः तदन्तः कः तदन्त्यः खः सयोनिकम् एकारयुतं तेन खे । तत्पञ्चमं च तदन्तं छः । सरुद्रम् एकारयुतं तेन छे । सामन्तान्तः विसर्गान्तः । आलयं क्षकारः । वामाख्या स्त्रीँ । आद्यं हुं तद्दीर्घं हूं । कोपतत्त्वं क्षः । हरेण एकारेण अन्ते युक् क्षे । एतत् फडन्तं प्रणवादिकं दशवर्णम् ।

सरस्वत्या इति सप्तमे । यक्षिण्या इति तन्त्रान्तरोक्तं 'श्रीँ श्रीँ यक्षिणि हं हं हं

स्वाहा' इति । वासुदेवात्मकमिति गोपालं सप्तदशे । अश्वारुढेति बीजत्रयं मुक्त्वा दशमे । तन्त्रान्तरे दशाक्षर्या एव उद्धृतत्वात् । तदुक्तम्—

आद्यस्त्रयोदशो दण्डी ततस्त्वेकादशः परम् ।
अष्टमस्य तृतीयं स्यादाद्यतार्त्तीयसंयुतम् ॥
षष्ठाद्यं सप्तमस्यापि द्वितीयं षष्ठपञ्चमम् ।
आद्यैकादशसंयुक्तं पश्चात् सप्तम पञ्चमम् ॥
तत्तूर्येण युतं पश्चात् सप्तमस्य द्वितीयकम् ।
आद्यतार्त्तीयसंयुक्तं द्विठः प्रोक्ता दशाक्षरी ॥ इति ।

दशकूटमिति मध्यबीजस्य षट्कूटत्वमाद्यन्तबीजयोः क्रमेण कूटद्वयम् । कूटद्वयमिति मिलित्वा दशकूटं त्रिपुराया इति तन्त्रान्तरोक्तम् 'ऐँ स्हैं स्हीं स्हौं त्रिपुरायै नमः' इति । पद्मावतीमन्त्रं तन्त्रान्तरोक्तं 'ॐ ह्रें पद्मे पद्मावति स्वाहा' इति । रमामन्त्रमष्टमे । राममन्त्रमितिपाठे पञ्चदशे । शक्तितत्त्वानामिति पञ्चमे । नाडीनामित्याद्ये । अवतारानिति सप्तदशे । लोकपालानामिति तूर्ये । अन्यदिति अग्निमन्त्रसंस्कार जयदुर्गामन्त्रादि ॥ ९०-९३ ॥

जब संसार के दुःखों को नष्ट करने वाली यह शम्भु पत्नी अपने को दश भागों में प्रविभक्त करती है तब गणपति के दशाक्षर मन्त्र, त्वरिता देवी के दशाक्षर मन्त्र, सरस्वती देवी के दशाक्षर मन्त्र, यक्षिणी के दशाक्षर मन्त्र, वासुदेव का दशाक्षर मन्त्र, अश्वारुढ़ा का दशाक्षरमन्त्र, त्रिपुरादशकूट, त्रिपुरा दशाक्षर, पद्मावती मन्त्र, दश अक्षर वाले रमा मन्त्र, दश शक्ति तत्त्व को प्रगट करती हैं । इसी प्रकार वह तत्त्वरूपा महेश्वरी दश नाडियाँ, विष्णु के क्रमशः दश अवतार, दश लोकपाल और ऐसे ही जो दश दश पदार्थ हैं उन्हें प्रगट करती हैं ॥ ९०-९३ ॥

एकादशक्रमात् संविद् गुणिता सा जगन्मयी ।
रुद्रैकादशनीमाद्यशक्तेरेकादशाक्षरम् ।
एकादशाक्षरं वाण्या रुद्रानेकादश क्रमात् ॥ ९४ ॥

रुद्रैकादशनीमिति ।

षडङ्गरुद्रैकावृत्ती रुद्राध्यायस्य तादृशः ।
एकादश तु रुद्रस्य रुद्रैकादशनी त्विति ॥

षडङ्गरुद्रस्तु—'यज्जाग्रतः षट्' सहस्रशीर्षा द्वाविंशतिः' ततः 'आशुःशिशानो' 'विभ्राट्' इत्यनुवाकद्वयम् शतम्। सहस्रशीर्षेति षोडशभिर्द्वितीयम्। षड्भिस्तृतीयम्। शतमिति । शतरुद्रीयेणास्त्रम् । शतरुद्रस्तु—

षट्षष्टिर्नीलसूक्तञ्च पुनः षोडशऋग्जपः ।
एष ते हे नमस्ते द्वे नतं विद्वयमेव च ॥
मीढुष्टमचतुष्कञ्च एतत्तु शतरुद्रीयम् । इति ।

आद्यशक्तेः सरस्वत्या एकादशाक्षरं सप्तमे । यद्वा आद्यशक्तेः नित्यक्लिन्ना-यास्तन्त्रान्तरोक्तम् । 'ह्रीँ नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा' इति । आद्या इति पाठे

देवीविशेषणम् । वाण्या अयमपि सप्तमे । रुद्रानिति—

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः ।
वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ॥
मृगव्याधश्च शर्वश्च कापालीति शिवा मताः । इति ।

अत्राप्यन्यदिति ज्ञेयम् । तच्च शक्तिविनायकमन्त्रादि ॥ ९४ ॥

पुनः वह जगन्मयी, ज्ञान शक्तिस्वरूपा, जगन्माता जब अपने को एकादश भागों में विभक्त करती हैं तब रुद्रैकादशनी, आद्याशक्ति (सरस्वती) के एकादशाक्षर मन्त्र, वाणी के एकादशाक्षर और एकादश रुद्रों को क्रमशः उत्पन्न करती हैं ॥ ९४ ॥

विमर्श—अन्य तन्त्र में नित्यक्लिन्ना आद्या शक्ति हैं । उनका ११ अक्षर का मन्त्र है—'ह्रीँ नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा' ॥

समुद्गिरति सर्वात्मा गुणिता द्वादशक्रमात् ।
नित्यामन्त्रं महेशान्या वासुदेवात्मकं मनुम् ॥ ९५ ॥
राशीन् भानून् हरेर्मूर्त्तीर्यन्त्रं सा द्वादशात्मकम् ।
अन्यदेतादृशं सर्वं यत् तदस्यामजायत ॥ ९६ ॥

समुद्गिरतीति क्रिया काकाक्षिगोलकन्यायेन पूर्वोत्तरवाक्ययोः सम्बध्यते। अन्त्याद्यो निर्बन्धनात् सर्वोत्तरवाक्ये अन्यदित्यन्तं सम्बध्यते । इत उत्तरं भिन्नमेव वाक्यम् । नित्यामन्त्रं महेशान्या वज्रप्रस्तारिण्याश्च दशमे । वासुदेवं पञ्चदशे । राशीनष्टमे । भानून् हरेर्मूर्त्तीश्च पञ्चदशे । यन्त्रं नवमे ।

अन्यदिति खड्गमन्त्रादि । एतादृशमित्यनेनैतदुक्तं भवति । त्रयोदशधागुणिता वागीश्वर्यश्वारूढामन्त्रं विश्वेदेवादिकम् । चतुर्दशधा लक्ष्मीवासुदेवगोपालमन्त्रभुवनादिकम् । पञ्चदशधा नित्याशूलिनीमन्त्रतिथ्यादिकम् । षोडशधा चक्रमन्त्रस्वरकलादिकम् । सप्तदशधा लघुपञ्चमीतारादिविद्यामन्त्रादिकम् । अष्टादशधा कृष्णवामनमन्त्रमग्निसंस्कारादिकम् । ऊनविंशतिधा कृष्णधरामन्त्रादिकम् । विंशतिधा हलधरोमामहेस्वरमन्त्रादिकम् । एकविंशतिधा वटुकनाममन्त्रतद्यन्त्रादिकम् । द्वाविंशतिधा कृष्णात्राधिपतिसुमुखीमन्त्रादिकम् । त्रयोविंशतिधा लघुश्यामा पुरुषोत्तमहृदङ्गमन्त्रादिकं सूत इति ॥ ९५-९६ ॥

वही सर्वात्मा भगवती अपने द्वादशात्मक रूप से क्रमशः महेशानी के नित्या मन्त्र, वासुदेवात्मक मन्त्र, द्वादश राशियाँ, द्वादश सूर्य, द्वादश विष्णु की मूर्त्ति और द्वादशात्मक मन्त्र, इसी प्रकार अन्य जितने जितने भी द्वादश पदार्थ हैं उन सभी को उत्पन्न करती हैं ॥ ९५-९६ ॥

चतुर्विंशतितत्त्वा सा यदा भवति शोभना ।
गायत्रीं सवितुः शम्भोः गायत्रीं मदनात्मिकाम् ॥ ९७ ॥

गायत्रीं विष्णुगायत्रीं गायत्रीं त्रिपदात्मनः।
गायत्रीं दक्षिणामूर्त्तेर्गायत्रीं शम्भुयोषितः॥ ९८ ॥
चतुर्विंशतितत्त्वानि तस्यामासन् परात्मनि ॥ ९९ ॥

यद्यपि त्रयोदशविश्वेदेवात्मिका चतुर्दशभुवनात्मिका पञ्चदशतिथ्यात्मिकापि सृष्टेर्भगवत्युत्पादितैव तथापि परार्द्धपर्यन्तं तस्याः सत्त्वात् वह्वीनां वक्तुमशक्यत्त्वात् प्रधानभूता आह चतुरिति । चतुर्विंशतिस्तत्त्वस्वरूपं तद्रूप आत्मा यस्याः सा चतुर्विंशतिधा गुणितेत्यर्थः । सवितुरित्येकविंशे । शम्भोरिति तन्त्रान्तरोक्ता । तत् 'महेशाय विद्महे वाग्विशुद्धाय धीमहि । तन्नः शिवः प्रचोदयात्' इति । मदनात्मिका सप्तदशे ॥ ९७ ॥

विष्णुगायत्री अपि सप्तदशे । पुरुषोत्तमगायत्री च विष्णुगायत्रीशब्देनोक्ता तन्त्रान्तरोक्ता वा ।

'नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि । तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्' इति ।

त्रिपदात्मनस्त्रिपुरायाः सा द्वादशे । दक्षिणामूर्त्तेरिति । 'दक्षिणामूर्त्तये विद्महे ध्यानस्थाय धीमहि । तन्नो घोरः प्रचोदयात्' इति । शम्भुयोषित इति । 'सर्वमोहिन्यै विद्महे विश्वजनन्यै धीमहि । तन्नः क्लिन्ने प्रचोदयात्' इति । तत्त्वानि आद्ये । एता गायत्र्यस्तत्त्वान्यप्यस्यामासन्नुत्पन्नानि । अत्राप्यन्यदिति ज्ञेयम् । तच्चाग्निसमृद्धाग्नि-दक्षिणामूर्त्तिचिटिमन्त्रवक्रतुण्डदुर्गात्वरिताग्निनृसिंहगरुडहयग्रीवगायत्र्यादि ॥ ९७-९९ ॥

जब वह मङ्गलकारिणी चतुर्विंशति तत्त्व स्वरूपा होती हैं, तब वह सविता देवता की चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, शिव की मदनात्मिका गायत्री, विष्णु की विष्णुगायत्री (पुरुषोत्तम गायत्री), त्रिपुरा देवी की त्रिपुरागायत्री, गुरुरूप दक्षिणामूर्त्ति की दक्षिणामूर्त्तिगायत्री, शम्भु योषिता अम्बा की गायत्री और अन्य चतुर्विंशति तत्त्वों को उत्पन्न करती हैं ॥ ९७-९९ ॥

द्वात्रिंशद्भेदगुणिता सर्वमन्त्रमयी विभुः।
सूते मृत्युञ्जयं मन्त्रं नारसिंहं महामनुम् ॥ १०० ॥
लवणाख्यं मनुं मन्त्रं वरुणस्य महात्मनः।
हयग्रीवं मनुं दौर्गं वाराहं वह्निनायकम् ॥ १०१ ॥
गणेशितुर्महामन्त्रं मन्त्रमन्नाधिपस्य सा ।
मन्त्रं श्रीदक्षिणामूर्त्तेर्मालामन्त्रं मनोभुवः॥ १०२ ॥
त्रिष्टुभं वनवासिन्या अघोराख्यं महामनुम्।
भद्रकालीमनुं लक्ष्म्या मालामन्त्रं यमात्मकम् ॥ १०३ ॥
मन्त्रं सा देवकीसूनोर्मन्त्रं श्रीपुरुषोत्तमम्।
श्रीगोपालमनुं भूमेर्मनुं तारामनुं क्रमात् ॥ १०४ ॥
महामन्त्रं महालक्ष्म्या मन्त्रं भूतेश्वरस्य सा ।

क्षेत्रपालात्मकं मन्त्रं मन्त्रमापन्निवारणम् ।
सूते मातङ्गिनीं विद्यां सिद्धविद्यां शुभोदयाम् ॥ १०५ ॥

मृत्युञ्जयं वैदिकं त्रयोविंशे । नारसिंहं षोडशे । महामनुं मन्त्रराजमिति पूर्वविशेषणम् । लवणाख्यं द्वाविंशे । वरुणस्येति श्रुत्युक्तम् । महात्मन इति विशेषणम्, तेन महावारुणमित्यर्थः । हयग्रीवं पञ्चदशे । दौर्गं श्रुत्युक्तम् । 'अम्बिके अम्बालिके' इत्यादिकम् । वाराहं पञ्चदशे । वह्निनायकम् अग्न्युपस्थानमन्त्रं पञ्चमे । गणेशितुर्हरिद्रागणेशस्य 'ॐ हुँ गं ग्लौं हरिद्रागणपतये वरवरद सर्वजनहृदयं स्तम्भय स्तम्भय स्वाहा' । आथर्वणिको वक्रतुण्डस्य वा—

रायस्पोषप्रदाता च निधिदो रत्नदो मतः ।
रक्षोहणो वलाहनो वक्रतुण्डाय हूं नमः ॥

महामन्त्रमित्युक्तेः अत्रैव वक्ष्यमाणो महागणपतिमन्त्रो वा । सम्प्रदायेन तस्य द्वात्रिंशदक्षरत्वात् । अन्नाधिपस्य तन्त्रान्तरोक्तः 'ॐ ह्रीँ अन्नरूप रसचतुष्टयरूप नमो नमः अन्नाधिपतये ममान्नं प्रयच्छ स्वाहा' इति दक्षिणामूर्त्तेरेकोनविंशे । मालामन्त्रं द्वात्रिंशदक्षरं मनोभुवस्तन्त्रान्तरोक्तम् । त्रिष्टुभमिति तदन्तर्गतोक्तोपचारात् द्वात्रिंशदक्षर उच्यते। तदन्तर्द्वासप्ततिमन्त्राणामुद्धृतत्वात् । तन्मध्ये द्वात्रिंशदक्षराणामपि सत्त्वात् । अघोराख्यं तन्त्रान्तरोक्तम् । ग्रन्थकारोक्तस्यैकपञ्चाशदक्षरत्वात् । यदाह—

नकारस्ततो दन्तसम्भिन्नकालं भगस्यान्ततो वाथ ते तस्य चान्ते ।
ततोऽघोररूपा यकारस्य चान्ते हनद्वन्द्वतोऽथो दहद्वन्द्वतश्च ॥
पचाभ्यासमुक्त्वा तथा भ्रामय स्यात् शिरोऽन्तश्च वर्मादिकं फट्पदञ्च ।

इति ।

नकारेति । 'नमो भगवते अघोररूपाय हन हन दह दह पच पच भ्रामय भ्रामय हुँ फट् स्वाहा' । चतुस्त्रिंशदर्णोऽघोरमन्त्रः अघोरानुष्टुप् अघोरामुनाद्याः (६, ६, ८, १०, २, २=३४) षडङ्गम् । भद्रकालीमनुं चतुर्विंशे । महालक्ष्म्या दशमे । सर्वतोभद्ररूपं यमात्मकमिति मन्त्रद्वयं चतुर्विंशे । देवकीसूनोरिति सुकीर्त्यादिकं सप्तदशे । श्रीपुरुषोत्तममन्त्रं तन्त्रान्तरोक्तम्—'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय पुरुषोत्तम आयुर्मे देहि विष्णवे प्रभविष्णवे नमः' । श्रीगोपालमनुं यन्त्राङ्गद्वयमपि सप्तदशे । भूमेर्मनुम्—

उद्धृताऽसि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना ।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम् ॥

इति तन्त्रान्तरोक्तम् । तारामनुं तन्त्रान्तरोक्तम्—'ॐ ह्रीँ ह्रौँ हूं नमस्तारायै महातारायै सकलदुस्तरांस्तारय तारय तर तर स्वाहा' इति । महालक्ष्म्या महामन्त्रं श्रीसूक्तलक्षणम् । भूतेश्वरस्य मन्त्रं तन्त्रान्तरोक्तम्—'ॐ नमो भगवते रुद्राय सर्वभूताधिपतये भूतप्रेतपिशाचिनीर्नाशय नाशय' इति । क्षेत्रपालात्मकं तन्त्रान्तरोक्तम् —'एह्येहि विदुषि विमुखि नर्त्तय नर्त्तय विघ्नमहाभैरव क्षेत्रपाल इमं बलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहा' इति । आपन्निवारणं तन्त्रान्तरोक्तम् । अत्र एकविंशत्यक्षरस्य वक्ष्यमाणत्वात्। मातङ्गिनीं तन्त्रान्तरोक्तम्—'ॐ ह्रीँ ऐँ श्रीँ नमो भगवति उच्छिष्टचाण्डालि

श्रीमातङ्गेश्वरि सर्वजनवशङ्करि स्वाहा' इति । सिद्धविद्यां तन्त्रान्तरोक्ताम् । पूर्वोक्ताया एव सिद्धेत्यादि विशेषणद्वयं वा । अन्यदित्यपि ज्ञेयम् । तच्च वैष्णवतत्त्वशैवव्यापक-मन्त्रादि ॥ १००-१०५ ॥

जब संपूर्ण मन्त्रमयी वह बत्तीस भेदों में अपना स्वरूप धारण करती हैं, तो मृत्युञ्जय मन्त्र, नारसिंह महामन्त्र, महात्मा महावरुण के लवण नामक महामन्त्र हयग्रीव मन्त्र, दुर्गा मन्त्र, वाराह मन्त्र, अग्नि के उपस्थान मन्त्र, महागणपति मन्त्र, अन्नाधिप का मन्त्र, दक्षिणामूर्त्ति मन्त्र, मालामन्त्र, मनोभुव का मन्त्र, वनवासिनी का त्रिष्टुप् मन्त्र, अघोर नामक महामन्त्र, भद्रकाली मन्त्र, लक्ष्मी के दो दो (=यमात्मक = ४) माला मन्त्र, श्रीकृष्ण का मन्त्र, श्रीपुरुषोत्तम का मन्त्र, श्रीगोपालमन्त्र, भूमि मन्त्र, तारा मन्त्र, महालक्ष्मी का महामन्त्र, भूतेश्वर का मन्त्र, क्षेत्रपालात्मक मन्त्र, त्रिपुरा का आपन्निवारण मन्त्र, मातङ्गिनी विद्या, कल्याणकारिणी सिद्धविद्या आदि इसी प्रकार के मन्त्रों को उत्पन्न करती हैं ॥ १००-१०५ ॥

कुण्डलीतः शैवतत्त्वोत्पत्तिः

अनेन क्रमयोगेन गुणिता शिववल्लभा ।
षट्त्रिंशतञ्च तत्त्वानां शैवानां रचयत्यसौ ॥ १०६ ॥

अनेनेति । अनेन क्रमयोगेन गुणिता षट्त्रिंशद्वारगुणिता इत्यर्थः । शैवानामिति पञ्चमे ॥ १०६ ॥

मन्त्रोत्पत्तौ क्रमः

अन्यान् मन्त्रांश्च यन्त्राणि शुभदानि प्रसूयते ।
द्विचत्वारिंशता मूले गुणिता विश्वनायिका ॥ १०७ ॥

अन्यान्मन्त्रानिति । तन्त्रान्तरोक्तोच्छिष्टगणपति पुरुषोत्तमव्यापक मन्त्रादीन् । पूर्वो यथा—-'ॐ नमो भगवते एकदंष्ट्राय हस्तिमुखाय लम्बोदराय उच्छिष्टमहात्मने क्रोँ ह्रुं ह्रीँ हूं घे घे स्वाहा' इति । तृतीयं सप्तदशे । यन्त्राणीति यन्त्रपटल-प्रोक्तकोष्टात्मकयन्त्राष्टमपटलप्रोक्तमहालक्ष्मीयन्त्रादीनि । अनेन क्रमयोगेनेति सामा-न्योक्तेर्मन्त्रान् यन्त्राणीति च तथोक्तेरष्टत्रिंशता गुणिता अष्टत्रिंशत्कला मन्त्रास्तद्-बीजादि । (वन) नवदुर्गापुरुषोत्तमनेत्राङ्गमन्त्रादीन् यन्त्राणि वृद्धश्यामा वराहनृसिंह-यन्त्रादीनि सूते इति सूचितम् ॥

द्विचत्वारिंशतेति । मूले मूलाधारे द्विचत्वारिंशता गुणिता विश्वनायिका कुण्डलिनी अनेन क्रमेण अकारादिसकारान्तां द्विचत्वारिंशदात्मिकां भूतलिपि-मन्त्रात्मिकां वर्णमालिकां सृजतीति सम्बन्धः ॥ १०७ ॥

इसी क्रम से वह शिव वल्लभा ३६ स्वरूप में प्रगट हो कर शिव सम्बन्धी ३६ तत्त्वों को उत्पन्न करती हैं एवं शुभदायक ३६ मन्त्रों को तथा मन्त्रों का निर्माण करती हैं ॥ १०६-१०७ ॥

कुण्डलीतः शक्त्याद्युत्पत्तिः

सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः।
शक्तिं ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निरोधिका ॥ १०८ ॥

परादिवागुत्पत्तिः

ततोऽर्धेन्दुस्ततो बिन्दुस्तस्मादासीत् परा ततः ।
पश्यन्ती मध्यमा वाचि वैखरी शब्दजन्मभूः ।
इच्छाज्ञानक्रियात्माऽसौ तेजोरूपा गुणात्मिका॥ १०९ ॥
क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम् ।
अकारादिसकारान्तां द्विचत्वारिंशदात्मिकाम्॥ ११० ॥
पञ्चाशद्वारगुणिता पञ्चाशद्वर्णमालिकाम् ।
सूते तद्वर्णतोऽभिन्ना कला रुद्रादिकान् क्रमात्॥ १११ ॥

तमेव क्रममाह शक्तिमिति । सा कुण्डलिनी शक्तिं प्रसूते । (शक्तिर्नाम मूलकारणस्य शब्दस्योन्मुखीकरणावस्थेति गूढार्थदीपिकाकारः)। ततः शक्तेर्ध्वनिः । ततः तस्माद् ध्वनेरित्यादि ज्ञेयम् । अयञ्च क्रमो ग्रन्थकृता सर्वशेषे उक्तोऽपि एकाद्यक्षरोत्पत्तावप्यनुसन्धेयः । तत्र सत्त्वप्रविष्टा चिच्छक्तिवाच्या परमाकाशावस्था, सैव सत्त्वप्रविष्टा रजोऽनुविद्धा सती ध्वनिशब्दवाच्या अक्षरावस्था, सैव तमोऽनुविद्धा नाद शब्दवाच्या अव्यक्तावस्था, सैव तमःप्राचुर्यान्निरोधिकाशब्दवाच्या, सैव सत्त्वप्राचुर्यादर्द्धेन्दु शब्दवाच्या तदुभयसंयोगाद् बिन्दुशब्दवाच्या । यदाहुः—

इच्छाशक्तिबलोत्कृष्टो ज्ञानशक्तिप्रदीपकः ।
पुंरूपिणी च सा शक्तिः क्रियाख्यां सृजति प्रभुः ॥ इति ।

असावेव बिन्दुः स्थानान्तरगतः पराद्याख्यो भवति । तस्मादिति बिन्दोः । परा मूले, पश्यन्ती स्वाधिष्ठाने, मध्यमा हृदये, वैखरी मुखे । तदुक्तम्—

सूक्ष्मा कुण्डलिनीमध्ये ज्योतिर्मात्रात्मरूपिणी ।
अश्रोत्रविषया तस्मादुद्गच्छत्यूर्द्धगामिनी ॥
स्वयंप्रकाशा पश्यन्ती सुषुम्णामाश्रिता भवेत् ।
सैव हृत्पङ्कजं प्राप्य मध्यमा नादरूपिणी ॥
ततः संजल्पमात्रा स्यादविभक्तोर्द्धगामिनी ।
सैवोरः कण्ठतालुस्था शिरोघ्राणरदस्थिता ॥
जिह्वामूलौष्ठनिस्यूतसर्ववर्णपरिग्रहा ।
शब्दप्रपञ्चजननी श्रोत्रग्राह्या तु वैखरी ॥ इति ।

कादिमतेऽपि— स्वात्मेच्छाशक्तिघातेन प्राणवायुस्वरूपतः ।
मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नाद उत्तमः ॥
स एवोर्द्ध्वं तया नीतः स्वाधिष्ठाने विजृम्भितः ।
पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तयैवोर्द्ध्वं शनैः शनैः ॥

अनाहते बुद्धितत्त्वसमेतो मध्यमाभिधः ।
तथा तयोर्द्ध्वं नुन्नः सन् विशुद्धौ कण्ठदेशतः ॥
वैखर्याख्यस्ततः कण्ठशीर्षताल्वोष्ठदन्तगः ।
जिह्वामूलाग्रपृष्ठस्थस्तथा नासाग्रतः क्रमात् ॥
कण्ठताल्वोष्ठकण्ठौष्ठाद्दन्तौष्ठद्वयतस्तथा ।
समुत्पन्नान्यक्षराणि क्रमादादिक्षकावधि ॥
आदिक्षान्तरतेत्येषामक्षरत्वमुदीरितम् ॥ इति ।

तथाच श्रुतिः—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
इति ।

अथ वा चिच्छक्तिरेव पराख्या चैतन्याभासविशिष्टतया प्रकाशिका माया निष्पन्दा परा वागित्यर्थः । सस्पन्दावस्थाः पश्यन्त्याद्याः । तत्र सामान्यप्रस्पन्द-प्रकाशरूपिणीं बिन्दुतत्त्वात्मिकां मूलाधारादिनाभ्यन्तरव्यक्तिस्थानां पश्यन्तीमाह पश्यन्तीति । ज्ञानात्मकत्वात् पश्यन्तीत्यर्थः । बाह्यान्तःकरणात्मिकां हिरण्यगर्भ-रूपिणीं नादबिन्दुमयीं नाभ्यादिहृदयान्ताभिव्यक्तिस्थानां विशेषसङ्कल्पादिसतत्त्वां मध्यमामाह मध्यमेति । मध्ये मा बुद्धिर्यस्या इति विग्रहः । विराड्रूपिणीं बीजात्मिकां हृदयाद्यास्यान्ताभिव्यक्तिस्थानां शब्दसामान्यात्मिकां वैखरीमाह वाचीति । विशेषेण खरत्वात् वैखरीत्यर्थः । तद्वर्णत इति । ते च ते वर्णाश्च तः अभिन्ना याः कलाः ताः सूते । रुद्रादिकान् सूते । आदिशब्देन तच्छक्तयः विष्णवः विष्णुशक्तयः पञ्चाशदोषधयश्च पञ्चाशत् कामाः तच्छक्तयश्च पञ्चाशद्गणेशास्तच्छक्तयः पञ्चाशत् क्षेत्रपालास्तच्छक्तयश्च । अत्र पञ्चाशदोषधयो यथा—

चन्दनकुचन्दनागुरुकर्पूरोशीररोगजलघुसृणाः ।
कक्कोलजातीमांसीमुरचोरग्रन्थिरोचनापत्राः ॥
पिप्पलबिल्वगुहारुणतृणकलवङ्गाह्वकुम्भिवन्दिन्यः ।
सौदुम्बरी काश्मरिका स्थिराब्जदरपुष्पिकामयूरशिखाः ॥
प्लक्षाग्निमन्थसिंही कुशाह्वदर्भाश्च कृष्णदरपुष्पी ।
रोहिणढुण्ढु कबृहती पाटलिचित्रा तुलस्यपामार्गाः ॥
शतमखलता द्विरेफा विष्णुक्रान्तामुसल्यथाञ्जलिनी ।
दूर्वाश्रीदेविसहे तथैव लक्ष्मीसदाभद्रे ॥
आदीनामिति कथिता वर्णानां क्रमवशादथौषधयः ।
गुलिकाकषायभसितप्रभेदतो निखिलसिद्धिदायिन्यः ॥ इति ।

आसामोषधीनां प्रयोजनान्तरमप्युक्तं कादिमते—

यो यो मन्त्रस्तस्य तस्य वर्णौषधिविनिर्मिताः ।
तत्तद्वर्णोत्थसंख्याभिर्गुलिका मन्त्रसिद्धिदा ॥
तयाभिषेकस्तद्धारणं तत्स्वादस्तद्विलेपनम् ।
तत्पूजा च तथा सिद्धिलाभाय स्यान्न चान्यथा ॥ इति ।

पञ्चाशत् कामास्तच्छक्तयश्च यथा—

कामकामदकान्ताश्च कान्तिमान् कामगस्तथा ।
कामाचारश्च कामी च कामुकः कामवर्द्धनः ॥
रामो रमश्च रमणो रतिनाथो रतिप्रियः ।
रात्रिनाथो रमाकान्तो रममाणो निशाचरः ॥
नन्दको नन्दनश्चैव नन्दी नन्दयिता पुनः ।
पञ्चवाणो रतिसखः पुष्पधन्वा महाधनुः ॥
भ्रामणो भ्रमणश्चैव भ्रममाणो भ्रमोऽपरः ।
भ्रान्तश्च भ्रामकश्चैव भ्रान्ताचारो भ्रमावहः ॥
मोहको मोहनो मोहो मोहवर्द्धन एव च ।
मदनो मन्मथश्चैव मातङ्गो भृङ्गनायकः ॥
गायनो गीतिजश्चैव नर्त्तकः खेलकस्तथा ।
उन्मत्तो मत्तकश्चैव विलासो लोभवर्द्धनः ॥
दाडिमीकुसुमाभाश्च वामाङ्के शक्तिसंयुताः ।
सौम्या रक्ताम्बराः सर्वे पुष्पबाणेक्षुकार्मुके ॥
बिभ्राणाः सर्वभूषाढ्याः कामाः पञ्चाशदीरिताः ।
रतिः प्रीतिः कामिनी च मोहिनी कमलप्रिया ॥
विलासिनी कल्पलता (का) श्यामला च शुचिस्मिता ।
विस्मिताक्षी विशालाक्षी लेलिहाना दिगम्बरा ॥
वामा कुब्जा धरा नित्या कल्याणी मोहिनी तथा ।
मदना च सुरश्रेष्ठा लापिनी मर्दिनी तथा ॥
कलहप्रिया चैकाक्षी सुमुखी नलिनी तथा ।
जपिनी पालिनी चैव शिवा मुग्धा रसा भ्रमा ॥
चारुलोला चञ्चला च दीर्घजिह्वा रतिप्रिया ।
लोलाक्षी भृङ्गिणी चैव पाटला मादनी तथा ॥
माला च हंसिनी विश्वतोमुखी नन्दिनी तथा ।
रमणी च तथा कान्तिः कलकण्ठी वृकोदरी ॥
मेघश्यामा मदोन्मत्ता एताः पञ्चाशदीरिताः ।
शक्तयः कुङ्कुमनिभाः सर्वाभरणभूषिताः ।
नीलोत्पलकरा ध्येयास्त्रैलोक्याकर्षणक्षमाः ॥ इति ।

पञ्चाशद्गणेशास्तच्छक्तयश्च यथा—

विघ्नेशो विघ्नराजश्च विनायकशिवोत्तमौ ।
विघ्नकृद् विघ्नहर्त्ता च गणैकद्विसुदन्तकाः ॥
गजवक्त्रनिरञ्जनौ कपर्दी दीर्घजिह्वकः ।
शङ्कुकर्णश्च वृषभध्वजश्च गणनायकः ॥
गजेन्द्रः सूर्पकर्णश्च स्यात् त्रिलोचनसंज्ञकः ।
लम्बोदरमहानन्दौ चतुर्मूर्त्तिः सदाशिवः ॥
आमोददुर्मुखौ चैव सुमुखश्च प्रमोदकः ।

एकरदो द्विजिह्वश्च शूरवीरसषण्मुखाः ॥
वरदो वामदेवश्च वक्रतुण्डो द्विरण्डकः ।
सेनानीर्ग्रामणीर्मत्तो विमत्तो मत्तवाहनः ॥
जटी मुण्डी तथा खड्गी वरेण्यो वृषकेतनः ।
भक्षप्रियो गणेशश्च मेघनादकसंज्ञकः ॥
व्यापी गणेश्वरः प्रोक्ताः पञ्चाशद् गणपा इमे ।
(ध्यानम्) तरुणारुणसङ्काशा गजवक्त्रास्त्रिलोचनाः ॥
पाशाङ्कुशवराभीतिहस्ताः शक्तिसमन्विताः ।
(५० शक्तयः) श्रीर्ह्रीश्च पुष्टिशान्ती च स्वस्तिश्चैव सरस्वती ॥
स्वाहामेधाकान्तिकामिन्यो मोहिन्यपि वैं नटी ।
पार्वती ज्वालिनी नन्दा सुपाशा कामरूपिणी ॥
उमा तेजोवती सत्या विघ्नेशा विघ्नरूपिणी ।
कामदा मदजिह्वा च भूतिः स्याद्भौतिका सिता ॥
रमा च महिषी प्रोक्ता भञ्जिनी च विकर्णपा ।
भ्रूकुटिः स्यात्तथा लज्जा दीर्घघोणा धनुर्धरा ॥
यामिनी रात्रिसंज्ञा च कामान्धा च शशिप्रभा ।
लोलाक्षी चञ्चला दीप्तिः सुभगा दुर्भगा शिवा ॥
भर्गा च भगिनी चैव भोगिनी सुभगा मता ।
कालरात्रिः कालिका च पञ्चाशच्छक्तयः स्मृताः ॥
सर्वालङ्करणोद्दीप्ताः प्रियाङ्कस्थाः सुलोचनाः ।
रक्तोत्पलकरा ध्येया रक्तमाल्याम्बरारुणाः ॥ इति ।

पञ्चाशत् क्षेत्रपालाः क्षेत्रपालमन्त्रे वक्ष्यन्ते ॥ १०८-१११ ॥

वही विश्वनायिका शब्द ब्रह्ममयी सर्वव्यापिका कुण्डलिनी शक्ति जब मूल से ४२ गुना रूप धारण करती हैं तो प्रथम शक्ति, शक्ति से ध्वनि, ध्वनि से नाद, नाद से निरोधिका को उत्पन्न करती हैं ॥ १०८ ॥

निरोधिका से अर्द्धेन्दु, पुनः दो अर्द्धेन्दु से बिन्दु, बिन्दु से परा, उससे पश्यन्ती, तदनन्तर मध्यमा, फिर वैखरी उत्पन्न होती हैं, यही वाणियों की उत्पत्ति के स्थान हैं ॥ १०९ ॥

इच्छारूपा ज्ञानरूपा, क्रियारूपा और तेजोरूपा त्रिगुणा, वही कुण्डलिनी इसी क्रम से अकारादि सकारान्त ४२ बयालीस अक्षरों की सृष्टि करती हैं ॥ ११० ॥

जब वह पचास रूप में स्थित होती हैं, तब पच्चास वर्णों की तथा उन वर्णों से अभिन्न रुद्र कलाओं की क्रमशः सृष्टि करती हैं ॥ १११ ॥

निरोधिकार्द्धेन्दुबिन्दूनामर्काग्नीन्दुरूपत्वम्

निरोधिका भवेद्वह्निरर्द्धेन्दुः स्यान्निशाकरः ।
अर्कः स्यादुभयोर्योगे बिन्द्वात्मा तेजसां निधिः ॥ ११२ ॥

वर्णानां सोमसूर्याग्निरूपत्वम्

जाता वर्णा यतो बिन्दोः शिवशक्तिमयादतः ।
अग्नीषोमात्मकास्ते स्युः शिवशक्तिमयाद्रवेः ।
येन सम्भवमापन्नाः सोमसूर्याग्निरूपिणः ॥ ११३ ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचिते शारदातिलके
प्रथमः पटलः समाप्तः ॥ १ ॥



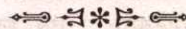
वर्णानामग्नीषोमात्मकत्वं सोमसूर्याग्निरूपत्वञ्च अग्रे उपयोगीति तद्विविक्ष्याह निरोधिकेति । निरोधिकाया अग्निरूपत्वात् शिवस्वरूपत्वम् । अर्द्धेन्दोः सोमरूपत्वात् शक्तिस्वरूपत्वम् । येन कारणेन शिवशक्तिमयाद्रवेः सम्भवमापन्नाः । रवेः शिवशक्तिमयत्वम् । अर्कः स्यादुभयोर्योगे इत्युक्तेः । तेन सोमसूर्याग्निरूपिणो भवन्ति । कार्यकारणयोरभेदात् ॥ ११२-११३ ॥

॥ इति श्रीराघवभट्टविरचित-शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां प्रथमः पटलः ॥ १ ॥



निरोधिका अग्नि स्वरूपा है, इसलिये शिवात्मक है । बिन्दु चन्द्र स्वरूप है, इसलिये शक्त्यात्मक है । शिव शक्ति के योग में वही बिन्द्वात्मा, तेजो निधान सूर्य स्वरूप हो जाता है । यतः शिव शक्तिमय बिन्दु से वर्णों की उत्पत्ति होती है, अतः वे सभी अग्नीषोमात्मक हैं और शिव शक्ति का योग पूर्व में सूर्य स्वरूप कहा गया है इसलिये सभी वर्ण सोम, सूर्य और अग्निस्वरूप हैं ॥ ११२-११३॥

॥ इस प्रकार शारदातिलक के प्रथम पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १ ॥



अथ द्वितीयः पटलः

अथ वैखरीसृष्टि प्रकरणम्

ततो व्यक्तिं प्रवक्ष्यामि वर्णानां वदने नृणाम् ।
प्रेरिता मरुता नित्यं सुषुम्णारन्ध्रनिर्गताः ॥ १ ॥

तत्र वर्णाभिव्यक्तिः वर्णविभागश्च

कण्ठादिकरणैर्वर्णाः क्रमादाविर्भवन्ति ते ।
एषु स्वराः स्मृताः सौम्याः स्पर्शाः सौराः शुभोदयाः ॥ २ ॥

स्वरसंख्या स्पर्शसंख्या

आग्नेया व्यापकाः सर्वे सोमसूर्याग्निदेवताः ।
स्वराः षोडश विख्याताः स्पर्शास्ते पञ्चविंशतिः ॥ ३ ॥

एवमर्थसृष्टिं शब्दसृष्टिञ्च मध्यमान्तामभिधाय उक्तानुवादपूर्वकं वैखरीसृष्टिं वक्तुं प्रतिजानीते तत इति । प्रेरिता मरुतेति । मरुता क्रमात् प्रेरिताः पश्यन्तीस्थानं प्रापिताः उत्पत्त्युन्मुखीकृता इति यावत् । अतएव सुषुम्णारन्ध्रनिर्गता वर्णाः कण्ठादि-करणैः क्रमादाविर्भवन्ति इति सम्बन्धः । सुषुम्णारन्ध्राण्यनाहतविशुद्धयोः । एकदोच्चारणाभावात् क्रमादित्युक्तम् । तदुक्तं भगवता भर्तृहरिणा—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥ इति ।

कण्ठादीत्यादिशब्देन ताल्वादिपरिग्रहः । तदुक्तम्—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरःकण्ठशिरस्तथा ।
जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकौष्ठञ्च तालु च ॥ (वा० इति ।

यत् सर्ववर्णानां सोमसूर्याग्निरूपत्वमुक्तं तस्यैवाग्रे प्रयोगार्थम् अष्टत्रिंश-त्कलादिव्यवहाराय च व्यवस्थया त्रैविध्यमाह एष्विति । एषु वर्णेषु स्वराः अकारादिविसर्गान्ताः स्पर्शाः ककारादिमकारान्ताः व्यापकाः यकारादिक्षकारान्ताः। शुभोदयाः सर्वे एवं सोमसूर्याग्निदेवताः । तत्र स्वराणामुदयमनन्तरमेव वक्ष्यति । अन्येषामुदयस्तु अन्तिमपटले वक्ष्यमाणभूतोदयेनेति ज्ञेयम् । 'भूतकलाभिस्तदुदयः' इति आचार्योक्तेः । तदत्रैव भूतवर्णकथनेन सूचयिष्यति 'विना स्वरैः' (शा० २.८)

इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । स्वरादयः कियन्त इत्यपेक्षायामाह स्वरा इति । विख्याताः विशेषेण ख्याताः स्वतन्त्रा इत्यर्थः ।

यदाहुः—'तेषु स्वराः स्वतन्त्राः स्युः' इति ॥ १-३ ॥

इस प्रकार मध्यमान्त अर्थ सृष्टि एवं शब्द सृष्टि का कथन करके अब **'बैखरी सृष्टि'** का विवेचन करते हैं—

अब मनुष्य के मुख में जिस प्रकार वर्णों की उत्पत्ति होती है उसे कहता हूँ—प्रथमतः वे वर्ण मारुत की प्रेरणा से 'पश्यन्ती' स्थान को प्राप्त होते हैं । पुनः सुषुम्णा स्थान से निकल कर कण्ठ, ताल्वादि करणों के द्वारा क्रमशः एक-एक कर आविर्भूत होते हैं । इनमें अकारादि विसर्गान्त वर्ण 'स्वर वर्ण' कहे जाते हैं जो सोम देवताक हैं । क से लेकर म पर्यन्त वर्ण 'स्पर्श' कहे जाते हैं और सूर्य देवताक होने से सौर कहे जाते हैं । यकारादि क्षकारान्त वर्ण अग्निदेवताक हैं और व्यापक हैं (इस प्रकार सभी वर्ण सोम, सूर्य एवं अग्नि देवताक हैं । इनमें अकारादि विसर्गान्त १६ 'वर्ण' स्वर वर्ण कहे जाते हैं । ककारादि मकारान्त २५ वर्ण स्पर्श कहे जाते हैं) ॥ १-३ ॥

मकारस्य पुंस्त्वम्

तत्त्वात्मानः स्मृताः स्पर्शा मकारः पुरुषो यतः ।
व्यापका दश ते कामधनधर्मप्रदायिनः ॥ ४ ॥

तत्त्वात्मान इति । प्रकृत्यादिचतुर्विंशतितत्त्वमया इति स्वरूपकथनम् । ननु तेषां पञ्चविंशतिसंख्यकत्वात् कथं चतुर्विंशतितत्त्वमयत्वमत आह मकारः पुरुषो यत इति। यतः कारणान्मकारः पुरुषः परमात्मा च विश्वरूप इत्यर्थः । भादयः प्रकृति-बुद्ध्याहङ्कारमनांसि तन्मात्राः श्रोत्रवागाकाशादयः इतरा वर्णाः । इदञ्च शक्तितत्त्वादि-न्यासेषूपयोगीत्युक्तं द्विद्विवर्णक्रमोक्तद्वादशसूर्यकलासु अन्त्यत्याग इत्यपि सूचितम् । एवं ते चतुर्विंशतितत्त्वमयाः । 'अन्त्य आत्मा रविः स्मृतः' इत्याचार्योक्तेः । अत एव सर्वबीजेषु बिन्दुरूपमकारयोगात् पुरुषैक्यं तेषामिति मन्तव्यम् । मकारस्य बिन्दु-रूपत्वात् 'बिन्दुः पुमान् रविः प्रोक्तः' इति वक्ष्यमाणत्वाच्च । स्वावयवेषु ककारादिषु अनुगतत्वात् सूर्यरूपबिन्द्वात्मना मकारेण स्पृश्यमानत्वात् स्पर्शाः अतएव सौराः । यद्वा एवं योजना । मकारः पुरुषः अन्ये स्पर्शास्तत्त्वात्मानः । यत इत्यग्रिमेन सम्बध्यते । यतः यकाराद्दश व्यापकाः । एषां दोषदूष्येषु वर्त्तमानत्वाद् व्यापकत्वम् । तत्राग्नीनामपि सत्त्वादाग्नेया इत्यपि नृसिंहाख्यकालाग्निरूपक्षकारान्तत्वेन वा आग्नेया इत्यपि द्रष्टव्यम् । ते कामधनधर्मप्रदा इति क्रमेण त्रयाणां फलम् । अतएवाग्रे 'कामदायिन्यः स्वरजाः' इत्यादि वक्ष्यति ॥ ४ ॥

ऊपर कहे गये २५ स्पर्श वर्णों में २४ वर्ण तत्त्व शब्द से व्यवहृत किये जाते हैं । 'मकार' वर्ण पुरुष (परमात्मा या विश्वरूप) कहा जाता है । यकारादि से क्षकारान्त दश वर्ण व्यापक कहे जाते हैं । इस प्रकार ये सभी वर्ण क्रमशः काम, धन और धर्म प्रदान करने वाले हैं ॥ ४ ॥

व्यापकसंख्या

स्वराणां ह्रस्वदीर्घादिभेदः

ह्रस्वः स्वरेषु पूर्वोक्तः परो दीर्घः क्रमादिमे ।
शिवशक्तिमयास्तेस्युर्बिन्दुसर्गावसानिकाः ॥ ५ ॥

स्वराणामेव पृथग्व्यक्तिं दर्शयन् तेषामष्टमूर्त्तितच्छक्तिवाचकत्वाय अग्रे व्यवहाराय च प्रकारद्वयमाह ह्रस्व इति । एकारौकारयोः दीर्घत्वेऽप्यत्र पारिभाषिकं ह्रस्वत्वम् । इमे ह्रस्वदीर्घाः क्रमात् शिवशक्तिमयाः । ह्रस्वाः अ इ उ ऋ ऌ ए औ एते शिवमयाः पुंरूपाश्च इत्यर्थः । बिन्दुसर्गाविजपायां पुरुषप्रकृतिरूपौ पृथग्भूतावेताविति विवक्षन्नाह ते स्युः बिन्दुसर्गावसानिका इति । ते ह्रस्वाः अन्ते बिन्दुयुक्ताः दीर्घा अन्ते विसर्गयुक्ताः ह्रस्वेषु बिन्दुरष्टमो दीर्घेषु विसर्गोऽष्टम इत्यर्थः ॥ ५ ॥

पूर्व के पाँच स्वर अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ह्रस्व संज्ञक हैं (यद्यपि एकार ओंकार दीर्घसंज्ञक है तथापि ह्रस्व की परिभाषा में इनको ग्रहण किया जाता है, ये सभी पुरुष रूप हैं इसी प्रकार आ ई ऊ ॠ ॡ ऐ औ इनकी दीर्घ संज्ञा कही गई है और स्त्री रूप होने से शक्त्यात्मक हैं । अब बिन्दु और विसर्ग का विवरण बताते हैं—ह्रस्व यदि अन्त में बिन्दु युक्त हों तो ह्रस्व कहे जाते हैं और विसर्ग युक्त हों तो दीर्घ कहे जाते हैं । इसमें बिन्दु शिव स्वरूप है और विसर्ग शक्ति स्वरूप है । इस प्रकार ह्रस्व में बिन्दु का स्थान आठवाँ हुआ और दीर्घ में विसर्ग का स्थान आठवाँ हुआ ॥ ५ ॥

'बिन्दुः पुमान् रविः'

बिन्दुः पुमान् रविः प्रोक्तः सर्गः शक्तिर्निशाकरः ।
स्वराणां मध्यमं यच्च तच्चतुष्कं नपुंसकम् ॥ ६ ॥

अत एवाह बिन्दुः पुमानिति । निशाकर इत्युक्तिरितरस्वराणां तत्कलारूपतिथ्यात्मकत्वात् । शशिरूपं विसर्जनीयं स्वकीयषोडशसंख्यापूर्त्तिकारणतया । स्वरन्ते कथयन्तीति स्वराः अतएव सौम्याः । अयमेव पक्षो ग्रन्थकृदभिमतः । यतो मातृकाषडङ्गकथनाद्यवसरे अक्लीबह्रस्वदीर्घान्तर्गतैः षड्वर्गकैः क्रमात् इत्यादिव्यवहारदर्शनात् । कश्चित्तु स्वरेषु पूर्वोक्तः अ इ उ ऋ ऌ एकमात्रो ह्रस्वः, परे आ ई ऊ ॠ ॡ ए ऐ ओ औ बिन्दुसर्गावसानिकाः संयोगपरश्च दीर्घ इति मन्यते स केवलं नमस्य एव । नपुंसकमिति नपुंसकत्वं धर्मः स एषामस्तीति । अर्शआदित्वादच् ॥ ६ ॥

बिन्दु पुरुष एवं सूर्यस्वरूप है, विसर्ग शक्तिस्वरूप और चन्द्रस्वरूप है, स्वरों में जो ४ मध्य (ऋ ॠ ऌ ॡ) के स्वर हैं वे नपुंसक कहे जाते हैं ॥ ६ ॥

स्वराणां स्थितिस्थानानि

पिङ्गलायां स्थिता ह्रस्वा इडायां सङ्गता परे ।
सुषुम्णामध्यगा ज्ञेयाश्चत्वारो ये नपुंसकाः ॥ ७ ॥

स्वराणामुदयमाह पिङ्गलायामिति । ह्रस्वाः अ इ उ ए ओ । परे दीर्घाः आ ई ऊ ऐ औ बिन्दुसर्गयोः रविर्निशाकर इत्यनेनैवोदयस्योक्तत्वात् । एतत्प्रयोजनमुक्तं गौतमेन—

षट्स्वरोदयजे कर्म प्रथितं मारणादिकम् ।
फलदं क्रूरकर्माशु ह्रस्वै दीर्घोदयेऽन्यथा ॥ इति ।

सुषुम्णेति । तत्र प्रकारः उत्तरभागाद्दक्षिणभागप्रवेशारम्भसमये कश्चित्कालमुभयत्र वहति देहवायुः । स दक्षिणायनप्रारम्भसमयः । तदा ऋ ऌ कारात्मकं ह्रस्वद्वन्द्वमुदेति । एवं दक्षिणादुत्तरभागप्रवेशप्रारम्भसमये कश्चित्कालमुभयत्र वहति देहवायुः । स उत्तरायणसंक्रमकालः । तदा ॠॡ दीर्घद्वन्द्वमुदेति । यत् प्रयोगसारे—

स्वरं सप्तममारभ्य चत्वारो ये नपुंसकाः ।
ते सुषुम्णाश्रिते प्राणे प्रोद्यन्त्ययनसंक्रमे ॥ इति ।

अन्ये त्वन्यथा मन्यन्ते ह्रस्वाः अ इ उ ऋ ऌ परे दीर्घाः आ ई ऊ ॠ ॡ इति। तदुक्तं प्रयोगसारे—

दक्षिणस्थो यदा प्राणस्तदा स्याद्दक्षिणायनम् ।
पञ्चभूतात्मकास्तत्र ह्रस्वाः पञ्चोदयन्ति ते ॥
वामाश्रितो यदा प्राणस्तदा स्यादुत्तरायणम् ।
पञ्चभूतास्तदा दीर्घास्तत्रोद्यन्ति पृथक् पृथक् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— प्राणे दक्षिणनाडीस्थे परा चैव तु रेचिका ।
इन्धिकाख्या च विद्याख्या निवृत्तिश्च यथा क्रमात् ॥
प्रतिष्ठा शान्तिसंज्ञा च दीपिका मोचिका तथा ।
सूक्ष्मा चेति स्वराः प्राणे प्रोद्यन्तीडाश्रये प्रिये ॥ इति ।

एषां मते यद्यपि एकारादीनामुदयो नोक्तः स्यात् तथापि तेषां सन्ध्यक्षरत्वात् तदुदयेनैवोदयो ज्ञेयः । पद्मपादाचार्यास्तु—'बाह्यघटिकापञ्चकेन आध्यात्मिकमयनम् । उक्तविधिविलम्बस्याप्यनुपपत्तौ श्वासोच्छ्वासानां कालावयवसम्पादनं द्रष्टव्यम् । तत्राहोरात्रात्मकौ वा पक्षात्मकौ वा अयनात्मकौ च इच्छावशेन ज्ञातव्यौ' इति ॥ ७॥

ह्रस्व वर्ण पिङ्गला नाड़ी में रहते है। दीर्घवर्ण इडा नाडी में स्थित है मध्य के ४ वर्ण (ऋ ॠ ऌ ॡ) जिन्हें नपुंसक कहा जाता है, वे सुषुम्णा में स्थित रहते हैं ॥ ७ ॥

वर्णानां शिवशक्तिमयत्वम्

विना स्वरैस्तु नान्येषां जायते व्यक्तिरञ्जसा ।
शिवशक्तिमयान् प्राहुस्तस्माद् वर्णान् मनीषिणः॥ ८ ॥

व्यञ्जनशब्दव्युत्पत्तिं दर्शयन् तेषामपि शिवशक्तिमयत्वमाह विनेति । स्वरैर्विना अन्येषां ककारादीनां व्यक्तिः अञ्जसा प्राकट्येन न भवति । तस्मात् सर्वे वर्णाः शिवशक्तिमयाः । व्यक्तिरञ्जसेति व्युत्पत्तिर्दर्शिता । यदाहुः—'तैर्व्यङ्गाद्व्यञ्जनं भवेत्' इति । एतदुक्तं भवति । स्वराणां पूर्वं शिवशक्तिमयत्वमुक्तम् । हलाञ्च विना

स्वरैरुच्चारणस्याशक्यत्वात् स्वरसहितोच्चारणे शिवशक्तिमयत्वमिति । एवं स्वरोदयेनैव तत्प्रधानत्वात् व्यञ्जनानामुदयो ज्ञेयः । उक्तञ्च मन्त्रमुक्तावल्याम्— 'तत्प्रधानाश्च मन्त्राः' इति ॥ ८ ॥

[अन्ये त्वन्यथा योजयन्ति सोमसूर्याग्निरूपिणः इति यदुक्तं तद्विभजते एष्विति । अत्र सूर्यरूपबिन्दोः सर्वत्र व्यापकत्वात् शुभोदया इति सौरविशेषणमुक्तम् । ननु यद्ययं विभागस्तदा पूर्वोक्तो येनेति हेतुः सर्ववर्णसामान्येनोक्तो न घटते इत्याशङ्क्याह सर्वे सोमसूर्याग्निदेवता इति । ननु तथापि विरोधस्तदवस्थ एवेति चेत् । न । इदन्तु तात्त्विकम् विभागस्तु प्रयोगाद्यर्थ इति ज्ञेयम् । स्वराः स्पर्शा व्यापका इति यदुक्तं ते के कियन्त इत्यपेक्षायामाह स्वरा इत्यादि । विशेषेण ख्याता अनेन स्वरा विंशतिरेकश्चेचि शिक्षादौ संख्यान्तरश्रुतिर्या सा निरस्ता । व्यापकेषु क्षवदत्रापि संयुक्तस्य ज्ञस्य ग्रहणं स्यादिति शङ्कां वारयति पञ्चविंशतिरिति ॥ १-३ ॥

तत्त्वदेहवानिति पूर्वपटलोक्तो यः पुरुषः तं वदन् (प्रकृत्यादितत्त्वानामेतदुदये-नैवोदय इति सचयितुम्) तत्त्वानि आह तत्त्वात्मान इति । दशेत्यनेन मूर्द्धन्यस्य ळस्य ग्रहणं सूचयति । कामेति क्रमेण त्रयाणां फलम् ॥ ४ ॥

सर्वे सोमसूर्याग्निदेवता इति यदुक्तं तदेव विवृणोति ह्रस्व इति । ह्रस्वानां पुरुषरूपत्वादग्नि—सूर्यरूपत्वम् स्वरत्वात् सोमरूपत्वम् । दीर्घाणां स्वरत्वेन सोमत्वं ह्रस्वोत्पन्नत्वात् सूर्याग्निरूपत्वम् । शास्त्रान्तरानुसारेण दशानामेवैते संज्ञे स्यातामित्यत आह ते स्युरिति । तेषां प्रकारान्तरेण तद्रूपत्वमाह स्वराणामिति । मध्यगमित्यनेन रेफादुत्पत्तिरेषामुक्ता । यदाहुराचार्याः—

ऋकाराद्यास्तु चत्वारो रेफोत्था ऌपराः स्मृताः । इति ।

एतेन ह्रस्वषट्कं हकारोत्थं दीर्घषट्कम् ईकारोत्थम् । तत्र हकारस्य पुंरूपत्वादर्कत्वम् । ईकारस्य शक्तिरूपत्वात् सोमत्वम् । रेफस्याग्निरूपत्वादग्नि-रूपत्वम् । अत्र यद्यपि हकारस्य ह्रस्वषट्कहेतुत्वमिति विभागो नास्माभिरुच्यते तथापि केवलस्योत्पत्तिहेतुत्वमशक्यमिति तदुभयानुवृत्तिरवश्यमपेक्षणीया । एवमित-रयोरप्यनुसन्धेयम् । तेन प्रत्येकं सोमसूर्याग्निरूपत्वम् । तदुक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

यदेकतरनिर्माणे कार्यं जातु न (तत्त्वेन) जायते ।
तस्मात् सर्वपदार्थेषु सामरस्यं व्यवस्थितम् ॥ इति ।

सामरस्यं त्रितयसत्त्वम् ॥ ५-६ ॥

प्रकारान्तरेण तदेवाह पिङ्गलायामिति । सुषुम्णायां नपुंसकोदये इडापिङ्गल-योरपि तत्रान्तर्भावात् तद्वर्णा अपि तत्रान्तर्भवन्ति । ताभ्यां विना तदुदयाभावात् । अतएवोक्तम् प्राक् 'अग्नीषोमस्वरूपिणी' इति ॥ ७ ॥

व्यञ्जनानां प्रत्येकं सोमसूर्याग्निरूपत्वं दर्शयति विना स्वरैरिति । 'शिवशक्ति-मयाद् रवेः येन सम्भवामापन्ना' इत्युपक्रम्य 'सर्वे सोमसूर्याग्निदेवताः' इत्यादिनोक्त-मुपसंहरति शिवेति । तस्मादिति पूर्वोक्तहेतुत्रयानुवादः । शिवः सूर्याग्निरूपः शक्तिः सोमरूपा । अथवा य एव शिवः सैव शक्तिः । शिवशक्त्योरभेदात् भुवनेशी-बीजात्मिका इत्यप्युक्तम् । यदाहुराचार्याः—

यथा स्वरेभ्यो नान्ये स्युर्वर्णाः षड्वर्गभेदिताः । तथा सवित्रानुस्यूतम् ॥ इति ।

एवं त्रिवृत्करणप्रक्रियां भुवनेशीबीजादुत्पत्तिं च सूचयता तेजस्त्रयतः सृष्टि रुक्ता ॥ ८ ॥]

यतः स्वर के बिना (= अञ्जसा वर्णों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिये वे व्यञ्जन कहे जाते हैं । पूर्व में स्वरों को शिव शक्त्यात्मक कह आये हैं उनसे मिलने के कारण शिव शक्तिमय हैं—ऐसा विद्वानों ने कहा है ॥ ८ ॥

वर्णानां भूतात्मकत्वम्

कारणात् पञ्चभूतानामुद्भूता मातृका यतः ।
ततो भूतात्मका वर्णाः पञ्च पञ्च विभागतः ॥ ९ ॥

अथ पञ्चीकरणप्रक्रियां प्रणवादुत्पत्तिं च सूचयन् भूतानां पृथक्प्रयोगार्थं पुनर्वर्णविभागमाह कारणादिति । अथवा 'स्वस्ववर्णयुतानि' इत्युक्तं ते के वर्णा इत्यपेक्षायामाह कारणादिति । कारणात् शिवशक्तिसमवायात् बिन्दोः । मातृकेति अकारादिक्षकारान्तवर्णसमुदायस्य संज्ञा । यत् प्रयोगसारे—

प्रसिद्धा वर्णमाला सा मातृकेत्युच्यते परा । इति ।

पञ्च पञ्च विभागतः दशविभागतः अथ च पूर्वं क्रमात् पञ्चतोऽपि पञ्चेति वीप्सापि ॥ ९ ॥

पञ्चभूतों के कारणभूत शिव शक्तिमय बिन्दु के द्वारा यतः मातृकाओं (अकारादि क्षकारान्त वर्णों) की उत्पत्ति हुई है, इसलिये वर्ण भी पाँच पाँच के विभाग से भूतात्मक (पञ्चमहाभूत) माने गये हैं ॥ ९ ॥

वाय्वग्निभूजलाकाशाः पञ्चाशल्लिपयः क्रमात् ।
पञ्च ह्रस्वाः पञ्च दीर्घा बिन्द्वन्ताः सन्धिसम्भवाः ॥ १० ॥

मातृकावर्णानां सोमसूर्याग्निभेदः

पञ्चशः कादयः षक्षलसहान्ताः समीरिताः ।
सोमसूर्याग्निभेदेन मातृकावर्णसम्भवाः ॥ ११ ॥

तदेव उद्दिष्टं कथयति वाय्विति । वाय्वाकाशयोराद्यन्तत्वेन निर्दिष्टत्वात् व्युत्क्रमोक्तिः । पञ्चीकरणप्रक्रियायां मुख्यत्वद्योतनाय तत्र क्लृप्ताक्षराणां तत्तद्-भूतत्त्वा (तत्रतत्रा)न्तर्भावाय च पञ्चाशदिति । विसर्गानन्तर्भावेन तेन न गौणत्वम् । पञ्चह्रस्वाः पञ्चदीर्घाः इति प्रसिद्धाः । अत्र सन्धिसम्भवानां पृथगुपादानात् न पारिभाषिकह्रस्वदीर्घग्रहः । विन्द्वन्ता इति सन्धिसम्भवविशेषणम् । ते च ए ऐ ओ औ । तेषां यथा सन्धिसम्भवत्वं तथोक्तमाचार्यैः—

अकारेकारयोर्योगादेकारो वर्ण इष्यते ।
तस्यैवैकारयोगेन स्यादैकाराक्षरं तदा ॥
उकारयोगे तस्यैव स्यादोकाराह्वयः स्वरः ।

तस्यैवौकारायोगेन स्यादौकाराह्वयः स्वरः ॥
सन्ध्यक्षराः स्युश्चत्वारो मन्त्राः सर्वार्थसाधकाः । इति ।

ननु कथमत्र विसर्गो न गणितः । उच्यते । मूलाधारात् सञ्जातविवक्षोत्पन्न-प्रयत्नप्राणपवनप्रेरितः स्थानान्तरमप्राप्य कण्ठादेव निःसरन् प्रकृत्यात्मकः सर्गोऽत्र भूतेषु न गणितः । अत एवाचार्यैः—'कण्ठात्तु निःसरन् सर्गः' इत्यादिना 'नश्वरः सर्ग एव स्यात्' इत्यन्तेन सर्गादिवककारादीनामुत्पत्तिरुक्ता । कादिमतेऽपि—

प्राणाग्नीलाम्बुखात्मानः पङ्क्तयः पञ्च कीर्त्तिताः ।
मायाशक्त्यभिधः सर्गः सर्वभूतात्मकः प्रभुः ॥
तस्मात् तस्यात्र विन्यासो नैकदेशे शिवात्मनि ॥ इति ।

कादयः शान्ता इति शेषः । एतेन अ आ ए क च ट त प य षा वायव्याः । एवं इ ई ऐ ख छ ठ थ फ र क्षा आग्नेयाः । एवं भ्वादीनामपि ज्ञेयम् । तदुक्तमाचार्यैः—

ऊदद्गदादिलला कोर्णसौचतुर्थार्णकावसौ वारः ।
दृष्ट्यैव द्वितीयरक्षा वह्नेरद्वन्द्व योनिकादिवर्षाः ।
मरुतः कपोलबिन्दुकपञ्चमवर्णाः शहौ तथा व्योम्नः । इति ।

अत्र मन्त्रशोधनप्रकरणे स्वकुलान्यकुललक्षणः शोधनप्रकारो नोक्तः । स भूतवर्णकथनेन सूचितः । फलन्तु पिङ्गलामतोक्तम् । यथा—

चत्वारिंशत्तथा पञ्च वर्णसंख्या प्रकीर्त्तिता ।
गणस्तु नवभिर्ज्ञेयः पार्थिवादिषु पञ्चसु ॥

अत्र ह्रस्वैरेव दीर्घाणां ग्रहणान्नवभिरित्युक्तिः ।

मन्त्रसाधकयोराद्यो वर्णः स्यात् पार्थिवो यदि ।
तत् कुलं तस्य तत् प्रोक्तमेवमन्येषु लक्षयेत् ॥
पार्थिवे वारुणं मित्रमाग्नेये मारुतं तथा ।
ऐन्द्रवारुणयोः शत्रुर्मारुतः परिकीर्त्तितः ॥
आग्नेये वारुणं शत्रुर्वारुणे तैजसं तथा ।
सर्वेषामेव तत्त्वानां सामान्यं व्योमसम्भवम् ॥
परस्परविरुद्धानां वर्णानां यत्र सङ्गतिः ।
स मन्त्रः साधकं हन्ति किंवा नास्य प्रसीदति ॥ इति ।

तन्त्रान्तरेऽपि— वर्णांशकं वदिष्यामि चतुर्मात्रव्यवस्थितम् ।
स्वकुलं मित्रमध्यस्थे अमित्रञ्च चतुर्थकम् ॥
वायव्याग्नेयवारुण्याः पार्थिवञ्च प्रकीर्त्तितम् ।
उत्तरोत्तरसंसिद्धिः समताव्याधिमृत्यवः ॥
प्राप्नुवन्ति समासाद्य मन्त्रिणोऽत्र निबोधतान् ।
मित्रे सिद्धिः समाख्याता उदासीने न किञ्चन ॥
मृत्युर्व्याधिरमित्रे च स्वकुले सिद्धिरुत्तमा ।
नामादिवर्णांसाध्यस्य साधकस्य यथाक्रमम् ॥

ऊर्ध्वाधस्थं समालेख्य अंशकञ्च निरूपयेत् ।
वायव्ये तैजसं मित्रमुदासीनन्तु वारुणम् ॥
शत्रुञ्च पार्थिवं विद्यात् स्वकुलं वायवं पुनः ।
तैजसे वारुणं शत्रु रुदासीनन्तु पार्थिवम् ॥
वायव्यं मित्रमाख्यातं स्वकुलं तैजसं पुनः ।
वारुणे पार्थिवं मित्रमुदासीनन्तु वायवम् ॥
तैजसन्तु रिपुं विद्यात् स्वकुलं वारुणं पुनः ।
पार्थिवे वारुणं मित्रं तैजसं शत्रुरीरितम् ॥
उदासीनं वायवन्तु स्वकुलं पार्थिवं पुनः ।
एष वर्णांशको नाम सान्वयस्ते निरूपितः ॥ इति ॥ १०-११ ॥

ये पञ्चाशत् लिपियाँ क्रमशः वायु, अग्नि, भू जल और आकाश स्वरूप हैं (यहाँ उत्पत्ति क्रम से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी कहना चाहिए । किन्तु व्युत्क्रम रूप से कहा गया है) पाँच ह्रस्व, पाँच दीर्घ एवं बिन्द्वन्त सन्ध्यक्षर (ए ऐ ओ औ अः) को क्रम से समझना चाहिए ॥ १० ॥

इस प्रकार पञ्चशः (पाँच के क्रम से) कादि क च ट त प, एक ह्रस्व (अ) एक दीर्घ (आ) एक एक सन्ध्यक्षर (ए) य और षा ये दश अक्षर वाय्वात्मक हैं । इसी प्रकार इ ई ख छ ठ थ फ ऐ र क्षा ये दश अक्षर आग्नेय हैं, ग उ ऊ ग ज ड द ब ओ ल ये वर्ण जलात्मक है, इसी प्रकार अन्य वर्णों को भी पृथ्व्यात्मकादि रूप में समझना चाहिए । सोमात्मक, सूर्यात्मक और अग्न्यात्मक (१६+१२+१०) भेद से मातृकावर्णों की उत्पत्ति होती है ॥ ११ ॥

अष्टत्रिंशत् कलानामादि

अष्टत्रिंशत् कलास्तत्तन्मण्डलेषु व्यवस्थिताः ।
अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टी रतिर्धृतिः ॥ १२ ॥
शशिनी चन्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा ।
पूर्णा पूर्णामृता कामदायिन्यः स्वरजाः कलाः ॥ १३ ॥

अष्टत्रिंशत्कलाद्यर्थं पूर्वं विभागः कृतः । ताः कला एवाह सोमेति । अनेन प्रणवस्य त्रिभ्यो भेदेभ्योऽकारोकारमकारेभ्य एव अष्टत्रिंशत्कलोत्पत्तिरुक्ता । तत्र प्रथमाक्षरस्य विसर्गरूपत्वात् सोमत्वम् । उकारस्य विसर्जनीयस्य रेफादुत्पत्तेरग्न्यात्मकत्वम् । मकारस्य सूर्यरूपत्वं प्रसिद्धमेव । ननु प्रथमद्वितीययोः कथं सोमाग्निरूपत्वम् । इति चेदुच्यते । अन्त्यपटले अजपातः प्रणवस्योत्पत्तिं वक्ष्यति । तत्र विलोमीकृता अजपा सोऽहं भवति । सकारहकारलोपे पूर्ववत् कृते प्रणवसिद्धिः । तत्र प्रथमो वर्णो विसर्गात्मकः । 'सर्गः शक्तिर्निशाकरः' इत्युक्तेः । तस्यैव विसर्गस्य सकारादेशे उत्वे च कृते उकारादेशो भवतीति अग्नित्वम् । यद्वा तस्यां सूर्येन्दुपावकात् 'प्रणवस्य त्रिभिर्वर्णैः' इति वक्ष्यमाणत्वात् तेषां तथात्वम् । तेनैतदुक्तं भवति । प्रणवस्य त्रिभिर्भेदैः अष्टत्रिंशत्कलोत्पत्तिः पञ्चभेदेभ्यः पञ्चाशत्कलोत्पत्तिः ।

वायवीयसंहितायान्तु—

लोकवृत्तिप्रवृत्त्यर्थमाकाशमरुदाश्रयात् ।
सञ्चरन्ति त्रयो भूता वह्निसूर्येन्दुरूपिणः ॥
तेजो रुद्रात्मकं यत्तु स वह्निस्त्रिगुणः स्मृतः ।
भिन्नास्तमोरजः सत्वैस्तद्गुणा नवधाऽभवन् ॥
वह्नेः कला दश प्रोक्ता बिन्दुना सह धर्मदाः ।
ब्रह्मात्मको रसो यस्तु स सूर्यः स चतुर्गुणः ॥
तद्गुणा गुणभेदेन पुनर्द्वादशतां गताः ।
तेन द्वादश विख्याताः सूर्यस्य धनदाः कलाः ॥
नहि नादकलेत्येवममूर्त्तत्वात् प्रदश्यते ।
या च विष्ण्वात्मिका पृथ्वी सोमोऽसौ गुणपञ्चकः ॥
तेऽपि प्रत्येकभेदेन गुणाः पञ्चदशाऽभवन् ।
ताः कलाः सह बीजेन षोडशेन्दोरनङ्गदाः ॥ इति ।

तत्तन्मण्डलेष्विति सोममण्डलसूर्यमण्डलाग्निमण्डलेषु । स्वरजा इत्यनेनामृतादीनां पूजने स्वरमादौ कृत्वा पूजेत्युक्तं भवति । तत्र प्रयोगः । अं अमृतायै नमः इत्यादि ॥ १२-१३ ॥

तपिनी तापिनी धूम्रा मरीचिर्ज्वालिनी रुचिः ।
सुषुम्णा भोगदा विश्वा बोधिनी धारिणी क्षमा ॥ १४ ॥

प्रणव में रहने वाले तीन अक्षरों (अकार उकार और मकार) से ३८ कलायें उत्पन्न हुई हैं । जो (सोम, सूर्य और अग्नि) मण्डल में व्यवस्थित रूप से रहती हैं ।

अब १६ स्वर में रहने वाली क्रमशः १६ कलाओं के नाम कहते हैं—१. अमृता, २. मानदा, ३. पूषा, ४. तुष्टिः, ५. पुष्टी, ६. रति, ७. धृति, ८. शशिनी, ९. चन्द्रिका, १०. कान्ति, ११. ज्योत्स्ना, १२. श्रीँ, १३. प्रीतिः, १४. अङ्गदा, १५. पूर्णा एवं १६. पूर्णामृता—ये १६ कलायें कामनाओं को पूर्ण करती हैं और स्वर से उत्पन्न हुई हैं । स्वर सोमात्मक हैं यह पूर्व में कह आये हैं इसलिए ये १६ कलायें सोमात्मक हुईं ॥ १२-१३ ॥

कभाद्या वसुदाः सौर्यष्ठडान्ता द्वादशेरिताः ।
धूम्राच्चिरुष्मा ज्वलिनी ज्वालिनी विस्फुलिङ्गिनी ।
सुश्रीः सुरूपा कपिला हव्यकव्यवहे अपि ॥ १५ ॥
यादीनां दशवर्णानां कला धर्मप्रदा इमाः ।
अभयेष्टकरा ध्येयाः श्वेतपीतारुणाः क्रमात् ॥ १६ ॥

कभाद्या इति । ककारादनुलोमेन द्वादश ठकारपर्यन्तं भकाराद् विलोमेन द्वादश डकारपर्यन्तमित्यर्थः । तत्र प्रयोगो यथा—कं भं तपिन्यै नमः । खं बं तापिन्यै

नमः इत्यादि । हव्यकव्यवहे इति । हव्यकव्यशब्दयोः द्वन्द्वः ततो वहशब्देन समासः । तेन 'द्वन्द्वात् परः श्रूयमाणः शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति न्यायात् हव्यवहा कव्यवहा इति शक्तिद्वयम् । यादीनामित्यनेन धूम्रार्च्चिरादीनां यादित्वमुक्तम् । प्रयोगस्तु —यं धूम्रार्च्चिषे नमः इत्यादि ॥ १४-१५ ॥

अभयेष्टेति । इष्टो वरः । तत्र दक्षिणहस्ते अभयं वामहस्ते वर इति सम्प्रदायविदः । उक्तञ्च—

ऊर्द्धीकृतो दक्षहस्तः प्रसृतोऽभयमुद्रिका ।
अधोमुखो वामहस्तः प्रसृतो वरमुद्रिका ॥ इति ।

दशमपटल्यामपि भुवनेशीध्याने—

दक्षेऽङ्कुशाभये प्रोक्ते वामे पाशमथेष्टदम् । इति ।

तन्त्रान्तरे सरस्वतीध्याने—

साक्षस्रक्कलशोर्द्धबाहुयुगलाञ्चाधः समुद्राभयं ।
हस्तं दक्षिणमन्यतः सवरदं यस्याः करे पुस्तकम् ॥ इति ।

सौत्रामणीतन्त्रे पञ्चमीध्याने—

चक्रं खड्गं मुषलमभयं दक्षिणाभिर्भुजाभिः ।
शङ्खं खेटं हलमपि वरं बिभ्रती वामदोर्भिः ॥ इति ।

तन्त्रान्तरे नित्याध्याने—कपालमभयन्तथा । दधानां दक्षिणैर्हस्तैः । इत्यादि ।

अन्यत्रापि— पाशं पताकां चर्माऽपि शार्ङ्गं चापं वरं करैः ।
दधानां वामपार्श्वस्थैः सर्वाभरणभूषितैः ॥
अङ्कुशञ्च ततो दण्डं खड्गं वाणं तथाऽभयम् ।
दधानां दक्षिणैर्हस्तैरासीनां पद्मविष्टरे ॥ इति ।

कादिमतेऽपि— ब्रूहि देव महेशान स्थूलसूक्ष्मस्वरूपयोः ।
ध्यानयोः कर्मणां सिद्धिं विविधां फलयोगतः ॥
तासां तत्तत्करेषूक्तेष्वायुधान्यथ शेषतः ।
शृणु वक्ष्ये महेशानि क्रमेण त्वं हि साम्प्रतम् ॥
वामदक्षिणयोः स्यातां द्विभुजे तु वराभयौ ।
पाशाङ्कुशौ चतुर्बाहौ षड्भुजे चापसायकौ ॥
चर्मखड्गावष्टभुजे गदाशूले दशोदिते । इति ।

अतो यत्र यत्र शक्तिध्याने वराभये तत्र तत्र प्रायोऽभयं दक्षिणे वामे वरमिति ज्ञेयम् । यत्तूत्तरषट्के—

वामेनाभयसंयुक्तां वरदां दक्षिणेन तु । इति ।

अन्यत्रापि—

पुस्तकञ्चाभयं वामे दक्षिणे चाक्षमालिकाम् ।
वरदानरतां देवीम् । इति ।

एतत् स्वस्वगुरुसम्प्रदायानुसारेण तत्तद्देवताविशेषे बोद्धव्यमित्यलम् । क्रमादिति । सौम्यकलादीनां श्वेतादयः । अनेन वर्णवस्त्रमाल्यभूषाणां ग्रहणम् । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ॥ १६ ॥

इनकी प्रयोग विधि इस प्रकार है—१. तपिनी, २. तापिनी, ३. धूम्रा, ४. मरीचि, ५. ज्वालिनी, ६. रुचि, ७. सुषुम्णा, ८. भोगदा, ९. विश्वा, १०. बोधिनी, ११. धारिणी और १२. क्षमा—ये द्वादश कलायें क्रमशः अनुलोम क्रम से ककार से लेकर ठ पर्यन्त १२ वर्णों की हैं तथा विलोम क्रम से 'भ' से लेकर ड पर्यन्त १२ वर्णों की कही गई हैं । ये सभी सूर्य मण्डल में रहती हैं और वसु (अर्थात् धन धान्य आदि) देने वाली हैं ।

१. धूम्रा, २. अर्चि, ३. ऊष्मा, ४. ज्वलिनी, ५. ज्वालिनी, ६. विस्फुलिङ्गिनी, ७. सुश्री, ८. सुरूपा और ९. कपिला तथा १०. हव्यकव्यवहा—ये अग्नि में रहने वाली दश कलायें है जो यकार से लेकर क्षकारान्त दश वर्णों की कलायें कही जाती हैं ये सभी धर्मप्रदा हैं । सभी के हाथों में अभय तथा वर की मुद्रा हैं और इन ३८ कलाओं के वर्ण क्रमशः श्वेत, पीत और अरुण है ॥ १४-१६ ॥

विमर्श—इनके वर्ण इसलिए कहे गए हैं क्योंकि उसी के अनुसार श्वेत पुष्प या पीत पुष्प की माला एवं आभूषण प्रयोग में लाना चाहिए । इसमें सौम्यकला का वर्ण श्वेत, सौर कला का वर्ण पीत और अग्नि कला का वर्ण अरुण समझना चाहिए ॥ १४-१६ ॥

पञ्चाशत् प्रणवकलाः

तारस्य पञ्चभेदेभ्यः पञ्चाशद्वर्णगाः कलाः ॥ १७ ॥

यदर्थं पञ्चभूतेषु विभाग उक्तस्ताः कला उद्दिशति । यद्वा 'तद्वर्णतोऽभिन्नाः कलाः' इति (१.१११) पूर्वपटलान्ते उद्दिष्टास्ता निर्दिशति तारस्येति । तारस्य प्रणवस्य पञ्चभेदा इति अकारोकारमकारबिन्दुनादाः । यद्यपि शक्तिशान्ताविति प्रणवस्य षष्ठसप्तमभेदौ तथापि तयोरेषु गणना नास्ति । परत्वात् । तदुक्तम्—

सप्तात्मकस्य तारस्य परौ द्वौ तु परौ यतः ।
ततस्तु शक्तिशान्ताख्यौ न पठ्येते परैः सह ॥ इति ।

पञ्चाशच्छब्दोऽत्र लाक्षणिकः । कलाः क्रमादुत्पन्ना इति शेषः । काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र क्रमादिति सम्बध्यते ॥ १७ ॥

प्रणव के क्रमशः तीन और पाँच भेद कहे गये हैं । इनमें प्रणव के तीन अक्षर अकार, उकार और मकार से उत्पन्न होने वाली ३८ कलाओं का नाम पूर्व में (द्र० २. १२-१६) कह आये हैं । अब पाँच भेद (अकार, उकार, मकार, बिन्दु एवं नाद से उत्पन्न हुई ५० कलाओं को कहते हैं)—प्रणव के पाँच भेदों से क्रमशः पच्चास वर्णों की कलायें उत्पन्न हुई हैं ॥ १७ ॥

पञ्चाशत् प्रणवकलाः, तासामुत्पत्तिर्नामानि च

सृष्टिर्बुद्धिः स्मृतिर्मेधा कान्तिर्लक्ष्मीर्धृतिः स्थिरा ।
स्थितिः सिद्धिरिति प्रोक्ताः कचवर्गकलाः क्रमात् ॥ १८॥
अकाराद् ब्रह्मणोत्पन्नास्तप्तचामीकरप्रभाः ।
एताः करधृताक्षस्त्रक्पङ्कजद्वयकुण्डिकाः ॥ १९ ॥
जरा च पालिनी शान्तिरीश्वरी रतिकामु(मि)के ।
वरदाऽऽह्लादिनी प्रीतिर्दीर्घा स्युष्टतवर्गजाः ॥ २० ॥
उकाराद् विष्णुनोत्पन्नास्तमालदलसन्निभाः ।
अभीतिदरचक्रेष्टबाहवः परिकीर्त्तिताः ॥ २१ ॥
तीक्ष्णा रौद्री भया निद्रा तन्द्री क्षुत् क्रोधिनी क्रिया ।
उत्कारी मृत्युरेताः स्युः कथिताः पयवर्गजाः ॥ २२ ॥
रुद्रेण मार्णादुत्पन्नाः शरच्चन्द्रनिभप्रभाः ।
उद्वहन्त्योऽभयं शूलं कपालं बाहुभिर्वरम् ॥ २३ ॥

तमेव क्रममाह सृष्टिरित्यादिना इति पञ्चाशदाख्याता इत्यन्तेन । अकारात् प्रणवांशादुत्पन्नाः । तद्वाच्येन ब्रह्मणा चोत्पन्ना इति ज्ञेयम् । वाच्यवाचकयोरभेदात् । तदुक्तमाचार्यैः—'अकारप्रभवा ब्रह्मजाताः' इति । एवमग्रेऽपि । अक्षस्त्रक् अक्षमाला । आयुधध्यानं दक्षाधस्तलाद्वामाधस्तलपर्यन्तम् । आह्लादिनीति पदच्छेदः । दरः शङ्खः । शरच्चन्द्रस्य निभा कान्तिः तद्वत् प्रभा यासां ताः । निभशब्दः सदृशवाची वा ॥ १८-२३ ॥

प्रणव की पचास कलाएँ—१. सृष्टि, २. बुद्धि, ३. स्मृति, ४. मेधा, ५. कान्ति, ६. लक्ष्मी, ७. धृति, ८. स्थिरा, ९. स्थिति और १०. सिद्धि—ये दश क्रमशः क वर्ग और चवर्ग की कलायें हैं । ये सभी अकार रूप परब्रह्म से उत्पन्न हैं। इन सबका वर्ण तपाये हुये सोने के समान जगमगाहट् से युक्त हैं । इन सभी ने अपने अपने हाथों में रुद्राक्ष, पुष्पमाला, दो कमल और कुण्डिका धारण किया है ॥ १८-१९ ॥

जरा, पालिनी, शान्ति, ईश्वरी, रति, कामुकी, वरदा, आह्लादिनी, प्रीति और दीर्घा—ये १० क्रमशः ट वर्ग और तवर्ग की कलायें है । ये सभी उकार रूप विष्णु से उत्पन्न हुई हैं । इनका वर्ण तमाल के पत्ते के समान श्याम वर्ण वाला हैं । इनके हाथों में अभय शङ्ख, चक्र तथा वरद मुद्रा है—ऐसा कहा जाता है ॥ २०-२१ ॥

१. तीक्ष्णा, २. रौद्री, ३. भया, ४. निद्रा, ५. तन्द्री, ६. क्षुधा, ७. क्रोधिनी, ८. क्रिया, ९. उत्कारी और १०. मृत्यु—ये पवर्ग तथा य वर्ग की क्रमशः कलायें है । ये रुद्र के द्वारा मकार वर्ण से उत्पन्न हैं और शरत्कालीन

चन्द्र वर्ण के समान इनका गौर वर्ण हैं और अपने हाथ में अभय, शूल, कपाल और वर मुद्रा धारण की हुई हैं ॥ २२-२३ ॥

ईश्वरेणोदिता बिन्दोः पीता श्वेताऽरुणाऽसिता ।
अनन्ता च षवर्गस्था जवाकुसुमसन्निभाः॥ २४ ॥
अभयं हरिणं टङ्कं दधाना बाहुभिर्वरम्।
निवृत्तिः सप्रतिष्ठा स्याद्विद्या शान्तिरनन्तरम्॥ २५ ॥
इन्धिका दीपिका चैव रेचिका मोचिका परा।
सूक्ष्मा सूक्ष्मामृता ज्ञानामृता चाप्यायिनी तथा ॥ २६ ॥
व्यापिनी व्योमरूपा स्युरनन्ता स्वरसंयुताः।
सदाशिवेन सञ्जाता नादादेताः सितत्विषः॥ २७ ॥
अक्षस्त्रक्पुस्तकगुणकपालाढ्यकराम्बुजाः ।
न्यासे तु योजयेदादौ षोडश स्वरजाः कलाः।
इति पञ्चाशदाख्याताः कलाः सर्वसमृद्धिदाः ॥ २८ ॥

बिन्दुकला आह ईश्वरेणेति । बिन्दोरिति । असितेति पदच्छेदः । हरिणं हरिणमुद्राम् । अन्ये मृगशिशुं मन्यन्ते । टङ्कः परशुः । सप्रतिष्ठेति प्रतिष्ठाकला सहिता । परेति कलानाम । सूक्ष्मामृतेत्येका ज्ञानामृतेत्येका । अनन्तेति षोडशी कला । गुणः शूलम् । कराम्बुजमित्युपमासमासः । आद्ये ऊर्ध्वयोर्दक्षवामयोरन्त्ये अध इत्यायुधध्यानम् । वैपरीत्यञ्च केचन इच्छन्ति । शङ्खपूजायामयं क्रम उक्तः । शरीरे न्यासक्रममाह न्यासे त्विति । तु पूर्वस्माद् विशेषे । सर्वसमृद्धिदा इति न्यासफलम् ॥ २४-२८ ॥

१. श्वेत, २. अरुण, ३. असित और ४. अनन्त ये चार मुद्रायें ईश्वर के द्वारा बिन्दु में प्रकट की गई है तथा ष स ह क्ष वर्णों की कलायें हैं और जपा (ओड़हुल) पुष्प के समान लाल वर्ण वाली हैं ॥ २४ ॥

इन्होंने अपने अपने बाहुओं में अभय, हरिण, परशु और वर मुद्रा धारण किया है । १. निवृत्ति, २. प्रतिष्ठा, ३. विद्या, ४. शान्ति, ५. इन्धिका, ६. दीपिका, ७. रेचिका, ८. मोचिका, ९. परा, १०. सूक्ष्मा, ११. सूक्ष्मामृता, १२. ज्ञानामृता, १३. आप्यायनी, १४. व्यापिनी, १५. व्योमरूपा और १६. अनन्ता —ये १६ स्वरों की क्रमशः कलाये हैं । (इन्हें षोडशी भी कहते हैं) ये सभी सदाशिव के द्वारा नाद में उत्पन्न हुई कलायें हैं, इन सबका वर्ण शुभ्र हैं । इनके कमलवत् हाथों में जपमाला, पुस्तक, गुण (त्रिशूल) और कपाल है । न्यास में सर्वत्र षोडश स्वरों में रहने वाली इन्हीं कलाओं की प्रथम योजना करनी चाहिए। यहाँ तक हमने पचासों कलाओं का नाम निर्देश किया। ये सभी कलायें सब प्रकार की समृद्धियों की दात्री हैं ॥ २५-२९ ॥

पञ्चाशद्रुद्रतच्छक्तिनामानि

श्री कण्ठानन्तसूक्ष्माश्च त्रिमूर्त्तिरमरेश्वरः ॥ २९ ॥
अर्घीशो भारभूतीशस्तिथीशः स्थाणुको हरः ।
झिण्टीशो भौतिकः सद्योजातश्चानुग्रहेश्वरः ॥ ३० ॥
अक्रूरश्च महासेनः षोडशस्वरमूर्त्तयः ।
पश्चात् क्रोधीशचण्डेशपञ्चान्तकशिवोत्तमाः ॥ ३१ ॥
अथैकरुद्रकूर्मैकनेत्राह्वचतुराननाः ।
अजेशशर्व सोमेशास्तथा लाङ्गलिदारुकौ ॥ ३२ ॥
अर्द्धनारीश्वरश्चोमाकान्तश्चाषाढि दण्डिनौ ।
स्युरद्रिमीनमेषाख्यलोहिताश्च शिखी तथा ॥ ३३ ॥
छगलण्डद्विरण्डेशौ महाकालाख्यवालिनौ ।
भुजङ्गेशपिनाकीशखड्गीशाख्यवकास्तथा ॥ ३४ ॥
श्वेतभृग्वीशलकुलीशिवाः सम्वर्त्तकस्ततः ।
एते रुद्राः स्मृता रक्ता धृतशूलकपालकाः ॥ ३५ ॥

रुद्रादिकानिति पूर्वप्रकृतान् रुद्रान् उद्दिशति श्रीकण्ठेति । स्थाणुक इति कः स्वार्थे स्थाणुरिति नाम । एकरुद्रश्च कूर्मश्च एकनेत्राह्वश्च चतुराननश्चेति द्वन्द्वः । आह्वशब्दस्य न संज्ञायामन्तर्भावः । एवमग्रेऽपि आख्यादेः । छगलण्डद्विरण्डेशाविति ईशशब्द उभयत्र सम्बध्यते । आयुधध्यानं वामदक्षिणयोः । एवमुत्तरत्रापि । इदं सामान्यम् । वक्ष्यमाणं वन्धूकेत्यादि शक्तिसम्भिन्नत्वे ज्ञेयम् । एवं विष्णुष्वपि । यत्तु क्वचित् 'तप्तहेमावदातम्' इति तच्छक्तिशक्तिमतोरभेदे शक्तिप्राधान्यादित्यवधेयम् ॥ २९-३५ ॥

पहले कह आये हैं कि कलायें रुद्र से उत्पन्न हुई हैं अब उन रुद्रों के ५० नाम कहते हैं । सर्वप्रथम स्वर उत्पन्न करने वाले रुद्रों का नाम कहते हैं— १. श्री कण्ठ, २. अनन्त, ३. सूक्ष्म, ४. त्रिमूर्त्ति, ५. अमरेश्वर, ६. अर्घीश, ७. भारभूतीश, ८. अतिथीश, ९. स्थाणु, १०. हर, ११. झिण्टीश, १२. भौतिक, १३. सद्योजात, १४. अनुग्रहेश्वर, १५. अक्रूर और १६. महासेन—ये १६ रुद्र, १६ स्वरों की मूर्त्तियाँ हैं ॥ २९-३१ ॥

अब इसके बाद व्यञ्जन मूर्त्तियों को कहते हैं । क्रोधीश, चण्डेश, पञ्चान्तक, शिवोत्तम, एकरुद्र, कूर्म, एकनेत्र, चतुरानन, अजेश, शर्व (१०), सोमेश, लाङ्गली, दारुक, अर्धनारीश्वर, उमाकान्त, आषाढी, दण्डी, अद्रि, मीन, मेष (२०), लोहित, शिखी, छगलण्डेश, द्विरण्डेश, महाकाल, वालीश, भुजङ्गेश, पिनाकीश, खड्गीश, वकेश (३०), श्वेतभृग्वीश, लकुलीश, शिव और संवर्त्तक—ये ३४ रुद्र ३४ व्यञ्जनों की मूर्त्तियाँ हैं । इन सभी का वर्ण लाल है और सभी ने अपने हाथों में कपाल तथा शूल धारण किया है ॥ ३१-३५ ॥

पूर्णोदरी स्याद् विरजा शाल्मली तदनन्तरम् ।
लोलाक्षी वर्त्तुलाक्षी च दीर्घघोणा समीरिताः ॥ ३६ ॥
सुदीर्घमुखिगोमुख्यौ दीर्घजिह्वा तथैव च ।
कुण्डोदर्यूर्द्धकेशी च तथा विकृतमुख्यपि ॥ ३७ ॥
ज्वालामुखी ततो ज्ञेया पश्चादुल्कामुखी ततः ।
सुश्रीमुखी च विद्यामुख्येताः स्युः स्वरशक्तयः॥ ३८ ॥
महाकालीसरस्वत्यौ सर्वसिद्धिसमन्विता ।
गौरी त्रैलोक्यविद्या स्यान्मन्त्रशक्तिस्ततः परम् ॥ ३९ ॥
आत्मशक्तिर्भूतमाता तथा लम्बोदरी मता ।
द्राविणी नागरी भूयः खेचरी चापि मञ्जरी ॥ ४० ॥
रूपिणी वीरिणी पश्चात् काकोदर्यपि पूतना ।
स्याद्भद्रकालियोगिन्यौ शङ्खिनी गर्जिनी तथा ॥ ४१ ॥
कालरात्रिश्च कुब्जिन्या कपर्दिन्यपि वज्रिणी ।
जया च सुमुखेश्वर्या रेवती माधवी तथा ॥ ४२ ॥
वारुणी वायवी प्रोक्ता पश्चाद्रक्षोविदारिणी ।
ततश्च सहजा लक्ष्मीर्व्यापिनी माययाऽन्विता ॥ ४३ ॥
एता रुद्राङ्कपीठस्थाः सिन्दूरारुणविग्रहाः ।
रक्तोत्पलकपालाभ्यामलंकृतकराम्बुजाः ॥ ४४ ॥

आदिपदवाच्या एतच्छक्तीरुद्दिशति पूर्णोदरीति । विष्णुविष्णुशक्तिष्वपि इदमेवानुसन्धेयम् । सुदीर्घमुखिगोमुख्यौ भद्रकालियोगिन्यौ इत्यत्र 'ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम्' इति बहुलग्रहणात् पूर्वपदस्य ह्रस्वः । प्रयोगे तु दीर्घ एव । सर्वसिद्धिसमन्वितेति गौरीविशेषणम् । तेन सर्वसिद्धिगौरीति शक्तिनाम । अपेक्षितार्थद्योतनिकाकारादिभिः तथैवोक्तेः । अन्यत्रापि 'सर्वसिद्धियाभिधा गौरी' इत्युक्तम् । रुद्राणां श्रीकण्ठादीनां । अङ्कः उत्सङ्गः ॥ ३६-४४ ॥

अब इन रुद्रों की शक्तियों का वर्णन करते हैं, क्योंकि सभी वर्ण शिवशक्त्यात्मक हैं और शिव के द्वारा शक्ति में उत्पन्न किय गये हैं पूर्णोदरी, विरजा, शाल्मली, लोलाक्षी, वर्त्तुलाक्षी, दीर्घघोणा, सुदीर्घमुखी, गोमुखी, दीर्घ-जिह्वा, कुण्डोदरी, ऊर्ध्वकेशी, विकृतमुखी, ज्वालामुखी, उल्कामुखी, सुश्रीमुखी और विद्यामुखी—ये १६ स्वरों की १६ शक्तियाँ है ॥ ३१-३८ ॥

१. महाकाली, २. महासरस्वती, ३. सर्वसिद्धिसमन्विता गौरी, ४. त्रैलोक्य-विद्या, ५. मन्त्रशक्ति, ६. आत्मशक्ति, ७. भूतमाता, ८. लम्बोदरी, ९. द्राविणी, १०. नागरी, ११. खेचरी, १२. मञ्जरी, १३. रूपिणी, १४. वीरिणी, १५. काकोदरी, १६. पूतना, १७. भद्रकाली, १८. योगिनी, १९. शङ्खिनी, २०.

गर्जिनी, २१. कालरात्रि, २२. कुब्जिनी, २३. कपर्दिनी, २४. वज्रिणी, २५. जया, २६. सुमुखा, २७. ऐश्वर्या, २८. रेवती, २९. माधवी, ३०. वारुणी, ३१. वायवी, ३२. रक्षोविदारिणी, ३३. सहजा लक्ष्मी और ३४. मायाव्यापिनी— ये सभी शक्तियाँ रुद्र के अंक रूप पीठ में स्थित हैं। सिन्दूर के समान रक्त वर्ण का इनका विग्रह है। इनके कमल सदृश हाथों में रक्त वर्ण का कमल एवं कपाल विराजित है ॥ ३९-४४ ॥

पञ्चाशत् केशवतच्छक्ति नामानि

केशवनारायण माधव गोविन्द विष्णवः।
मधुसूदनसंज्ञोऽन्यः स्यात् त्रिविक्रमवामनौ ॥ ४५ ॥
श्रीधरश्च हृषीकेशः पद्मनाभस्ततः परम्।
दामोदरो वासुदेवः सङ्कर्षण इतीरिताः ॥ ४६ ॥
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च स्वराणां मूर्त्तयः क्रमात्।
पश्चाच्चक्री गदी शार्ङ्गी खड्गी शङ्खी हली पुनः ॥ ४७ ॥
मुषली शूलिसंज्ञोऽन्यः पाशी स्यादङ्कुशी पुनः।
मुकुन्दो नन्दजो नन्दी नरो नरकजिद्धरिः ॥ ४८ ॥
कृष्णः सत्यः सात्वतः स्यात् शौरी शूरो जनार्दनः।
भूधरो विश्वमूर्त्तिश्च वैकुण्ठः पुरुषोत्तमः ॥ ४९ ॥
बली बलानुजो बालो वृषघ्नश्च वृषः पुनः।
सिंहो वराहो विमलो नृसिंहो मूर्त्तयो हलाम् ॥ ५० ॥
केशवाद्या इमे श्यामाश्चक्रशङ्खलसत्कराः।
कीर्त्तिः कान्तिस्तुष्टिपुष्टी धृतिः शान्तिः क्रिया दया ॥ ५१ ॥
मेधा सहर्षा श्रद्धा च लज्जा लक्ष्मीः सरस्वती।
प्रीती रतिरिमाः प्रोक्ताः क्रमेण स्वरशक्तयः॥ ५२ ॥
जया दुर्गा प्रभा सत्या चण्डा वाणी विलासिनी।
विजया विरजा विश्वा विनदा सुनदा स्मृतिः॥ ५३ ॥
ऋद्धिः समृद्धिः शुद्धिः स्याद् भक्तिर्बुद्धिः स्मृतिः क्षमा ।
रमोमा क्लेदिनी क्लिन्ना वसुदा वसुधाऽपरा ॥ ५४ ॥
परा परायणा सूक्ष्मा सन्ध्या प्रज्ञा प्रभा निशा।
अमोघा विद्युता चेति कीर्त्याद्याः सर्वकामदाः ॥ ५५ ॥
एताः प्रियतमाङ्केषु निषण्णाः सस्मितानना:।
विद्युद्दामसमानाङ्ग्यः पङ्कजाभयबाहवः ॥ ५६ ॥

आदिशब्दसंगृहीतान् केशवाद्यान् तच्छक्तीरप्युद्दिशति केशवेत्यादि । हलामिति व्यञ्जनानां वैयाकरणपरिभाषया । आयुधध्यानं वामदक्षिणयोः । एवमुत्तरत्रापि । वसुधापरेति अपरा वसुधेत्यन्वयः । परेति कलानाम ॥ ४५-५६ ॥

अब इन वर्णों की केशवादि मूर्त्तियाँ और उनकी शक्ति मूर्त्तियों का वर्णन करते हैं—१. केशव, २. नारायण, ३. माधव, ४. गोविन्द, ५. विष्णु, ६. मधुसूदन, ७. त्रिविक्रम, ८. वामन, ९. श्रीधर, १०. हृषीकेश, ११. पद्मनाभ, १२. दामोदर, १३. वासुदेव, १४. संकर्षण, १५. प्रद्युम्न और १६. अनिरुद्ध—ये १६ विष्णु १६ स्वरों की क्रमशः मूर्त्तियाँ हैं । अब इसके बाद व्यञ्जनों की मूर्त्तियाँ कहते हैं—चक्री, गदी, शार्ङ्गी खड्गी, शङ्खी, हली, मुषली, शूली, पाशी, अंकुशी (१०), मुकुन्द, नन्दज, नन्द, नर, नरकजित् हरि, कृष्ण, सत्य, सात्वत, शौरी (२०), शूर, जनार्दन, भूधर, विश्वमूर्त्ति, वैकुण्ठ, पुरुषोत्तम, वली, वलानुज, वाल वृषघ्न (३०), वृष सिंह, वराह और विमल नृसिंह ये ३४ व्यञ्जनों की मूर्तियाँ हैं ॥ ४५-५० ॥

ये सभी केशवादि मूर्त्तियाँ श्याम वर्ण की हैं और इनके हाथ में चक्र और शङ्ख शोभित हो रहा है ॥ ५० ॥

अब इनकी शक्तियों का वर्णन करते हैं—१. कीर्त्ति, २. तुष्टि, ३. पुष्टि, ४. धृति, ५. शान्ति, ६. क्रिया, ७. दया, ८. मेधा, ९. सहर्षा, १०. श्रद्धा, ११. लज्जा, १२. लक्ष्मी, १३. सरस्वती, १४. प्रीति, १५. रति—ये १६ क्रमशः स्वर शक्तियाँ हैं ॥ ५१-५२ ॥

जया, दुर्गा, प्रभा, सत्या, चण्डा, वाणी, विलासिनी, विजया, विरजा, १०. विश्वा, विनदा, सुनदा, स्मृति, ऋद्धि, समृद्धि, शुद्धि, भक्ति, बुद्धि, स्मृति, २०. क्षमा, रमा, उमा, क्लेदिनी, क्लिन्ना, वसुदा, अपरा, वसुधा, परा, परायणा, ३०. सूक्ष्मा, सन्ध्या, प्रज्ञा, प्रभा, निशा, अमोघा एवं विद्युता—ये हल वर्णों की ३६ शक्तियाँ हैं और संपूर्ण कामनाओं को देने वाली हैं ॥ ५३-५५ ॥

ये सभी अपने अपने प्रियतमों की गोद में स्थित रहती हैं, सभी मन्द स्मित हैं और बिजली के समान चमकती रहती हैं । इनके हाथों में कमल और अभय मुद्रा शोभित हो रही है ॥ ५६ ॥

मातृकातो मन्त्रोत्पत्तिः

मातृकावर्णभेदेभ्यः सर्वे मन्त्राः प्रजज्ञिरे ।
मन्त्रविद्याविभागेन त्रिविधा मन्त्रजातयः ॥ ५७ ॥

मन्त्राणां स्त्रीपुंनपुंसकत्वम्

पुंस्त्रीनपुंसकात्मानो मन्त्राः सर्वे समीरिताः ।
मन्त्राः पुंदेवता ज्ञेया विद्याः स्त्रीदेवताः स्मृताः ॥ ५८ ॥

ततश्चैतन्येत्यारभ्य पञ्चाशद्वर्णरूपिणीत्यन्तेन मातृकास्वरूपत्वमुक्तं कुण्डल्याः । तस्या एव मन्त्रा उत्पन्ना इत्यपि । तत् प्रयोगाद्यर्थं मनूनां प्रकारत्रये वक्ष्यमाणे हेतुत्वेनोपन्यस्यति । मातृकेति । यत इति शेषः । पूर्वं शिवशक्तिमयादित्यनेन तदुत्पत्तिरुक्ता । तदेव मन्त्रेष्वपि दर्शयति मन्त्रेति । मातृकेति तत इति योज्यम् । अनेन सोमसूर्यात्मकत्वं सर्वेषामुक्तं भवति । यत् प्रयोगसारे—

द्विधा प्रोक्ताश्च ते मन्त्राः सौम्यसौरविभागतः ।
सौराः पुंदेवता मन्त्रास्ते च मन्त्राः प्रकीर्त्तिताः ॥
सौम्याः स्त्रीदेवतास्तद्वद्विद्यास्ते इति विश्रुताः । इति ।

अनयोरुदयेन सर्वेषामुदयोऽप्युक्तो भवति ॥ ५७ ॥

प्रयोगविशेषसिद्ध्यर्थं मन्त्राणां त्रैविध्यमाह पुंस्त्रीति । अत्रापि शिवशक्तिमयत्वात् मध्यमचतुष्कस्य नपुंसकत्वात् स्वराणां त्रैविध्ये तान् विना अन्येषामपि उच्चारणाभावात् तदात्मकत्वेन हेतुत्वं योज्यम् । अत्र सर्व इत्युक्तेर्न पारिभाषिक मन्त्रग्रहणम् । एवमुत्तरत्रापि । ननु निष्कलचैतन्याखण्डानन्दवाच्यस्य मन्त्रस्य कथं पुंस्त्र्यादिकल्पनमिति चेत् सत्यम् । वस्तुतो नास्त्येव । उपासकानामर्थे कल्पनामात्रम् । यदाहुः—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥
रूपस्थानां देवतानां पुंस्त्र्यङ्गादिप्रकल्पना । इति । ५८ ॥

मातृकाओं के वर्णभेद से समस्त मन्त्रों की उत्पत्ति हुई है । मन्त्र विद्या के विभाग के अनुसार तीन प्रकार की मन्त्रों जातियाँ कही गई हैं । ये सभी मन्त्र पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक भेद से तीन प्रकार के होते हैं । जिन मन्त्रों के देवता पुरुष हैं वे पुम्मन्त्र हैं और जिनकी विद्या देवता हैं वे स्त्री मन्त्र हैं ॥ ५७-५८ ॥

तल्लक्षणानि

पुंमन्त्रा हुंफडन्ताः स्युर्द्विठान्ताश्च स्त्रियो मताः ।
नपुंसका नमोऽन्ताः स्युरित्युक्ता मनवस्त्रिधा ॥ ५९ ॥

गार्ग्यभिप्रायेणैषां लक्षणमाह पुमिति । हुँफडन्ता इति सम्प्रदायाद् व्यस्तसमस्ततदन्ताः । द्विठान्ता इति स्वाहान्ताः । ठशब्देन साम्यात् अर्थाद् वा बिन्दुरुच्यते । 'ठः शून्ये च बृहद्ध्वनौ' इति कोशात् । शून्यं बिन्दुरूपमेव । तस्य द्वित्वं तेन विसर्गः । स च शक्तिरूप इति । तेन द्विठशब्देनाग्निशक्तिः स्वाहोक्ता ।

प्रयोगसारे तु— वषट्फडन्ताः पुंलिङ्गा वौषट्स्वाहान्तगाः स्त्रियः ।
नपुंसका हुँ नामोऽन्ता इति मन्त्रास्त्रिधा स्मृताः ॥
तारेणाप्यनुमीयन्ते मन्त्राः स्वाद्यन्तमध्यतः ।
प्रत्यासन्नात्मभावेन यथा पुंस्त्रीनपूंसकाः ।
बिन्दुसर्गेन्दुखण्डान्तास्तद्वदेव प्रकीर्त्तिताः ॥ इति ॥ ५९ ॥

जिन मन्त्रों के अन्त में 'हुं फट्' यह शब्द है वे पुल्लिङ्ग कहे जाते हैं। जिनके अन्त में दो ठ अर्थात् स्वाहा है वे स्त्री लिङ्ग मन्त्र है और जिनके अन्त में 'नमः' शब्द का प्रयोग है वे नपुंसक मन्त्र हैं। इस प्रकार हमने मन्त्र के तीन भेदों का वर्णन किया। ये तीनों मन्त्र क्रमशः वशीकरण शान्ति तथा अभिचार कर्म में प्रशस्त कहे गये है। अग्नीषोमात्मक मन्त्र क्रूर तथा सौम्य कर्मों में प्रयोग किये जाते हैं ॥ ५९-६० ॥

मन्त्राणामग्नीषोमात्मकत्वम्

शस्तास्ते त्रिविधा मन्त्रा वश्यशान्त्यभिचारके।
अग्नीषोमात्मका मन्त्रा विज्ञेयाः क्रूरसौम्ययोः ॥ ६० ॥
कर्मणोर्वह्नितारान्त्यवियत्प्रायाः समीरिताः।
आग्नेया मनवः सौम्या भूयिष्टेन्द्वमृताक्षराः ॥ ६१ ॥

तेषां प्रबोधकालः

आग्नेयाः संप्रबुध्यन्ते प्राणे चरति दक्षिणे।
भागेऽन्यस्मिन् स्थिते प्राणे सौम्या बोधं प्रयान्ति च ॥ ६२ ॥
नाडीद्वयं गते प्राणे सर्वे बोधं प्रयान्ति च।
प्रयच्छन्ति फलं सर्वे प्रबुद्धा मन्त्रिणां सदा ॥ ६३ ॥

त्रिविधानां क्रमेण प्रयोजनमाह शस्ता इति। उक्तन्तु नारायणीये—

शेषाः पुमांसः शस्तास्ते वश्योच्चाटे विशेषतः।
क्षुद्रक्रियामयध्वंसे स्त्रियोऽन्यत्र नपुंसकाः ॥ इति।

पूर्वं मातृकायाः कुण्डल्या उत्पत्तेरुक्तत्वात् तस्या अग्नीषोमात्मकत्वात् मन्त्राणामपि तद्दर्शयति अग्नीति। कर्मणोरिति पूर्वत्रान्वेति। वह्नी रेफः। तारः ॐकारः। अन्त्यः क्षकारः। वियत् हकारः। प्रायः शब्दो बाहुल्यवाची। 'प्रायो मूम्न्यद्रुते शनैः' इत्यमरः। आग्नेया इति पूर्वेण सम्बध्यते। इन्दुः सः। तत्त्वन्यासे इन्दुमण्डलस्य सकारादित्वेन न्यस्तत्वात्। अमृतं वः। अत्रैकस्य बाहुल्ये तत्त्वम्। तदुक्तमीशानशिवेन—

ताराकाशाद्यन्त्यवाद्यन्तवर्णा आग्नेयाः स्युः सौम्यवर्णास्ततोऽन्ये।
आग्नेयोऽपि स्यात्तु सौम्यो नमोऽन्तः सौम्योऽपि स्यादग्निमन्त्रः फडन्तः।
स्यादाग्नेयैः क्रूरकार्यप्रसिद्धिः सौम्यैः सौम्यं कर्म कुर्याद् यथावत् ॥ इति।

नारायणीयेऽपि— तारान्त्याग्निवियत् प्रायो मन्त्र आग्नेय इष्यते।
शिष्टः सौम्यः प्रशस्तौ तौ कर्मणोः क्रूरसौम्ययोः ॥
आग्नेयमन्त्रः सौम्यः स्यात् प्रायशोऽन्ते नमोऽन्वितः।
सौम्यमन्त्रस्तथाग्नेयः फट्कारिणान्वितोऽन्ततः ॥ इति।

पिङ्गलामतेऽपि— रौद्रोऽपि शान्ततामेति शान्तजातिसमन्वितः ।
मन्त्रः शान्तोऽपि रौद्रत्वं हुँ फट् पल्लवितो यदि ॥ इति ।

तत्र विशेषो नारायणीये—

मन्त्रावाग्नेयसौम्याख्यौ तारायन्तौ द्वयोर्जपेत् । इति ।

अपेक्षितार्थद्योतनिकायां व्याख्यातम् । एकं नक्षत्रमंशकचतुष्टयं भवति । तत्र आग्नेयानां नक्षत्राणां पूर्वांशद्वयमग्रम् इतरत् पुच्छम् । सौम्यानां उत्तरांशकद्वयमग्रमितरत् पुच्छम् । पुच्छकाले प्रयोगो न कार्य इति गार्ग्यः । आग्नेयसौम्यनक्षत्राणि अहिचक्रे वक्ष्यन्ते । तत्र सूर्यनक्षत्राणि अग्निनक्षत्राणि । बोधफलमाह प्रयच्छन्तीति । अन्यथा दोषदर्शनात् । यदुक्तं नारायणीये—

सुप्तः प्रबुद्धमात्रो वा मन्त्रः सिद्धिं न यच्छति ।
स्वापकालो वामवहो जागरो दक्षिणावहः ॥
आग्नेयस्य मनोः सौम्यमन्त्रस्यैतद्विपर्ययः ।
प्रबोधकालं जानीयादुभयोरुभयोर्वहम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— स्वापकाले तु मन्त्रस्य जपो नार्थफलप्रदः । इति ।

अन्यत्रान्यथा स्वापकाल उक्तः । यदाहुः—

प्राणायाम (पान) समायोगाच्छिवशक्त्योस्तु मेलनम् ।
प्रबोधकालो विज्ञेयः स्वापकालस्ततः परम् ॥ इति ।

अन्यत्र तु प्रबोधार्थं प्रकारान्तरमुक्तम्—

सम्पुटीकृत्य यत्नेन लान्तानाद्यान् सबिन्दुकान् ।
पुनश्च सविसर्गान्तान् क्षकारं केवलं पठेत् ।
एवं जप्त्वोल्पदिष्टश्चेत् प्रबुद्धः शीघ्रसिद्धिदः ॥ इति ।

पुंस्त्रीत्यादिस्वरूपकथनेनैषां विरोधोऽपि सूचितः । यदाहुः—

स्त्रीदैवत्या वैरिणः स्युः पुंदैवत्यस्य भूयसा ।
स्त्रीदैवत्येषु सौम्यानां क्रूराणां स्यात् परस्परम् ॥

तथैव पुंदेवतानाम् । इति । पूर्ववैपरीत्येनोत्तरस्य सङ्गतिः ॥ ६२-६३ ॥

अब **अग्नीषोमात्मक मन्त्र का विवरण** प्रस्तुत करते हैं—

वह्नि (र) तार (ॐ) अन्त्य (क्ष) वियत् (ह) बाहुल्य अक्षर वाले मन्त्र आग्नेय कहे गये है । इन्द्र (सकार) अमृत (वकार) बाहुल्य अक्षर वाले मन्त्र सौम्य कहे गये हैं ॥ ६१ ॥

जब दक्षिण नासिका से वायु का सञ्चरण होता है तब आग्नेय मन्त्र प्रबुद्ध होते हैं । और जब बायें नासिका से वायु का सञ्चरण होता है तो सौम्य मन्त्र प्रबुद्ध होते हैं । जब बायें एवं दाहिने दोनों ओर से प्राण का सञ्चारण हो रहा हो तो सभी मन्त्र प्रबुद्ध रहते हैं । मन्त्र प्रबुद्ध होने पर ही साधकों को फल प्रदान करने में समर्थ होते हैं ॥ ६२-६३ ॥

तेषां छिन्नादिदोषाः तल्लक्षणानि

छिन्नादिदुष्टा ये मन्त्रा पालयन्ति न साधकम् ।
छिन्नो रुद्धः शक्तिहीनः पराङ्मुख उदीरितः ॥ ६४ ॥
बधिरो नेत्रहीनश्च कीलितः स्तम्भितस्तथा ।
दग्धस्त्रस्तश्च भीतश्च मलिनश्च तिरस्कृतः ॥ ६५ ॥
भेदितश्च सुषुप्तश्च मदोन्मत्तश्च मूर्च्छितः ।
हृतवीर्यश्च हीनश्च प्रध्वस्तो बालकः पुनः ॥ ६६ ॥
कुमारस्तु युवा प्रौढो वृद्धो निस्त्रिंशकस्तथा ।
निर्बीजः सिद्धिहीनश्च मन्दः कूटस्तथा पुनः ॥ ६७ ॥
निरंशः सत्वहीनश्च केकरो बीजहीनकः ।
धूमितालिङ्गितौ स्यातां मोहितश्च क्षुधातुरः ॥ ६८ ॥
अतिदृप्तोऽङ्गहीनश्च अतिक्रुद्धः समीरितः ।
अतिक्रूरश्च सव्रीडः शान्तमानस एव च ॥ ६९ ॥
स्थानभ्रष्टश्च विकलः सोऽतिवृद्धः प्रकीर्त्तितः ।
निःस्नेहः पीडितश्चापि वक्ष्याम्येषाञ्च लक्षणम् ॥ ७० ॥

तत्र शक्तिशिवात्मकमातृकातो मन्त्रोत्पत्तेरुक्तत्वात् तदुत्पत्तिनिमित्ताश्चाणवादिदोषाः तदन्तर्गतच्छिन्नादिदोषसम्बन्धा मन्त्रा विरुद्धफला इत्याह छिन्नेति । छिन्नादिदोषैर्दुष्टाः साधकं न पालयन्तीति सर्वेषां सामान्यफलम् । वक्ष्यमाणं क्वचित्तत्तद्विशेषफलं ज्ञेयम् । आदिशब्दार्थमाह छिन्नेति । तथा पुनरित्यनेन कूट एव निरंशसूचक इत्याह । सोऽतिवृद्ध इति निःस्नेहविशेषणम् तेन निःस्नेहानन्तरमतिवृद्धस्ततः पीडित इति ॥ ६४-७० ॥

छिन्नादि दोषों से दुष्ट मन्त्र साधक की रक्षा नहीं कर सकते । अब छिन्नादि दोषों की गणना करते हैं छिन्न, रुद्ध, शक्तिहीन, पराङ्मुख बधिर नेत्रहीन, कीलित, स्तम्भित, दग्ध, भीत, मलिन, तिरस्कृत, भेदित, सुषप्त मदोन्मत्त, मूर्च्छित, हतवीर्य, हीन, प्रध्वस्त, बालक, कुमार, युवा, प्रौढ़ वृद्ध, निस्त्रिंशक, निर्बीज, सिद्धिहीन, मन्द कूट निरंश, सत्त्वहीन केकर, बीजहीनक, धूमित, अलिङ्गित, मोहित, क्षुधार्तक अतिदृप्त, अङ्गहीन, अतिक्रुद्ध, अतिक्रूर, सव्रीड, शान्तमानस, स्थानभ्रष्ट, विकल, अतिवृद्ध, निःस्नेह, पीड़ित—ये मन्त्र में रहने वाले दोष है, अब मैं इनका लक्षण कहता हूँ ॥ ६४-७० ॥

मनोर्यस्यादि मध्यान्तेष्वानिलं बीजमुच्यते ।
संयुक्तं वा वियुक्तं वा खराक्रान्तं त्रिधा पुनः ।
चतुर्धा पञ्चधा वा स्युः समन्त्रश्छिन्न संज्ञकः ॥ ७१ ॥

मनोरिति । अनिलं यं । आदिमध्यान्तेष्विति समुच्चयः । संयुक्तं वा अक्षरान्तरयुक्तं वियुक्तं वा केवलं वा इत्येकैकं द्विर्द्विः सम्बध्यते । विशिष्टमनिलं वा विशिष्टं बीजं वा यस्य सच्छिन्नसंज्ञक इति अन्वयः । बीजं शक्तिबीजम् । स्वराक्रान्तं दीर्घस्वराक्रान्तम् । आ ई ऊ ऐ औ एतत् स्वरयुक्तमिति सम्प्रदायविदः । बीजशब्देन मायाबीजं कथमिति चेदुक्तं शैवे—

मायाबीजस्य नामानि मालिनी शिववल्लरी ।
वातावर्त्तिः कला वाणी बीजं शक्तिश्च कुण्डली ॥ इति ।

तदुक्तं पिङ्गलामते—आदिमध्यावसानेषु यस्य मन्त्रस्य दृश्यते ।
चतुर्धा पञ्चधा द्वैधमेकवीरं स्वरान्वितम् ।
वायुबीजमसौ मन्त्रश्छेदितः परिकीर्त्तितः ॥ इति ।

तत्रैव अथ मन्त्रांशकबीजविवरणमित्युपक्रम्य व्याख्यातम् । वायुबीजं यकारः । एकवीरो ह्वः । स्वराक्रान्तो दीर्घस्वरयुक्तः । यथाक्रमं ह्रां ह्रीँ ह्रूं ह्रैं ह्रौं उदाहरणञ्च तत्रैव प्रदर्शितम् । 'अघोरेभ्योऽथ ह्रां घोरेभ्यो ह्रीँ घोरतरेभ्यः ह्रूं सर्वतः सर्वशर्वेभ्यो ह्रैं नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यो ह्रौं' इति । मन्त्रमुक्तावल्याञ्च—'एकवीरं वा स्वराक्रान्तं विशेषतः' इति । ग्रन्थान्तरे तु—'अर्द्धग्रहो मनुश्छिन्नः' इत्युक्तम् । अर्द्धं ग्रहः ऋचि श्लोके वा मध्ये विच्छिन्नः ।

अन्यत्र तु— 'आदिमध्यान्तबीजानां लोपैश्छिन्नाः' इति ॥ ७१ ॥

आदिमध्यावसानेषु भूबीजद्वन्द्वलाञ्छितः ।
रुद्धमन्त्रः स विज्ञेयो भुक्तिमुक्तिविवर्जितः ॥ ७२ ॥

आदीत्येषां समुच्चयः । भूवीजं लं । द्वन्द्वेति प्रत्येकम् । भुक्तिरैहिकं फलम् । तदुक्तं पिङ्गलामते—

आदौ द्विधा त्रिधा मध्ये पुनश्चान्ते द्विधा भवेत् ।
इन्द्रबीजमसौ मन्त्रो रुद्ध इत्यभिधीयते ॥ इति ।

अन्यत्र च—द्विधा पूर्वं त्रिधा मध्ये द्विधान्ते च पुनः प्रिये ।
वज्रयुक्तस्तु यो मन्त्रः स निरुद्धः प्रकीर्त्तितः ॥ इति ।

वज्रं लकारः। उभयत्र त्रिधेति शेषः । चकारेणोभयत्र समुच्चयोऽपि दर्शितः। एतेन केचन भूबीजशब्देन ग्लोमिति वदन्ति तदपि परास्तम् । ग्रन्थान्तरे त्वन्यः प्रकारः—'रुद्धो निःसन्धिकः स्मृतः' इति । स्वरसन्धिर्व्यञ्जनसन्धिर्व्याकरणोक्तो यत्र नास्ति स निःसन्धिकः । तन्त्रान्तरे—'रुद्धाः परिवारसमन्विताः' इति ॥ ७२ ॥

जिस मन्त्र के आदि एवं अन्त में रहने वाला अनिल बीज (यं) संयुक्त अक्षर के साथ अथवा केवल दो दो बार उच्चरित हो इस प्रकार का मन्त्र छिन्न संज्ञक होता है । स्वराक्रान्त छिन्नमन्त्र तीन प्रकार का होता है । आ, ई, ऊ, ऐ औ— इन दीर्घ स्वरों में यदि शक्ति बीज (ह्रीँ) तीन अथवा चार अथवा पाँच दीर्घ स्वरों से आक्रान्त हो तो वह भी छिन्न संज्ञक होता है ॥ ७२ ॥

मायात्रितत्त्वश्रीबीजरावहीनस्तु यो मनुः ।
शक्तिहीनः स कथितो यस्य मध्ये न विद्यते ॥ ७३ ॥
कामबीजं मुखे माया शिरस्यङ्कुशमेव वा ।
असौ पराङ्मुखः प्रोक्तो हकारो बिन्दुसंयुतः ॥ ७४ ॥
आद्यन्तमध्येष्विन्दुर्वा न भवेद् बधिरः स्मृतः ॥ ७५ ॥

मायेति । माया भुवनेशीवीजम् । त्रितत्त्वं हूँकारः प्रणवो वा । रावः फ्रेंकारः। एषां न समुच्चयः । यदुक्तम्—

मायाबीजं यत्र नास्ति त्रितत्त्वं रावमेव वा ।
श्रीगृहं वापि मन्त्रोऽसौ शक्तिहीनः प्रकीर्त्तितः ॥ इति ।

पिङ्गलामतेऽपि— मायाबीजं त्रितत्त्वं वा श्रीगृहं यत्र नास्ति चेत् ।
शक्तिहीन इति ख्यातः सामर्थ्यं हन्ति मन्त्रिणः ॥ इति ।

अथ मन्त्रांशकबीजविवरणमित्युपक्रम्य त्रितत्त्वं हूँ श्रीग्रहं श्रीमिति तत्रैव व्याख्यातम् ।

यस्येति । मुखे आदौ । शिरसि अन्ते । अङ्कुशं क्रोंकारः । वाशब्दः समुच्चये। क्वचिदेव चेति पाठः । तदुक्तं पिङ्गलामते—

कामबीजं न यन्मध्ये मायादावन्तिमोऽङ्कुशः । पराङ्मुख इति प्रोक्तः । इति। मन्त्रमुक्तावल्यामपि—

यस्य कामकलाबीजं मध्यस्थाने न विद्यते ।
आदौ मायाङ्कुशश्चान्ते विज्ञेयोऽसौ पराङ्मुखः ॥ इति ।

हकार इति । इन्दुः सः । बिन्दुसंयुत इत्यत्रापि सम्बध्यते । आद्यन्तमध्येष्विति न समुच्चयः । तदुक्तम्—

शून्यं बिन्दुसमायुक्तं आद्यन्ते वाथ मध्यतः ।
न भवेज्जीवबीजं वा यस्यासौ बधिरः स्मृतः ॥ इति ।

एतेन केचिदिन्दुशब्देन ठकाराख्यमाचक्षते । तदपि परास्तम् ॥ ७३-७५ ॥

जिस मन्त्र के आदि मध्य अथवा अन्त में भू बीज (लँ) दो बार लगाया गया हो उसे रुद्धमन्त्र कहते हैं । ऐसा मन्त्र न तो भोग देता है और न मोक्ष ही प्रदान करता है । माया (भुवनेश्वरी बीज ह्रीँ) त्रितत्त्व (हूँ अथवा प्रणव), श्री बीज (श्रीँ) राव (फ्रें) ये अक्षर जिस मन्त्र में नहीं हैं वे शक्तिहीन कहे जाते हैं । जिस मन्त्र में कामबीज (क्लीँ) न हो, आदि में माया बीज (ह्रीँ) न हो और अन्त में अंकुश (क्रोँ) ये तीनों न हों उसे पराङ्मुख कहते हैं ॥ ७२-७५ ॥

पञ्चवर्णो मनुर्यः स्याद् रेफार्केन्दुविवर्जितः ।
नेत्रहीनः स विज्ञेयो दुःखशोकामयप्रदः ॥ ७६ ॥

पञ्चेति । अर्को हकारः । वैष्णववृहत्तत्त्वन्यासेऽर्कमण्डलतत्त्वस्य हकारादित्वेन न्यस्तत्वात् । हकारस्य पुंरूपत्वाद् वा अर्कत्वम् । इन्दुः सकारः । पञ्चेत्यादि उभयं दोषबीजम् । दुःखशोकमयप्रद इति क्रमेण फलम् । यतोऽग्निसूर्यचन्द्राणां नेत्रत्रयात्मकत्वात् एकद्विहानतः काणतापि ज्ञेया । तदुक्तं पिङ्गलामते—

पञ्चाक्षरस्तु यो मन्त्रो वह्निचन्द्रार्कवर्जितः ।
नेत्रहीन इति ज्ञेयो दुःखशोकामयावहः ॥ इति ।

अथ मन्त्रांशकवीजविवरणमित्युपक्रम्य चन्द्रः सः अर्को हः इति तत्रैव व्याख्यातम् ॥ ७६ ॥

जिस मन्त्र के आदि मध्य अथवा अन्त में बिन्दु संयुक्त हकार न हो बिन्दु संयुक्त इन्दु (सकार) न हो तो वह मन्त्र बधिर दोष से दुष्ट होता है पाँच अक्षर वाला जो मन्त्र रेफ अर्क (हकार) इन्द्र (सकार) से रहित हो तो उसे नेत्रहीन कहा जाता है, ऐसा मन्त्र दुःख शोक तथा रोग देने वाला होता है ॥ ७६ ॥

आदिमध्यावसानेषु हंसप्रासादवाग्भवाः ।
हकारोबिन्दुमान् जीवो रावं वापि चतुष्कलम् ।
माया नमामि च पदं नास्ति यस्मिन् स कीलितः ॥ ७७ ॥

आदीति । एषां समुच्चयः हंसआदीनां न समुच्चयः । रावं वा इत्युक्तत्वात् । ग्रन्थान्तरेपि—'हंसं मायात्मकं वापि' इति । हंसः खरूपम् । प्रासादबीजं हौं । वाग्भवम् ऐं । हकारोबिन्दुमान् । जीवः सः । रावः फ्रूं । चतुष्कलो हूँ । माया शक्तिबीजम् नमामीति पदञ्च यत्र नास्ति स कीलित इति । अत्र हकारोबिन्दुमानित्येकं पदम् । जीव इत्येकम् । तत्र जीवः कीदृशः हकारश्च अकारश्च उकारश्च बिन्दुश्च तद्वान्। तेन स्हों इति सिद्धम् । अत्र अकार उकार बिन्दुरित्यनेन ॐकारः । यथा 'अउमाः स्युः' इत्यत्र ।

तथा च पिङ्गलामते—

नवमस्वरसंयुक्तो जीवारूढः सबिन्दुकः ।
यस्यात्मा दृश्यते नैव किंवा रावश्चतुष्कलः ॥
प्रासादो वाग्भवो हंसो माया वा यत्र दृश्यते ।
आदिमध्यान्तदेशेषु कीलितं तं प्रचक्षते ॥ इति ।

अथ मन्त्रांशकबीजविवरणमित्युपक्रम्य तत्रैव व्याख्यातम्—नवमस्वर ओकारः । आत्मा हः । रावः फ्रूं । चतुष्कलः हूँ । तन्त्रान्तरे तु—'हंसमायात्मकं वापि' इति पठित्वा ह्रीमिति व्याख्यातम् । अन्ये हंसो मायेति पिङ्गलावाक्येऽप्ययमेवार्थ इत्याहुः । अन्यत्र तु—'अन्तरन्येन बीजेन व्याप्तः कीलित उच्यते ।' इति । ग्रन्थान्तरे—'कीलितो बीजवर्जितः ' इति ॥ ७७ ॥

एकं मध्ये द्वयं मूर्द्धिन यस्मिन्नस्त्रपुरन्दरौ ।
विद्येते स तु मन्त्रः स्यात् स्तम्भितः सिद्धिरोधकः ॥ ७८ ॥

एकमिति । मूर्द्धिन अन्ते । अस्त्रं फट्कारः । पुरन्दरो लः । मध्ये एकः फट्कारो लकारो वा । अन्ते फट्कारद्वयं लकारद्वयं वा । केचन मध्ये फट्कारः अन्ते लद्वयमिति व्याचक्षते । तदसत् । ग्रन्थान्तरविरोधात् । तथा च पिङ्गलामते—

सकृन्मध्ये द्विधा प्रान्ते शक्रबीजं भवेद् यदि ।
स्तम्भितं तं वदन्तीत्थं मन्त्रं मन्त्रविदो बुधाः ॥ इति ।

ग्रन्थान्तरे च— द्विधा त्रिधाऽष्टधा षोढा मन्त्रान्ते यत्र दृश्यते ।
महास्त्रं स्तम्भितो मन्त्रः सः श्रीशेन प्रकीर्त्तितः ॥

इति ग्रन्थद्वयविरोधात् । 'न विद्येते स मन्त्रः' इति प्रामादिकः पाठः । 'विद्येते स तु मन्त्रः स्यात्' इति तु साम्प्रदायिकः पाठः । अन्यत्र तु—

स्तम्भितोसौ क्रियायां यो नियुक्तो नापि युञ्जति । इति ॥ ७८ ॥

जिस मन्त्र के आदि मध्य एवं अन्त में हंस (हंसः) प्रसाद बीज (ह्रौं), वाग्भव (ऐं), हकार बिन्दुमान् (हं), जीवः (सः), राव (फ्रें), चतुष्कल (हूँ), माया (= शक्तिबीज ह्रीँ) एवं नमामि—इनमें से कोई पद नहीं है, उसे कीलित मन्त्र कहते हैं ॥ ७७-७८ ॥

वह्निवायुसमायुक्तो यस्य मन्त्रस्य मूर्द्धनि ।
सप्तधा दृश्यते तं तु दग्धं मन्येत मन्त्रवित् ॥ ७९ ॥

वह्निरिति । वह्नी रेफः वायुर्यकारः तेन समवेतः अध ऊर्द्धं वा । मूर्द्धनि आदौ। तदुक्तं पिङ्गलामते—

आदिस्थैः सप्तभिर्बीजैर्मारुतैः पावकाक्षरम् ।
दीपितं यत्र तं मन्त्रमार्या दग्धं प्रचक्षते ॥ इति ।

ग्रन्थान्तरे प्रकारान्तरेणोक्तः—'षट्कर्णाकर्णितो दग्धः' इति ।

अन्यत्र तु—'अग्निबीजाधिका दग्धाः' इति ॥ ७९ ॥

स्तम्भित मन्त्र—जिस मन्त्र के मध्य में एक अस्त्र (फट्कार) पुरन्दर (ल) न हो अथवा अन्त में दो फट्कार और ल न हो उसे स्तम्भित मन्त्र कहा जाता है। क्योंकि ऐसे मन्त्र से सिद्धि नहीं होती अपितु इस प्रकार के मन्त्र सिद्धि को रोकने वाले होते हैं ॥ ७८-७९ ॥

अस्त्रं द्वाभ्यां त्रिभिः षड्भिरष्टाभिर्दृश्यतेऽक्षरैः।
त्रस्तः सोऽभिहितो यस्य मुखे न प्रणवः स्थितः।
शिवो वा शक्तिरथवा भीताख्यः स प्रकीर्तितः॥ ८० ॥

अस्त्रमिति । द्वाभ्यामक्षराभ्यां त्रिभिः षड्भीरष्टभिरक्षरैर्वा यस्य अस्त्र फट्कारो दृश्यते । पिङ्गलामते भीतनाम्नायमुक्तः ।

आदिमध्यान्तदेशेषु यदि मन्त्रोऽस्त्रसंयुतः । भीत इत्युच्यते तन्त्रे । इति । अन्ये तु 'त्रस्तः सोऽभिहितो मन्त्रः' इति पाठमपठन् । तन्त्रान्तरे—'त्रासिताः सिद्धि-भीषिताः' इति ।

यस्येति । मुखे आदौ । शिवः हः शक्तिः स इति साम्प्रदायिकाः । केचन शिवशब्देन बिन्दुं शक्तिशब्देन विसर्गमाहुः । तदयुक्तम् । मन्त्रादौ केवलबिन्दोः केवलविसर्गस्य वा असत्त्वात् । अक्षरान्तरयुक्तो ग्राह्य इति चेत् । तद्वरं साम्प्रदायिकार्थानुसरणमेव ।

ग्रन्थकृदन्ते वक्ष्यति—

हंसौ तौ पुंप्रकृत्याख्यौ हं पुमान् प्रकृतिस्तु सः । इति ।

अयमेव दोषो नामान्तरेणोक्तः पिङ्गलामते—

शिवः शक्तिस्तथौंकारो यस्यादौ नास्ति तं मनुम् ।
वदन्ति मातृकाहीनं हीनसिद्धिप्रदायकम् ॥ इति ।

अथ मन्त्रांशकबीजविवरणमित्युपक्रम्य तत्रैव व्याख्यातं शिवो हं शक्तिः स इति ॥ ८० ॥

जिस मन्त्र के आदि में वह्नि (र) तथा वायु (यकार) समवेत रूप से सात बार आया हो उस मन्त्र को मन्त्रवेत्ता को दग्ध दोष से दूषित समझना चाहिए ॥ ७९-८० ॥

आदिमध्यावसानेषु भवेन्मार्णचतुष्टयम् ।
यस्य मन्त्रः स मलिनो मन्त्रवित् तं विवर्जयेत् ॥ ८१ ॥

आदीति । एषां समुच्चयः । मार्णचतुष्टयमित्यपि समुच्चयः । तेन स्थानत्रये मिलित्वा मार्णचतुष्टयमपेक्षितम् । तदुक्तं पिङ्गलामते—

आदिमध्यान्तदेशेषु चतुर्धा यत्र दृश्यते ।
मकारो मलिनं विद्यात् तं मन्त्रं मन्त्रवित् त्यजेत् ॥ इति ।

अन्यत्र तु— आदौ मध्येऽथ हृदये त्रिधा वै यस्य दृश्यते ।
मन्त्रो मकार ईशेन मलिनः स समीरितः ॥ इति ।

मतान्तरत्वाद्भेदः । हृदयशब्दोऽन्तवाची । अन्यत्र तु 'मलैस्त्रिभिः सहजागन्तुकमायाख्यैर्मलिनाः' इति ॥ ८१ ॥

दो, तीन, छः अथवा आठ अक्षरों से युक्त अस्त्र मन्त्र (हुं फट्) जिस मन्त्र में हो उसे त्रस्त कहा जाता है । जिस मन्त्र के आदि में प्रणव, शिव (हं), शक्ति ( ) न हो वह मन्त्र भीत कहा जाता है ॥ ८०-८१ ॥

यस्य मध्ये दकारोऽथ क्रोधो वा मूर्द्धनि द्विधा ।
अस्त्रं तिष्ठति मन्त्रः स तिरस्कृत उदाहृतः ॥ ८२ ॥

यस्येति । क्रोधो हूँ बीजं मध्ये दकारक्रोधयोर्विकल्पः । मूर्द्धनि अन्ते । द्विधा अस्त्रमिति सम्बन्धः । मध्यान्तयोः समुच्चयः । तदुक्तं पिङ्गलामते—

दकारः क्रोधबीजं वा यस्य मध्ये व्यवस्थितम् ।
फड् द्वयञ्च स्थितं प्रान्ते यस्याणोः स तिरस्कृतः ॥ इति ।

अन्यत्रापि— यस्य मध्ये दकारस्तु क्रोधबीजं हृदि स्थितम् ।
द्विधा चान्ते च फट्कारः स्याद् यस्य स तिरस्कृतः ॥ इति ।

तन्त्रान्तरे 'पराभूतास्तिरस्कृताः' इति ॥ ८२ ॥

जिस मन्त्र के आदि मध्य तथा अन्त इन तीनों स्थानों में कुल मिलाकर चार मकार हों उसे **मलिन** कहा जाता है । मन्त्रवेत्ता को ऐसे मन्त्र का त्याग कर देना चाहिए ॥ ८२ ॥

भ्योद्वयं हनदये शीर्षे वषडस्त्रञ्च च मध्यतः ।
यस्यासौ भेदितो मन्त्रस्त्याज्यः सिद्धिषु सूरिभिः ॥ ८३ ॥

भ्योद्वयं प्रमुखे शीर्षे वषडस्त्रञ्च मध्यत इति । शीर्षे अन्ते वषट् । अस्त्रं हुः मध्यतः । यन्मन्त्रमुक्तावल्याम्—

अस्त्रवर्णद्वयं मध्ये वषडन्ते तथैव च ।
यस्य मन्त्रस्य भिन्नोऽसौ विज्ञेयः सिद्धिवर्जितः ॥ इति ।

पिङ्गलामतेऽपि— अस्त्रवर्णद्वयं मध्ये वषडन्ते तथादितः ।
अउमाः स्युरसौ मन्त्रो भेदितः परिकीर्त्तितः ॥ इति ।

अथ मन्त्रांशकबीजविवरणमित्युपक्रम्य तत्रैव व्याख्यातम् । अस्त्रं हुः । अउमाः ॐकारः । केचन 'भ्योद्वयं हृदये शीर्षे वषडाबू च मध्यतः' इति पठन्ति । अन्ये च 'वषट् वौषट् च मध्यतः' इति पठन्ति ।

अन्यत्र—'भिन्नतां नीता भेदिताः' इति ॥ ८३ ॥

जिस मन्त्र के मध्य में अथवा अन्त में दकार अथवा क्रोध (हुंकार) हो अथवा दो बार अस्त्र मन्त्र (हुं फट्) हो तो वह **तिरस्कृत** कहा जाता है ॥ ८३ ॥

त्रिवर्णो हंसहीनो यः सुषुप्तः स उदाहृतः ॥ ८४ ॥

त्रिवर्ण इति । त्रिवर्णत्वं हंसहीनत्वमेकस्यैव । तदुक्तं पिङ्गलामते—

वर्णत्रयं भवेद् यत्र हंसहीनं स शम्भुना ।
सुषुप्त इति सिद्धान्ते प्रोक्तोऽभीष्टफलापहः ॥ इति ।

मन्त्रमुक्तावल्यामपि—वर्णत्रयात्मको मन्त्रो यस्तु हंसविवर्जितः ।
प्रसुप्तः स तु विज्ञेयः सर्वसिद्धिफलापहः ॥ इति ।

'अज्ञातदीपकः सुप्तः' इत्येके । अन्यत्र तु—'मायया हतसामर्थ्याः सुप्ताः' इति । अन्यत्र तु—'सुप्तः स्यादासनं विना' इति ॥ ८४ ॥

जिस मन्त्र के हृदय प्रदेश में दो बार 'भ्यो' कहा गया हो। अन्त में वषट् हो और मध्य में अस्त्र मन्त्र (हुं फट्) हो तो उसे **भेदित** कहा जाता है। बुद्धिमानों को सिद्धिकार्य में ऐसे मन्त्रों का त्याग कर देना चाहिए ॥ ८४ ॥

मन्त्रो वाऽप्यथवा विद्या सप्ताधिकदशाक्षरः।
फट्कारपञ्चकादिर्यो मदोन्मत्त उदीरितः॥ ८५ ॥
तद्वदस्त्रं स्थितं मध्ये यस्य मन्त्रः स मूर्च्छितः।
विरामस्थानगं यस्य हतवीर्यः स कथ्यते॥ ८६ ॥

मन्त्र इति। सप्ताधिकानि अष्टौ दश च अक्षराणि यत्र सः। एवमष्टादशाक्षरः। फट्काराणां पञ्चकमादौ यस्मिन्निति वहुब्रीहिः। तदुक्तम्—

विद्या वा यदि वा मन्त्रो यद्यष्टादशवर्णकः।
पञ्चफट्कारपूर्वः स्यान्मदोन्मत्तः स उच्यते ॥ इति।

पिङ्गलामतेऽपि— विद्या वा मन्त्रराजो वा यः स्यात् सप्तदशाधिकः।
फट्काराः पञ्च पूर्वञ्चेदुन्मत्तः स प्रकीर्त्तितः ॥ इति।

अत्रापि विशेषणद्वयविशिष्टत्वे दोषः । तद्वदिति पञ्चवारम् । ग्रन्थान्तरे प्रकारान्तरम्—'समूर्च्छिताः पुनर्विचैतन्याः' इति।

विरामेति। यस्यास्त्रमिति सम्बध्यते। यस्यान्ते अस्त्रमित्यर्थः।

'विरामगोऽस्त्री यो मन्त्रः' इति पाठः क्वचित्।

तदुक्तं पिङ्गलामते—

अस्त्रमन्त्रो भवेद् यस्य मध्ये प्रान्ते च शम्भुना।
हतवीर्य इति ख्यातः स मन्त्रो नैव सिद्धिदः ॥ इति।

अन्यत्रापि—विरामस्थानगं यस्य हतवीर्यः स उच्यते। इति।

केचन पञ्चधा इत्यप्यनुवर्त्तयन्ति। तदेतद्विरुद्धम्। अन्ये तु 'सामर्थ्यवर्जितो हीनवीर्यः' इत्याहुः। अन्यत्र तु 'निर्बीर्यश्चाधिकाक्षरः' इति ॥ ८५-८६ ॥

जिस मन्त्र में तीन अक्षर हों किन्तु उसमें 'हंसः' इन दोनों अक्षरों में कोई न हो तो वह सुषुप्त कहा जाता है ॥ ८५ ॥

सात से अधिक अर्थात् आठ और दश इस प्रकार कुल १८ अक्षर वाला जो मन्त्र पाँच बार फट्कार के अक्षरों से युक्त हो तो वह 'मदोन्मत्तं' कहा जाता है ॥ ८५-८६ ॥

इसी प्रकार जिस मन्त्र के मध्य में पाँच बार अस्त्र (हुं फट्) का प्रयोग हो, उसे मूर्च्छित कहा जाता है ॥ ८६ ॥

आदौ मध्ये तथा मूर्ध्नि चतुरस्त्रयुतो मनुः।
ज्ञातव्यो हीन इत्येष यः स्यादष्टादशाक्षरः॥ ८७ ॥

एकोनविंशत्यर्णो वा यो मन्त्रस्तारसंयुतः ।
हल्लेखाङ्कुशबीजाढ्यस्तं प्रध्वस्तं प्रचक्षते ॥ ८८ ॥

आदाविति समुच्चयः । चतुर्धास्त्रमित्यपि । स्थानत्रये मिलित्वा अस्त्रचतुष्टयम्। तन्त्रान्तरे तु भीतनाम्ना अयमुक्तः ।

आदावन्ते तथा मध्ये चतुर्धाऽस्त्रेण संयुतम् ।
अष्टादशाक्षरं मन्त्रं भीतं तं भैरवोऽब्रवीत् ॥ इति ।

अष्टादशाक्षरत्वे विशेषः । अत्रापि 'यः स्यादष्टादशाक्षरः' इति चरणः काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते इति वा । क्वचित् 'ज्ञातव्यो भीत इत्येषः' इति पाठः । ग्रन्थान्तरे तु प्रकारान्तरम् । 'अथ वजिताः सुसिद्ध सिद्ध साध्याख्यैरंशैर्हीनाः' इति । अन्यत्र तु 'हीनो दुष्टादवाप्तो यः' इति ।

यः स्यादिति । तारः प्रणवः । केचन तारं प्रें इति वदन्ति । तदयुक्तम् । ग्रन्थान्तरविरोधात् । यन्मन्त्रमुक्तावल्याम्—

एकोनविंशत्यर्णो यो यो मन्त्रः प्रणवान्वितः ।
महामायाङ्कुशैर्युक्तस्तं प्रध्वस्तं प्रचक्षते ॥ इति ।

पिङ्गलामतेऽपि— यदि सोऽष्टादशाक्षरः ।
विंशत्येकोनवर्णो वा मायौङ्काराङ्कुशान्वितः ।
प्रध्वस्त इत्यसौ मन्त्रः शम्भुदेवेन कीर्त्तितः ॥ इति

केचनैतत् परिहाराय 'यो मन्त्रः प्रणवान्वितः' इति पाठं पठन्ति । हल्लेखा माया । तदुक्तं भुवनेशीपारिजाते—

मायाबीजमिदं प्रोक्तं भुवनत्रयमक्षरम् ।
हल्लेखेयञ्च योगेशी भुवनेशी च योगिनी ॥ इति ॥ ८७-८८ ॥

इसी प्रकार जिस मन्त्र के अन्त में पाँच बार 'हुं फट्' का प्रयोग हो तो उसे 'हतवीर्य' कहा जाता है । इसी प्रकार जिस अष्टादशाक्षर मन्त्र के आदि और अन्त में तथा मध्य में चार बार अस्त्र (हुं फट्) का प्रयोग हो उसे हीन समझना चाहिए ॥ ८७-८८ ॥

सप्तवर्णो मनुर्बालः कुमारोऽष्टाक्षरस्तु यः ।
षोडशार्णो युवा प्रौढश्चत्वारिंशल्लिपिर्मनुः ॥ ८९ ॥

सप्तवर्ण इति । चत्वारिंशल्लिपिश्चत्वारिंशदक्षरः । तदुक्तम्—

सप्ताक्षरो भवेद् बालः कुमारश्चाष्टवर्णकः ।
चत्वारिंशाक्षरः प्रौढस्तरुणः षोडशाक्षरः ॥ इति ।

अन्यत्र—'बालो लघ्वक्षरात्मकः' इति ।

ग्रन्थान्तरे तु—'अदृढा बालकाः कार्ये' इति ।

अन्यत्र—गुरोरप्यविधानेन प्राप्तो योवनगर्वितः । इति ।

ग्रन्थान्तरे तु—'तरुणा अतिदर्पिताः' इति ।

अन्यत्र तु—'प्रौढाः प्रभोत्कटाः' इति ॥ ८९ ॥

त्रिंशदर्णश्चतुः षष्टिवर्णो मन्त्रः शताक्षरः ।
चतुः शताक्षरश्चापि वृद्ध इत्यभिधीयते ॥ ९० ॥

त्रिंशदिति । चतुःशताक्षरः चतुरधिकशताक्षरः मध्यपदलोपी । केचित् चतुःशताक्षर इति चत्वारि शतानि अक्षराणि यस्य इति व्याचक्षते । तन्न । ग्रन्थान्तरविरोधात् ।

त्रिंशदर्णं शतार्णं वा चतुःषष्ट्यक्षरन्तथा ।
चतुरूर्द्धशतं वापि वृद्ध इत्यभिधीयते ॥ इति ।

पिङ्गलामतेऽपि— त्रिंशद् यत्र शतार्द्धं वा चतुःषष्टिशतं चतुः ।
शतानि सन्ति वर्णानां स मन्त्रो वृद्धसंज्ञकः ॥ इति ।

असावेवाग्रे वक्ष्यति अतिवृद्धलक्षणे—

चतुःशतान्यथारभ्य यावद्वर्णसहस्रकम् । इति । त

न च विरोधः स्यात् ।

ग्रन्थान्तरे च—'क्षुद्रकर्मैव कुर्वन्ति वृद्धास्ते ।' इति ॥ ९० ॥

उन्नीस अक्षर वाले जिस मन्त्र में प्रणव के साथ हृल्लेखा (माया = ह्रीँ) अथवा अंकुश बीज (क्रोँ) हो तो वह मन्त्र 'प्रध्वस्त' कहा जाता है । सात अक्षर का मन्त्र **बालक** होता है, आठ अक्षर का मन्त्र **कुमार** कहा जाता है, १६ अक्षर का मन्त्र **युवा** और २४ अक्षरों वाला मन्त्र **प्रौढ़** कहा जाता है । तीस अक्षर वाले, चौंसठ अक्षर वाले, सौ अक्षरों वाले तथा १०४ अक्षर वाले मन्त्र को **वृद्ध** कहा जाता है ॥ ८८-९१ ॥

नवाक्षरो ध्रुवयुतो मनुर्निस्त्रिंश ईरितः ।
यस्यावसाने हृदयं शिरोमन्त्रश्च मध्यतः ॥ ९१ ॥
शिखा वर्म च न स्यातां वौषट् फट्कार एव च ।
शिवशक्त्यर्णहीनो वा स निर्बीज इति स्मृतः ॥ ९२ ॥

नवेति । ध्रुव ॐकारः । नवाक्षरत्वं ध्रुवयुक्तत्वमेकस्यैव । निस्त्रिंशो धातुक इत्यर्थः । पिङ्गलामते—नवाक्षरस्तु निस्त्रिंशो ध्रुवयुक्तोऽपमृत्युदः । इति ।

यस्येति । हृदयमन्त्रः नमः । शिरोमन्त्रः स्वाहा । शिखा वषट् । वर्म हुँ । शिवो हं । शक्त्यर्णः स इति । विकल्पद्वयमध्य एव । अत्र 'संस्याताम्' इति प्रामादिकः पाठः । 'न स्याताम्' इति साम्प्रदायिकः । तदुक्तम्—

हृच्छिरोऽन्ते शिखा वर्म मध्ये नेत्रास्त्रकेऽथवा ।
शिवशक्त्यात्मकौ वर्णौ न स्तौ यस्थ स मन्त्रराट् ।

निर्बीज इति सम्प्रोक्तः सर्वकर्मसु गर्हितः ॥ इति ।

तन्त्रान्तरे तु—निर्बीजस्तु समाख्यात आदावोङ्कारवर्जितः । इति ॥ ९१-९२ ॥

एषु स्थानेषु फट्कारः षोढा यस्मिन् प्रदृश्यते ।
स मन्त्रः सिद्धिहीनः स्यान्मन्दः पङ्क्त्यक्षरो मनुः॥ ९३ ॥

एष्विति निर्बीजलक्षणे तन्त्रान्तरोक्तादिग्रहणसूचनार्थम् । तदाह एष्विति । आदिमध्यावसानेषु एषां समुच्चयः । षोढेत्यत्रापि स्थानत्रये मिलित्वा षट् ।

मन्द इति । पङ्क्त्यक्षरो दशाक्षरः । तदुक्तम्—'दशाक्षरो भवेन्मन्दः' इति । तन्त्रान्तरे—'प्रभाहीना मन्दाः' इति ॥ ९३ ॥

कूट एकाक्षरो मन्त्रः स एवोक्तो निरंशकः ।
द्विवर्णः सत्वहीनः स्याच्चतुर्वर्णस्तु केकरः ॥ ९४ ॥

कूट इति । तदुक्तम्—'कूट एकाक्षरोऽथवा निरंशः स भवेन्मन्त्रः' इति । द्विवर्ण इति । तदुक्तम् । 'द्व्यक्षरः सत्त्ववर्जितः' इति ।

अन्यत्र तु—'सत्त्ववर्जितास्तमसोत्कटाः' इति ।

चतुर्वर्ण इति चतुर्बीजः । पिङ्गलामते विशेषः—

ध्रुवहीनश्चतुर्बीजैः षड्भिर्वा केकरो मतः । इति ॥ ९४ ॥

षडक्षरो बीजहीनस्त्वर्द्धसप्ताक्षरो मनुः ।
सार्द्धद्वादशवर्णो वा धूमितः स तु निन्दितः ॥ ९५ ॥
सार्द्धबीजत्रयस्तद्वदेकविंशतिवर्णकः ।
अविंशत्यर्णस्त्रिंशदर्णो यः स्यादालिङ्गितस्तु सः ॥ ९६ ॥
द्वात्रिंशदक्षरो मन्त्रो मोहितः परिकीर्त्तितः ।
चतुर्विंशतिवर्णो यः सप्तविंशतिवर्णकः॥ ९७ ॥
क्षुधार्त्तः स तु विज्ञेयश्चतुर्विंशतिवर्णकः ।
एकादशाक्षरो वापि पञ्चविंशतिवर्णकः॥ ९८ ॥
त्रयोविंशतिवर्णो वा मन्त्रो दृप्त उदाहृतः ॥ ९९ ॥

षडक्षर इति । अन्यत्र—'बीजवर्जिता ॐकाररहिताः' इति । सार्द्धेति । अत्रार्द्धसप्ताक्षरत्वम् अर्द्धद्वादशवर्णत्वञ्च अन्ते व्यञ्जनसत्त्वाद् ज्ञेयम् ।

सार्द्धबीजत्रयस्तद्वदिति । बीजं वर्णः । तद्वद्धूमित इत्यर्थः । तदुक्तम्—

अर्द्धसप्ताक्षरो मन्त्रः सार्द्धद्वादशवर्णकः ।
धूमितः स समाख्यातः सार्द्धवर्णत्रयोऽथवा ॥ इति ।

त्रिंशद्वर्णस्य वृद्धत्वमालिङ्गितत्वञ्च तथैव ।

दृप्त इति । उद्देशावसरे अतिदृप्तस्योद्दिष्टत्वात् लक्षणावसरे दृप्तलक्षणं कथं क्रियते इति न मन्तव्यम् । सत्यप्युपसर्गेऽप्यर्थभेदात् । तदुक्तम्—

धात्वर्थं वाधते कश्चित् कश्चित्तमनुवर्त्तते ।
तमेव विशिनष्ट्यन्योऽनर्थकोऽन्यः प्रयुज्यते ॥ इति ।

मन्त्रमुक्तावल्यां तथोक्तम्—

चतुर्विंशाक्षरं वाथ मन्त्रमेकादशाक्षरम् ।
शतार्द्धार्द्धं त्रयोविंश मतिदृप्तन्तु तं विदुः ॥ इति ॥ ९५-९९ ॥

ध्रुव (ॐ कार) से युक्त नवाक्षर मन्त्र **निस्त्रिंश** (घातक) कहा जाता है । जिस मन्त्र के अन्त में हृदय (नमः) पद का प्रयोग न हो और मध्य में शिरः (स्वाहा) पद न हो, इसी प्रकार शिखा (वषट्) एवं वर्म (हुं), वौषट् (फटकार), शिव (हं), शक्तिवर्ण (स) से हीन हो तो उसे **निर्बीज** कहा जाता है॥ ९१-९३॥

जिस मन्त्र के आदि मध्य और अन्त तीनों स्थानों में मिलाकर छः बार फट्कार शब्द का प्रयोग हो वह सिद्धहीन मन्त्र कहा जाता है । दश अक्षर का मन्त्र **मन्द** कहा जाता है । कूट अथवा एकाक्षर मन्त्र 'निरंशक' कहा जाता है । दो अक्षर वाला मन्त्र **सत्त्वहीन** तथा चार अक्षर वाला मन्त्र '**केकर**' कहा जाता है ॥ ९३-९५ ॥

छः अक्षर वाला मन्त्र बीजहीन, साढे सात अक्षर का मन्त्र अथवा साढे बारह अक्षर का मन्त्र धूमित कहा जाता है, जो सर्वथा निन्दित है । इसी प्रकार साढ़े तीन बीजाक्षरों का तथा इक्कीस अक्षर का मन्त्र भी धूमित कहा जाता है । वीस अक्षर का अथवा तीस अक्षर का मन्त्र आलिंगित कहा जाता है ॥ ९५-९७॥

बत्तीस अक्षर वाला मन्त्र मोहित कहा जाता है चौबीस अक्षरों का अथवा सत्ताइस अक्षरों का मन्त्र क्षुधार्त्त कँहा जाता है, इसी प्रकार चौबीस अक्षरों का ग्यारह अक्षरों का पच्चीस अक्षरों का तथा तेईस अक्षरों का मन्त्र दृप्त कहा जाता है ॥ ९७-९९ ॥

षड्विंशत्यक्षरो मन्त्रः षट्त्रिंशद्वर्णकस्तथा ।
त्रिंशदेकोनवर्णो वाऽप्यङ्गहीनोऽभिधीयते॥ १०० ॥
अष्टाविंशत्यक्षरो वा एकत्रिंशदथापि वा ।
अतिक्रुद्धः स कथितो निन्दितः सर्वकर्मसु॥ १०१ ॥
त्रिंशदक्षरको मन्त्रस्त्रयस्त्रिंशदथापि वा ।
अतिक्रूरः स कथितो निन्दितः सर्वकर्मसु॥ १०२ ॥

षड्विंशतीति । त्रिंशतः एक ऊनो येषु पश्चाद् वहुब्रीहिः । अङ्गहीनो मन्त्रमुक्तावल्याम्—'अष्टत्रिंशदक्षरः' इति चतुर्थोऽप्युक्तः ॥ १००-१०२ ॥

छब्बीस अक्षरों वाला, छत्तीस अक्षरों वाला और उन्तीस अक्षरों वाला मन्त्र अङ्गहीन कहा जाता है । अट्ठाइस अक्षरों का तथा इकतीस अक्षरों का मन्त्र अतिक्रुद्ध कहा जाता है, वह सभी कार्यों में निन्दित होता है । तीस अक्षरों वाला एवं तैंतीस अक्षरों वाला मन्त्र अतिक्रूर कहा जाता है, वह भी सभी कार्यों में निन्दित होता है ॥ १००-१०२ ॥

चत्वारिंशतमारभ्य त्रिषष्टिर्यावदापतेत् ।
तावत्संख्या निगदिता मन्त्राः सव्रीडसंज्ञकाः ॥ १०३ ॥

चत्वारिंशतमिति । चत्वारिंशदक्षरमारभ्य एकैकाक्षरवृद्ध्या चतुर्विंशतिप्रकारः सव्रीडः । मन्त्रमुक्तावल्याम्—'चतुःषष्ट्यक्षरं यावत्' इति ॥ १०३ ॥

चालीस से आरम्भ कर एक एक अंक के वृद्धि से तिरसठ संख्या के भीतर जितने भी अंक हैं उतने एक एक की वृद्धि से युक्त अंक वाले मन्त्र, व्रीड संज्ञक कहे जाते हैं । अर्थात् ४०, ४१, ४२ इस क्रम से ६३ पर्यन्त अक्षरों वाले प्रत्येक मन्त्र वीड संज्ञक होते हैं । इस क्रम से चौबीस प्रकार के मन्त्र हुये ॥ १०२-१०३ ॥

पञ्चषष्ट्यक्षरा ये स्युर्मन्त्रास्ते शान्तमानसाः ।
एकोनशतपर्यन्तं पञ्चषष्ट्यक्षरादितः ॥ १०४ ॥
ये मन्त्रास्ते निगदिताः स्थानभ्रष्टाह्वया बुधैः ।
त्रयोदशाक्षरा ये स्युर्मन्त्राः पञ्चदशाक्षराः ॥ १०५ ॥

एकोनेति । पञ्चषष्ट्यक्षर आदिर्यस्येत्येतद्गुणसंविज्ञानो वहुब्रीहिः । इतः पञ्चषष्ट्यक्षरादिति वा छेदः । तस्य पूर्वं शान्तमानसतोक्ता । मन्त्रमुक्तावल्यामपि—

पञ्चषष्ट्युत्तरा ये च यावदेकोनकं शतम् । इति ।

तेन स्थानभ्रष्ट एकैकाक्षरवृद्ध्या चतुस्त्रिंशत् प्रकारः ॥ १०४-१०५ ॥

पैंसठ अक्षरों से युक्त मन्त्र शान्तमानस कहे गये हैं । छाछठ संख्या से लेकर ९९ पर्यन्त एक एक कर जितनी संख्या में आती है, उतने उतने अक्षरों वाले प्रत्येक मन्त्र स्थानभ्रष्ट कहे जाते हैं । इस क्रम में ३४ प्रकार के मन्त्र कहे गये । ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है ॥ १०३-१०४ ॥

विकलास्तेऽभिधीयन्ते शतं सार्द्धं शतं तु वा ।
शतद्वयं द्विनवतिरेकहीनाथवापि सा ॥ १०६ ॥
शतत्रयं वा यत्संख्या निःस्नेहास्ते समीरिताः ।
चतुःशतान्यथारभ्य यावद्वर्णसहस्रकम् ॥ १०७ ॥
अतिवृद्धः प्रयोगेषु परित्याज्यः सदा बुधैः ।
सहस्त्राणाधिका मन्त्रा दण्डका पीडिताह्वयाः ॥१०८॥

द्विसहस्त्राक्षरा मन्त्रा खण्डशः शतधा कृताः।
ज्ञातव्याः स्तोत्ररूपास्ते मन्त्रा एते यथा स्थिताः ॥ १०९ ॥

शतमिति । शतद्वयं द्विनवतिरित्येकः सार्द्धशतद्वयं द्विनवतिरेकहीना तेनैकाधिका नवतिः शतत्रयञ्च । एवं पञ्च पञ्च प्रकाराः । पिङ्गलामते तु—

एकद्वित्रिंशतैर्वर्णैर्युक्ता निःस्नेहवृत्तयः । इति

त्रिप्रकार एव । मन्त्रमुक्तावल्यां षष्ठोऽप्युक्तः 'त्रिशतं त्वेकवर्जितम्' इति । केचन शतद्वयमित्येकः प्रकारः । द्विनवति रित्यन्यः । सा एकहीना एकाधिक नवति रित्यपरः प्रकार इत्यूचुः । तन्न । षट्षष्टिप्रभृतीनां एकोनशत पर्यन्तं स्थानभ्रष्टाह्वयत्वस्योक्तत्वात् । त्रिंशद्वर्णवत् एकस्यैव दोषद्वयदुष्टत्वं भविष्यतीति चेत् तन्न । तत्र शतादारभ्याधिकस्यैव शतत्रय पर्यन्तमुक्तत्वात् । यत्संख्येति सर्वत्र सम्बध्यते । येषां मन्त्राणां संख्या शताधिकास्ते निःस्नेहा इति सम्बन्धः ।

योगेषु प्रयोगेषु ये दण्डकास्ते स्तोत्ररूपास्ते पीडिताह्वया ज्ञातव्या इति सम्बन्धः ॥ १०६-१०९ ॥

जो मन्त्र तेरह अक्षर के हैं अथवा जो मन्त्र पन्द्रह अक्षर वाले हैं वे सभी विकल कहे जाते हैं । सौ अक्षर वाले मन्त्र सार्द्धशत (एक सौ पचास) अक्षर वाले मन्त्रः दो सौ अक्षर वाले मन्त्र, द्विनवति (१८०) अक्षर वाले मन्त्र तथा उससे एक हीन ९१ अक्षर वाले मन्त्र अथवा तीन सौ अक्षर वाले मन्त्र निःस्नेह कहे जाते हैं । (१०५-१०६) चार सौ से लेकर एक हजार वर्ण वाले मन्त्र अतिवृद्ध कहे जाते हैं, बुद्धिमानों को सदा उनका त्याग कर देना चाहिए । एक हजार से अधिक अक्षर वाले मन्त्र दण्डक (स्तोत्र) कहे गये है, उनको पीडित भी कहते हैं । दो सहस्र अक्षरों वाले मन्त्रों को सौ सौ खण्डों में प्रविभक्त करने से वे स्तोत्र का रूप धारण करते हैं, जैसे मन्त्र सदोष होते हैं वैसे ही स्तोत्र भी ॥ १०७-१०९ ॥

मन्त्रज्ञ साधक को उन स्तोत्रों को भी मन्त्र के समान काम्य कर्मों में प्रयोग करना चाहिए ॥ १०९ ॥

दोषाज्ञाने सिद्धिहानिः

तथा विद्याश्च बोद्धव्या मन्त्रिभिः काम्यकर्मसु ।
दोषानिमानविज्ञाय यो मन्त्रं भजते जडः ।
सिद्धिर्न जायते तस्य कल्पकोटिशतैरपि ॥ ११० ॥

ननु मन्त्राणामेवैते दोषा उक्ता विद्यास्तु निर्दोषा इति आशङ्क्य आह मन्त्रा एते इति । यथा मन्त्रा एते स्थिताः सदोषाः तथा मन्त्रिभिर्विद्या अपि बोद्धव्याः । तदुक्तम्—यथा मन्त्रास्तथा विद्या भेदभिन्नाः परस्परम् ।

ज्ञातव्या देशिकेन्द्रेण नानातन्त्रेषु भाषिताः ॥ इति ।

काम्यकर्मस्वित्यनेन मुक्त्यर्थं मन्त्रजपे एतऽद्दोषाभावाद्दशसंस्कारा अपि न

कर्त्तव्याः । एतच्चोपलक्षणं । तेन वक्ष्यमाणलक्षणं शोधनादिकं मुक्त्यर्थं न कर्त्तव्यमिति ॥ ११० ॥

अब दोषों का उपसंहार करते हुये कहते हैं कि जो जड़ इन दोषों को बिना जाने हुये मन्त्र का प्रयोग करता है उसे करोड़ों कल्पों में भी सिद्धि नहीं प्राप्त होती । जब इन दोषों से दुष्ट मन्त्रों को अपने में अभिन्न मान कर योजना करनी हो तो प्राणायाम पूर्वक योनिमुद्रा बाँधकर शोधन कर लेना चाहिए ॥११०-१११॥

योनिमुद्रया दुष्टमन्त्रशोधनम्

इत्यादि दोषदुष्टांस्तान् मन्त्रानात्मनि योजयेत् ।
शोधयेदूर्ध्वपवनो बद्धया योनिमुद्रया ॥ १११ ॥

इत्यादीत्यादिशब्दात् मीलितविपक्षस्थदारितमूकनग्नभुजङ्गमशून्यहतादयोदोषा ज्ञेयाः । तल्लक्षणानि यथा—

'मीलिताः कर्मण्यतिजडा मन्त्रा मन्त्रिणा योजिता अपि' ॥ इति ।
'विपक्षस्था रिपोः पक्षमाश्रिताः' इति ।
'आदिमध्यावसानेषु ध्रुवो यस्य न विद्यते ।
स दारित इति ख्यातः तन्त्रेऽस्मिन् कृत्तिवाससा ॥' इति ।
'न्यासं विना भवेन्मूकः' । 'पल्लवेन विना मन्त्रो नग्नः संपरिकीर्त्तितः ।' इति ।
'ऋषिदैवतच्छन्दोभिः परित्यक्तो भुजङ्गमः ।' इति ।
'यस्य जापं श्रृणोत्यन्यः स मन्त्रः शून्य उच्यते ।' 'शिरोहीनो हतः प्रोक्तः' इति ।

शोधनप्रकारमाह मन्त्रानात्मनीति । कार्यं कारणादनन्यदेवेति या भावना सा आत्मनि योजना । क्वचिन्मन्त्रान् स्वात्मनि योजयेदिति पाठः ।

प्रकारान्तरेण शोधनमाह शोधयेदिति । वक्ष्यमाणलक्षणां योनिमुद्रां वद्धा मूलाधारोत्पन्नान् मन्त्रवर्णान् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं गतागतानि कुर्वतो ध्यात्वा वायुधारणं कृत्वा सहस्रं जपेदिति शोधनप्रकारमाहुः ।

तदुक्तम्—'योनिं बद्धा बीजं बिन्द्वादिपथेन चोन्मनीं प्राप्य तत्र सहस्रं मन्त्रं जपेत् स मन्त्रः प्रबुद्धः स्यात्' इति । योनिमुद्रालक्षणं यथा—

पार्ष्णिभागात् सुसंपीड्य योनिमार्गं तथा गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकर्षेन्मूलबन्धो निगद्यते ॥
गुदमेढ्रान्तरं योनिस्तामाकुञ्च्य प्रबन्धयेत् ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ इति ।

योनिस्थानमुद्रणात् योनिमुद्रात्वमस्याः । तदाहुः—

सेयं मयोक्ता खलु योनिमुद्रा बन्धश्च देवैरपि दुर्लभोऽस्याः ।
अनेन बन्धेन न साध्यते यन्नास्त्येव तत् साधकपुङ्गवस्य ॥
छिन्ना रुद्धाः कीलिताः स्तम्भिता ये सुप्ता मत्ता मूर्च्छिता हीनवीर्याः ।
दग्धास्त्रस्ताः शत्रुपक्षे स्थिता ये बाला वृद्धा गर्विता यौवनेन ॥

ये निर्बीजा ये च सत्त्वेन हीना खण्डीभूताश्चाङ्गमन्त्रैर्विहीनाः ।
एते मुद्राबन्धनेनैव योन्या मन्त्राः सर्वे वीर्यवन्तो भवन्ति ॥ इति ॥ १११ ॥

तदसमर्थस्य दशसंस्कारैः शोधनं

मन्त्राणां दश संस्काराः

मन्त्राणां दशसंस्काराः कथ्यन्ते सिद्धिदायिनः ।
जननं जीवनं पश्चात् ताडनं बोधनन्तथा ॥ ११२ ॥

तन्नामादि

अथाभिषेको विमलीकरणाप्यायने पुनः ।
तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्रसंस्क्रियाः ॥ ११३ ॥

एवं न ये योगिनो योनिमुद्रानभिज्ञाः पवनधारणाशक्ताश्च तान् प्रति दशसंस्कारैः शोधनमाह मन्त्राणामिति । पिङ्गलामतेऽपि—

इत्यादिदोषसंयुक्ता विज्ञेया मन्त्रिणाणवः ।
तस्मात् तद्दोषनाशाय क्रमः कोऽपि निगद्यते ॥
जननं जीवनं बोधस्ताडनं निर्मलीकृतिः ।
आप्यायनाभिषेकौ च क्रियाङ्गैः सप्तभिर्ध्रुवम् ॥
शोधिताः सकला मन्त्रा भवन्ति किल कामदाः । इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—अथास्मै प्रवदेन्मन्त्रं संस्कृतं सुमुहूर्त्तके ।
सप्तैते मन्त्रसंस्काराः दुर्लभा भुवि मानवैः ॥
जननं जीवनञ्चइत्यादिना ।

अत्र तर्पणदीपनगोपनलक्षणास्त्रयः संस्काराः सामान्यतः प्रसिद्धा इति तान् विहाय सप्तेत्युक्तिरिति ज्ञेयम् ॥ ११२-११३ ॥

मन्त्रों के दश संस्कार करने पर वे सिद्धि प्रदान करते हैं । वे दश संस्कार इस प्रकार हैं—१. जनन, २. जीवन, ३. ताडन, ४. बोधन, ५. अभिषेक, ६. विमलीकरण, ७. आप्यायन, ८. तर्पण, ९. दीपन और १०. गुप्ति—इन संस्कारों से मन्त्र शुद्ध हो जाते हैं ॥ ११०-११३ ॥

मन्त्राणां मातृकामध्यादुद्धारो जननं स्मृतम् ॥ ११४ ॥

मन्त्राणामिति । मातृकामध्यादित्यनेनैतदुक्तं भवति । शुभे पीठादौ कुङ्कुमरोचनादिना मातृकाब्जं विलिख्य देयमन्त्रस्यैकैकमक्षरं मातृकाब्जत उद्धरणीयमिति ।

तदुक्तम्—वर्णाब्जञ्च संलिख्य समुद्धरेन्मन्त्रजन्मैतत् । इति ॥ ११४ ॥

प्रणवान्तरितान् कृत्वा मन्त्रवर्णान् जपेत् सुधीः ।
एतज्जीवनमित्याहुर्मन्त्रतन्त्रविशारदाः ॥ ११५ ॥

प्रणवेति । तत्र प्रणवान्तरितत्वमेवम् ॐरां ॐरा ॐमा ॐय ॐन ॐमः । सुधीरित्यनेन शतावृत्त्येत्युक्तम् । तदुक्तम्—

प्रणवसहितांस्तु मन्त्रजवर्णान् प्रजपेच्छतावृत्त्या । एतज्जीवनमुक्तम् । इति । मन्त्रतन्त्रविशारदाः इत्यनेनान्येऽस्य बीजनमिति नाम आहुरित्युक्तं भवति । यत् पिङ्गलामते—प्रणवो बीजमित्युक्तं बीजान्ते तं नियोजयेत् ।

अक्षरान्तरितं कृत्वा मन्त्रोऽसौ बीजितो मतः ॥ इति ॥ ११५ ॥

मातृका वर्णों के मध्य से मन्त्र का उद्धार करना (निकालना) यह मन्त्र का जनन संस्कार कहा जाता है । उन मन्त्रों के प्रत्येक अक्षरों को दो प्रणव के मध्य में रख कर सौ सौ बार समाहित हो कर जप करे तो मन्त्र एवं तन्त्र के विद्वानों ने उसी को मन्त्रों का जीवनीकरण कहा है ॥ ११४-११५ ॥

मन्त्रवर्णान् समालिख्य ताडयेच्चन्दनाम्भसा ।
प्रत्येकं वायुना मन्त्री ताडनं तदुदाहृतम् ॥ ११६ ॥

मन्त्रेति । मन्त्रीत्यनेन भूर्ज्जे कुङ्कुमगोरोचनादिना मन्त्रवर्णान् विलिखेदित्युक्तम्। वायुना यमिति बीजेन । प्रत्येकं शतवारं ताडयेत् । तदुक्तम्—

भूर्ज्जे मन्त्राक्षराणि संलिख्य शतमप्येकैकं चन्दनाम्बुना ।
वायुबीजेन ताडयेत् एतत्ताडन मुक्तम् ॥ इति ॥ ११६ ॥

मन्त्र वर्णों को गोरोचन कुंकुम आदि से लिख कर चन्दन को घिस कर उसी के जल से 'यं' इस वायु मन्त्र को पढ़ते हुये प्रत्येक अक्षर को सौ सौ बार ताड़न करे तो उसे मन्त्रज्ञ लोगों ने ताड़न कहा है ॥ ११५-११६ ॥

विलिख्य मन्त्रं तं मन्त्री प्रसूनैः करवीरजैः।
तन्मन्त्राक्षरसंख्यातैर्हन्याद्यान्तेन बोधनम् ॥ ११७ ॥

विलिख्येति । मन्त्रीत्यनेन भूर्ज्जे कुङ्कुमरोचनादिना लेखनमित्युक्तम् । करवीरजैरिति रक्तकरवीरजपुष्पैः । यान्तेन रमिति बीजेन । तदुक्तम्—

एतस्मिन् विलिखित मन्त्रवर्णसंख्याकरक्तकरवीरैः ।
एतद्बोधनमुक्तं यद्धन्याद्वह्निबीजेन ॥ इति ॥ ११७ ॥

मन्त्रज्ञ साधक कुंकुम गोरोचनादि से मन्त्र को लिखकर रक्त वर्ण के करवीर के पुष्पों से 'रं' इस मन्त्र को पढ़ते हुये मन्त्र के अक्षरों के संख्या के अनुसार (जितनी मन्त्र के अक्षरों की संख्या हो उतनी बार) ताड़न करे तो उसे मन्त्र का बोधन संस्कार कहते हैं ॥ ११६-११७ ॥

स्वतन्त्रोक्तविधानेन मन्त्री मन्त्रार्णसंख्यया ।
अश्वत्थपल्लवैर्मन्त्रमभिषिञ्चेद् विशुद्धये ॥ ११८ ॥

स्वतन्त्रेति । स्वतन्त्रोक्तविधानेन । शैवमन्त्रे शिवतन्त्रानुसारात् शक्तिमन्त्रे

शक्तितन्त्रानुसारात् विष्णुमन्त्रे वैष्णवतन्त्रानुसारात् इति ज्ञेयम् । पूर्ववद् भूर्ज्जे मन्त्रवर्णान् विलिख्याऽभिषिञ्चेदिति । मन्त्रीत्यनेन अमुष्य मन्त्रस्यामुकमक्षरमभिषिञ्चामि नमः इति प्रयोग उक्तः । तदुक्तम्—

निजतन्त्रेरितमार्गादभिषिञ्चेत् पिप्पलप्रवालेन ।
भूर्ज्जे विलिखितमन्त्रं शतमष्टौ चाभिषेकोऽयम् ॥ इति ।

पिङ्गलामते विशेषः—

मालतीकलिकाभिस्तु न्यस्याणुं (र्ण) कर्णिकोपरि ।
अश्वत्थपल्लवैः शुद्धैस्तन्मन्त्राक्षरसमितैः ।
अभिषेकं प्रकुर्वीत स्वतन्त्रे विहितं यथा ॥ इति ।

मालतीकलिकाभिर्मन्त्राक्षराणि विलिख्याभिषेकं कुर्यात् ॥ ११८ ॥

मन्त्रज्ञ साधक अपने सम्प्रदायानुसार अश्वत्थपल्लवों से मन्त्र के अक्षरों की जितनी संख्या हो उतनी वार प्रत्येक अक्षर की शुद्धि के लिये अभिरूाञ्चन करे तो उसे मन्त्र का अभिषेक संस्कार कहते हैं ॥ ११७-११८ ॥

सञ्चिन्त्य मनसा मन्त्रं ज्योतिर्मन्त्रेण निर्दहेत् ।
मन्त्रे मलत्रयं मन्त्री विमलीकरणन्त्विदम् ॥ ११९ ॥

सञ्चिन्त्येति । ज्योतिर्मन्त्रेण वक्ष्यमाणेन । मन्त्रीत्यनेन मूलाधारात् कुण्डलिनीमुत्थाप्य तद्द्वारा (तद्वह्निना) दोषदाह इत्युक्तम् । मलत्रयं सहजमागन्तुकं मायीयमिति। पिङ्गलामतेऽप्युक्तम्—

सहजागन्तुमायाख्यं ज्योतिरूपेण निर्दहेत् ।
मन्त्रे मलत्रयं मन्त्री ततोऽसौ निर्मलो भवेत् ॥ इति ॥ ११९ ॥

मन्त्रवेत्ता साधक मन से (मूलाधार से कुण्डलिनी को ऊपर उठा कर) मन्त्र का स्मरण करते हुये आगे कहे जाने वाले ज्योति मन्त्र से जब मन्त्र के सहज आगन्तुक और मायी इन तीन प्रकार के दोषों को दूर कर देता है तब मन्त्र का विमलीकरण संस्कार होता है ॥ ११८-११९ ॥

तारं व्योमाग्निमनुयुग् दण्डी ज्योतिर्मनुर्मतः ।
कुशोदकेन जप्तेन प्रत्यर्णं प्रोक्षणं मनोः॥ १२० ॥
तेन मन्त्रेण विधिवदेतदाप्यायनं मतम् ।
मन्त्रेण वारिणा मन्त्रे तर्पणं तर्पणं स्मृतम् ॥ १२१ ॥

ज्योतिर्मन्त्रमाह तारमिति । तारः प्रणवः । व्योम हकारः । अग्नी रेफः । मनुः औ। एतद्युग् दण्डी अनुस्वारयुक्त इति मन्त्रविशेषणम् । 'दण्डि' इति पाठे व्योमविशेषणम् । तदुक्तं निघण्टुमातृकायाम्—

अमक्रूरेशको दण्डी बिन्दुकः कामगुह्यकः ।
कञ्चुः प्राचीनयोनिश्च सौख्यदुःखप्रबन्धकः ॥ इति ।

एवमग्रेऽपि दण्डशब्दवाच्यत्वं बिन्दोर्ज्ञेयम् । कुशेति । जप्तेनाष्टोत्तरशतमिति । लेखनं पूर्ववदेव । तेनेत्युभयत्र सम्बध्यते । तदुक्तं पिङ्गलामते—

अष्टोत्तरशतालब्धं विशुद्धं कुशवारिणा ।
आप्यायितो भवेन्मन्त्रः प्रत्यर्णं प्रोक्षितो यदि ॥ इति ।

विधिवदिति प्रत्यर्णं सप्तधा । केचन तेन मन्त्रेणेति ज्योतिर्मन्त्रेण इति व्याचक्षते । तदसत् । ग्रन्थान्तरविरोधात् । तदुक्तम्—

आप्यायनं स्वजप्तैः प्रत्यर्णं कुशपयोभिः स्यात् । इति ।

तेन मूलमन्त्रेणेत्यर्थः । तत्र प्रकारः । देयमन्त्रमुच्चार्य अमुं मन्त्रं तर्पयामि नमः इति जलेन तर्पणं कुर्यादिति । इदमेव मन्त्रतर्पणमित्यर्थः । तदुक्तम्—

तर्पयामि पदं योज्यं मन्त्रान्ते त्विष्ट (ष्वेषु) नामसु । द्वितीयान्तेषु तु पुनः । इति।
अन्यत्रापि सर्वत्र तर्पणेऽयमेव प्रकारो द्रष्टव्यः ।
इदमप्यष्टोत्तरं शतम् ॥ १२०-१२१ ॥

तार (ॐ) के साथ व्योम (हकार) अग्नि (रकार) इन दोनों को मनु (औंकार) से युक्त कर उस पर दण्डी (बिन्दु) लगा देवे तो वह ज्योति मन्त्र हो जाता है । इस प्रकार निष्पन्न 'हौं' इस ज्योति मन्त्र का जप करते हुये कुशा के जल से मन्त्र के एक एक अक्षरों पर १०८ बार विधिपूर्वक छिड़के तो उसे मन्त्र का **आप्यायन संस्कार** कहा जाता है और 'अभुम् मन्त्रं तर्पयामि नमः' इस प्रकार मन्त्र में योजना कर जल से तर्पण करने का नाम तर्पण संस्कार कहा गया है ॥ ११९-१२१ ॥

तारमायारमायोगे मनोर्दीपनमुच्यते ।
जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपनन्त्वप्रकाशनम् ॥ १२२ ॥
संस्कारा दश संप्रोक्ताः सर्वत्(म)न्त्रेषु गोपिताः।
यान् कृत्वा सम्प्रदायेन मन्त्री वाञ्छितमश्नुते ॥ १२३ ॥

तारेति । तारः प्रणवः ॐ । माया शक्तिः । रमा श्रीँ ।

मन्त्रस्यान्ते भवेन्नामयोगः प्रोच्चाटने मतः ।

इति योगलक्षणस्योक्तत्वादत्र मन्त्र एव नामस्थानीयः । तेन 'इमानि बीजान्यादौ कृत्वा मन्त्रं जपेत् सप्तवारम्' इत्याचार्याः । सम्प्रदायेनेति । सम्प्रदायः प्रति संस्कारं मयोक्तोऽनुसन्धेयः ॥ १२२-१२३ ॥

तार (प्रणव) माया (शक्ति ह्रीँ) रमा (श्रीँ) इन बीज मन्त्रों से मूल मन्त्र को युक्त करे तो मन्त्र का दीपन संस्कार हो जाता है । जिस मन्त्र का जप करना हो उसे प्रकाशित नहीं करने का नाम मन्त्र गुप्ति है । सभी मन्त्रों में गुप्त रहने वाले दश संस्कारों का हमने यहाँ तक वर्णन किया । जिसके अनुष्ठान से मन्त्रज्ञ साधक सम्प्रदायानुसार अपनी अभीष्ट सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ १२१-१२३ ॥

नक्षत्रचक्रादिनिर्णयः

स्वताराराशिकोष्ठानामनुकूलं भजेन्मनुम् ।
प्रापलोभात्पटुः प्राज्यं रुद्रस्याद्रि रुरुः करम् ॥ १२४ ॥
लोकलोपपटुः ग्राम खलौ द्यो भेषु भेदिताः ।
वर्णाः क्रमात् स्वरान्त्यौ तु रेवत्यंशगतौ स(त)दा ॥१२५॥

अथ निर्गुणोपासनाङ्गभूतसगुणोपासनायां प्रवृत्तस्य अवान्तरविचारं दर्शयति स्वतारेति । स्वं नाम तस्य तारा नक्षत्रम् । एवमग्रेऽपि—

दुष्टर्क्षराशिभूतारिवर्णप्रचुरमन्त्रकम् ।
सम्यक् परीक्ष्य तं यत्नाद्वर्जयेन्मतिमान्नरः ॥

इत्युक्तेः तत्र तारामैत्रीज्ञानाय अक्षरेषु नक्षत्राणि कथयति प्रापेति । अत्र ग्रन्थकारस्य वाररुचः सङ्केतोऽभिप्रेतः । स यथा—

कटपयवर्गभवैरिह पिण्डान्त्यैरक्षरैरङ्काः ।
नञि च शून्यं ज्ञेयं तथा स्वरे केवले कथिते ॥ इति ।

अत्र कटौ नववर्णौ पाद्यः पञ्चार्णः योऽष्टार्णो हान्तः । पिण्डं संयुक्ताक्षरम् । तत्रान्त्येनाङ्कः । प्रा २ प १ लो ३ भा ४ त्प १ टु १ प्रा २ ज्यं १ रु २ द्र २ स्या १ द्रि २ रु २ रुः २ क १ रं २ लो ३ क १ लो ३ प १ प १ टु १ प्रा २ प १ ख २ लौ ३ द्यो १ । एवमुक्तद्व्याद्यक्षरेषु अश्विन्यादयो ज्ञेयाः । भेषु नक्षत्रेषु क्रमाद् वर्णा भेदिताः विभागेन दर्शिता इत्यर्थः । तदेत्युत्तरत्र सम्बध्यते । अत्र घकारद्यकारयोर्नागरलिपौ समानत्वात् भ्रान्तिकृतो घकारपाठः । तेन द्य इति एकाङ्कः संगृहीतः । स्वरान्त्यौ अं अः रेवत्यंशगतौ । अतो रेवत्यां अं अः ल इत्यक्षरत्रयम् । रेवत्यंशगताविति पदेनैवोक्तेरङ्केषु न संगृहीतम् । यथा वक्ष्यमाणे राश्यक्षरकथने वालं गौरं खुरमिति । रेफेण कन्यायामक्षरद्वयमेवोक्तम् । अन्येषां कन्यायां शादय इति पदेनैवोक्तेः । तद्वदत्रापीत्यवधेयम । उत्तरभाद्रपदनक्षत्रे लकारेणाङ्कत्रयं गृहीतम् । तेन षसहाक्षराणि । तत्र षकारस्य क्षकारांशत्वात् क्षकारोऽपि तेनैव गृहीतः । तेनात्राक्षरचतुष्कम् । तदुक्तमाचार्यैः—

ततः क्षकारः सञ्जातो नृसिंहस्तस्य देवता ।
स पुनः षसहैः सार्द्धं परप्रोष्ठपदं गतः ॥ इति ।

ईशानशिवेऽपि—प्रियलवकटरम्या श्री प्रिया रात्रिरन्या
खगकुलकटकस्त्री पात्रवालेतिसंख्यान् । इति ।

नारायणीये तु—राज्येत्यादि षड्विंशतिभेषु वर्णानुक्त्वा अमसावन्त्यभे उक्तौ । तत्र केचित्तु ल्वाविति पठित्वा व्याख्यान्ति लकारेणाङ्कत्रयं वकारेणाङ्कचतुष्टयमिति । तदसत् । सङ्केतविरोधात् । सङ्केते हि पिण्डान्त्यैरक्षरैरङ्का इत्युक्तम् । एतदभिप्रायेणैव द्विवचनकल्पनम् । तदपि भ्रमेणैव । यतः सङ्केताक्षरेषु साधुत्वार्थं प्रथमैकवचनमेव युक्तम् । नतु संयोगं कृत्वा द्विवचनम् । तथा कुत्राप्यदर्शनात् । अतएवायं पाठोऽपेक्षितार्थद्योतनिकादिभिष्टीकाभिरूपेक्षितः । अपरे बवाविति पठित्वा वदन्ति—

पवर्गीयबकारेणाङ्कत्रयम् उत्तरेणान्तस्थीयवकारेणाङ्कचतुष्टयमिति । तदपि प्रपञ्चसारे-शानादिग्रन्थविरुद्धम् । ततोऽयमेव पाठो नारायणीयेऽपि । परन्तु व्याख्यातुस्तत्र भ्रमः। प्रथमोऽन्तस्थो वकारस्तेन चतुःसंख्या द्वितीयः पवर्गी तेन त्रिसंख्येति सर्वं समञ्जसम्। देवदेवेशीकारेण तु प्रपञ्चसारादिविरोधपरिहारार्थं फुल्ला इति पठित्वा तत्र प्रथम-लकारेणाङ्कत्रयम् उत्तरलकारेणाङ्कत्रयं गृहीतमिति व्याख्यातम् । तदपि सङ्केतविरुद्धम्। सङ्केते पिण्डेनाङ्कद्वयस्यागृहीतत्वात् । एतेन अ आ अश्विनी । इ भरणी । ई उ ऊ कृत्तिका । इत्यादि ज्ञेयम् ॥ १२४-१२५ ॥

अपने नक्षत्र, राशि तथा कोष्ठ के अनुकूल जो मन्त्र हो उसी मन्त्र का जप करना चाहिए । ऐसा करने से साधक को शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है । प्रा, २ १ लो ३ भा ४ तप १ ढ १ प्रा २ ज्यं १ रू २ द्र २ स्या १ द्रि २ रु २ रूः २ क १ रं २ लो ३ क १ लो ३ प १ प१ टु १ प्रा २ प १ ख २ लौ ३ द्यो १ इस प्रकार कहे गये २ आदि अक्षरों में २७ नक्षत्रों को समझना चाहिए । इन नक्षत्रों में वर्णों का विभाग प्रदर्शित कर दिया गया है । स्वर के अन्त में रहने वाले वर्ण का विसर्ग और बिन्दु (= अनुस्वार) का रेवती में अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए ॥ १२३-१२५ ॥

जन्मसम्पद्विपत् क्षेमः प्रत्यरिः साधको वधः ।
मित्रं परममित्रञ्च जन्मादीनि पुनः पुनः ॥ १२६ ॥

स्वनामाद्यक्षरादित इति वक्ष्यमाणमत्रापि योजनीयम् । तेनायमन्वयः तदा वर्णभेदे स्वनामाद्यक्षरादितः जन्मादीनि पुनः पुनः प्रादक्षिण्येन मन्त्राद्यक्षरावधि गणयेदिति शेषः । तेन यस्मिन्नक्षत्रे साधकनामाद्यक्षरं तदारभ्य मन्त्राद्यक्षरनक्षत्रं यावत् प्रादक्षिण्येन गणनं कृत्वा फलं विचारयेत् इत्यर्थः । तदुक्तम्—

प्रादक्षिण्येन गणयेत् साधकाख्याक्षरात् सुधीः । इति ।

अन्यत्रापि— एकादिनवपर्यन्तं स्वाख्याद्यर्णप्रपूर्वकम् ।
यावन्मन्त्राक्षरं धिष्ण्यं फलं तावद् विचारयेत् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— एवं विभक्तवर्णेषु नक्षत्राणि प्रकल्पय च ॥
आरभ्य जन्मनक्षत्रं मन्त्रतारावसानकम् ।

इदं तु राशिनामप्रसिद्धनाम्नोरैक्ये ज्ञेयम् ।

विभज्य नवशो राम विशिखाचलमन्त्रकाः ।
वर्ज्याः शिष्टाः समिष्टार्थसिद्धिदाः स्युर्जपादिभिः । इति ।

आद्यतृतीय पञ्चमसप्तमान् वर्जयित्वा शेषं शुभम् ।

तदुक्तम्—'त्यक्त्वा त्रिपञ्चादिमसप्ततारा:' इति ।

अन्यत्रापि—रसाष्टनव भद्राणि युगयुग्मगतान्यपि ।
इतराणि न भद्राणि ज्ञातव्यं तन्त्रकोविदैः ॥ इति ।

केचनाद्यमपि शुभमिच्छन्ति । तदुक्तम्—

विपद् बधः प्रत्यरिश्च परित्याज्या मणीषिभिः । इति ।

इदन्त्वाद्यजन्मविषयम् । अत्र तारामैत्रीविचारे योनिमैत्री गणमैत्री चावश्यं विचारणीया। यतस्तयोरपि नक्षत्रात्मकत्वात् । स्वकुलान्यकुलविचारोऽपि ।

पिङ्गलामते—तथैकगणनक्षत्रं स्वकुलं ह्यकुलं परम् । इत्युक्तेः ।

तथा मन्त्रमुक्तावल्यामपि स्वकुलान्यकुलविभागकथने तथैकगणनक्षत्रमपि स्वकुलमित्युक्तम् ।

तत्र योनिमैत्री यथा—अश्वेमाज फणिद्वयं श्ववृषभुङ्मेषौतवो मूषिक—
श्चाखुर्गौः क्रमशः स्ततोऽपि महिषी व्याघ्रः पुनः सैरिभः ।
व्याघ्रैणौ मृगमण्डलौ कपिरथो वभ्रुद्वयं वानरः
सिंहाश्वौ मृगराट् पशुश्च करटी योनिस्तु भानामियम् ॥ इति ।

अत्राभिजिदपि गृहीत इति कृत्वा अष्टाविंशतिः । अश्व १ हस्ती २ मेषः ३ सर्पः ४।५ श्वा ६ मार्जारः ७ मेषः ८ मर्जार ९ मूषिकः १०।११ गौः १२ महिषी १३ व्याघ्रः १४ महिषी १५ व्याघ्रः १६ मृगः १७।१८ श्वा १९ वानरः २० नकुलः २१।२२ वानरः २३ सिंहः २४ अश्वः २५ सिंहः २६ गौः २७ हस्ती २८ ।

विरोधस्तु— गोव्याघ्रं गजसिंहमश्वमहिषं श्वैणञ्च वभ्रूरगं
वैरं वानरमेषकं च सुमहत् तद्वद्विडालोन्दुरम् । इति ।
जन्मनक्षत्रयोन्या वै मारणानि यथातथम् ।
कृतानि न चिरेणैव सिद्धिदानि महेश्वरि ॥ इति ।

कार्यान्तरोपयोगिताऽप्यस्योक्ताऽन्यत्र । गणमैत्री यथा । तत्र मनुष्यादिगण-नक्षत्राणि एकविंशे वक्ष्यति । फलन्तु यथा—बध्यघातकता मता ।

मनुष्यराक्षसानान्तु विरोधो देवरक्षसाम् ।
प्रीतिर्देवमनुष्याणां स्वेन स्वेनापि साम्यता ॥ इति ॥ १२६ ॥

अपने जन्म नक्षत्र से दाहिने मन्त्र नक्षत्र तक गणना करे तो उसका १. जन्म, २. सम्पद्, ३. विपद्, ४. क्षेम, ५. प्रत्यरि, ६. साधक, ७. वध, ८. मित्र, ९. परममित्र—ये ९ फल होते हैं । इसी प्रकार आगे भी जन्मादि फल समझना चाहिए ॥ १२५-१२६ ॥

वालं गौरं खुरं शोणं शमी शोभेति राशिषु ।
क्रमेण भेदिता वर्णाः कन्यायां शादयः स्मृताः ॥ १२७ ॥

अथाक्षरेषु राशिविभागमाह वालमिति । वा ४ लं ३ गौ ३ रं २ खु २ रं २ शो ५ णं ५ श ५ मी ५ शो ५ भा ४ इति राशिषु वर्णा भेदिताः विभागेनोक्ताः । कन्यायां स्वरान्त्यौ वर्त्तेते शादयश्च स्थिताः । अत्रादिशब्देन शषसहला गृह्यन्ते । क्षकारस्य मीने प्रवेशः ।

यदाहुराचार्याः—अमः शवर्गलेभ्यश्च सञ्जाता कन्यका मता । इति ।

तथा—चतुर्भिर्यादिभिः सार्द्धं स्यात् क्षकारस्तु मीनगः । इति । अनेन अ आ इ ई मेषः इत्यादि ज्ञेयम् ॥ १२७ ॥

अब अक्षरों में राशि विभाग कहते हैं । वा ४ लं ३ गौ ३ रं २ खु २ रं २ शो ५ णं ५ श ५ मी ५ शो ५ भा ४ इस प्रकार हमने राशियों में क्रमशः वर्ण का विभाग कहा । स्वर के अन्त में रहने वाले विसर्ग और बिन्दु तथा श ष स हल का कन्या राशि में प्रवेश समझना चाहिए। क्षकार की गणना मीन राशि में है ॥ १२६-१२७ ॥

राशिचक्रम्

लग्नं धनं भ्रातृबन्धुपुत्रशत्रुकलत्रकाः ।
मरणं धर्मकर्मायव्यया द्वादशराशयः ॥ १२८ ॥

द्वादशराशय इति फलफलिनोरैक्योपचारात् । अत्र प्रकारः । साधकनामाद्यक्षरं यत्र राशौ तं राशिमारभ्य मन्त्राद्यक्षरं यत्र राशौ तत्पर्यन्तं गणनीयम्। षष्ठाष्टमद्वादशस्थानानि निन्द्यानि । तदुक्तम्—

साध्याख्याक्षरराश्यन्तं गणयेत् साधकाक्षरात् ।
नैधनारिव्ययाधीना ये वर्णास्ते न शोभनाः ॥ इति ।

यत्तु— एकपञ्चनव बान्धवाः स्मृता युग्मषष्ठदशमास्तु सेवकाः ।
पोषकास्त्रिमुनिरुद्रसमिता द्वादशाष्टचतुरस्तु घातकाः ॥

इति वचनं तद्राशिफलप्रकरणपठितं चेत् तदा स्वजन्मराशिमारभ्य मन्त्रराशिपर्यन्तं गणनीयमिति भिन्न एव प्रकारः । तदुक्तम्—

राश्यर्णादिकमन्त्राणां सराशिर्जन्मराशितः ।
विचार्य मनुराश्यन्तं रिपुहीनं मनुं जपेत् ॥ इति ।

यदि राशिप्रकरणपठितं न भवति तदा वक्ष्यमाणअकडमचक्रफलत्वेन व्याख्येयमिति रहस्यम् ॥ १२८ ॥

राशिचक्र—जन्म राशि से द्वादश राशि पर्यन्त लग्न धन, भ्रातृ, बन्धु, पुत्र, शत्रु, कलत्र, मरण, धर्म, कर्म, आय और व्यय का विचार करना चाहिए । (अपनी राशि से मन्त्र राशि पर्यन्त दाहिनी ओर से गणना करे । यदि अपनी राशि से मन्त्र की राशि छठें आठवें अथवा बारहवें पड़े तो वह निन्द्य है । जहाँ तक हो सके शत्रुता रहित मन्त्रों का जप करे ॥ १२७-१२८ ॥

राशिचक्रम् । अकथहचक्रम्

चतुरस्रे लिखेद्वर्णांश्चतुःकोष्ठसमन्विते ।
अकारादिक्षकारान्तान् स्वनामाद्यक्षरादितः ॥ १२९ ॥

सिद्धादीन् कल्पयेन्मन्त्री कुर्यात् सिद्धादिभिः पुनः।
सिद्धादीन् सिद्धिदः सिद्धो जपात् साध्यो हुतादिभिः।
सुसिद्धः प्राप्तिमात्रेण साधकं भक्षयेदरिः ॥१३०॥
सिद्धार्णा बान्धवाः प्रोक्ताः साध्यास्ते सेवकाः स्मृताः।
सुसिद्धाः पोषका ज्ञेयाः शत्रवो घातका मताः॥१३१॥

सिद्धादिमन्त्रशोधन प्रकारमाह चतुरस्र इति । मन्त्री मन्त्रशास्त्रसम्प्रदायाभिज्ञः । कुर्यात् सिद्धादिभिः पुनः सिद्धादीन् इति वक्ष्यमाणत्वात् षोडशकोष्ठोद्धारः सूचितः । तत्र प्रागपरोत्तरदक्षिणायताः पञ्च रेखाः कुर्यात् । तदा षोडशकोष्ठानि सम्पद्यन्ते । तत्र वर्णान् लिखेत् । एकैकान्तरितमिति शेषः । लेखनप्रकारश्च प्रथमचतुष्कप्रथमे प्रथमम्। प्रादक्षिण्येन द्वितीयप्रथमे द्वितीयम् । प्रादक्षिण्येन तृतीयप्रथमे तृतीयम् । चतुर्थप्रथमे चतुर्थम् । एवं प्रादक्षिण्येन प्रथमद्वितीये पञ्चमम् । द्वितीयद्वितीये षष्ठम् । तृतीयद्वितीये सप्तमम् । चतुर्थद्वितीयेऽष्टमम् । एवं प्राक्षिण्येन प्रथमतृतीये नवमम् । द्वितीयतृतीये दशमम् । तृतीयतृतीये एकादशम् । चतुर्थतृतीये द्वादशम् । एवं प्रथमचतुर्थे त्रयोदशम्। द्वितीय चतुर्थे चतुर्दशम् । तृतीयचतुर्थे पञ्चदशम् । चतुर्थचतुर्थे षोडशं न्यसेत् । एवं स्वरलिखनं कृत्वा तेनैव क्रमेण काद्यक्षराण्यपि लिखेत् । तुदक्तं कादिमते—

प्रथमप्रथमे त्वाद्यं द्वितीयप्रथमे तथा ।
द्वितीयमन्यतश्चान्यत् तथान्यदपि कल्पयेत् ।
तत्तत्कोष्ठेषु विलिखेत् तत्तत्पञ्चममक्षरम् ॥ इति ।

तन्त्रान्तरे च— कोष्ठचतुष्कचतुष्टयईशाद्यैशेषु लिखतु चतुरोऽन्तः ।
आग्नेयेषु तथैव नैर्ऋत्येष्वेवमानिलेषु पुनः ॥
कादीन् वर्णान् कोष्ठेषु च तेष्वेवमेव लिखतु सुधीः ।
आवृत्त्या तु चतुर्थ्यां नैर्ऋत्यैशे समापयेन्मतिमान् ॥
यस्य च नामाद्यर्णं यत्र चतुष्के तदादि तस्यैव ।
तस्माश्चतुश्चतुष्कं विज्ञेयं क्रमश एव सिद्धादि ॥
सिद्धादिषु च चतुर्ष्वप्येवं सिद्धादि तेषु विज्ञेयम् ॥ इति ।

अस्य प्रयोजनमाह स्वनामेति । स्वनामाद्यक्षरकोष्ठमारभ्य मन्त्राद्यक्षरकोष्ठं यावदिति शेषः । सिद्धादीनित्यादि । शब्दार्थफलकथनावसरे स्वयमेव प्रकटयिष्यति। कल्पयेदिति । एवं यत्र चतुष्के स्वनामाद्यक्षरं तत्सिद्धचतुष्कम् । ततः प्रादक्षिण्येन साध्यादिचतुष्कत्रयमिति । मन्त्री कुर्यात् सिद्धादिभिः पुनः सिद्धादीन् इति । यत्र चतुष्ककोष्ठे स्वनामाद्यक्षरं तत् सिद्धसिद्धकोष्ठम् । ततस्तस्मिन्नेव चतुष्के प्रादक्षिण्येन कोष्ठत्रये सिद्धसाध्य—सिद्धसुसिद्ध—सिद्धारीनिति कल्पयेत् । अस्मिन्नेव चतुष्के यदि मन्त्राद्यक्षरमपि स्यात् तदा अनयैव गणनया सिद्धम् । यद्यस्मिन् चतुष्के स्वनामाद्यक्षरं प्रादक्षिण्येन द्वितीयचतुष्के मन्त्राद्यक्षरं तदा पूर्वचतुष्के यस्मिन् कोष्ठे नामाद्यक्षरम् अत्र द्वितीयचतुष्केपि तदेव कोष्ठमारभ्य प्रादक्षिण्येन साध्यसिद्ध—साध्यसाध्य—साध्यसुसिद्ध—साध्यारीन् इति कल्पयेत् । यदि पुनः स्वनामाद्यक्षर-चतुष्कात् प्रादक्षिण्येन तृतीयचतुष्के मन्त्राद्यक्षरं तदा पूर्ववत् तत् कोष्ठादेव

प्रादक्षिण्येन सुसिद्धसिद्धसुसिद्धसाध्यसुसिद्धसुसिद्धसुसिद्धारीन् इति कल्पयेत् । यदि पुनः स्वनामाद्यक्षरचतुष्कात् प्रादक्षिण्येन चतुर्थचतुष्के मन्त्राद्यक्षरं तदा पूर्ववत् तत् कोष्ठादेव प्रादक्षिण्येन अरिसिद्धअरिसाध्य—अरिसुसिद्ध—अर्यरीन् इति कल्पयेत् । नन्वत्र द्वितीयादि चतुष्के तमेव कोष्ठमारभ्य गणनमित्यत्र किं नियामकमिति चेत् उच्यते। प्रकृतिक्रम एव नियामकः । स च पञ्चमाध्याये प्रथमचरणे ।

प्राप्तानां हि पदार्थानां विकृतौ क्रमचिन्तनम् ।
ते च सक्रमका एव प्राप्यन्ते नोदकादिह ।
नैराकांक्षयात् क्रमस्तेषां न भूयोऽन्यः प्रकल्पते ।

इत्यादिनोक्तम् ।

तत्र किं नाम ग्राह्यमित्यपेक्षायां पिङ्गलामते—

प्रसिद्धं यद्भवेन्नाम किंवास्य जन्मनाम च ।
यतीनां पुष्पपातेन गुरुणा यत् कृतं भवेत् ।
नाम्नस्तस्यैव वर्णानि विभक्तानि च कारयेत् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— लोके प्रसिद्धनामाथ मात्रा पित्रा तथा कृतम् । इति ।

अन्यत्रापि— सुप्तो जागर्त्ति येनासौ दूरस्थश्च प्रभाषते ।
वदत्यन्यमनस्कोऽपि तन्नाम ग्राह्यमत्र तु ॥ इति ।

अन्यत्रापि— मात्रा पित्रा कृतं नाम शोधनीयं प्रयत्नतः । इति ।

अन्ये त्वत्र जन्मनामैव ग्राह्यमित्यूचुः । तदुक्तम्—

जन्मर्क्षाक्षरतो वीक्ष्यं तत्र मन्त्रादिमाक्षरम् ।
चतुर्भिः कोष्ठकैस्त्वेक इति कोष्ठचतुष्टयम् ॥
पुनः कोष्ठककोष्ठेषु सव्यतो जन्मभाक्षरात् ।
सिद्धसाध्यसुसिद्धारि क्रमाज्ज्ञेयं विचक्षणैः ॥ इति ।

जन्मनि जन्मकाले यदृक्षमश्विन्यादि तेषामक्षराणि 'चुचेचोला अश्विनी प्रोक्ता' इत्यादीनि तस्मात् तदारभ्य तेन जन्मनामाद्यक्षरमारभ्येत्यर्थः । एवं जन्मभाक्षरादित्यत्रापि ज्ञेयम् । अयञ्च जन्मनामप्रसिद्धनाम्नोः विकल्पो ज्ञेयः । किंवास्येत्युक्तेः । सिद्धिद इति जपात् सिद्धः । हुतादिभिः साध्यः सिद्धिदः । प्राप्तिमात्रेण सुसिद्धः सिद्धिद इति सम्बन्धः । आदिशब्देन तर्पणादि । सिद्धसिद्धादिफलम् पिङ्गलामतोक्तं यथा—

यथोक्तात् सिद्धसिद्धस्तु तत्साध्यो द्विगुणाज्जपात् ।
जपार्द्धात् तत्सुसिद्धस्तु तदरिर्बान्धवापहः ॥
द्विघ्नाज्जपात् साध्यसिद्धस्तत्साध्यस्तु निरर्थकः ।
तत्सुसिद्धः सार्द्धजपात् तदरिर्गोत्रजापहः ॥
सुसिद्धसिद्धोऽर्द्धजपात् तत्साध्यो द्विगुणाज्जपात् ।
तत्सुसिद्धो ग्रहादेव तदरिर्ज्ञातिजातिहा ॥
अरिसिद्धः सुतं हन्यादरिसाध्यस्तु कन्यकाम् ।
तत्सुसिद्धस्तु पत्नीघ्नस्तदरिः साधकापहः ॥ इति ।

पिङ्गलामते प्रत्यक्षरं सिद्धादिगणनोक्ता ।

मातापितृकृतं नाम यच्चाप्यभिजनैः कृतम् ।
विश्लिष्य तस्य वै वर्णान् स्वरवर्णविभेदतः ॥
तथैव मन्त्रबीजानि ततः शोधनमारभेत् ।
बिन्दुद्विबिन्दुकोपध्मानीय जिह्वाङ्घिसम्भवान् ॥
संहतोच्चारणप्राप्तमधिकाक्षरमेव च ।
अपभ्रंशाक्षरं लक्षौ त्यक्त्वा षण्ढचतुष्टयम् ॥
मन्त्राक्षरैः सहैकैकं नामवर्णान् विशोधयेत् ।
व्यञ्जनैर्व्यञ्जनान्येव स्वरैः सार्द्धं स्वरांस्तथा ॥
आद्यमाद्येन संशोध्य द्वितीयेन द्वितीयकम् ।
मन्त्रे वाऽप्यथवा नाम्नि वर्णाः स्युर्विषमा यदा ॥
तदा मन्त्रं समारभ्य समं यावत् प्रयोजयेत् ।
आद्यन्तयोः सिद्धवर्णौ मन्त्रे यस्मिन् वरानने ॥
अचिरेणैव कालेन स भवेत् सर्वसिद्धिदः ।
साध्यान्तादियुतो यस्तु सोऽतिकृच्छ्रेण सिध्यति ॥
आदावन्ते सुसिद्धस्तु सर्वकामविभूतिदः ।
आदावन्ते रिपुर्यस्य भवेत् त्याज्यः स मन्त्रकः ॥
आदौ सिद्धोऽन्त्यसाध्यो यो द्विगुणेन स सिद्ध्यति ।
आदौ सिद्धः सुसिद्धान्त्यो यथोक्तात् सिद्ध्यते जपात् ॥
आदौ सिद्धोऽन्त्यशत्रुर्यः स त्याज्यो मन्त्रवित्तमैः ।
साध्यादिश्चैव सिद्धान्त्यः त्रिगुणात् सिद्ध्यते जपात् ॥
आदौ साध्यः सुसिद्धान्त्यः प्रोक्तमार्गेण सिद्ध्यति ।
आदौ साध्योऽन्त्यशत्रुर्यस्तं यत्नात् परिवर्जयेत् ॥
सुसिद्धादिस्तु सिद्धान्त्यो यथोक्तादेव सिद्ध्यति ।
सुसिद्धादिस्तु साध्यान्त्यश्चतुर्गणमपेक्षते ॥
सुसिद्धादिश्चान्तशत्रुर्मध्यमः परिकीर्त्तितः ।
आद्यारिस्त्वन्तसिद्धादिः सोऽपि त्याज्योऽत्रकर्मणि ॥
आदौ मध्ये तथा चान्ते सिद्धः शुभफलप्रदः ।
सर्वसाध्य उदासीनः प्रोक्तस्तन्त्रे स्वयम्भुवा ॥
स्थानत्रितयसुसिद्धः सर्वानर्थांश्च साधयत्येव ।
स्थानत्रितयगतारिर्मन्त्रो मृत्युर्न सन्देहः ॥
सिद्धादिः साध्ययुग्मान्तो व्यर्थ इत्युच्यते बुधैः ।
सिद्धादिर्द्विसुसिद्धान्तः सर्वकार्यार्थसाधकः ॥
सिद्धादिररियुग्मान्तो नाशकः सम्प्रकीर्त्तितः ।
शत्रुर्भवति यदादौ मध्ये सिद्धस्तदन्तके साध्यः ॥
कष्टेन कार्यसिद्धिस्तस्य फलं स्वल्पमेव भवेत् ।
अन्ते यदि भवति रिपुः प्रथमे मध्ये च भवति साध्ययुगम् ॥
कार्यं विलम्बितं स्यात् प्रणश्यति क्षिप्रमेवान्ते ।

आद्यन्तयोर्यदा साध्यो मध्ये सिद्धः प्रजायते ॥
आद्यन्तयोर्यदा सिद्धो मध्ये साध्यः प्रजायते ।
तावुभौ साध्यसिद्धौ हि जपाधिक्येन सिद्ध्यतः ॥
अरिसम्पुटितः सिद्धः सुसिद्धोऽपि तथा भवेत् ।
सर्वनाशकरो ज्ञेयः साधकस्य न संशयः ॥
सिद्धान्तरितसाध्यस्तु सुसिद्धान्तरितोऽथवा ।
शीघ्रं सिद्ध्यति मन्त्रोऽयमीशानः स्वयमब्रवीत् ॥
सिद्धान्तरितशत्रुस्तु सुसिद्धेनापि चेद्भवेत् ।
नासौ रिपुर्भवेन्मन्त्रः किन्तु कृच्छ्रेण सिद्ध्यति ॥
साध्यान्तरितसिद्धस्तु सुसिद्धोऽपि तथा यदि ।
सिद्ध्यत्यतीवकष्टेन साधकस्य न चान्यथा ॥
रिपुणाऽन्तरितः सिद्धः सुसिद्धोपि तथा यदि ।
ईदृशं लक्षणं दृष्ट्वा दूरतः परिवर्जयेत् ॥
रिपुणा दूषितो (न्तरितो) मन्त्रो नैव देयः कदाचन ॥ इति ।

नारायणीयेऽपि—दुष्टार्णप्रचुरो मन्त्रो यः स्यात् स विनिन्दितः । इति ।

अपेक्षितार्थद्योतनिकायां व्याख्यातम् । तत्र पूर्ववन्मातृकाक्षराणि संलिख्य तत्समीपे मन्त्रं नाम च लिखित्वा प्रथमाक्षरेण प्रथमाक्षरं शोधयित्वा पुनर्द्वितीयाक्षरेण द्वितीयाक्षरं शोधयित्वा नामपरिसमाप्तौ पुनर्नाम लिखित्वा यावन्मन्त्रपरिसमाप्तिस्ताव-च्छोधयित्वा यस्मिन् मन्त्रे दुष्टार्णाः साध्यार्णा वैरिणश्च इतरेभ्यो बहवो भवन्ति तदा तन्मन्त्रं वर्जयेदित्यर्थः । अत्र केषाञ्चिद्वर्णानां शोधनं नास्तीत्याहुः ।

नमः प्रणवसंयोगावपभ्रंशाक्षराणि च ।
वर्जयित्वैव गणनं कर्त्तव्यञ्च सुरेश्वरि ॥ इति ।

तत्त्वसागरवादिना तत्रैव प्रकारान्तरेण सिद्धादिकल्पनमुक्तम् ।

द्वादशारेऽथवा चक्रे कूटषण्ढविवर्जितान् ।
आदिहान्तान् लिखेद्वर्णान् पूर्वतो यावदीश्वरम् ॥
अङ्कानेकादिभान्वन्तान् लिखेत् पूर्वादितः क्रमात् ।
सिद्धः साध्यः सुसिद्धोऽरिश्चतुर्द्धाणुः स्फुटीभवेत् ॥
नवैकपञ्चके सिद्धः साध्यः षड् दशयुग्मके ।
त्रिसप्तैकादशे मित्रं वेदाष्टद्वादशे रिपुः ॥
अथवाऽन्यप्रकारेण वच्मि मन्त्रांशकं मनाक् ।
अकारादिहकारान्तं मातृकाक्षरसञ्चयम् ॥
एकैकार्णक्रमान् न्यस्य चतुःकोष्ठेषु मन्त्रवित् ।
सिद्धं साध्यं सुसिद्धञ्च वैरिणं गणयेत् क्रमात् ॥
यत्र यत्र भवन्त्वर्णा नाममन्त्रसमुद्भवाः ।
सिद्धसाध्यादिभेदेन वर्णैस्तैर्मन्त्रमादिशेत् ॥
अथवा मन्त्रनाम्नोस्तु (मार्ण) कृते राशौ चतुर्हते ।
सिद्धः साध्यः सुसिद्धोऽरिर्मन्त्र एकादितो भवेत् ॥ इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रे तु—

त्रिविधः कीर्त्तितो मन्त्रः सिद्धः साध्यः सुसिद्धकः ।
अल्पाक्षरो भवेत् सिद्धः साध्यो मालार्द्धमालकौ ।
अत ऊर्द्धं सुसिद्धः स कवित्वे चातिनिन्दितः ॥ इति ।

अन्योऽपि विशेषः— शुचिराराधयेन्मन्त्रं दृष्टादृष्टफलप्रदम् ।
सकलं निष्कलं सूक्ष्मं तथा सकलनिष्कलम् ॥
कलाभिन्नं कलातीतं षोढा मन्त्रं शिवोऽब्रवीत् ।
सकलं ब्रह्मरन्ध्रस्थं तदधो विद्धि निष्कलम् ॥
मानसं सूक्ष्मनामानं हृतस्थं सकलनिष्कलम् ।
बिन्दुस्थितं कलाभिन्नं कलातीतं तदूर्द्धतः ।
कला कुण्डलिनी सैव नादशक्तिः शिवोदिता ॥ इति ।

एषु षट्सु स्थानेषु चिन्तितो मन्त्रः स्थानस्थः फलप्रदो नान्यथा । यदुक्तम् मालिनीविजये—

स्थानस्था वरदा मन्त्रा ध्यानस्थाश्च फलप्रदाः ।
ध्यानस्थानविनिर्मुक्ताः सुसिद्धा अपि वैरिणः ॥ इति ।

यद्यज्ञानादरिमन्त्रग्रहणं स्यात् तदा तत्त्यागप्रकार उच्यते—

अथारिमन्त्रसंत्यागविधिः सम्यक् प्रकाश्यते ।
शुचिः समाहितो भूत्वा प्रारभेत् प्रवरे दिने ॥
अशेषदुःखनाशाय देशिकः प्रवरं विधिम् ।
तत्रादौ रम्यभवने कुम्भं दीक्षाविधिक्रमात् ॥
मण्डले स्थापयेद् विद्वान् पुरयेत् तं जलैः शुभैः ।
विलोममन्त्रपाठेन तत्रावाह्य तु देवताम् ॥
सकलीकृत्य सम्पूज्याऽऽवरणानि प्रपूजयेत् ।
एवं साऽवरणामिष्ट्वा मन्त्री मन्त्रस्य देवताम् ॥
हुत्वा विलोममन्त्रेण सर्पिषा गोरपि द्विजः ।
अष्टोत्तरसहस्रं वा तथैवाष्ट शतं सुधीः ॥
ब्रह्मार्पणेन मनुना तथान्ते तर्पयेत् प्रभुम् ।
ततो यथावद् दुग्धान्नै र्देवताभ्यो बलिं हरेत् ॥
विदिक्षु दिक्षु च तथा वक्ष्यमाणैर्मनूत्तमैः ।
आयाहीन्द्र सुराधीश शतमन्यो शचीपते ॥
नमस्तुभ्यं गृहाणेमं पुष्पधूपादिकं बलिम् ।
आयाहि तेजसां नाथ हव्यवाह वरप्रद ॥
गृहाण पुष्पधूपादि बलिमेनं सुपूजितम् ।
प्रेतराज समायाहि भिन्नाञ्जनसमद्युते ॥
बलिं दत्तं गृहीत्वेमं सुप्रीतो वरदो भव ।
नमस्ते रक्षसां नाथ निर्ऋते त्वमिहागतः ॥
गृहाण बलिपूजादि मया भक्त्या निवेदितम् ।

एहि पश्चिमदिक्पाल जल (लोक) नाथ नमोऽस्तु ते ॥
भक्त्या निवेदितां पूजां गृहीत्वा प्रीतिमाप्नुहि ।
प्रभञ्जन प्राणपते त्वमेहि सपरिच्छदः ॥
मया प्रयुक्तं विधिवत गृहाण बलिमादरात् ।
कुवेरतारकाधीशावागच्छेतां सुरोत्तमौ ॥
पुष्पधूपादिभिः प्रीतौ भवेतां वरदौ मम ।
ईश त्वमेव भगवन् सर्वविद्याश्रय प्रभो ॥
पूजितः पुष्पधूपाद्यैः प्रीतो भव विभूतये ।
आयाहि सर्वलोकानां नाथ ब्रह्मन् समर्चनम् ॥
गृहाण सर्वविघ्नान् मे निवर्त्तय नमोऽस्तु ते ।
आगच्छ वरदाऽव्यक्त विष्णो विश्वस्य नायक ॥
पूजितः परया भक्त्या भव त्वं सुखदो मम ।
ततः सपरिवाराञ्च पूजयेन्मन्त्रदेवताम् ॥
मन्त्रेण विपरीतेन पुष्पदीपोपचारकैः ।
ततस्तु प्रार्थयेद् विद्वान् पूजितां मन्त्रदेवताम् ॥
आनूकूल्यमनालोच्य मया तरलबुद्धिना ।
यदुपात्तं पूजितञ्च प्रभो मन्त्रस्वरूपकम् ॥
तेन मे मनसः क्षोभमशेषं विनिवर्त्तय ।
पापं प्रतिहतञ्चास्तु भूयाच्छ्रेयः सनातनम् ॥
तनोतु मम कल्याणं पावनी (माविनी) भक्तिरेव ते ।
इति संप्रार्थ्य मन्त्रेशीं मन्त्रं पत्रे विलोमतः ॥
लिखित्वाऽमलकर्पूरचन्दनेन समर्चयेत् ।
कलसोपरि संस्थाप्य भक्त्या परमया युतः ॥
तत्पत्रं मतिमान् पश्चाद् बद्ध्वा निजशिरस्यथ ।
स्नायात् पूजितकुम्भस्थतोयैर्मन्त्रमयैः शुभैः ॥
पुनश्चान्येन तोयेन कुम्भमापूर्य संयतः ।
तन्मध्ये मन्त्रपत्रञ्च निक्षिप्याथ प्रपूजयेत् ॥
तं कुम्भं निम्नगातीरे शुद्धे वाऽन्यजलाशये ।
निक्षिपेदथ विप्रांश्च यथाशक्त्या प्रभोजयेत ॥
इत्थं कृतविधानस्य रिपुमन्त्रोद्भवा रुजः ।
नश्यन्त्येव न सन्देहः क्रमाच्चित्तप्रसन्नता ।
जायतेऽतीवसम्पन्नो वर्द्धते तत्कुलं क्रमात् ॥ इति ।

अथ मन्त्रमुक्तावल्युक्त ऋणधनशोधनप्रकारो लिख्यते ।

इन्द्र १४ र्क्ष २७ नेत्र २ रवि १२ पञ्चदश १५ र्तु ६ वेद ४ वह्न्या ६ युधा ८ ष्ट ८ नवभि ९ गुणितांश्च साध्यान् । दिग् १० भू १ गिरि ७ श्रुति ४ गजा ८ ग्नि ३ मुनी ७ षु ५ वेद ४ षड् ६ वह्नि ३ भिश्च गुणितानथ साधकार्णान् ॥

नामाङ्कलादकठवाद्गज ८ भक्तशेषं
ज्ञात्वोभयोरधिकशेषमृणं धनं स्यात् ।

मन्त्रो ऋणी शुभफलोऽप्यशुभो धनी च
तुल्यो यदा समफलः कथितो मुनीन्द्रैः ॥ इति ।

तत्र प्रकारः । साध्यस्य मन्त्रस्य साधकस्य शिष्यस्य नामाक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृत्वा स्थापयेत् । ततो मातृकाया अ-क-ठ-बात्मकम् एकादशैकादशाक्षरं वर्गचतुष्टयं कृत्वा मन्त्राक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि इन्द्रादिभिरङ्कैर्गणयेत् । साधकनामाक्षराणि स्वरव्यजनरूपेण पृथक्कृतानि दिगादिभिरङ्कैर्गुणयेत् । तत्र गुणनप्रकारः । यस्मिन् स्थाने यो वर्णः तं वर्णं तेनाङ्केन गुणयेत् । तत्स्थानमिताङ्कं गुणयेदित्यर्थः । तद्यथा । प्रथमकोष्ठस्थो वर्णोऽकारस्तं चतुर्दशभिः गुणयेत् तत्रैकश्चतुर्दशगुणितश्चतुर्दशैव । तथा द्वितीयकोष्ठस्थो वर्ण इकारस्तं सप्तविंशत्या गुणयेत् । तेन द्वाभ्यां सप्तविंशतिः गुणिता चतुःपञ्चाशत् । एवं तृतीयस्थानस्थो वर्ण उकारो द्विगुणितः षट् भवति । एवं साधकनामाक्षराण्यपि दिगादिभिः गुणयेत् । साधकनाम—मन्त्राक्षरेषु आ ई ऊ ॠ ॡ एषामङ्का लघ्वक्षराणामेवाङ्का ज्ञेयाः । ततः सर्वोऽप्यङ्कएकीकृतः अष्टभिः विभाज्यः । यो राशिरधिकः स ऋणी अधमर्णः । ऊनो राशिर्धनी उत्तमर्णः । तत्र मन्त्रश्चेदधमर्णस्तदा ग्राह्यः । न चेन्न ग्राह्यः । अथ कादिमतोक्त ऋणधनशोधनप्रकारो यथा—

नामाद्यक्षरमारभ्य यावन्मन्त्रादिवर्णकम् ।
त्रिधा कृत्वा स्वरैर्भिन्द्यात् तदन्यद् विपरीतकम् ॥ इति ।

अस्यार्थः । साधकनाम्नो यदाद्यक्षरं तत आरभ्य मन्त्राद्यक्षरपर्यन्तं मातृकाक्रमेण गणयित्वा तमङ्कं त्रिगुणितं कृत्वा स्वरैः सप्तभिर्हरेत् इति । अयं साधकराशिः । एवं मन्त्राद्यक्षरमारभ्य साधकनामाद्यक्षरपर्यन्तं मातृकाक्रमेण गणयित्वा तमङ्कं त्रिगुणितं कृत्वा सप्तभिर्हरेत् इति मन्त्रराशिः । अन्यत् पूर्ववत् । तन्त्रान्तरोक्तो वा ऋणधनशोधनप्रकारो यथा—

साध्यनाम द्विगुणितं साधकेन समन्वितम् ।
अष्टभिश्च हरेच्छेषं तदन्यद् विपरीतकम् ॥ इति ।

अस्यार्थः । मन्त्राक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि द्विगुणयेत् । साधकनामाक्षराण्यपि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि तेषु संयोजयेत् । ततोऽष्टभिर्हरेत् । अयं मन्त्रराशिः। एवं साधकनामाक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि द्विगुणितानि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतमन्त्राक्षरैः संयोजितान्यष्टभिर्हरेत् । एवं साधकराशिः । अन्यत् पूर्ववत् । एवमुक्तेष्वन्यतमेनावश्यं ऋणधनशोधनं मन्त्रेषु कर्त्तव्यम् । तत्र कथं मन्त्राणां ऋणित्वं तदुक्तं कादिमते—

पूर्वजन्मकृताभ्यासात् पापादस्याफलाप्तिकृत् ।
पापे नष्टे फलावाप्तिः काले देहक्षयादृणी ॥
मन्त्रः सम्प्राप्तिमात्रेण प्राक्तनः (प्राक्पूतः) सिद्धये भवेत् ।
सिद्धमन्त्राद् गुरोर्लब्धमंन्त्रो यः सिद्धिभाङ् नरः ॥
लक्ष्मीमदादनादृत्य (वान् स सदा पूज्यः) मन्त्रभोगमवाप्तवान् ।
स मन्त्रोऽस्य ऋणी ज्ञेयो भजनं तस्य पूर्वगम् ।
तस्मादृणविशुद्धिस्तु कार्या सर्वैस्तु सर्वतः ॥ इति ।

ग्रन्थान्तरे मन्त्रशोधने प्रकारान्तरमुक्तम्—

षड्दलं चक्रमालिख्य प्रागादिषु दलेषु तु ।
अकारादिवर्णानेकैकं लिखेन्त्रिः षण्ढकूटकान् ॥
स्वनामाद्यक्षरं यत्र तदारभ्य विचारयेत् ।
उदिते सम्पदुद्दिष्टा द्वितीये सम्पदां क्षयः ॥
तृतीये तु धनं (धृतिं) विद्यात् चतुर्थे बन्धुविग्रहः ।
पञ्चमे संशयात्मा स्यात् षष्ठः सर्वविनाशकः ॥ इति

अत्र सर्वत्र सिद्धादिशोधनापवादो ग्रन्थान्तरोक्तः ।

पिण्डे तारे स्वप्नलब्धे षडर्णे प्रासादार्कत्रैपुरे नारसिंहे ।
माला मायामातृवाराह कामास्त्रे नो दोषः स्त्र्याप्तवेदेषु रत्ने ॥

इति ।

मालामन्त्रस्वरूपमुक्तं महाकपिलपञ्चरात्रे—

बहुवर्णास्तु ये मन्त्रा मालामन्त्रास्तु ते स्मृताः ।
दशाधिकाक्षरा माला पञ्चाधिकार्द्धमालिका ॥
न माला पञ्चपर्यन्ता वृद्धास्थविरबालकाः ।
वार्द्धके सिद्धिदा माला अर्द्धमाला तु यौवने ॥
वाल्ये पञ्चाक्षराधस्तु मन्त्रः सिद्धिप्रदायकः ॥ इति ।

प्रयोगसारे तु— नवाक्षरान्ता ये मन्त्रा बीजमन्त्राः प्रकीर्त्तिताः ।
पुनर्विंशति वर्णान्ता मन्त्रा मन्त्रास्तथोदिताः ॥
ततोऽधिकाक्षरा मन्त्रा मालामन्त्राः प्रकीर्त्तिताः ।
वाल्ये प्रसिद्धिदा बीजमन्त्रा मन्त्राश्च यौवने ॥
मालामन्त्राश्च वार्द्धक्ये विशेषेण प्रसिद्धिदाः । इति ।

नारायणीयेऽपि— विंशत्यर्णाधिका मन्त्रा मालामन्त्रा इति स्मताः ।
दशाक्षराधिका मन्त्रास्तदर्वाग् बीजसंज्ञिताः ॥
वार्द्धके सिद्धिदा मालामन्त्रा मन्त्रास्तु यौवने ।
पञ्चाक्षराधिका वाल्ये सिद्धिदाः सर्वदाऽपरे ॥ इति ।

अपेक्षितार्थद्योतनिकायामुक्तम् 'उक्तावस्थाव्यतिरिक्तावस्थासु बीजमन्त्रमाला-मन्त्रसिद्ध्यर्थं द्विगुणं जपेत्' इति । तथा—

हंसस्याष्टाक्षरस्यापि तथा पञ्चाक्षरस्य तु ।
एकद्वित्रयादिबीजस्य सिद्धादीन् नैव शोधयेत् ॥

तथा— एकत्रिपञ्चसप्तार्णनवरुद्रषडर्णके ।
द्वात्रिंशत्यक्षरे मन्त्रे नांशकं परिगण्यते ॥
गारुडादिषु सौरेषु वैष्णवे बौद्धजैनयोः ।
महाकूटेषु मन्त्रेषु नैव सिद्धादिशोधनम् ॥
चत्वारिंशाक्षरस्योर्द्ध मेकैकाक्षरवृद्धितः ।
त्रिषष्टिवीजपर्यन्तं मन्त्रोऽनेक (नैक) फलप्रदः ॥ इति ।

तथाच— आज्ञासिद्धास्तु ये मन्त्रा योगिनीनां प्रसादतः ।
लब्धा ये केऽपि ते मन्त्राः सर्वकामफलप्रदाः ॥ इति ।

एतद्व्यतिरिक्तेष्वावश्यकं शोधनम् । यदुक्तम्—

मन्त्रो वा यदि वा विद्यास्तवो वा सूक्तमेव वा ।
अर्थबन्धुशरीरस्य नाशको भवति क्षणात् ॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन दुष्टं सर्वत्र वर्जयेत् ।
न केवलन्तु मन्त्राणां विशेषेण तु देहिनाम् ।
परस्परं समीक्ष्यः स्यात् सम्बन्धो नान्यथा भवेत् ॥ इति ।

यस्तु सिद्धादिभिर्मन्त्रो न मिलति तत्र प्रकारान्तरमुक्तम् । यदाहुः—

एषु दोषेषु सर्वत्र मायां काममथापि वा ।
क्षिप्त्वा चादौ श्रियं दद्यात् तद्दूषणविमुक्तये ॥ इति ।

तथा— तारसम्पुटितो वापि दुष्टमन्त्रोऽथ सिद्धयति ।
यस्य यत्र भवेद्भक्तिः सोऽपि मन्त्रोऽस्य सिद्धयति ॥ इति ।

तथा भुवनेशीपारिजाते—

मायाबीजसमायुक्तः क्षिप्रं सिद्धिप्रदो भवेत् ।
पिण्डस्तु केवलो मन्त्रो मायाबीजोज्ज्वलीकृतः ।
मायाबीजाद्भवेत् प्राणो बीजं चैतन्यवीर्यवत् ॥ इति ।

तथा— अनुलोमविलोमस्थ क्लृप्ता वर्णमालया ।
प्रत्येकवर्णयुङ्मन्त्रा जप्ताः स्युः क्षिप्रसिद्धिदाः ।
वैरिमन्त्रा अपि नृणामन्ये मन्त्राश्च किं पुनः ॥ इति ।

अग्रे व्यवहाराय सिद्धाद्यक्षराणां संज्ञान्तराण्याह सिद्धार्णा इति ॥ १२९-१३१ ॥

पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण की ओर पाँच पाँच सीधी रेखा खींचे । इस प्रकार चार चार के क्रम से १६ कोष्ठक का निर्माण करना चाहिए । पुनः १६ कोष्ठों में १६ स्वरों को लिख कर उसी क्रम से ककारादि अक्षरों को भी लिखना चाहिए । फिर अपने नाम का आदि अक्षर जिस चतुष्क में हो, उसे सिद्ध सिद्ध कोष्ठक समझना चाहिए, उसके बाद तीन कोष्ठक दाहिने क्रम से, सिद्ध साध्य, सिद्ध सुसिद्ध सिद्धारि की कल्पना करे ॥ १२९-१३० ॥

अकथह चक्र

अ क १ थ ह	उ ङ प २	आ ख ३ द क्ष	ऊ च फ ४
ओ ड ब ५	ऌ झ म ६	औ ढ श ७	ॡ ञ य ८
ई घ न ९	ॠ ज भ १०	इ ग ध ११	ऋ छ व १२
अः त स १३	ऐ ठ ल १४	अं ण ष १५	ए ट र १६

यदि अपने नाम वाले कोष्ठक में मन्त्र का भी कोष्ठक मिल जावे तो मन्त्र सिद्ध समझना चाहिए । ध्यान रहे

सिद्धमन्त्र बन्धु के समान सुखद कहे गये हैं । साध्य मन्त्र सेवक के समान सेवा करते हैं । सुसिद्ध मन्त्र पुष्टि प्रदान करते हैं और सिद्धारि मन्त्र शत्रु के समान घातक कहे गये हैं ॥ १३१ ॥

मन्त्रजपस्थानम्

दीपस्थानम्

दीपस्थानं समाश्रित्य कृतं कर्म फलप्रदम् ॥ १३२ ॥

फलस्य पूर्वमुक्तत्वात् मन्त्रजपस्थानमाह दीपेति । दीपशब्दार्थोऽन्यत्रोक्तः—

दीप्यते पुरुषो यत्र दीपस्थानं तदुच्यते । इति ।

तथा— दीपौघं सम्प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ब्रह्मयामले ।
प्रासादग्रामगेहाद्या ज्ञेया येन शुभाशुभाः ॥
ककारादिक्षकारान्ता वर्णाः स्युर्दीपसंज्ञकाः ।
स्वराः षोडशपीठाख्या ज्ञातव्या मन्त्रिणां वरैः ॥ इति ।

तथा— पीठसंज्ञा स्वराणाञ्च दीपाः स्युर्व्यञ्जनानि हि ।
स्थानं दीपाक्षरं यस्मिन् कोष्ठे तिष्ठति तद्भवेत् ॥
दीपस्थानं तदेतत् स्यात् कूर्मचक्रे न संशयः ॥ इति ।

तस्य दीपस्थानमिति । कर्म जपादिकम् । अतएव वक्ष्यति 'मन्त्राणां सिद्धिसाधनम्' इति ॥ १३२ ॥

कूर्मचक्रम्

**चतुरस्रां भुवं भित्त्वा कोष्ठानां नवकं लिखेत् ।
पूर्वकोष्ठादि विलिखेत् सप्तवर्गाननुक्रमात् ॥ १३३ ॥**

दीपस्थानज्ञानार्थं कूर्मचक्रमाह चतुरिति । तत्र द्वे रेखे पूर्वापरायते द्वे दक्षिणोत्तरायते चतुरस्रमध्ये कुर्यात् । तदा नवकोष्ठानि सम्पद्यन्ते । तेषु नवसु कोष्ठेषु नव क्षेत्रपालाः पूज्याः । यदुक्तम्—

क्षेत्रपाला नवैतेषु दीपेशा नवकोष्ठके ।
अमृतो वृषभः शैलराजो वासुकिरर्थकृत् ॥
शक्तिकृत् (पूः) पद्मयोनिश्च महाशङ्खश्च ते नव ।
छायाछत्रगणोपेतान् मध्यात् पूर्वादितो यजेत् ॥ इति ।

पूर्वकोष्ठादि पूर्वदिक्कोष्ठमारभ्य इत्यर्थः । सप्तवर्गानिति कचटतपयशान् । अनुक्रमाद् विलिखेत् इति उत्तरान्तम् । अत्र यथासम्भवं मध्यत आरभ्य प्रतिकोष्ठम् ।

यदुक्तम्— पूर्वकोष्ठे कवर्गस्य पञ्चकं मध्यतः क्रमात् ।
मध्यतोऽन्यत्र चाग्नेये चवर्गञ्चैवमेव हि ॥ इति ॥ १३३ ॥

**लक्ष्मीशे मध्यकोष्ठे स्वरान् युग्मक्रमाल्लिखेत् ।
दिक्षु पूर्वादितो यत्र क्षेत्राख्याद्यक्षरस्थितम् ॥ १३४ ॥**

मुखं तत् तस्य जानीयाद्धस्तावुभयतः स्थितौ ।
कोष्ठे कुक्षी उभे पादौ द्वे शिष्टं पुच्छमीरितम् ।
क्रमेणानेन विभजेन्मध्यस्थमपि भागतः॥ १३५ ॥

मध्यकोष्ठे स्वरान् युग्मक्रमाल्लिखेदिति । तत्र लेखनप्रकार उक्तोऽन्यत्र—

मध्यकोष्ठे पुरोभागे अकारद्वयमालिखेत् ।
आग्नेयामिद्वयं विन्द्यात् याम्ये तूद्वयमालिखेत् ॥
नैर्ऋत्ये ऋद्वयं विन्द्याद्वारुणे लृद्वयन्तथा ।
वायव्यामेद्वयं विन्द्यात् सौम्यामोद्वयमिष्यते ॥
ईशे चान्त्ययुगं विन्द्यादेवं न्यस्य विचारयेत् । इति ।

अयं लेखनक्रमः क्रमेणानेन विभजेत् इति वक्ष्यमाणेन सूचित एव ।

क्षेत्राख्येति । अत्र क्षेत्रशब्दो ग्रामादीनामुपलक्षकः ।

यदुक्तम्—पीठं क्षेत्रं पुरञ्चापि नगरं ग्राममेव च । इति ।

तल्लक्षणमन्यत्रोक्तम्—कादिनान्तं भवेत् क्षेत्रं ग्रामः स्यात् पादिमान्तकः ।
यादिषान्तं पुरं सम्यक् प्रोक्तं देशिकसत्तमैः ।
सहान्तं नगरं प्रोक्तमेतत् क्षेत्रस्य लक्षणम् ॥ इति ।

पीठलक्षणन्तु प्रागुक्तम्—'स्वराः षोडश पीठाख्याः' इति । क्वचित्तु 'वनाद्रिपत्तनग्राम देवगेहह्रदादिषु' इत्यप्युक्तम् । उभयतः स्थिताविति प्रत्येकं हस्तकुक्षिपादेष्वन्वेति । तेनाद्याद्यमभितोऽग्रिमाग्रिमम पुच्छं शिष्टम् ॥ १३४-१३५ ॥

दीप का फल पूर्व में कह आये हैं । 'दीप्यते पुरुषो यत्र' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ साधक का तेज बढ़े वह दीप स्थान कहा जाता है, ककार से लेकर क्षकार पर्यन्त वर्णों की दीपसंज्ञा है शेष १६ स्वर पीठ नाम से तन्त्र में अभिहित हैं । जिस कोष्ठ में उपर्युक्त दीपाक्षर स्थित हों वही दीप का उपयुक्त स्थान माना गया है । इसे कूर्मचक्र से जानना चाहिए ।

अब **कूर्मचक्र के लेखन का विधान** कहते हैं—सर्वप्रथम चौकोर रेखा खींचे उसके मध्य में पूर्व से पश्चिम एवं उत्तर से दक्षिण के क्रम से दो दो रेखा

कूर्मचक्र

पूर्व

ईशान	लक्ष	क, ख, ग, घ, ङ	च,छ,ज,झ,ञ	आग्नेय
उत्तर	श,ष,स,ह	मध्य अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः	ट,ठ,ड,ढ,ण	दक्षिण
वायव्य	य,र,ल,व	प,फ,ब,भ,म	त,थ,द,ध,न	नैर्ऋत्य

पश्चिम

खींच कर ९ कोष्ठक निर्माण करे । उसमें पूर्व दिशा के कोष्ठ के मध्य में कवर्ग पञ्चक, आग्नेय में चवर्ग पञ्चक, दक्षिण में ट वर्ग पञ्चक, नैर्ऋत्य में तवर्ग पञ्चक, पुन: पश्चिम में पवर्ग, वायव्य में य र ल व, उत्तर में श ष स ह तथा ईशान कोण में क्ष त्र ज्ञ रूप सप्त वर्गों का स्थापित करे। इसके बाद मध्यकोष्ठ के पूर्व में अकार द्वय (अ आ), आग्नेय में इकार द्वय (इ ई), दक्षिण में उकार द्वय (उ उ), नैर्ऋत्य में ऋकार द्वय (ऋ ऋ), पश्चिम में लृकार द्वय (ल् लृ), वायव्य में एकार द्वय (ए ऐ), उत्तर में ओंकार द्वय (ओ औ) एवं ईशान कोण में (अं अ:)—इन स्वरों को स्थापित करे । पूर्वादि क्रम से कूर्म का मुख समझना चाहिए, उस मुख के दोनों ओर कूर्म के हाथ दोनों ओर के दो कोष्ठ कुक्षि और पाद कहे गये हैं शेष भाग पुच्छ कहा गया है । इसी प्रकार मध्यस्थ कोष्ठ भाग का भी प्रविभाग करना चाहिए ॥ १३२-१३५ ॥

मुखस्थो लभते सिद्धिं करस्थः स्वल्पजीवनः ।
उदासीनः कुक्षिसंस्थः पादस्थो दुःखमाप्नुयात् ॥ १३६ ॥
पुच्छस्थः पीड्यते मन्त्री बन्धनोच्चाटनादिभिः ।
कूर्मचक्रमिदं प्रोक्तं मन्त्राणां सिद्धिसाधनम् ॥ १३७ ॥

अस्य फलमाह मुखस्थ इति । मन्त्रीत्याकृष्यते । तस्य तन्त्रोक्तदीक्षाप्रकारेण स्वीकृतमन्त्र इत्यर्थः । अग्रेऽपि मन्त्रिणाम् इति पदद्वये अयमेवार्थोऽनुसन्धेयः । जीव्यतेऽनेनेति जीवनं भोगः स्वल्पं जीवनं यस्य स स्वल्पजीवनः । तदुक्तम्— मुखस्थः शुभयुग्ज्ञेयः करस्थः स्वल्पभुक्तिमान् । इत्यादिना ।

तथा— मुखे सर्वार्थसिद्धिः स्यात् करयोरल्पसिद्धिकृत् । इत्यादिना ।

तथा— तस्मान्मुखं समाश्रित्य सर्वकर्म समारभेत ।
तदलाभे करं वापि कूर्मस्यान्यं न संश्रयेत् ॥ इति ।

अत्र विशेषो ग्रन्थान्तरोक्तः—

स्थानसाधकयोर्नाम्नोररित्वं यत्र विद्यते । तत्तच्च (तदक्ष) शास्त्रतो ज्ञात्वा तत्तत् सम्यक् परित्यजेत् ॥

अरित्वमद्वयस्योक्तं गकारेण परस्परम् ।
ऋयुग्मस्य ठ (च) कारेण ठ (च) कारस्यापि तेन च ॥
लृद्वयस्य पकारेण पकारस्यापि लृद्वयम् ।
ओयुग्मस्य षकारेण षकारस्यौयुगेन च ॥
जकारस्य टकारेण झ (ऊ) कारस्य खकारतः ।
उकारस्य तकारेण फकारस्य धकारतः ॥
भकारस्य तु रेफेण यकारस्य सकारतः ।
अरित्वमेषां वर्णानामन्येषां मित्रभावना ॥
कूर्मचक्रे रिपुस्थानं साधको यत्नतस्त्यजेत् ॥ इति ।

उदाहरणञ्च तत्रैव दर्शितम्—

यथा गर्गस्य वैरि स्यादट्टहासं महत् पुरम् ।
गयाऽमरेश्वरस्यैवमकाराद्येषु योजयेत् ॥
ऋषभस्य चकाराख्यं लृतकस्यापि पद्मकम् ।
ओड्डियानं षण्मुखस्य औड्रं षड्गुणकस्य च ॥
जयन्ती टङ्कनस्यारिः खन्धारं झंझभट्टतः ।
डकदेवस्य तरणिः (ताराख्यं) धूमाख्यं फञ्झकस्य च ॥
भट्टस्य रम्यकं वैरि यज्ञमित्रस्य वै सरः ।
एवं क्रमेण संशोध्य वैरिस्थानं त्यजेद्बुधः ॥ इति ।

तथा— तेषामाद्यान्वितं वर्णं पूर्वमार्गेषु योजयेत् ।
यदि तद्व्यञ्जनापिण्डं यद्याद्यं पीठवर्जितम् ॥
नामाक्षराणि सर्वाणि पीठयुक्तानि वर्जयेत् ।
तदादिकानि मार्गेण तद्गृहीत्वा स्वरं त्यजेत् ॥
ग्रामनामाक्षरेष्वादिमध्यान्तार्णान् विहाय च ।
द्वितीयमक्षरं यत्र कोष्ठे तिष्ठति तन्मुखम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— तत्तन्नामद्वितीयार्णो यत्र तिष्ठति तन्मुखम् । इति ।

इदन्तु स्वरादिनामविषयम् । नामादी संयोगाक्षरे सति विशेषमाह—

अक्षरत्रितयं यत्र ग्रामनामादिषु क्वचित् ।
स्वरो मध्याक्षरारूढो यत्र तिष्ठति तन्मुखम् ॥
भवतो यदि वर्णौ द्वौ ग्रामनामादिषु स्फुटम् ।
आद्यस्वरोः यत्र तिष्ठत्यदो वदनमिष्यते ॥ इति ।

तथा च— क्षेत्रसाधकमन्त्राणामेकमेवाद्यमक्षरम् ।
यदि स्यात् स ध्रुवं मन्त्रः सर्वसिद्धिफलप्रदः ॥ इति ।

फलविशेषमाहाऽन्यः—

मोक्षार्थं वदने कुर्याद्दक्षिणे त्वाभिचारिकम् ।
श्रीकामः पश्चिमे भूत्वा उत्तरे शान्तिदो भवेत् ॥
ईशाने शत्रुनाशः स्यादाग्नेयः शत्रुदायकः ।
नैर्ऋते शत्रुभीतिः स्याद् वायव्ये तु पलायनम् ॥
कूर्मचक्रमविज्ञाय यः कुर्याज्जपयज्ञकम् ।
तज्जपस्य फलं नास्ति स चानर्थाय कल्पते ॥ इति ।

कादिमते विशेषः— संवर्द्धयायामविस्तारं हृत्वाऽष्टाभिस्तु शेषतः ।
विज्ञाय वर्गं तेष्वेकमाद्यं नाम्नि प्रकल्पयेत् ॥
वास्तुष्वज्ञातरूपेषु प्रसिद्धं नामतो भवेत् ।
व्यञ्जनं देशकूर्मे स्याद् गृहकूर्मे स्वरास्तथा ॥

इति ॥ १३६-१३७ ॥

अब **कूर्मचक्र के मुखादिस्थान में अनुष्ठान करने का फल** कहते हैं—

ग्राम के नामाद्यक्षर वाले मुख भाग पर अनुष्ठान करने से सिद्धि प्राप्त होती है। हस्त वाले नामाद्यक्षर पर जप करने से स्वल्प सुख प्राप्त होता है। कुक्षि स्थान वाले ग्राम के नामाद्यक्षर पर अनुष्ठान करने से कोई फल नहीं मिलता। पाद स्थान पर अनुष्ठान करने से दुःख की संप्राप्ति होती है। पुच्छ स्थान पर बैठ कर अनुष्ठान करने वाला साधक, बन्धन, एवं उच्चाटनादि कारणों से पीडित रहता है। मन्त्रों की सिद्धि में साधनभूत इसी प्रक्रिया को कूर्मचक्र कहा गया है ॥ १३६-१३७ ॥

पुरश्चरणे शस्तस्थानानि

पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं गुहा पर्वतमस्तकम्।
तीर्थप्रदेशाः सिन्धूनां सङ्गमाः पावनं वनम् ॥ १३८ ॥
उद्यानानि विविक्तानि विल्वमूलं तटं गिरेः।
देवतायतनं कूलं समुद्रस्य निजं गृहम्।
साधनेषु प्रशस्यन्ते स्थानान्येतानि मन्त्रिणाम् ॥ १३९ ॥

पुरश्चरणजपस्य स्थानानि वदन् कूर्मचक्रविषयमाह पुण्येति । नदीतीरं पुण्यनदीतीरम् । सामान्यनदीतीरस्य निषिद्धत्वात् । पावनं वनमिति विशेषण विशेष्यभावः। उद्यानानि विविक्तानि पूतानीत्यत्रापि । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इति कोषः । स्थानान्येतानीत्यनेन तन्त्रान्तरोक्तमपि सूचितम् । यदाहुः—

प्रत्यङ्मुखशिवस्थाने वृषभादिविवर्जिते ।
अश्वत्थविल्वतुलसीवने पुष्पान्तरावृते ।
गवां गोष्ठेऽश्वत्थमूले पुण्यक्षेत्रेषु शस्यते ॥ इति ।

वायवीयसंहितायामपि—

सूर्यस्याग्नेर्गुरोरिन्दोर्दीपस्य च जलस्य च ।
विप्राणाञ्च गवाञ्चैव सन्निधौ शस्यते जपः ॥
अथवा निवसेत् तत्र यत्र चित्तं प्रसीदति ॥ इति ।

तत्रैव स्थानविशेषे फलविशेषोऽप्युक्तः ।

गृहे जपः समः प्रोक्तो गोष्ठे शतगुणस्तु सः ।
आरामे च तथाऽरण्ये सहस्रगुण उच्यते ॥
अयुतं पर्वते पुण्ये नद्यां लक्षगुणस्तु सः ।
कोटिर्देवालये प्राहुरनन्तं शिवसन्निधौ ॥ इति ।

एवं शक्तिविशेषमन्त्रेषु अष्टाष्टकपीठाद्यपि ज्ञेयम् । अन्यत्र—

म्लेच्छदुष्टमृगव्यालशङ्कातङ्कादिवर्जिते ।
एकान्ते वा वने निन्दारहिते भक्तिसंयुते ॥

सुदेशे धार्मिके राष्ट्रे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
रम्ये भक्तजनस्थाने निवसेन्न पराश्रये ॥
राजानः सचिवा राजपुरुषाः प्रभवो जनाः ।
चरन्ति येन मार्गेण न वसेत् तत्र तत्त्ववित् ॥
जीर्णदिवालयोद्यानगृहवृक्षतलेषु च ।
नदीकूलाद्रिकुञ्जेषु भूच्छिद्रादिषु नो वसेत् ॥

इति ॥ १३८-१३९ ॥

पुण्य क्षेत्र, नदी का तट, गुफा पर्वत का शिखर, तीर्थ स्थान, नदियों का सङ्गम, पवित्रस्थान वन, एकान्त में रहने वाला उद्यान, बिल्वमूल, पर्वत का निचला प्रदेश, देवतायतन, समुद्र का किनारा और अपना घर—इतने स्थान मन्त्र सिद्ध करने वाले साधकों के लिय प्रशस्त कहे गये हैं ॥ १३८-१४० ॥

पुरश्चरणकर्त्तुर्भक्ष्याणि

भैक्ष्यं हविष्यं शाकानि विहितानि फलं पयः ।
मूलं शक्तुर्यवोत्पन्नो भक्ष्याण्येतानि मन्त्रिणाम् ॥ १४० ॥

पुरश्चरणकर्त्तुर्मक्ष्याण्याह भैक्ष्यमिति । एतद्ब्रह्मचारियतिपरम् । भिक्षास्वरूप-मुक्तमन्यत्र—

वैदिकाचारयुक्तानां शुचीनां श्रीमतां गृहे ।
सत्कुलस्थानजातानां भिक्षा स्यादग्रजन्मनाम् ॥ इति ।

हविष्यमिति व्रतहविष्यं न तु श्राद्धहविष्यादि । तच्च स्मृत्यन्तरे

हैमन्तिकं सितास्विन्नं धान्यमुद्गयवास्तिलाः ।
कलायकङ्गुनीवारा वास्तुकं हिलमोचिका ॥
षष्टिका कालशाकञ्च मूलकं केमुकेतरत् ।
कन्दं (लोणं) सैन्धवसामुद्रे गव्ये च दधिसर्पिषी ॥
पयोऽनुद्धृतसारञ्च पनसाम्रहरीतकी ।
तिन्तिडी (पिप्पली) जीरकञ्चैव नागरङ्गकमेव च ॥
कदली लवली धात्री फलान्यगुडमैक्षवम् ।
अतैलपक्वं मुनयो हविष्यान्नं प्रचक्षते ॥ इति ।

फलं पयो मूलं विहितमित्यनुषज्यते ॥ १४० ॥

'सच्छिष्यो गुरुमाश्रयेत्'

गुरुलक्षणम्

पुरुषार्थसमावात्यै सच्छिस्यो गुरुमाश्रयेत् ।
मातृतः पितृतः शुद्धः शुद्धभावो जितेन्द्रियः ॥ १४१ ॥

सच्छिष्यो गुरुमाश्रयेदित्युक्तम् ॥ अतो गुरुलक्षणमाह मातृत इत्यादिना । मातृतः पितृतः शुद्धः शुद्धपितृमातृप्रसूत इत्यर्थः । सा च शुद्धिर्लोकप्रसिद्धितः

शीलान्वेषणतश्च ज्ञेया । यदुक्तम्—

यदकारि कर्म गुप्तं यौवनसमये मदान्ध (न्दधि) या मात्रा ।
तत् प्रकटयन्ति तनया विगतनयाः स्वधर्ममुत्सृज्य ॥ इति ।

शुद्धभावः शुद्धचित्तवृत्तिरित्यर्थः । अन्यथा खलत्वात् शुश्रूषार्ह एव न स्यात् । जितेन्द्रियः । अजितेन्द्रियस्य देवतापराङ्मुखत्वात् ॥ १४१ ॥

मन्त्र सिद्ध करने वाले साधकों को भिक्षा में प्राप्त अन्न हविष्यान्न (गेहूँ, यव, मूँग, तण्डुलादि) शाक, फल, दूध, मूल, यव का सत्तू—इतने ही पदार्थों का भक्षण विहित है ॥ १४०-१४१ ॥

अपने पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये उत्तम शिष्य को गुरु का आश्रय लेना चाहिए ॥ १४१ ॥

सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ।
परोपकारनिरतो जपपूजादितत्परः ॥ १४२ ॥

सर्वागमानां सारज्ञः । अन्यथा शैवादितत्तत्सम्प्रदायानभिज्ञता स्यात् । सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् । अन्यथा आगमशास्त्रविचारानुपपत्तेः । परोपकारनिरतः । अन्यथा शिष्योपरि कृपैव न स्यात् । तत् कृपां विना मन्त्रोऽपि पराङ्मुखो भवति । जपपूजादितत्परः । आदिशब्देन ध्यानहोमौ । अन्यथा लुप्तसमयाचारस्य देवतासान्निध्याभावात् । तदुक्तं पिङ्गलामते—

नाध्यातोऽनर्चितो मन्त्रः सुसिद्धोऽपि प्रसीदति ।
नाजप्तः सिद्धिदानेच्छुर्नाहुतः फलदो भवेत् ॥
पूजां ध्यानं जपं होमं तस्मात् कर्मचतुष्टयम् ।
प्रत्यहं साधकः कुर्यात् स्वयञ्चेत् सिद्धिमिच्छति ॥ इति ॥१४२॥

अब **गुरु का लक्षण** कहते हैं—जो शुद्ध माता पिता से उत्पन्न हो जिसका चित्त शाठ्य वापट्य से रहित हो, जो जितेन्द्रिय हो ॥ १४१-१४२ ॥

अमोघवचनः शान्तो वेदवेदार्थपारगः ।
योगमार्गानुसन्धायी देवताहृदयङ्गमः ॥ १४३ ॥
इत्यादिगुणसम्पन्नो गुरुरागमसम्मतः ॥ १४४ ॥

अमोघवचनः अनुग्रहक्षमः । शान्तः । अन्यथा लोकगर्हितस्याऽसेव्यत्वात् । वेदवेदार्थपारगः । अनेन स्वाचारनिष्ठतोक्ता । यदुक्तम्—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः ॥ इति ।

अन्यत्रापि— विना स्वधर्मं यत् किञ्चित् देवताराधनादिकम् ।
परिभ्रंश्येत तद् यस्मात् क्षणात् सैकतहर्म्यवत् ॥ इति ।

योगमार्गानुसन्धायी । अन्यथा दीक्षादिदान एवाशक्तिः स्यात् । देवताहृदयङ्गमः

देवतावद्धृदयङ्गमो मनोहरः प्रसन्नाकार इत्यर्थः । यथा देवतादर्शनेन मनसि सन्तोषस्तथा तद्दर्शनेनापि मनसि सन्तोषोत्पादात् । तदुक्तम्—

कार्यानुगतं शीलं शीलानुगतं नृणां भवति चित्तम् ।
चित्तानुगतं रूपं रूपानुगता गुणाः प्रायः ॥ इति ।

यत्र च मनसः सन्तोषस्तत्र फलावश्यम्भावः ।

तदुक्तम्—'यस्मिन्मनश्चक्षुषोरभिरतिस्तस्मिन्नभ्युदयः' इति ।

यथाऽभियुक्तकालिदासस्मरणमपि—'मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम्' इति ।

आदिशब्दान्महाकपिलपञ्चरात्रोक्तम्—

नातिबालो न वृद्धश्च न खञ्जो न कृशस्तथा ।
नाधिकाङ्गो न हीनाङ्गो न खल्वाटो न दन्तुरः ॥
कुल (कृत)ज्ञं वाग्मिनं शूरं प्रतिष्ठागमपारगम् ।
वास्तुविद्याकृताभ्यासं शल्योद्धारविवेकिनम् ।
क्रियानुक्रमवेत्तारं मुद्रातन्त्रविवेकिनम् ॥ इति ।
शुचिः सुवेशस्तरुणः सर्वभूतसमानधीः ।
धीमाननुद्धतमतिः कृतज्ञः शिष्यवत्सलः ।
श्रद्धावाननसूयश्च गृहस्थो गुरुरुच्यते ॥

इत्यादिग्रन्थान्तरोक्तञ्च द्रष्टव्यम् ।

आचार्यमातुलौ ऋत्विक् पितृव्यः श्वशुरो नृपः । इति षड्गुरवोऽप्येते । इत्यन्यत्रोक्तेरत्र आगमसमतः इति विशेषणम् ।

संसारसागरे मग्नान् यस्तारयति देहिनः ।
तत्त्वप्लवप्रदानेन स एवेह गुरुः स्मृतः । इत्युक्तेः ।

प्रतिष्ठासारस्वते तु विशेषः—

आर्यावर्त्तोद्भवोऽन्यो वा ककाराष्टकवर्जितः ।
शैवसिद्धान्तनिपुणः प्रतिष्ठामन्त्रपारगः ॥ इति ।

वीरागमे च— कुमारीहिमवन्मध्ये स्वतः कृष्णमृगान्विते ।
देशे जातस्तु यो विद्वान् आचार्यत्वमथार्हति ॥ इति ।

योगशिवपद्धतावपि—मध्यदेशकुरुक्षेत्रनाभोज्जयिनिसम्भवाः ।
अन्तर्वेदिप्रतिष्ठानादावन्त्याश्च गुरूत्तमाः ॥
गौडदेशोद्भवाश्चौला मागधाः केरलास्तथा ।
कौशलाश्च दशार्णाश्च गुरवो मध्यमा मताः ॥
कर्णाटकोङ्कणाकीर (श्चैव) कच्छतीरोद्भवास्तथा ।
कालिङ्गाः कामरूपाश्च काम्बोजाश्चाधमाः स्मृताः ॥ इति ।

देवीमते च— आचार्यः शैवशास्त्रज्ञः शिवदेशसमुद्भवः ।
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा शिवभक्तिपरायणः ।
यजमानानुकूलर्क्षजन्मा देशिक उच्यते ॥ इति ।

हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि—गृहस्थं ब्रह्मचर्यस्थं ककारा (पाटा)ष्टकवर्जितम् ।
गुरुं कुर्वीत सततमुपवासव्रते रतम् ॥ इति ।

तथा— सर्वत्र व्यतिरिक्तन्तु आत्मानं वेत्ति यो द्विजः ।
सर्वलक्षणहीनोऽपि स गुरुर्नात्र संशयः ॥
पञ्चरात्रप्रबुद्धस्तु सिद्धान्तार्थस्य तत्त्ववित् ।
सर्वलक्षणहीनोऽपि आचार्यः स निगद्यते ॥
यस्य विष्णौ परा भक्तिर्यथा विष्णौ तथा गुरौ ।
स एव देशिको ज्ञेयः सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ इति ।

शैवदीक्षायाम् अतीतागमे विशेषः—

जटी मुण्डी शिखी वापि शस्तदेशसमुद्भवः ।
शिवशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः श्रुतवृत्तान्वितो द्विजः ॥
शिवमेवाश्रितो नित्यं वाङ्मनः कायकर्मभिः ।
आचार्यः स सदोद्दिष्टः शिवदीक्षादिकर्मसु ॥ इति ।

शान्तिके च— अनूचानः प्रसन्नात्मा शिवदीक्षाभिषेचितः ।
शिवागमज्ञो मतिमान् शिवपूजापरायणः ॥
रुद्राक्षमालां विभ्राणस्त्रिशूलाङ्कितविग्रहः ।
विशुद्धदेशकुलजः शीलाचारसमन्वितः ।
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो ज्ञानवान् गुरुरुच्यते ॥ इति ।

प्रतिष्ठापद्धतावपि— लिङ्गी वि(ङ्गादि) लक्षणज्ञानी निपुणः कर्मसन्ततौ ।
देवताव्याप्तितत्त्वज्ञः षड्विधाध्वविशारदः ॥
शुभाशुभनिमित्तज्ञस्त्वथवा विस्तरेण किम् ।
सम्यग्जातिपरिज्ञानं वृत्तन्त्वाद्यास्त्रयो गुणाः ।
यस्यैते स गुरुः श्रेष्ठः सर्वकामफलप्रदः ॥ इति ।

यतेरपि गुरुतोक्ता मोहशूरोत्तरे—

चीर्णा (तीर्था) चारव्रतो मन्त्री ज्ञानवान् सुसमाहितः ।
नित्यनिष्ठो यतिः ख्यातो गुरुः स्याद् भौतिकोऽपि च ॥ इति ।

बातुलोत्तरेऽपि— विद्ययाऽभयदातारं लौल्यचापलवर्जितम् ।
एवंविधं गुरुं प्राप्य को न मुच्येत बन्धनात् ॥ इति ।

पौष्करे तु— सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुच्यते ।
ज्ञानञ्च तत्त्वविज्ञानं षडध्वज्ञानसंश्रयम् ॥ इति ॥ १४३-१४४ ॥

जो सम्पूर्ण आगम एवं शास्त्रों का तत्वज्ञ हो, संपूर्ण शास्त्र के अर्थों को तत्त्वतः जानता हो, परोपकार में निरत हो, जप पूजा में तत्पर हो । व्यर्थ का बकवादी न हो, दयालु हो, शान्त हो, वेद एवं वेदार्थ का पारदृश्वा विद्वान् हो, योग मार्ग का अनुष्ठाता हो, देवता के समान दर्शनीय हो, इस प्रकार के गुणों से सम्पन्न आगम सम्मत गुरु का आश्रय लेना चाहिए ॥ १४२-१४४ ॥

शिष्यलक्षणम्

शिष्यः कुलीनः शुद्धात्मा पुरुषार्थपरायणः ।
अधीतवेदः कुशलो दूरमुक्तमनोभवः ॥ १४५ ॥
हितैषी प्राणिनां नित्यमास्तिकस्त्यक्तनास्तिकः ।
स्वधर्म्मनिरतो भक्त्या पितृमातृहितोद्यतः ॥ १४६ ॥

शिष्याचारः

वाङ्मनः कायवसुभिर्गुरुशुश्रूषणे रतः ।
त्यक्ताभिमानो गुरुषु जातिविद्याधनादिभिः ॥ १४७ ॥
गुर्वाज्ञापालनार्थं हि प्राणव्ययरतोद्यतः ।
विहत्य च स्वकार्याणि गुरुकार्यरतः सदा ॥ १४८ ॥
दासवन्निवसेद् यस्तु गुरौ भक्तया सदा शिशुः ।
कुर्वन्नाज्ञां दिवारात्रौ गुरुभक्तिपरायणः ॥ १४९ ॥

शिष्यपरीक्षावधिकालः

आज्ञाकारी गुरोः शिष्यो मनोवाक्कायकर्मभिः ।
यो भवेत् स तदा ग्राह्यो नेतरः शुभकाङ्क्षया ॥ १५० ॥
मन्त्रपूजारहस्यानि यो गोपयति सर्वदा ।
त्रिकालं यो नमस्कुर्यादागमाचारतत्त्ववित् ॥ १५१ ॥
स एव शिष्यः कर्त्तव्यो नेतरः स्वल्पजीवनः ।
एतादृशगुणोपेतः शिष्यो भवति नापरः ॥ १५२ ॥

शिष्यलक्षणमाह शिष्य इति । कुलीनः शुद्धमातृपितृजः । अन्यथा कुण्डगोलादेरशुचित्वात् सर्वदा स्पष्टव्यत्वाभावात् । शुद्धात्मा अक्रूरचित्तः । क्रूरस्य विद्यानुपदेशात् । यत् श्रुतिः—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम । गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायाऽनृजवेऽयताय न मा ब्रूया । वीर्यवती तथा स्याम् ॥ इति ।

पुरुषार्थपरायणः । अनेनास्य व्यसनहीनतोक्ता । अन्यथा उपदेशानर्थक्यात् । अधीतवेद इत्यनेनास्य शुद्धतोक्ता । यदुक्तम्—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ इति ।

कुशलः अमुग्धः । मुग्धस्य मन्त्रबोधनाक्षमत्वात् । दूरमुक्तमनोभवः । कामिनः सपापत्वादशुद्धचित्तत्वात् मन्त्राराधनानधिकारः । हितैषी प्राणिनां नित्यम् इति । अन्यथा उपदिष्टमन्त्रात् अभिचारादिकर्मरतस्य तस्य पापं गुरुमपि स्पृशेत् । आस्तिकः अस्ति परलोक इति बुद्धिर्यस्य । अन्यथा नास्तिकतायां मन्त्रदेवता-

नाराधनात् गुरौ देवताकोपो भवेत् । त्यक्तनास्तिकः नास्तिकसंसर्गत्यागी । अन्यथा संसर्गजो दोषः स्यात् । स्वधर्मनिरतः आचारवान् । अनाचारिणोऽनधिकारात् । भक्त्या मातृपितृहितोद्यतो न तु दम्भादिना । असावेवास्य परमो धर्म उक्तो व्यासादिभिः । वाङ्मन इत्यादिना अवञ्चकतोक्ता । एतादृश इत्यनेन

युवा विनयताशेषकरणः करुणालयः ।

इत्यादि ग्रन्थान्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । यत् प्रयोगसारे—

तत्रापि भक्तियुक्ताय पुत्राय वसुदाय च । इति

नारायणीयेऽपि— कुर्वन्नाचार्यशुश्रूषां मनोवाक्कायकर्मभिः ।
शुद्धभावो महोत्साहो बोद्धा शिष्य इति स्मृतः ॥
न तूपदेश्यः पुत्रश्च व्यत्ययी वसुदस्तथा । इति ।

नापर इत्यनेनाऽन्यस्य निषेध उक्तः । तथा चान्यत्र शिष्यदोषानुक्त्वा—

एवमादिगुणैर्युक्तं न शिष्यन्तु परिग्रहेत् ।
गृह्णीयाद् यदि तद्दोषः प्रायो गुरुमपि स्पृशेत् ॥
अमात्यदोषो राजानं पतिं जायाकृतो यथा ।
तथा शिष्यकृतो दोषो गुरुं प्राप्नोत्यसंशयः ॥
स्नेहाद्वा लोभतो वापि यदि गृह्णाति दीक्षया ।
तस्मिन गुरौ सशिष्ये तु देवताशाप आपतेत् ।
तस्माच्छिष्यं गुरुर्नित्यं परीक्ष्य तु परिग्रहेत् ॥ इति ।

भुवनेशीपरिजातेऽपि—अशिष्ये कथयेद् यस्तु स महापातकी भवेत् । इति ।

ग्रन्थान्तरे तु विशेषः—गुरूच्यमाने वचने वदेदित्थं वचस्तदा ।
प्रसीद नाथ देवेति तथेति च कृतादरम् ॥
प्रणम्योपविशेत् पार्श्वे तथा गच्छेदनुज्ञया ।
मुखावलोकी सेवेत कुर्यादादिष्टमादरात् ॥
असत्यं न वदेदग्रे न बहु प्रलपेदपि ।
कामं क्रोधं तथा लोभं मानं प्रहसनं स्तुतिम् ॥

चापलानि च जिह्मानि कार्याणि (निर्माणि) परिदेवनम् । ऋणदानं तथाऽऽदानं वस्तूनां क्रयविक्रयम् । न कुर्याद् गुरुणा सार्द्धं शिष्यो भूष्णुः कदाचन ॥ इति ।

प्रयोगसारेऽपि— गुरुर्माता पिता स्वामी बान्धवाः सुहृदः शिवः ।
इत्याधाय मनो नित्यं भजेत् सर्वात्मना गुरुम् ॥
असत्यं न गुरौ ब्रूयाद् गुरुनिन्दां न कारयेत् ।
प्रारब्धां वारयेदन्यैरशक्तस्तत्पदं त्यजेत् ॥
गुरौ यथैव शूश्रूषा गुरुभार्यासु ताञ्चरेत् ।
ज्येष्ठांश्च गुरुवत् पश्येत् आत्मवच्च कनीयसः ॥
गुरुणा यद्यदादिष्टमिष्टं वाऽनिष्टमेव वा ।
तदा तदाशु सन्तिष्ठेदकौटिल्येन चेतसा ॥
मनोवाक्कर्मभिर्नित्यं पूजयेद् भाविनं गुरुम् । इति ।

देव्यागमेऽपि शिववाक्यम्— गुरोरग्रे पृथक् पूजामौद्धत्यञ्च विवर्जयेत् ।
दीक्षां व्याख्यां प्रभुत्वादि गुरोरग्रे विवर्जयेत् ॥ इति ।

तत्रैव— आसनं शयनं वस्त्रं भूषणं पादुकां तथा ।
छायां कलत्रमन्यच्च यत्तत्स्पृष्टं तु पूजयेत् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— यथा देवे तथा मन्त्रे यथा मन्त्रे तथा गुरौ ।
यथा गुरौ तथा स्वात्मन्येवं भक्तिक्रमः स्मृतः ॥

इति ॥ १४५-१५२ ॥

अब **शिष्य का लक्षण** कहते हैं—शिष्य को शुद्ध माता पिता से उत्पन्न, अतएव कुलीन होना चाहिए । चित्त में किसी प्रकार की क्रूरता न हो, शुद्धात्मा, व्यसन से रहित परिश्रमी, वेदज्ञ, लोक, शास्त्र कुशल और काम वासना से सतत दूर रहने वाला होना चाहिए ॥ १४५ ॥

प्राणियों का हित कर्त्ता, परलोक में विश्वास रखने वाला, नास्तिकता का परित्यागी, स्वधर्मनिरत, एवं माता पिता के हित में नित्य समुद्यत रहने वाला होना चाहिए । वाणी, मन, शरीर और धन से सर्वदा गुरु सेवा में तत्पर गुरु में जाति विद्या, एवं धनादि का अभिमान न करने वाला होना चाहिए ॥ १४६-४७ ॥

गुरु के आज्ञा पालन में प्राणों को निछावर करने वाला, अपने समस्त कार्यों की परवाह किये बिना गुरु के कार्य में निरत रहने वाला होना चाहिए । जो गुरु में भक्ति के कारण दास के समान सेवक हो, सर्वदा पुत्रवत् आज्ञा पालन में तत्पर हो, गुरु की आज्ञा में दिन रात लगा रहे तथा गुरु भक्तिपरायण हो ॥१४८-१४९॥

जो शिष्य मन, वाणी, शरीर और कर्म से सर्वदा गुरु का आज्ञाकारी हो, ऐसे ही शिष्य को कल्याण कामना से ग्रहण करना चाहिए दूसरे को नहीं । जो शिष्य मन्त्र और पूजा के रहस्यों को कभी प्रकाशित न करें, जो आगम के आचार का तत्त्ववेत्ता हो और त्रिकाल गुरु को नमस्कार करने वाला हो, ऐसे ही सत्पात्र को शिष्य बनाना चाहिए ॥ १५०-१५१ ॥

जो अल्पायु हो, उसे शिष्य न बनावे । शिष्य होने की योग्यता के लिये इन्हीं गुणों की आवश्यकता होती है और की नहीं ॥ १५२ ॥

एकाब्देन भवेद् योग्यो ब्राह्मणोऽब्दद्वयान्नृपः ।
वैश्यो वर्षैस्त्रिभिः शूद्रश्चतुर्भिर्वत्सरैर्गुरोः ।
स शुश्रूषुः परिग्राह्यो दीक्षायागव्रतादिषु ॥ १५३ ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचिते शारदातिलके
द्वितीयः पटलः समाप्तः ॥ २ ॥

शिष्यस्य परीक्षावधिकालमाह एकेति । गुरोर्योग्यो भवेदिति सर्वत्र सम्बद्ध्यते। शुद्रश्चतुर्भिरिति । ननु शूद्रस्य दीक्षादौ कथमधिकार इति चेत् । मैवम् । वेदाध्ययन-तदुक्त कर्मस्वेव स्मृतावनधिकारप्रतिपादनादन्यत्राधिकारात् । अतएव शूद्रप्रकरणे

स्मृतिः—नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान् न हापयेत् । इति । मन्त्रास्त्वीश्वर-प्रोक्तास्तत्र भगवतैव यथायथमधिकारिता दर्शिता । यथाप्रासाद मन्त्रप्रकरणे भगवानाह—

स्त्रीशूद्राणामयं मन्त्रो नमोऽन्तस्तु शुभावहः ।
एतज्ज्ञात्वा महासेन चाण्डालानपि दीक्षयेत् ॥ इति ।

पिङ्गलामतेऽपि— चतुर्णां ब्राह्मणादीनां दीक्षां कुर्वीत मन्त्रवित् । इति ।

अन्यत्रापि— ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्रा अर्चायां शुद्धबुद्धयः ।
गुरुदेवद्विजार्चासु रताः स्युरधिकारिणः ॥ इति ।

तेन साक्षाद्वैदिकेषु मन्त्रेषु रामषडक्षरसौराष्टाक्षरमन्त्रराजप्रभृतिषु प्रणवादिषु च न तस्याधिकारः । तथा च पद्मपादाचार्यैः प्रणवव्याख्याने—

अकारोकारमकारात्मेत्यनेन भेदत्रयेण प्रणवादिमन्त्रेषु त्रैवर्णिका एवाधि-कारिणो न स्त्रीशूद्रा इत्यपि सूचितम् इत्युक्तम् ।

तथा च नृसिंहतापनीये—

सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति । सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्रीशूद्रः स्मृतोऽधो गच्छति । इति ।

महाकपिलपाञ्चरात्रे नारायणाष्टाक्षरमधिकृत्योक्तम्—

न वेदः प्रणवं त्यक्त्वा मन्त्रो वेदसमुच्छ्रितः ।
तस्माद् वेदपरो मन्त्रो वेदाङ्गश्चागमः स्मृतः ॥
वश्याकर्षादिकं काम्यं दृष्टादृष्टफलप्रदम् ।
वेदेन साध्यते सर्वं ग्रहयज्ञादिभिः किल ॥
न वेदेन विना यज्ञा न यज्ञा वेद (मन्त्र) वर्जिताः ।
तस्माद् वेदः परो मन्त्रो न मन्त्रो वेदमुज्झितः ॥
न मन्त्रे चाधिकारोऽस्ति शूद्राणां नियमः परः ।
मन्त्राभावादमन्त्रेण भाषितं सर्वकर्म हि ॥ इति ।

नारदपञ्चरात्रे नारायणाष्टाक्षरमधिकृत्योक्तम्—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां पञ्चरात्रं विधीयते ।
शूद्रादीनां न तत् श्रोत्रपदवीमपि गच्छति ॥ इति ।

तथा श्रवणे त्रपुजतुभ्यां कर्णपूरणं उच्चारणे जिह्वाच्छेदः धारणे शरीरभेदः इति वेदविषये तस्य स्मृतिषु दण्डोपदेशादित्यलम् । अन्यत्र वत्सरमात्रं सामान्यत उक्तम्— गुरुता शिष्यता वापि तयोर्वत्सरवासतः । इति ।

सारसंग्रहेऽपि— सद्गुरुः संश्रितां शिष्यं वर्षमेकं परीक्षयेत् । इति ।

के चन इदं ब्राह्मणविषयमित्यूचुः । दशपटल्यान्तु—

अब्दं परीक्ष्य चार्द्धं वा अन्यथा न कदाचन । इति ।

प्रयोगसारे तु— वर्षेषु त्रिषु विप्रस्य षट्सु वर्षेषु भूभृतः ।
विंशो नवसु वर्षेषु परीक्षा तत्र शस्यते ॥
समास्वपि द्वादशसु तेषां ये वृषलादयः । इति ।

सिद्धान्तसारसंग्रहे विशेषः—

यथोक्तां दक्षिणां दद्याद् ब्राह्मणः क्षत्रियस्तथा ।
द्विगुणां वैश्यवर्यस्तु त्रिगुणां शूद्रसत्तमः ।
चतुर्गुणां प्रयच्छेत मन्त्रसिद्धिविधीच्छया ॥ इति ॥ १५३ ॥

॥ इति श्रीराघवभट्टविरचित-शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां द्वितीयः पटलः ॥ २ ॥



गुरु शिष्य की परीक्षा करे । एक वर्ष तक ब्राह्मण शिष्य के योग्य हो जाता है, दो वर्ष में क्षत्रिय, तीन वर्ष में वैश्य और शूद्र चार वर्ष में शिष्यत्व के योग्य हो जाता है । बहुत क्या ? जो शुश्रूषा करने में तत्पर हो उसे दीक्षा, यज्ञ एवं व्रतादि कार्यों में शिष्यता के लिये ग्रहण कर लेना चाहिए ॥ १५३ ॥

॥ इस प्रकार शारदातिलक के द्वितीय पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २ ॥



अथ तृतीयः पटलः

अथ दीक्षाङ्गनिर्णय प्रकरणम्

ततो वक्ष्यामि दीक्षाङ्गं वास्तुयागपुरःसरम् ।
कृतेन येन मन्त्रज्ञो दीक्षायाः फलमश्नुते ॥ १ ॥

एवं पूर्वोक्तरीतिप्रपञ्चितस्वरूपसर्वपुरुषार्थप्रदमन्त्रस्य ग्रहणोपायौ दीक्षा । तां वक्तुं तदङ्गभूतवास्तुयागादिकं प्रपञ्चयितुं प्रतिजानीते—तत इति । 'अङ्गापूर्वसहकृतं प्रधानापूर्वं फलं साधनक्षमं जनयति' इति भट्टन्यायमाश्रित्याह—कृतेनेति । तत्र प्रसङ्गादन्यत् किञ्चिद् दीक्षाङ्गं तन्त्रान्तरोक्तमुच्यते—

असिद्धिर्भूमिसम्पत्तिर्मरणं बन्धु(बुद्धि)नाशनम् ।
आयुर्वद्धिः प्रजानाशः सम्पत्ती रत्नसञ्चयः ॥
शुभ(पुत्र)प्राप्तिः स्थाननाशो मेधार्थञ्च वशीकृतिः ।
चैत्रादीनां फलं ज्ञेयं मलमासन्तु वर्जयेत् ॥

अन्यत्र तु आषाढस्यापि सम्यक्फलतोक्ता—

वैशाखपूर्वजे मासे मन्त्रारम्भः सुदुःसहः (दुःखकृत्) ।
वैशाखे धनदायी च ज्येष्ठे मृत्युप्रदो भवेत् ॥
आषाढे पुत्रलाभाया श्रावणे शुभदो मतः ।
भाद्रे चैव ज्ञानहानिस्तथा सद्भिः प्रकीर्त्तिता ॥
आश्विने सर्वसिद्धिश्च कार्त्तिके ज्ञानसिद्धिदः ।
शुभकृन्मार्गशीर्षे स्यात् पौषो दुःखविधायकः ।
माघे मेधाविवृद्धिश्च फाल्गुने सर्ववश्यता ॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरे तु विशेषः—

शरत्काले च वैशाखे दीक्षा श्रेष्ठफलप्रदा ।
फाल्गुने मार्गशीर्षे च ज्यैष्ठे दीक्षा तु मध्यमा ॥
आषाढे श्रावणे माघे कनिष्ठा सद्भिरीरिता ।
निन्दितश्चैत्रमासस्तु पौषो भाद्रपदस्तथा ।
निन्दितेष्वपि मासेषु दीक्षोक्ता ग्रहणे शुभा ॥ इति ।

तत्राषाढस्य उत्तमानन्तर्गतत्वान्निषेधः कष्टानन्तर्गतत्वाच्च ग्रहणम् । एवं ज्यैष्ठस्यापि निषेध उत्तमानन्तर्भावादेवेति ज्ञेयम् । तथा च कालोत्तरे—

शरद्वसन्तयोर्योगो दीक्षाकर्मविधौ स्मृतः ।
तयोरसम्भवे वर्षां विनाऽन्यत्र प्रशस्यते ॥ इति ।

क्रियाकाण्डशेखरेऽपि—न विना पर्व दीक्षा स्याद् वर्षासु मधुपौषयोः । इति ।

आषाढश्रावणनिषेध उत्तममध्यमानन्तर्भावात् ।

कारणे— आषाढपूर्वमासे च आषाढे मार्गशीर्षके ।
दीक्षां न कारयेद्धीमानन्यमासे तु कारयेत् ॥ इति ।

मार्गशीर्षनिषेध उत्तमानन्तर्भावादेवेति ज्ञेयम् । अगस्त्यसंहितायाम्—

शुक्लपक्षेऽथ कृष्णे वा दीक्षा सर्वशुभावहा । इति ।

कालोत्तरं तु— भूतिकामैः सिते मुक्तिकामैस्तु कृष्णपक्षके । इति विशेषः ।

संहितायाम्— पूर्णिमा पञ्चमी चैव द्वितीया सप्तमी तथा ।
त्रयोदशी च दशमी प्रशस्ता सर्वकामदाः ॥ इति ।

अन्यत्र तु— कृष्णाष्टभ्यां चतुर्दश्यां पञ्चपर्वदिनेऽथवा । इति ।

मन्त्रसारसंग्रहेऽपि— द्वितीया पञ्चमी वापि षष्ठी वापि विशेषतः ।
द्वादश्यामपि कर्त्तव्यं त्रयोदश्यामथापि वा ॥ इति ।

मन्त्ररत्नावल्यान्तु— चतुर्थीं नवमीं षष्ठीमष्टमीञ्च चतुर्दशीम् ।
पौर्णमासीं विना शेषा हिता उक्ता मुमुक्षुषु ॥ इति ।

तत्त्वसागरसंहितायान्तु—तां तां तिथिं समालोच्य तद्भक्तांस्तत्र दीक्षयेत् ।

इन्द्रः— कस्य का तिथिरुद्दिष्टा विशेषाद् वद नारद ।

नारदः— ब्रह्मणः पौर्णमास्युक्ता द्वादशी चक्रधारिणः ।
चतुर्दशी शिवस्योक्ता वाचः प्रोक्ता त्रयोदशी ॥
द्वितीया तु श्रियः प्रोक्ता पार्वत्याश्च तृतीयिका ।
चतुर्थी गणनाथस्य भानोः प्रोक्ता तु सप्तमी ।
नित्या मार्गेषु पार्वत्या अष्टमी च चतुर्दशी ॥ इति ।

विष्णुदीक्षायां पञ्चरात्रे तु विशेषः—द्वादश्यां शुल्कपक्षस्य सूर्यसंक्रमणे तथा । इति ।
संक्रमा विष्णुपदिव्यतिरिक्ताः । कालोत्तरे च—

दिनच्छिद्राणि मुक्त्वा च याश्च स्युस्त्रिदिनस्पृशः । इति ।

रत्नावल्यान्तु— आदित्यं मङ्गलं सौरिं त्यक्त्वा वारांस्तु भूतये । इति ।

संहितायाम्—रवौ गुरौ सिते सोमे कर्त्तव्यं बुधशुक्रयोः । इति । सिते पक्षे इत्यर्थः ।

अन्यत्र— उत्तरात्रयरोहिण्यो रेवती पुष्यवासवम् ।
धनिष्ठा वायुमित्राश्विपित्र्यं त्वाष्ट्रञ्च नैर्ऋतम् ।
ऐशवैष्णवहस्ताश्च दीक्षायान्तु शुभावहाः ॥ इति ।

वासवं ज्येष्ठा । वायुः स्वाती । मित्रम् अनुराधा । अश्वि अश्विनी । पित्र्यं मघा । त्वाष्ट्रं चित्रा । नैर्ऋतं मूला । ऐशम् आर्द्रा । वैष्णवं श्रवणम् ।

संहितायामपि— अश्विनीरोहिणीस्वातीविशाखाहस्तभेषु च ।
ज्येष्ठोत्तरात्रयेष्वेवं कुर्यान्मन्त्राभिषेचनम् ॥ इति ।

रत्नावल्याम्— त्रीण्युत्तराणि रोहिण्यः पुष्यकं मृगशीर्षकम् ।
हस्ता स्वातिरनुराधा मघा मूलश्च रेवती ॥
अभिजित् श्रवणश्च । इति ।

कारणे च— पौष्णं रोहिण्यथादित्यं श्रवणश्चाश्विनी तथा ।
सावित्रं त्वाष्ट्रवायव्यमैन्द्रं नैर्ऋतमेव च ॥
तिष्यं त्रिरुत्तरार्द्रा च सौम्यं शिष्यत्रिजन्मभम् ।
नक्षत्राणि प्रशस्तानि दीक्षाकर्मणि सुव्रते ॥ इति ।

पौष्णं रेवती । आदित्यं पुनर्वसु । सावित्रं हस्ता । सौम्यं मृगः ।

नीलतन्त्रेऽपि— रोहिणी श्रवणार्द्रा च धनिष्ठा उत्तरात्रयम् ।
पुष्यः शतभिषा चैव दीक्षानक्षत्रमुच्यते ॥ इति ।

रत्नावल्यान्तु— प्रतिपत् पूर्वाषाढा च पञ्चमी कृत्तिका तथा ।
पूर्वभाद्रपदा षष्ठी दशमी रोहिणी तथा ॥
द्वादशी सार्पनक्षत्रमर्यम्णा च त्रयोदशी ।
नक्षत्रलुप्ता इत्येते देवानामपि नाशकाः ॥ इति ।

अन्यद् वारादिसंयोगात् तिथिनक्षत्रदुष्टत्वं ज्योतिःशास्त्रादवसेयम् ।

तथा— शुभयोगेषु सर्वेषु दीक्षा सर्वशुभप्रदा । इति ।

रत्नावल्याम्— योगाश्च प्रीतिरायुष्मान् सौभाग्यः शोभनः शुभः ।
सुकर्मा च धृतिर्वृद्धिर्ध्रुवः सिद्धिश्च हर्षणः ॥
वरीयांश्च शिवः सिद्धो ब्रह्मा ऐन्द्रश्च षोडश । इति ।

तथा— शुभानि करणान्याहुर्दीक्षायाञ्च विशेषतः ।
शकुन्यादीनि विष्टिञ्च विशेषेण विवर्जयेत् ॥ इति ।

संहितायाम्— पञ्चाङ्गशुद्धिदिवसे स्वोदये तिथिवारयोः ।
गुरुशुक्रोदये शुद्धलग्ने द्वादशशोधिते ॥
प्रवृद्धे वलसंयुक्ते शुक्रे देवगुरौ तथा ।
शुभे विधुसमायोगे शुभवर्गे शुभोदये ।
इत्यादौ सर्वमन्त्राणां संग्रहः सर्वसौख्यकृत् ॥ इति ।

तथा च ज्योतिःशास्त्रे—नीचस्थे वक्रसंस्थेऽप्यतिचरणगते वालबृद्धेऽस्तगे वा
सन्न्यासो देवयात्रा व्रतनियमविधिः कर्णवेधश्च दीक्षा ।
मौञ्जीवन्धो गणानां परिणयनविधिर्वास्तुदेवप्रतिष्ठा
वर्ज्याः सद्भिः प्रयत्नात् त्रिदशपतिगुरौ सिंहराशिस्थिते च ॥ इति।

तथा— चरः सर्वैं र्विवर्ज्यः स्यात् स्थिरराशिषु सौख्यदा ।
त्रिषडायगताः पापाः शुभाः(सौम्याः)केन्द्रत्रिकोणगाः ।
दीक्षायान्तु शुभाः प्रोक्ता रन्ध्रस्थाः सर्वनाशकाः ॥ इति ।

आय एकादशस्थानम् । केन्द्रेत्यनेन प्रथमचतुर्थसप्तमदशमस्थानानि । त्रिकोणेति पञ्चमनवमस्थाने । रन्ध्रम् अष्टमस्थानम् ।

तथा— शिष्यत्रिजन्मदिवसे संक्रान्तौ विषुवेऽयने ।
अन्येषु पुण्ययोगेषु ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।
शिष्यानुकूले काले वा देहशुद्धिः शुभावहा ॥ इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—एतन्नक्षत्रतिथ्यादौ करणे योगवासरे ।
मन्त्रोपदेशो गुरुणा साधनञ्च शुभावहम् ॥ इति ।

क्रियाकाण्डशेखरेऽपि तिथ्यादिसर्वमुक्त्वोक्तम्—

इत्यादिनिपुणं वीक्ष्य दीक्षां कुर्वीत देशिकः ।
मौमुक्षवीं प्रत्ययं न कालादिनियमः स्मृतः ॥ इति ।

रत्नावल्याञ्च— निन्द्यानि तानि सर्वाणि प्रशस्तानि विमुक्तये । इति ।

एतच्च वक्ष्यमाणाग्निचक्रमवलोक्य दिनं कर्त्तव्यमिति ।

अपवादोऽपि— शशिदिनकरयोर्ग्रहणे जन्मनि शिष्यस्य मकरसंक्रान्तौ ।
करुणासमये च गुरोः नक्षत्रादीष्यते न दीक्षायाम् ॥ इति ।

तथा— शिष्यजन्मदिवसेषु संक्रमे प्रग्रहे शशिदिनेशयोरपि ।
पुण्ययोगयुजि वा शुभे नृणां मन्त्रसिद्धिरभिधीयते परा ॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—विषुवेऽप्ययनद्वन्द्वे आषाढ्यां (संक्रान्त्यां) दम(दम)नोत्सवे ।
दीक्षा कार्या तु कालेषु पवित्रारोपकर्मणि ॥ इति ।

कालोत्तरे च— दीक्षायामभिषेके च तथा मन्त्रपरिग्रहे ।
व्रतग्रहणमोक्षे च द्रव्यारम्भणकर्मणि ॥
कार्त्तिक्याञ्चैव वैशाख्यां स्वर्भानोरपि दर्शने ।
चन्द्रसूर्योपरागे च षडशीतिमुखेषु च ॥
ग्रहनक्षत्रयोगेषु विषुवेषुत्सवेषु च ।
अयनेषु च सर्वेषु योगः सर्वार्थसिद्धिदः ॥ इति ।

रुद्रयामलेऽपि—सत्तीर्थेऽर्कविधुग्रासे तं तु दामनपर्वणोः ।
मन्त्रदीक्षां प्रकुर्वाणो मासर्क्षादीन् न शोधयेत् ॥ इति ।

अगस्त्यसंहितायाञ्च—सूर्यग्रहणकाले तु नान्यदन्वेषितं भवेत् ।
सूर्यग्रहणकालेन समोऽन्यो नास्ति कश्चन ॥
तत्र यद्यत्कृतं सर्वमनन्तफलदं भवेत् ।
न मासतिथिवारादिशोधनं सूर्यपर्वणि ॥
ददातीष्टं गृहीतं यत् तस्मिन् काले गुरोर्नृषु ।
सिद्धिर्भवति मन्त्रस्य विनायासेन वेगतः ॥
कर्त्तव्यं सर्वयत्नेन मन्त्रसिद्धिमभीप्सुभिः ॥ इति ।

तथान्यत्रापि— पुण्यतीर्थे कुरुक्षेत्रे देवीपीठचतुष्टये ।
प्रयागे श्रीगुरौ काश्यां कालाकालं न शोधयेत् ॥ इति ।

तत्त्वसागरसंहितायाम्—तिथिं विनापि दीक्षायां विशिष्टावसरं शृणु ।
दुर्लभे सद्गुरुणान्तु सकृत्सङ्ग उपस्थिते ॥
तदनुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावसरो महान् ।
ग्रामे वा यदिवाऽरण्ये क्षेत्रे वा दिवसे निशि ।
आगच्छति गुरुर्दैवाद् यदा दीक्षा तदा भवेत् ॥ इति ।

तथा— यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरोराज्ञानुरूपतः ।
नि तिथिर्न व्रतं होमो न स्नानं न जपक्रिया ।
दीक्षायाः कारणं किन्तु स्वेच्छावाप्ते तु सद्गुरौ ॥ इति ॥ १ ॥

अब मैं वास्तुयाग के सहित दीक्षाङ्ग को कहता हूँ । जिसके करने से मन्त्रवेत्ता को दीक्षा का फल प्राप्त होता है ॥ १ ॥

विमर्श—इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से प्रतिपादित स्वरूप वाले सभी पुरुषार्थ को देने वाले मन्त्र के ग्रहण एवं उपाय को दीक्षा कहते हैं । उस दीक्षा के विभिन्न अंगों का विवेचन यहाँ इस पटल में किया गया है ।

वास्तुयागोत्पत्तिः

राक्षसं वास्तुनामानं हत्वाऽधिष्ठाय तत्तनुम् ।
स्थितास्त्रिपञ्चाशद्देवास्तेभ्यः पूर्वं बलिं हरेत् ॥ २ ॥

वास्तुयागोत्पत्तिमाह राक्षसमिति । हत्वेति । यदुक्तम्—
कश्यपस्य गृहिणी तु सिंहिका राहुवास्तुतनयावजीजनत् ।
पूर्वजो हरिनिकृत्तकन्धरो दैवतैरवरजो निपातितः ॥ इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—पूर्वमासीन्महानुग्रः सर्वभूतभयङ्करः ।
सदेवैर्निहतो भूमौ स वास्तुपुरुषः स्मृतः ॥
यावद् भूमिः स्थिरा लोके तावद् वास्त्वसुरः स्थितः ।
संहारे तु लयं याति देवैः सर्वग्रहादिभिः ॥
विस्तारोऽस्य समन्ताच्च शतकोटिस्तु योजनः ।
संस्थितोऽसौ धरां व्याप्य प्रोक्तानः कृष्णवर्णकः ॥
जानुकूर्परकौ वास्तोर्वह्निवायुप्रकोष्ठगौ ।
पितृपादपुटश्चायमीशमूर्द्धा हृदञ्जलिः ॥
ऊर्द्धकेशः सुपीनश्च वर्त्तुलाक्षोऽसुराकृतिः ॥ इति ।

अन्यत्राधोमुखतोक्ता । वास्त्वीशनामा ह्यसुरोऽतिकायो देवैः पुरा दत्तवरोऽभिपूज्यः ।
शेते स भूम्यां प्रविसार्य पादौ हस्तौ तथाऽधोवदनः सदैव ॥
ईशानेऽस्य शिरो निवेशितमभूद्वास्तोष्पते र्मारुते
वह्नौ चापि करद्वयं पदयुगं नक्तञ्चराशास्थितम् । इति ।

वास्तुस्वरूपमाहान्यत्र—अन्धकासुरसंग्रामे पुरा क्रुद्धस्य शूलिनः ।
अपतत् स्वेदपानीयं ललाटाद् भुवि भीषणम् ॥

सोमशम्भुना तु व्यवस्थोक्ता—आकुञ्चितकरं वास्तुमुत्तानमसुराकृतिम् ।
स्मरेत् पूजासु कुड्यादिनिवेशे त्वधराननम् ॥
जानुनी कूर्परासक्ते दिशि वातहुताशयोः ।
पैत्र्यां पादपुटौ रौद्र्यां शिरोऽस्य हृदयेऽञ्जलिः ॥ इति।

स्थिता इति पुनरुत्थानशङ्कया । तदुक्तं महाकपिलपञ्चरात्रे—

सर्वान् देवास्तु कार्येषु पूजयेद् वास्तुसंस्थितान् ।
तेनाऽसौ वर्त्तते नो चेत् उत्तिष्ठेन्माधवाज्ञया ॥ इति ।

तेभ्यः पूर्वं वलिं हरेदिति ।

तदुक्तम्— ततश्च तेषां ये पूजाविमुखास्तैः कृतानि तु ।
सुकृतानि समादद्युर्दुष्कृतानि च कुर्वते ॥
ततस्तेषामर्चयन्तु प्रत्यब्दं कुर्वतां सताम् ।
शुभान्येवाशु जायन्ते नैवाऽशुभकथापि च ॥ इति ।

मयेनाप्युक्तम्— गृहादिकरणे यत्र नार्चितो वास्तुदैवतः ।
तत्र शून्यं भवेत् सर्वं रक्षोविघ्नादिभिर्हतम् ॥
तस्माद्वास्त्वर्चनं कार्य सम्यक् सम्पदमीप्सुभिः ॥ इति ।

तथा च— शुभकर्मणि दीक्षायां मण्डपकरणे गृहादिविधिषु तथा ।
विहितो वास्तुबलिः स्याद्रक्षोविघ्नोपशान्तिसम्पद्भ्यः ॥ इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रेपि—भूमेः परिग्रहे पूर्वं शिलानां स्थापने तथा ।
जलाधारगृहार्थञ्च यजेद्वास्तुं विशेषतः ॥
अपरेष्वपि कार्येषु यागहोमादिकेषु च ।
वास्तुमण्डलकं कुर्यात् सूत्रयित्वा समं गुरुः ॥
सुसमं सुखदं वास्तु विषमं न सुखावहम् ।
ब्रह्माद्यदितिपर्यन्ताः पञ्चाशत् त्रयसंयुताः ॥
सर्वेषां किल वास्तूनां नायकाः परिकीर्त्तिताः ।
असंपूज्य(गृह्य)हि तान् सर्वान् प्रासादादीन् न कारयेत् ॥
अनिष्पत्तिर्विनाशः स्यादुभयोर्धर्मधर्मिणोः । इति ॥ २ ॥

दीक्षा कर्म में वास्तु नामक राक्षस के शरीर को आक्रान्त कर जो ५३ देवता स्थित हैं, सर्वप्रथम उन्हें बलिदान करना चाहिए ॥ २ ॥

वास्तुबलिमण्डलम्

बलिमण्डलमेतेषां यथावदभिधीयते ।
पूर्वापरायतं सूत्रं विन्यसेदुक्तमानतः ॥ ३ ॥

यथावत् साकल्येन मण्डलार्थं चतुःषष्टि कोष्ठोत्पादनमाह पूर्वेति । विन्यसेदिति। 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' इत्यसौ भौवादिकस्य प्रयोगः । उक्तमानतः । उक्तं वास्तुशास्त्रे यन्मानं तेन मानेन इत्यर्थः । क्वचिद्धस्तमानत इति पाठः । महाकपिलपञ्चरात्रे तु विशेषः—

गृहप्रासादकूपानां मण्डपस्य जलस्य च ।
वास्तुमण्डलकं कार्यमष्टहस्तन्तु नापरम् ॥ इति ॥ ३ ॥

अब इन देवताओं के बलिमण्डल के लिये ६४ कोष्ठक की रचना का प्रकार कहते हैं । सर्वप्रथम पूर्व से पश्चिम की ओर, वास्तुशास्त्र में कहे गये प्रमाण के अनुसार रेखा खींचे ॥ ३ ॥

तन्मध्यं किञ्चिदालब्य मत्स्यौ द्वौ परितो लिखेत् ।
तयोर्मध्ये स्थितं सूत्रं विन्यसेद् दक्षिणोत्तरम् ॥ ४ ॥

तन्मध्यमिति । तस्य मध्यं किञ्चिदालम्ब्या मध्यात् किञ्चिदधिकं चिह्नमालम्ब्येत्यर्थः । कुत इत्यपेक्षायां सूत्राग्रादिति शेषः । एवं परित उभयतः उत्तरदक्षिणयोः प्राचीसूत्रस्येति शेषः । मत्स्यौ द्वौ चिह्नद्वयं सम्पादयेत् । तत्र प्रकारः। प्राचीसूत्रप्रागग्रे सूत्रादिं निधाय मध्यचिह्नात् सूत्राग्रं भ्रामयेत् । एवमपराग्रादपि । तत एको मत्स्यः । एवमपरत्रापीति द्वितीयो मत्स्यः । तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे—

सोमसूत्रप्रसिद्ध्यर्थं सूत्राग्रभ्रमणं ततः ।
प्रागङ्के प्रत्यगङ्के च हस्तं दत्त्वा समाचरेत् ॥
उदग्दक्षिणगो मत्स्यो रेखायां जायते क्रमात् ।
शफरस्य मुखे पुच्छे मध्यचिह्ने प्रसारितम् ॥
समन्तात् सोमसूत्रं स्यात् । इति ॥ ४ ॥

द्वाभ्यां द्वाभ्यां तथाऽग्राभ्यां कोणेषु मकरान् लिखेत् ।
मत्स्यमध्ये स्थिताग्राणि तत्र सूत्राणि पातयेत् ॥ ५ ॥

द्वाभ्यामिति । तत्र द्वाभ्यां द्वाभ्याम् अग्राभ्यामेकैको मत्स्यः तथा पूर्ववत् । तद्यथा। प्राचीसूत्रार्द्धमितेन प्राचीसूत्राग्रस्थितेन सूत्रेण ईशे आग्नेये चार्द्धचन्द्रं कुर्यात् । ततस्तेनैव सूत्रेण उत्तरसूत्राग्रस्थितेन ईशे वायव्ये चार्द्धचन्द्रं कुर्यात् । एवमीशे मत्स्य उत्पन्नः । तथा पूर्ववत् तत्सूत्रेण पश्चिमाग्रस्थितेन वायव्ये नैर्ऋत्ये चार्द्धचन्द्रं कुर्यात् एवं वायव्ये मत्स्य उत्पन्नः । तत् सूत्रेण पश्चिमाग्रस्थितेन वायव्ये नैर्ऋत्ये चार्द्धचन्द्रं कुर्यात् एवं वायव्ये मत्स्य उत्पन्नः । तत्सूत्रेण दक्षिणाग्रस्थितेन नैर्ऋत्ये आग्नेये अर्द्धचन्द्रं कुर्यात् । तत उभयत्रापि मत्स्यद्वयं जायते । तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे—

क्षेत्रार्द्धमानसूत्रेण दिक्षु चिह्नं समालिखेत् ।
दिक्षु चिह्नं समाश्रित्य कोणेष्वङ्कान् समालिखेत् ।
क्षेत्रार्द्धमानसूत्रेण प्रतिलोमानुलोमतः ॥ इति ।

एवं मत्स्यचतुष्के जाते तन्मध्यमाग्रं सूत्रचतुष्कं दद्यादित्याह मत्स्येत्यादि ॥ ५ ॥

चतुरस्त्रं भवेत्तत्र चतुःकोष्ठसमन्वितम् ।
तत् पुनर्विभजेन्मन्त्री चतुःषष्टिपदं यथा ॥ ६ ॥

चतुरस्त्रमिति वास्तुशरीरस्य चतुरस्त्रत्वात् । तदुक्तम्—

चतुस्त्राकृतिः कश्चिदसुरः सर्वनाशकः । इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—देवैः स वास्तुपुरुषः स्थापितश्चतुरस्त्रकः । इति ।

आचार्या अपि—चतुरस्त्रसंस्थितिरसौ । इति ।

प्रयोगसारेऽपि—ज्ञेयः स वास्तुपुरुषश्चतुरस्त्रसंस्थः । इति ।

चतुष्कोष्ठसमन्वितमिति । चतुरस्त्रमध्ये अधश्च कोणचतुष्के वहिः कोष्ठ-चतुष्कमपरं गुरुगणेशदुर्गाक्षेत्रेशपूजनार्थमुक्तम् । तदिति । यथाचतुःषष्टिपदं भवेत् तथा तद् विभजेदित्यन्वयः ॥ ६ ॥

फिर प्राची सूत्र के मध्यभाग से उत्तर और दक्षिण की ओर सूत्र घुमा कर दो चिन्ह बनावें । उसके मध्य में स्थित सूत्र को दक्षिण से उत्तर को मिला देवे । पूर्व की ओर दिये गये चिन्ह से ईशान और आग्नेय की ओर एक एक चिन्ह लगावे । फिर उसी सूत्र से उत्तर की ओर दिये गये चिन्ह में ईशान और वायव्य में चिन्ह लगावें । ऐसा करने से ईशान में एक रेखा बन जायेगी । इसी प्रकार पश्चिम की रेखा के वायव्य और नैर्ऋत्य में एक एक बिन्दु लगावे । ऐसा करने से वायव्य में एक रेखा बन जायेगी । फिर दक्षिण की रेखा में नैर्ऋत्य और आग्नेय में चिन्ह लगावे । इस प्रकार दोनों को मिला दे तो चतुष्कोण तैयार हो जायगा । फिर उसके मध्य में दोनों ओर से एक समान रेखा खींच देनी चाहिए । ऐसा करने से आठ कोष्ठक तैयार हो जायगा । इसी प्रकार रेखाओं के विभाग के माध्यम से ६४ कोष्ठकों का निर्माण करना चाहिए ॥ ४-६ ॥

ईशानाद्रक्षसो यावद् यावदग्नेः प्रभञ्जनः।
एवं सूत्रद्वयं दद्यात् कर्णसूत्रं समाहितः॥ ७ ॥

ईशानादिति । प्रभञ्जनो वायुस्तद्दैवत्यः कोणस्तच्छब्दवाच्यः तं यावत् । एवं कर्णसूत्रं कर्णसूत्रसंज्ञकं सूत्रद्वयं दद्यात् । शिल्पशास्त्रे कोणसूत्रस्य कर्णसूत्रमिति संज्ञा। समाहित इति काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र सम्बद्ध्यते । तत्र समाहितः सावधानो मन्त्री सम्प्रदायेन मन्त्रशास्त्राभिज्ञः पूर्वापरायतं सूत्रं विन्यसेदित्यादि सप्तसु क्रियासु कर्त्तृत्वेनान्वेति । अन्ते उपाकृतत्वात् । तत्र चतुःषष्टिकोष्ठोत्पादनप्रकारो यथा—चतुर्षु कोष्ठेषु कोणसूत्रचतुष्टयमन्यद्दद्यात् । तन्मध्योत्पन्नमत्स्येषु पूर्वापरायते द्वे सूत्रे दक्षिणोत्तरायते च द्वे सूत्रे पातयेत् । एवं षोडशकोष्ठानि सम्पद्यन्ते । ततः चतुर्षु कोणकोष्ठेषु पुनः कर्णसूत्रचतुष्टयं दद्यात् । तदुत्पन्नमत्स्येषु पूर्वापरायते द्वे दक्षिणोत्तरायते द्वे च सूत्रे पातयेत् । एवञ्च कृते मध्यकोष्ठद्वये मत्स्या उत्पन्नाः तेषु मत्स्येषु द्वे सूत्रे प्रागपरायते द्वे दक्षिणोत्तरायते च दद्यात् । एवं चतुःषष्टिकोष्ठानि सम्पद्यन्ते ।

तत्र ग्रन्थान्तरोक्त— कर्णसूत्रद्वयातिरिक्तकर्णसूत्राणि मार्जयेत् ।

तत्र ईशानशिवोक्तो विशेषः—

पूज्याश्चतुःषष्टिपदेषु विप्रैरेकोत्तराशीपदे नृपाद्यैः । इति ।

हयशीर्षपञ्चरात्रे तु—एकाशीतिपदं वास्तु गृहकर्मणि शस्यते ।
चतुःषष्टिपदं वास्तु प्रासादेषु प्रशस्यते ॥ इति ।

सोमशम्भावपि— कुर्यात् कोष्ठचतुःषष्टि प्रासादे वास्तुमण्डलम् ।
गृहेऽपि वर्त्तयेद् वास्तुं किन्त्वेकाशीतिकोष्ठकैः ॥ इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रे—प्रासादार्थं चतुःषष्टिरेकाशीतिगृहे तथा । इति ।

तथाऽन्यत्रापि— एकाशीतिपदं कृत्वा वास्तुञ्चैव गृहादिषु ।
चतुःषष्टिपदो वास्तुः प्रासादे ब्रह्मणा स्मृतः ॥
इत्युक्त्वा मण्डपान् प्रवरान् वक्ष्ये प्रासादस्यानुरूपतः ।
इत्युक्तम् तेनाति देशिकमण्डपे इदं वास्तुमण्डलम् ॥ ७ ॥

फिर ईशान से नैऋत्य तक एक रेखा और आग्नेयकोण से वायव्य कोण पर्यन्त एक रेखा सावधानी के साथ खींचे । इस प्रकार चतुर्भुज के दो दो कोनों को मिलाने से कर्णसूत्र बनता है ॥ ७ ॥

ब्रह्मादिवास्तुदेवतानामानि

ब्रह्माणं पूजयेदादौ मध्ये कोष्ठचतुष्टये ।
दिक्चतुष्केषु पूर्वादि यजेदार्यमनन्तरम् ॥ ८ ॥
विवस्वन्तं ततो मित्रं महीधरमतः परम् ।

ब्रह्माणमिति । समाहित इति आदौ मध्ये कोष्ठचतुष्टये ब्रह्माणं पूजयेदिति सम्बन्धः । कोष्ठचतुष्टये एकाकारेण मार्जिते इत्यर्थः । तत्र पद्मं विलिखेत् । तदुक्तं महाकपिलपञ्चरात्रे—पञ्चविंशत्पदे मध्ये ब्रह्माणन्त्वर्चयेत् कजे । इति ।

कादिमतेऽपि— सर्वमध्ये यजेत् सम्यक् ब्रह्माणं कमलासनम् ।
हेमाभञ्च चतुर्वक्त्रं वेदाध्ययनशालिनम् ॥ इति ।

आदाविति सरस्वतीसाहित्यमुक्तम् । समाहित इत्यनेनैतदुक्तं भवति । पूर्वं पीठमभ्यर्च्य पश्चात् तत्र ब्रह्माणं पूजयेदिति । तत्र मण्डूकादिपरतत्त्वान्तं सम्पूज्य अणिमादि सर्वसिद्ध्यन्ता नव पीठशक्तीः सम्पूज्य । ॐ सर्वज्ञानक्रियाव्यक्तकमलासनाय योगपीठाय नमः इति पीठमन्त्रः । ॐ नमो ब्रह्मणे इति मूलमन्त्रः । प्रजापतिः ऋषिः । पंक्तिश्छन्दः। ब्रह्मा देवता । अक्षरैरङ्गानि । अक्षस्रक्स्रुव(क्)—दण्डकमण्डलुधरो ब्रह्मा ध्येयः । अणिमादीनां ध्यानमुक्तं कुलप्रकाशतन्त्रे—

सिन्धुरस्थाऽणिमा पूज्या पीतवर्णा चतुर्भुजा ।
वरवज्रधरा दक्षे वामेऽभयनिधानभृत् ॥
महिमां महिषारूढां पूजयेत् कज्ज्वलप्रभाम् ।
दण्डाभयधरां वामे दक्षे शक्त्यक्षमालिनीम् ॥
नक्रस्था लघिमा श्यामा पूजनीया चतुर्भुजा ।
नागपाशधरा दक्षे तद्वामेऽभयवारिजे ॥
कनकाद्रिनिभा पूज्या कूर्मस्था गरिमा तथा ।
गदावरधरा दक्षे वामेऽभयनिधानभृत् ॥
पूज्या प्रेतगता नीलविद्युत्पुञ्जनिभेशिता ।
वरखड्गधरा दक्षे वामे साभयकर्त्तृका ॥

पूज्या या वशिता धूम्रा मृगस्था सा चतुर्भुजा ।
सारविन्दध्वजा दक्षे वामे वरसरोजिनी ॥
छागलस्थाऽतिरक्ताङ्गी स्यात् पूजायां प्रकामता ।
शक्त्यक्षमालिनी दक्षे वामे सवरकुण्डिका ॥
पूजनीया वृषारूढा प्राप्तिस्तुहिनसन्निभा ।
सत्रि(शक्ति)शूलवरा दक्षे वामे साभयवारिजा ॥
सर्वसिद्धिः पद्मरागप्रभा पूज्या चतुर्भुजा ।
साक्षमालारविन्दा च बीजपूरसरोजिनी ॥ इति ।

दिगिति । दिक्चतुष्केषु पूर्वादि यजेत् । प्रादक्षिण्येनेति शेषः । कोष्ठचतुष्टये इदमत्राऽप्यन्वेति । एकाकारेण मार्जिते इत्यर्थः । तेन आर्यः पूर्वदिशि विवस्वान् दक्षिणदिशि मित्रः पश्चिमदिशि महीधरः उत्तरदिशि पूज्यः । तदुक्तमाचार्यैः—

प्राग्याभ्यवारुणोदग्दिक्कोष्ठचतुःपदेषु समभियजेत् । इति ॥ ८ ॥

सर्वप्रथम मध्य के चार कोष्ठकों में ब्रह्मा की पूजा करे ।

विमर्श—परन्तु उससे भी पहले 'सर्वज्ञानक्रियाव्यक्त कमलासनाय योगपीठाय नम:' इस मन्त्र से योगपीठ की पूजा कर तदनन्तर 'ॐ नमो ब्रह्मणे' इस मूल मन्त्र से ब्रह्मदेव की पूजा करें ॥ ८ ॥

फिर उसके पूर्वादि दिशाओं के चार कोष्ठकों में क्रमश: पूर्व में आर्य, दक्षिण दिशा में विवस्वान्, पश्चिम दिशा में मित्र और उत्तर दिशा में महीधर की पूजा करे ॥ ८-९ ॥

कोणार्द्धकोष्ठद्वन्द्वेषु वह्न्यादिपरितः पुनः ॥ ९ ॥
सावित्रं सवितारञ्च शक्रमिन्द्रजयं पुनः ।
रुद्रं रुद्रजयं विद्वानापं चाऽप्यापवत्सकम् ॥ १० ॥

कोणेति । कोणे ब्रह्मपदस्य कोणभागे अर्द्धे अधऊर्द्धकोष्ठे । कर्णसूत्रेण भेदितत्वात् । यत्र तदर्द्धकोष्ठं तस्य द्वन्द्वानि तेषु वह्न्यादि आग्नेयादि उपरिकोष्ठे सावित्रं अधःकोष्ठे सवितारं यजेत् । परित इति चतुर्दिक्षु । तदुक्तम्—

सोमशम्भुना— मध्ये नवपदो ब्रह्मा शेषास्तु पदिकाः स्मृताः ।
षट्पदास्तु मरीच्याद्या दिक्षु पूर्वादिषु क्रमात् ।
अष्टौ कोणाधिपास्तत्र कोणार्द्धेष्वष्टसु स्थिताः ॥ इति ।

अत्र यद्यपि उपर्यधो वेतिपदं नास्ति तथापि महाकपिलपञ्चरात्रोक्तवास्तु-शरीरावस्थितिनिरुपणेनोपरिक्रमो लभ्यते । तद् यथा—

मस्तके संस्थितो रुद्रः कर्णयोस्तस्य संस्थितौ ।
पर्ज्जन्यश्चादितिश्चैव मुखे चापः सुसंस्थितः ॥
आपवत्सः स्थितः कण्ठे जयन्तश्च दितिः पुनः ।
स्कन्धयोः पञ्चार्गलाद्या महेन्द्राद्या भुजद्वये ॥

वक्ष:स्थौ रुद्रसावित्रौ दासस्तु सविता तथा ।
हस्तौ तु हृद्गतौ तस्य ब्रह्मा नाभौ व्यवस्थितः ॥
पृथ्वीधरो मरीचिश्च स्तनयोः कुक्षिगौ पुनः ।
विवस्वान् मित्रनामा च पादयोः पितरः स्थिताः ॥
पापाद्याश्चैव पूषाद्याः सप्त सप्तोरुजङ्घके ।
इन्द्रो मेढ्रे स्थितस्तस्य जयो वृषणसंस्थितः ॥ इति ।

रुद्र ईशानः । दासो रुद्रजयः । पृथ्वीधरो महीधरः । मरीचिरार्यः । पितरः निर्ऋतिः । पापो रोगः । इन्द्रः शक्रः । इति ज्ञेयम् ।

यदुक्तम्— ईशश्चेशानरुद्रोऽसौ तज्जयो रुद्रदासकः ।
मरीचिरार्यकः ख्यातः पिता स्याद्राक्षसाधिपः ॥
पापो रोग इति ख्यातः । इति ।

अन्यत्रापि— धातृवह्नी समाश्रित्य कृत्वा चाधः पदत्रयम् ।
सावित्रमर्चयेत्तत्र पदे वासवसंज्ञके ॥
विधिसावित्रयोर्मध्ये सवितारं पदत्र(द्व)ये ।
आश्रित्य पितृधातारौ कृत्वा चाधः पदत्र(द्व)यम् ॥
यजेदिन्द्रं महाभागं पदे लोकसुसंज्ञके ।
तथा चेन्द्रजयः पूज्यो ब्रह्मशक्रसुमध्यगः ॥
आश्रित्य वायुधातारौ कृत्वा चाधः पदत्रयम् ।
तत्र देवं यजेद्रुद्रं पदे भुवनसंज्ञके ॥
तथेशवेधसोर्मध्ये तज्जयञ्च पदत्रये ।
ऐशान्यामापकं कामपदत्रयसुसंस्थितम् ॥
तदापवेधसोर्मध्ये यजेद् वत्सं पदत्रये ॥ इति ।

सोमशम्भावपि— सावित्रे रक्तपुष्पाणि वह्न्यधः कोणकोष्ठके ।
तदधःकोष्ठके दद्यात् सवित्रे च कुशोदकम् ॥
हरिद्रौदनमिन्द्राय रक्षोऽधःकोणकोष्ठके ।
इन्द्रजयाय मिष्टान्नमिन्द्राधस्तान्निवेदयेत् ॥
रुद्राय घृतसिद्धान्नं वायुकोणाधरे पदे ।
तदधो रुद्रजयाय मांसमार्द्रं निवेदयेत् ॥
आपोऽथ शिवकोणाधस्तद्वत्साय च तत्तले । इति ॥

अग्रे तत्कर्णसूत्रोभयतः इति कर्णसूत्रस्य प्रयोजनत्वादत्र कोणार्द्ध-कोष्ठेत्युक्तम् ॥ ९-१० ॥

तदनन्तर विद्वान् साधक ब्रह्मा से आग्नेय कोण में जहाँ कर्ण रेखा खींची गई हैं उसके आधे ऊपर वाले कोष्ठ में सावित्र की, नीचे वाले कोष्ठ में सविता की, नैऋत्य में ऊपर एवं नीचे के क्रम से शक्र, इन्द्रजय की एवं पुनः वायव्य कोण में रुद्र एवं रुद्रजय की, पुनः ईशान कोण में आप और आपवत्स की पूजा करे ॥ ९-१० ॥

तत्कर्णसूत्रोभयतः कोष्ठद्वन्द्वेषु देशिकः ।
शर्वं गुहं चार्यमणं जृम्भकं पिलपिच्छकम् ॥ ११ ॥
चरकीञ्च विदारीञ्च पूतनामर्चयेत् क्रमात् ।
अर्चयेद् दिक्षु पूर्वादि सार्द्धाद्यन्तपदेष्विमान् ॥ १२ ॥
अष्टावष्टौ विभागेन देवान् देशिकसत्तमः ।
क्रमादीशानपर्जन्यजयन्ताः शक्रभास्करौ ॥ १३ ॥
सत्यो वृषान्तरिक्षौ च दिशि प्राच्यामवस्थिताः ।
अग्निः पूषा च वितथो यमश्च गृहरक्षकः ॥ १४ ॥
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगो दक्षिणदिग्गताः ।
निर्ऋति दौवारिकश्च सुग्रीववरुणौ ततः ॥ १५ ॥
पुष्पदन्तासुरौ शे(शो)षरोगौ प्रत्यग्दिशि स्थिताः ।
वायुर्नागश्च मुख्यश्च सोमो भल्लाट एव च ।
अर्गलाख्यो दित्यदिती कुवेरस्य दिशि स्थिताः ॥ १६ ॥

तदिति । दिशत्युपदिशति शिष्येभ्यो मन्त्रानिति देशिको मान्त्रिकः ।

सर्वत्र क्रमादिति वह्न्यादिपरितः इति क्रमोऽनुसन्धेयः । सार्द्धाद्यन्तेति । अर्द्धे च ते आद्यन्ते च अर्द्धाद्यन्ते अर्द्धाद्यन्ताभ्यां सह वर्त्तमानानि यानि पदानि तेषु । इदञ्च कर्णसूत्रेणाऽर्द्धीकृतकोणकोष्ठतो लभ्यते ॥ ११-१६ ॥

पुनः कर्णसूत्र के दोनों ओर दोनों कोष्ठकों में (ऊपर एवं अधः भाग में) स्वयं आयार्य शर्व, गुह, अर्यमा, जृम्भक, पिलपिच्छक, चरकी विदारी, और पूतना की क्रमशः पूजा करे ॥ ११-१२ ॥

पुनः पूर्वादि चारों दिशाओं में आदि के आधे भाग से लेकर (क्योंकि पूर्वादि दिशाओं के प्रथम कोष्ठ पर कर्ण सूत्र से दो भाग हो जाते हैं । इसी प्रकार अन्त में भी कर्ण सूत्र में दो भाग होने से अन्त के कोष्ठ में भी दो भाग हो जाते हैं) अन्त के आधे पर्यन्त आठ कोष्ठकों में आठ आठ के विभाग से आचार्य पूर्व दिशा में स्थित १. ईशान, २. पर्जन्य, ३. जयन्त, ४. शक्र, ५. भास्कर, ६. सत्य, ७. वृष एवं ८. अन्तरिक्ष—इन आठ देवताओं की पूजा करे ॥ १२-१४॥

तदनन्तर दक्षिण दिशा में रहने वाले १. अग्नि, २. पूषा, ३. वितथ, ४. यम, ५. गृहरक्षक, ६. गन्धर्व, ७. भृङ्गराज, एवं ८. मृग—इन देवताओं की पूजा करे ॥ १४-१५ ॥

पुनः पश्चिम दिशा में स्थित १. निर्ऋति, २. दौवारिक, ३. सुग्रीव, ४. वरुण, ५. पुष्पदन्त, ६. असुर, ७. शेष और ८. रोग—इन आठ देवताओं की पूजा करे । पुनः कुबेर की दिशा में (उत्तर) में रहने वाले १. वायु, २. नाग, ३.

मुख्य, ४. सोम, ५. भल्लाठ, ६. अर्गल, ७. दिति और ८. अदिति—इन आठ देवताओं की पूजा करे ॥ १५-१६ ॥

वास्तुबलिविधानम्

उक्तानामपि देवानां पदान्यापूर्वपञ्चभिः ।
रजोभिस्तेष्वथैतेभ्यः पायसान्नैर्बलिं हरेत् ॥ १७ ॥
अयं वास्तुबलिः प्रोक्तः सर्वसम्पत् समृद्धिदः ॥ १८ ॥

बलिविधानमाह उक्तानामिति । पञ्चमी रजोभिः सर्वतोभद्रमण्डले वक्ष्यमाणैः। तत्र कमलानि वक्ष्यमाणप्रकारेणैव पूरयेत् । तत्र मध्यपद्मं श्वेतमन्यानि रक्तानि । तदुक्तं दिव्यसारस्वते—मध्ये पदानां नवकं मार्जयित्वा प्रपूरयेत् ।

सितेन रजसा भूयस्तद्दिक्षु च चतसृषु ॥
षट्कं सम्मार्ज्य रजसा रक्तेन परिपूरयेत् ।
शिष्टानि च पदान्यत्र यथास्थानं प्रकल्पयेत् ॥
विचित्राणि ततो मध्ये ब्रह्माणं संप्रपूजयेत् ॥ इति ।

पदसीमारेखाः श्वेताः पदानि च विचित्राणि । वास्तुदेवानां ध्यानं तन्त्रान्तरोक्तं लिख्यते—

उक्तानां सर्वदेवानां स्वरूपञ्च निगद्यते ।
अक्षमालां स्रुचं(वं)दक्षे वामे दण्डकमण्डलुम् ॥
दधानमष्टनयनं यजेन्मध्येऽम्बुजासनम् ।
सर्वे चतुर्भुजा देवा वास्तुदेहे व्यवस्थिताः ॥
कृताञ्जलिपुटाः सर्वे खड्गखेटकपाणयः ।
ब्रह्माणं संनिरीक्षन्ते तद्वक्त्राभिमुखाश्च ते ॥
स्वस्वस्थाने स्थिताश्चैव साधारणमुदाहृतम् ।
मरीचिः श्वेतवर्णः स्याद् विवस्वान् रक्त(अभ्र)वर्णकः ॥
शातकुम्भसमो(नभो)मित्रः कृष्णवर्णस्तु भूधरः ।
सविता नीलवर्णाभः सावित्रो धूम्रविग्रहः ॥
इन्द्रश्चारुणवर्णाभः शुक्लश्चेन्द्रजयस्तथा ।
रुद्रः प्रवालसदृशः पीतो रुद्रयस्तथा ॥
आपो गोक्षीरधवल आपवत्सो जपाद्युतिः ।
ईशानः क्षीरधवलः पर्जन्योऽञ्जनसन्निभः ॥
जयन्तोऽञ्जनसङ्काशो महेन्द्रश्चाः(श्या)मलद्युतिः ।
आदित्यो रक्तवर्णः स्यात् सत्यकश्चित्रवर्णकः ॥
वृषो वन्धूकपुष्पाभः कुन्दाभश्चान्तरिक्षकः ।
उद्यद्दिनकराभोऽग्निः पूषा रक्ताब्जसन्निभः ॥
वितथश्चेन्द्रचापाभो विद्युद्वर्णो गृहक्षतः ।
यमश्चाञ्जनसङ्काशो गन्धर्वः पद्मरागवत् ॥
भृङ्गराजश्च भृङ्गाभो मृगो जीमूतसन्निभः ।
निर्ऋतिः पावकाभश्च पीतो दौवारिकः स्मृतः ॥
सग्रीवो नीलकण्ठाभश्चन्द्राभः पुष्पदन्तकः ।

वरुणः स्फटिकभाङ्गो भृङ्गाभश्चासुरो मतः ॥
शे(शो)षश्चोत्पलसङ्काशः पापयक्ष्मे(रोगश्चैवे)न्द्रनीलवत् ।
वायुः कृष्णाभवर्णः स्यान्नागः शङ्खेन्दुसन्निभः ॥
मुख्यो मौक्तिकसङ्काशो भल्लाटः श्वेतपद्मवत् ।
सोमः स्फटिकसङ्काशोऽर्गलो रक्तोत्पलद्युतिः ॥
दितिः कुन्देन्दुधवला कपिला चादितिः स्मृता ।
चरकी शङ्खसदृशी विदारी पावकद्युतिः ॥
पूतना हिमसङ्काशा मेघाभा पिलपिच्छिका ।
खड्गञ्च पानपात्रञ्च छुरिकां कर्त्तरीं तथा ॥
दधाना भीमरूपास्ता राक्षस्यः परिकीर्त्तिताः ।
सितो रक्तश्च पीतश्च कृष्णः स्कन्दादिका ग्रहाः ॥
वज्रं शक्तिञ्च खड्गञ्च पाशञ्च विकृताननाः ।
दधाना भीषणाः प्रोक्ता ग्रहाः स्कन्दादिकाश्च ते ॥ इति ।

अष्टादशरेखा नाडीत्वेन तत्तद्देवतात्वेन च ध्येयाः ।

तदुक्तम्— लक्ष्मी यशोवती कान्ता सुप्रिया सुकला शिवा ।
सुभगा सुमुखी नन्दा नाड्यः प्राचीमुखोद्गताः ॥
धन्या प्राणा विशाला च स्थिरा भद्रा जया निशा ।
विरजा विभवा चैता नाड्यः सौम्यमुखाः स्मृताः ॥ इति ।

पायसान्नैरिति बहुवचनमाद्यर्थम् । तेन वक्ष्यमाणानि लाजादिद्रव्याणि संगृहीतानि । तत्र प्रतिदैवतं बलिद्रव्यभेदा मन्त्राश्चोक्ताः महाकपिलपञ्चरात्रे—

पायसौदनलाजैश्च युक्तं धूपैः प्रसूनकैः ।
अक्षतं तिलसंयुक्तं माषभक्तादिमण्डितम् ।
गृहणेमं बलिं ब्रह्मन् वास्तुदोषं प्रणाशय ॥
गन्धादिशर्करापूपं पायसोपरि संस्थितम् ।
आर्यकाख्य गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय ॥
चन्दनाद्यर्चितं नाथ कर्पूरागुरुमण्डितम् ।
विवस्वन् वै गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय ॥
सगुडं पायसं नाथ पुष्पादिसुसमन्वितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं मित्र शान्तिं प्रयच्छ मे ॥
माषौदनं समांसञ्च गन्धादिक्षीरसंयुतम् ।
गृहाणेमं महीभृत् त्वं सर्वदोषं प्रणाशय ॥

एवमन्तर्बलिं दत्त्वा सर्वेषामन्येषां यद्यप्यर्चा आग्नेयादि तथापि ईशानादि बलिं दद्यात्। वचनानुरोधात् । वचनं यथा—

ईशादिदक्षिणावर्त्तो बलिः सामान्यभाषितः ।
सर्वेषां खलु वस्तूनां विशेषः पदनिर्णये ॥ इति ।

अन्यत्र पूजापि ईशाद्ये चोक्ता ।

ईशकोणादिषु सुरान् पूजयेच्च विधानतः । इति ।

अन्यत्रापि— ईशानादिचतुष्कोणसंस्थितान् पूजयेद् बुधः । इति ।

तथा— क्षीरं खण्डसमायुक्तं पुष्पादिभिरलङ्कृतम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यमाप शान्तिं प्रयच्छ मे ॥
दधीदं गुडसंमिश्रं गन्धादिवस्तुमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं वत्स विघ्नमत्र प्रणाशय ॥
पुष्पादिकुशपानीयं कर्पूरागुरुवासितम् ।
सावित्र वै गृहाणेमं शान्तिमत्र प्रयच्छ मे ॥
पिष्टकं सगुडं नाथ रक्तगन्धादिशोभितम् ।
गृहाणेमं बलिं सूर्य विघ्नमत्र प्रणाशय ॥
शीतमन्नं तथा पुष्पं कुङ्कुमादिसमन्वितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं शक्रदेव नमोऽस्तु ते ॥
ओदनं घृतसंयुक्तं वस्त्रगन्धादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यमिन्द्रजय नमोऽस्तु ते ॥
पक्वापक्वमिदं मांसं वस्त्रपुष्पादिसंयुतम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं रुद्रदेव नमाम्यहम् ॥
हृन्मांसं(समांसं) सघृतं पक्वं गन्धपुष्पादिसंयुतम् ।
गृहाणेमं बलिं रुद्रजय स्वस्ति प्रयच्छ मे ॥
रक्तपुष्पं समांसं वै रक्तवस्त्रादिसंयुतम् ।
विदारि वै गृहाणेमं रक्षोविघ्नं विनाशय ॥
पित्तं रक्तास्थिसंयुक्तं रक्तगन्धादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं पापे (पूतने त्वं) रक्षोविघ्नं प्रणाशय ॥
सघृतं माष(मांस) भक्तञ्च वस्त्रगन्धाद्यलङ्कृतम् ।
बलिं गृहाण शर्वेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय ॥
मांसं पुष्पादिसंयुक्तं माषभक्तोपशोभितम् ।
गृहाणेमं बलिं स्कन्द रक्षोविघ्नं प्रणाशय ॥
श्वमांस (सुरसं) पिष्टकैर्युक्तं पक्वमांसोदकान्वितम् ।
अर्यमन् वै गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय ॥
रक्तमांसौदनं मत्स्यं गन्धधूपसमन्वितम् ।
जृम्भक त्वं गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय ॥
छागकर्णान्वितं मांसं वस्त्रगन्धादिसंयुतम् ।
पिलिपिच्छ गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय ॥
घृतेन साधितं मांसं वस्त्रगन्धादिसंयुतम् ।
चरकि वै गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय ॥
सघृतं चाक्षतान्नञ्च वस्त्रगन्धाद्यलङ्कृतम् ।
गृहाणेमं बलिन्त्वांश वास्तुदोषापहारकम् ॥
उत्पलं पायसैर्युक्तं वस्त्रादिकसमन्वितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं देव(मेघ)राज नमोऽस्तु ते ॥

पञ्चहस्तं सुपीतञ्च ध्वजं भक्तादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं जिष्णुसुत नमोऽस्तु ते ॥
ओदनं घृतसम्पूर्णं पञ्चरत्नादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं (देव) देवराज नमोऽस्तु ते ॥
रक्तपुष्पयुतं भक्तं रक्तगन्धादिभिर्यतम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं भास्कर त्वं नमोऽस्तु ते ॥
वितानं धूम्रवर्णाभं गन्धादिकसुशोभितम् ।
वस्त्रयुक्तं (रक्तपुष्पं) गृहाणेमं बलिं सत्य नमोऽस्तु ते ॥
इदन्तु मांसभक्तं वै वस्त्रगन्धादिपूजितम् ।
गृहाणेमं वृष बलिं वास्तुदोषं प्रणाशय ॥
इदन्तु शाद्वलं मांसं नैवेद्यादिसुसंयुतम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं व्योम शान्तिं प्रयच्छ मे ॥
सुवर्णं पिष्टकञ्चाथ वस्त्रगन्धादिभिर्यतम् ।
घृतान्वितं गृहाणेमं सप्तजिह्व नमोऽस्तु ते ॥
क्षीरं लाजसमायुक्तं रक्तपुष्पादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं पूषदेव नमोऽस्तु ते ॥
दधिगन्धादिभिर्युक्तं पीतपुष्पसमन्वितम् ।
बलिं वितथ गृहणेमं विघ्नमत्र प्रणाशय ॥
भक्तं मधुप्लुतं चैणं रक्तवस्त्रादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं यमदेव नमोऽस्तु ते ॥
पक्वमांसौदनं नवनीतं वस्त्रादिमण्डितम् ।
प्रीतिकरं गृहाणेमं गृहरक्ष नमोऽस्तु ते ॥
नानागन्धसमायुक्तं रक्तपुष्पादिभिर्युतम् ।
बलिं गृहाण गन्धर्व सर्वदोषं प्रणाशय ॥
इमान्तु शाकुनीं जिह्वां माषभक्तोपरिस्थिताम् ।
गृहाणेमं बलिं भृङ्गराज शान्तिं प्रयच्छ मे ॥
यवं घृततिलोपेतं गन्धपुष्पादिसंयुतम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं मृगदेव नमोऽस्तु ते ॥
शर्करासंयुतं खण्डं वस्त्रगन्धादिमण्डितम् ।
प्रीति बलिं गृहाणेमं रक्षोराज नमोऽस्तु ते ॥
चन्दनागुरुकाष्ठञ्च गन्धपुष्पादिभिर्युतम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं दौवारिक नमोऽस्तु ते ॥
इदन्तु पायसं नाथ गन्धपुष्पादिमण्डितम् ।
सुग्रीव वै गृहाणेमं बलिं शान्तिं प्रयच्छ मे ॥
यवा(ग्राणि)न्नानि च गोदुग्धं भक्तोपरि सुरोपितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं जलराज नमोऽस्तु ते ॥
माषभ(यु)क्तं कुशस्तम्बं घृतगन्धादिसंयुतम् ।
पुष्पदन्त गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय ॥
मधुना साधितं पिष्टं गन्धाद्यैरुपशोभितम् ।

बलिं गृहाणासुरेन्द्र सर्वदोषं प्रणाशय ॥
घृतश्चाऽन्नसमायुक्तं कर्पूरादिसुवासितम् ।
गृहाणेमं बलिं शेष(शोष)सर्वशान्तिं प्रयच्छ मे ॥
यवजं तण्डुलं नाथ गन्धपुष्पादिशोभितम् ।
गृहाणेमं बलिं रोग सर्वदोषं प्रणाशय ॥
सघृतं मण्डक(मोदक)श्चेदमन्नाद्यैरुपशोभितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं मृगवाह नमोऽस्तु ते ॥
इदञ्च कृशरं चान्नं पुष्पगन्धादिमण्डितम् ।
पातालेश गृहाणेमं विघ्नमत्र प्रणश्यतु ॥
नारिकेलोदकं भक्तं पीतवस्त्रादिसंयुतम् ।
गृहाणेमं बलिं मुख्य वास्तुदोषं प्रणाशय ॥
पायसं मधुना मिश्रं नानापूजो(पीतपुष्पो)पशोभितम् ।
गृहाणेमं बलिं सोम सर्वदोषं प्रणाशय ॥
ओदनं घृतसंमिश्रं गन्धपुष्पसमन्वितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं भल्लाट त्वं नमोऽस्तु ते ॥
माषान्नञ्च घृताभ्यक्तं पुष्पगन्धादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यमर्गलाख्य नमोऽस्तु ते ॥
क्षीरं खण्डसमायुक्तं नानापूजो(पुष्पो)पशोभितम् ।
दैत्यमातर्गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय ॥
पोलिकां मधुसंयुक्तां गन्धवस्त्रादिसंयुताम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं देवमातर्नमोऽस्तु ते ॥
स्वर्गपातालमर्त्येषु ये देवा वास्तुसम्भवाः ।
गृह्णन्त्वमुं बलिं हृद्यं तुष्टा यान्तु स्वमन्दिरम् ॥
मातरो भूतवेताला ये चान्ये बलिकांक्षिणः ।
विष्णोः परिषदा ये च तेऽपि गृहणन्त्विमं बलिम् ॥
पितृभ्यः क्षेत्रपालेभ्यो बलिं दत्त्वा प्रकामतः ।
अभावादुक्तमार्गस्य कुशपुष्पादिभिर्यजेत् ॥ इति ।

सर्वसम्पदित्यनेन दिशां बलिरप्युक्तः । तदुक्तं प्रयोगसारे—

वास्तुशेष क्रियाभूतः सर्वरक्षाविभूतिकृत् ।
भूतप्रीतिप्रदश्चाऽस्मिन् दिशां बलिरुदीर्यते ॥
दिक्पालपरिषत्सर्वभूतानुद्दिश्य नामभिः ।
पूजा विसर्जनान्तो यः स विज्ञेयो दिशां बलिः ॥
दध्यम्बुरजनीपुष्पलाजशक्तुतिलान्धसा ।
द्रव्येण वितरेद्दिक्षु बलिं दिक्क्रमयोगतः ॥
सुराणां तेजसाञ्चैव प्रेतानां (प्रजानां)रक्षसामपि ।
तथा जलानां प्राणानां नक्षत्राणाञ्च यत् पुनः ॥
विद्यानामधिपानाञ्च तान्यथोक्त्वा(क्तान्)बलिं हरेत् ।
सवाहनपदं प्रोक्त्वा परिवाराय शक्तये ॥

तत्पार्षदेभ्यश्च ततः सर्वेभ्य इति संयुतम् ।
भूतेभ्यश्च क्रमाद्भूयः प्रादक्षिण्यात् क्षिपेद्बलिम् ॥
द्विषत्पिशाचवेतालरक्षोरक्षाभयार्त्तिहा ।
दिशां बलिर्विशेषेण सर्वसम्पत्समृद्धिदः ॥
वास्तौ गेहे प्ररोहे(प्रद्रोहे) भूतद्रोहे गृहप्रवेशे च ।
वितते च शान्तिहोमे दिशां बलिः सिद्धये प्रयोक्तव्यः ॥ इति।

तत्र यथोपदेशं प्रयोगो लिख्यते । अथ यजमान आचार्यं वृणुयात् । तत आचार्यो वक्ष्यमाणलक्षणां भूमिं परिगृह्य वक्ष्यमाणमार्गेण तच्छुद्धिं विधाय पञ्च-ब्रह्मभिः पञ्चगव्यैर्भूमिं सिञ्चेत् । तन्मध्ये कनकशलाकया रत्नेन वा तदभावे रजत-फलपुष्पधान्यानामन्यतमेन वा—

शान्ता यशोवती कान्ता विशाला प्राणवाहिनी ।
सती च सुमना नन्दा सुभद्रा नवमी मता ॥

इति नव रेखाः प्रागपरायताः दक्षिणोपक्रमा उदगपवर्गा विलिख्य—

हिरण्या सुव्रता लक्ष्मीर्विभूतिर्विमला प्रिया ।
जया कला विशोका च नवमी संस्मृता बुधैः ॥

इति नव रेखा दक्षिणोत्तरायताः पश्चिमोपक्रमाः पूर्वसमाप्तिका विलिख्य ततः शुल्कडोरकादिना ताः सम्यक्निर्माय पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चरजोभिर्मण्डितं पूर्वोक्त-कोणकोष्ठचतुष्टयोपेतं विचित्रं मण्डलं रचयेत् । तत्पश्चिमदिशि हस्तमात्रं त्रिमेखलं कुण्डं स्थण्डिलं वा विदध्यात् । ततो बहिः कोणकोष्ठस्थान् गुरुगणेशदुर्गाक्षेत्रपालान् चतुष्पदं नाभिगं ब्रह्माणं तत्पूर्वदिशि चतुष्पदं वामस्तनगमार्यकम् इत्यादि अर्द्धपद-गामदितिं कर्णगामित्यन्तं पूर्वोक्ततत्तत्पदतदङ्गस्थितान् त्रिपञ्चाशद्देवान् पदार्थानुसमयेन ब्रह्मन् इहागच्छ इह तिष्ठेति सर्वानावाह्य प्रणवादिनमोऽन्तेन चतुर्थ्यन्तस्वस्वनाममन्त्रेण पाद्यादिभिरुपचारैः प्रपूजयेत् । ततो मण्डलादीशानकोणे अव्रणमकृष्टमूलं बहि-र्दध्यक्षतविभूषितं चूताश्वत्थन्यग्रोधोडुम्बरप्लक्षपल्लवसंच्छन्नमुखं वस्त्रयुगान्वितम् अन्तर्निक्षिप्तपञ्चरत्नविविधफलं निर्मलजलपूर्णं दृढं कलसम् अक्षतानामुपरि स्थापयेत्। तत इमं मे वरुण इति वरुणगायत्र्या वरुणं कलसे न्यसेत्।

गङ्गाद्याः सरितः सर्वाः समुद्राश्च सरांसि च ।
आयान्तु यजमानस्य दुरितक्षयकारकाः ॥

इत्यनेन तीर्थान्यावाह्य अश्वस्थानगजस्थानवल्मीकनदीसङ्गमह्रदगोकुलरथ्यातः सप्त-मृत्तिका आनीय कलसे निक्षिप्य 'वं वरुणाय नमः' इति मन्त्रेण तत्र कलसे पञ्चोपचारैः वरुणं पूजयेत् । ततः—

मुरा मांसी वचा कुष्टं शैलेयं रजनीद्वयम् । शटी चम्पकमुस्तञ्च इति सर्वौषधीश्च प्रक्षिपेत् । ततः कुण्डादिसमीपमेत्य संस्कारादि अग्निमुखान्तं कर्म कृत्वा ब्रह्मादित्रिपञ्चाशद्देवेभ्यः अष्टोत्तरसहस्रमष्टोत्तरशतमष्टाविंशतिमष्टौ वा प्रत्येकं यवैर्वा कृष्णतिलैर्वा उदुम्बरतदतिरिक्तक्षीरवृक्षीयपालाशखदिरापामार्ग कुशदूर्वाणामन्यतम-समिद्भिः वा आहुतीर्जुहुयात् । केचित्तु ब्रह्मण आहुतिशतं अन्येषां दशदशाहुतय

इत्याहुः । तत ॐ वास्तोष्पतये नमः अनेन वैदिकैर्वा तल्लिङ्गैः पञ्चमन्त्रैः पञ्चविल्वफलानि विल्वबीजानि वा जुहुयात् । तत उत्तरतन्त्रं समाप्य वौषडन्तेनाऽग्निमन्त्रेण वरुणमन्त्रेण वा पूर्णाहुतिं हुत्वा तन्त्रोक्तद्रव्यैः तत्तन्मन्त्रैश्च त्रिपञ्चाशद्देवताभ्यो बलिं दत्त्वा दिशां बलिञ्च विधाय आचार्यः प्रत्यङ्गमुखो भूत्वा प्राङ्मुखं साध्यं शान्तिकलसोदकेन—ॐ सुरास्त्वामभिषिञ्चन्तु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।

इत्यादिभिः वशिष्ठसंहितोक्तमन्त्रैः वैदिकैश्च मन्त्रैः मङ्गलाभिषेकं कृत्वा सर्वौषधिजलैः स्नापयेत् । तत आचार्यः पुनः ब्रह्मादिदेवान् पञ्चोपचारैः सम्पूज्य ततः—

यान्तु देवगणाः सर्वे पूजामादाय पार्थिवीम् ।
इष्टकामप्रसिद्ध्यर्थं पुनरागमनाय च ॥

इति पठेत् । ततः शिष्य आचार्याय दक्षिणां दद्यात् । तत आचार्यो मण्डपस्य पश्चिमभागे स्थण्डिलं कृत्वा तस्मिन् साध्यं संस्थाप्य सुदर्शनेनाऽघोरेण वा तं सकलीकृत्य स्वयमपि तन्मूर्त्तिर्भूत्वा रक्तोष्णीषवस्त्रोत्तरीय माल्यचन्दनादिनाऽलङ्कृत्य साध्यस्य दक्षिणे भागे उदङ्मुखः स्थित्वा सौवर्णराजतताम्रादीनामन्यतमं पात्रमादाय तत्र तान् ब्रह्मादिदेवतानिवेदित पिण्डान् यथास्थानं निधाय तत्तद्देवताश्च वास्तुपुरुषेण सार्द्धं तत्रैव संस्थाप्य प्रत्येकं पिण्डेषु घृतदीपं निधाय रक्तपुष्पैरलङ्कृत्य साध्यं सम्प्रोक्ष्य तत्पात्रं कराभ्यामादाय—

भूतानि यानीह वसन्ति तानि बलिं गृहीत्वा विधिवत् प्रयुक्तम् ।
अन्यत्र वासं परिकल्पयन्तु क्षमन्तु तान्यत्र नमोऽस्तु तेभ्यः ॥

इति मन्त्रेण साध्यं नीराज्य अन्यस्मिन् पात्रे आढकपरिमितं रक्तोदकं भूतक्रूरञ्च निष्पाद्य तत्रापि नव दीपान् निधाय तेन नीराज्य खड्गपाणिः स्वयं खड्गहस्तैरनेकैः परिवृतो दीपिकाशतैश्च परिवृतः पञ्चविधवाद्यघोष स्वस्तिसूक्तसंघुष्ट दिग्भागः चत्वरं महावृक्षमूलं वा तडागनदीदेवालयानामन्यतमदेशं गत्वा तत्र स्थण्डिलं गोमयेनोपलिप्य प्राङ्मुखस्तत्तद्देवताः संस्थाप्य पिण्डानपि तत्र तत्र निधाय चतुर्दिक्षु भूतक्रूरेण पूर्वोक्तमन्त्रेण बलिदानं कृत्वा रक्तोदकं तत्र निःक्षिप्य प्रदक्षिणं परिक्रम्य प्रक्षालितपाणिपादनयनः पुनः पुनरपश्यन्नेव तत्सर्वं परिवारान् । अग्रतः प्रस्थाप्य स्वयं ध्याननिष्ठः सन् साध्यं समागत्य तस्य रक्षां कुर्यात् । इति मुख्यप्रकारः ।

यदाहुः— वास्तूपशमनं कुर्यात् समिद्भिर्बलिकर्मणा ।
होमस्त्रिमेखले कार्यः कुण्डे हस्तप्रमाणके ॥
यवैः कृष्णतिलैस्तद्वत् समिद्भिः क्षीरवृक्षजैः ।
पालाशैः खादिरैर्वाऽपामार्गोडुम्बरसम्भवैः ॥
कुशदूर्वामयैर्वापि मधुसर्पिः समन्वितैः ।
कार्यस्तु पञ्चभिर्विल्वैर्विल्वबीजैरथापि वा ॥
होमान्ते भक्ष्यभोज्यैश्च वास्तुदेशे बलिं हरेत् ।
तत्तद्विशेषनैवेद्यमिदं दद्यात् क्रमेण तु ॥ इत्यादिना ।

अन्यत्राऽस्य प्रत्यब्दं कालविशेषे कर्त्तव्यतोक्ता । यदाहुः—
एवं सिंहगते भानौ पूर्णायां प्रतिवत्सरम् ।
स्वगेहे वास्तुपूजाया मण्डले सहुतक्रमात् ॥

एवं विदधतो गेहे नाऽकल्याणं कदाचन ॥
अकाल(आवाल)मरणं व्याधिभूतप्रेतादिकानि च ।
न सर्पपीडा नान्योन्यकलहान्यशुभानि च ॥
पुत्रपौत्रधनारोग्यपशुदासीसमृद्धिभाक् ।
अरोगी विजयी ख्यातश्चिरं जीवति तद्गृहे ॥
राजवेश्मसु सर्वत्र तथा च महिषीगृहे ।
सचिवामात्य सेनानीभवनेषु पुरे तथा ॥
विदध्यात् प्रतिवर्षन्तु प्रोक्तसिद्ध्यै तु देशिकः ।
न चेदुक्तान्यथारूपफलैः क्लेशोऽनिशं भवेत् ॥ इति ॥ १७-१८ ॥

इन ऊपर कहे गये ६४ देवताओं के कोष्ठकों को पचरंगे रंग से रँग देवे । पुनः इनके लिये पायस की बलि प्रदान करे ॥ १७ ॥

इस प्रकार उक्त देवताओं के उद्‌देश्य से दी गई यह बलि, संपूर्ण संपत्तियों की समृद्धि प्रदान करती है ॥ १८ ॥

विमर्श—यही (reflectance irrespective of the rank of coal) कोष्ठकों के रँगने का प्रकार, प्रत्येक देवताओं के लिये समर्पित की जाने वाली बलि प्रदान की वस्तु तथा मन्त्र आदि कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में तथा आचार्यों से जानना चाहिये यहाँ विस्तार के भय से तथा मूल में निर्दिष्ट न होने से हम उल्लेख नहीं करते ।

मण्डपनिर्माणि देशकालनिरूपणम्

नक्षत्रराशिवाराणामनुकूले शुभेऽहनि ।
ततो भूमितले शुद्धे तुषाङ्गारविवर्जिते ॥ १९ ॥

मण्डपमाह नक्षत्रेति । ज्योतिःशास्त्रसमुक्तप्रकारेण नक्षत्रराशिवाराणां मध्ये साध्यानुकूलनक्षत्रे साध्यानुकूलराशौ अनुकूलवारे शुभेऽहनि ज्योतिःशास्त्रसमुक्त-शुभतिथौ ततो मण्डपं रचयेदिति सम्बन्धः । तथा च राजमार्त्तण्डे—

आदित्यद्वयरोहिणीमृगशिरोहस्ताधनिष्ठोत्तरा-
पुष्याविष्णुमघानुराधपवनैः शुद्धैः सुतारान्वितैः ।
सौम्यानां दिवसेषु पापरहिते योगे विरिक्ते तिथौ
विष्टित्यक्तदिने वदन्ति मुनयो वेश्मादिकार्यं शुभम् ॥ इति ।

भूमितले शुद्धे इति । तत्र भूमिपरीक्षोक्ता महाकपिलपञ्चरात्रे—

तत्र भूमिं परीक्षेत वास्तुज्ञानविशारदः ।
स्फुटिता च सशल्या च वल्मिका रोहिणी तथा ॥
दूरतः परिवर्ज्या भूः कर्त्तुरायुर्धनापहा ।
स्फुटिता मरणं कुर्यादूषरा धननाशिनी ॥
सशल्या क्लेशदा नित्यं विषमा शत्रुतो भयम् ।
ईशकोणप्लवा सा च कर्त्तुः श्रीदा सुनिश्चितम् ॥

पूर्वप्लवा वृद्धिकरी वरदा(बलदा)तूत्तरप्लवा ।
विद्वेषं मरणं व्याधिं कुर्याद् वह्निप्लवा मही ॥
या दक्षिणप्लवा(धर्मराजप्लवा)भूमिर्नित्यं मृत्युभयप्रदा ।
गृहक्षयकरी सा च भूमिर्या नैर्ऋतप्लवा ॥
धनहानिकरी पृथ्वी कीर्त्तिता वरुणप्लवा ।
वातप्लवा तथा भूमिर्नित्यमुद्वेगकारिणी ॥
श्वेता तु ब्राह्मणी पृथ्वी रक्ता वै क्षत्रिया स्मृता ।
वैश्या पीता च विज्ञेया कृष्णा शूद्रा प्रकीर्त्तिता ॥
ब्राह्मणी घृतगन्धा स्यात् क्षत्रिया रक्त(रस)गन्धकृत् ।
क्षीरगन्धा भवेद् वैश्या शूद्रा विड्गन्धिनी क्षितिः ॥
मधुरा ब्राह्मणी भूमिः कषाया क्षत्रिया स्मृता ।
वैश्या तिक्ताऽथ विज्ञेया शूद्रा स्यात् कटुका मही ॥
ब्राह्मणी भूः कुशोपेता क्षत्रिया स्याच्छराकुला ।
कुशकाशाकुला वैश्या शूद्रा सर्वतृणाकुला ॥
सिता पीता तथा रक्ता कृष्णवर्णसमन्विता ।
स्थिरोदका दृढा स्निग्धा भूमिः सर्वसुखावहा ॥
शीतस्पर्शोष्णकाले च वह्निस्पर्शा हिमागमे ।
वर्षासु चोभयस्पर्शा सा शुभा परिकीर्त्तिता ॥ इति ।

हयशीर्षपञ्चरात्रेपि—सुरभीणां रतिर्यत्र सवत्सानां वृषैः सह ।
सुन्दरीणां रतिर्यत्र पुरुषैः सह सत्तम ॥
काश्मीरचन्दनामोद कर्पूरागुरुगन्धिनी ।
कमलोत्पलगन्धा च जातिचम्पकगन्धिनी ॥
पाटलामल्लिकागन्धा नागकेशरगन्धिनी ।
दधिक्षीराज्यगन्धा च मदिरासवगन्धिनी ॥
सुगन्धिव्रीहिगन्धा च शुभगन्धयुता च या ।
सर्वेषामेव वर्णानां भूमिः साधारणी मता ॥ इति ।

तथा— ज्ञात्वा भूमिं परीक्षेत पूर्वोदक्प्लवनां शुभाम् ।
असङ्कटां तथाच्छन्नां तृणैस्तोयपरिप्लुताम् ॥
संपूर्यमाणे खाते तु तथाऽधिकमृदां शुभाम् ।
कुसुमप्रकरस्तद्वत् यस्याममम्लानिमृच्छति ॥
न निर्वाति तथा दीपस्तोयं शीघ्रं न जीर्यति ।
श्वेतारुणा पीतकृष्णा विप्रादीनां प्रशस्यते ॥
आज्यासृग्गन्धमद्यानां तुल्यगन्धा तु या भवेत् ।
मधुरा च कषाया च अम्ला च कटुका च या ॥
कुशैः शरैस्तथा काशैर्दूर्वाभिर्या च संभृता । इति ।

प्रयोगसारेऽपि— वितस्तिमात्रविस्तारं निर्माय विवरं भुवि ।
निःक्षिपेत् तां मृदं तस्मिन् तासु शिष्टासु शोभनम् ॥
समासु मध्यमं विद्यान्न्यूनास्वधममुच्यते ।

परीक्ष्यैवं प्रयत्नेन त्यक्त्वा भूमिं कनीयसीम् ॥
अङ्गारतुषकेशास्थिहीनं कृत्वाऽथ भूतलम् । इत्यादिना ।

तुषेति । तुषा धान्यत्वचः अङ्गारो निर्वापितमुल्मुकम् । आदिशब्दात् अस्थिकेशपाषाणभस्मादिशल्यं तद्वर्जिते । अन्यथा दोषदर्शनात् । यदुक्तम्—

वाशिष्ठ्याम्— खन्यमाने यदा कुण्डे पाषाणः प्राप्यते भुवि ।
तदाऽपमृत्यवे चास्थिकेशाङ्गारैर्धनक्षयः ॥
भस्मनाऽग्निभयं प्रोक्तं तुषैः प्रोक्ता दरिद्रता । इति ।

तत्र शल्यज्ञानमादियामलोक्ताहिबलचक्राद् ज्ञेयम् । तद्यथा—

अहिचक्रं प्रवक्ष्यामि यथा सर्वज्ञभाषितम् ।
द्रव्यं शल्यं तथा शून्यं येन जानन्ति साधकाः ॥
ऊर्द्धं रेखाष्टकं लेख्यं तिर्यक् पञ्च तथैव च ।
अहिचक्रे भवन्त्येवमष्टाविंशतिकोष्ठकाः ॥
तत्र पौष्णाश्विनीयाम्य कृत्तिकामघभाग्यभम् ।
उत्तराफाल्गुनी लेख्या पङ्क्तौ तत्सप्तकं ध्रुवम् ॥
अहिर्बुध्नोऽजपादर्क्षं शतभं ब्राह्मसर्पभम् ।
पुष्यं हस्तं समालेख्यं द्वितीयां पङ्क्तिमास्थितम् ॥
अभिजिद्विष्णू धनिष्ठा सौम्यं रौद्रं पुनर्वसुम् ।
चित्रभञ्च तृतीयायां पङ्क्त्यां धिष्णस्य सप्तकम् ॥
विश्वर्क्षं तोयभं मूलं ज्येष्ठा मैत्रविशाखभौ ।
स्वाती पङ्क्त्यां चतुर्थ्यन्तु कृत्वा चक्रं विलोकयेत् ॥

रेवत्यश्विनी भरणी कृत्तिका मघापूर्वोत्तराः प्रथमपङ्क्तौ । उत्तरभाद्रपदा पूर्वभाद्रपदा शतभिषा रोहिणी अश्लेषा पुष्या हस्ता द्वितीयपङ्क्तौ । अभिजित् श्रवणा-धनिष्ठामृगशिरआर्द्रापुनर्वसुचित्राः तृतीयपङ्क्तौ । तत उत्तराषाढापूर्वाषाढामूलज्येष्ठा-नुराधाविशाखास्वात्यः चतुर्थपङ्क्तौ ।

एवं प्रजायते चक्रे प्रस्तारः पन्नगाकृतिः ।
द्वारशाखा मघा याम्या द्वारस्थ कृत्तिका मता ॥
अश्वीशपूर्वाषाढादि त्रिकपञ्चचतुष्टयम् ।
रेवतीपूर्वभाद्रेन्दोर्भानि शेषाणि भास्वतः ॥
उदयादिगता नाड्यो भघ्नाः षष्ट्याप्तशेषके ।
दिनेन्दुभुक्तयुक्तोऽसौ भवेत् तत्कालचन्द्रमाः ॥
चन्द्रवत् साधयेत् सूर्यं ऋक्षस्थं चेष्टकालिकम् ।
पश्चाद् विलोकयेत् तौ च स्वऋक्षेऽथाऽन्यभे स्थितौ ॥
चन्द्रऋक्षे यदाऽर्केन्दू तदा स्यान्निश्चितो निधिः ।
भानुऋक्षे स्थितौ तौ चेत् तदा शल्यं न चाऽन्यथा ॥
स्वस्वभे द्वितीयं ज्ञेयं नास्ति किञ्चिद् विपर्यये ।
भुक्तराश्यंशमानेन भूमानं काम्बिकैः करैः ॥ इति ।

तथाच— चन्द्रस्थाने निधिर्ज्ञेयः सूर्यस्थाने तु शल्यकम् । इति ।

इदं चक्रं गुरुमुखाद् ज्ञात्वा शल्योद्धारं कुर्यादिति । इदञ्च निवर्त्तनपरिमितभूमौ एकमेव कुर्यात् । निवर्त्तनस्वरूपञ्च—

दण्डस्तु दशहस्तः स्यात् त्रिंशद्दण्डैर्निवर्त्तनम् । इति ।

तन्मध्ये वारद्वयं अन्यच्चक्रं लेखनीयम् । तत ऊर्द्ध्वं नेति सम्प्रदायविदः । अथवा महाकपिलपञ्चरात्रोक्त प्रकारेण शल्योद्धारः कर्त्तव्यः । तद्यथा—

प्रासादारम्भकाले च गृहादौ च विशेषतः ।
शल्योद्धारस्तु कर्त्तव्यो यदीच्छेच्छुभमात्मनः ॥
प्रासादारम्भकाले च यदङ्गं स्पृशते पुमान् ।
वास्तुदेहे दृढं तत्र शल्यं विद्याद्विचक्षणः ॥
कण्डूयति शिरः पुंसि शिरः शल्यं समुद्धरेत् ।
शल्यं तत्राऽस्थि(स्ति) विज्ञेयं खन्यमाने करत्रये ॥
अग्निदाहश्च रोग(ध)श्च धनहानिश्च जायते ।
यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेद्भद्रमात्मनः ॥
बाहू कण्डूयमाने तु निर्दिशेल्लोहशृङ्खलम् ।
हस्तद्वयेन सन्तिष्ठेल्लक्षणं कथितं तव ॥
स्वामिनो मरणं विद्याद् विदेशे गमनं तथा ।
यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेत् सिद्धिमात्मनः ॥
ऊरू कण्डूयमाने तु कांस्यशल्यं विनिर्दिशेत् ।
हस्तेनैकेन सन्तिष्ठेल्लक्षणं कथितं तव ॥
असती च भवेद् भार्या यशोहानिश्च जायते ।
यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेच्छुभमात्मनः ॥
हस्तौ कण्डूयमाने तु कङ्कालञ्च विनिर्दिशेत् ।
त्रिहस्तेन च सन्तिष्ठेत् खन्यमाने न चान्यथा ॥
अग्निदाहश्च रोगश्च सशल्यं मरणं भवेत् ।
यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेद्भद्रमात्मनः ॥
पृष्ठं कण्डूयमाने तु बाहुशल्यं विनिर्दिशेत् ।
हस्तेनैकेन सन्तिष्ठेन्नात्र कार्या विचारणा ॥
स्वामिनाशो भवेत्तत्र भार्या वा जायतेऽसती ।
पादौ कण्डूयमाने तु हस्तशल्यं विनिर्दिशेत् ॥
सार्द्धहस्तेन सन्तिष्ठेल्लक्षणं गदितं तव ।
गोनाशो राजदण्डश्च शस्यहानिश्च जायते ॥
यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेत् सिद्धिमात्मनः ।
कुक्षिं कण्डूयमाने तु पाषाणं तत्र निर्दिशेत् ॥
हस्तद्वितयमानेन लक्षणं गदितं तव ।
भुजङ्गदंशस्तत्र स्यात्तस्माच्छल्यं समुद्धरेत् ॥
जानू कण्डूयमाने तु भस्म तत्र विनिर्दिशेत् ।
हस्तद्वयेन सन्तिष्ठेल्लक्षणं गदितं तव ॥
अग्निदाहो मनस्तापः क्लेशदुःखभयानि च ।

करोत्येवंविधं कर्म तस्मात् तं वै समुद्धरेत् ॥
गोशृङ्गं पीतमण्डूकः शङ्खः शुक्तिश्च कच्छपः ।
शम्बुकश्च प्रशस्ताः स्युर्याश्चान्या रत्नजातयः ॥
अङ्गारं वै तुषं केशमस्थिशल्यं विचारयेत् ।
खन्यमाने जलं यावच्छल्यदोषो विनश्यति ॥
दूरनीचस्थितं वारि खनितुं नैव शक्यते ।
पञ्चहस्तं प्रखातव्यं शल्यदोषोपशान्तये ॥
शल्योद्धारं ततः कृत्वा पूरयेत् सुसमं यथा ॥ इति ।

हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि—प्रासादे दोषदं शल्यं भवेद् यावज्जलान्तकम् ।
तस्मात् प्रासादिकी भूमिः शोध्या यावज्जलान्तिका ।
शिलान्तं कर्करान्तं वा यावद् वा शुद्धतां व्रजेत् ॥ इति ॥ १९ ॥

मण्डपरचनम्

पुण्याहं वाचयित्वा तु मण्डपं रचयेच्छुभम् ।
पञ्चभिः सप्तभिर्हस्तैर्नवभिर्वा मितान्तरम् ॥ २० ॥

पुण्याहं वाचयित्वेति । पुण्याहवाचनं बह्वृचानां प्रसिद्धतरम् । अथवा अस्य यजमानस्य पुण्याहं भवन्तो ब्रुवन्तु एवं स्वस्ति भवन्तः एवम् ऋद्धिं भवन्तः' इति त्रिः पुण्याहवाचनम् । तदुक्तं बोधायनेन—

'पुण्याहं वाक्यं स्वस्त्यृद्धिमित्योङ्कारपूर्वं त्रिस्त्रिरेकैकामाशिषं वाचयित्वा' इति ।

तत्र पूर्वादिदिग्ज्ञान—निश्चयपूर्वकमेव मण्डपादि कुर्यात् । अन्यथा दोषदर्शनात् ।

तदुक्तम्— यदि कुर्याद् यथादृष्टं विपन्नो निरयं व्रजेत् ।
भानोर्गत्या दिशो(दिकं) ज्ञात्वा कूर्यात् कर्माणि देशिकः ॥ इति।

अन्यत्रापि— वास्तुवैषम्यतो यत्र सम्यङ् न ज्ञायते ककुप् ।
तत्र शङ्कुं प्रतिष्ठाप्य जानीयाच्छुद्धदिक्स्थितिम् ॥ इति ।

तद्विज्ञानोपायस्तत्रैवोक्तः—तद्गत्या दिक्परिज्ञानं शृणु वक्ष्ये यथाविधि ।
सुसमे भूतले कृत्वा वृत्तं भ्रमणरूपतः ॥
तन्मध्यबिन्दौ शङ्कुन्तु स्थापयेद् द्वादशाङ्गुलम् ।
अग्रच्छायाद्वयवशाद् वृत्ते पूर्वापरद्वये ॥
पूर्वापराह्णयोः कृत्वा चिह्ने तमभितस्तथा ।
ससमान परिभ्रान्त्या कृत्वा वृत्तद्वयं पुनः ॥
तयोः संश्लेषसंजातमध्यदक्षोत्तरस्थिते ।
सन्धिद्वये च प्राक् प्रत्यक् सूत्रं मध्ये तु विन्यसेत् ॥
सूत्रं दक्षोत्तरं तेषामग्रैः प्रागादि कल्पयेत् ॥ इति ।

क्रियासारेऽपि— कृत्वा भूमिं समां तत्र वृत्तं हस्तमितं समम् ।
द्वादशाङ्गुलमानोच्चं शङ्कुं खादिरनिर्मितम् ॥

अलाभे यज्ञवार्क्षं वा तत्र संस्थापयेत् सुधीः ।
तच्छाया संस्पृशेद् यत्र तन्मध्ये मध्यमं स्मृतम् ॥
तिर्यक् प्रसारयेत् सूत्रं मध्यं याम्योत्तरे स्मृते ।
कोणाः स्युरन्ये चत्वारश्चतुःसूत्रप्रसारणात् ॥
एवमाशापरिज्ञानं समाख्यातं यथा स्फुटम् ।
ज्ञात्वैवं मण्डपादीनि कुर्यात् सम्यग् विचक्षणः ॥ इति ।

तत्र महाकपिलपञ्चरात्रे तु विशेषः—

विषुवे तु गते सूर्ये शङ्कुमानं समाचरेत् ।
खादिरं विन्यसेच्छङ्कुं द्वादशाङ्गुलविस्तृतम् ॥
निश्चलीकृत्य हन्तव्यं गृहीत्वा लोहमुद्गरम् ।
अष्टधा च स्वयं हन्यात् प्रशस्तं क्रमतो लघु ॥
हन्यमाने यदा शङ्कौ हस्तात् पतति मुद्गरः ।
तदा ताडयितुः शोको जायते दुस्तरो महान् ॥
मौञ्जकौशेयकार्पासं प्राणिवालजमेव वा ।
चतुर्यवपरीणाहं सूत्रं शङ्कौ तु वेष्टयेत् ॥
वेष्ट्यमानं यदा सूत्रं शङ्कुं मुञ्चति तत्क्षणम् ।
पुत्रस्य मरणं विद्याच्छिन्ने वै स्वविनाशनम् ॥
तत्रापि नारसिंहेन होमेनाऽशुभनाशनम् ॥ इति ।

मयेनाऽप्युक्तम्— शङ्कुः सारद्रुमैः प्रोक्तस्तस्याग्रं चित्रवृत्तकम् ।
सम्यक् कृत्वा दिनादौ तु स्थापयेत् समभूतले ॥
शङ्कुद्विगुणमानेन तन्मध्ये वर्त्तुलं लिखेत् ।
पूर्वापराह्णयोश्छाया यदा तन्मण्डलान्तगा ॥
तद्बिन्दुद्वयगं सूत्रं पूर्वापरदिगिष्यते ।
बिन्दुद्वयान्तरभ्रान्त शफरद्वयपुच्छगम् ॥
दक्षिणोत्तरगं सूत्रमेवं सूत्रद्वयं न्यसेत् ।
तदग्राण्यपरान्तानि सूत्राणि च विनिक्षिपेत् ।
सूत्राणि स्थपतिः प्राज्ञः प्रागुत्तरमुखानि च ॥ इति ।

हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि—भूमिं तोयसमां कृत्वा दर्पणोदरसन्निभाम् ।
द्वादशाङ्गुलमानेन तत्र वृत्तन्तुं भ्रामयेत् ॥
मध्ये तु निश्चलं शङ्कुं स्थाप्य च्छायां निरीक्षयेत् ।
वृत्तरेखा तु या बाह्यशङ्कुच्छाया प्रकल्पिता ॥
प्रवेशनिर्गमे तस्यां शङ्कुच्छायां निरूपयेत् ।
शङ्कुच्छायाग्रचिह्नाभ्यां प्राक्प्रतीच्योः प्रसाधयेत् ॥
प्राक्प्रतीचीगते सूर्ये उदग्याम्ये तु साधयेत् ।
विषुवे विमलव्योम्नि शङ्कुना साधयेद् दिशम् ।
शरद्वसन्तयोरेवमादित्यात् साधयेद् दिशम् ।
प्राचीं वा पुष्यवेधेन चित्रास्वात्यन्तरेण वा ॥ इति ।

न्यत्रापि—यथैव पूर्वापरदिग्विभागविशेषविज्ञानमिहोपदिष्टम् ।
समासतस्तं विषयं विविच्य कार्याणि कर्माणि यथोपदिष्टम् ॥ इति ।

रात्रौ तु प्राचीसाधनं यथा—

कृत्तिका श्रवणः पुष्यश्चित्रास्वात्योर्यदन्तरम् ।
एतत् प्राच्या दिशो रूपं युगमात्रोदिते पुरे ॥ इति ।

त्रिकाण्डमण्डनेऽपि—श्रवणस्योदये प्राची कृत्तिकायास्तथोदये ।
चित्रास्वात्यन्तरे प्राची न प्राची चन्द्रसूर्ययोः ॥ इति ।

सूक्ष्मपूर्वदिगानयनं त्रैराशिकेन कर्त्तव्यम् । तद्यथा । द्वितीयदिवसेऽपि तथैव शङ्कुं संस्थाप्य पूर्वापराह्णयोश्चिन्हे कुर्यात् । तत्र पूर्वापरदिवसद्वयचिह्नमध्यभुवं तिलादिना विभजेत् । ततस्त्रैराशिककल्पना षष्टिघटिकाभिरेतदन्तरञ्चेल्लभ्यत पूर्वदिनपूर्वापरचिह्नयोरन्तरालघटिकाभिस्तदा कियदिति त्रैराशिकम् । तत्र त्रैराशिकसूत्रं यथा— आद्यन्तयोस्त्रिराशावभिन्नजाती प्रमाणमिच्छा च ।
फलमन्यजाति मध्ये तदन्त्यगुणमादिना विभजेत् ॥ इति ।

अनेन प्रकारेण या आगता तिलादिप्रमाणिका अन्तरभूस्ताम् उदगयने उत्तरतो दक्षिणायने दक्षिणतः प्रागङ्क एवं वर्द्धयेत् । तत्र रेखां कुर्यात् । एषा सूक्ष्मा प्राचीति । मण्डपं रचयेदित्यनेनोत्तममध्यमकनीयोभेदेन त्रिविधोऽपि मण्डप उद्दिष्टो भवति । तत्र मण्डपत्रैविध्यं मन्त्रमुक्तावल्यामुक्तम्—

अथ मण्डपनिर्माणं ब्रुमहे ब्रह्मणोदितम् ।
श्रेष्ठमध्यमहीनैस्तु मानैस्तच्च त्रिधा मतम् ॥ इति ।

अनेन मानाधिकोऽथवा न्यूनः इत्यादि क्रियासारोक्तदोषपरिहारः सूचितः ।

त्रिविधस्यापि मण्डपस्य प्रमाणमाह मञ्चभिरिति । तत्र यथाश्रुत व्याख्यानं तु पञ्चहस्तविस्तारायामवान् पञ्चविंशतिहस्तक्षेत्रफलः कनीयान् मण्डपः । मध्यमस्तु सप्तहस्तविस्तारायामवान् एकोनपञ्चाशद्धस्तक्षेत्रफलः । उत्तमस्तु नवहस्तायामविस्तारवान् एकोत्तराशीतिकरक्षेत्रफलः । तत्रोत्तममण्डपे तावद्विचार्यते । ग्रन्थकृदेवाग्रे नवकुण्डीयपक्षमस्मिन्नेव मण्डपे वक्ष्यति । तेषु च कुण्डेषु वक्ष्यमाणप्रकारेण वेद्याः पादान्तरं त्यक्त्वा एका तिस्रः पञ्च वा मेखलाः कार्याः । तदुक्तं पिङ्गलामते—

मेखलैकाऽथवा तिस्रो भूतसंख्याऽथवा प्रिये । इति ।

तन्त्रान्तरेऽपि—मेखलाः पञ्च वा तिस्रो वैका वाऽथ सुरेश्वरि । इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—सर्वेषामेव कुण्डानामेका वा तिस्र एव वा ।
पञ्च वा मेखलास्ताः स्युः । इति ।

प्रतिष्ठासारसंग्रहेऽपि—'मेखलाः पञ्च वा कार्याः' इति । तत्र पञ्चमेखलापक्षे कुण्डानामेव न समावेशः । त्रिमेखलापक्षस्तु ग्रन्थकारोक्तः । तत्पक्षे यथाकथञ्चित् कुण्डानामेव समावेशः । होमकर्त्रादीनां प्रचारस्थलमेव नास्ति अतिसङ्कीर्णत्वात् । किञ्च वैश्वदेवार्थं वक्ष्यमाणस्थण्डिलस्य वेद्यां शयीतेति वक्ष्यमाणशयनस्यापि समावेशो नास्ति । कर्मान्तरे होमद्रव्याधिक्ये वा कुण्डाधिक्यं तदापि कुण्डसमावेशो

नास्ति। मध्यमाधमयोस्तु का कथा । तत्र पञ्चकुण्डीपक्षस्यापि समावेशायोगात् । ग्रन्थकारेण तत्रापि नवकुण्डीपक्ष उपन्यस्तः । स त्वत्यन्तासङ्गत एव स्यात् । तस्मान्न यथाश्रुतव्याख्यानम् । केचित्तु वक्ष्यमाणं वेद्याख्यं मध्यमन्तरशब्दार्थमाहुः । तन्मते पञ्चदशहस्तविस्तारायामः पञ्चविंशत्यधिकद्विशतकरक्षेत्रफलः कनीयान् मण्डपः । मध्यमस्तु एकविंशतिहस्तविस्तारायामः एकचत्वारिंशदधिकचतुःशतकरक्षेत्रफलः । उत्तमस्तु सप्तविंशतिहस्तायामविस्तारः एकोनत्रिंशदधिकसप्तशतकरक्षेत्रफलः। तदपि सतां न समतम् । यतो ग्रन्थान्तरे एतादृशमानस्यानुक्तत्वात् ।

मन्त्रमुक्तावल्यादौ परमपि मानम्—

चतुर्विंशतिहस्तं वा हस्तविंशतिकं तथा । इति ।

अन्यत्रापि— विंशहस्तप्रमाणेन मण्डपं कूटमेव च । इति ।

विंशतिहस्तं चतुर्विंशतिहस्तमेव चोक्तम् । तेनास्य शारदीयपद्यस्यैवमर्थो व्याख्येयः । पञ्चभिः सप्तभिरिति समुच्चितम् । तेन द्वादशहस्तायामविस्तारः स चतुश्चत्वारिंशदधिकशतकरक्षेत्रफलः कनीयान् मण्डपः । ततः पञ्चभिर्नवभिरित्यन्वेति । तेन चतुर्दशहस्तायामविस्तारः चतुरूनद्विशतहस्तक्षेत्रफलः मध्यमो मण्डपः । ततश्च सप्तभिर्नवभिरित्यन्वेति । तेन षोडशहस्तायामविस्तारः षट्पञ्चाशदधिकद्विशतकरक्षेत्रफल उत्तमो मण्डपः । इति त्रिविधोऽपि मण्डप उक्तो भवति ।

तदुक्तं प्रतिष्ठासारसंग्रहे—स्वल्पो द्वादशहस्तोऽयं द्विद्विवृद्ध्या ततः क्रमात् । इति ।

एतेन चतुर्दशहस्तस्य मध्यमतोक्ता षोडशहस्तस्योत्तमता च ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि— मण्डपोऽर्ककरोऽपिवा ।
कर्त्तव्या मण्डपाश्चान्ये द्विद्विहस्तप्रवृद्धितः ॥ इति ।

सोमशम्भुनापि— मण्डपोऽर्ककरोऽथवा ।
द्विहस्तोत्तरया वृद्ध्या शेषाः स्युर्मण्डपाः शुभाः ॥ इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—हस्ताच्च द्वादशारभ्य क्रमाद् द्वौ द्वौ प्रवर्द्धय च । इति।

अन्यत्रापि— गृहस्येशानभागे तु मण्डपं कारयेद् बुधः ।
द्वादशैरष्टषड्ढस्तैः षोडशैर्वा समन्ततः ॥ इति ।

क्रियासारेऽपि— अथ द्वादशविस्तारः कनिष्ठो मण्डपः स्मृतः । इति ।

पञ्चरात्रेऽपि— तथा षोडशभिर्हस्तैर्मण्डपः स्यादिहोत्तमः । इति ।

मन्त्रमुक्तावल्यामपि—उत्तमं मानमित्याहुर्हस्तषोडशकं तथा । इति ।

अयञ्च मण्डपश्चतुरस्रः कर्त्तव्यः ।

यदुक्तं परिशिष्टे कात्यायनेन—'प्रमाणं चतुरस्रमादेशादन्यत्' इति ।

सिद्धान्तशेखरेपि—'चतुरस्रं चतुर्द्वारम्' इति । समचतुरस्रता तु वास्तुमण्डलप्रोक्तविधानेन विधातव्या ।

अत्र विशेषः सिद्धान्तशेखरे—स्थलादर्काङ्गुलोच्छ्रायं मण्डपस्थलमीरितम् । इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रे मण्डपं प्रकृत्योक्तम्—

उच्छ्रायो हस्तमानं स्यात् सुसमं च सुशोभनम् । इति ।

अन्यत्रापि—'क्ष्मास्त्रं मण्डपमुन्नतम्' इति । नन्वत्र मण्डपत्रये कनीयसैव फलसिद्धे-र्मध्यमोत्तमयो—रननुष्ठानमेव स्यादिति चेन्न । फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यात् इति न्यायेन फलतारतम्यकल्पनाददोषः । तथाहि अग्निहोत्रज्योतिष्टोमयोः स्वर्गः फलत्वेन श्रूयते तत्राद्येनैव तत्सिद्धौ द्वितीये महति कोऽपि न प्रवर्त्तेत इत्याशङ्क्य फले तारतम्यकल्पनमाकरे परिहृतम् । अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् इत्यनेन कल्पनाया अपि श्रुत्येकदेशत्वेनोक्तेः । किञ्च वार्त्तिककृता स्थानप्रमाणादप्येतत् सिद्ध्यति इत्युक्तम् ।

कर्मणामल्पमहतां फलानाञ्च स्वगोचरे ।
विभागस्थानसामान्यादविशेषेऽपि चोदितः ॥ इति ।

एतस्य व्याख्याव्यवस्था कर्मणां स्थानसामान्यादुदिता । यथा—

मध्ये स्वसमुदायस्य फलानामपि सा तथा ।
परिमाणस्य सामान्यादनुक्तेऽपि विशेषतः ॥ इति ।

यत्तु केनचित् 'दशरविकरायामावल्पौ मतावथ मध्यमौ रविमनुकरायामौ' इति द्वादशहस्तस्योभयरूपत्वमुक्तम् । तदसत् । स्तम्भादिप्रमाणसङ्करापातात् । (यथाश्रुतव्याख्यानमपि एककुण्डपक्षे पञ्चकुण्डीपक्षे यथासम्भवं योजनीयं नतु ग्रन्थकारोक्तनवकुण्डीपक्षे) ॥ २० ॥

मण्डपे स्तभनिवेशनम्

षोडशस्तम्भसंयुक्तं चत्वारस्तेषु मध्यगाः ।
अष्टहस्तसमुच्छ्रायाः संस्थाप्या द्वादशाऽभितः ॥ २१ ॥

मण्डपे स्तम्भनिवेशनप्रकारमाह षोडशेति । चत्वार इति तेषु स्तम्भेषु मध्ये चत्वारो मध्यगा वेदिकोणेषु स्थाप्याः । तदुक्तम् सिद्धान्तशेखरे—

मध्ये स्तम्भचतुष्कं स्यात्तन्मध्ये वेदिका मता । इति ।

अन्यत्रापि— वेदिकोणेषु विन्यस्येत् स्तम्भान् वेदस्वरूपकान् ।
आग्नेयादिक्रमेणैव । इति ।

तेन बहिर्द्वादशस्तम्भस्थापनमपि आग्नेयादिक्रमेणेति ज्ञेयम् । तदुक्तम्—

स्तम्भोच्छ्राये शिलान्यासे सूत्रयोजनकीलके ।
खननावट संस्कारे प्रारम्भो वह्निगोचरे ॥ इति ॥

ते च अष्टहस्तसमुच्छ्रायाः । स्तम्भोच्चत्वं वदता ग्रन्थकृता षोडशहस्तस्यैवोत्तमत्वमुक्तम् ।

यत् पञ्चरात्रे—मण्डपार्द्धोच्छ्रितान् वेदसंख्यांश्चूडान्वितांस्तथा । इति ।

अभित इति । मध्यस्तम्भानभित इत्यर्थः । तदुक्तं क्रियासरे—

भूमिं समस्थलीकृत्य परिच्छिद्य च सूत्रतः ।
स्तम्भान् समञ्च संस्थाप्य । इति ।

पञ्चरात्रेऽपि— स्तम्भद्वादशकं पुनः ।
बाह्येप्युक्तप्रमाणेन तत्र तत्र विभागतः ॥ इति ॥ २१ ॥

जिस दिन नक्षत्र राशि, वार अनुकूल हो, माङ्गलिक दिन हो और तुष (भूसा) अङ्गार (कोयला राखी) से वर्जित भूमितल शुद्ध हो । उस समय ब्राह्मणों के द्वारा पुण्याह वाचन कर पाँच, सात या नव हाथ के प्रमाण में श्रेष्ठ मण्डप का निर्माण करे । मण्डप में १६ खम्भे होने चाहिए, जिसमें मध्य में चार खम्भा बनावे, शेष बारह खम्भे मण्डप के चारों ओर लगावे । उनकी ऊँचाई आठ हाथ होनी चाहिए ॥ १९-२१ ॥

पञ्चहस्तप्रमाणास्ते विच्छिद्रा ऋजवः शुभाः ।
तत्पञ्चमांशं निखनेन् मेदिन्यां तन्त्रवित्तमः ॥ २२ ॥

कीदृशाः षोडशस्तम्भाः । निश्छिद्राः छिद्रवर्जिताः । एतेन दृढत्वमुक्तम् । ऋजवः अवक्राः । क्वचिदपि न स्थूला न कृशा अतएव शुभा इत्यर्थः । एवं विधत्वञ्च तेषां सारवृक्षोद्भवत्वं विना न सम्भाव्यते । सारद्रुमोत्थम् इदमप्यर्थादुक्तम् । यत् पञ्चरात्रे—सारदारुभवान् स्तम्भान् दृढान् कुर्यादृजून् समान् । इति ।
क्रियासारे तु विशेषः—यज्ञीयवृक्षो वेणुर्वा क्रमुकः स्तम्भकर्मणि ।
अन्ये विशुद्धवृक्षा वा भवेयुर्नान्यभूरुहाः ॥
गृहशल्यः स्वयं शुष्कः कुटिलश्च पुरातनः ।
असौम्यभूमिजनितः संत्याज्यः स्तम्भकर्मणि ॥ इति ।

मध्यमाधमयोर्द्वादशस्तम्भप्रमाणं त्रैराशिकेनानेयं । तत्पञ्चमांशमिति । स्तम्भोच्छ्रायं पञ्चधा विभज्य पञ्चमांशं भुवि निखनेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

नारिकेलदलैर्वंशैश्छादयेत् तत्समन्ततः ।
द्वारेषु तोरणानि स्युः क्रमात् क्षीरमहीरुहाम् ॥ २३ ॥

तत्समन्तत इति । तस्य मण्डपस्य समन्ततः सर्वत्र द्वारवर्ज्यम् वंशैर्नारिकेलदलैश्छादयेत् । नारिकेलदलाभावे कटैर्वेष्टयेत् ।

यद् वास्तुशास्त्रे—कटैः सद्भिस्तु संछाद्या विजयाद्याश्च मण्डपाः । इति ।

हयशीर्षपञ्चरात्रे—मण्डपं मण्डयेदार्द्रशाखाभिस्तु समन्ततः । इति ।

यत्तु क्रियासारे—'भित्तिञ्च परितः कृत्वा' इति तत्तु स्थिरप्रतिमादिमण्डपेष्विति ज्ञेयम् । 'नियमोऽयं समाख्यातः स्थिरलिङ्गक्रियासु च' इति तत्रैव वक्ष्यमाणत्वात् ।

तोरणस्थापनमाह द्वारेष्विति । ननु द्वाराणामेवानुक्तत्वात् कथं द्वारेष्वित्युक्तिः । सत्यम् । द्वारेष्वित्यनेनैव द्वाराक्षेपः ।

तत्प्रमाणं तत्स्थानञ्चोक्तं मन्त्रमुक्तावल्याम्—

दिक्षु द्वाराणि चत्वारि विदध्यात् पञ्चमांशतः । इति ।

क्रियासारेऽपि— दिक्षु द्वाराणि मध्यतः ।
तोरणानि च तेष्वेव द्वारेषु स्थापयेद्बुधः ॥ इति ।

पञ्चरात्रे प्रमाणमुक्तम्— कनीयसि स्याद् द्विकरं चतुरङ्गुलिवृद्धितः ।
मध्यमोत्तमयोर्द्वारम् । इति ।

न्यस्येदिति निखनेत् पञ्चमांशेनैव ।

यद्वास्तुशास्त्रे— पञ्चमांशं न्यसेद्भूमौ सर्वसाधारणो विधिः । इति ।

सिद्धान्तशेखरे तोरणस्तम्भमधिकृत्योक्तम्—

पञ्चमांशेन वा खातं सर्वेषाञ्च शिवोदितम् । इति ।

क्रमादिति । पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरदिशि । क्षीरमहीरुहामिति वटोडुम्बराश्वत्थ-प्लक्षाणाम् । 'न्यग्रोधोडुराश्वत्थप्लक्षाः क्षीरमहीरुहाः' इति परिभाषणात् । तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे— न्यग्रोधतोरणं पूर्वे याम्ये त्वौडुम्बरं मतम् ।
पश्चिमेऽश्वत्थसम्भूतमुत्तरे प्लक्षतोरणम् ॥
पूर्वे वा प्लक्षसम्भूतं न्यग्रोधश्चोत्तरे मतः ॥ इति ।

क्रियासारेऽपि— प्लक्षोडुम्बरबोधिद्रुवटाः पूर्वादितः क्रमात् ।
तोरणानि च चत्वारि । इति ।

सोमशम्भुरपि— प्लक्षोडुम्बरकाश्वत्थवटजास्तोरणाः क्रमात् ।
पूर्वादितो विधातव्या यद्वाद्यन्तविपर्ययः ।
अलाभादेकमेवैषां सर्वाशासु निवेशयेत् ॥ इति ।

मन्त्रमुक्तावल्यामपि—अथाग्निमीलेति मन्त्रेण विन्यसेत् पूर्वतोरणम् ।
इषेत्वोर्जेत्वा मन्त्रेण दक्षिणं तोरणं न्यसेत् ॥
अग्न आयाहि मन्त्रेण पश्चिमस्य निवेशनम् ।
शन्नो देवीति मन्त्रेण दद्यादुत्तरतोरणम् ॥ इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—देवास्तोरणरूपेण संस्थिता यज्ञमण्डपे ।
विघ्नविध्वंसनार्थाय रक्षार्थन्त्वध्वरस्य च ॥
न्यसेन् न्यग्रोधमैन्द्र्यान्तु याम्याञ्चोडुम्बरं तथा ।
वारुण्यां पिप्पलञ्चैव कौवेर्यां प्लक्षकं न्यसेत् ॥
सुशोभनन्तु पूर्वस्यां ऋग्वेदादिसुमन्त्रितम् ।
इषे त्वोर्जेत्वा मन्त्रेण सुभद्राख्यन्तु दक्षिणे ॥
सुकर्माख्यन्तु वारुण्यां सामवेदादिकेन तु ।
शन्नो देवीति मन्त्रेण सुहोत्रन्तूत्तरे न्यसेत् ॥ इति ।

यत्तु केनचित् अश्वत्थोडुम्बरजटिवटैरित्येषां पूर्वादिनिवेशनमुक्तं तदसम्बद्धम् । लिखितनानावचनविरोधात् । इदञ्च तोरणस्तम्भनिवेशनं मण्डपाद्बहिर्हस्तमानेनेति ज्ञेयम् । तदुक्तम्— मण्डपद्वारबाह्ये च वेदिमानेन दिक्क्रमात् ।
प्लाक्षमौडुम्बराश्वत्थवटोत्थं तोरणं न्यसेत् ॥ इति ।

वास्तुशास्त्रे तु— अश्वत्थोडुम्बरप्लक्षवटशाखाकृतानि तु ।
मण्डपस्य प्रतिदिशं द्वाराण्येतानि कारयेत् ॥ इति ।

द्वारेषु क्रियमाणत्वात् तोरणेषु द्वारनिर्देशः । इदन्तु पश्चिमदक्षिणोत्तरपूर्वेषु अपसव्येन वा पश्चिमद्वारादिति ज्ञेयम् । अत्र विशेषः सिद्धान्तशेखरे—

एकमेषामलाभे स्यात्तदभावे शमीद्रुमः ।
जम्बूखदिरसाराश्च तालो वा तोरणे स्मृताः ॥ इति ।

क्रियासारे तु— अवक्रा सत्वचः सार्द्रा दण्डाः स्युस्तोरणे शुभाः । इति ॥२३॥

स्तम्भोच्छ्रायः स्मृतस्तेषां सप्तहस्तैः पृथक् पृथक् ।
दशाङ्गुलप्रमाणेन तत्परीणाह ईरितः ॥ २४ ॥

स्तम्भेति । सप्तहस्तैरिति उत्तममण्डपे यतो ग्रन्थकृत् सर्वं मानमुत्तमस्यैवाह । पृथक् पृथगिति मध्यमाधमयोर्भिन्नं भिन्नं मानमित्यर्थः । तेन मध्यमे षड्ढस्ताः । अधमे पञ्चहस्ताः । तोरणस्तम्भमधिकृत्य वास्तुशास्त्रे—

पञ्चहस्तप्रमाणास्ते विस्तारेण द्विहस्तकाः ।
षडङ्गुलानि वर्द्धन्ते सप्तहस्तास्तथोत्तमाः ॥ इति ।

अत्र विस्तारेणेति तिर्यक्फलकमानम् । मध्यमस्य षड्ढस्तता अनुक्ताऽपि न्यायाद् गम्यते । तदुक्तं कात्यायनेन—'औचित्यादर्थात् परिमाणम्' इति । तेषां तोरणस्तम्भानां परीणाहो विशालता स च परिध्यानयनेन ज्ञातव्यः । तत्र स्थूल-परिधानयनं भास्कराचार्येणोक्तम्—

द्वाविंशतिघ्ने विहृतेऽथ शैलैः स्थूलोऽथवा स्याद् व्यवहारयोग्यः । इति । व्यासः १० द्वाविंशतिघ्नः २२० शैलै : ७ हृतः ३१ लब्धः एतावान् परिधिर्यस्य काष्ठस्य तस्य दशाङ्गुलो विष्कम्भः ॥ २४ ॥

अथवा सभी खम्भे पाँच हाथ प्रमाण के होने चाहिए । उनमें छिद्र नहीं होना चाहिए, और सभी सीधे तथा शुभ होने चाहिए । मण्डप का जानकार साधक, जितनी खम्भे की लम्बाई हो उसका पञ्चमांश पृथ्वी में खन कर गाड़ देवे । मण्डप के चारों ओर से नारिकेल के पत्ते अथवा बाँस के पत्ते से चारों ओर से आड़ कर देना चाहिए । मण्डप के चारों ओर के द्वारों पर क्रमशः दुधारु वृक्ष का तोरण लगाना चाहिए । (अश्वत्थ, उदुम्बर, प्लक्ष और वट की शाखा का तोरण प्रशस्त कहा गया है) ॥ २३-२४ ॥

शूललक्षणं तत्स्थापनञ्च

तिर्यक्फलकमानं स्यात् स्तम्भानामर्द्धमानतः ।
शूलानि कल्पयेन्मध्ये तोरणे हस्तमानतः ॥ २५ ॥

तिर्यगिति । उभयस्तम्भमध्ये देहलीरूपेण उपरि यत् तिर्यक्फलकं तस्य मानं स्तम्भानां पञ्चहस्तमितानां तोरणस्तम्भानामर्द्धमानतः । तेन सार्द्धहस्तद्वयं प्रमाणमुक्तम् ।

स्तम्भानामिति बहुवचनं द्वारबहुत्वात् तोरणस्तम्भानामपि बहुत्वमिति योज्यम् । अनेन कनिष्ठमण्डपे पञ्चहस्ततोरणस्तम्भत्वमपि सूचितम् । इदं तिर्यक्फलकमानम् उत्तमस्यैव । अन्ययोः षट्षडङ्गुलन्यूनता ज्ञेया । वास्तुशास्त्रे तथोक्तेः । शूलानीति बहुवचनं चतुःसंख्यापरम् । तोरण इत्येकवचनं जातौ । तेन प्रतितोरणमेकमेकं शूलं कार्यम् । तच्च हस्तप्रमाणम् । तत्राङ्गुलत्रयं निवेशः षड्भागः परीणाह । एतच्च मण्डपत्रये समानम् । तत्र शूलस्वरूपं मध्यकीलः तीक्ष्णाग्रः ऋजुः तमभितो द्वौ तीक्ष्णाग्रौ वक्रौ । मध्यकीलदेशगतवक्रभागाविति । तदुक्तं क्रियासारे—तोरणं घटयित्वैवमूर्ध्वं शूलत्रयं न्यसेत् । शूलं हस्तायतं तेषाम् । इति ।

पिङ्गलामतेऽपि— शूलेन चिह्निताः कार्या द्वारशाखाः स्वमस्तके ।
ऋजु वै मध्यशूलं स्यात् किञ्चिद्वक्रन्तु पक्षयोः ॥
उभयं तत् समाख्यातं अङ्गुलं रोपयेत् तदा । इति ।

यदा तु तोरणे इत्येकवचनं विवक्षितं तदा शूलानीति बहुवचनं कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन त्रित्वे पर्यवस्यति । हस्तमानत इति त्रयाणां मिलित्वा मानम् ।

तदुक्तं क्रियासारे— तोरणं घटयित्वैवं मूर्ध्नि शूलत्रयं न्यसेत् ।
शूले नवाङ्गुलं दैर्ध्यं तुरीयांशेन विस्तृतिः ।
शेषाणां द्व्यङ्गुला वृद्धिः वेशश्चाऽङ्गुलवृद्धितः ॥ इति ।

तेन कनिष्ठे द्व्यङ्गुलप्रवेशः । मन्त्रमुक्तावल्यामपि—

अग्रयोर्मध्यभागे च पट्टिकायां त्रिशूलकान् । इति ।

एतानि तत्काष्ठमयान्येव शैव एव कर्त्तव्यानि इति ज्ञेयम् । वैष्णवे तु विशेषः ।

वास्तुशास्त्रे—मस्तके द्वादशांशेन शङ्खचक्रगदाम्बुजम् ।
प्रागादिक्रमयोगेन न्यसेत् तेषां स्वदारुजम् ॥ इति ।

एषां स्वदारुजत्वोक्तेः शैवे एतत्स्थानीयानां शूलानां न्यायादेव स्वदारुजत्वं प्राप्तम् । तत्र द्वादशांशः तोरणस्तम्भानामेव । पूर्ववाक्यशेषे 'सप्तहस्तास्तथोत्तमाः' इति तेषामेव प्रकृतत्वात् तेन चतुर्दशद्वादशाङ्गुलानि क्रमेणोत्तमादिषु शाखादीनां मानानि । विस्तारस्तु स्वतुर्यांशेनैव । यत्तु केनचित् फलक द्वादशांशेन चतुरङ्गुलादिमानमुक्तम् । तदसत् । तस्याऽप्रकृतत्वात् । शूलमानस्य नवाङ्गुलोक्तेश्च । एषां निवेशनमपि पूर्ववज् ज्ञेयम् । ततः प्रतितोरणम् एकैकः कलसः स्थाप्यः प्रतिद्वारपार्श्वे द्वौ द्वौ प्रतिकोणञ्चैकैकः । तदुक्तम्—

गन्धपुष्पाम्बरोपेतान् कुम्भांस्तेषु विनिक्षिपेत् ।
ध्रुवं धरां वाक्पतिञ्च विघ्नेशं तेषु पूजयेत् ॥
मण्डपस्य तु कोणस्थकलसेषु क्रमादमी ।
अमृतो दुर्जयश्चैव सिद्धार्थो मङ्गलस्तथा ॥
पूज्या द्वारस्थकुम्भेषु शक्राद्यास्तन्मनूत्तमैः । इति ।

अन्यत्रापि— मण्डपे कलसौ द्वौ द्वौ द्वारे द्वारे निवेशयेत् ।
गालितोदकसम्पूर्णावाम्रपल्लवशोभितौ ॥ इति ॥ २५ ॥

उत्तम मण्डप में खम्भे की ऊँचाई सात हाथ, मध्यम में छः हाथ तथा कनिष्ठ में पाँच हाथ इस प्रकार ऊँचाई का क्रम कहा गया है । उनका विस्तार प्रमाणतः दश अङ्गुल बताया गया है । द्वार के दोनों खम्भों को मध्य में ऊपर लगाये जाने वाली तोरण की देहली फलक का मान खम्भे की ऊँचाई का आधा होना चाहिए । इस प्रकार यदि खम्भा पाँच हाथ ऊँचा है तो तोरण की ऊँचाई ढ़ाई हाथ होनी चाहिए । प्रत्येक तोरण पर एक हाथ का शूल निर्माण करना चाहिए ॥ २४-२५ ॥

ध्वजबन्धनम्

दिक्षु ध्वजान्निबध्नीयाल्लोकपालसमप्रभान् ।
वितानदर्भमालाद्यैरलङ्कुर्वीत मण्डपम् ॥ २६ ॥

दिक्षु ध्वजानिति । ध्वजस्वरूपं प्रतिष्ठासारसंग्रहे—

पीतरक्तादिवर्णाश्च पञ्चहस्ता ध्वजाः स्मृताः ।
द्विपञ्चहस्तैर्दण्डैस्ते वंशजैः संयुता मताः ॥ इति ।

द्विपञ्चहस्तैर्दशहस्तैः । अन्यत्रापि—

पञ्चहस्ता ध्वजाः कार्या वैकल्पे तु द्विहस्तकाः ।
दण्डश्च दशहस्तः स्यादष्टदिक्षु च तान् न्यसेत् ॥ इति ।

क्रियासारे तु विशेषः—ध्वजानां लक्षणं सम्यगुच्यते तु यथातथम् ।
मण्डपस्य बहिर्दण्डैर्दशहस्तायतैः सह ॥
पूर्वाद्यष्टहरित्स्वष्टौ ध्वजान् संस्थापयेत् क्रमात् ।
तेषां हस्तद्वयं व्यासो मध्यः स्वकरसमितः ॥
व्यासार्द्धं शिखरं पुच्छं हस्तत्रितयमानकम् ।
मत्स्याभं शिखरं पुच्छशिखरन्तु त्रिकोणकम् ॥
तयोर्मध्ये चतुष्कोणं ध्वजानेवं प्रकल्पयेत् ।
मातङ्गवस्तमहिष सिंहमत्स्यैणवाजिनः ॥
वृषभञ्च यथान्यायं ध्वजमध्ये क्रमाल्लिखेत् ।
अथवा दिग्गजानष्टावैरावतपुरःसरान् ॥
ध्वजेषु विलिखेदुक्तधातुभिश्च स(सु)लक्षणम् ।
एवं ध्वजानां कथितं लक्षणन्तु शुभावहम् ॥ इति ।

ध्वजानामावश्यकत्वमुक्तं हयशीर्षपञ्चरात्रे—

अतः परं प्रवक्ष्यामि ध्वजारोपणमुत्तमम् ।
यत् कृत्वा पुरुषः सम्यक् समस्तफलमाप्नुयात् ॥
यातुधाना गुह्यकाश्च कुष्माण्डाः खेचरास्तथा ।
चिन्तयन्त्यसुरश्रेष्ठा ध्वजहीनं सुरालयम् ॥
ध्वजेन रहिते ब्रह्मन् मण्डपे तु वृथा भवेत् ।
पूजाहोमादिकं सर्वं जपाद्यं यत् कृतं बुधैः ॥

रक्षणेन विना यद्वत् क्षेत्रं नश्यति क्षेत्रिणः ।
ध्वजं बिना देवगृहं तथा नश्येत सर्वथा ॥
विष्णुपारिषदाः क्रूराः कुष्माण्डाद्याश्च ये स्मृताः ।
पूजादिकन्तु गृह्णन्ति देवं दृष्ट्वा न रक्षितम् ॥
दृष्ट्वा ध्वजांस्तु देवस्य मण्डपे ज्वलनप्रभान् ।
नश्यन्ति सर्वे ते चार्करश्मिक्षिप्तं तमो यथा ॥ इति ।

लोकपालसमप्रभानिति । लोकपालवर्णांश्चतुर्थे वक्ष्यन्ते । पताका निवेशनमप्युक्तम्—

सारसंग्रहे— प्रतिकुण्डं पताकास्तु प्रोक्ताः शास्त्रार्थकोविदैः ।
सप्तहस्ताः पताकाः स्युः सप्तमांशेन विस्तृताः ॥
लोकपालानुवर्णेन नवमी तुहिन (तु हीन) प्रभा । इति ।

सिद्धान्तशेखरेपि—पताकाध्वजसंयुक्तम् । इति ।

सोमशम्भुरपि— सप्तहस्ताः पताकाः स्युर्विंशत्यङ्गुलविस्तृताः ।
दशहस्ताः पताकानां दण्डाः पञ्चांशवेष्टिताः ।
पताका आयुधाङ्काश्च पुष्पगन्धसमन्विताः । इति ।

मण्डपालङ्कारमाह वितानेति । वितानश्चन्द्रातपः । दर्भमाला रज्जुग्रथिता दर्भाः । आदिशब्देन दुकूलेन स्तम्भवेष्टनं चूतपल्लवमालाबन्धनमित्यादि ज्ञातव्यम् । तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे— चूतपल्लवमालाढ्यं वितानैरुपशोभितम् ।
विचित्रवस्त्रसंछन्नं तुलास्तम्भविभूषितम् ।
सफलै कदलीस्तम्भैः क्रमुकैर्नारिकेलजैः ।
फलैर्नानाविधैर्भोज्यैर्दर्पणैश्चामरैरपि ॥
भूषितं मण्डपं कुर्याद् रत्नपुष्पसमुज्ज्वलम् । इति ।

हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि—दर्पणैश्चामरैर्घण्टैः स्तम्भान् वस्त्रैर्विभूषयेत् ।
कलसैर्घटिकाभिश्च साधारैः कर्करैस्तथा ॥ इति ।

मण्डपान्यथाभावे दोष उक्तः क्रियासारे—

अनुक्तसाधनैः क्लृप्तो यदि वा कुटिलाकृतिः ।
मानाधिकोऽथवा न्यूनो मण्डपः कर्तृनाशनः ॥
आख्यातसाधनैः क्लृप्तः शोभनः सममानकः ।
मनोज्ञो मण्डपो योऽसौ कर्मकर्त्तुः शुभावहः ॥ इति ॥ २६ ॥

वेदीनिर्माणम्

तत्त्रिभागमिते क्षेत्रेऽरत्निमात्रसमन्विताम् ।
चतुरस्त्रां ततो वेदीं मण्डलाय प्रकल्पयेत् ॥ २७ ॥

वेदनिर्माणमाह तदिति । तस्य मण्डपमध्यसूत्रस्य यस्त्रिभागः तृतीयभागः तन्मिते क्षेत्रे । अन्यथा क्षेत्रफलस्य तृतीयांशग्रहणे यत्किञ्चिदेव स्यात् ।

तदुक्तम्— ततो मण्डपसूत्रन्तु त्रिगुणं परिकल्पयेत् ।
पूर्वादिषु क्रमात् तस्य मध्यभागेन वेदिका ॥ इति ।

फलतश्च नवमभागेन वेदिका भवति । तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे—

नवांशं मण्डपं कृत्वा मध्यांशे वेदिका मता । इति ।

अरत्रिमात्रसमुन्नतां हस्तमात्रसमुन्नतां चतुरस्रां वेदिं मण्डपमध्ये मण्डलाय वक्ष्यमाणसर्वतोभद्रमण्डलाय कल्पयेत् । मण्डपकथने तदुक्तम्—

चतुर्द्धारयुक्तं ततस्तस्य मध्ये बुधस्त्रिभागैकभागेन वेदीम् ।
अरत्निप्रमाणोन्नतां दर्पणान्तर्निभां मनोहारिणीं चापि कुर्यात् ॥ इति ।

बहुभिर्ग्रन्थकारैररत्निशब्दो हस्तेऽपि प्रयुक्तः । यथा कादिमते अङ्गुल-लक्षणमुक्त्वा— तैश्चतुर्भिर्भवेन्मुष्टि र्वितस्तिस्तैस्त्रिभिर्गुणैः ।
अरत्निस्तद्द्वयेन स्याद्धस्तः तद्द्वयतः शिवे ॥ इति ।

कात्यायनेनापि शुल्वे बहुषु स्थलेषु अरत्निशब्दो हस्ते प्रयुक्तः । मन्त्रमुक्तावल्यामपि अयुतहोमार्थं द्विहस्तकुण्डकथने 'दशाङ्गुलाधिकाऽरत्निः' इत्युक्तम् । तत्रैव लक्षहोमे च चतुर्हस्तोक्तौ 'चतुर्विंशत्यङ्गुलाधिकाऽरत्निः' इति । तेनात्राऽप्यरत्नि शब्दो हस्तमात्रे व्याख्यातः । तदुक्तं वशिष्ठसंहितायाम्—

हस्तोन्नताञ्च विस्तीर्णां चतुर्हस्तैः समन्ततः । इति ।

मन्त्रमुक्तावल्यामपि—इष्टकाभिर्मृदा वाऽपि वेदी दर्पणसन्निभा ।
राजहस्तोच्छ्रया कार्या विदुषा सिद्धिमिच्छता ॥ इति ।

राजहस्तो मध्यमाङ्गुल्यन्तः । पञ्चरात्रेऽपि—

वेदी मण्डपस्य त्रिभागतः । चतुर्थांशोच्छ्रितिस्तस्याः । इति ।

क्रियासारेऽपि— त्रिभागं मण्डपं कृत्वा मध्यभागस्तु वेदिका ।
हस्तमानं तदुत्सेधं चतुरस्रं समं यथा ॥
पक्वाभिर्वाऽप्यपक्वाभिरिष्टकाभिर्दृढं यथा ।
कर्त्तव्या वेदिका श्रेष्ठा तदभावे मृदाऽपि वा ॥
अवक्रपार्श्वा सुस्निग्धा दर्पणोदरसन्निभा । इति ।

उत्सेध औन्नत्यम् । सिद्धान्तशेखरे तु विशेषः—

वेदी चतुर्विधा तत्र चतुरस्रा च पद्मिनी ।
श्रीधरी सर्वतोभद्रा दीक्षासु स्थापनादिषु ॥
चतुरस्रा चतुष्कोणा वेदी सर्वफलप्रदा ।
तडागादिप्रतिष्ठायां पद्मिनी पद्मसन्निभा ॥
राज्ञां स्यात् सर्वतोभद्रा चतुर्भद्राऽभिषेचने ।
विवाहे श्रीधरी वेदी विंशत्यस्रसमन्विता ।
दर्पणोदरसङ्काशा निम्नोन्नतविवर्जिता ॥ इति ।

वेदिकाया अन्यथाभावे दोष उक्तः क्रियासारे—

वक्रपार्श्वा क्लिन्नमध्या परूषा दृगशोभना ।
मानहीनाधिका या सा कर्त्तुः कर्मविनाशिनी ॥ इति ।

वायवीयसंहितायां तु मण्डपाद्युक्त्वा—

कृत्वा पूर्वोदितं सर्वं विना वा मण्डपादिकम् ।
मण्डलं पूर्ववत् कृत्वा स्थण्डिलञ्च विशेषतः ॥ इति ॥ २७ ॥

अङ्कुरार्पणम्

प्रागेव दीक्षादिवसात् सप्तभिर्विधिवद्दिनैः ।
सर्वमङ्गलसम्पत्त्यै विदध्यादङ्कुरार्पणम् ॥ २८ ॥

अङ्कुरार्पणकर्माह प्रागेवेति । दीक्षादिवसात् प्राक् सप्तभिर्दिनैरेतेन दीक्षादिनमष्टमं यथा भवति तथा कर्त्तव्यमित्युक्तम् । विधिवदित्यनेन नवभिः पञ्चभिस्त्रिभिः सद्यो वेत्युक्तम् । तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे—

प्रतिष्ठायाञ्च दीक्षायां स्था(स्त्रा)पने चोत्सवे तथा ।
सम्प्रोक्षणे च शान्त्यर्थं विवाहे मौञ्जिबन्धने ॥
सर्वमङ्गलकार्येषु कारयेदङ्कुरार्पणम् ।
प्रतिष्ठादिवसाद् पूर्वं नवमे सप्तमे दिने ।
पञ्चमे वा तृतीये वा सद्यो वा चाऽङ्कुरार्पणम् ॥ इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—पुण्याहघोषणं कृत्वा ब्राह्मणैः सह देशिकः ।
मङ्गलाङ्कुरयज्ञञ्च कुर्यात्तत्रैव चाहनि ॥
सप्तमान्नवमाद्वाऽपि प्रागेव यज्ञकर्मणः ॥ इति ।

अन्यत्रापि— उत्सवेषु विविधेष्वपि दीक्षास्थापनादिषु पवित्रविधौ च ।
मङ्गलाङ्कुरविरोपणपूर्वं मङ्गलं भवति कर्मकृतस्ततः ॥
शस्तयोगदिवसात्तु पुरस्तात् सप्तमेऽहनि शुभे नवमे वा ।
पञ्चमेऽथ सुदिने सुमुहूर्त्ते मङ्गलाङ्कुरविधिं विदधीत ॥ इति।

तत्र पूर्वेद्युरुपवासं कृत्वा स्वगृह्योक्तविधिना नान्दीश्राद्धं कृत्वा अङ्कुरार्पणमारभेत् ।
तदुक्तम्— गुरुर्विशुद्धः प्रागेव शुद्धाहात् सप्तमेऽहनि ।
सङ्कल्प्योपोष्य कर्त्तव्यमङ्कुरारोपणं शुभम् ॥
कुर्यान्नान्दीमुखश्राद्धं पूर्वेद्युः स्वस्तिवाचनम् ।
स्वगृह्योक्तप्रकारेण तदेतद्विदधीत वै ॥ इति ।

संहितायामपि— सर्वत्राभ्युदयश्राद्धमङ्कुरोत्पादनं तथा ।
आदावेव प्रकुर्वीत कर्मणोऽभ्युदयात्मनः ॥ इति ॥ २८ ॥

प्रत्येक दिशाओं में लोकपालों के वर्णों के अनुसार ध्वजा आरोपित करना चाहिए । तदनन्तर समस्त मण्डप वितान दर्भ और मालादि से अलंकृत करना चाहिए । पुनः मण्डप का त्रिभाग कर उसके बीचोबीच अरत्नि प्रमाण में चौकोर वेदी का निर्माण करे । दीक्षा दिन के आरम्भ से सात दिन के पहले अर्थात् आठवें दिन, पहले संपूर्ण मङ्गलों की संप्राप्ति के लिये अंकुश के आरोपण का विधान करना चाहिए ॥ २७-२८ ॥

मण्डपस्योत्तरे भागे शालां पूर्वापरायताम् ।
गूढां कुर्यात् ततस्तस्यां मण्डलं रचयेत् सुधीः ॥ २९ ॥

शालामिति । तत्र—विंशत्या तु करैर्मानं दशायामेन विस्तृतिः । शालाया उत्तमं मानम्।

अत्रैतावत्याः प्रयोजनाभावादेतदर्द्धेन मध्यममानेन शाला कार्या । तेन दशहस्तदीर्घा पञ्चहस्तायामा अत्र कर्त्तव्या । तामेवाह पूर्वापरायतामिति । दीर्घ चतुरस्ररूपां गूढां परितः कटादिपरिवृतां दक्षिणैकद्वारवतीं निवाताञ्च कुर्यात् । तदुक्तं प्रयोगसारे—अवागुदक्स्थितां कृत्वा निवातां तां कुटीं दृढाम् । इति । तस्यां वक्ष्यमाणं मण्डलं रचयेत् ॥ २९ ॥

मण्डप के उत्तरी भाग में दश हाथ लम्बी पाँच हाथ चौड़ी पूर्व से पश्चिम ओर की लम्बी एक चौकोर वात रहित शाला जिसका द्वार दक्षिणाभिमुख हो निर्माण करे और उसे चटाई आदि से घेर कर सुगुप्त करे । तदनन्तर बुद्धिमान् शिष्य उसी में मण्डल का निर्माण करे ॥ २९ ॥

मण्डलप्रमाणम्

पञ्चहस्तप्रमाणानि पञ्च सूत्राणि पातयेत् ।
पूर्वापरायतान्येषामन्तरं द्वादशाङ्गुलम् ॥ ३० ॥
दक्षिणोत्तरसूत्राणि तद्वदेकादशाऽर्पयेत् ।
पदानि तत्र जायन्ते चत्वारिंशत् प्रमार्जयेत् ॥ ३१ ॥
पङ्क्त्यां वीथीश्चतस्रोऽन्तश्चतुष्कोभयपार्श्वयोः ।
वीथ्यौ द्वे च चतुष्कोष्ठत्रयमत्राऽवशिष्यते ॥ ३२ ॥
पदानि रञ्जयेत्तानि श्वेतपीतारुणासितैः ।
रजोभिः श्यामलेनाऽथ वीथीरापूरयेत् सुधीः ॥ ३३ ॥

मण्डलमेवाह पञ्चहस्तेति। शालाविस्तारमध्यभागे प्रागपरायतमेकं सूत्रं पञ्चहस्तप्रमाणं दत्त्वा तत्सूत्रस्य दक्षिणोत्तरभागयोः द्वादश द्वादशाङ्गुलान्तरे द्वे द्वे सूत्रे दद्यात् । ततस्तत्पञ्चसूत्रव्यतिभेदीनि एकादशसूत्राणि अर्पयेत् । तद्वदिति द्वादशाङ्गुलान्तराणीत्यर्थः । एवं पञ्चापि हस्ताः संगृहीताः । तदुक्तं प्रयोगसारे—

प्रसार्य स्फोटयेत् सूत्रं यथा याम्योत्तरायतम् ।
पञ्चहस्तप्रमाणेन द्वे द्वे पार्श्वे च पातयेत् ॥
तद्वत् पूर्वोक्तमानेन द्वादशद्वादशाङ्गुले ।
प्राक् प्रत्यक् च समं पश्चात् सूत्राण्येकादश क्रमात् ।
पातयेत् तासु रेखासु पूर्वसूत्रान्तरान्तरम् ॥ इति ।

प्रमार्जयेदित्युत्तरत्रान्वेति । पङ्क्त्या चतस्रो वीथीर्मार्जयेत् । बाह्य इत्यर्थः । अन्तरिति वक्ष्यमाणत्वात् । पूर्वतश्चतुष्कोष्ठामेकां वीथीम् अष्टकोष्ठां दक्षिणवीथीं पुनश्चतुष्कोष्ठां पश्चिमवीथीम् अष्टकोष्ठामुत्तरवीथीं मार्जयेत् । ततोऽन्तश्चतुष्कस्य मध्यचतुष्कस्य उभयोः पार्श्वयोः पार्श्वद्वये द्वे वीथ्यौ द्विद्विकोष्ठरूपे चात्र

मार्जयेदित्यस्यानुषङ्गः । ततः फलितमाहात्रेति । अत्र मण्डले चतुष्कोष्ठत्रयमवशिष्यते इति । तानि शिष्टानि चतुष्कोष्ठत्रयस्थानि पदानि द्वादश । प्रत्येकचतुष्कोष्ठे श्वेतादिभी रजोभी रञ्जयेत् । तत्र श्वेतं वायुपदे । पीतमाग्नेये । अरुणं रक्षःपदे । असितमीशपदे इति सुधीरित्यनेनोक्तम् । तदुक्तमाचार्यैः—

पीतरक्तसितासितं प्रतिपदं वह्न्यादि शर्वान्तकम् । इति ।

अथ अनन्तरं श्यामलेन हरितेन वीथीरापूरयेत् ॥ ३०-३३ ॥

उस शाला के मध्य भाग में पूर्व से पश्चिम की ओर पाँच हाथ का सूत्र देकर उसमें दक्षिण से उत्तर की ओर बारह बारह अङ्गुल के दो दो सूत्र के आधार से ग्यारह सूत्र लगावें । फिर उसके बाहर चारों ओर चार वीथी का निर्माण करे । पूर्व से चार कोष्ठ की एक वीथी, दक्षिण से आठ कोष्ठक की एक वीथी, पश्चिम से चार कोष्ठ की एक वीथी, और इसी प्रकार उत्तर से आठ कोण की वीथी मार्जित करे । पुनः मध्य में रहने वाली चतुष्कोष्ठक के दोनों पार्श्व भाग में दो दो कोष्ठक रूप दो वीथी का मार्जन करे । ऐसा करने से तीन तीन चतुष्कोष्ठक अर्थात् बारह कोष्ठक शेष रह जायेंगे । अब कोष्ठकों के रंगने का प्रकार कहते हैं—वायव्य कोण के चतुष्कोष्ठक को श्वेत रंग से, आग्नेय कोण के चतुष्कोष्ठक को पीत रंग से, नैर्ऋत्य कोण के चतुष्कोण को लाल रंग से और ईशान कोण के चतुष्कोष्ठक को काले रंग से रंग देवे ॥ ३०-३३ ॥

अङ्कुरार्पणि पात्रादिनियमः

पात्राणि त्रिविधान्याहुरङ्कुरार्पणकर्मसु ।
पालिकाः पञ्चमुख्यश्च शरावाश्च चतुःक्रमात् ॥ ३४ ॥
प्रोक्ताः स्युः सर्वतन्त्रज्ञैर्हरिब्रह्मशिवात्मकाः ।
एषामुच्छ्राय उन्नेयः षोडशद्वादशाष्टभिः ॥ ३५ ॥

अङ्कुरार्पणपात्राण्याह पात्राणीति । स्थूलानि उच्चानि शरावाण्येव पालिका-शब्देनोच्यन्ते । पालिका एव किञ्चिन्नीचाः पञ्चमुखयुक्ताः पञ्चमुख्य उच्यन्ते । शरावाः प्रसिद्धाः । सर्वतन्त्रज्ञैरित्यनेन पञ्चदेवतादीक्षादिकर्मसु पात्रभेदो नास्तीत्युक्तम् । प्रथमा हरिरूपाः । द्वितीया ब्रह्मरूपाः । तृतीयाः शिवरूपाः । एतेन हरिब्रह्मेशा एषु पात्रेषु पूज्या इत्युक्तं भवति । तदुक्तं सारस्वतमते—

प्रोक्तेषु तेषु पात्रेषु ब्रह्मविष्णुशिवान् यजेत् । इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि— सम्पूजयेच्छरावेषु रुद्रं चन्दनपुष्पकैः ।
पालिकासु तथा विष्णुं ब्रह्माणं घटिकासु च ॥ इति ॥ ३४-३५ ॥

अब **अंकुशरोपण का विधान** कहते हैं—अंकुशरोपण कर्म में तीन प्रकार के पात्र कहे गये हैं—१. पालिका (मोटे और ऊँचे प्रकार के शराव जिसे होडी कहा जाता है) २. पञ्चमुखी (परई) और ३. शराव (पुरवा) । इनमें प्रत्येक की संख्या चार चार होनी चाहिए । सर्व तत्त्वज्ञों ने इन तीन प्रकार के पात्रों में प्रथम

को विष्णु स्वरूप, द्वितीय को ब्रह्मा स्वरूप, और तृतीय प्रकार के पात्र को शिव स्वरूप कहा है । इनकी ऊँचाई क्रमशः सोलह, बारह और आठ अङ्गुल की करनी चाहिए ॥ ३४-३५ ॥

अङ्गुलैः क्रमशस्तानि शुभान्यावेष्ट्य तन्तुना ।
प्रक्षाल्य देशिकस्तेषु पदेष्वाहितशालिषु ॥ ३६ ॥
सगन्धदर्भकूर्च्चेषु पश्चिमादि निवेशयेत् ।
करीषवालुकामृद्भिस्तानि पात्राणि पूरयेत् ॥ ३७ ॥

अङ्गुलैः क्रमशः इति पूर्वेण सम्बद्ध्यते । महाकपिलपञ्चरात्रे तु विशेषः—

पालिकावक्त्रविस्तारः षोडशाङ्गुल उच्यते ।
भवेत् कण्ठविलं वा स्यात् तदष्टाङ्गुलविस्तृतम् ॥
पादपीठस्य विस्तारं षडङ्गुलमुदाहृतम् ।
चतुरङ्गुल उत्सेधस्तत्सन्धिश्चाऽङ्गुलं भवेत् ॥
तत्सन्धेश्च भवेन्नाहं पादपीटार्द्धमेव च ।
भवेत् पञ्चमुखी चैवं घटिका सर्वकामदा ॥
चतुरङ्गुलविस्ताराण्याहुर्वक्त्राणि पञ्च वै ।
चत्वारि च चतुर्दिक्षु ऊर्द्धमेकं यथाविधि ॥
घटिकायामविस्तारो द्वादशाङ्गुल उच्यते ।
आचार्याः कथयन्त्येके षोडशाङ्गुलमेव वा ॥
द्वादशाङ्गुलविस्तारं शरावस्य मुखं स्मृतम् ।
चतुरङ्गुलविस्तारमधस्तान्मूलमुच्यते ॥ इति ।

अन्यत्रापि— तालमात्रमिह पञ्चमुखी स्याद् व्यासतोच्छ्रयमिता घटिका स्यात् ।
दिक्षु तन्मुखचतुष्टयमेकं मध्यतस्तु समवर्त्तितभागम् ॥
तालविस्तृतमुखन्तु शरावं व्यासतोच्छ्रयगतार्द्धमिताङ्घ्रि ।
दण्डमस्य चतुरङ्गुलनाहं कण्ठमस्य विलवर्जमुदग्रम् ॥
सम्भवे कनकरूप्यताम्रतो मार्त्तिकान्यभिनवान्यथवा स्युः । इति ।

सिद्धान्तशेखरे तु— यथासम्भवमानं वा पालिकादि समाचरेत् । इति ।

तानीति पात्राणि। शुभानीति कृष्णवर्णव्रणादिरहितानि। तन्तुनेति त्रिगुणेन । तत्र पूर्वं प्रक्षालनं पश्चात्तन्तुवेष्टनमिति ज्ञेयम् । दर्भकूर्चम् अग्रे वक्ष्यमाणम् । पश्चिमादीति । पश्चिमचतुष्के पालिकाचतुष्टयं मध्यमचतुष्के पञ्चमुखीचतुष्टयं पूर्वचतुष्के शरावचतुष्टयं निवेशयेत् । तन्मध्ये आग्नेयादि स्थापनमिति ज्ञेयम् । तदुक्तं प्रयोगसारे—

तेषु पात्राणि विन्यसेत् ।
वह्न्यादीशानपर्य्यन्तं चतुष्केषु पृथक् पृथक् ॥ इति ।

करीषेति । करीषं शुष्कगोमयचूर्णम् । एतैरुत्तरोत्तरं सर्वाण्येव पात्राणि पूरयेत्। उक्तञ्च हयशीर्षपञ्चरात्रे—पूरयेदुत्तरोत्तरम् । इति ।

प्रयोगसारेऽपि—मृद्वालुकाकरीषैश्चोर्द्धतः पात्राणि पूरयेत् । इति ।

तत्र विशेषः सिद्धान्तशेखरे—

गन्धादिभिश्च कुद्दालं पूजयित्वा दिनान्तरे ।
गीतनृत्यसमायुक्तं गजवाजिसमन्वितम् ॥
गुर्वादयो रथारूढा गजारूढास्तथा परे ।
गत्वा तीरं तडागस्य नद्याः पुष्पवनस्य वा ॥
तत्र शुद्धं भुवो भागं दर्भैः संमृज्य चास्त्रतः ।
अभ्युक्ष्य चार्घ्यतोयेन तत्तन्मन्त्रमनुस्मरन् ॥
हृदा भूमिं समावाह्य गन्धपुष्पैः समर्चयेत् ।
कुद्दालीमस्त्रमन्त्रेण खात्वा भूमिमथो मृदम् ॥
गृहीत्वा वामदेवेन पूरयेत् कांस्यपात्रके ।
हृदा मृदञ्च संमृज्य वस्त्रेणाच्छाद्य धारयेत् ॥
पुरं वा निलयं वापि सर्वमङ्गलनिःस्वनैः ।
गुरुः प्रदक्षिणं कृत्वा मण्डपं त्वानयेत्ततः ॥
एतत्कर्म दिवाकाले कुर्याद् रात्रौ न बुद्धिमान् । इति ॥ ३६-३७ ॥

आचार्य सर्वप्रथम उन पात्रों का प्रक्षालन करे । फिर तन्तु से तीन बार उसे आवेष्टित करे । गन्ध और कुशादि डालकर पश्चिमादि क्रम से उन्हें चावल पर स्थापित करे ॥ ३६ ॥

पश्चिम के चार कोष्ठकों में चार पालिका पात्र, मध्य के चार कोष्ठकों में चार पञ्चमुखी और पूर्व के चार कोष्ठकों में चार शराव स्थापित करे । तदनन्तर गोबर का चूर्ण (कर्सी) बालू और मिट्टी से उन सभी पात्रों को भर देवे ॥ ३७ ॥

सुधाबीजेन बीजानि दुग्धैः प्रक्षाल्य तन्त्रवित् ।
मूलमन्त्राभिजप्तानि पञ्चघोषपुरः सरम् ॥ ३८ ॥
आशीर्वाग्भिर्द्विजातीनां मङ्गलाचार पूर्वकम् ।
निर्वपेत्तेषु पात्रेषु देशिको यतमानसः ॥ ३९ ॥

तेषु बीजावापमाह सुधेति । सुधाबीजेन वमित्यनेन । दुग्धैः गोदुग्धैः प्रक्षाल्येति । महाकपिलपञ्चरात्रे तु विशेषः—

द्वादशाक्षरमन्त्रेण क्षालयित्वा तु वारिणा । इति ।

सारस्वतमतेऽपि—बीजानि तानि प्रक्षाल्य जलक्षीरेण च क्रमात् । इति ।

एतत् तन्त्रवित् इत्यनेन सूचितम् । मूलेति मूलमन्त्रेण दातव्यमन्त्रेण अभिजप्तानि अष्टोत्तरशतमिति । तदुक्तं महाकपिलपञ्चरात्रे—

संख्यानुक्तौ शतं साष्टं सहस्रं वा जपादिषु । इति ।

पञ्चघोषास्तु पटहढक्कामृदङ्गमुखवाद्यशङ्खाः । मङ्गलाचारेति तत्तद्देशप्रसिद्ध्या उलूलूध्वन्यादिपूर्वकम् । देशिको यतमानस इत्यनेन तानि बीजानि एकीकृत्य रात्रौ मूलमन्त्रेण प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा पालिकादिषु निर्वपेदित्युक्तम् ।

तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे—

बीजमुख्येन मूलेन प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
वापयेत् सर्वबीजानि पालिकादिष्वनुक्रमात् ।
बीजानामधिपः सोमस्तस्माद्रात्री तु निर्वपेत् ॥ इति ।

सारस्वतमतेऽपि— बीजेभ्यो दैवतेभ्यश्च स रात्रौ कान्तिमान् यतः ।
तस्माद् गुरुस्तु बीजानि निशायामेव वापयेत् ॥ इति ॥ ३८-३९ ॥

अब **बीज वपन का विधान** कहते हैं—तन्त्रवेत्ता सुधा बीज (वं) पढ़कर गाय के दूध के द्वारा बीज को प्रक्षालित करे । फिर मूल मन्त्र का १०८ बार जप कर पञ्चघोष (पटह, ढक्का, मृदङ्ग, मुखवाद्य और शङ्ख) करते हुये मङ्गलाचार पूर्वक ब्राह्मणों का आशीर्वाद ग्रहण करते हुये आचार्य स्वयं समाहित मन हो उसमें बीज वपन करे ॥ ३८-३९ ॥

प्रशस्तबीजानि

शालिश्यामाढकीमुग्दतिलनिष्पावसर्षपाः ।
कुलत्थकङ्गुमाषाश्च बीजान्यङ्कुरकर्मणि ॥ ४० ॥

बीजान्याह शालीति । शालयो हैमन्तिकाः । श्यामः श्यामाकः कान्यकुब्ज-भाषायां सावा इति प्रसिद्धः । आढकी तूवरी । निष्पावा राजमाषाः ! विष्णुपुराण-टीकायां श्रीधर्यां तथा व्याख्यातत्वात् । 'निष्पावान् राजमाषांश्च सुप्ते देवे विवर्जयेत्' इति पृथगुक्तेर्न तत्र वाधा । सारस्वतमते प्रत्येकं बीजेषु देवतापूजोक्ता ।

स्कन्दं प्रियङ्गौ निष्पावे वायुमग्निं कुलत्थके ।
आढक्यां निर्ऋतिं सोमं मुद्गे वैवस्वतं तिले ॥
प्रजापतिं शालिबीजे(धान्ये)त्वनन्तं सर्षपेऽर्चयेत् ।
इन्द्रं श्यामे च माषे तु वरुणन्तु नगात्मजे ॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरे तु प्रत्यहं सोमपूजाप्युक्ता ।

सोमं सम्पूजयेन्नित्यमधिवासदिनावधि ।
अधिवासदिने प्राप्ते सोममुद्वासयेद् गुरुः ॥ इति ॥ ४० ॥

अब **बोये जाने वाले बीज का नाम** कहते हैं—शाली (हेमन्त ऋतु में होने वाला धान्य विशेष) श्यामाक (साँवा), आढकी (तूवरी) निष्पावा (राजमाष, वोड़ा) मूँग, तिल, निष्पाव, सर्षप, कुलत्थ, कंगु और माष इन बीजों को उन पात्रो में बो देवे ॥ ४० ॥

हरिद्रादिभिः समभ्युक्ष्य वस्त्रैराच्छाद्य देशिकः ।
बलिंत्रिविधपात्राणां दिक्षु पूर्वादितो हरेत् ॥ ४१ ॥

हरिद्रेति । तत्र मन्त्र उक्तः प्रयोगसारे—

त्रियम्बकाय शर्वाय शङ्कराय शिवाय च ।
सर्वलोकप्रधानाय शाश्वताय नमो नमः ॥

विकीर्याऽनेन मन्त्रेण हरिद्राचूर्णमिश्रितम् ।
तोयं प्रवर्षयेत्तेषु सिञ्चेत्तोयैर्दिनं प्रति ॥ इति ।

इदं देशिक इत्यनेन सूचितम् । वस्त्रैर्नूतनवस्त्रैः बहुवचनं कपिञ्जलाधिकरण-न्यायेन त्रित्वे पर्यवस्यति । आच्छाद्येति पात्रचतुष्टयमेकैकेन । रात्रौ बलिं क्षिपेदि-त्यन्वयः । प्रातः पुनः स्थलमार्जनादिकं कृत्वा द्वितीयरात्र्यादौ बलिदानम् ॥ ४१ ॥

प्रणवाद्यैर्नमोऽन्तैश्च रात्रौ रात्रीशनामभिः ।
भूतानि पितरो यक्षा नागा ब्रह्मा शिवो हरिः॥ ४२ ॥

प्रणवाद्यैरिति। तत्र मन्त्रः ॐ भूतेभ्यो नमः (गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यताम्बूलसहितं बलिं गृहणन्तु स्वाहा) इति । एवमन्यत्रापि मन्त्रः । महाकपिलपञ्चरात्रे तु विशेषः—
ततो गन्धविमिश्रेण सिञ्चेद्वै शुद्धवारिणा ।
त्रिरात्रन्तु यथान्यायं पञ्चरात्रमथापि वा ॥ इति ।

सारस्वतमते तु—प्ररूढान्यङ्कुराण्यन्यो न वीक्षेत कदाचन ।
आचार्य एव प्रविशेत्तच्छिष्यो वा तदाज्ञया ॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—वस्त्रैराच्छाद्य यत्नेन सुगुप्तानि च कारयेत् । इति ॥ ४२ ॥

पुनः हल्दी से रँगे गये एक एक वस्त्र से चार चार पात्रों के क्रम से आचार्य स्वयं ढक देवे और उन तीन प्रकार के पात्रों के चारों ओर पूर्वादि दिशाओं में बलि प्रदान की क्रिया रात्रि में रात्रिश के नाम से प्रारम्भ करे । एक रात्रि में बलिदान के पश्चात् दूसरे दिन स्थान शुद्ध कर पुनः द्वितीय रात्रि में बलिदान करे । इसी प्रकार का क्रम सातों रात्रि में रखे । प्रतिदिन बलिदान का मन्त्र इस प्रकार है (ॐ भूतेभ्यो नमः गन्ध पुष्प धूप दीप नैवेद्य-ताम्बूल सहितं बलिं गृह्णन्तु स्वाहा, यह प्रथम रात्रि में बलिदान का मन्त्र है, दूसरी रात्रि में भूतेभ्यः नमः के स्थान में पितृभ्यो नमः मन्त्र का सन्निवेश करे । यह क्रम सर्वत्र जानना चाहिए ॥ ४१-४२॥

सप्तानामपि रात्रीणां देवताः समुदीरिताः ।
भूतेभ्यः स्युर्लाजतिलहरिद्रादधिसक्तवः॥ ४३ ॥

बलिद्रव्याणि

सान्नाः पितृभ्यः सतिलास्तण्डुलाः परिकीर्त्तिताः।
करम्भलाजा यक्षेभ्यो नारिकेलोदकान्विताः॥ ४४ ॥
सक्तुपिष्टञ्च नागेभ्यो ब्रह्मणे पङ्कजाक्षतम् ।
सापूपमन्नं शर्वाय विष्णवे तु गुडौदनम्॥ ४५ ॥

सप्तसु रात्रिषु पृथक् पृथक् बलिद्रव्याण्याह भूतेभ्य इति । सान्ना इत्यन्तं षट् प्रथमरात्रौ । अस्यैव भूतक्रूरेति नाम । तदुक्तम्—

'लाजतिलरक्तरजोदधिसक्तवन्नानि भूतक्रूराख्यम्' इति ।

करम्भा दधिसक्तवः । अक्षता अखण्डतण्डुलाः । यदा नवसु रात्रिषु बलिदानं तदा रात्रिद्वये बलिद्रव्यं देवता चोक्ताचार्यैः 'वैष्णवश्च दौग्धात्रं' कृशरश्च वैष्णवेयं यदि नवरात्रं क्रमेण बलिरुक्तः।' इति ॥ ४३-४५ ॥

भूत, पितर, यक्ष, नाग, ब्रह्मा, शिव और हरि—ये सात रात्रियों के सात देवता कहे गये हैं । अब इन सात रात्रियों में पृथक् पृथक् दी जाने वाली बलिदान की सात वस्तुयें कहते हैं । प्रथम रात्रि में भूतों के लिये, लाजा, तिल, हरिद्रा, दही, सत्तू और अन्न की बलि देवे । पुनः द्वितीय रात्रि में पितरों को तिल सहित अक्षत तण्डुल का बलिदान करे । तृतीय रात्रि में यक्षों के लिये करम्भ (दधि मिश्रित सत्तू) और लाजा का बलिदान करे । चतुर्थ रात्रि में नागों के लिये नारिकेल के जल से युक्त सत्तू के चूर्ण का बलिदान करे । पञ्चम रात्रि में ब्रह्मा के लिये कमल सहित अखण्ड अक्षत का तथा षष्ठ रात्रि में शिव के लिये अपूप सहित अन्न का और सातवीं रात्रि में विष्णु के लिये, गुड़ मिश्रित ओदन का बलिदान करे ॥ ४३-४५ ॥

ततो लोकेश्वरेभ्योऽपि वितरेद्विधिवद्बलिम् ।
दीक्षायामभिषेकेषु नववेश्मप्रवेशने ।
उत्सवेषु च सम्पत्त्यै विदध्यादङ्कुरार्पणम् ॥ ४६ ॥

तत इति । तत्तद्दिशि पायसादिना बलिर्विधेयः । तत्र नैर्ऋत्यप्रतीच्ययोर्मध्ये अनन्तस्य ईशपूर्वयोर्मध्ये ब्रह्मणः इति । विधिवदित्यनेन पूर्वोक्तो दिशां बलिरत्रापि कर्त्तव्य इति सूचितम् । एषां पात्राणां विनियोगमग्रे वक्ष्यति । अङ्कुरपरीक्षोक्ता सिद्धान्तशेखरे— यजमानाभिवृद्ध्यर्थं अङ्कुराणि परीक्षयेत् ।
सम्यगूर्ध्वं प्ररूढानि कोमलानि सितानि च ॥
धूम्रवर्णान्यपूर्णानि तथा तिर्यग्गतानि च ।
श्यामलानि च कुब्जानि वर्जयेदशुभानि तु ॥
अवृष्टिं कुरुते कृष्णं धूम्राभं कलहन्तथा ।
अपूर्णं जननाशश्च दुर्भिक्षं श्यामलाङ्कुरम् ॥
तिर्यग्गते भवेद् व्याधिः कुब्जे शत्रुभयं तथा ।
अशुभे चाङ्कुरे जाते शान्तिहोमं समाचरेत् ॥
मूलमन्त्रेण जुहुयाद् गुरुर्मूर्त्तिधरैः सह ।
अघोरास्त्रेण वास्त्रेण शतं वाऽथ सहस्रकम् ॥ इति ।

सारस्वतमतेऽपि— प्ररूढैरङ्कुरैः कर्त्तुर्निदिशेच्च शुभाशुभम् ।
श्यामैः कृष्णैरङ्कुरैरर्थहानिस्तिर्यग्रूढैर्व्याधिरान्दोलितैस्तैः ।
कुब्जैर्दुःखं दुष्प्ररूढैर्मृतिश्च रोगा भुग्नैः स्थानदेशेष्टहानिः ॥ इति ॥ ४६ ॥

इसी प्रकार पायस आदि के द्वारा लोकेश्वरों को भी विधिपूर्वक बलि देनी चाहिए । दीक्षा ग्रहण काल में, अभिषेक में नव गृह प्रवेश में, उत्सव उपस्थित होने पर तथा संपत्ति की प्राप्ति के लिये अंकुरार्पण की क्रिया अवश्य करनी चाहिए ॥ ४६ ॥

प्राक् प्रोक्ते मण्डपे विद्वान् वेदिकाया बहिस्त्रिधा ॥ ४७ ॥
क्षेत्रं विभज्य मध्यांशे पूर्वादि परिकल्पयेत् ।
अष्टास्वाशासु कुण्डानि रम्याकाराण्यनुक्रमात् ॥ ४८ ॥

कुण्डस्थानमाह प्रागिति । वेदिकाया बहिः सर्वतः क्षेत्रं क्षेत्रमध्यसूत्रं त्रिधा विभज्य तत्तन्मध्यभागे प्रादक्षिण्येन पूर्वादि अष्टास्वाशासु रम्याकाराणि कुण्डानि अनुक्रमात् परिकल्पयेदिति सम्बन्धः । विद्वान् पञ्चमेखलादिकमपि जानन्नित्यर्थः । आशासु दिक्षु ईशानान्तास्वित्यर्थः । 'पूर्वाद्युक्तावधिच्छेदात् क्रम एव विवक्षितः' इति परिभाषणात् । तेन वेद्याः पादमात्रं त्यक्त्वा वक्ष्यमाणमेखलायोग्यञ्च तत्र स्थानं त्यक्त्वा कुण्डानि कार्याणीत्यर्थः । सम्पन्नो भवति ।

तदुक्तं सोमशम्भुना—वेदीपादान्तरं त्यक्त्वा । इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि— त्यक्त्वा वेदिचतुर्भागम् । इति ।

नारदीयेऽपि— कुण्डवेद्यन्तरञ्चैव सपादकरसमितम् । इति ।
अत्र पादशब्दः किञ्चिदधिकोपलक्षकः ।
तेन मध्यमोत्तममण्डपविषयत्वमस्य ।

क्रियासारेऽपि—वेदिकाकुण्डयोर्मध्ये हस्तद्वितयमन्तरम् । इति ।

इदं चतुर्विंशति हस्तमण्डपविषयम् ।

वाशिष्ठसंहितायान्तु—

त्रयोदशाङ्गुलं त्यक्त्वा वेदिकायाश्चतुर्दिशम् ।
कुण्डानि स्वागमोक्तानि विदध्याद्विधिवद्बुधः ॥ इति ।

अत्र कुण्डानीति समेखलानि ॥ ४७-४८ ॥

चतुरस्रकुण्डमानम्

चतुरस्त्रं योनिमर्द्धचन्द्रं त्र्यस्त्रं सुवर्त्तुलम् ।
षडस्त्रं पङ्कजाकारमष्टास्त्रं तानि नामतः ॥ ४९ ॥

तमेव क्रममाह चतुरस्रमिति । तदुक्तमाम्नायरहस्ये—

नवकुण्डविधाने तु दिक्षु कुण्डाष्टकस्थिते । इति ॥ ४९ ॥

मण्डप में कुण्डविधान—विद्वान् साधक पूर्व में कहे गये मण्डप में वेदी से बाहर के क्षेत्र को तीन भागों में प्रविभक्त कर मध्य भाग में पूर्वादि आठों दिशाओं में परम मनोहर मेखला सहित आठ कुण्डों का निर्माण करे । चतुरस्र, योनि, अर्द्धचन्द्र, त्र्यस्र, सुवर्त्तुल, षडस्र, पङ्कजाकार और अष्टास्र—ये आठ प्रकार के कुण्डों के नाम हैं ॥ ४७-४९ ॥

आचार्यकुण्डं मध्ये स्याद् गौरीपतिमहेन्द्रयोः ।
हस्तमानमितां भूमिं पूर्ववत् परिकल्पयेत् ॥ ५० ॥

समन्तात् कुण्डमेतत् स्याच्चतुरस्रं शुभावहम् ।
चतुर्विंशत्यङ्गुलाढ्यं हस्तं तन्त्रविदो विदुः ॥ ५१ ॥
कर्त्तुर्दक्षिणहस्तस्य मध्यमाङ्गुलिपर्वणः ।
मध्यस्य दीर्घमानेन मानाङ्गुलमुदीरितम् ॥ ५२ ॥

आचार्यकुण्डमिति । गौरीपतिमहेन्द्रयोर्मध्ये ईशपूर्वदिङ्मध्ये आचार्यकुण्डं स्यात् । तदुक्तं तत्रैव—

नवमं कारयेत् कुण्डं पूर्वेशानदिगन्तरे। तद्वृत्तं चतुरस्रं वा स्यात् । इति। तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे—पुरन्दरेशयोर्मध्ये वृत्तं वा चतुरस्रकम् । तदाचार्यस्य निर्दिष्टम् । इति।

अन्यत्रापि— मध्ये वृत्तञ्च गौरीपतिसुरपदिशोः पण्डिताः केचिदाहुः । इति ।

क्रियासारेऽपि— वृत्तं वा चतुरस्रं स्यान्मध्यस्थानं वृषेशयोः । इति ।

तत्र सर्वकुण्डप्रकृतिभूतत्वादादितश्चतुरस्रकुण्डलक्षणमाह हस्तेति । पूर्ववदिति वास्तुमण्डलचतुरस्रकरणरीत्या । समन्ताच्चतुर्दिक्षु परिकल्पयेदिति सम्बन्धः। चतुरस्र-कुण्डलक्षणे हस्त उक्तः तल्लक्षणनिर्वाहार्थम् अङ्गुललक्षणमप्याह चतुरिति । कर्त्तुः संस्कार्यस्य शिष्यस्य नत्वाचार्यस्य । प्रयोजककर्तृत्वेन शिष्येपि कर्तृशब्द प्रयोगात् । ननु मुख्यकर्तृपदवाच्य आचार्य एवात्र किमिति न गृह्यते । इति चेदुच्यते । 'दान-वाचनान्वारम्भणवरवरणव्रत प्रमाणेषु यजमानं प्रतीयात्' इति कात्यायनवचनात् । नन्विदं श्रौतं प्रकृतं तान्त्रिकं तत् कथमेकवाक्यत्वमिति चेत् । तन्न । 'परोक्तमविरोधि च' इत्युक्तेः । यथा श्रौते सोमयागादौ—

यज्ञोपवीतिना कार्यं सदा बद्धशिखेन च । शुचिना कर्म कर्त्तव्यम् ।

इत्याद्यविरुद्धं स्मार्त्तमपि गृह्यते । तद्वदिहापि । अतएवोक्तम् 'सर्वशाखा-प्रत्ययमेकं कर्म' इति । तन्त्रविद इत्यनेन तत्तत्तन्त्रोक्तनानाविधाङ्गुललक्षणाभिज्ञा इत्युक्तम् । मध्यमाङ्गुलिपर्वण इति । पर्वशब्देन मध्यमपर्वोच्यते । तन्मध्यस्य दैर्घ्यमानं यत्तदङ्गुलं । अथवा मध्यस्य मध्यमाङ्गुलिपर्वणः दैर्घ्यमानं यत्तदङ्गुल-मिति सम्बन्धः ॥ ५०-५२ ॥

यवानामष्टभिः क्लृप्तं मानाङ्गुलमुदीरितम् ।

योनिकुण्डम्

चतुरस्रीकृतं क्षेत्रं पञ्चधा विभजेत् सुधीः ॥ ५३ ॥

अग्रे ग्रन्थकृद् यवद्वयक्रमेणैव इत्यादि यवव्यवहारं करिष्यति तत्सिद्ध्यर्थ-मङ्गुलस्याष्टमो भागो यव इत्याह यवानामिति । मानाङ्गुलमिति तस्यैव संज्ञान्तरम् नत्वङ्गुलस्येदं पृथग्लक्षणम् । वा शब्दादिप्रयोगाभावात् । ग्रन्थान्तरे च—

जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत् प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥
त्रसरेणुस्तु विज्ञेयो ह्यष्टौ ते परमाणवः ।
त्रसरेणव एते स्युरष्टरेणुस्तु संस्मृतः ॥

ते रेणवस्तथा त्वष्टौ बालाग्रं तत् स्मृतं बुधैः ।
बालाग्राण्यष्ट लिख्या तु यूका लिख्याष्टकं स्मृतम् ॥
अष्टौ यूका यवं प्राहुरङ्गुलन्तु यवाष्टकम् ।
रत्निस्त्वङ्गुलपर्वाणि विज्ञेयस्त्वेकविंशतिः ॥
चत्वारि विंशतिश्चैव हस्तः स्यादङ्गुलानि तु ॥ इति ।

अङ्गुलद्वयमेकतयैवोक्तम् । त्रैलोक्यसारेऽपि—

कर्त्तुर्मध्याङ्गुलेर्मध्यपर्वणोरङ्गुलप्रमा ।
तिर्यग्यवोदराण्यष्टावूर्ध्वाग्रा ब्रीहयस्त्रयः ॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि मात्राङ्गुलेनैव कुण्डं कर्त्तव्यमित्युक्तम् । तद् यथा—

मात्राङ्गुलेन हस्तः स्यात् कुण्डमाने शिवेरितः ।
मध्यमाङ्गुलिमध्यस्थपर्वदैर्घ्येण चोत्तमम् ॥
मात्राङ्गुलेन चानेन मेखलाकण्ठनाभयः ।
कर्त्तव्याः कुण्डयोनिश्च । इति ।

मयेनापि— परमाणुक्रमाद् वृद्धं मानाङ्गुलमितीरितम् । इत्यादिना—
यवोऽष्टगुणितोऽङ्गुलम् ।
अङ्गुलन्तु भवेन्मात्रं वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः ॥ इत्यन्तेन ।

हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि—

यवाष्टकैरङ्गुलं स्याच्चतुर्विंशाङ्गुलः करः ।
चतुर्विंशाङ्गुलश्चान्यः स्वाङ्गुष्ठेन तु समितः ॥ इति ।

तत्राङ्गुष्ठरेखामध्यपर्वणोरपि समतैव । ननु यद्यपि वाशब्दादिप्रयोगो नास्ति तथापि मात्राङ्गुलमानाङ्गुल शब्दाभ्यामेव विकल्पो भविष्यतीति चेत् । तन्न । तथाग्रेऽपि भिन्नतया व्यवहाराभाबात् । यत्र तु पञ्चरात्रे पञ्चधाऽङ्गुललक्षणमुक्तं तत्र तु तेषां व्यवस्थाऽप्युक्ता । अत्र तु व्यवस्थाया नोक्तत्वात् पर्यायतैव । तत्तु यथा पञ्चरात्रे—

वातायनपथं प्राप्य ये यान्ति रविरश्मयः ।
तेषु सूक्ष्मा विसर्पन्ते रेणवस्त्रसरेणवः ॥
परमाणवस्तेऽष्टौ स्यूरेणवस्तु तदष्टभिः ।
तेऽष्टौ बालाग्रकं तेऽष्टौ लिक्षा यूका तदष्टकम् ॥
तदष्टकं यवास्तेऽष्टावङ्गुलं समुदाहृतम् ।
सा तूत्तमाङ्गुलिः सप्त यवाः सैव तु मध्यमा ॥
षड्यवाः साधमा प्रोक्ता मानाङ्गुलमितीरितम् ।
विन्यस्तैस्तिर्यगष्टाभिर्यवैर्मानान्तराङ्गुलम् ॥
शिष्यदक्षिणहस्तस्य मध्यमाङ्गुलिमध्यतः ।
पर्वणोरन्तरा दैर्ध्यं मात्राङ्गुलमुदाहृतम् ॥
विनाऽङ्गुष्ठेन शेषाभिर्मुष्टि मङ्गुलिभिः कृतम् ।
चतुर्द्धा विभजेदेको भागो मुष्ट्यङ्गुलिः, स्मृता ॥

यं कश्चित् पुरुषायामं विभज्य दशधा पुनः ।
एकं द्वादशधा भागं कृत्वा तेष्वेकमङ्गुलम् ॥
देहलब्धाङ्गुलं नाम जानीयात् तस्य तत् पुनः ।
उच्छ्रायः प्रतिमायाः स्यान्महामानाङ्गुलाश्रयः ॥
महामानाङ्गुलं यत्तन्मात्राङ्गुलमितीरितम् ।
मानान्तराङ्गुलेनैव प्रतिमाङ्गानि कल्पयेत् ॥
प्रासादादींश्च तेनैव कुर्यान्मानान्तरेण वा ।
वेदिकापीठशिविकारथादीनां विधिः पुनः ॥
मानान्तराङ्गुलेनैव भवेन्नान्येन केनचित् ।
यागोपकरणान्यत्र कुर्यान्मानाङ्गुलेन वै ॥
होमाङ्गानि स्रुवादीनि कुण्डं मुष्ट्यङ्गुलाश्रयम् ।
देहलब्धाङ्गुलेनापि कुण्डादीनि प्रकल्पयेत् ॥ इति ।

बहुषु पुस्तकेषु उभयत्र मानाङ्गुलमित्येव पाठः । एकत्र मानाङ्गुलशब्दः पारिभाषिकः अन्यत्र मानेन प्रमाणेनाऽङ्गुलमिति यौगिको व्याख्येयः ।

चतुरस्रकुण्डक्षेत्रफलं तल्लक्षणेनोक्तम् । तस्याङ्गुलात्मकत्वात् तदज्ञाने वक्तुमशक्यत्वात् इत्यधुनोच्यते । तत्तु लीलावत्यां भास्कराचार्यः—

समश्रुतौ तुल्यचतुर्भुजे च तथायते तद्भुजकोटिघातः । इति ।

त्रिशत्यां श्रीधराचार्योऽपि—

समलम्बकचतुरस्रे त्र्यस्त्रिक्षेत्रे च जायते करणम् ।
भूवदनसमासार्द्धं मध्यमलम्बेन संगुणयेत् ॥

इत्यनेन प्रकारण चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशत्या गुणिता पञ्चशतानि षट्सप्तत्यधिकानि अङ्गुलानि क्षेत्रफलम् । एतदेव क्षेत्रफलमष्टस्वपि कुण्डेषु ज्ञेयम् । अतः सर्वेषामेव कुण्डानामिदमेव प्रकृतिभूतम् ।

तन्त्रान्तरेऽप्यस्यैव प्रकृतितोक्ता चतुरस्रमुक्त्वा—

तस्मिन्नन्यानि कुण्डानि वदामि तव नामतः । इति ।

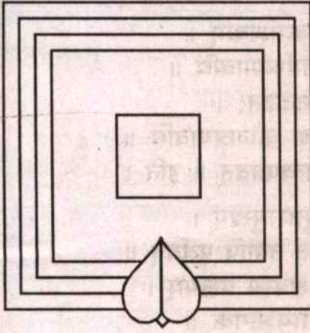
अन्यत्रापि—क्षेत्रं स्याच्चतुरस्रमत्र जनयेदन्यानि कुण्डान्यपि । इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—योन्यादिसर्वकुण्डानि चतुरस्राद्भवन्ति हि ।
लक्षणं चतुरस्रस्य पूर्वं तस्मान्मयोच्यते ॥
इत्यादिना चतुरस्रमिदं प्रोक्तं सर्वकुण्डेषु कारणम् ॥ इत्यन्तेन ।

क्रियासारेऽपि— चतुष्पदं चतुष्कोणमेतत् क्षेत्राह्वयं भवेत् ।
चतुरस्रादिकुण्डानां सर्वेषामत्र सम्भवः ॥ इति ।

चतुरस्रप्रकृतितया योनिकुण्डमाह चतुरस्रीकृतमिति । चतुरस्रीकृतं क्षेत्रं पञ्चधा विभजेत् । तत्र सर्वस्य क्षेत्रफलस्य विभागे प्रयोजनाभावान्मध्यसूत्रस्यैव विभागः कार्य इति सुधीरित्यनेनोक्तम् । तत्रायं पञ्चमः अंशः चतुरङ्गुलानि सार्द्धषड्यवाः किञ्चिदूनाः ॥ ५३ ॥

चतुरस्रकुण्ड



ईशान और पूर्व के मध्य में आचार्य का नवाँ कुण्ड होना चाहिए । एक हाथ लम्बा एक हाथ चौड़ा और एक हाथ गहरा इस प्रकार का शुभावह कुण्ड चतुरस्र कहा जाता है । कोई कोई तन्त्रवेत्ता दीक्षा लेने वाले शिष्य के २४ अङ्गुल का प्रमाण बताते हैं। कर्त्ता (शिष्य) के दाहिने हाथ के मध्यम अङ्गुलि के मध्य पर्व पर्यन्त मान को चौबीस अङ्गुलि का प्रमाण माना गया है । शास्त्रकारों ने आठ यव के प्रमाण को एक अङ्गुल प्रमाण माना है ॥ ५०-५३ ॥

अब योनिकुण्ड के निर्माण का विधान कहते हैं—(१) बुद्धिमान् साधक एक हाथ वाले चतुरस्र के क्षेत्रफल को पाँच विभागों में प्रविभक्त करे । यह पाँचवाँ भाग ४ अङ्गुल साढ़े ६ यव के आस पास होगा । (यह चतुरस्र ही सभी कुण्डों का प्रकृतिभूत आधार है) ॥ ५०-५३ ॥

न्यसेत् पुरस्तादेकांशं कोणार्द्धार्द्धप्रमाणतः ।
भ्रमयेत् कोणमानेन तथाऽन्यदपि मन्त्रवित् ।
सूत्रयुग्मं ततो दद्यात् कुण्डं योनिनिभं भवेत् ॥ ५४ ॥

एवम्भूतमंशं पुरस्ताद्दक्षिणोदग्गतसूत्रस्योत्तरभागे न्यसेद् वर्द्धयेत् इति मन्त्रविदित्यनेनोक्तम् । ततः कोणार्द्धार्द्धप्रमाणतः कोणमानेन भ्रमयेत् । अत्र कोणशब्देन कोणसूत्रं गृह्यते । तस्यार्द्धं कर्णसूत्रद्वयमध्यसम्पातस्थानम् तदर्द्धम् । अपरकोष्ठयुगले द्वितीयकर्णसूत्रयोगस्थानम् । तत्प्रमाणतः तस्मान्मानात् कोणमानेन कोणसंलग्नतया भ्रमयेत्। प्रकारस्तु अपरैककोष्ठकर्णसूत्रद्वयसम्पातस्थाने सूत्रादि संस्थाप्य मध्यतिर्यक्सूत्राग्रात् तत्कोणसंलग्नं दक्षिणोदग्गतसूत्रस्य दक्षिणाग्रावधि सूत्राग्रं भ्रमयेत् मन्त्रविदन्यदपि तथा भ्रमयेदित्यर्थः । तत्रापि प्रकारः । द्वितीयापरकोष्ठकर्णसूत्रद्वयसम्पातस्थाने सूत्रादिं संस्थाप्य मध्यम तिर्यग्गतसूत्रस्य द्वितीयाग्रात् तत्कोणसंलग्नं दक्षिणोदग्गतसूत्रस्य दक्षिणाग्रावधि सूत्राग्रं भ्रमयेत् । ततः सूत्रयुग्मं दद्यात् । पार्श्वद्वयस्थवृत्ताग्राभ्यां पुरोवर्द्धित सूत्राग्रावधि सूत्रद्वयं पातयेत् । एवं योनिनिभमुत्तराभिमुखं कुण्डं भवेत् । तदुक्तं कादिमते—

तन्मध्यपञ्चमांशेन विकाश्य ब्रह्मसूत्रकम् ।
पूर्वतः पश्चिमद्वन्द्वकोष्ठयोर्मध्यदेशतः ॥
तत्कोणमानेन तथा भ्रामयेत् पश्चिमाग्रकान् ।
उत्तराग्रावधि तथा दक्षिणाग्रावधि प्रिये ॥
तन्मध्यतिर्यक्सूत्राग्र(त्रांश)द्वयावष्टम्भतस्तथा ।
विकाशितब्रह्मसूत्रावधि सूत्रद्वयं क्षिपेत् ॥
योनिकुण्डमिदं भद्रे (भद्रम) । इति ।

कामिकेऽपि—पञ्चमांशं पुरो न्यस्य मध्ये वेदांशमानतः ।
भ्रमादश्वत्थपत्राभं कुण्डमाग्नेयमीरितम् ॥ इति ।

क्रियासारेऽपि— क्षेत्रं पञ्चांशकं कृत्वा पूर्वस्यामेकमंशकम् ।
न्यस्य तस्मान्यसेत् सूत्रे पार्श्वयोर्मध्यमावधि ॥
ततः प्रत्यक्पदद्वन्द्वं भ्रामयेत् तत्तदर्द्धतः ।
पृथक् पृथक् यथा सम्यक् तथा कोणत्रयावधि ॥
एवं कृते स्थिरं कुण्डं भवेदश्वत्थपत्रवत् ॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—योन्याख्यमुच्यते कुण्डमाग्नेयामुत्तरामुखम् ।
प्रजावृद्धौ(त्तौ)प्र(च)तापे च शस्तं तत्रापि पूर्ववत् ॥
चतुष्कोष्णं(णं) समं कुर्यादंशं क्षेत्रस्य पञ्चमम् ।
सोमसूत्रस्य बाह्याग्रे योजयेत् सौम्यभागके ॥
अग्रयोर्गर्भसूत्रस्य न्यसेदंशे च सूत्रकम् ।
सिद्ध्यत्यनेन पत्राग्रं दक्षकोष्ठद्वयस्य तु ॥
मध्यकोष्ठस्य चान्ते च भ्रामयेत्तद्भ्रमाद्भवेत् ।
पत्रपृष्ठं सुसंसिद्धं पत्रमश्वत्थपत्रवत् ॥
इतीदं योनिकुण्डं स्यात् । इति ।

अत्र क्षेत्रोपपत्तिरुच्यते । तत्रैकपार्श्वे अर्द्धं वृत्तम् । द्वितीयपार्श्वे अर्द्धं वृत्तम् । एवमेकं वृत्तक्षेत्रम् । वृत्तार्द्धद्वयमध्यस्थमधोमुखं त्रिकोणमेकम् । तदुपर्यूर्द्धमुखं त्रिकोणमेकमिति त्रीणि क्षेत्राणि । तत्र त्रयाणामपि पृथक् पृथक् फलमानीयैकीकृतं योनिकुण्डक्षेत्रफलं भवति । तत्र वृत्तक्षेत्रफलं तावदुच्यते ।

व्यासस्य वर्गे भनवाग्नि (३९२७) निघ्ने सूक्ष्मं फलं पञ्चसहस्रभक्ते ।

इति भास्कराचार्योक्तप्रकारेण वृत्तक्षेत्रफलानयने श्रीधराचार्योक्तिः 'त्रिंशत्यां स्थूला' इत्युपेक्षिता । तत्रैकाङ्गुलस्य चतुस्त्रिंशांशेनोनानि सप्तदशाङ्गुलानि व्यासः । तदुपपत्तिरेवं 'तत्कृत्योर्योगपदम्' इत्यनेन कर्णप्रमाणमानीय तदर्द्धं व्यासो भवति । इदञ्चाग्रे द्विहस्तकुण्डकरणीकथनप्रस्तावे स्फुटीकरिष्यते । तत्र व्यासस्य न्यासो यथा $१६\frac{३३}{३४}$ सवर्णितः $\frac{५७७}{३४}$ अस्य यथोक्तकरणेन ज्ञातं क्षेत्रफलं २२६ एकोयवश्च-तस्रो यूकास्तिस्रो लिख्याः । न्यासांशसवर्णनादिप्रकारस्तु ग्रन्थगौरवभयान्नोक्तः । स तु पाटीगणिते लीलावत्यादौ द्रष्टव्यः । ततोऽधस्त्र्यस्रस्य फलम् । 'लम्बगुणं भूम्यर्द्धं स्पष्टं त्रिभुजे फलं भवति' इति भास्कराचार्योक्तमार्गेण । तत्र भूः २४ अङ्गुलानि लम्बः १२ अङ्गुलानि । ततो भूम्यर्द्धं १२ लम्बः १२ गुणं १४४ । इदं मध्यत्र्यस्रस्य फलम् । तत ऊर्द्धत्र्यस्रस्य फलम् तस्य भूः २४ अङ्गुलानि ग्रन्थकृदुक्तप्रकारेण लम्बः तत्र मध्यसूत्रार्द्धं १२ अङ्गुलानि । ततो वर्द्धितपञ्चमोंऽशः $\frac{२४}{५}$ उभयोः समच्छेदार्थं न्यासः $\frac{१२}{१}$ $\frac{२४}{५}$ समच्छेदौ $\frac{६०}{५}$ $\frac{२४}{५}$ योगः $\frac{८४}{५}$। ततो यथोक्तकरणेन जातं क्षेत्रफलं २०१ किञ्चिन्न्यून-पञ्चयवाधिकम् । तेन क्षेत्रफलमध्ये सयवद्वयचतुरङ्गुलानि न्यूनानि भवन्ति । उदाहृत कादिमतादिलक्षणेष्वपि इदमेव फलं ज्ञेयम् । तत्र कश्चित् कामिकवचनं ४६९

एतावत फलमानीय दूषितवानिति महाभ्रान्त एव । एवं सर्वेषामेकवाक्यत्वे सत्यपि च 'मानहीने दरिद्रता' इत्यादि 'न्यूनाधिकप्रमाणं यद् यजमानविनाशकृत्' इत्यादि दोषापत्तेरिति क्षेत्रफलसाम्यमत्रावश्यमपेक्षितम् । यतो भास्कराचार्यश्रीधराचार्यप्रोक्त-गणितमार्गेण क्षेत्रफलानयनद्वारैवावश्यं कुण्डानि वक्तव्यानि । यत् क्रियासारे—

प्राक्कुण्डे यत् प्रमाणं तदन्येषां क्षेत्रमानकम् । इति ।

ग्रन्थकृताऽपि तुल्यक्षेत्रफलानयनार्थमेव समचतुरस्रस्य प्रकृतिता निरूपिता । पञ्चदशशाखोपरि कल्पसूत्रं प्रणीतवतो भगवतः कात्यायनस्यापि परिशिष्टे शुल्वे कुण्डं वक्तुमिच्छोः श्रीधराचार्यभास्कराचार्यप्रोक्तमार्गेण क्षेत्रफलानयनद्वारैव प्रवृत्ति-र्दृश्यते । अतोऽवश्यं क्षेत्रफलसाम्यं वक्तव्यम् । तदाचार्येणातिसूक्ष्मगणनायां शिष्य-बुद्धिक्लेशो भविष्यतीत्युपेक्षितम् । साम्प्रदायिकास्तदर्थं यवत्रयप्रक्षेपमाहुः एकहस्ते मया क्षेत्रफलसमतार्थं सर्वानुगतप्रकारस्तूच्यते ।

चतुर्विंशतिधा मध्यसूत्रं भुङ्क्त्वा पुरो न्यसेत् ।
पञ्चांशांश्चैकैकस्य त्रीन् विंशांशान् कोणपादतः ॥
वृत्तार्द्धेस्तो मध्यतिर्यक्सूत्रान्तञ्च ततोऽर्पयेत् ।
पुरोवर्द्धितसूत्रान्तं सूत्रे द्वे स्याद् भगाकृति ॥

अनेन प्रकारेण क्षेत्रफलमव्यभिचारीति ज्ञेयम् । अत्र पञ्चाङ्गुलानि सयवानि यूकासार्द्धलिख्याचतुष्टयसहितानि मध्यसूत्रं वर्द्धयेत् । तदा लम्बः १७ $\frac{३}{२०}$ सवर्णितः $\frac{३४३}{२०}$ उक्तक्रमेण जातं क्षेत्रफलं २०५ षड्यवास्तिस्रो यूकाः पञ्च लिख्याः । एवमेकीकृतं सर्वं क्षेत्रफलं ५७६ । एतत् सूक्ष्ममिति ज्ञेयम् । यत्तु

कादिमते— चतुरस्राभितो या तु त्यक्त्वा भूः सान्य(ग्र)तः स्थिता ।
लभ्यते सर्वकुण्डेषु तेन सर्वाणि सर्वतः ।
तत्समान्येव जायन्ते षस्मवत्युङ्गुलात्मना ॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—क्षेत्रस्य चतुरस्रस्य समं सूत्रं चतुर्गुणम् ।
योन्यादिसर्वकुण्डानां पर्यन्तेषु नियोजयेत् ॥
चतुरस्रं समं तच्चेच्छुभं योन्यादिकुण्डकम् ॥ इति ।

तदत्रास्मदुक्तप्रकारेण संवदति ।

व्यासे भनन्दाग्नि ३९२७ हते विभक्ते
खवाणसूर्यैः १२५० परिधिः स सूक्ष्मः ।

इति प्रकाराद् वृत्तपरिधिः सूक्ष्मः १६०।३०। स्थूलस्तु ५४ अङ्गुलानि कर्णसूत्रद्वयं २१।२१ अङ्गुलानि 'तत्कृत्योर्योगपदम्' इत्यनेन प्रकारेण जातम् । मिलित्वा षस्मावत्यङ्गुलात्मता । परन्त्वतिस्थूलमानत्वाद् बहुषु स्थलेषु व्यभिचरतीद-मित्युपेक्षितम् । यतोऽर्द्धचन्द्रे ९८ अङ्गुलानि यवत्रयाधिकानि परिधिः । त्र्यस्रे ९० अङ्गुलानि ३ यवाः २ यूकाः । वृत्ते ८५ अङ्गुलानि किञ्चिदधिकानि । षडस्रे ८८ अङ्गुलानि ४ यवाः ७ यूकाः । अष्टास्रे ८७ अङ्गुलानि ४ यवाः । एवं कुत्रापि न मिलतीति यत्किञ्चिदेतत् ।

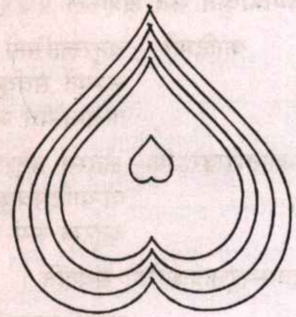
कैश्चिच्छारदापद्यमिदमन्यथा व्याख्यातम् । पञ्चमांशेन प्राचीसूत्रं वर्द्धयेत् । ततः कोणयोः प्रतीचीतिर्यक्सूत्रोत्पन्ननैर्ऋत्यवायव्ययोः अर्द्धार्द्धप्रमाणेन एकत्र कोणे पञ्चमांशस्यार्द्धम् अपरत्र कोणेऽपि पञ्चमांशस्यार्द्धं वर्द्धयेत् । कोणमानेन वर्द्धित-वायव्यकोणात् प्राचीसूत्रपश्चिमाग्रावधि भ्रमयेत् । तद्वद्वर्द्धितनैर्ऋत्यकोणात् प्राचीसूत्र-पश्चिमाग्रावधि भ्रमयेत् । वर्द्धिताभ्यां वायव्यनैर्ऋत्यकोणाभ्यां वर्द्धितप्राचीसूत्राग्रावधि सूत्रद्वयं दद्यादिति । तदसांप्रदायिकत्वात् एतदर्थप्रतिपादकशब्दाभावात् लिखित-कादिमतादिविरोधात् स्वकपोलकल्पितम् । सूक्ष्मगणनायां क्षेत्रफलस्याप्याधिक्याद् यत्किञ्चिदेतत् । यदतिगणितज्ञाभिमानिनः आगमज्ञाभिमानिनश्च लक्षणम् ।

अष्टोनद्विशतांशसूत्रकचतुःकोणे पुरस्ताद्दद—
त्वष्टत्रिंशतमेधयत्वथ लवान् श्रोण्योरिमानर्द्धशः ।
अंग्रात् सूत्रयुगे त्रिकोणमिति तच्छ्रोण्योस्ततोऽर्द्धभ्रमात्
वृत्तार्द्धे बहिरालिखेदिति भवेत् कुण्डोत्तमं योनिवत् ॥ इति ।

चतुरस्रश्रोण्योरपि पश्चिमतिर्यक्सूत्रमुभयतः तानष्टत्रिंशदंशान् अर्द्धार्द्धतया वर्द्धयेत् । एकोनविंशतिर्दक्षिणतः एकोनविंशतिरुत्तरत इति यत् तत् स्वकपोल-कल्पितम् । क्रियासार-कादिमत-कामिक-सिद्धान्तशेखरादिविरोधात् । क्षेत्रफलमध्ये च किञ्चिदधिकं क्षेत्रफलमिति (चतुर्दशाङ्गुलानि न्यूनानीति) ज्ञात्वा महद्भिः सन्तोष्ट-व्यम् । अत्र भ्रामयेदिति लेखकदोषवशात् अपपाठः । मित्वात् 'मितांह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वात् भ्रमयेदित्येव पाठः ॥ ५४ ॥

पुनः मध्यरेखा जो उत्तर से दक्षिण की ओर खींची गई है उसमें उत्तर की ओर पञ्चमांश बढ़ा देवे । तदनन्तर उत्तर की बढ़ी हुई उस रेखा को पूर्व और पश्चिम की रेखा से मिला देना चाहिए । इसी प्रकार पूर्व दक्षिण और पश्चिम दक्षिण को मिला दें । पुनः पूर्व दक्षिण रेखा के अर्ध भाग से तथा पश्चिम दक्षिण की रेखा के अर्ध भाग से वृत्तार्ध का निर्माण करना चाहिए । ऐसा करने से योनि कुण्ड निर्मित हो जायगा ॥ ५४ ॥

योनिकुण्ड



अर्द्धचन्द्रकुण्डम्

चतुरस्त्रीकृतं क्षेत्रं दशधा विभजेत् पुनः ।
एकमेकं त्यजेदंशमध ऊर्द्ध्वञ्च तन्त्रवित् ॥ ५५ ॥
ज्यासूत्रं पातयेदग्रे तन्मानाद् भ्रमयेत्ततः ।
अर्द्धचन्द्रनिभं कुण्डं रमणीयमिदं भवेत् ॥ ५६ ॥

चतुरस्रप्रकृतितया अर्द्धचन्द्रकुण्डमाह चतुरस्त्रीकृतमिति । क्षेत्रशब्देन पूर्वव-न्मध्यसूत्रं गृह्यते । तद् दशधा विभजेत् । तत एकं भागमध उत्तरतः एकमूर्द्धतो दक्षिणतश्च त्यक्त्वा अग्रे अग्रचिह्ने उत्तरभागे ज्यासूत्रं स्वेच्छाप्रमाणं पातयेत् इति

त(म)न्त्रविदित्यनेन सूचितम् । ततस्तन्मानान्मध्ये व्यासमानाद् भ्रामयेत् । तत्र प्रकारः। ज्यासूत्रमध्यसूत्रसन्निपाते सूत्रादिं संस्थाप्य ऊर्द्धभागे यच्छिह्नं कृतं ततो ज्यासूत्रान्तं भ्रामयेत् । तदर्द्धचन्द्रनिभं उत्तराभिमुखं कुण्डं भवेत् । तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे—

अर्द्धचन्द्रमथोच्यते । याम्ये तन्मारणे शस्तमुत्तराभिमुखं सदा ॥ इति ।

अत्र क्षेत्रोपपत्तिः । तत उभयतो दशांशत्यागेन सर्वस्य पञ्चमांशत्यागो भवति। स च ४ अङ्गुलानि ६ यवाः ३ यूकाः १ लिख्याः ४ बालाग्राणि ६ रेणवः ३ त्रसणवः १ परमाणुः । तदायं शिष्टो व्यासः १९ अङ्गुलानि १ यवः ४ यूकाः ६ लिख्याः ३ बालाग्राणि १ रेणुः ४ त्रसरेणवः ७ परमाणवः । तेन पञ्चमांशाधिकै-कोनविंशत्यङ्गुलायामः $१९\frac{१}{५}$ क्षेत्रफलानयनार्थं सवर्णितः $\frac{९६}{५}$ एतद्व्यासेन फलानयने यवार्द्धाधिकमङ्गुलत्रयमधिकं क्षेत्रफलं भवति । तदाचार्येणोपेक्षितम् अल्पत्वात् । क्षेत्रफलाव्यभिचारी सर्वानुगतप्रकारस्तूच्यते ।

चतुर्विंशतिधा भक्ते सूत्रे व्यासोऽर्द्धचन्द्रके ।
विंशांशत्रयमेकस्य भागा एकोनविंशतिः ।
एतन्मानार्द्धभ्रमेण दलेन्द्वग्रे गुणाङ्कनात् ॥

तदायं व्यासः १९ अङ्गुलानि १ यवः १ यूका ४ लिख्याः ५ बालाग्राणि ३ रेणवः १ त्रसरेणुः ४ परमाणवः । तदा २ अङ्गुले ३ यवाः ३ यूकाः १ लिख्या ५ बालाग्राणि २ रेणू ३ त्रसरेणवः २ परमाणू इममंशमूर्द्धतस्त्यजेत् । एतादृशमेवांशमधस्त्यजेत् । तत्र क्षेत्रफलानयनाय व्यासस्य न्यासः $१९\frac{३}{२०}$ । तेन एकोनविंशत्यङ्गुलानि एकाङ्गुलस्य विंशतिधा भक्तस्य त्रयो भागाः सवर्णितो यथा $\frac{३८३}{२०}$ तत्र वृत्तफलानयनार्थमयं द्विगुणीकृतः । तत्र छेदस्यैवार्द्धीकरणेन उपरि ततो द्विगुणो भवत्येव तेनायं $\frac{३८३}{२०}$ सम्पूर्णवृत्तव्यासः । ततो 'व्यासस्य वर्गे भनवाग्नि' इत्यादिना आनीतं क्षेत्रफलं सर्ववृत्तस्य ११५२ एतदर्द्धी कृतम् अर्द्धचन्द्रस्य क्षेत्रफलं ५७६ सूक्ष्मं ज्ञेयम् । अथवा द्विहस्तकुण्डे एतद्व्यासवर्गं द्विगुणीकृत्य तन्मूलमानेयम् । तत्र एव व्यासः । स एवमग्रेऽप्यूह्यम् । यत् कस्यचिदतिगणितज्ञाभिमानिनो लक्षणम् ।

चतुरस्त्रीकृतं क्षेत्रं चतुर्विंशतिधा भजेत् ।
एकोनविंशत्या विंशद्वादशांशाढ्या लवैः ॥
प्राच्यन्ताद् विभजेत् वृत्तफलं प्रत्यग्धनुःस्थिति ।
तदवध्येधयेत् प्राच्यां तिर्यक्सूत्रं ततो भवेत् ॥
कुण्डमर्द्धेन्दुसदृशं सम्यग्दृष्टिमनोहरम् ॥ इति ।

अत्रापि सूक्ष्मगणनया अङ्गुलत्रयन्यूनम् । यतस्तेन 'व्यासार्द्धत्रय(वर्ग)वर्गात् क्षेत्रफलं दशगुणान्मूलम्' इति श्रीधराचार्योक्तेन प्रकारेण क्षेत्रफलमानीतम् । तच्च स्थूलम् । यतो गणितग्रन्थानामियं शैली यत् स्थूलं सूक्ष्ममपि फलानयनमुच्यते । तत्र भगवता श्रीधराचार्येण बृहत्पाट्यां प्रकारद्वयमप्युक्त्वा तत्संग्रहे त्रिशतीग्रन्थे स्थूला एक प्रकारा लिखिताः । भास्कराचार्येण तु लीलावत्यां स्थूला एव सूक्ष्मा अपि प्रकारा उक्ताः । तां बृहत्पाटीञ्चावलोक्य मया सूक्ष्मं फलमिदमानीतम् । तदेव सूक्ष्ममिति मन्यते चेत्तदा मूले अत्यन्तं फलाधिक्यं स्यात् । अन्यच्च अस्योत्तराभि-

मुखत्वात् प्राच्यन्तात् सूत्रं वर्द्धयेत् । प्रत्यग्धनुःस्थितीत्यन्तमेवासङ्गतम् । स्वग्रन्थे स्वयं योनिलक्षणं वदन्नाह स्म—

मघव-शिखि-कृतान्त-दिक्स्थकुण्डेष्वियमधिमेखलमेव मध्यभागे ।
यमदिशि शशिदिङ्मुखा निवेश्य । इति ।

तेन स्वग्रन्थे पूर्वापरविरोधोऽपि नोपलक्षित इति यत्किञ्चिदेतत् । यत्तु शुल्वे कात्यायनवचनम्—'मण्डलं चतुरस्रं चिकीर्षन् विष्कम्भं पञ्चदशभागान् कृत्वा द्वावुद्धरेच्छेषः करणी' इति । तदपि सम्भवाभिप्रायं नतु सम्यग्गणनाभि प्रायम् । एवमपि चेत् कस्यचिन्महापुरुषस्य मनसि सन्देह उत्पद्यते । तेन प्रत्यक्षं परीक्षा कार्या। धातुकाष्ठमृण्मयं वा एकहस्तमितं समं चतुरस्रं पात्रं कारयित्वा तदुक्तमानेन-मदुक्तमानेन च एकं हस्तमितं वृत्तं पात्रं कारयित्वा चतुरस्रपात्रं सम्यग् जलेनापूर्य तज्जलेनैव वृत्तं पात्रं पूरयेत् । यदेव वृत्तं पात्रं सम्यक् पूर्णतामेति तदेव शुद्धमिति मन्तव्यम् । एतस्यैव यल्लक्षणान्तरम्—

चतुष्कोणक्षेत्रे जिनलवकमध्यस्थितगुणे
विहायाधः सार्द्धद्वयमुपरि तावच्च मतिमान् ।
कलांशेनांशस्योनितमुपरि तिर्यक् कुरु गुणं
भ्रमार्द्धं तन्मानादपि शशिदलं कुण्डमिति तु ॥ इति ।

अत्र एकोनविंशत्यङ्गुलानि सार्द्धयवानि व्यासः । तत्र सूक्ष्मगणनायां पञ्चाङ्गुलानि न्यूनानि । तत्कृतस्थूलगणनाप्रकारेणापि सार्द्धमङ्गुलं न्यूनं भवति । यत्तु तेनोक्तं 'मण्डलं चतुरस्रम्' इति कात्यायनवचनेन संवाद्यमिति तदप्यसिद्धं संवादाभावात् ।

सिद्धान्तशेखरे तु— नवधा भाजिते क्षेत्रे चतुरस्रे समे तदा ।
दक्षिणे चोत्तरे चांशमेकैकन्तु परित्यजेत् ।
सप्तांशमध्यसूत्रेण भ्रमणादर्द्धचन्द्रकम् ॥ इति ।

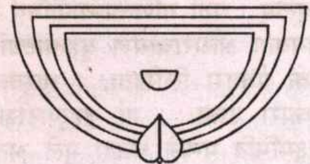
कामिकेऽपि—चतुरस्रे ग्रहैर्भक्ते त्यक्त्वान्त्याद्यौ तदंशकौ ।
मध्यसप्तांशमानेन कुण्डं खण्डेन्दुवद् भ्रमात् ॥ इति ।

अत्रोभयत्र अष्टादशाङ्गुलानि एकस्य द्वौ तृतीयांशौ व्यासः । अतोऽत्यन्तं न्यूनं क्षेत्रफलम् ॥ ५५-५६ ॥

(२) अब **अर्द्धचन्द्र कुण्ड के निर्माण का विधान** कहते हैं—

सर्वप्रथम चतुरस्रीकृत क्षेत्र को दश भागों में प्रविभक्त करे । तदनन्तर एक भाग ऊपर और एक भाग नीचे छोड़ देवे । फिर नीचे से ऊपर पर्यन्त प्रमाण में अर्धवृत्त का निर्माण करे और दोनों जीवा को मिला देवे । ऐसा करने से अर्धचन्द्र कुण्ड हो जाता है । यह कुण्ड अत्यन्त मनोहर होता है ॥ ५५-५६ ॥

अर्द्धचन्द्र कुण्ड



त्रास्त्रकुण्डम्

चतुर्द्धा भेदिते क्षेत्रे न्यसेदुभयपार्श्वयोः ।
एकैकमंशं तन्मानादग्रतो लाञ्छयेत्ततः ।
सूत्रद्वयं ततः कुर्यात् त्र्यस्त्रं कुण्डमुदाहृतम् ॥ ५७ ॥

चतुरस्त्रप्रकृतितया त्र्यस्त्रकुण्डमाह चतुर्द्धेति । क्षेत्रे चतुरस्त्रमध्यसूत्रे चतुर्द्धा भेदिते । उभयपार्श्वयोस्तिर्यक्प्रतीचीसूत्रपार्श्वयोरेकैकमंशं वर्द्धयेत् । तन्मानात् चतुर्थांशमानेन अग्रतो लाञ्छयेत् । ततः सूत्रत्रयं दद्यात् । तत्र प्रकारः । तिर्यक्प्रतीची-सूत्रपार्श्वयोर्ये लाञ्छने तदवधि प्रतीचीसूत्रं वर्द्धयेदित्येकम् । वर्द्धितनैर्ऋत्यकोणात् मध्यसूत्राग्रदत्तलाञ्छनं यावत् सूत्रं पातयेदिति द्वितीयम् । ततो वर्द्धितवायव्यकोणात् मध्यसूत्राग्रदत्तलाञ्छनं यावत् सूत्रं पातयेदिति तृतीयम् । एवमूर्द्धाग्रं पूर्वाभिमुखं त्र्यस्त्रि कुण्डं भवति ।

तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे— त्रिकोणं कुण्डमुच्यते ।
नैर्ऋत्ये दर्शितं कुण्डं विद्वेषे पूर्ववत् क्रमम् ॥ इति ।

अत्र क्षेत्रोपपत्तिः । भूः ३६ लम्बः ३० ततो 'लम्बगुणं भूम्यर्द्धम्' इत्यादिना जातं क्षेत्रफलं ५४० । षट्त्रिंशदङ्गुलानि न्यूनानि खर्वञ्च त्र्यस्त्रम् । यतः षट्त्रिंशद्भूः भुजौ तु 'तत्कृत्योर्योगपदं कर्णं' इति प्रकारेणानीतौ पञ्चत्रिंशदात्मकौ । त्र्यस्त्रकुण्डे तु भुजत्रयसाम्यञ्चापेक्षितम् । तदर्थं केचन अन्यथा व्याचक्षते । चतुर्द्धा क्षेत्रे भेदिते एकैकमंशं पार्श्वयोर्वर्द्धयेत् । तन्मानेन वर्द्धितानन्तरं यत् षड्त्रिंशन्मानं तन्मानेनाग्रतो लाञ्छयेत् । तत्र लाञ्छनप्रकारः । वर्द्धितपार्श्वयोः षट्त्रिंशदङ्गुलमितसूत्रस्यादि निधाय प्राचीसूत्राग्रे लाञ्छयेदिति । ततः पूर्ववत् सूत्रत्रयं दद्यादिति । एवं च सति भुजत्रयसाम्यं भवति । उभयपार्श्वे मिलित्वा यवचतुष्टयप्रक्षेपादेक हस्तक्षेत्रफलसाम्यं भवतीति बुध इत्यनेन सूचितमिति ते वदन्ति । मया तु समत्रिभुजता अन्यूनानतिरिक्त-क्षेत्रफलता च यथा भवति तथा सर्वानुगतप्रकार उच्यते ।

चतुर्विंशतिधा भक्ते सूत्रेऽथोभयपार्श्वयोः ।
द्वादशांशात्रवैकस्य भागानेकोनविंशतिम् ।
अर्द्धशो वर्द्धयेत् त्र्यस्त्रि भवेत् सूत्रत्रयात् समात् ॥

अस्यायमर्थः सम्पन्नः । षडङ्गुलानि यूकोनयवद्वयाधिकानि एकपार्श्वे वर्द्धयेत् । एवं द्वितीयपार्श्वे । तदा सप्ताङ्गुलानि चत्वारो यवाः षड्यूकाधिकाः प्राक्सूत्रं वर्द्धितं भवति । ततो भूः ३६ अङ्गुलानि ३ यवाः ६ यूकाः सार्द्धलिख्या-द्वयम । लम्बः ३१ अङ्गुलानि ४ यवाः ६ यूकाः । तत्र 'लम्बेन निघ्नं कुमुखैक्य-खण्डम्' इति प्रकारेण क्षेत्रफलानयनाय लम्बस्य न्यासो यथा ३१ $\frac{१९}{३२}$ सवर्णितः १० $\frac{११}{३२}$ । भूः ३६ $\frac{९}{११}$ सवर्णित $\frac{६९३}{१९}$ मुखं शून्यमत ऐक्यमिदमेव तदर्द्धं छेदस्य द्वैगुण्यात् $\frac{६९३}{३८}$ ततो 'लम्बेन निघ्नं कुमुखैक्यखण्डम्' इति कृते छेदेन भक्ते लब्धं क्षेत्रफलं यथा ५७६ । अत्र भुजत्रयं सममेव । क्रियासारेऽपि समभुजतोक्ता—

क्षेत्रमष्टांशकं कृत्वा पार्श्वयोरंशकौ बहिः ।
न्यस्त्वा तन्मानसूत्रेण न्यसेत् सूत्रत्रयं समम् ॥ इति ।

क्षेत्रफलमत्रापि व्यभिचरत्येव । यतो २६ लम्बः क्षेत्रफलं ३९० । अतिन्यूनत्वादन्ये एवं व्याचक्षते । पार्श्वयोरंशकाविति एकस्मिन् पार्श्वे अंशद्वयं द्वितीयपार्श्वे अंशद्वयम् । तेन पञ्चदशाङ्गुलानि न्यूनानि क्षेत्रफलमध्ये भवन्ति । द्वितीयमत व्याख्यातशारदापद्यार्थेन संवादश्च भवति । महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि समभुजतोक्ता ।

द्वात्रिंशदङ्गुलं सूत्रं त्रिधा तत् पातयेद् ध्रुवम् ।
पूर्वाग्रं कुण्डकं कृत्वा त्रिकोणं तु प्रकारयेत् ॥ इति ।

अत्रापि क्षेत्रफलं व्यभिचरत्येव । यतः २७ अङ्गुलानि ५ यवाः लम्बः क्षेत्रफलं ४४० । अन्यत्रापि—

शर्वरी १६।८ सार्द्धभागीकृतक्षेत्रतः पार्श्वयोर्न्यस्य भागद्वयं पण्डितः।

तेन मानेन सूत्रद्वयं विन्यसेत् कुण्डमेतद्भवेद्रुद्रनेत्रास्त्रकम् ॥ इति । इदं लक्षणद्वयं षणवतिपरिधिरेखाभिप्रायेण । अग्रे लिखितकादिमतेऽपि समभुजतोक्ता । मयाऽत्र लम्बस्तु गणितापटून् प्रत्युक्तः । गणितज्ञैस्तु—

स्वाबाधाभुजकृत्योरन्तरमूलं प्रजायते लम्बः ।

इति लम्बमानीय क्षेत्रफलं सम्पाद्य सन्तोष्टव्यम् । अथवा लम्बं विनैव

सर्वदोर्युतिदलं चतुःस्थितं बाहुभिर्विरहितञ्च तद्धतेः ।
मूलमस्फुटफलं चतुर्भुजे स्पष्टमेतदुदितं त्रिबाहुके ॥

इति प्रकारेणानीय सन्तोष्टव्यम् । मूलशेषाद्याबाधानयनार्थं प्रकार उच्यते ।

मूलशेषं त्ववयवसंख्यानिघ्नमथो भजेत् ।
द्विघ्नस्यैकेन मूलेन फलं त्ववयवा मताः ॥

अथवा भास्कराचार्योक्त मार्गेण—

वर्गेण महतेष्टेन वधात् छेदांशयोर्हतात् ।
पदं गुणपदक्षुणछिद्भक्तं निकटं भवेत् ॥

इत्यानेयमासन्नमूलम् । यत् कस्यचिदतिगणितज्ञाभिमानिनः आगमज्ञाभिमानिनश्च लक्षणद्वयम् ।

क्षेत्रत्र्यंशं पुरस्तुर्यमधश्चोभयपार्श्वयोः ।
वर्द्धयित्वा कृतैः सूत्रैः कुण्डं त्र्यस्त्रं त्रिभिर्भवेत् ॥ इति ।
क्षेत्रस्य मध्यमगुणे जिनभागभक्ते
श्रोण्योः पृथक् शरलवान् परिवर्द्ध्य धीमान् ।

अग्रे विनाऽष्टमलवेन दशाथ सूत्रै—

त्र्यस्त्रि त्रिभिर्भवति कुण्डमिह प्रयुक्तैः ॥ इति ।

अत्र पूर्वोक्तलक्षणं किञ्चिल्लम्बं त्र्यस्त्रं द्वितीयन्तु महालम्बम् । क्षेत्रफले च एकयवन्यूनता । तेन यत् किञ्चिदेतत् । अत्र क्षेत्रफलसाम्यात् त्र्यस्त्राकारत्वाच्च

त्रिकोणकुण्डतेति चेत् तदा कुण्डस्वरूपमननुगतं स्यात् । यदा ३१ अङ्गुलानि ६ यवाः लम्बः । भूः ३६ अङ्गुलानि २ यवौ । अत्रापि क्षेत्रफलं समानमेव । एवं सहस्रधा त्र्यस्रं कुण्डं स्यात् । अतस्त्र्यस्त्रिकुण्डे क्षेत्रफलानयनमेव न प्रमाणम् । समत्रिभुजता चावश्यमपेक्षितेत्यलम् ।

अथ शुल्वे कात्यायनः—प्रउगे यावानग्निः सपक्षपुच्छविशेषः तावद् द्विगुणं चतुरस्रं कृत्वा यः पुरस्तात् करणीमध्ये शङ्कुः यौ च श्रोण्योः सोऽग्निः । इति ।

अस्यार्थः संक्षिप्त उच्यते । यावतः क्षेत्रस्य त्र्यस्रता कर्त्तुमिष्टा तत् क्षेत्रं द्विगुणितं न्यसेत् । ततः प्रतीचीसूत्रकोणोभयतः सकाशात् मध्यसूत्राग्रावधि सूत्रद्वयं दद्यात् इति । अस्य क्षेत्रफलमङ्गुलद्वयमधिकम् । इदन्तु ऋषिणा शिष्यबुद्धिक्लेशो माभूत् इत्युपेक्षितमिति तद्वृत्तिकारैरेव व्याख्यातम् । इयं लम्बता तु तत्रेष्टकाचिति-सम्पादनार्थम् । न तु कुण्डाकारतासम्पादनार्थम् । नन्विदमेव कल्पकृद्वचनं कुण्डाकारतासम्पादनार्थं प्रमाणस्तु इति चेत् । तदा शारदातिलककारादिमत-कादिमत-पञ्चरात्र-कामिक-क्रियासार-सिद्धान्तशेखरआम्नायरहस्यमहाकपिल-पञ्चरात्रादिषु अन्येष्वपि बहुषु ग्रन्थेषु मुनिप्रणीतेष्वपि विरोधो दृश्यते । तत्र किं ग्राह्यमिति संशय एव स्यात् । न च वाच्यं कल्पसूत्राणां साक्षादुपलभ्यमानश्रुति-मूलानाम् अनुमितिश्रुतिमूलाभ्यः स्मृतिभ्योऽधिकं प्रामाण्यम् । नानाशाखागतलिङ्गादि-कल्पितश्रुत्यर्थोपसंहारोपनिबद्धस्य कल्पस्वरूपत्वात् । प्रयोगशास्त्रमिति चेदित्यस्मि-न्नधिकरणे भाष्यकृता कल्पप्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात् इति। वार्त्तिककारेणा-ऽन्यथाधिकरणरचनायाः कृतत्वात् । तथाहि इह कल्पानां प्रामाण्याप्रामाण्यचिन्ता न क्रियते । किं तर्हि कल्पसूत्राण्युदाहृत्य इदं चिन्त्यते। कि तेषां स्वतन्त्राणामेव वेदवत् प्रामाण्यम् उत स्मृतिवत् । श्रुतिपरतन्त्राणामिति तत्र श्रुतिपारतन्त्र्येण स्मृतिवदेव प्रामाण्यं स्थापितम् । किञ्च विरोधाधिकरणे 'औडुम्बरीं स्पृष्टवोद्गायेत्' इति प्रत्यक्षश्रुतिविरोधात् 'औडुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या' इति कल्पकृद्वचनं लोभमूलमिति भाष्यकारैः सिद्धान्तितम् । अतः सर्वासां स्मृतीनां विरुद्धत्वात् 'श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ' इति वचनस्यात्रानवकाशात् अ(स्प)ष्टदोषदुष्टत्वाच्च विकल्पा-भावात् सन्देह एव स्थितः । तथा च तत्र विहितस्य कर्मणोऽननुष्ठानमेव स्यात् । तस्माद् यत्र समत्रिभुजता तुल्यक्षेत्रफलत्वञ्च भवति तदेव त्रिकोणकुण्डमिति सिद्धान्तः। सर्वेषु लक्षणवचनेषु कानिचित् क्षेत्रफलव्यभिचारीणि कानिचित् सम-भुजताव्यभिचारीणीति । अतस्तानि त्र्यस्राकारतामात्रसम्पादनफलानीति ज्ञेयम् ।

ग्रन्थान्तरे तु— पञ्चभागीकृते क्षेत्रे द्वौ भागौ बाह्यतस्त्यजेत् ।
न द्वयोः पार्श्वतस्त्यक्त्वा तस्मान्मध्यं विगृह्य च ।
कर्णसूत्रद्वयं दद्यात् त्रिकोणं भवति स्फुटम् ॥ इति ।

अत्र द्विनवत्यङ्गुलानि न्यूनानि भुजत्रयसाम्यम् ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—चतुरस्रीकृते क्षेत्रे क्षेत्रमष्टांशकं बहिः ।
विन्यसेद् गर्भसूत्राग्रे प्रतीचीसूत्रपार्श्वयोः ।
सूत्राणां त्रितयं न्यस्येत् त्रिकोणं कुण्डमीरितम् ॥ इति।

अत्र च सप्तत्यधिकशताङ्गुलानि न्यूनानि विषमभुजता च ।

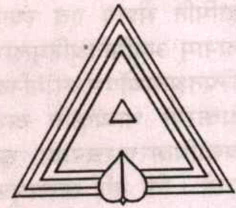
तस्यैव षष्ठमंशन्तु पार्श्वयोः प्रविकाशयेत् ।
प्रत्येकं पश्चिमं सूत्रं तम्मानेनाथ सूत्रयोः ॥
विन्यासाद् ब्रह्मसूत्रान्तात् तदग्रावधिलम्बनात् ॥ इति

कादिमते षट्त्रिंशदधिकशताङ्गुलानि न्यूनानि समभुजताऽस्ति । षणवति-परिधि रेखाभिप्रायं चेदं लक्षणम् ।

'त्रिभागवृद्धितो मत्स्यैस्त्रिभिर्नैशाचरं भवेत्' इति कामिकेऽपि । तत्र चतुर्वर्ग-चिन्तामणिकारैः स्थानत्रये भागत्रयवृद्धिरिति व्याख्यातम् । तन्मते चतुःषष्ट्य-ङ्गुलान्यधिकानि । अन्यैस्तु अग्रे त्र्यंशवृद्धिः उभयपार्श्वे अर्द्धार्द्धतया एकांशवृद्धि-रिति व्याख्यातम् । तन्मते चतुःषष्ट्यङ्गुलानि न्यूनानि । उभयमतेऽपि विषम-भुजतैवेत्यलम् ॥ ५७ ॥

(३) **त्र्यस्रकुण्ड**—सर्वप्रथम चतुरस्र क्षेत्र का निर्माण करे । पुनः मध्य रेखा से दोनों ओर उसके चार भाग करे । पश्चात् मध्य रेखा में पड़े लम्ब को पूर्व की ओर चतुर्थांश बढ़ावे और आधार रेखा को दोनों ओर भी चतुर्थांशं बढ़ा देवे । फिर लम्ब से बढ़ी रेखा को दोनों बढ़े क्षेत्रों से मिला देवे । ऐसा करने से त्र्यस्र कुण्ड बन जाता है ॥ ५७ ॥

त्र्यस्र कुण्ड



वृत्तकुण्डम्

अष्टादशांशे क्षेत्रे च न्यसेदेकं बहिर्बुधः ।
भ्रमयेत्तेन मानेन वृत्तं कुण्डमनुत्तमम् ॥ ५८ ॥

चतुरस्रप्रकृतितया वृत्तं कुण्डमाह अष्टादशेति । क्षेत्रे पूर्ववच्चतुरस्रमध्यसूत्रे अष्टादशांशेऽष्टादशधा विभक्ते एकमंशं बहिः कस्मिन्नपि सूत्रे वर्द्धयेत् । तेन मानेन मध्यात् तन्मानेन वर्द्धितमानेन भ्रमयेत् तदा वृत्तं पूर्वाभिमुखं कुण्डम् । न विद्यते उत्तमं यस्मादित्यनुत्तमम् ।

अत्र क्षेत्रोपपत्तिः । तत्राष्टादशांशः १ अङ्गुलं २ यवौ ५ युकाः । तत्र वृत्ते कृते व्यासे एतद्विगुणं २ अङ्गुले ५ यवाः २ यूके एतावद्वर्द्धते तदा २६ अङ्गुलानि एकाङ्गुलस्य द्वौ तृतीयांशौ । अयं व्यासः २६ $\frac{२}{५}$ सवर्णितः $\frac{८०}{३}$ । अथवा ग्रन्थ-कृदुक्तप्रकारेणैव न्यासः । तत्र द्वौ अष्टदशांशौ तेन एको नवमांशः तस्य समच्छेदार्थं न्यासः $\frac{२४}{१}$ $\frac{२४}{९}$ समच्छेदौ $\frac{२१६}{९}$ $\frac{२४}{९}$ योगः $\frac{२४०}{९}$ त्रिभिरपवर्त्तितः स एवाङ्कः । ततो 'व्यासस्य वर्ग' इत्यादिप्रकारेण लब्धं क्षेत्रफलं पञ्चशती अष्टाधिकानि पञ्चाशद् अङ्गुलानि । तेनाष्टादशाङ्गुलं क्षेत्रं न्यूनं भवति । तेन क्षेत्रफलाव्यभिचारी-सर्वानुगतप्रकारस्तूच्यते—

वृत्तकुण्डे मध्यसूत्रं चतुर्विंशतिधा भजेत् ।
एकांशपञ्चविंशांशसहितं सार्द्धमंशकम् ।
बहिर्न्यस्य भ्रमान्मध्याद् वृत्तं कुण्डमितीरितम् ॥

अत्र सार्द्धांशमेकमङ्गुलं चत्वारो यवाः एकस्य पञ्चविंशांशाः २ यूके ४ लिख्या अर्द्धसहिताः । वृत्ते कृते एतद्विगुणं ३ अङ्गुलानि ० यवाः ५ यूकाः १ लिख्या । तेन सर्वस्य व्यासस्य न्यासः २७ $\frac{२}{२५}$ अयं सवर्णितः $\frac{६७७}{२५}$ 'व्यासस्य वर्गे भनवाग्नि' इत्यादिना लब्धं क्षेत्रफलं ५७६ । इदं सूक्ष्मगणनया क्षेत्रफलम् । शुल्वे तु कात्यायनः—

चतुरस्रं मण्डलं चिकीर्षन् मध्यादंशे निपात्य पार्श्वतः परिलिख्य तत्र यदतिरिक्तं भवति तस्य तृतीयेन सह मण्डलं परिलिखेत् समाधिः । इति ।

अत्रांशशब्देन कोणः । तत्कर्णसूत्रार्द्धं १७ अङ्गुलानि यूकाद्वयोनानि । तच्च मध्यसूत्रात् पञ्चाङ्गुलानि यूकाद्वयन्यूनानि । अधिकं तस्य तृतीयोंशोऽङ्गुलमेकम् एकाङ्गुलस्य द्वौ तृतीयांशौ तेन १३ अङ्गुलानि एकस्य द्वौ तृतीयांशौ व्यासार्द्धम् । अयं द्विगुणितो व्यासः २७ $\frac{१}{३}$ सवर्णितो यथा $\frac{८२}{३}$ । अस्य क्षेत्रफले दशाङ्गुलानि वर्द्धन्ते । यत्तु गणितज्ञाभिमानिनो लक्षणं षोडशधा कृतमध्यमसूत्रक्षेत्रपुरः परिवर्द्धितभागे । एकैक एव ततोऽन्तरचिह्नान् मण्डलकुण्डमिह भ्रमणात् स्यात् इति । अत्र सप्तविंशत्यङ्गुलानि व्यासः । तस्य क्षेत्रफलं ५७२ अङ्गुलानि । अत्र चत्वार्यङ्गुलानि न्यूनानि भवन्ति इति न तदपि सम्यक् । कामिके तु—

कर्णार्द्धाष्टांशसंन्यासाद् वृत्तं कुण्डमिहोदितम् । इति ।

पुरस्तात् सम्यक् न्यासः संन्यासः । अत्र साष्टमांशचतुर्दशाङ्गुलानि व्यासार्द्धमिति महान् व्यभिचारः । ग्रन्थान्तरे तु—

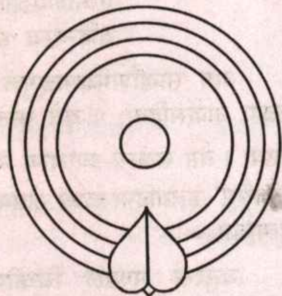
चतुरस्रं पुरा कृत्वा कुण्डक्षेत्रप्रमाणत् ।
नवभागं पुरा कृत्वा चैकभागं बहिर्न्यसेत् ॥
तस्मान्मध्यं गृहीत्वैवं भ्रमात्तद्वर्त्तुलं भवेत् ॥ इति ।

अत्रैकस्य तृतीयांशसहितानि एकोनत्रिंशदङ्गुलानि व्यासः । तेन महत्तरमन्तरम् । केचन एकं भागं बहिर्न्यसेदर्द्धार्द्धतयेति शेषः । तदा मूलपद्येन सहैकवाक्यता भवति इति वदन्ति । सिद्धान्तशेखरे तु—

चतुरस्रे सुसंसिद्धे तद्बाह्ये भागमष्टमम् ।
क्षेत्रस्य विन्यसेद्दिक्षु मध्यात्तन्मानसूत्रतः ।
भ्रमणभ्रामणेनैवं वृत्तं कुण्डमुदीरितम् ॥ इति ।

अत्र त्रिंशदङ्गुलानि व्यासः तेन महत्तममन्तरम । अतः सिद्धान्तशेखरवचनं कैश्चिदन्यथा व्याख्यायते । क्षेत्रस्याष्टमं भागं बाह्ये दिक्षु विन्यसेदर्द्धार्द्धतयेति शेषः । तेनोभयपार्श्वे मिलित्वा अष्टमो भागो भवति । तदा व्यासः २७ क्षेत्रफलं चतुरङ्गुलं न्यूनम् । सूक्ष्मगणनयेति ज्ञातव्यम् । स्थूलगणनायामङ्गीक्रियमाणायां लिखितकात्यायनवचनेन महदन्तरमेव स्यादित्यलम् ॥ ५८ ॥

(४) अब **वृत्तकुण्ड के निर्माण का विधान** कहते हैं—



बुद्धिमान साधक सर्वप्रथम चतुरस्र क्षेत्र को अट्ठारह भागों में प्रविभक्त करे । फिर मध्य के पूर्व पश्चिम तथा उत्तर दक्षिण के रेखाओं में उसका एक एक अंश बढ़ा देवे । पश्चात् व्यास के केन्द्र बिन्दु से चारों ओर वृत्त रेखा खींच देवे । तो वृत्त कुण्ड बन जाता है ॥ ५८ ॥

अष्टधा विभजेत् क्षेत्रं मध्यसूत्रस्य पार्श्वयोः।
भागं न्यसेदेकमेकं भागेनाऽनेन मध्यतः ॥ ५९ ॥

षडस्रकुण्डम्

कुर्यात् पार्श्वद्वये मत्स्यचतुष्कं तन्त्रवित्तमः ।
सूत्रषट्कं ततो दद्यात् षडस्रं कुण्डमुत्तमम् ॥ ६० ॥

चतुरस्रप्रकृतितया षडस्रं कुण्डमाह अष्टधेति । क्षेत्रं चतुरस्रमध्यसूत्रम् अष्टधा विभजेत् । मध्यसूत्रस्येत्यत्र मध्यसूत्रपदेन दक्षिणोदग्गतसूत्रं गृह्यते । पार्श्वयोरिति वचनात् । अन्यथा अध ऊर्द्धमित्येव ब्रूयात् । तस्य पार्श्वयोर्दक्षिणोत्तराग्रयोः एकमेकं भागं न्यसेद् बहिर्वर्द्धयेत् । ततोऽनेन मानेन वर्द्धितमानेन वर्द्धितचिह्नेन मध्यतो मध्याच्च पार्श्वयुगे वर्द्धितदक्षिणोदग्गतसूत्रमध्यस्य दक्षिणपार्श्वे वामपार्श्वे च पूर्वापरभागयोः मत्स्यचतुष्कं कुर्यात् । तन्त्रवित्तम इत्यनेन सम्प्रदायेनैवायमर्थो ज्ञेय इत्युक्तम् । तत्र मत्स्योत्पादनप्रकारः । क्षेत्रमध्यादुत्तरकृतचिह्नपरिमितसूत्रस्यादिं क्षेत्रमध्ये निधाय पूर्वेशानयोरन्तराले वृत्तार्द्धं कृत्वा तत उत्तरकृतचिह्ने तत्सूत्रादिं निधाय तदर्द्धवृत्तभेदि वृत्तार्द्धं कुर्यात् । एवं पूर्वेशानयोर्दिशोरन्तराले मत्स्यसिद्धिः । एवमेव क्षेत्र-मध्याद्दक्षिणकृतचिह्नाच्च पूर्वाग्नेयदिशोरन्तराले च मत्स्यं कुर्यात् । एवमेव क्रमेण पश्चिमवायव्ययोरन्तराले पश्चिमनैर्ऋत्ययोरन्तराले च मत्स्यद्वयं कुर्यात् । तत उत्तर-चिह्नात् पूर्वेशानान्तरालमत्स्यं यावत् एकं सेत्रं पश्चिमवायव्यान्तरालमत्स्यं यावद् द्वितीयं सूत्रं दद्यात् । ततो दक्षिणचिह्नात् पूर्वाग्नेयान्तरालमत्स्यं यावत् एकं सूत्रं पश्चिमनैर्ऋत्यान्तरालमत्स्यं यावद् द्वितीयं सूत्रं दद्यात् । एवं सूत्रचतुष्टयदानम् । ततः पूर्वमत्स्ययोर्मिथ एकं तद्वत् पश्चिममत्स्ययोर्मिथ एकं सूत्रं दद्यात् । एवं षट्सूत्रसम्पातेन पूर्वाभिमुखं षडस्रं कुण्डं भवति । तदुक्तं क्रियासारे—

क्षेत्रं वस्वंशकं कृत्वा बहिः पार्श्वद्वयेऽंशकौ ।
न्यस्त्वाऽनेन प्रमाणेन मध्यात्तुल्यं यथा न्यसेत् ॥
कोणान्यन्यानि चत्वारि पार्श्वयोश्च द्वयं द्वयम् ।
षट्सूत्राणि न्यसेत्तेषु तत् स्यात् षट्कोणकुण्डकम् ॥ इति ॥

सिद्धान्तशेखरेऽपि—चतुरस्रे समे सिद्धे क्षेत्रमष्टांशकं बहिः ।

अग्रयोर्गर्भसूत्रस्य योजयेत्तत्प्रदेशतः ॥
गर्भमध्यप्रमाणेन सूत्रेण भ्रयन्त्रकम् ।
गर्भमध्ये बहिर्भागे विन्यस्य भ्रमणाद्भवेत् ॥
उत्तरे दक्षिणे बाह्ये मत्स्ययोर्द्धितयं ततः ।
मीने बाह्यांशके मीने मीनयुग्मे ततः क्रमात् ।
सूत्रषट्कं न्यसेत् तत्तु कुण्डं षट्कोणमीरितम् ॥ इति ।

अत्र गर्भसूत्रस्येति दक्षिणोदग्गतसूत्रस्य उत्तरे दक्षिणे इति वर्द्धितदक्षिणोदग्गतसूत्रमध्यस्य उत्तरपार्श्वे दक्षिणपार्श्वे इत्यर्थः ।

अत्र क्षेत्रोपपत्तिः । विषमचतुरस्रद्वयं कल्पयेत् । तत एकस्य भूः ३० अङ्गुलानि मुखं १५ लम्बः १३ । ततः 'लम्बेन निघ्नं कुमुखैक्यखण्डम्' इत्यनेन प्रकारेण लब्धं क्षेत्रफलं २९२ यवचतुष्टयाधिकम् । एवं द्वितीयचतुरस्रस्यापि २९२ यवचतुष्टयाधिकम् । एकत्र मिलितं ५८५ । एवं नवाङ्गुलान्यधिकानि भवन्ति । षड्भुजसमता भवत्येव । अत्र 'स्वाबाधाभुजकृत्योरन्तरमूलं प्रजायते लम्बः' इत्यनेन लम्बमानसाधनं ज्ञेयम् । यद्वा क्षेत्रत्रयं कल्पयेत् । मध्ये आयतचतुरस्रं पार्श्वयोस्त्र्यस्रद्वयम् । तत्रायतचतुरस्रस्य फलं ३९० । एकस्य त्र्यस्रस्य फलं ९७ यवचतुष्टयाधिकम् । एवं द्वितीयस्यापि । मिलित्वा क्षेत्रफलं ५८५ । एवं विषमचतुरस्रचतुष्टयं परिकल्प्य १४६ यवद्वयम् एतावदेकैकस्य फलमानीय सन्तोष्टव्यम्। यद्वा त्र्यस्रषट्कं परिकल्प्य एकैकस्य ९७ यवचतुष्टयाधिकं फलमानीय संवाद्यम् । एवमन्यप्रकारेणापि फलसंवाद ऊहनीयः । अन्ये त्वन्यथा वर्णयन्ति । क्षेत्रचतुरस्रमध्यसूत्रमष्टधा विभजेत् । मध्यसूत्रस्य प्राचीसूत्रस्य पार्श्वयोरध ऊर्द्ध्वञ्च एकं भागं न्यसेत् । मध्यसूत्रस्य दक्षिणोदग्गतस्य च पार्श्वयोरधः ऊर्द्ध्वमेकं भागं न्यसेत् । ततो मध्यतोऽनेने मानेन पार्श्वयुगे मत्स्यचतुष्कं कुर्यात् । तत्र मत्स्यकरणप्रकारः । पूर्वापरायतसूत्रचिह्नद्वयस्य दक्षिणोत्तरतस्तेन मानेन मत्स्यद्वयं कुर्यात् । तत्र चतुरस्रपूर्वपरिधिरेखा दक्षिणोत्तरया प्राचीसूत्रस्य यत्र सम्पातः तत उपर्यधश्च त्र्यङ्गुलेन तां परिधिरेखामङ्कयित्वा पूर्वतः कृतचिह्नदक्षिणभागे अर्द्धवृत्तं कृत्वा परिधिरेखागतदक्षिणचिह्नात् तद्व्यक्तिभेदि अर्द्धवृत्तं कुर्यात् । एवं दक्षिणभागे मत्स्यसिद्धिः । एवमुत्तरभागेऽपि । एवमुक्ताप्रकारेण चतुरस्रपश्चिमपरिधिरेखायामपि अङ्कद्वयं कृत्वा पश्चिमदिशि कृतचिह्नस्य दक्षिणोत्तरभागयोर्मत्स्यद्वयं कुर्यात् । ततो वर्द्धितदक्षिणचिह्नात् पूर्वदक्षिणभागमत्स्यं यावदेकं सूत्रं पश्चिमदिग्दक्षिणभागमत्स्यं यावद् द्वितीयं सूत्रं दद्यात् । एवं वर्द्धितोत्तरचिह्नात् पूर्वदिगुत्तरभागमत्स्यं यावदेकं सूत्रं पश्चिमदिगुत्तरभागमत्स्यं यावद् द्वितीयं सूत्रम् । एवं सूत्रचतुष्टयदानम् । ततः पूर्वमत्स्ययोर्मिथ एकं सूत्रं पश्चिममत्स्ययोर्मिथ एकं सूत्रम् । एवं षट्सूत्रस्य सम्पातात् षडस्रं कुण्डमिति । अत्र विषमचतुरस्रद्वयं प्रकल्प्य एकस्य क्षेत्रफलं २७० । एवं द्वितीयस्यापि । मिलित्वा ५४० । तन्मते मध्यसूत्रस्य पार्श्वयोरित्यस्यावृत्तिर्भवति । किञ्च क्वचिन्मध्यसूत्रशब्देन प्राचीसूत्रं गृह्यते क्वचिद्दक्षिणोदग्गतसूत्रं तदसम्बद्धम । प्रमाणाभावात् । मध्यत इति पदं व्यर्थमेव स्यात् । मत्स्योत्पादनार्थं चतुरस्रपरिधिरेखयोर्यदङ्कनं तदपि स्वकपोलकल्पितम् । क्षेत्रफलमध्ये षट्त्रिंशदङ्गुलानि न्यूनानि विषमभुजता चेत्यज्ञानविजृम्भितम् । यत् त्वस्यैव व्याख्याने प्राचीसूत्रपूर्वापरभागयोः

कोणपातमिच्छन्ति तेन मत्स्या एव अथ तत्र क्षेत्रफलसाम्यापादनाय बहवः प्रकाराः सम्भाव्यन्ते । तत्र कश्चित्—

अष्टधा विभजेत् क्षेत्रं मध्यसूत्रादधोपरि ।
भागं न्यसेदेकमेकं पार्श्वयोस्तु दिगङ्कतः ॥
संम्वर्द्ध्य क्षेत्रेष्वष्टांशं तत ऊर्द्धाधरौ तिमी ।
क्षेत्राष्टमांशतः कुर्याद् दिक्सूत्रे तावदङ्कतः ॥
संभेद्य क्षेत्रषष्ठांशं गुणेनैवमुदक् तिमी ।
षट्सूत्रीं पातयेत्तेषु षडस्रकुण्डमुत्तमम् ॥ इति ।

अत्र दक्षिणोदग्गतमध्यसूत्रमष्टाङ्गुलं वर्द्धितं क्षेत्रफलमन्यूनानतिरिक्तमेव । षड भुजसाम्यं नास्ति । तथा च—

अष्टोनद्विशतांशकेऽन्तरगुणे क्षेत्रस्य तिर्यक्स्थिता-
न्तः सूत्रोभयतो भ २७ वर्द्धनभवाङ्कोर्द्धाधरे चिह्नयेत् ।
तत्त्वां २५ शेषु झषैः पुरोऽप्यधरतोऽङ्कद्वयंश २९ वृद्धौ झष-
द्वन्द्वा द्विद्विगुणैर्द्विपार्श्वगुणतस्तिभ्योः षडस्रीरितम् ॥ इति

अत्रापि क्षेत्रफलमन्यूनानतिरिक्तमेव । शड्भुजसाम्यञ्च नास्ति । अन्यच्च इदं वायव्यकुण्डं तच्च पूर्वाग्रम् । अत्र च पूर्वपश्चिमयोरेव कोणपाताद् योनिस्थापनानवकाशात् । 'न कुर्यात् कुण्डकोणेषु योनिं तां तन्त्रवित्तमः' इति । कोणे योनिस्थापनस्य निषेधात् । कुण्डस्य पूर्वाग्रता व्याहन्यते । एतल्लक्षणयकृता च स्वग्रन्थे कुण्डान्युक्त्वोक्तम्—प्रागादि कुण्डत्रयमुत्तराग्रं याम्यस्थयोनीतरपञ्चकुण्डी ।

प्रागग्रिका पश्चिमयोनिरत्र । इति योनिलक्षणं वदता चोक्तम्—

मघवशिखिकृतान्तदिक्स्थकुण्डेष्वियमधिमेखलमेव मध्यभागे ।
यमदिशि शशिदिङ्मुखी निवेश्या वरुणदिशीतरकुण्ड ऐन्द्रवक्त्रा ॥ इति ।

तेन स्वग्रन्थे पूर्वापरविरोधोऽपि नोपलक्षित इति यत् किञ्चिदेतत् । तथा च । प्राचीमध्यसूत्रमङ्गुलत्रयं वर्द्धयेत् । ततो वर्द्धितचिह्नात् दक्षिणोत्तरतः चतुरङ्गुलमानेन चतुरस्रपूर्वपरिधिरेखाङ्काभ्यां मत्स्यद्वयं कुर्यात् । एवं पश्चिमदिश्यपि दक्षिणोदग्गत-सूत्रम् अङ्गुलत्रयम् अङ्गुलस्य षष्ठांशसहितं वर्द्धयेत् । एवमपि क्षेत्रफलमन्यूनमेव । इतोऽपि बहवः प्रकाराः सम्भाव्यन्ते । क्षेत्रफलसाम्यापादनाय नतु षड्भुजसाम्या-पादनाय । एवं कुण्डस्याननुगतता प्रसज्यते । तेन षडस्रकुण्डे षणामपि भुजानां साम्यं क्षेत्रफलसाम्यम् अवश्यमपेक्षितम् । यतोऽत्र क्रियासारे कादिमते कामिके सिद्धान्त-शेखरेऽपि षड्भुजसमताया उक्तत्वात् । तत्र सर्वानुगत प्रकारस्तूच्यते—

षडस्रे मध्यसूत्रन्तु चतुर्विंशतिधा भजेत् ।
तच्चैकैकनवांशोनत्र्यंशैः सम्वर्द्ध्य मध्यतः ॥
भ्रमयेत् तेन सद्वृत्तं तद्व्यासार्द्धेन लाञ्छयेत् ।
षट्सु स्थानेषु षट्सूत्रपातनात् तत् षडस्रकम् ॥ इति ।

अस्यार्थः । त्रयोऽंशा अङ्गुलत्रयम् । तत् कीदृक् । एकस्य नवमोऽंशः तेनोनम् । तेनायं वृत्तव्यासः २९ अङ्गुलानि ६ यवाः २ यूके किञ्चिदूने । तस्य

सवर्णनार्थं न्यासः २९ $\frac{७}{९}$ सवर्णितः $\frac{२६८}{९}$ व्यासार्द्धं $\frac{१३४}{९}$ व्यासचतुर्थांशः $\frac{६७}{९}$ इयमेवाबाधा । ततः 'स्वाबाधाभुजकृत्योः' इत्यनेनानीय लम्बः । कुमुखैक्यखण्डे लम्बेन गुणिते छेदेन भक्ते लब्धम् एकविषमचतुरस्रस्य क्षेत्रफलं २८८ । एवं द्वितीयस्यापि । मिलित्वा क्षेत्रफलं ५७६ । अथवा मध्ये आयतचतुरस्रं पार्श्वयोस्त्र्यस्रद्वयं कल्पयेत् । तत्र व्यासचतुर्थांशः शरः अयमेवोभयत्र्यंस्रस्य लम्बः । ततः

व्यासाच्छरोनाच्छरसंगुणाच्च मूलं द्विनिघ्नं भवतीह जीवा ।

इति आनीता ज्या २६ किञ्चिदूना । ततो मध्यायतचतुरस्रस्य 'तथायते तद्भुजकोटिघातः' इत्यनेन पूर्ववच्च त्र्यस्रद्वयस्यापि फलमानीय सर्वमेकीकृतं क्षेत्रफलं ५७६ । एवं विषमचतुरस्रचतुष्टयं त्र्यस्रषट्कं वा कल्पयित्वा फलसंवाद ऊहनीयः । अत्र षणां भुजानामपि साम्यमस्ति । तत्तु—

खखखाभ्ररसैरङ्कै ६०००० वृत्तव्यासे समाहते ।
खखखाभ्रार्क १२०००० संभक्ते लभ्यन्ते क्रमशो भुजाः ॥

इति भास्कराचार्योक्तपरिपाट्या भुजानयनेन समूह्यम् । यत्तु कादिमते

तन्मध्यद्वादशांशेन विकाश्य ब्रह्मसूत्रकम् ।
तेन मानेन च तथा कृत्वा वृत्तमपि स्फुटम् ॥
तद्वृत्ते वृत्तमध्यस्य कुर्यादर्द्धेन चाङ्कनम् ।
तत्र षट्सूत्रपातेन भवेत् कुण्डं षडस्रकम् ॥ इति ।

अत्र क्षेत्रफलमध्ये पञ्चशतषट्सप्तत्यङ्गुलमध्ये द्विसप्तत्यङ्गुलानि न्यूनानि । भुजसाम्यमस्त्येव ।

षड्भागवृद्धितो मत्स्यैश्चतुर्भिः स्यात् षडस्रकम् । इति

कामिके तु महान् व्यभिचारः । भुजसाम्यमस्त्येव । षणवतिपरिधिरेखाभिप्रायेणेदं लक्षणम् । यत्तु ततस्तन्मत्स्यचतुष्टयानुसारेण चतुरस्रसम्बन्धि पूर्वपश्चिमपरिधिरेखायां लाञ्छनचतुष्टयं विदध्यादिति चतुवर्गचिन्तामणिकारव्याख्यानम् तत्तु क्षेत्रफलानुसारेण कल्पितमिति उपेक्षणीयम् । तादृशशब्दाभावात् भुज साम्याभावाच्च ॥ ५९-६० ॥

षडस्रकुण्ड



(५) **षडस्रकुण्ड**—सर्वप्रथम चतुरस्र क्षेत्र के मध्य से दोनों ओर की रेखा को आठ भागों में प्रविभक्त करे । तदनन्तर मध्य की उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम की रेखाओं को अष्टमांश बढ़ा देवे । तदनन्तर बढ़ी हुई रेखाओं से सम्बद्ध व्यास के केन्द्र से एक वृत्त का निर्माण करना । तदनन्तर बढ़ी हुई रेखा के दोनों ओर तन्त्रवेत्ता साधक ४ चिन्ह लगावे । फिर छओं सूत्रों को मिला देवे तो षडस्रकुण्ड हो जाता है ॥ ५९-६० ॥

पद्मकुण्डम्

चतुरस्त्रीकृतं क्षेत्रं विभज्याऽष्टादशांशतः।
एकं भागं बहिर्न्यस्य भ्रामयेत्तेन वर्त्तुलम्॥ ६१ ॥
वृत्तानि कर्णिकादीनां बहिस्त्रीणि प्रकल्पयेत्।
पद्मकुण्डमिदं प्रोक्तं विलोचनमनोहरम्॥ ६२ ॥

चतुरस्त्रप्रकृतितया पद्मकुण्डमाह चतुरस्त्रीकृतमिति । इदं वृत्तकुण्डे व्याख्यातम्। तत्र कर्णिकादीनां वृत्तानि त्रीणि बहिः प्रकल्पयेदिति । तत्र कृतवृत्ताद्बहिस्त्रीणि वृत्तानि क्रियन्ते चेत् तदा—

यावान् कुण्डस्य विस्तारः खननं तावदीरितम् ।

इति वचनात् न ज्ञायते कियद्धस्तं कुण्डं स्यादिति नैतद्व्याख्यातम् । किं तर्हि बहिरिति वीप्सा मध्यादिति शेषः । तेन वृत्ते कृते मध्याद्बहिः बहिः कर्णिकादीनां त्रीणि वृत्तानि कुर्यादित्यर्थः । तदुक्तं क्रियासारे—

कृत्वैवं पूर्ववद्वृत्तं तन्मध्ये वर्त्तुलत्रयम् ।
भ्राम्यैवं पङ्कजाकारं कारयेत् कर्णिकादिभिः ॥ इति ।

तदा यत् कृतं सर्वबाह्यवृत्तं तदेव दलाग्रवृत्तं स्यात् । तदा दलाग्रकरणे यत् क्षेत्रं त्यज्यते तेनात्यन्तं क्षेत्रस्य न्यूनता स्यात् । पूर्वं वृत्तकुण्डे अष्टादशाङ्गुलन्यूनता दर्शिता । अत्र ततोऽपि न्यूनता स्यात् । तेनैवं कैश्चिद् व्याख्यायते । इदं ग्रन्थकृता यद्वृत्तमुक्तं तत्तु क्षेत्रसंग्रहमात्रं कृतं क्षेत्रसीमावृत्तमित्यर्थः । वक्ष्यमाणपद्मकरणे—

पद्मक्षेत्रस्य संत्यज्य द्वादशांश बहिः सुधीः ।
तन्मध्यं विभजेद् वृत्तैस्त्रिभिः समविभागतः ॥

इत्युक्तत्वात् । अत्र व्यासद्वादशांशः अङ्गुलद्वयं सपादं तत्र यत् सीमावृत्तं तस्याध एकाङ्गुलम् एको यवस्तत्र वृत्तं कुर्यात् । तदुपर्यपि तेनैव मानेन वृत्तं कुर्यात् । तेन मध्ये सीमावृत्तं जातम् । तत्रान्तर्वृत्तस्य चतुर्विंशत्यङ्गुलानि यवत्रयं च व्यासः । तत्र समविभागतस्त्रीणि वृत्तानि कुर्यात् । ततो वर्द्धितद्वादशांशेन दलाग्राणि कुर्यात् । तत्र बहिर्वृत्तस्य अष्टाविंशत्यङ्गुलानि सप्तयवा व्यासः । तत्रोभयवृत्तक्षेत्रफलमेकीकृत्यार्द्धमस्य क्षेत्रफलम् । अत्रापि व्यभिचारः । यतोऽधोवृत्तस्य क्षेत्रफलं ४६७ सर्वोपरिवृत्तस्य क्षेत्रफलं ६५९ एकीकृतं ११२६ एतदर्द्धं ५६३ तेन त्रयोदशाङ्गुलानि न्यूनानि भवन्ति । वस्तुतस्तु पद्मक्षेत्रस्योत्पादको यः पद्मकरण-प्रकारः स सर्वतोभद्रमण्डलादावेव ज्ञेयः । नवकुण्डकरणे तत्र क्षेत्रस्याधिक्यं स्यात् । यत्तु ग्रन्थकारेण 'वृत्तानि कर्णिकादीनां बहिस्त्रीणि' इति क्रियासारेऽपि 'वर्त्तुलत्रयम्' इति तत्तु पत्रोर्द्धभूवृत्ताभिप्रायेणैवेति ध्येयम् । पत्राग्रे वृत्तमधिकं कुर्यात् इति सूचयितुं तेनापि क्षेत्रफलमधिकं किञ्चित् । तेन पद्मकुण्डकरणे पञ्चवृत्तान्येवेति ज्ञेयम् । तेनात्र तद्वदर्द्धनिशाकरकरणमपि नास्ति । अत्र क्षेत्रफलाव्यभिचारी सर्वानुगतप्रकारस्तूच्यते ।

पद्मकुण्डे मध्यसूत्रं चतुर्विंशतिधा भजेत् ।
भ्रमयेत् कर्णिकावृत्तं तत्र्यंशवृत्तार्द्धमानतः ॥

षडंशवृत्तार्द्धमानभ्रमिवृत्ते तु केशराः ।
नवांशवृत्तार्द्धमाने वृत्ते स्यात् पत्रमध्यभूः ॥
द्वादशांशात्तु वृत्तार्द्धात्तं पत्रोर्द्धभूः स्मृता ।
दलाग्राणान्तु वृत्तार्द्धं कृत्वा पञ्चदशांशकैः ॥
न्यूनैः पञ्चभिरेकांशश्चतुषष्ट्यंशकैर्भ्रमात् ।
रेखाग्रेभ्यः पत्रसीम्नो दलाग्राणि प्रकल्पयेत् ॥

अत्र मध्ये षडङ्गुलव्यासा कर्णिका । 'यावान् कुण्डस्य विस्तारः खननं तावदीरितम्' इति वक्ष्यमाणत्वात् । तेन कर्णिकाखननमपि प्राप्तम् । तत्र कर्णिका किञ्चिदुच्चा रक्षणीया । तदुच्चता यद्यप्यत्र नोक्ता तथापि नाभिकथने एकहस्तस्य नाभिं नेत्रवेदाङ्गुलोपेताम् इति वक्ष्यति । तेन सा चतुरङ्गुलव्यासा द्व्यङ्गुल उत्सेधः तदा षडङ्गुलव्यासायाः कियानुत्सेध इति त्रैराशिकेनोच्चता आनेया । तत्र त्रैराशिकसूत्रम्—

प्रमाणमिच्छा च समानजाती आद्यन्तयो स्तः फलमन्यजाति ।
मध्ये तदिच्छाहतमाद्यहृत् स्यादिच्छाफलं व्यस्तविधिर्विलोमे ॥ इति ।

तत्र त्रैराशकस्य न्यासः ४ । २ । ६ ततोऽन्त्येन ६ मध्यस्थं २ गुणितं १२ । आदिना ४ भक्तं लब्धोच्चता ३ । तदुक्तं कामिके—

उत्सेधन्तु ततः कुर्यात् कर्णिकार्द्धांशमानतः । इति

अतो ग्रन्थकृदग्रे योनिकुण्डे योनिम् अब्जकुण्डे नाभिञ्च वर्जयेत् इति वक्ष्यति । सिद्धान्तशेखरेऽपि—योनौ योनिं न कुर्वीत पद्मे पद्मं न कारयेत् । इति ।

क्रियासारेऽपि— योन्यामम्बुजकुण्डयोः ।
क्रमेण योनिं नाभिञ्च न कुर्वीत चतुर्मुख ॥ इति ।

तस्मात् त्र्यङ्गुलं कर्णिकोच्चतां संस्थाप्याऽन्यत् खननीयम् । केशरस्थानमपि खनित्वा अधोभागे केशराणि स्थापयेत् । दलाग्राकारतया दलमध्यः सर्वोऽपि खननीयः । तत्र चतुर्विंशतिव्यासवृत्ताद्बहिर्यद्वृत्तं तस्यार्द्धमेव यथा गृह्यते तथा कुशलतया बाह्यस्तेन दलाग्राणि रचयेत् । यस्त हस्तत एव पत्राणां वक्रता सा च पत्रसीमारेखा । पत्रोर्द्धभूवृत्तसम्पातात् पत्रमध्ये रेखां यावदुभयतो रेखादानात् । इदं पद्मकुण्डम् ।

अत्र क्षेत्रोपपत्तिः । चतुर्विंशतिव्यासवृत्ते पूर्ववत् फलं ४५२ अङ्गुलानि ३ यवाः ४ यूकाः । बहिर्वृत्तस्य एकाङ्गुलस्य दशभिश्चतुःषष्ट्यंशैरूनत्रिंशदङ्गुल व्यासस्य क्षेत्रफलं ६९९ अङ्गुलानि ४ यवाः ४ यूकाः । मिलितं ११५२ । एतदर्द्धं क्षेत्रफलं ५७६ । इदमतिसूक्ष्मं फलम् । तदुक्तं कामिके—

चतुरस्राष्टभागेन कर्णिका स्याद्विभागशः ।
तद्बहिस्त्वेकभागेन केशराणि प्रकल्पयेत् ॥
तृतीये दलमध्यानि चतुर्थे दलकोटयः ।
चतुरस्राद्बहिः कुर्याद्दलाग्राण्यपि यत्नतः ॥ इति ।

अत्र क्षेत्रफलं चतुरङ्गुलमधिकम् ।

यत्तु अतिगणितज्ञाभिमानिनो लक्षणे—

क्षेत्रेऽन्तश्चतुरस्त्रके विततिवस्वंशेन वृत्तं कृतं
व्यासार्द्धेन तु कर्णिका पुनरियद्वृद्ध्या भ्रमात् केशराः ।
तद्वृद्ध्या दलमध्यभूः पुनरियद्वृद्ध्या भ्रमेणोर्द्धभूः
क्षेत्रव्यासजिनांशकस्य विशिखैरूनं कलांशैः पुनः ॥
तत् सम्बद्ध्य दलाग्रकाणि रचयेत् क्षेत्रार्द्धमुज्झन् विना
स्यात् त्रिंशल्लवविस्तृतीयमियता द्विघ्नेन वृत्तं बहिः ।
स्वव्यासार्द्धमितोच्चतामिह खनेत् त्यक्त्वान्तरा कर्णिकां
कुर्वन् केशरचिह्नमष्टदलकं यद्वा चतुर्भिर्दलैः ॥ इति ।

अत्र क्षेत्रफले एकादशाङ्गुलानि न्यूनानि भवन्ति ।

तथा— भांशन्तु वृत्तव्यासस्य स्वाष्टांशेनाधिकं बहिः ।
सम्बद्ध्य मध्याद्विलिखेद् बाह्यवृत्तं द्वितीयकम् ॥
तृतीयं तावतैवान्यत् सीमावृत्तान्तरा लिखेत् ।
अष्टसूत्या षोडशधा तत्क्षेत्रं विभजेत्ततः ॥
पत्रमध्यस्थसूत्रान्ताद् यथा बाह्यकरस्तथा ।
तत्पार्श्वसूत्रान्तरस्थवृत्तं सम्पाततो लिखेत् ॥
वत्तार्द्धे द्वे दलाग्रार्थमन्तर्वीथ्यां हि यावती ।
त्यक्त्वा भूः स्याद्बहिर्वीथ्यां तावती गृह्यते यथा ॥
क्षेत्रत्र्यंशेन मध्ये स्यात् कर्णिका स्वदलोन्नता ।
पत्राग्राणि तदाकारात् खनेदखिलमन्तरम् ॥
एवमष्टदलाब्जाभं जायते कुण्डमुत्तमम् ॥ इति ॥

अत्र महान् व्यभिचारः । कामिकेऽपि चतुर्दलताप्युक्ता ।
अवशिष्टदलं वेददलमष्टदलन्तु वा । इति ।
अन्यत्रापि—दशांशे च विन्यस्य बाह्येऽशमेकं परिभ्राम्य तेनैव वृत्तं दलानाम् ।
बहिर्मध्यमे कर्णिकां वापि कुर्यात् भवेदष्टपत्रं बुधः पद्मकुण्डम् ॥ इति ।

अत्राल्पमन्तरम् । सिद्धान्तशेखरे—

चतुरस्त्रेऽष्टधा भक्ते कुर्याद्वृत्तचतुष्टयम् ।
कर्णिकाकेशरे वृत्ते तृतीये पत्रसञ्चयः ॥
दलाग्राणि चतुर्थे स्युर्वृत्तान्येवं प्रकल्पयेत् ।
कोष्ठयुग्मस्य मध्येऽपि भ्रमयन्त्रं निधाय च ॥
भ्रमणात् सन्धिमारभ्य पत्राग्रं बाह्यतो भवेत् ।
चतुर्दिक्षु चतुष्पत्रं पद्माभं कुण्डमीरितम् ॥
अथवाऽष्टदलं पद्मं कुर्याच्छास्त्रोक्तमार्गतः ॥ इति ।

अत्र तु अत्यन्तं न्यूनं क्षेत्रफलम् ॥ ६१-६२ ॥



(६) अब **पद्मकुण्ड के निर्माण का विधान** कहते हैं—

चतुरस्र क्षेत्र को १८ भागों में प्रविभक्त करे। पुन: एक भाग बाहर छोड़कर चारों ओर गोल वृत्त बना देवे। पुन: कर्णिका के बाहर तीन वृत्त का निर्माण कर ले। तो देखने में अत्यन्त मनोहर पद्मकुण्ड बन जाता है ॥ ६१-६२ ॥

अष्टास्रकुण्डम्

पूर्वोक्तं विभजेत् क्षेत्रं चतुर्विंशतिभागतः ।
एकं भागं बहिर्न्यस्य चतुरस्रं प्रकल्पयेत् ॥ ६३ ॥
अन्तस्थ चतुरस्रस्य कोणार्द्धार्द्धप्रमाणतः ।
बाह्यस्य चतुरस्रस्य कोणाभ्यां परिलाञ्छयेत्॥ ६४ ॥
दिशं प्रति यथान्यायमष्टसूत्राणि पातयेत् ।
अष्टास्रं कुण्डमेतद्धि तन्त्रविद्भिरुदाहृतम् ॥ ६५ ॥

चतुरस्रप्रकृतितया अष्टास्रं कुण्डमाह पूर्वोक्तमिति । पूर्वोक्तं क्षेत्रं पूर्वोक्त चतुरस्रमध्यसूत्रं चतुर्विंशतिभागतो विभजेत् । एकं भागं चतुर्दिक्षु बहिर्न्यस्य षड्-विंशत्यङ्गुलायामविस्तारं चतुरस्रान्तरं बहिः कुर्यादित्यर्थः । अत्र कोणशब्देन कोणसूत्रम् । अन्तःस्थचतुरस्रस्य यत् कोणसूत्रं यूकाचतुष्टयोनचतुस्त्रिंशदङ्गुलानि । तदर्द्धं यूकाद्वयोनसप्तदशाङ्गुलानि । तदर्द्धं यूकोनसार्द्धाष्टाङ्गुलानि । तत्प्रमाणतः बाह्यस्य चतुरस्रस्य कोणाभ्यां सकाशात् परिलाञ्छयेत् । बाह्यचतुरस्रपरिधिरेखास्थ-मित्यर्थः । कोणाभ्यामितीशाग्नेयाभ्याम् । एवमाग्नेयनैर्ऋताभ्यामित्यादि । ततो दिशं प्रति अष्टसूत्रसम्पातादष्टास्रं कुण्डम् ।

तत्र सूत्रपातनप्रकारः । कोणपार्श्वयोर्ये लाञ्छने तयोर्मिथ एकम् एवं दिक्षु सूत्रचतुष्टयम् । बाह्यचतुरस्ररेखास्तु लाञ्छनद्वयमध्यसूत्राण्येव । चतुर्दिक् सूत्राणि एवमष्टसूत्राणि । तत्राष्टसूत्राणां सम्भवात् अष्टसूत्राणि पातयेदित्युक्तिः । इदमेव यथान्यायमित्यनेनोक्तम् ।

अत्र क्षेत्रोपपत्तिः । तत्र त्रीणि क्षेत्राणि मध्ये आयतचतुरस्रं पार्श्वयोर्विषम-चतुरस्रे । तत्रायतस्यैको भुजः ९ $\frac{१}{६४}$ सवर्णितः $\frac{५७७}{६४}$ । द्वितीयो भुजः २६ । 'तथाऽऽयते तद्भुजकोटिघातः' इति । अनेन लब्धं क्षेत्रफल २३४ अङ्गुलानि ३ यवाः २ यूके । ततो विषमचतुरस्रद्वयस्य भूः २६ मुखं सवर्णितं $\frac{५७०}{६४}$ तयोर्लम्बः ८ $\frac{६३}{१२८}$ सवर्णितः $\frac{१०८७}{१२८}$ । 'लम्बेन निघ्नं कुमुखैक्यखण्डम्' इति लब्धं क्षेत्रफलम्

१४८ अङ्गुलानि ५ यवाः ३ यूकाः । एवं द्वितीयस्यापि । सर्वं मिलितं ५३१ अङ्गुलानि ६ यवाः । तेन यवद्वयाधिकचतुश्चत्वारिंशदङ्गुलानि न्यूनानि । अष्टभुजसमता च नास्ति । अन्यूनानतिरिक्तक्षेत्रफलानयनेनैव कुण्डसिद्धिरिति चेत् तदा अष्टास्राणि अनेकानि कुण्डानि स्युः । तथाहि षड्विंशति विस्तारायामे बाह्यचतुरस्रे अर्द्धयवसहितसप्ताङ्गुलैः कोणपार्श्वयोः लाञ्छिते सति मध्यायतचतुरस्रस्यैको भुजः २६ अपरो भुजः ११ अङ्गुलानि ७ यवाः । अस्य क्षेत्रफलं ३०८ अङ्गुलानि ४ यवाः । विषमचतुरस्रद्वयस्य भूः २६ मुखं ११ अङ्गुलानि ७ यवाः । लम्बः अर्द्धयवसहितसप्ताङ्गुलानि । अस्य क्षेत्रफलं १३३ अङ्गुलानि ६ यवाः । एवमन्यस्यापि । सर्वं मिलित्वा क्षेत्रफलं ५७६ । तथा सप्तविंशतिविस्तारायामे बाह्यचतुरस्रे षड्यवाष्टाङ्गुलैः कोणपार्श्वतोऽङ्किते आयतचतुरस्रस्य भुजः २७ अपरः सार्द्धनवाङ्गुलानि तस्य क्षेत्रफलं २५६ । विषम चतुरस्रद्वयस्य भूः २७ भुखं सार्द्धनवाङ्गुलानि लम्बोऽष्टाङ्गुलानि षड्यवाः । एकस्य क्षेलफलं १६० । एतावदन्यस्यापि । मिलित्वा क्षेत्रफलं ५७६ । एवमष्टाविंशत्यायामविस्तारे बाह्य-चतुरस्रे सार्द्धयवसहित दशाङ्गुलैः कोणपार्श्वतो लाञ्छिते मध्यायतचतुरस्रस्यैको भुजः २८ अपरः सप्ताङ्गुलानि पञ्चयवाः तत् फलं २१३ विषमचतुरस्रद्वयस्य भूः २८ मुखं सप्ताङ्गुलानि पञ्चयवाः । लम्बो दशाङ्गुलानि सार्द्धो यवः । अस्य फलं १८१ अङ्गुलानि ४ यवाः । एतावदन्यस्यापि । मिलित्वा क्षेत्रफलं ५७६ । एतादृशाः सहस्रशः प्रकाराः सम्भाव्यन्ते । नहि तावन्त्यपि सर्वाण्यष्टास्रकुण्डानि । यतः कुण्डस्याननुगतता प्रसज्यते । तेन यत्र तुल्याष्टभुजत्वं तुल्यक्षेत्रफलत्वञ्च तदेवाष्टास्रं कुण्डमिति सम्प्रदायविदः । तस्य सर्वानुगत प्रकार स्तूच्यते ।

कुण्डेऽष्टास्रे मध्यसूत्रं चतुर्विंशतिधा भजेत् ।
एकसार्द्धाष्टमांशाढ्यमंशमेकं बहिर्न्यसेत् ॥
चतुर्दिक्ष्वथ तन्मानाच्चतुरस्रान्तरं भवेत् ।
षट्चत्वारिंशदेकांश चतुः षष्ट्यंशसंयुतैः ॥
सप्तांशैर्लाञ्छयेद्बाह्यचतुरस्रास्त्रिपार्श्वतः ।
दिक्ष्वष्टसूत्रसम्पाता दष्टास्रं समबाहुकम् ॥

अत्र षडविंशत्यङ्गुलानि यवत्रयम् एतद्विस्तारायामं बाह्यचतुरस्रम् तत्तु सप्ताङ्गुलानि पञ्चयवाः षड्यूकाः। एतमानेन कोणपार्श्वयोर्लाञ्छितम्। तेनात्र मध्यायतचतुरस्रस्यैको भुजः $२६\frac{३}{८}$ सवर्णितः $\frac{२११}{८}$ । अपरो भुजः $२३\frac{७}{१६}$ सवर्णितः $\frac{३७५}{१६}$ पूर्ववल्लब्धं क्षेत्रफलं २८८ । तत ऊर्द्धाधो विषमचतुरस्रद्वयस्य सवर्णिता भूः $\frac{२११}{८}$। सवर्णितं मुखं $\frac{१७५}{१६}$ । लम्बः $७\frac{४६}{६४}$ सवर्णितः $\frac{४९४}{६४}$ अत्रैकस्य फलं १४४ । एतावदपरस्यापि । मिलित्वा क्षेत्रफलं ५७६ । एवमत्राष्टानां भुजानां साम्यप्तपीति । इदमेवाष्टास्रं कुण्डमिति मन्तव्यम् । चतुर्णां भुजानां साम्यं प्रत्यक्षतः सिद्धम् । अन्येषान्तु चतुर्णां 'तत्कृत्योर्योगपदं कर्ण' इत्यनेन प्रकारेणानेयम् । तच्छब्देन कोटिभुजौ बहिश्चतुरस्रगौ तत्कर्णोपरिस्थितौ तावत्रैतौ $\frac{४९४}{६४}$ । अथवा सुगम प्रकारान्तरमुच्यते ।

कुण्डेऽष्टास्त्रे मध्यसूत्रं चतुर्विंशतिधा भजेत् ।
एकत्रिदशमांशाढ्यं ह्यंशवृद्ध्या तु वर्त्तुलम् ।
तन्मध्ये दिक्ष्वष्टसूत्रदानादष्टास्त्रकं समम् ॥

अत्रापि अष्टानामपि भुजानां समता । सा तु—

द्विद्विनन्देषुवेदैश्च ४५९२२ वृत्तव्यासे समाहते ।
खखखाभ्रार्क १२०००० संभक्ते लभ्यन्ते क्रमशो भुजाः ॥

इति भास्कराचार्योक्तप्रकारेणानेया । ये तु गणितज्ञस्य लक्षणे—

चतुरस्त्रे मध्यसूत्रंषष्ठांशेन विवर्द्धयेत् ।
स्वजिनांशाधिकेनाऽथ तावन्मानं बहिर्गतम् ॥
चतुरस्रान्तरं कृत्वा कोणार्द्धार्द्धेषु लाञ्छयेत् ।
स्थानाष्टके ततः सूत्राण्येकैकं स्यात्तु चिह्नतः ॥
नयेत्तार्त्तीयतार्त्तीयं चिह्नं प्रत्यष्ट बुद्धिमान् ।
तत्सम्पातान्तरं मृष्ट्वा चतुरस्त्रे तथा उभे ॥
अष्टास्त्रं दर्शयेत् कुण्डं तुल्यक्षेत्रफलं समम् । इति ।

तथा— क्षेत्रव्यासजिनांशकेषु चतुरः संवर्द्धर्य साकं तथा
षट्त्रिंशेन लवेन चैकलवकस्यैतद्वितत्या वहेत् ।
वेदास्त्रित्यदुदारदिग्गुणयुतं दिक्कोणमध्ये कृता-
ष्टाङ्केष्वष्ठगुणैस्तृतीयमिलितैरष्टास्त्रिकुण्डं भवेत् ॥ इति ।

एते अपि न साम्प्रदायिके । यतः क्षेत्रफलं यथाकथञ्चित् संवदन्ति । एकलाञ्छनत स्तृतीयलाञ्छनपर्यन्तं सूत्रपातः क्वचिदप्यनुक्त इति स्वकपोलकल्पितमेतत् । किञ्च एवम्भूते अष्टास्त्रकुण्डे सति योनिस्थापनस्थानमेव नास्ति । सर्वत्र कोणरूपत्वात् कुण्डस्य । ग्रन्थकृदेव वक्ष्यति—

नार्पयेत् कुण्डकोणेषु योनिं तां मन्त्रवित्तमः । इति ।

कामिके तु—क्षेत्राद् द्वादशकं भागं चतुर्दिक्षु तदन्तरे ।
विन्यस्य तत्प्रमाणेन तुर्यांशमपरे नयेत् ।
तस्य कर्णप्रमाणेन तद्भुजास्वपि लाञ्छयेत् ॥
तत्राष्ठसूत्रसम्पातादष्टास्त्रं कुण्डमुच्यते । इति ।

अत्र महान् व्यभिचारः । अत्र चतुर्वर्गचिन्तामणिकारः कर्णशब्दस्य कर्णार्द्धमर्थमुक्त्वा कोणयोरानुकूल्यप्रातिकूल्येनाष्टौ लाञ्छनानीति व्याख्याति स्म । तदयुक्तम् । तत्प्रतिपादकवचनाभावात् अतिविषमभुजत्वात् क्षेत्रफलव्यभिचाराच्च । अत्र सर्वत्र क्षेत्रोत्पत्तिवासनाः ग्रन्थगौरवभयान्न प्रपञ्चिताः । तास्तु मत्कृतायां लीलावतीगणितटीकायां सुबोधिन्यां द्रष्टव्याः ।

नोपयोग इह मत्कृते श्रमे केवलागमविदान्तु यद्यपि ।
आगमं गणितमप्यवैति यस्तुष्यतु प्रियगुणः स कश्चन ॥

अयमुत्तमो नवकुण्डिकागणितपक्षः । एतत्कुण्डकरणाशक्तः सर्वाणि कुण्डानि चतुरस्राणि वृत्तानि वा कुर्यात् । तदुक्तमाम्नायरहस्ये—

कुण्डानि चतुरस्राणि वृत्तनामाकृतानि च । इति ।

सोमशम्भुनापि— शस्तानि तानि वृत्तानि चतुरस्राणि वा सदा । इति ।

अन्यत्रापि—वेदास्त्राण्येव तानि स्युर्वृर्त्तुलान्यथवा क्वचित् । इति।

मध्यमस्तु पञ्चकुण्डीपक्षः । तदुक्तमाम्नायरहस्ये—

नव पञ्चाथवैकं वा कर्त्तव्यं लक्षणान्वितम् । इति ।

सोमशम्भुनाऽपि—वेदीपादान्तरं त्यक्त्वा कुण्डानि नव पञ्च वा । इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—त्यक्त्वा वेदिचतुर्भागं कुण्डानि नव पञ्च वा । इति ।

तन्निवेशनमप्याम्नायरहस्य एवोक्तम्—

विधाने पञ्चकुण्डानामीशाने पञ्चमं भवेत् । इति ।

ज्ञानरत्नावल्यामपि—दिक्षु वेदास्त्रवृत्तानि पञ्चमन्त्वीशगोचरम् । इति ।

अत्र वृत्तशब्देन वृत्तार्द्धचन्द्रपद्मानि गृह्यन्ते । उक्तचतुरस्त्रवृत्तविकल्पाभिप्रायेण वा ।

सोमशम्भुरपि—कुर्यात् कुण्डं क्रमादीशे पञ्चमम् । इति ।

नारदीयेऽपि— यत्रोपदिश्यते कुण्डचतुष्कं तत्र कर्मणि ।
वेदास्त्रमर्द्धचन्द्रञ्च वृत्तं पद्मनिभं तथा ॥
कुर्यात् कुण्डानि चत्वारि प्राच्यादिषु विचक्षणः ।
पञ्चमं कारयेत् कुण्डमीशदिग्गोचरं द्विज ॥ इति ।

यत्तु— पञ्चकुण्डी चेन्निवेश्या दिक्ष्वन्तश्चेशपूर्वयोः ।

इति कस्य चिद्वचनं तदसम्बद्धम् । लिखितग्रन्थविरोधात् । एककुण्डपक्षः कनीयान् । तन्निवेशनमुक्तमाचार्यैः—

अथवा दिशि कुण्डमुत्तरस्यां प्रविदध्याच्चतुरस्रमेकमेव । इति । क्वचित् प्रतीच्यामपि तन्निवेशनमुक्तम् ।

भुक्तौ मुक्तौ तथा पुष्टौ जीर्णोद्धारे विशेषतः ।
दीक्षाहोमे तथा शान्तौ वृत्तं वरुणदिग्गतम् ॥ इति ।

सोमशम्भुरपि— एकं वा शिवकाष्ठायां प्रतीच्यां कारयेद्बुधः । इति ।

तत्रैककुण्डपक्षे चतुरस्त्रं वृत्तं वा तत् कार्यम् । तदुक्तं क्रियासारे—

चतुरस्त्रं भवेत् कुण्डं वृत्तं कुण्डमथापि वा ।
स्थिरार्च्चने चरार्च्चायां नित्ये हवनकर्मणि ॥ इति ।

पिङ्गलामतेऽपि— कुण्डमेककरं वृत्तं मेखलाकण्ठनाभिमत् ।
नित्यकर्मणि दीक्षायां शान्तौ पुष्टौ समं शुभम् ॥ इति ।

एवं हस्तमात्रं कुण्डमुक्तम् । यदुक्तं सिद्धान्तशेखरे—

हस्तमात्राणि सर्वाणि दीक्षासु स्थापनादिषु ।
नित्यहोमे च साहस्त्रे कुर्यात् कुण्डानि सर्वदा ॥ इति ।

द्विहस्तादिप्रकारस्तूच्यते । एकहस्तक्षेत्रफलं द्विगुणं द्विहस्तस्य, त्रिगुणं त्रिहस्तस्य, चतुर्गुणं चतुर्हस्तस्येति दशहस्तान्तं ज्ञेयम् । तत्र तन्मूलञ्च तत्तदायामसूत्रञ्च तस्यैव नामान्तराणि करणीमध्यसूत्रादीनि । तत्र भास्कराचार्यप्रोक्तसूत्रानुसारेण मूलानयनं ज्ञेयम् । तद्यथा—

त्यक्त्वान्त्याद्विषमात् कृतिं द्विगुणयेन्मूलं समे तद्धृते
त्यक्त्वा लब्धकृतिं तदाद्यविषमाल्लब्धं द्विनिघ्नं न्यसेत् ।
पंक्त्यां पंक्तिहृते समेऽन्त्यविषमात् त्यक्त्वाप्तवर्गं फलं
पंक्त्यां तद्द्विगुणं न्यसेदिति मुहुः पंक्तेर्दलं स्यात् पदम् ॥ इति ।

अस्यार्थो ग्रन्थगौरवभयान्नोक्तः । स तु मत्कृतायां लीलावतीटीकायां सुबोधिन्यां सोदाहरणो द्रष्टव्यः । अथवा एकहस्तस्य यत् कोणसूत्रं तदेव द्विहस्तकुण्डायामसूत्रम् । एवं द्विहस्तकोणसूत्रं चतुर्हस्तकुण्डस्यायामसूत्रं त्रिहस्तकुण्डकर्णसूत्रं षट्हस्तस्य । चतुर्हस्तकर्णसूत्रम् अष्टहस्तस्य । पञ्चहस्तकर्णसूत्रं दशहस्तस्येति ज्ञेयम् । अथ गणितापटून् प्रति दशहस्तान्तं करण्यो लिख्यन्ते ।

एकसप्तदशांशोनचतुस्त्रिंशद् द्विहस्तके ।

एतेन ३३ अङ्गुलानि ७ यवाः ४ युकाः २ लिख्ये इयती द्विहस्तकरणी ।

एकाष्टाविंशतिशतात् त्रिसप्तत्याऽथ संयुताः ।
एकचत्वारिंशदङ्गुलयस्तु स्युस्त्रिहस्तके ॥

एतेन ४१ अङ्गुलानि ४ यवाः ४ यूकाः ४ लिख्याः इयती त्रिहस्तकरणी ।

अष्टचत्वारिंशता स्याच्चतुर्हस्ते करणयथ ।
तृतीयांशन्यूनचतुः पञ्चाशत् पञ्चहस्तके ॥

एतेन ५३ अङ्गुलानि ५ यवाः २ यके ४ लिख्याः इयती पञ्चहस्तकरणी ।

चतुरेकोनविंशोना ऊनषष्टिस्तदुत्तरे ।

एतेन ५८ अङ्गुलानि ६ यवाः ३ यूकाः ४ लिख्याः इयती षड्घस्तकरणी ।

सप्तहस्ते ह्यर्द्धयुता त्रिषष्टिः करणी मता ।
अष्टहस्ते ह्यष्टषष्टिर्युग्मसप्तदशोनिता ॥

एतेन ६७ अङ्गुलानि ७ यवाः ७ यूकाः ४ लिख्याः इयती अष्टहस्तकरणी ।

द्वासप्तत्यङ्गुला कार्या करणी नवहस्तके ।
द्वाभ्यामेकोनविंशाभ्यामूना षट्सप्ततिर्दिशि ॥

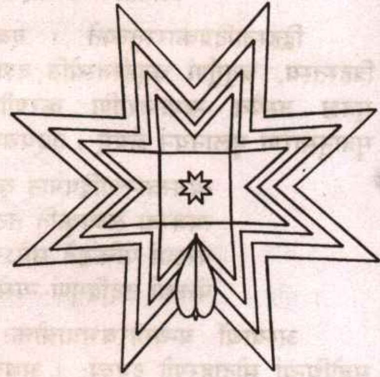
एतेन ७५ अङ्गुलानि ७ यवाः १ यूका २ लिख्ये इयती दशहस्तकरणी ।

कृत्वेष्टचतुरस्त्रन्तु स्याद्योन्याद्युक्तमार्गतः ।
एवं दशान्तं कुण्डानां करण्युक्ता मया स्फुटा ॥ ६३-६५ ॥

(७) **अष्टास्रकुण्ड—**

पूर्वोक्त १८ अङ्गुल के चतुरस्र क्षेत्र को २४ भागों में प्रविभक्त करे । तदनन्तर चारों ओर एक भाग को बाहर से छोड़कर पुनः उसे चौकोर निर्माण करे । तदनन्तर अन्तस्थ चतुरस्र के कोण के आधे भाग से बाहर के चतुरस्र कोणों से मिला देवे । फिर आठों दिशाओं के आठों सूत्रों को एक में मिला देवे । तन्त्रवेत्ताओं ने इस प्रकार के बने हुये कुण्ड को अष्टास्र कुण्ड कहा है ॥ ६३-६५ ॥

अष्टास्रकुण्ड



खातमानम्

यावान् कुण्डस्य विस्तारः खननं तावदीरितम् ॥ ६६ ॥

अथ कुण्डे खातमाह यावानिति । कुण्डस्य यावान् विस्तारो मध्यसूत्रं तावत्प्रमाणः खातः कार्य इत्यर्थः । हस्तमात्राणि सर्वाणि कुण्डान्युक्त्वा

कादिमते— प्रोक्तानां सर्वकुण्डानामरत्निः खतमानकम् । इति ।
अरत्निहस्तयोः पर्यायता तेनैवोक्ता यथा तथा पूर्वमेव दर्शितम् ।

अन्यत्रापि—यावन्मानं कुण्डविस्तार उक्तस्तावत् खातस्यापि मानं प्रदिष्टम् । इति ।

आचार्याश्च— विंशद्भिश्चतुरधिकाभिरङ्गुलीभिः
सूत्रेणाप्यथ परिसूत्र्य भूमिभागम् ।
ताभिश्च प्रखनतु तावतीभिः । इति ।

वायवीयसंहितायामपि—कुण्डं विस्तारवन्निम्नम् । इति ।

दिव्यसारस्वतेऽपि—चतुरस्रं चतुःकोष्ठं सूत्रैः कृत्वा यथा पुरा ।
हस्तमानेन तन्मध्ये तावन्निम्नायतं खनेत् ॥ इति ।

गणेश्वरविमर्शिन्यामपि—चतुर्विंशाङ्गुलायामं तावत् खातसमन्वितम् । इति ।

अन्ये तु मेखलाय सह खातमाहुः । तदुक्तं मोहशूरोत्तरे—
हस्तमात्रं खनेत्तिर्यगूर्द्ध्वं मेखलया सह । इति ।

प्रतिष्ठासारसंग्रहेऽपि—पञ्चत्रिमेखलोच्छ्रायं ज्ञात्वा शेषमधः खनेत् ॥ इति ।

विश्वकर्माप्याह— व्यासात् खातः करः प्रोक्तो निम्नं तिथ्यङ्गुलेन तु ।
उन्नता वा नवाङ्गुलैः । इति ।

स एव वक्ष्यति । प्रथमेऽपि—कुण्डं जिनाङ्गुलैस्तिर्यगूर्द्ध्वं मेखलया सह । इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—खातं कुण्डप्रमाणं स्यादूर्द्ध्वं मेखलया सह । इति ।

एतत्पक्षद्वयमध्ये प्रथमपक्ष एव युक्तियुक्तो भाति । यतः—

कुण्डस्वरूपं जानीयत् परमं प्रकृतेर्वपुः । इत्यादिना

मेखलानामङ्गत्वाभिधानात् । तासां भूषणरूपत्वात् तया सह खातो नोपपद्यते । भूषकत्वे कदाचिदकर्त्तव्यतापि स्यादिति चेन्न ।

शृङ्गाररहितं यच्च यजमानविनाशकृत् ।

इत्युक्तेर्भूषणस्याप्यावश्यकत्वात् । अथ 'मरणं छिन्नमेखले' इति । तथा 'कुण्डं जर्जरखमेखलम्' इति । तथा 'मानेनाधिकमेखले व्याधयः संप्रवर्द्धन्ते' इत्यादिना च तद्वैकल्पे दोषस्योक्तत्वादङ्गत्वमिति चेत् । अस्तु नामाङ्गत्वं तथापि तया सह खातोऽनुपपन्नः । प्रधाने कार्यसंप्रत्ययस्य न्यायत्वात् । किञ्च खातेन विना कुण्डस्वरूपप्राप्त्यसम्भवादेव दृष्टद्वारासन्निपत्योपकारकाङ्गस्य तस्यादृष्टद्वारा आरादु-पकारकाङ्ग मेखलया सह सिद्धिरप्ययुक्ता । उक्तञ्च योगिनीहृदये—

खातं कुण्डायतेस्तुल्यमङ्गत्वं तस्य कीर्त्तितम् ।
सन्निपत्योपकारेण मेखलादेर्विशिष्यते ॥ इति ॥

न च व्रीहीणां प्रोक्षणादिवत् खाताङ्गत्वं मेखलानामिति वाच्यम् । 'कुण्डानां मेखलास्तिस्त्रः' इत्यादिना कुण्डाङ्गत्वेनैव विधानात् । किञ्च प्रधाने कार्यसंप्रत्ययश्चेत् नाङ्गीक्रियते तदा द्विहस्तादिकुण्डेष्वपि क्षेत्रद्वैगुण्यं न प्राप्येत । तत्रापि एकहस्तादि-खातघनहस्तफलस्य यद् द्वैगुण्यादिकं तन्मूलप्रमाणात् तत्करणी स्यात् । तच्चानिष्टं तव मते च खातस्याननुगतता प्रसज्यते । त्रिमेखलापक्षे अन्यः खातः । पञ्चमेखला-पक्षे अन्यः । द्वादशाङ्गुलमेखलापक्षे अन्य इति । अन्यच्च—'निम्नं तिथ्यङ्गुलेन तु उन्नताद्या नवाङ्गुलैः' इति विश्वकर्मवचनम् । प्रतिष्ठासारसंग्रहेऽपि—

पञ्चत्रिमेखलोच्छ्रायं ज्ञात्वा शेषमधः खनेत् । इति ।

विशेषवाक्यद्वयैकवाक्यतया 'ऊर्द्ध्वं मेखलया सह' इत्यन्यानि सामान्यवचनानि व्याख्येयान्यवश्यम् । 'आग्नेयं चतुर्द्धा करोति' इति विशेषविधिविषये । 'पुरोडाशं चतुर्द्धा करोति' इति सामान्यविधिवत् । 'सामान्यविधिरस्पष्टः संह्रियेत विशेषतः' इति वार्त्तिककृदुक्तेः। तेनानिच्छतापि त्वया एकमेखलकुण्डे मेखलया विना खातोऽङ्गी- कर्त्तव्यः । मेखलया सह विधायकाभावात् । अतो मेखलया विनैव खात इति सिद्धान्तः । मेखलया सह खातवचनानि चतुररत्न्येकहस्तादिकुण्डेषु । पञ्चाशदादिहोमविधाने खाताधिक्यस्य प्रयोजनाभावात् तद्विषयाणि इति ज्ञेयम् ।

श्रुतिद्वैधन्तु यत्र स्यात्तत्र धर्माबुभौ स्मृतौ ।
स्मृतिद्वैधे तु विषयः कल्पनीयः पृथक् पृथक् ॥ इत्युक्तेः ।

एतदभिप्रायेणैव प्रयोगसारे उक्तम्—

कारयेन्मेखलास्तिस्त्रश्चतुस्त्रिद्व्यङ्गुलाः क्रमात् ।
अथवा मेखलामेकां कुर्यात् संक्षेपकर्मसु ॥ इति

यत्तु तेनैवोक्तम् अत्र पक्षे बहुवचनसमते बहुनामनुग्रहो न्याय इति तदपि न सम्यक् । अस्मन्मत एव बहूक्तसत्त्वात् स एव पक्षो ग्राह्यः ।

उक्तञ्च जैमिनिना—

विप्रतिविद्धधर्मसमवाये भूयसां स्यात् सधर्मत्वम् । इति ।

तत्र प्रथमपक्षे अस्य घनहस्तफलं १३८२४ अपरपक्षे १४७२४ ॥ ६६ ॥

कुण्ड का जितना विस्तार हो उतने ही प्रमाण में उसकी गहराई होनी चाहिए ॥ ६६ ॥

मेखलालक्षणं तन्मानञ्च

कुण्डानां यादृशं रूपं मेखलानाञ्च तादृशम् ॥ ६७ ॥
कुण्डानां मेखलास्तिस्रो मुष्टिमात्रे तु ताः क्रमात् ।
उत्सेधायामतो ज्ञेया द्व्येकार्द्धाङ्गुलसम्मिताः ॥ ६८ ॥
अरत्रिमात्रे कुण्डे स्युस्तास्त्रि द्व्येकाङ्गुलात्मिकाः ।
एकहस्तमिते कुण्डे वेदाग्निनयनाङ्गुलाः ॥ ६९ ॥

अथ मेखला आह कुण्डानामिति । कुण्डानां चतुरस्रयोन्यादीनां यादृशं रूपं चतुरस्रत्वादि मेखलानां तादृशं रूपम् । चतुरस्रे चतुरस्ररूपा मेखला योनौ योनिरूपा मेखला कार्येत्यर्थः । एतेन मेखलाः कुण्डाकाराः कार्याः । मेखलानां स्वरूपे चतुरस्रत्वहानिर्नास्तीत्युक्तम् । तिस्र इति मध्यमः पक्षः । पञ्चमेखलापक्ष उत्तमः । एकमेखलापक्षः कनीयानिति । यदा तु ग्रन्थकारोक्तत्रिमेखलापक्ष एव उत्तमः पक्षः । तदा द्विमेखलापक्षो मध्यमः । एकमेखलापक्षः कनीयानिति । यद्वायवीय-संहितायाम्— मेखलानां त्रयं वापि द्वयमेकमथापि वा । इति ।

क्रियासारेऽपि— नाभियोनिसमायुक्तं कुण्डं श्रेष्ठं त्रिमेखलम् ।
कुण्डं द्विमेखलं मध्यं नीचं स्यादेकमेखलम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— तिस्रः कुण्डे मेखला मेखले द्वे यद्वा विद्वानेकिकां मेखलां वा । इति

सोमशम्भौ तु— त्रिमेखलं द्विजे कुण्डं क्षत्रियस्य द्विमेखलम् ।
मेखलैका तु वैश्यस्य । इति ।

तत्र सर्वकुण्डप्रकृतिभूतैकहस्तकुण्डमुपक्रम्य वेदाग्निनयनाङ्गुलाः इत्युक्त-त्वात् सर्वत्र करणीषष्ठाष्टद्वादशांशैः क्रमान्मेखलाः स्युरिति गम्यते । 'प्रकृतिवद्वि-कृतिः कार्या' इति भाट्टन्यायात् । तदुक्तं सोमशम्भुना—

कुण्डानां यश्चतुर्विंशो भागः सोऽङ्गुलसंज्ञकः ।
विभज्यानेन कर्त्तव्या मेखलाकण्ठनाभयः ॥ इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रे तु स्पष्टमेव—

कुण्डषड्भागिका त्वाद्या द्वितीयाऽष्टांशका स्मृता ।
तृतीया द्वादशांशा स्यात् । इति ॥

योगिनीहृदयेऽपि— मेखलाः शृणु मे देवि हस्तादिषु विशेषतः ।
षट्नागार्कांशसम्भागैर्मिताः स्युर्गोपिताः शुभाः ॥ इति ।

यत्तु मुष्ट्यादिकुण्डे द्विहस्तादावपि ग्रन्थकृदुक्तं तत् स्थूलमानेनेति ज्ञेयम् । मुष्टिमात्रे त्विति । उत्सेधायामत इति । एकहस्तपर्यन्तं सर्वत्रान्वेति । तत्रोक्ताङ्गुलमानेन एकविंशत्यङ्गुलं मुष्टिमात्रं कुण्डं मुष्टिरत्न्योः पर्यायत्वात् तत्र मुष्टिकुण्डे सार्द्धत्र्यङ्गुलाऽऽद्या । सपञ्चयवद्व्याङ्गुला मध्या । पादोनद्व्याङ्गुला तृतीया । अरत्निमात्रं कुण्डमुक्ताङ्गुलमानेन सार्द्धद्वाविंशत्यङ्गुलम् । 'अरत्निः सकनिष्ठः स षोडशांशवियुक्करः' इत्युक्तेः। तत्र पादोनचतुरङ्गुलाऽऽद्या। ससार्द्धषड्यवद्व्याङ्गुला मध्या । यवोनद्व्यङ्गुला तृतीया ।

अत्र मेखलाकरणप्रकारः । एकहस्ते द्व्यङ्गुलोत्सेधा नवाङ्गुलविस्तृता कण्ठात् प्रभृति आद्या मेखला कार्या । तदुपरि द्वितीया त्र्यङ्गुलोत्सेधा सप्ताङ्गुलविस्तृता । तदुपरि चतुरङ्गुलोत्सेधा चतुरङ्गुलविस्तृता । एवं फलतो वेदाग्निनयनाङ्गुलत्वं भवत्येव । उक्तञ्च—

या या तु मेखला पूर्वा सा सा भूमिरुदाहृता । इति ।

तेन प्रथमा अन्तर्नवाङ्गुलोच्चा चतुरङ्गुलविस्तारा बहिश्चतुरङ्गुलोच्चा । द्वितीया अन्तः पञ्चाङ्गुलोच्च त्र्यङ्गुलविस्तारा बहिस्त्र्यङ्गुलोच्चा । तृतीया तु उभयत्र द्व्यङ्गुलोच्चा द्व्यडगुलविस्तारा ।

तदुक्तं मोहशूरोत्तरे—'कोण४राम३यमा२ङ्गुलैः' इति कोणाश्चत्वारः।

अन्यत्रापि— चतुस्त्रिद्व्यङ्गुला यद्वा तिस्त्रः सर्वत्र शोभना । इति ।

विश्वकर्माप्याह— उन्नताद्या नवाङ्गुलैः । इति ।

क्रियासारेऽपि— प्रधानमेखलोत्सेधमुक्तमत्र नवाङ्गुलम् ।
तद्बाह्यमेखलोत्सेधं पञ्चाङ्गुलमिति स्मृतम् ॥
तद्बाह्यमेखलोत्सेधमङ्गुलद्वितयं क्रमात् ।
चतुस्त्रिद्व्यङ्गुलो व्यासो मेखलात्रितयान्वितः ॥ इति ।

लक्षणसंग्रहेऽपि— प्रथमा द्व्यङ्गुलायामा उन्नता सा नवाङ्गुलैः ।
मध्या तु त्र्यङ्गुला बाह्ये तृतीया तु यमाङ्गुलैः ॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—चतुर्विंशतिमो भागः कुण्डानामङ्गुलं स्मृतम् । इति ।

पुनरप्यङ्गुलपरिभाषां कृत्वा—चतुर्भिश्च त्रिभिर्द्वाभ्यामूर्द्धा मध्या त्वधोगता ।
तिस्त्रः प्रोक्ताः क्रमादेवं विस्तारादुच्छ्रयादपि ॥ इति ।

एतेन प्रथमा चतुरङ्गुला तदुपरि त्र्यङ्गुला तदुपरि द्व्यङ्गुलेति । बहिश्चतुरङ्गुला तदन्तर्मध्यमा त्र्यङ्गुला द्व्यङ्गुला कण्ठलग्नेति च व्याख्यानद्वयं निरस्तम् । यत्तु कस्यचिल्लक्षणं—

व्यासे चतुर्विंशतिधा विभाजिते विस्त्रश्चतुस्त्रीक्षणभागविस्तृताः ।
समन्ततः कण्ठबहिस्तु मेखला नवर्त्तुरामांशकतुङ्गुता मता ॥ इति ।

अत्र द्वितीयतृतीययोः षड्भागत्रिभागत उच्चतोक्ता । तदसम्बद्धम् । लिखितबहुग्रन्थविरोधात् एतत्प्रतिपादकवचनाभावाच्च । 'विस्तारतुल्योन्नतयश्च कैश्चिदुक्ता इमाः' इति यत्तेनैवोक्तं तदप्यज्ञानविजृम्भितम् । लिखिततत्तत्प्रतिपादकवचनार्था

नवबोधात् । यच्च 'कोणरामयमाङ्गुलैः' इत्यादीनं वचनानां विस्तारमात्रे पर्यवसानं कृतं सोऽप्यबोध एव । यदाचार्यैस्तु—

सत्त्वपूर्विकगुणान्विताः क्रमात् द्वादशाष्टचतुरङ्गुलोच्छ्रिताः ।
सर्वतोऽङ्गुलचतुष्कविस्तृता मेखलाः सकलसिद्धिदा मताः ॥ इति ।

तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि सर्वेषां मेखलामानं 'वितस्त्यष्टतदर्द्धकैः' इत्युक्तम् । तत्तु साक्षात् 'सकलसिद्धिदा मता' इतयुक्तत्वात् फलविशेषता ज्ञेया । तत्रापि कण्ठाद्बहिः प्रथममेखला द्वादशाङ्गुलविस्तारा चतुरङ्गुलोच्चा । तदुपरि द्वितीयाऽष्टाङ्गुल विस्तृता चतुरङ्गुलोच्चा । तदुपरि चतुरङ्गुलोच्चा चतुरङ्गुलविस्तारेति ज्ञेयम् । एवं कुण्डभागे द्वादशाङ्गुलोच्चत्वं भवति । तदुक्तं वशिष्ठसंहितायाम्—

प्रथमा मेखला तत्र द्वादशाङ्गुलविस्तृता ।
चतुर्भिरङ्गुलैस्तस्याद्राश्चोन्नतिश्च समन्ततः ॥
तस्याश्चोपरि वप्रः स्याच्चतुरङ्गुलमुन्नतः ।
अष्टाभिरङ्गुलैः सम्यक् विस्तीर्णस्तु समन्ततः ॥
तस्योपरि पुनः कार्यो वप्रः सोऽपि तृतीयकः ।
चतुरङ्गुलविस्तीर्णश्चोन्नतश्च तथाविधः ॥ इति ।

पञ्चमेखलापक्षे तन्मानमुक्तं लक्षणसंग्रहे—

मेखलाः पञ्च वा कार्याः षट्पञ्चाब्धित्रिपक्षकैः । इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—षड्वाणाब्धिवह्निनेत्रमिताः स्युः पञ्च मेखलाः । इति ।

द्विमेखलापक्षे तल्लक्षणमुक्तं तन्त्रान्तरे—

षष्ठांशेनाष्टमांशेन मेखलाद्वितयं मतम् । इति ।

एकमेखलापक्षेऽपि—षट्चतुर्द्व्यङ्गुलायामविस्तारोन्नतिशालिनी ।
इति योनिलक्षणं वदता ग्रन्थकृता सूचित एव । तन्मानमुक्तं पिङ्गलामते—

एका षडङ्गुलोत्सेधविस्तारा मेखला मता । इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—मेखलैकाऽथवा स्मृता सा चतुर्थांशविस्तारा । इति ।

प्रथमेऽपि— कण्ठाङ्गुलाद् बहिः कार्या मेखलैका षडङ्गुला । इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—कुण्डानां मेखलां कुर्यादेकाञ्चेत् षड्भिरङ्गुलैः । इति ।

सोमशम्भुरपि— अङ्गुलैः षड्भिरेका च । इति ।

अन्यत्रापि—षडंशविस्तृतोन्नताथवैकिकैव मेखला । इति ।

कामिके तु विशेषः— स्यात्तद्वेदर्त्तुभागतः ।
मेखलापृथुतोच्छ्रायः कुण्डाकारा तु मेखला ॥
सर्वेषान्तु प्रकर्त्तव्या मेखलैकाऽत्र लाघवात् ॥ इति ॥ ६७-६९ ॥

मेखला लक्षण एवं उसका मान—कुण्ड का जैसा स्वरूप हो, मेखला भी उसी प्रकार की होनी चाहिए । अर्थात् चतुरस्र कुण्ड में चतुरस्र मेखला, योनि में योनी रूपा मेखला बनानी चाहिए । यही क्रम सर्वत्र समझना चाहिए ॥ ६७ ॥

हर प्रकार के कुण्डों में तीन तीन मेखलायें होनी चाहिए । त्रिमेखला पक्ष में उनकी ऊँचाई तथा चौड़ाई क्रमशः एक मुष्टि बराबर होनी चाहिए । प्रथम मेखला दो अङ्गुल चौड़ी दो अङ्गुल ऊँची, दूसरी मेखला प्रथम की अपेक्षा एक अङ्गुल चौड़ी तथा एक अङ्गुल ऊँची, इसी प्रकार तृतीय मेखला द्वितीय मेखला की अपेक्षा आधा अङ्गुल चौड़ी तथा आधा अङ्गुल ऊँची होनी चाहिए ॥ ६८ ॥

यदि अरत्नि प्रमाण का कुण्ड हो तो तीनों मेखलायें क्रमशः तीन, दो और एक अङ्गुल चौड़ी तथा ऊँची होनी चाहिए । यदि एक हाथ का कुण्ड हो तो चार, तीन और दो अङ्गुल चौड़ी तथा ऊँची मेखला करना चाहिए ॥ ६९ ॥

नेमिलक्षणम्

मेखलानां भवेदन्तः परितो नेमिरङ्गुलात ।
एकहस्तस्य कुण्डस्य वर्द्धयेत् तत् क्रमात् सुधीः ।
दशहस्तान्तमन्येषां अर्द्धाङ्गुलवशात् पृथक् ॥ ७० ॥

कण्ठमानमाह मेखलानामिति । मेखलानामन्तः परितः सर्वतः अङ्गुलादङ्गुलमानात् नेमिरेकहस्तस्य कुण्डस्य भवेदिति सम्बन्धः । अङ्गुलादङ्गुलं व्याप्येत्यर्थः । ल्यब्लोपे पञ्चमी । क्वचिदङ्गुलेति पाठः । तदा सामानाधिकरण्येन योजनीयम् । एतेन कुण्ड व्यास चतुर्विंशांशो नेमिरित्युक्तं भवति । द्विहस्तादावपि तत्करण्याश्चतुर्विंशांश एव नेमिः । यदर्द्धाङ्गुलवशाद्दशहस्तान्तमन्येषां क्रमात्तां वर्द्धयेदित्युक्तम् । तत्तु तद्द्विहस्ताभिप्रायेण । द्विहस्ते च एकमङ्गुलं यवत्रयं द्वे यूके चतस्रो लिख्याः पञ्च रेणवः चत्वारस्त्र्यसरेणवः इति ।

तदुक्तं महाकपिलपञ्चरात्रे—चतुर्विंशतिभागेन कण्ठो वै परिकीर्त्तितः । इति ।

तेन रत्निमात्रे सप्तयवः कण्ठः अरत्निमात्रे सार्द्धसप्तयवः। तदुक्तं मन्त्रमुक्तावल्याम्—

कण्ठोऽष्टयवैर्हस्तमानेषु कुण्डेषु अरत्निमितेषु च सार्द्धसप्तभिर्यवैः
रत्निमितेषु च सप्तभिर्यवैः । इति ।

कामिके त्वन्यथोक्तम्—क्षेत्रार्कांशेन तस्यौष्ठः । इति ।

सोमशम्भुरपि— बहिरेकाङ्गुलः कण्ठो द्व्यैङ्गुलः क्वचिदागमे । इति ।

साम्प्रदायिकास्तु प्रथमपक्षमेव मन्यन्ते बहुतन्त्रसमतेः । तदुक्तम् एकहस्तमुपक्रम्य—

खातादबाह्योऽङ्गुलः कण्ठस्तद्बाह्ये मेखलाः क्रमात् । इति ।

पिङ्गलामतेऽपि— खातादेकाङ्गुलं त्याज्यं मेखलानां स्थितिर्भवेत् । इति ।

अन्यत्रापि— कण्ठोऽङ्गुलाद्बहिः कार्यः । इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—कुण्डे हस्तमिते कण्ठं कुर्यादेकाङ्गुलं ततः । इति ।

कालोत्तरे च— खताद्बाह्योऽङ्गुलः कण्ठः सर्वकुण्डेष्वयं विधिः ।
चतुर्विंशतिमं भागमङ्गुलं परिकल्पयेत् ॥ इति ।

तट्टीकाकारैर्व्याख्यातम्—यवोऽष्टगुणितोऽङ्गुलमित्यादिना प्रसिद्धेनैव हस्ताङ्गुल-व्यवहारेणे होमानुसारात् कुण्डमुक्तम् । इयन्तु खातादिमानकथनार्थं परिभाषा क्रियते। चिकीर्षितकुण्डक्षेत्रं चतुर्विंशतिधा विभज्य यावांश्चतुर्विंशतिमो भागस्तावत्परिमाण-मङ्गुलं परिकल्पयेदिति । अतएव सर्वकुण्डेष्वयं विधिरित्युक्तम् ।

अन्यत्रापि—कण्ठोऽष्टयवमात्रः स्यात् कुण्डे तु करमात्रके । इति ।

अन्यत्रापि—कुण्डस्यैककरस्य बाह्यपरितो नेमिर्भवेदङ्गुलम् । इति ॥ ७० ॥

यदि एक हाथ का कुण्ड हो तो मेखला के भीतर चारों ओर एक अङ्गुल का कण्ठ निर्माण करे । कुण्ड के विस्तार के अनुसार उसका कण्ठ भी बढ़ाते रहना चाहिए । इसी प्रकार दश हाथ के कुण्ड में पृथक् पृथक् आधा अङ्गुल कण्ठ बढाते रहना चाहिए ॥ ७० ॥

कुण्डे द्विहस्ते ता ज्ञेया रसवेदगुणाङ्गुलाः ।
चतुर्हस्तेषु कुण्डेषु वसुतर्कयुगाङ्गुलाः ॥ ७१ ॥
कुण्डे रसकरे ताः स्युर्दशाष्टर्त्वङ्गुलान्विताः ।
वसुहस्तमिते कुण्डे भानुपङ्क्त्यष्टकाङ्गुलाः ॥ ७२ ॥
दशहस्तमिते कुण्डे मनुभानुदशाङ्गुलाः ।
विस्तारोत्सेधतो ज्ञेया मेखलाः सर्वतो बुधैः॥ ७३ ॥

द्विहस्तादिकुण्डानां विस्तारायामं सूचयन् मेखला आह कुण्ड इति । अत्र सर्वत्र षष्ठाष्टमद्वादशांशैः पूर्वोक्तवन्मेखलाः कार्याः । विस्तारोत्सेधतो ज्ञेया इति वक्ष्यमाणं पूर्ववत् सर्वत्र सम्बद्ध्यते । रसवेदगुणाङ्गुला इति । अल्पमन्तरमाचार्यैरु-पेक्षितं पञ्च यवाः द्वे यूके इतीयं प्रथमा । चतुरङ्गुलानि द्वौ यवौ मध्या । द्वे अङ्गुले षड् यवाः पञ्च यूकाः अन्त्या । अत्र यद्यपि त्रिपञ्च सप्तनवहस्तानां मेखला नोक्तास्तथापि अग्रे—

एकहस्तमितं कुण्डमेकलक्षे विधीयते ।
लक्षाणां दशकं यावत्तावद्धस्तेन वर्द्धयेत् ॥

इति त्रिहस्तादीनां विनियोग उक्तः । अतस्तमेखलामानमपि पूर्ववत् षष्ठाष्टम-द्वादशांशो ज्ञेयः । तत्र त्रिहस्ते षडङ्गुलानि सप्त यवाः तिस्रो यूकाः तिस्रो लिख्याः आद्या । पञ्चाङ्गुलानि एको यवः चतस्रो यूकाः चतस्रो लिख्याः अर्द्धसहिताः मध्या । त्रीण्यङ्गुलानि त्रयो यवः पञ्च यूकाः षड्लिख्यास्त्र्यंशोनाः अन्त्या । चतुर्हस्त इति । वसवोऽष्टौ तर्काः षट् युगानि चत्वारि । अत्र षष्ठाष्टमद्वादशांशता ग्रन्थकृतैव प्रकटीकृता । एवं पञ्चहस्तादावपि ज्ञेयम् ॥ ७१-७३ ॥

योनिलक्षणम्

होतुरग्रे योनिरासामुपर्यश्वत्थपत्रवत् ॥ ७४ ॥

योनिमाह होतुरिति । आसां मेखलानामुपरि मध्यभागे होतुरग्रे अश्वत्थपत्रवद् योनिः कार्या । तदुक्तं सोमशम्भुना—

तासामुपरि योनिः स्यान्मध्येऽश्वत्थपलाशवत् । इति ।

इयञ्च पूर्वोक्तयोनिः कुण्डाकारा कार्या । होतुरग्रे इत्यनेनैतदुक्तं भवति । वेदी यथा पृष्ठभागे न पतति होतुश्च प्राङ्गमुखता उदङ्मुखता वा भवति तथा । केषाञ्चित् पश्चिममेखलोपरि केषाञ्चिद्दक्षिणमेखलोपरि योनिः स्थापनीयेति ।

तदुक्तम् स्वायम्भुवे—प्रागग्नियाम्यकुण्डानां प्रोक्ता योनिरुदङ्मुखा ।
पूर्वा मुखाः स्मृताः शेषा यथाशोभं व्यवस्थिताः ॥ इति ।

त्रैलोक्यसारेऽपि— दक्षिणस्था पूर्वयाम्ये जलस्था पश्चिमोत्तरे ।
नवमस्यापि कुण्डस्य योनिर्दक्षजलस्थिता ॥ इति ।
(अत्र पूर्वशब्देनाग्नेयी जलस्थेति नैर्ऋते वायव्ये उत्तरेतीशाने (?) ।)

सिद्धान्तशेखरेऽपि—इन्द्राग्नियमदिक्कुण्डयोनिः सौम्यमुखी स्मृता ।
योनिः पूर्वामुखान्येषु पूर्वैशान्युत्तरा स्मृता ॥ इति ।

क्रियासारेऽपि— होमकृत्पुरतः स्थाप्या दक्षिणे पश्चिमेऽपि वा । इति ।

सोमशम्भुरपि— पूर्वाग्नियाम्यकुण्डानां योनिः स्यादुत्तरानना ।
पूर्वानना तु शेषाणां ऐशान्येऽन्यतरा तयोः ॥ इति ।

अत्रैशान्य इति एकदेशेन नवमं कुण्डं गृहीतम् । एतेन पूर्वाग्नेयदक्षिण-कुण्डानि नवमञ्च कुण्डमुत्तराग्रम् अन्यानि पञ्चकुण्डानि प्रागग्राणीति ॥ ७४ ॥

यदि दो हाथ का कुण्ड हो तो मेखलायें भी क्रमशः चार और तीन अङ्गुल ऊँची तथा चौड़ी करनी चाहिए । यदि चार हाथ का कुण्ड हो तो आठ, छः और चार अङ्गुल की ऊँचाई तथा चौड़ाई करनी चाहिए ॥ ७१ ॥

यदि कुण्ड छः हाथ का हो तो मेखला भी क्रमशः दश, आठ और छः हाथ की ऊँची तथा चौड़ी करनी चाहिए । यदि कुण्ड आठ हाथ का हो तो मेखला भी बारह, दश तथा आठ अङ्गुल चौड़ी एवं ऊँची होनी चाहिए । यदि कुण्ड दश हाथ का हो तो मेखलायें भी क्रमशः चौदह, बारह और दश अङ्गुल की होनी चाहिए । इसी प्रकार बुद्धिमान् साधक कुण्ड के अनुसार मेखलाओं के ऊँचाई तथा चौड़ाई का विचार कर लेवें । होता के आगे इन मेखलाओं के ऊपर अश्वत्थ पत्र के आकार की योनि होनी चाहिए ॥ ७२-७४ ॥

मुष्ट्यरत्न्येकहस्तानां कुण्डानां योनिरीरिता ।
षट्चतुर्द्व्यङ्गुलायामविस्तारोन्नतिशालिनी ॥ ७५ ॥

तस्याः प्रमाणमाह मुष्टीति । एकहस्तप्रकृतिकत्वात् सर्वकुण्डानां चतुःषड्-द्वादशांशैरायामविस्तारोन्नतियुक्ता सर्वत्र योनिः कार्या । तदुक्तं तन्त्रान्तरे—

तूर्यषष्ठद्वादशांशैर्योनिः कुण्डायतेर्भवेत् ।
आयता विस्तृता तुङ्गा जिनांशेन तदग्रकम् ॥ इति ।

क्रियासारे— तत्षडङ्गुलमायामं विस्तारं चतुरङ्गुलम् । इति ।

इदन्तु एकमेखलापक्षे । अन्ये त्वन्यथा वर्णयन्ति । षट्चतुर्द्व्यङ्गुलायामेति षड्-द्व्यङ्गुलायाम द्वादशाङ्गुलदैर्घ्या षड्द्व्यङ्गुलविस्तारेति । अष्टाङ्गुलविस्तारा द्व्यङ्गुलोच्छ्रितिरिति । तदुक्तं—

स्वायम्भुवे— मेखलामध्यतो योनिः कुण्डार्द्धत्र्यंशविस्तृता । इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—दीर्घार्कपर्वभिर्योनिर्विस्तारेणाऽष्टकाङ्गुला ।
उन्नतिर्द्व्यङ्गुलेनास्याः । इति ।

प्रयोगसारेऽपि— त्रिभागां मध्यतो योनिमायामे द्वादशाङ्गुलाम् ।
द्वादशांशोच्छ्रितां कुर्यात् किञ्चित् कुम्भनिवेशिनीम् ॥ इति ।

क्वचिदेकाङ्गुलोऽप्युच्छ्राय उक्तः ।

यन्नारदीये—कुण्डत्र्यंशेन विस्तारो योनेरुच्छ्रायतोऽङ्गुला ।
कुण्डार्द्धेन तु दीर्घा स्यात् । इति ।

त्रैलोक्यसारेऽपि— दैर्घ्यात् सूर्याङ्गुला योनिस्त्र्यंशोना विस्तरेण तु ।
एकाङ्गुलोच्छ्रिता सा तु । इति ।

पिङ्गलामतेऽपि— विस्तारोऽष्टाङ्गुलो योनेरुच्छ्रायोऽङ्गुलसम्मितः । इति ।

अन्यत्रापि—'उत्सेधमङ्गुलम्' इति । तेन द्व्यङ्गुलोच्छ्रायैकाङ्गुलोच्छ्राययो-र्विकल्पः । अष्टाङ्गुलो विस्तारस्त्वादिभागे । अग्रे सङ्कुचितत्वात् अश्वत्थपत्रवदि-त्युक्तेः योनिमध्ये किञ्चिन् निम्नं कार्यम् । तदुक्तं त्रैलोक्यसारे 'मध्ये त्वाज्यधृतिस्तथा' इति । साम्प्रदायिका अपि एतादृशीमेव योनिं मन्यन्ते । अन्ये तु षट्चतुर्द्व्यङ्गुलेति समुच्छ्रितमायामादिषु सम्बध्यते तेन द्वादशाङ्गुलविस्तारा द्वादशाङ्गुलदीर्घा द्वादशा-ङ्गुलोच्छ्राया योनिः कार्येत्याहुः । तदुक्तं पञ्चरात्रे—

अर्काङ्गुलोच्छ्रयां योनिं विदध्यात्तावदायताम् । इति ।

अन्यत्रापि—द्वादशस्वररूपत्वाद् योनिः स्याद् द्वादशाङ्गुला ।
उत्सेधायामतस्तुल्या । इति ।

एतत्पक्षद्वयमपि यथा स्वगुरुसम्प्रदायमूहनीयम् । इदन्तूक्तप्रमाणं त्रिमेखलापक्षे। यदा द्वादशाङ्गुलमेखलापक्षस्तन्मते योनिरुक्ता ।

प्रयोगसारे— सात्त्विकी मेखला पूर्वा विस्तृत्या द्वादशाङ्गुला ।
द्वितीया राजसी प्रोक्ता मेखलाऽष्टाङ्गुलैस्ततः ॥
तृतीया मेखला ख्याता तामसी चतुरङ्गुला ।
पृथग्विस्तारमेतासु चतुरङ्गुलमानतः ॥
स्थितां प्रतीच्यामायामे सम्यक् पञ्चदशाङ्गुलाम् ।
द्विपञ्चाङ्गुलविस्तारां षट्चतुर्द्व्याङ्गुलां क्रमात् ॥
व्यक्ताश्वत्थदलाकारां निम्नां कुण्डे निवेशिताम् ।
त्रयोदशाङ्गुलोत्सेधां योनिं कुण्डस्य कारयेत् ॥ इति ।

प्रतीच्यामिति एककुण्डपक्षानुसारेणेति ज्ञेयम् ॥ ७५ ॥

एकाङ्गुलन्तु योन्यग्रं कुर्यादीषदधोमुखम्।
एकैकाङ्गुलतो योनिं कुण्डेष्वन्येषु वर्द्धयेत् ।
यवद्वयक्रमेणैव योन्यग्रमपि वर्द्धयेत् ॥ ७६ ॥

एकाङ्गुलमिति । एतेन चतुर्विंशांशेन सर्वत्र योन्यग्रमपि ईषदधोमुखं कुण्डप्रविष्टं कुर्यादित्युक्तम् ।

तदुक्तं नारदीये— 'कुण्डौष्ठौ बोधिपत्रवत्' इति ।

ओष्ठो योन्यग्रं कुण्डप्रविष्टाग्रेत्यर्थः ।

त्रैलोक्यसारेऽपि— प्रविष्टाभ्यन्तरे तथा ।
कुम्भद्वयसमायुक्ता चाश्वत्थदलवन्मता ॥ इति ।

वायवीयसंहितायामपि—मेखला मध्यतः कुर्यात् पश्चिमे दक्षिणेऽपि वा ।
शोभनामग्रतः किञ्चिन्निम्नामुन्मूलिकां शनैः ॥
अग्रेण कुण्डाभिमुखीं किञ्चिदुत्सृष्टमेखलाम् । इति।

अत्र ग्रन्थगौरवभयाद्दशहस्तकुण्डान्तं प्रत्येकं योनितदग्रादीनां मानं नोक्तम् ।

तथापि किञ्चिदुच्यते—आयामः सा(श्च)र्द्धविस्तत्या षष्ठां(सत्यं)शेनाथ विस्तृतिः।
विस्तारार्द्धादुन्नतिः स्यादुन्नत्यर्द्धात्तदग्रकम् ॥
एकैकाङ्गुलतो योनिं कुण्डेष्वन्येषु वर्द्धयेत् ।
यवद्वयक्रमेणैव योन्यग्रमपि वर्द्धयेत् ॥

इति तु गणितापटून् प्रति स्थलमानेनोक्तम् । नतु सम्यग्गणनाभिप्रायमिति ॥ ७६ ॥

नाललक्षणम् तन्मानञ्च

स्थलादारभ्य नालं स्याद् योन्या मध्ये सरन्ध्रकम् ।
नार्पयेत् कुण्डकोणेषु योनिं तां तन्त्रवित्तमः ॥ ७७ ॥

नालमाह स्थलादिति । स्थलादारभ्य योन्या नालं स्यात् । स्थलादारभ्येत्यनेन बाह्यमेखलालग्नं नालं कर्त्तव्यमित्युक्तम् । तेन चतुरङ्गुलोत्सेधविस्तारां बाह्यमेखलासन्दष्टां वेदिं कृत्वा तदुपरि नालं स्थापयेदित्यर्थः । कथम् मध्ये सरन्ध्रकं यथा भवति तथा मध्ये मध्यमेखलोपरि परिधिपरिस्तरणार्थं रन्ध्रं विधाय अन्यो मध्यभागः पूरणीय इत्यर्थः । तदुक्तं पञ्चरात्रे—

स्थलादारभ्य योनिः स्याद्बाह्यमेखलया समा । इति ।

यस्तु मध्ये सरन्ध्रकमिति नालविशेषणमित्यवदत् स भ्रान्त एव । यतः सरन्ध्रस्यैव नालशब्दवाच्यत्वात् । तस्य सरन्ध्रकथने तस्यादृष्टार्थापत्तेश्च । न च नालाद्बाह्ये परिध्यादिस्थापनमिति वाच्यम् । दृष्टेनादृष्टबाधायोगात् । परिधिपरिस्तरणस्थलाभावाच्च ।

प्रयोगसारे तु—योन्याः पश्चिमतो नालमायामे चतुरङ्गुलम् ।
त्रिद्वयेकाङ्गुलविस्तारं क्रमाच्चूनाग्रमिष्यते ॥ इति ॥ ७७ ॥

मुष्टि, अरत्नि, एवं एक हाथ के कुण्ड में छः, चार एवं दो अङ्गुल की चौड़ी तथा ऊँची योनि बनानी चाहिए । योनि का अग्रभाग एक अङ्गुल तथा उसका मुख कुछ नीचे की ओर झुका रहना चाहिए । इसी प्रकार अन्य कुण्डों में विस्तार के अनुसार दो-दो यव के क्रम से अङ्गुल योनि एक एक का अग्र भाग बढ़ाते रहना चाहिए । योनि के मध्य में स्थल (मेखला) से आरम्भ कर छिद्र के सहित नाल का निर्माण करना चाहिए । तन्त्रवेत्ता विद्वान् कुण्ड के कोणों पर योनि का निर्माण न करे ॥ ७५-७७ ॥

नाभिलक्षणम् तन्मानञ्च

कुण्डानां कल्पयेदन्तर्नाभिमम्बुजसन्निभाम् ।
तत्तत् कुण्डानुरूपं वा मानमस्य निगद्यते ॥ ७८ ॥
मुष्ट्यरन्त्येकहस्तानां नाभिरुत्सेधतारतः ।
द्वित्रिवेदाङ्गुलोपेता कुण्डेष्वन्येषु वर्द्धयेत् ॥ ७९ ॥
यवद्वयक्रमेणैव नाभिं पृथगुदारधीः ।
योनिकुण्डे योनिमब्जकुण्डे नाभिं विवर्जयेत् ॥ ८० ॥
नाभिक्षेत्रं त्रिधा भित्वा मध्ये कुर्वीत कर्णिकाम् ।
बहिरंशद्वयेनाष्टौ पत्राणि परिकल्पयेत् ॥ ८१ ॥

नाभिमाह कुण्डानामिति । कुण्डानामन्तर्नाभिं कल्पयेत् । कुण्डाकारं पद्माकारं वा नाभिं कृत्वा खातमध्ये स्थापयेदित्यर्थः । 'आतपे क्षत्रिये नाभिः प्राण्यङ्गेऽपि द्वयोः' इति नाभिशब्दपुंलिङ्गोऽप्यस्ति । उत्सेधतारतः उच्चत्वविस्ताराभ्याम् अत्रापि प्राग्वदेकहस्तस्य सर्वकुण्डप्रकृतिभूतत्वात् कुण्डविस्तारषष्ठांशेन विस्तृता तदर्द्धोच्चा इत्युक्तं भवति । अम्बुजसादृश्यमेवाह नाभिरिति । कुर्वीतेति अंशेनेति शेषः ।

उक्तञ्च नारायणीये—पार्श्वे यागभुवः खाते कुण्डे सन्नाभिमेखला ।

इति ॥ ७८-८१ ॥

कुण्ड के भीतर कमल के आकार की नाभि बनानी चाहिए अथवा कुण्ड की जैसी आकृति हो वैसी नाभि निर्माण करे ॥ ७८ ॥

अब उस **नाभि का मान** कहते हैं—

मुष्टि, अरत्नि तथा एक हाथ के कुण्ड में नाभि की ऊँचाई क्रमशः दो, तीन और चार अङ्गुल की होनी चाहिए । अन्य कुण्डों में इसकी ऊँचाई भी बढ़ाते रहना चाहिए । उदार बुद्धि वाले बुद्धिमान् को अन्य कुण्ड में दो दो यव के क्रम से पृथक् पृथक् नाभि बढ़ाते रहना चाहिए । योनि कुण्ड में योनि का तथा पद्मकुण्ड में नाभि का निर्माण नहीं करना चाहिए । नाभि क्षेत्र का तीन भाग कर मध्यभाग में कर्णिका का निर्माण करना चाहिए । बाहर के दो भाग में आठ कमल पत्र का निर्माण करना चाहिए ॥ ७८-८१ ॥

मुष्टिमात्रमितं कुण्डं शतार्द्धे संप्रचक्षते।
शतहोमेऽरत्निमात्रं हस्तमात्रं सहस्त्रके ॥ ८२ ॥
द्विहस्तमयुते लक्षे चतुर्हस्तमुदीरितम् ।
दशलक्षे तु षड्ढस्तं कोट्यामष्टकरं स्मृतम्॥ ८३ ॥

उक्तमुष्ट्यादिकुण्डानां विनियोगमाह मुष्टीत्यादि कोट्यामष्टकरमित्यन्तेन । शतहोमे अरत्निमात्रम् इति छेदः । तदुक्तम्—

मुष्टिमानं शतार्द्धे तु शते चारत्निमात्रकम् । इति ।

संहितायान्तु—कुण्डञ्च कोटिहोमेऽपि तदर्द्धेऽपि कराष्टकम् । इति ॥ ८२-८३ ॥

अब **मुष्टि अरत्नि तथा हस्तादि मात्र कुण्डों की उपयोगिता** कहते हैं—

सौ के आधे अर्थात् पच्चास आहुति वाले होम में मुष्टि मात्र कुण्ड का निर्माण करे । सौ आहुति वाले होम में अरत्निमात्र तथा सहस्त्र आहुति वाले होम में एक हाथ के कुण्ड के निर्माण का विधान कहा गया है ॥ ८२ ॥

दश हजार की आहुति में दो हाथ का और एक लाख की आहुति में चार हाथ का कुण्ड कहा गया है । दश लाख की आहुति में छः हाथ का तथा एक करोड़ की आहुति में आठ हाथ का कुण्ड निर्माण करना चाहिए ॥ ८३ ॥

प्रयोगभेदे कुण्डमानादिभेदः

एकहस्तमितं कुण्डमेकलक्षे विधीयते ।
लक्षाणां दशकं यावत्तावद्धस्तेन वर्द्धयेत् ।
दशहस्तमितं कुण्डं कोटिहोमे विधीयते ॥ ८४ ॥

पक्षान्तरमाह एकेति । इदन्तु पुष्पाज्याद्यल्पद्रव्यविषयम् एककर्तृकहोमपरं वा पञ्चकरपर्यन्तम् । तदूर्द्धन्तु बृहद्द्रव्यविषयमनेककर्तृकविषयं वा ज्ञेयम् । कोट्यामष्टकरमित्यनेन विकल्पो दशहस्तमित्यस्य ।

सिद्धान्तशेखरे तु विशेषः—

लक्षार्द्धे त्रिकरं कुण्डं लक्षहोमे चतुष्करम् ।
कुण्डं पञ्चकरं प्रोक्तं दशलक्षाहुतौ क्रमात् ॥
षड्ढस्तं लक्षविंशत्यां कोट्यर्द्धे सप्तहस्तकम् । इति ।

अन्यत्रापि—केचिद्धस्तं लक्षहोमे द्विहस्तं लक्षद्वन्द्वे वह्निहस्तं त्रिलक्षे ।
होमे कुण्डं वेदलक्षेऽब्धिहस्तं प्राहुर्दोष्णां पञ्चकं पञ्चलक्षे ॥
रसहस्तं रसलक्षे सप्तकरं सप्तलक्षे स्यात् ।
वसुलक्षे वसुहस्तं नवलक्षे नवकरं कुण्डम् ॥
दशलक्षे दशहस्तं दशकरमेवेह कोटिहोमेऽपि ।
दशहस्तात्र हि कुण्डं परमस्ति महीतलेऽमुष्मिन् ॥ इति ॥ ८४ ॥

कोई कोई आचार्य एक लाख की आहुति के लिये एक हाथ के कुण्ड का विधान करते हैं और इसी प्रकार दश लाख की आहुति तक क्रमशः एक-एक हाथ कुण्ड को बढ़ाते रहना चाहिए—ऐसा मानते हैं। दश हाथ से अधिक कुण्ड का प्रमाण कहीं नहीं देखा गया है। अतः एक करोड़ की आहुति के लिये मात्र दश हाथ का कुण्ड होना चाहिए ॥ ८४ ॥

चतुरस्रादिकुण्डप्रयोगभेदः

सर्वसिद्धिकरं कुण्डं चतुरस्रमुदाहृतम् ।
पुत्रप्रदं योनिकुण्डमर्द्धेन्दवाभं शुभप्रदम् ॥ ८५ ॥
शत्रुक्षयकरं त्र्यस्रं वर्त्तुलं शान्तिकर्मणि ।
छेदमारणयोः कुण्डं षडस्रं पद्मसन्निभम् ॥ ८६ ॥
वृष्टिदं रोगशमनं कुण्डमष्टास्रमीरितम् ।
विप्राणां चतुरस्रं स्याद्राज्ञां वर्त्तुलमिष्यते ॥ ८७ ॥
वैश्यानामर्द्धचन्द्राभं शूद्राणां त्र्यस्रमीरितम् ।
चतुरस्रन्तु सर्वेषां केचिदिच्छन्ति तान्त्रिकाः ।
कुण्डरूपन्तु जानीयात् परमं प्रकृतेर्वपुः ॥ ८८ ॥
प्राच्यां शिरः समाख्यातं बाहू दक्षिणसौम्ययोः ।
उदरं कुण्डमित्युक्तं योनिः पादौ तु पश्चिमे ॥ ८९ ॥

अथ कुण्डानां फलविशेषानाह सर्वेति । छेदः उच्छेदः उच्चाटनमिति यावत् । अयञ्च फलविशेषः पूर्वोक्ततत्तद्दिशि कुण्डकरण एव ज्ञेयः ।

तदुक्तम् कामिके— ऐन्द्र्यां स्तम्भे चतुष्कोणमग्नौ भागे भगाकृति ।
चन्द्रार्द्धं मारणे याम्ये द्वेषे निर्ऋतिकोणकम् ॥
वारुण्यां शान्तिके वृत्तं षडस्रयुच्चाटनेऽनिले ।
उदीच्यां पौष्टिके पद्मं रौद्र्यामष्टास्रि मुक्तिदम् ॥ इति ।

पिङ्गलामतेऽपि— कुण्डं कुशेशयाकारं उत्तरे वश्यकर्मणि ।
षडस्रयुच्चाटने वायावर्द्धेन्दु मारणे यमे ॥
वेदास्रं स्तम्भने प्राच्यामाकर्षेऽग्नौ भगाकृति ।
वारुण्यां शान्तिके वृत्तमीशे त्वष्टास्रि मुक्तिदम् ॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—योन्याख्यमुच्यते कुण्डमाग्नेयामुत्तरामुखम् ।
प्रजावृद्धौ च तापे स्यादर्द्धचन्द्रमथोच्यते ॥
याम्ये तन्मारणे शस्तमुत्तराभिमुखं सदा ।
नैर्ऋते त्र्यस्रिकुण्डं स्याद् विद्वेषे पूर्ववक्त्रकम् ॥
वृत्तं कुण्डमतो वक्ष्ये वारुण्यां शान्तिके हितम् ।
षडस्रमुच्यते कुण्डं वायावुच्चाटने पटु ॥

पद्मकुण्डमथो वक्ष्ये सौम्ये तत् पुष्टिवर्द्धनम् ।
वक्ष्ये कुण्डमथाष्टास्त्रमीशाने सर्वकामदम् ॥ इति ।

अत्र दीक्षाङ्गतया क्रियमाणयाऽष्टकुण्ड्या संयोगपृथक्त्वन्यायेन तत्तत्-कुण्डोक्तफलसिद्धिरपि ज्ञेया ।

क्रियासारेऽपि— पूर्वोक्तलक्षणैर्युक्तं कुण्डं तालप्रमाणकम् ।
उक्तं चरार्च्चने चैव न स्थिरे तु चतुर्मुख ॥
कुण्डमत्रोक्तमार्गेण निर्माय्याऽथ सलक्षणम् ।
क्षत्रियोऽपि समृद्धो वा शूद्रस्ताम्रेण बन्धयेत् ॥
तदलाभे त्विष्टकाभिः संबध्य सुदृढं यथा ।
पूर्वोदितप्रकारेण मृत्स्नया लेपयेत्तथा ॥
ताम्रेण लक्षणोपेतं कुर्यान्मृत्तिकयाऽपि वा ।
एतत् कुण्डं चरार्चायां गृह्णीयान्न स्थिरार्चने ॥

अत्र च पूर्ववाक्यैकवाक्यतया तालप्रमाणत्वं ज्ञेयम् ।

अम्लेन ताम्रकं कुण्डं मृण्मयं गोमयाम्भसा ।
सौधञ्च सुधया सम्यक् शोधयेदमरर्षभ ॥
मृण्मयानान्तु कुण्डानां परितः सन्धिभिः सह ।
रक्तमृच्छालिपिष्टाभ्यां भूषयेद्दृक्प्रियं यथा ॥ इति ।

अत्रोक्त कुण्डानां न्यूनत्वे आधिक्ये अन्यथाभावे वा दोषमाह—

विश्वकर्मा— खाताधिके भवेद्रोगी हीने धेनुधनक्षयः ।
वक्रकुण्डे तु सन्तापो मरणं छिन्नमेखले ॥
मेखलारहिते शोकोऽभ्यधिके वित्तसंक्षयः ।
भार्याविनाशनं कुण्डं प्रोक्तं योन्या विना कृतम् ॥
अपत्यध्वंसनं प्रोक्तं कुण्डं यत् कण्ठवर्जितम् ॥ इति ।

आगमान्तरेऽपि—मानाधिके भवेन्मृत्युर्मानहीने दरिद्रता । इत्यादि ।

क्रियासारेऽपि— न्यूनाधिकप्रमाणं यत् कुण्डं जर्जरमेखलम् ।
शृङ्गाररहितं यच्च यजमानविनाशकृत् ॥ इति ।

वशिष्ठसंहितायामपि—अनेकदोषदं कुण्डमत्र न्यूनाधिकं यदि ।
तस्मात् सम्यक् परीक्ष्येदं कर्त्तव्यं शुभमिच्छता ॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—मानहीने महाव्याधिरधिके शत्रुवर्द्धनम् ।
योनिहीने त्वपस्मारो वाग्दण्डः कण्ठवर्जिते ॥ इति ।

जयद्रथयामलेऽपि—सूत्राधिके सुहृद्द्वेषो मानहीने दरिद्रता ।
वाग्रोधः कण्ठहीने स्यादसिद्धिर्न्यूनखातके ॥
अधिके चासुरो भोगो मानेनाधिकमेखले ।
व्याधयः संप्रवर्द्धन्ते विभागे स्यादपस्मृतिः ॥
उच्चाटः स्फुटिते छिद्रसङ्कुले वाच्यता भवेत् ॥ इति ।

अस्यापि क्रियासारे आवश्यकतोक्ता—

दिग्देशकुण्डनिर्मुक्तो योऽनलो लौकिको हि सः ।
तस्माद्दिग्देशकुण्डानि संग्राह्यण्युक्तलक्षणैः ॥
कुण्डमेवंविधं न स्यात् स्थण्डिलं वा समाश्रयेत् । इति ।

कुण्डं खातरूपं योनिः पश्चिमतः इति नित्याभिप्रायेण एककुण्डाभिप्रायेण च ग्रन्थकृदुक्तिः ॥ ८५-८९ ॥

अब ऊपर कहे गये आठ प्रकार के **कुण्ड का फल** कहते हैं—

चतुरस्र कुण्ड सब प्रकार की सिद्धि प्रदान करता है । योनि कुण्ड पुत्र प्रदान करता है और अर्द्धचन्द्र कुण्ड सब प्रकार का मङ्गल करता है ॥ ८६ ॥

त्र्यस्रकुण्ड शत्रुओं का क्षय करने वाला होता है, शान्ति कर्म में वर्त्तुल कुण्ड का निर्माण करना चाहिए । किसी शत्रु के मारण (उच्चाटन) तथा छेदन में षडस्र कुण्ड का विधान है । पद्म कुण्ड वृष्टि कराने वाला होता है तथा अष्टास्र कुण्ड रोगों का शमन करने वाला कहा गया हैं ॥ ८६-८७ ॥

ब्राह्मणों के लिये चतुरस्र कुण्ड का विधान है, क्षत्रियों के लिये वर्त्तुल कुण्ड का विधान है, वैश्यों के लिये अर्द्ध चन्द्र तथा शूद्रों के लिये त्र्यस्र कुण्ड का विधान कहा गया है । कोई कोई तन्त्रवेत्ता चतुरस्र कुण्ड सभी के लिये विहित है—ऐसा कहते हैं । कुण्ड के स्वरूप को प्रकृति का परम रूप जानना चाहिए ॥ ८७-८८ ॥

पूर्व में प्रकृति का शिर है, दक्षिण तथा उत्तर में बाहू हैं कुण्ड उसका उदर है, पश्चिम की ओर की योनि उसका पैर है ॥ ८८-८९ ॥

स्थण्डिललक्षणम्

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं स्थण्डिले वा समाचरेत् ।
हस्तमात्रेण तत् कुर्यात् बालुकाभिः सुशोभनम् ॥ ९० ॥
अङ्गुलोत्सेधसंयुक्तं चतुरस्रं समन्ततः ।
एवं प्रोक्तानि कुण्डानि कथ्यते स्रुक्स्रुवौ ततः ॥ ९१ ॥

कुण्डानुकल्पमाह नित्यमिति । अङ्गुलोत्सेधसंयुक्तम् । अङ्गुलं पूर्वोक्तलक्षणम् । यद्वा अङ्गुलानां हस्तशाखानां चतसृणां य उत्सेधस्तद्युक्तम् ।

यदाहुः स्थण्डिलं रत्निमात्रायामं चाङ्गुष्ठपर्वोन्नतमपि सुषमं निर्मितं वालुकाभिश्चतुष्कोणं द्व्यङ्गुलोत्सेधमेके बुधा हस्तविस्तारयुक्तं तदाहुः इति । इदमल्पहोमविषयमिति ज्ञेयम् ।

तदुक्तं वशिष्ठसंहितायाम्—इषुमात्रं स्थण्डिलं वा संक्षिप्ते होमकर्मणि । इति ।

क्रियासारे तु स्थण्डिले देशविशेषोऽप्युक्तः—

होमोऽष्टदिक्षु प्राक्प्रह्वः(पुच्छः)प्रागुदक्प्रवणोऽथवा ।
उदक्प्रह्वः(पुच्छः)प्रदेशो वा स्थण्डिलस्य स्थलं स्मृतम् ॥ इति ।

पिङ्गलामते तु विशेषः—होमे प्रशस्यते कुण्डं स्थण्डिलं वा हसन्तिका । इति ।

वायवीयसंहितायामपि—अथाग्निकार्यं वक्ष्यामि कुण्डे वा स्थण्डिलेऽपि वा ।
वेद्यां वाऽथायसे पात्रे मृण्मये वा नवे शुभे ॥ इति ।

स्थण्डिलं वालुकाभिर्वा रक्तमृद्रजसापि वा । इति क्रियासारे विशेषः । होमे अग्निचक्रमपि विलोकनीयम् । तदुक्तमन्यत्र—

नवकोष्ठं समालिख्याऽथेशनिर्ऋतयोः क्रमात् ।
वारीन्द्रैन्द्रे वायुवह्न्योर्दक्षिणोत्तरयोर्न्यसेत् ॥
सूर्यादीन् मध्यकोष्ठे तु केतुं न्यस्य फलं दिशेत् ।
आदित्ये च भवेच्छोको बुधे धनसमागमः ॥
शुक्रस्थानेऽर्थलाभः स्यात् शनिर्हानिकरो भवेत् ।
चन्द्रे लाभं विजानीयाद् भौमे च वधबन्धनम् ॥
गुरुः स्यादर्थलाभाय राहुर्हानिकरो मतः ।
केतुना मृत्युमाप्नोति ह्यग्निचक्रे सदैव हि ॥
त्रयं त्रयञ्च गणयेत् सूर्यर्क्षाद्दिनभावधि ।
नित्ये नैमित्तिके दुर्गाहोमादौ न विचारयेत् ॥ इति ।

उक्तमुपसंहरन् वक्ष्यमाणमवतारयति एवमिति । स्थण्डिलस्यापि कुण्डानुकल्पत्वेनोक्तत्वात् कुण्डानामेवोपसंहारः कृत इति ज्ञेयम् ॥ ९०-९१ ॥

अब **कुण्ड का अनुकल्प** कहते हैं—कुण्ड के अभाव में नित्य नैमित्तिक तथा काम्य कर्म स्थण्डिल में ही करना चाहिए । स्थण्डिल का प्रमाण हस्तमात्र कहा गया है । उसे बालुका से अच्छी तरह सुशोभित करना चाहिए। उसकी ऊँचाई एक अङ्गुल की होनी चाहिए तथा उसे चौकोर बनाना चाहिए। यहाँ तक हमने कुण्ड का वर्णन किया । अब स्रुक तथा स्रुवा का वर्णन करता हूँ ॥ ९०-९१ ॥

स्रुगादिलक्षणम्

प्रकल्पयेत् स्रुचं यागे वक्ष्यमाणेन वर्त्मना ।
श्रीपर्णी शिंशपाक्षीरशाखिष्वेकतम(मयं)गुरुः ॥ ९२ ॥
गृहीत्वा विभजेद्धस्तमात्रं षट्त्रिंशता पुनः ।
विंशत्यंशैर्भवेद्दण्डो वेदी तैरष्टभिर्भवेत् ॥ ९३ ॥
एकांशेन मितः कण्ठः सप्तभागमितं मुखम् ।
वेदीत्र्यंशेन विस्तारः कण्ठस्य परिकीर्त्तितः ॥ ९४ ॥

स्रुचो लक्षणमाह प्रकल्पयेदिति । श्रीपर्णी काश्मरी । क्षीरशाखिनो न्यग्रोधादयः ।

तदुक्तं प्रयोगसारे—न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षाः क्षीरमहीरुहाः । इति ।

वेदिर्व्यंशेनेति पादोनत्र्यंशैः कण्ठान्तस्थो विष्कम्भ इत्यर्थः । स च तत्परिध्यानयनेन ज्ञेयः ॥ ९२-९४ ॥

अग्रं कण्ठसमानं स्यान्मुखे मार्गं प्रकल्पयेत् ।
कनिष्ठाङ्गुलिमानेन सर्पिषो निर्गमाय च ॥ ९५ ॥

अग्रमिति । अग्रं मुखं कण्ठसमानं वेदीतृतीयांशविस्तारम् । सर्वेषां दैर्घ्यस्योक्तत्वात् । सर्पिषो निर्गमायेत्युक्तेः मार्गमिति कण्ठवेदीपरिधिभेदिनम् ।

तदुक्तं मन्त्रमुक्तावल्याम्—

कण्ठाधः कारयेन्मार्गं विद्वानाज्यस्य निर्गमे ।
वेधश्च मुखतः कुर्यात्तप्तलोहशलाकया ॥ इति ।

वशिष्ठसंहितायामपि—

सुषिरं कण्ठदेशे स्याद् विशेद् यावत् कनीयसा । इति ॥ ९५ ॥

यज्ञकार्य में आगे कही जाने वाली विधि के अनुसार स्रुचा का निर्माण करना चाहिए । आचार्य श्रीपर्णी, शिंशपा अथवा बटादि क्षीरीवृक्ष में किसी एक की शाखा एक हाथ प्रमाण में ले आवे । पुन: उसे छत्तीस भागों में प्रविभक्त करे । जिसमें बीस भाग दण्ड के लिये छोड़ देवे और आठ भाग वेदी के लिये छोड़े, एक भाग में कण्ठ तथा सात भाग में मुख बनावे । वेदी के तीन अंश में कण्ठ का विस्तार कहा गया है । उसका अग्रभाग (मुख) कण्ठ के समान अर्थात् वेदी के तीन भाग पर्यन्त विस्तृत होना चाहिए । मुख में घी गिरने के लिये कनिष्ठाङ्गुलि के प्रमाण का छिद्र करना चाहिए ॥ ९२-९५ ॥

वेदीरचनाविधिः

वेदिमध्ये विधातव्या भागेनैकेन कर्णिका ।
विदधीत बहिस्तस्या एकांशेनाऽभितोऽवटम् ॥ ९६ ॥
तस्य खात त्रिभिर्भागैर्वृत्तमर्द्धांशतो भवेत् ।
अंशेनैकेन परितो दलानि परिकल्पयेत् ।
मेखला मुखवेद्योः स्यात् परितोऽर्द्धांशमानतः ॥ ९७ ॥

उद्दिष्टवेद्या रचनाप्रकारमाह वेदीति । कर्णिका तु खातमध्ये उच्चा रक्षणीया । तस्या कर्णिकाया बहिः अभितः सर्वतः । तेनांशद्वयं संगृहीतम् । अवटो गर्त्तः । त्रिभिर्भागैरङ्गुलद्वयेनेत्यर्थः । बहिरित्यवटस्य परित इतिवृत्तं परितः तेनांशद्वयं संगृहीतम् । मुखवेद्योः परितः अर्द्धांशमानतो मेखला स्यादित्यन्वयः । तेनार्द्धांशेन मुखेऽपि मेखला कार्या । सा च वृत्ताकारा भवति । तत्र एकेन कर्णिका द्वाभ्यामवटः एकेन वृत्तम् अंशद्वयेन दलानि एकांशेन मेखला । अर्थादर्द्धभागेन परितः समचतुरस्र सीमाघटना कार्या । तदुक्तं मन्त्रमुक्तावल्याम्—

अर्द्धाङ्गुला भवेच्छोभा समा वा चित्रितापि वा । इति ।

अत्राङ्गुलशब्दोऽंशवाची । एवमष्टापि भागा उपयुक्ताः । सीम्नः कोणेषु वल्यादिचित्रं कार्यमुपदेशात् ॥ ९६-९७ ॥

वेदी के मध्य में एक भाग से कर्णिका का निर्माण करना चाहिए । उसके बाहर चारों ओर एक अंश में गर्त्त बनाना चाहिए । तीन भाग (दो अंगुल) में उसका खात तथा आधे अंश (एक अङ्गुल) में उसका वृत्त बनाना चाहिए । उसके चारों ओर एक अंश (अङ्गुल) में दलों का निर्माण करना चाहिए । पुनः मुख और वेदी के मध्य में मेखला का निर्माण चारों ओर आधे अङ्गुल के प्रमाण में करना चाहिए ॥ ९६-९७ ॥

दण्डमूलाग्रयोः कुम्भौ गुणवेदाङ्गुलैः क्रमात् ।
गण्डीयुगं यमांशैः स्याद्दण्डस्यानाह ईरितः ॥ ९८ ॥
षड्भिरंशैः पृष्ठभागो वेद्याः कूर्माकृतिर्भवेत् ।
हंसस्य वा हस्तिनो वा पोत्रिणो वा मुखं लिखेत् ।
मुखस्य पृष्ठभागेऽस्याः सप्रोक्तं लक्षणं स्रुचः ॥ ९९ ॥

दण्डेति । अत्रांशप्रकरणात् अङ्गुलशब्दोऽंशवाची । तेन मूले त्र्यंशेन मूलभागमुखः अग्रे तु चतुरंशेन वेदिलग्नमुखः कार्यः । क्रमादित्यग्रेऽप्यन्वेति । तत्र मूलकुम्भलग्ना द्व्यंशा अन्यत्र लग्नापि द्व्यंशा गण्डी कङ्कणाकारा कार्या । युगशब्दस्य 'युगं युग्मे कृतादिषु' इति कोशात् वाच्ये द्वित्वार्थे सम्भवति । लक्षणाङ्गी-करणे प्रमाणाभावात् । तदुक्तं सोमशम्भुना—

मूले चाग्रे च दण्डस्य गण्डी कङ्कणवद्भवेत् । इति ।

एतेनैकादशांशा जाताः । मध्ये नवांशमितो धारणार्थं दण्डोऽवशिष्यते ।

तदुक्तं महाकपिल पञ्चरात्रे—रसाङ्गुलै(ष्ठै)र्भवेद्दण्डः । इति ।

अत्र यद्यङ्गुलशब्देनाङ्गुलानि गृह्येरन् तदा सार्द्धास्त्रयोऽंशा दण्डेऽवशिष्यन्ते । ततो धारणार्थमवकाश एव न स्यात् । दण्डस्यानाहो विशालता षड्भिरंशैः कार्यः । वेद्याः पृष्ठभागः कूर्माकृतिरिति पृथगेव । ये तु दण्डस्यानाहो दैर्घ्यमीरितमिति पृथग् योजयन्ति षड्भिरंशैर्वेद्याः पृष्ठभागः कूर्माकृतिरिति च योजयन्ति ते बभ्रमुरेव । आनाहशब्दस्य दैर्घ्यवाचित्वाभावात् दैर्घ्यस्य च प्रागुक्तत्वात् ।

तदुक्तं मन्त्रमुक्तावल्याम्—

षडङ्गुलपरीणाहो दण्डमध्य उदाहृतः । इति ।

कूर्माकृतिरित्यत्र षड्भिरंशैरित्यस्यानर्थक्याच्च अस्याः स्रुचो मुखस्य पृष्ठभागे हंसादेर्मुखं लिखेदिति सम्बन्धः । पोत्रिणो वराहस्य ॥ ९८-९९ ॥

दण्ड तथा मूल के अग्रभाग में तीन और चार अङ्गुल के क्रम से दो कुम्भ का निर्माण करे । दो दो अङ्गुल का दो गण्डी (कङ्कणाकार) निर्माण करे । दण्ड

की विशालता छः अंशों में करनी चाहिए । वेदी का पृष्ठभाग कूर्म की पीठ के आकार का होना चाहिए । स्रुचा के पृष्ठभाग में हंस, हाथी अथवा शूकर का मुख निर्माण करे ॥ ९८-९९ ॥

स्रुवलक्षणम्

स्रुचश्चतुर्विंशतिभिर्भागैरारचयेत् स्रुवम् ।
द्वाविंशत्या दण्डमानमंशैरेतस्य कीर्त्तितम् ॥ १०० ॥
चतुर्भिरंशैरानाहः कर्षाज्यग्राहि तच्छिरः ।
अंशद्वयेन निखनेत् पङ्के मृगपदाकृति ॥ १०१ ॥
दण्डमूलाग्रयोर्गण्डी भवेत् कङ्कणभूषिता ।
स्रुवस्य विधिराख्यातः कीर्त्यन्ते मण्डलान्यथ ॥ १०२ ॥

स्रुवलक्षणमाह स्रुच इति । चतुर्भिरंशैरानाहो विस्तारः । एतस्येति सम्बन्धः । यन्मन्त्रमुक्तावल्याम् 'दण्डो वेदाङ्गुलैर्भवेत्' इति । कर्षेति । कर्षलक्षणन्तु—

माषो दशगुञ्जः स्यात् षोडशमाषो निगद्यते कर्षः । इति ।

अंशद्वयेन तच्छिरः कुर्यात् । तत् कर्षाज्यग्राहि यथा स्यात् एवं पङ्के मृगपदाकृति खनेदिति सम्बन्धः । कङ्कणभूषिता इत्युक्तेर्गण्डीशब्दोऽत्र घटपर्यायः । तदुक्तं मन्त्रमुक्तावल्याम्—मूलाग्रयोः कारयेद् द्वौ कुम्भौ चातिमनोहरौ । इति ।

तौ च विशेषानभिधानात् प्राग्वत् कार्यौ । कङ्कणमपि प्राग्वत् कार्यम् ।

अन्यत्र विशेषः—

तदलाभे पलाशस्य पर्णाभ्यां हूयते हविः । इति ।

अत्र पर्णाभ्यामिति मध्यमपर्णाभ्यामिति ज्ञेयम् । 'मध्यमेन पर्णेन जुहोति' इति श्रुतेः । वायवीयसंहितायामपि—

स्रुक्स्रुवौ तेजसौ ग्राह्यौ न कांस्यायससीसकौ ।
यज्ञदारुमयौ वापि तान्त्रिकैः (स्मार्त्तौ वा) शिल्पिसम्मतौ ॥
पर्णे वा ब्रह्मवृक्षादेरच्छिद्रे मध्य उत्थिते । इति ।

अन्यत्र तु— पलाशपर्णाभावे तु पर्णैर्वा पिप्पलोद्भवैः । इति ।

संहितायामपि—पलाशपत्रे निश्छिद्रे रुचिरे स्रुक्स्रुवौ मुने ।
विदध्याद्वाऽश्वत्थपत्रे संक्षिप्ते होमकर्मणि ॥ इति ॥ १००-१०२ ॥

स्रुचा के चौबीस भाग में स्रुव का निर्माण करना चाहिए । जिसमें २२ बाइस भाग दण्ड के लिये छोड़ना चाहिए ॥ १०० ॥

चार अंशों में उसका विस्तार तथा शिर दो अंशों में उसका १६ माष प्रमाण में शिर निर्माण करना चाहिए । जिस प्रकार पङ्क में मृग का पैर धँसता है, उसी प्रकार उसका खात होना चाहिए ॥ १०१ ॥

विमर्श—दश गुञ्जा का एक माष होता है और १६ माष का एक कर्ष होता है ।

दण्ड के मूलभाग तथा अग्रभाग में कङ्कणाभूषित गण्डी होनी चाहिए । यहाँ तक स्रुव के निर्माण की विधि कही गई । अब सर्वतोभद्र मण्डल की विधि कहते हैं ॥ १०२ ॥

सर्वतोभद्रमण्डलरचनामाह

चतुरस्त्रे चतुःकोष्ठे कर्णसूत्रसमन्विते ।
चतुर्ष्वपि च कोष्ठेषु कोणसूत्रचतुष्टयम् ॥ १०३ ॥
मध्ये मध्ये यथा मत्स्या भवेयुः पातयेत्तथा ।
पूर्वापरायते द्वे द्वे मन्त्री याम्योत्तरायते ॥ १०४ ॥
पातयेत्तेषु मत्स्येषु समं सूत्रचतुष्टयम् ।
पूर्ववत् कोणकोष्ठेषु कर्णसूत्राणि पातयेत् ॥ १०५ ॥
तदुद्भूतेषु मत्स्येषु दद्यात् सूत्रचतुष्टयम् ।
ततः कोष्ठेषु मत्स्याः स्युस्तेषु सूत्राणि पातयेत् ॥ १०६ ॥

अथ वेदिकायां सर्वतोभद्रादिमण्डलरचनामाह चतुरस्त्र इति । वास्तुमण्डलोक्त-प्रकारेण कर्णसूत्रद्वयसहितं चतुष्कोणयुक्तं चतुरस्त्रं कुर्यादित्यर्थः ।

श्लोकद्वयेन षोडशकोष्ठोत्पादनप्रकारमाह चतुर्ष्विति । चतुर्षु कोष्ठेषु कोण-सूत्रचतुष्कं तथा दद्याद् यथा मध्ये मध्ये मत्स्या भवेयुः । मन्त्री तेषु मत्स्येषु द्वे प्रागपरायते द्वे याम्योत्तरायते इदं समं सूत्रचतुष्टयं पातयेदिति सम्बन्धः । एवं षोडशकोष्ठीसम्पन्ना भवति ।

चतुःषष्टिकोष्ठोत्पादनप्रकारं सार्द्धपद्येनाह पूर्ववदिति । इदं त्रिषु स्थानेष्वन्वेति। तत्र प्रकारः । कोणगतचतुःकोष्ठेषु पूर्ववत् कर्णसूत्रचतुष्कं दत्त्वा तदुत्पन्नमत्स्य-चतुष्केषु पूर्ववत् द्वे प्रागग्रे द्वे उदगग्रे सूत्रे इदं सूत्रचतुष्टयं दद्यात् । एतत् सूत्रचतुष्कपातोत्पन्नान्तरालकोष्ठमत्स्यचतुष्के पुनः द्वे प्रागग्रे द्वे उदगग्रे सूत्रे दद्यात् । एवं चतुःषष्टिकोष्ठानि सम्पद्यन्ते ॥ १०३-१०६ ॥

यावच्छतद्वयं मन्त्री षट्पञ्चाशत् पदान्यपि ।
तावत्तेनैव विधिना तत्र सूत्राणि पातयेत् ॥ १०७ ॥

तेनैव विधिना इत्यस्यायमर्थः । कोणकोष्ठचतुष्के पूर्ववत् कर्णसूत्रचतुष्टयं दत्त्वा तदुत्पन्नमत्स्यचतुष्के द्वे प्रागग्रे द्वे उदगग्रे सूत्रे दद्यात् । तत एतत्सूत्र चतुष्कपातोत्पन्नान्तरालकोष्ठमत्स्येषु षट् प्रागग्राणि षडुदगग्राणि सूत्राणि दद्यात् । एवं द्वे शते षट्पञ्चाशत् कोष्ठानि सम्पद्यन्ते ॥ १०७ ॥

सर्वतोभद्रमण्डल विधान—दो दो कर्णसूत्र से युक्त चार कोष्ठक का एक चौकोर बनावे । फिर चारों कोष्ठकों में प्रत्येक में चार चार कोष्ठक जिस प्रकार हों

उस प्रकार दो पूर्व से पश्चिम तथा दो उत्तर से दक्षिण क्रम से मध्य मध्य में चिह्न लगा देना चाहिए । पुनः उन चिन्हों पर भी प्रत्येक कोण कोष्ठक में चार चार सूत्र लगा कर चार चिन्ह करे ॥ १०३-१०५ ॥

पुनः इसी प्रकार निष्पन्न प्रत्येक कोण कोष्ठक में चार चार चिन्ह करे । इस प्रकार तब तक सूत्र के द्वारा उस विधि से चिन्ह लगाते रहना चाहिए जब तक कुल दो सौ छप्पन कोष्ठक नहीं बन जाते ॥ १०६-१०७ ॥

षट्त्रिंशता पदैर्मध्ये लिखेत् पद्मं स(सु)लक्षणम्।
बहिः पङ्क्त्या भवेत् पीठं पङ्क्तियुग्मेन वीथिका ॥ १०८ ॥
द्वारशोभोपशोभास्त्रान् शिष्टाभ्यां परिकल्पयेत् ।
शास्त्रोक्तविधिना मन्त्री ततः पद्मं समालिखेत् ॥ १०९ ॥

कोष्ठानां विनियोगमाह षट्त्रिंशतेति । पद्मलिखनप्रकारमनन्तरमेव वक्ष्यति । बहिरिति त्रिषु स्थानेष्वन्वेति । बहिः पङ्क्त्या परितः अष्टाविंशतिकोष्ठात्मिकया वक्ष्यमाणरीत्या पीठं कुर्यात् । तद्बहिः पङ्क्तियुग्मेन परितः अशीतिकोष्ठात्मकेन वक्ष्यमाणरीत्या वीथिकां कुर्यात् । तद्बहिः परितः शिष्टाभ्यां पङ्क्तिभ्यां द्वादशोत्तरशतकोष्ठाभ्यां द्वाराणि शोभा उपशोभा अस्त्रान् कोणान् वक्ष्यमाणरीत्या कुर्यात् ॥ १०८-१०९ ॥

अब **कोष्ठकों की उपयोगिता** कहते हैं—

मध्य में रहने वाले ३६ कोष्ठकों में सुलक्षण कमल का वक्ष्यमाण विधि से निर्माण करे । उसके बाहर चारों ओर २८ कोष्ठकों में आगे कहे जाने वाली विधि के अनुसार, पीठ निर्माण करे । उसके बाहर चारों ओर दो पंक्ति में अर्थात् ८० कोष्ठकों में आगे कही जाने वाली विधि के अनुसार वीथि का निर्माण करे ॥ १०८ ॥

उसके बाहर शेष दो पंक्तियों में अर्थात् एक सौ बारह ११२ कोष्ठकों में द्वार, शोभा, उपशोभा, अस्त्र तथा कोणों का वक्ष्यमाण रीति से निर्माण करे । अब मन्त्रज्ञ जिस प्रकार शास्त्रोक्तरीति से पद्म का निर्माण करे उसका प्रकार कहते हैं ॥ १०९ ॥

पद्मक्षेत्रस्य सन्त्यज्य द्वादशांशं बहिः सुधीः ।
तन्मध्यं विभजेद् वृत्तस्त्रिभिः समविभागतः ॥ ११० ॥
आद्यं स्यात् कर्णिकास्थानं केशराणां द्वितीयकम् ।
तृतीयं तत्र(पद्म)पत्राणामुक्तांशेन दलाग्रकम् ॥ १११ ॥

पद्मकरणप्रकारमाह पद्मेति । तत्र षट्त्रिंशत्पदात्मकं पद्मक्षेत्रं तद्दिक् सूत्रद्वयेन कर्णसूत्रद्वयेन चाष्टधा भेदितं वर्त्तते । तान्येव सूत्राणि पत्रमध्यसूत्राणि । तत्र प्रकारः । पद्मक्षेत्रायामं द्वादशधा विभज्य एकांशं सर्वतो बहिस्त्यजेत् । ततो दशभागान् षोढा

विभज्य मध्ये सूत्रादिं संस्थाप्य अंशद्वयेनैकं वृत्तं तदुपर्यंशद्वयेनापरं तदुपर्यंश-द्वयेनान्यदिति वृत्तत्रयं कुर्यात् । आद्यमित्याद्युक्तिस्तु वक्ष्यमाणाङ्गावरणादीनां स्थान-सूचनायेत्यवधेयम् । मुक्तांशेनेति द्वादशांशेन तत्र वृत्तमग्रे वक्ष्यति ॥ ११०-१११ ॥

बुद्धिमान् आचार्य पद्म क्षेत्र की लम्बाई को १२ भागो में प्रविभक्त कर उसका बाहरी एक भाग (= बारहवाँ भाग) छोड़ देवे । शेष क्षेत्र को समविभाग के अनुसार तीन वृत्तों में प्रविभक्त करे । उसमें आद्यवृत्त कर्णिका का स्थान है । दूसरा वृत्त केशरों का स्थान है तथा तीसरा वृत्त पद्म पत्रों का स्थान कहा जाता है, शेष द्वादशांश में दलाग्र के लिये निर्माण किये जाने वाले वृत्त का प्रकार आगे कहेंगे ॥ ११०-१११ ॥

बाह्यवृत्तान्तरालस्य मानं यद् विधिना सुधीः ।
निधाय केशराग्रेषु परितोऽर्द्धनिशाकरान् ॥ ११२ ॥
लिखित्वा संन्धिसंस्थानि तत्र सूत्राणि पातयेत् ॥ ११३ ॥

बाह्येति । बाह्यं यत् पत्रवृत्तं तस्य यदन्तरालं तस्य मानेन सुधीः केशराग्रेषु केशरवृत्ताग्रे निधाय सूत्रादिमिति शेषः । विधिना परित उभयतः पद्ममध्यसूत्राणामिति शेषः । अर्द्धनिशाकरान् लिखित्वा सन्धिसंस्थानि अर्द्धनिशाकर सन्धिसंस्थानि चत्वारि सूत्राणि तत्र पातयेदिति सम्बन्धः । मानं यद्विधिनेति पाठे बाह्यवृत्तान्तरालस्य यन्मानं तेन विधिना तेन मानेनेत्यर्थः । तत्रायं विधिः । तत्र वृत्तान्तरालमितसूत्रं केशरवृत्तदिक्सूत्रसम्पाते संस्थाप्य तद्दिक्सूत्रोभयतः पत्रवृत्तस्पर्शिकेशरवृत्तलग्नान्त-द्वयम् अर्द्धचन्द्रं लिखेत् । एवं चतुर्षु दिक्सूत्रेषु चतुर्षु कोणसूत्रेषु च कृते अष्टार्द्धचन्द्रा जायन्ते । एतच्च केशराग्रेष्विति बहुवचनादेव लभ्यते । यतोऽष्टपत्रमध्ये अष्टौ केशरस्थानानि ततोऽष्टदलसिद्धिरिति । ततोऽर्द्धचन्द्रयोः परस्परसम्पातरूपाष्टसन्धिषु सम्मुखीनयोर्द्धयोर्द्धयोरेकैकं सूत्रं दद्यात् । एवमष्टपत्राणामपि अष्टौ सीमारेखा उत्पद्यन्ते। सन्ध्यधोवर्त्ति सीमारेखोभयतः स्थितोऽर्द्धनिशाकरांशो मार्जनीयः ।

तदुक्तं—

दलप्रसिद्ध्यै दलमध्यसन्धौ निधाय सूत्रन्तु दलान्तरालम् ।
दलान्तरालोभयसद्भ्रमोत्थैः शशाङ्कखण्डैस्तु दलं प्रसिद्ध्येत् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— उक्तक्षेत्रस्य दिक्सूत्रे संस्थाप्यान्यद्विमृज्य तु ।
प्रसार्य कोणसूत्रे द्वे वृत्तदिक्मत्स्यमानतः ॥
निधाय केशराग्रेषु दलसन्धींस्तु लाञ्छयेत् ।
पातयित्वा तु सूत्राणि तत्र पत्राष्टकं लिखेत् ॥ इति ॥ ११२-११३॥

बुद्धिमान् आचार्य बाह्यवृत्त (पत्रावृत्त) के मध्य में जितना अन्तराल हो उतने प्रमाण से केशरा वृत्त के आगे सूत्र रखकर विधिपूर्वक दोनों ओर से अर्ध चन्द्राकार आकृति बनावें । इस प्रकार आठ अर्द्धचन्द्राकार आकृति का निर्माण हो जायेगा ॥ ११२-११३ ॥

दलाग्राणाञ्च यन्मानं तन्मानं वृत्तमालिखेत् ।
तदन्तराले तन्मध्य सूत्रस्योभयतः सुधीः ।
आलिखेद्बाह्यहस्तेन दलाग्राणि समन्ततः॥ ११४ ॥

चतुर्थं वृत्तमाह दलेति । दलाग्राणां यन्मानं बहिः त्यक्त्वा द्वादशांशरूपं तन्मानं चतुर्थं वृत्तं कुर्यात् । दलाप्रकरणप्रकारमाह तदिति । तदन्तराले कृतदलाग्रवृत्तान्तराले तन्मध्यसूत्रस्य पत्रमध्यसूत्रस्योभयतः बाह्यहस्तेन समन्ततो दिक्षु विदिक्ष्वपि दलाग्राणि सुधीरालिखेदिति सम्बन्धः । तत्र प्रकारः । चतुर्थं वृतान्तराले पत्रमध्यसूत्रस्योभयतः सन्धिसूत्रस्याग्रे सूत्रादिं निधाय मध्यवृत्ततः दलाग्रवृत्त पत्रमध्यसूत्रसम्पातपर्यन्तं सूत्रद्वयं दद्यात् । तत्र सूत्रप्रान्त एकः पत्रस्पर्शी द्वितीयो दलाग्रमध्यसूत्रसम्पातस्पर्शी । सूत्रद्वयाग्रभागश्च परस्पराभिमुखो यथा स्यादित्येतदर्थं बाह्यहस्तेनेत्युक्तम् । ततः कर्णिकावृत्तं त्यक्त्वा बाह्यस्थत्रीणि वृत्तानि पद्मपत्रमध्य रेखाश्च सर्वं सम्यक् मार्जयेत् यथाऽष्टदलं पद्मं दृष्टिमनोहरं दृश्यते ॥ ११४ ॥

इस प्रकार बनाये गये चतुर्थ वृत्त के अन्तराल में पत्रमध्य सूत्र के दोनों ओर बुद्धिमान् आचार्य वाह्य हस्त से चारों ओर से दलाग्र इस प्रकार बनावे जिस प्रकार मनोहर अष्टदल कमल का निर्माण हो जावे ॥ ११४ ॥

दलमूलेषु युगशः केशराणि प्रकल्पयेत् ।
एतत् साधारणं प्रोक्तं पङ्कजं तन्त्रवेदिभिः ॥ ११५ ॥

केशरप्रकारमाह दलेति । कर्णिकावृत्तस्पर्शी सन्धिगतपत्रसीमासूत्रान्तराले पत्रमध्यसूत्रस्योभयतः एकैकस्मिन् पत्रे द्वौ द्वौ केशरौ कर्णिकावृत्तलग्नमूलौ केशरवृत्तलग्नाग्रौ अग्रे किञ्चित् स्थूलौ परस्परसम्मुखौ कुर्यात् । उपसंहरति एतदिति । यत्र कुत्रापि पङ्कजं कुर्यादिति वक्ष्यति । तत्रायं प्रकारो ज्ञेयः ॥ ११५ ॥

अब **केशरों की रचना का प्रकार** कहते हैं—प्रत्येक दल के मूल भाग में दो दो केशर का निर्माण करे । इस प्रकार तन्त्रवेत्ताओं ने सामान्य रूप से पंकज के निर्माण का प्रकार कहा है ॥ ११५ ॥

पदानि त्रीणि पादार्थं पीठकोणेषु मार्जयेत् ।
अवशिष्टैः पदैर्विद्वान् गात्राणि परिकल्पयेत् ॥ ११६ ॥
पदानि वीथिसंस्थानि मार्जयेत् पङ्क्त्यभेदतः ।
दिक्षु द्वाराणि रचयेद् द्विचतुःकोष्ठकैस्ततः ॥ ११७ ॥

पीठं कुर्यादिति यदुक्तं तत्प्रकारमाह पदानीति । पीठार्थं स्थापितपङ्क्तौ एकैकं कोणकोष्ठं तदुभयपार्श्ववर्त्ति कोष्ठद्वयञ्च एवं च त्रीणि कोष्ठानि पादार्थं मार्जयेत् । अवशिष्टैश्चतुर्भिः पदैः पीठगात्राणि कल्पयेत् । वीथ्यर्थं स्थापितपङ्क्तिद्वयस्यैकाकारेण मार्जनं कार्यम् । द्वाराण्याह दिक्ष्विति । द्वाराद्यर्थं परितः स्थापितपङ्क्तिद्वयमध्ये चतुर्दिक्षु द्वारचतुष्टयार्थम् आन्तरपङ्क्तिस्थं मध्यसूत्रोभयपार्श्ववर्त्ति कोष्ठ-

द्वयं तथा बाह्यपङ्क्तिस्थं मध्यसूत्रपार्श्ववर्त्ति कोष्ठचतुष्टयं द्वारार्थं मार्जयेत् । एवं चत्वारि द्वाराणि स्युः ॥ ११६-११७ ॥

अब **पीठ की रचना का प्रकार** कहते हैं—पीठ के लिये स्थापित पंक्ति में एक एक कोण के कोष्ठ तथा उसके पार्श्व के दो दो कोष्ठ इस प्रकार कुल तीन कोष्ठ पीठ के पाद के लिये रंग देवे । विद्वान् साधक शेष चार कोष्ठक से पीठ का गात्र निर्माण करें ॥ ११६ ॥

वीथी के लिये संस्थापित दोनों पंक्तियों को एक प्रकार के रंग से रंग देवे । पुनः साधक चार दिशाओं में दो कोष्ठक तथा चार कोष्ठकों में चार द्वार का निर्माण करे ॥ ११७ ॥

पदैस्त्रिभिरथैकेन शोभाः स्युर्द्वारपार्श्वयोः ।
उपशोभाः स्युरेकेन त्रिभिः कोष्ठैरनन्तरम् ।
अवशिष्टैः पदैः षड्भिः कोणानां स्याच्चतुष्टयम् ॥ ११८॥

शोभा आह पदैरिति । अन्तः पङ्क्तिस्थानि द्वारपार्श्वद्वयगतानि त्रीणि त्रीणि कोष्ठानि बाह्यपङ्क्तिस्थं द्वारपार्श्वद्वयगमेकैकं कोष्ठं मार्जयेत् । एवमष्टौ शोभाः स्युः। उपशोभा इति । अन्तः पङ्क्तिस्थम् उभयतः शोभालग्नमेकैकं कोष्ठं त्रीणि त्रीणि बाह्यपङ्क्तिकोष्ठानि मार्जयेत् । एवमष्टावुपशोभाः स्युः । अवशिष्टैरिति । उभयत उपशोभालग्नान्यन्तः पङ्क्तिस्थानि त्रीणि कोष्ठानि बाह्यपङ्क्तिस्थानि च त्रीणि कोष्ठानि मार्जयेत् । एवं चत्वारः कोणाः स्युः ॥ ११८ ॥

द्वार के भीतरी पार्श्व भाग में स्थित तीन तीन कोष्ठ तथा वाह्य स्थित कोष्ठ के एक-एक कोष्ठ को रँग देना चाहिए । इस प्रकार आठ शोभा के स्थान निर्माण करना चाहिए । पुनः पंक्ति के भीतरी भाग में शोभा से सटे हुये दोनों ओर एक एक कोष्ठक तथा बाहर के तीन तीन कोष्ठकों को रंग देवे । इस प्रकार आठ उपशोभा बनाना चाहिए । पुनः भीतरी पंक्ति में उपशोभा से लगे हुये दोनों ओर तीन तीन कोष्ठक तथा बाहर पंक्ति में स्थित तीन तीन कोष्ठकों को रंग देवे । ऐसा करने से चार कोण बन जायेंगे ॥ ११८ ॥

रञ्जयेत् पञ्चभिर्वर्णैर्मण्डलं तन्मनोहरम् ।
पीतं हरिद्राचूर्णं स्यात् सितं तण्डुलसम्भवम् ॥ ११९ ॥
कुसुम्भचूर्णमरुणं कृष्णं दग्धपुलाकजम् ।
विल्वादिपत्रजं श्याममित्युक्तं वर्णपञ्चकम् ॥ १२० ॥
अङ्गुलोत्सेधविस्ताराः सीमारेखाः सिताः शुभाः।
कर्णिकां पीतवर्णेन केशराण्यरुणेन च ॥ १२१ ॥
शुक्लवर्णेन पत्राणि तत्सन्धिं श्यामलेन च ।
रजसा रञ्जयेन्मन्त्री यद्वा पीतैव कर्णिका ॥ १२२ ॥

केशराः पीतरक्ताः स्युररुणानि दलान्यपि।
सन्धयः कृष्ण(शुक्ल)वर्णाः स्युः पीतेनाऽप्यसितेन वा ॥१२३॥
रञ्जयेत् पीठगर्भाणि पादाः स्युररुणप्रभाः ।
गात्राणि तस्य शुक्लानि वीथीषु च चतसृषु ॥ १२४ ॥
आलिखेत् कल्पलतिका दलपुष्पफलान्विताः ।
वर्णैर्नानाविधैश्चित्रैः सर्वदृष्टिमनोहराः ॥ १२५ ॥
द्वाराणि श्वेतवर्णानि शोभा रक्ताः समीरिताः।
उपशोभाः पीतवर्णाः कोणान्यसितभानि च ॥ १२६ ॥

मण्डलरञ्जनार्थं पञ्चवर्णानाह रञ्जयेदिति । कुसुम्भेति । अन्यत्रारुणान्तरमुक्तम् ।

तथा दोषारजः क्षारसंयुक्तं रक्तमुच्यते । इति ।

पुलाकजं तुच्छधान्यजम् । 'पुलाकस्तुच्छधान्यं स्यात्' इति त्रिकाण्डे । तत्प्रक्रिया यथा । तुच्छधान्यस्यार्द्धदाहावसरे दुग्धादिना सिक्त्वा ततो वस्त्रगालितं चूर्णं कुर्यात् । आदिशब्देनाऽन्यद्धरितपत्रादि ।

तदुक्तं प्रयोगसारे—

श्यामं श्यामच्छदोद्भूतं रजः प्रोक्तं स्वकर्मसु । इति ।

श्यामशब्देनात्र हरिद्वर्णो गृह्यते ।

महाकपिलपञ्चरात्रे तु अस्यावश्यकतोक्ता—

पीतं क्षितिस्तु विज्ञेया शुक्लमापः प्रकीर्त्तिताः ।
तेजो वै रक्तवर्णं स्याच्छ्यामं वायुः प्रकीर्त्तितः ॥
आकाशं कृष्णवर्णञ्च पञ्चमन्तु महामुने ।
सितेऽधिदेवता रुद्रो रक्ते ब्रह्माऽधिदेवता ॥
पीतेऽधिदेवता विष्णुः कृष्णे चैवाऽच्युतः स्मृतः ।
श्यामेऽधिदेवता नागः समाख्यातो मयाऽनघ ॥
शुक्लं ग्रहाय दोहन्ति रक्तं क्रूरगणोद्भवम् ।
कृष्णं सर्वासुरोत्साहं नीलं वैनायकीन्तथा ॥
पैशाचीं राक्षसीञ्चैव निहन्ति हरितं रजः ।
तस्माद्धोमेऽभिषेके च यागे चैव विशेषतः ।
वर्त्तयेन्मण्डलं तैस्तु देवसन्तुष्टिकारकम् ॥ इति ।

तन्त्रान्तरे तु विशेषः—

शक्तस्तु वाञ्छेद् यदि सिद्धिमुग्रां तद्वर्णरत्नैरिह मण्डलानि ।
आभूषयेन्मौक्तिक पुष्परागमाणिक्यनीलैर्हरितैश्च रत्नैः ॥ इति ।

सीमारेखा इति सर्वाः । पूर्वं श्वेतकमलमुक्त्वा रक्तकमलमाह यद्वेति । विष्णुशाक्तशैवदीक्षादौ तु व्यवस्थितविकल्पो ज्ञेयः । पीतैवेति द्वितीयपक्षेऽपि ।

पक्षान्तरं समाप्य प्रकृतमाह पीतेनेति । स्वेच्छया विकल्पोऽयम् । पीठगर्भाणीति कमलक्षेत्रकोणान् । अत्र गर्भ एषामस्तीति गर्भं कोणस्थानम् । अर्शादित्वादच् । ततो नपुंसकता । तस्येति पीठस्य कल्पलतिकालेखनमुपदेशतो ज्ञेयम् ॥ ११९-१२६ ॥

सर्वतोभद्रमण्डल को पंचरंगे रंग से भली प्रकार रंग देना चाहिए, जिससे उसकी शोभा निखर उठे । हरिद्रा के चूर्ण का पीत रंग, चावल को कूट कर सफेद रंग, कुसुम्भ के पुष्प का अरुण रंग, जलाये गये तुच्छ धान्य का कृष्ण रंग तथा बिल्वादि पत्र को कूट कर श्याम रंग तैयार करे । इस प्रकार पाँचों वर्ण का वर्णन किया । सर्वतोभद्रमण्डल की सीमा रेखा को एक अङ्गुल की ऊँचाई से सफेद चावल से रंग देना चाहिए । कर्णिकाओं को पीतवर्ण के रंग से तथा केशरों को लाल रंग से रंग देवे ॥ ११९-१२१ ॥

अष्ट पत्रों को शुक्लवर्ण से, उनकी सन्धियों को श्याम वर्ण से, कर्णिकाओं को लाल रंग से अथवा पीत वर्ण से मन्त्रवेत्ता आचार्य रंग देवे । केशर को पीत तथा रक्त वर्ण से, पत्रों को लाल रंग से, सन्धियों को काले, श्वेत एवं पीत अथवा सफेद रंग को छोड़कर जिस किसी भी रंग से रंग देवे ॥ १२२-१२३ ॥

पीठ के कोण तथा पाद अरुणवर्ण का होना चाहिए । उसका गात्र शुक्ल वर्ण का होना चाहिए । तदनन्तर चारों वीथियों में पत्ते पुष्प से समन्वित कल्पलतिका का निर्माण करे । यह कल्पलता नाना प्रकार के वर्णों से चित्रित होनी चाहिए जिससे देखने में मनोहर लगे ॥ १२४-१२५ ॥

द्वार श्वेत वर्ण के और शोभास्थान रक्तवर्ण का होना चाहिए । इसी प्रकार उपशोभा पीतवर्ण का तथा कोण काले रंग में रँगना चाहिए ॥ १२६ ॥

तिस्रो रेखा बहिः कुर्यात् सितरक्तासिताः क्रमात् ।
मण्डलं सर्वतोभद्रमेतत् साधारणं स्मृतम् ॥ १२७ ॥

बहिरिति सर्वबाह्यकृतसीमारेखाया बाह्ये इत्यर्थः ।

वशिष्ठसंहितायान्तु विशेषः—

पीतं पूर्वे सितं देयं पश्चिमेऽप्युत्तरे तथा ।
रक्तन्तु दक्षिणे कृष्णं पाटलं वह्निसंस्थितम् ॥
नैर्ऋत्ये नीलवर्णन्तु वायव्ये धूम्रवर्णकम् ।
ईशे गौरं विनिर्दिष्टमष्टपत्रेष्वयं क्रमः ॥ इति ॥ १२७ ॥

इसके बाद बाहर तीन रेखा क्रमशः श्वेत, रक्त तथा काले वर्ण की बनानी चाहिए । यह साधारण सर्वतोभद्रमण्डल कहा जाता है ॥ १२६-१२७ ॥

मण्डलान्तरम्

चतुरस्रां भुवं भित्वा दिग्भ्यो द्वादशधा सुधीः ।
पातयेत्तत्र सूत्राणि कोष्ठानां दृश्यते शतम् ॥ १२८ ॥

चतुश्चत्वारिंशदाढ्यं पश्चात् षट्त्रिंशताऽम्बुजम् ।
कोष्ठैः प्रकल्पयेत् पीठं पङ्क्त्यां नैवात्र वीथिकाः॥१२९॥
द्वारशोभे यथापूर्वमुपशोभा न दृश्यते ।
अवशिष्टैः पदैः कुर्यात् षड्भिः कोणानि तन्त्रवित् ।
विदध्यात् पूर्ववच्छेषमेवं वा मण्डलं शुभम् ॥ १३० ॥

मण्डलान्तरमाह चतुरस्त्रामिति । अत्र मत्स्योत्पादनप्रकारासम्भवात् दिग्भ्यो द्वादशधेत्युक्तिः । तत्र चतुर्दिक्षु द्वादशधा भूमिं विभज्य तत्र सूत्राणि पातयेदिति । तत्र प्रकारः । पूर्ववत् षोडशकोष्ठानि कृत्वा तेष्वेकं कोष्ठं समांशेन त्रिधा विभज्य तच्चिह्नद्वये प्रागग्रं सूत्रद्वयं दद्यात् । एतत्सूत्रद्वयसम्पातोत्पन्नप्रतिकोष्ठमत्स्यद्वन्द्वेषु प्रागग्रे द्वे द्वे एवं प्रागग्रां षट्सूत्रीं दद्यात् । एवमेकशतचतुश्चत्वारिंशत् कोष्ठानि जायन्ते । कोष्ठैरिति पूर्वत्रान्वेति । अम्बुजमुक्तप्रकारेणैव । पङ्क्त्यां पीठं पूर्ववदेव । अवशिष्टैरिति । तत्रैकं पदमन्तःपङ्क्तिस्थं पञ्चकोष्ठानि बाह्यपङ्क्तिस्थानि । एवं षड्भिरित्यर्थः । शेषमिति रञ्जनबाह्यरेखात्रयकरणादि ॥ १२८-१३० ॥

अब **दूसरे प्रकार का मण्डल** कहते हैं—

विद्वान् चारों ओर से चौकोर भूमि का विभाग १२ भागों में करे । उसमें इस प्रकार से सूत्र लगावें जिससे १४४ कोष्ठक हो जावें । तदनन्तर उसमें बीच के ३६ कोष्ठकों में कमल का निर्माण करे । इसमें वीथी न बनावे ॥ १२८-१२९ ॥

पूर्ववत् द्वारशोभा बनावे । किन्तु उपशोभा न बनावे । शेष बचे हुये छः छः कोष्ठकों को रंग देवे और बाहर तीन रेखा का निर्माण कर देवे । इस प्रकार से एक पङ्कज नामक शुभमण्डल का निर्माण करना चाहिए ॥ १३० ॥

नवनाभमण्डलम्

चतुरस्त्रे चतुःषष्टिपदान्यारचयेत् सुधीः ।
पदैश्चतुर्भिः पद्मं स्यान्मध्ये तत्परितः पुनः ॥ १३१ ॥
वीथीश्चतस्त्रः कुर्वीत मण्डलान्तावसानिकाः ।
दिग्गतेषु चतुष्केषु पङ्कजानि समालिखेत् ॥ १३२ ॥
विदिग्गतचतुष्काणि भित्वा षोडशधा सुधीः ।
मार्जयेत् स्वस्तिकाकारं श्वेतपीतारुणासितैः॥ १३३ ॥
रजोभिः पूरयेत्तानि स्वस्तिकानि शिवादितः ।
प्राक् प्रोक्तेनैव मार्गेण शेषमन्यत् समापयेत् ।
नवनाभमिदं प्रोक्तं मण्डलं सर्वसिद्धिदम् ॥ १३४ ॥

नवनाभमण्डलमाह चतुरस्त्र इति । तत्र पूर्ववत् चतुःषष्टिकोष्ठानि कृत्वा तत्र मध्यचतुष्के पूर्ववत् पद्मम् । ततश्चतुर्दिक्षु अष्टाष्टकोष्ठिकाश्चतस्त्रो वीथीः कुर्यात् ।

एवमष्टदिक्षु चतुःकोष्ठाष्टकमवशिष्यते । तद्धित्वा षोडशधेति पूर्ववदेव मार्जयेदिति । मार्जनप्रकारस्तु षोडशधेति कोष्ठेषु मध्यचतुष्कस्यैकैकं कोष्ठं परस्परविरुद्धैकैकदिशि सम्मार्ज्य तत्संलग्नबाह्यवीथ्याः कोणकोष्ठादिकोष्ठत्रयं तद्दिक्स्थमेव मार्जयेत् । एवमुपशोभाकारवच्चत्वारि चत्वारि कोष्ठानि मार्जितानि स्वस्तिकाकाराणि सम्पद्यन्ते । केचित्त्वन्यथा मार्जनमाहुः । मध्यचतुष्कस्य पूर्वदिग्गतकोष्ठद्वयं पूर्वदिशि सम्मार्ज्य तल्लग्नं बाह्यवीथीस्थं दक्षिणदिक्पर्यन्तं कोष्ठद्वयं मार्जयेत् । एवं दक्षिणदिग्गतकोष्ठद्वयं दक्षिणदिशि सम्मार्ज्य तल्लग्नं बाह्यवीथीस्थं पश्चिमदिक्पर्यन्तं कोष्ठद्वयं मार्जयेत् । एवं पश्चिमकोष्ठद्वयं पश्चिमदिशि सम्मार्ज्य तल्लग्नं बाह्यवीथीस्थम् उत्तरान्तं कोष्ठद्वयं मार्जयेत् । तत उत्तरस्थं कोष्ठद्वयं उत्तरदिशि सम्मार्ज्य तल्लग्नं बाह्यवीथीस्थं पूर्वदिक्पर्यन्तं कोष्ठद्वयं मार्जयेत् । पक्षद्वयमपि साम्प्रदायिकमेव । शिवादित ईशानादि वायव्यान्तम् । शेषमिति पद्मरञ्जनादि वीथीषु कल्पलतिकालिखनं रेखात्रयञ्च ॥ १३१-१३४ ॥

अब **नवनाभमण्डल** का क्रम कहते हैं—पूर्ववत् चतुरस्र (चौकोर) रेखा खींचकर उसमें ६४ कोष्ठक बनाकर उसके मध्य के चार चार कोष्ठकों में पद्म का निर्माण करे । फिर उसके चारों ओर आठ आठ कोष्ठक और चार वीथि बनावे । उसके बाद चारों दिशाओं में आठ आठ कोष्ठ में चार वीथि बनावे । इस प्रकार आठों दिशाओं में चार कोष्ठाष्टक शेष रहेगा । उसमें चारों दिशाओं में चार चार कोष्ठों में चार कमल बनावे और कोणो में रहने वाले चार चार कोष्ठों को लेकर १६ कोष्ठकों को चावल से भर देवे । ऐसा करने से वह स्वस्तिकाकार सम्पन्न हो जायगा ॥ १३१-१३३ ॥

ईशान कोण से आरम्भ कर वायव्य पर्यन्त सभी स्वस्तिक चिन्हों को पूर्व में कही गई विधि के अनुसार रंग देवे । तदनन्तर कमलों को रंग कर वीथी में कल्पलतादि निर्माण कर इस कार्य को समाप्त करे । यह नवनाभ नामक मण्डल जो कहा गया है—सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाला है ॥ १३४ ॥

पञ्चाब्जमण्डलम्

पञ्चाब्जं मण्डलं प्रोक्तमेतत् स्वस्तिकवर्जितम् ।
दीक्षायां देवपूजार्थं मण्डलानां चतुष्टयम् ।
सर्वतन्त्रानुसारेण प्रोक्तं सर्वसमृद्धिदम् ॥ १३५ ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचिते शारदातिलके तृतीयः पटलः समाप्तः ॥ ३ ॥

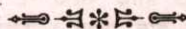


स्वस्तिकवर्जितमिति स्वस्तिकचतुष्कं मार्जयेदित्यर्थः । चतुष्टयमिति । एषां विषय उक्तः प्रयोगसारे नवनाभमुक्त्वा—

कलशानां नवानान्तु प्रोक्तमेतत् परं पदम् ।
तथा प्राक् प्रस्तुते स्थाने पद्मं सङ्कल्पय पूर्ववत् ॥
वीथीस्तद्वच्च संयोज्य चतुष्टयचतुष्टये ।
स्वस्तिकान्यालिखेद्दिक्षु कोणकोष्ठानि मार्जयेत् ॥
पञ्चानां कलशानाञ्च पदं स्यादेतदुत्तमम् ।
चतुरस्रोदितस्थाने तथा पद्मं समालिखेत् ॥
कलशस्यैकदेव(तदेक)स्य प्रोक्तं साधारणं पदम् ।

इति ॥ १३५ ॥

॥ इति श्रीराघवभट्टविरचित-शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां तृतीयः पटलः ॥ ३ ॥



इस प्रकार स्वस्तिक रहित पञ्चाब्जमण्डल कहा गया है । दीक्षा के लिये किये जाने वाले पूजा कार्य में जिन चार प्रकार के मण्डलों की आवश्यकता होती है उसका वर्णन सभी तन्त्रों के अनुसार हमने यहाँ किया जो सर्व समृद्धियों को देने वाला है ॥ १३५ ॥

॥ इस प्रकार शारदातिलक के तीसरे पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३ ॥



अथ चतुर्थः पटलः

अथ दीक्षाप्रकरणम्

अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि मन्त्रिणां हितकाम्यया ।
विना यया न लभ्येत सर्वमन्त्रफलं यतः ॥ १ ॥

मन्त्री यः साधयेदेकं जपहोमार्चनादिभिः ।
क्रियाभिर्भूरिभिस्तस्य सिद्ध्यन्त्यन्येऽल्पसाधनात् ॥
सम्यक्सिद्धैकमन्त्रस्य नाऽसाध्यमिह किञ्चन ।
बहुमन्त्रवतः पुंसः का कथा हरिरेव सः ॥
इत्यादिना महाकपिलपञ्चरात्रनारायणीययोः ।

अन्यत्रापि— पुस्तकाल्लिखितो मन्त्रो येन सुन्दरि जप्यते ।
न तस्य जायते सिद्धिर्हानिरेव पदे पदे ॥ इति ।

तथाऽन्यत्रापि— द्विजानामनुपेतानां स्वकर्माध्ययनादिषु ।
यथाऽधिकारो नास्तीह स्याच्चोपनयनादनु ॥
तथाऽत्राऽदीक्षितानाञ्च मन्त्रदेवार्चनादिषु ।
नाधिकारोऽस्त्यतः कुर्यादात्मानं शिवसंस्कृतम् ॥ इति ।

नारायणीये च— यदृच्छया श्रुतं मन्त्रं छलेनाप्यछलेन वा ।
पत्रेक्षितं वा गाथावत् तज्जपेद् यद्यनर्थकृत् ॥ इति ।

तत्रैव— प्रविश्य विधिवद्दीक्षामभिषेकावसानिकाम् ।
श्रुत्वा तन्त्रं गुरोर्लब्ध्वं साधयेदीप्सितं मनुम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— गुरुमुख्याः क्रियाः सर्वा भुक्तिमुक्तिफलप्रदाः ।
तस्मात् सेव्यो गुरुर्नित्यं मुक्त्यर्थं सुसमाहितैः ।
गुर्वनुक्ताः क्रियाः सर्वा निष्फलाः स्युर्यतो ध्रुवम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— जपो देवार्चनविधिः कार्यो दीक्षान्वितैर्नरैः ।
नास्ति पापं यतस्तेषां सूतकं वा यतात्मनाम् ॥

इत्यादिना दीक्षागृहीतमन्त्रफलस्योक्तत्वात् तां विना अविधिप्राप्तेभ्यस्तेभ्यः फलं न सिद्ध्यतीति अवश्यवक्तव्यदीक्षां वक्तुं प्रतिजानीते अथेति । अथ मण्डलकथनानन्तरं मन्त्राणां दीक्षां प्रवक्ष्यामि । हितकाम्यया पूर्वप्रकृतशिष्याणामिति शेषः । यद्वा वैदिकजनानामिति शेषः । अयमेव साम्प्रदायिकः पाठः । एतेन सर्वसामान्यरूपा मन्त्रदीक्षोच्यते इत्युक्तम् । तदुक्तमीशानशिवेन—

सा तु मन्त्र-शिव-शक्ति-विष्णुभेदाच्चतुर्विधा ।

सामान्यभूता खलु मान्त्रिकी स्याद् दीक्षा स्मृता मन्त्रगणेषु तद्वत् ।
वर्णेषु चापि द्विज पूर्वकेषु स्याच्छैवशाक्तेष्वपि वैष्णवेषु ॥ इति ।

प्रयोगसारेऽपि— मन्त्रमार्गानुसारेण साक्षात्कृत्वेष्टदेवताम् ।
गुरुश्चोद्बोधयेच्छिष्यं मन्त्रदीक्षेति सोच्यते ॥ इति ।

षडन्वयमहारत्नेऽपि—त्रिविधा सा भवेद् दीक्षा प्रथमा त्वाणवी परा ।
शाक्तेयी शाम्भवी चान्या सद्योमुक्तिविधायिनी ॥
मन्त्रार्चनासनस्थान ध्यानोपायादिभिः कृता ।
दीक्षा सा त्वाणवी प्रोक्ता यथाशास्त्रोक्तरूपिणी ॥
सिद्धौ स्वशक्तिमालोक्य तया केवलया शिशोः ।
निरुपायं कृता दीक्षा शाक्तेयी परिकीर्त्तिता ॥
अभिसन्धिं विना चार्यशिष्ययोरुभयोरपि ।
देशिकानुग्रहेणैव शिवताव्यक्तिकारिणी ॥
सेयन्तु शाम्भवी दीक्षा शिवावेशनकारिणी ॥ इति ।

अतएव ग्रन्थकृद् भैरवीपटले वक्ष्यति 'दीक्षां प्राप्य' (१२.२६) इति । तत्र शक्तिदीक्षां प्राप्येत्यर्थः। तथा द्वादशाक्षरे 'दीक्षितो विजितेन्द्रियः' इति । तत्र वैष्णवमार्गेण दीक्षित इत्यर्थः । तथा शैवपञ्चाक्षरेऽपि 'दीक्षितः शैववर्त्मना' इति । तत्र शक्तिविष्णुशिवदीक्षास्तत्तत्तन्त्रे ज्ञेयाः । मन्त्रिणामिति पाठे मन्त्रिणां हितकाम्यया दीक्षां प्रवक्ष्यामि । उत्तरार्द्धे सर्वमन्त्रफलमिति मन्त्रशब्दस्योच्चारितत्वात् अत्र मन्त्राणामिति सम्बद्ध्यते इति वदन्ति। परन्तु मुख्यमन्त्रपदस्यैव सम्बन्धाभावात् यदपि मन्त्रपदं तदपि वृत्तिगर्भितमिति न समञ्जसः पाठः । आचार्या अपि—

अथ प्रवक्ष्ये विधिवन्मनूनां दीक्षाविधानं जगतो हिताय । इति ।

वायवीयसंहितायाम्—

शाम्भवी चैव शाक्ती च मान्त्री चैव शिवागमे ।
दीक्षोपदिश्यते त्रेधा शिवेन परमात्मना ॥
गुरोरालोकमात्रेण स्पर्शात् सम्भाषणादपि ।
सद्यः संज्ञा भवेज्जन्तोर्दीक्षा सा शाम्भवी मता ॥
शाक्ती ज्ञानवती दीक्षा शिष्यदेहं प्रविश्य तु ।
गुरुणा योगमार्गेण क्रियते ज्ञानचक्षुषा ॥
मान्त्री क्रियावती दीक्षा कुण्ड(म्भ) मण्डलपूर्विका । इति ।

यतो यस्मात् कारणात् । यया दीक्षया विना । सर्वे च ते मन्त्राश्च येषां यत् फलं तन्न लभ्यते न प्राप्यते । एतेनैतदुक्तम् । यः कश्चन मन्त्रो दीक्षयैव शिष्येण गुरुभ्यो ग्राह्यः । अन्यस्य फलदायकत्वनियमाभावात् । किञ्च शिवादिदीक्षया तत्तन्मन्त्राणामेव फलदायकत्वम् अनया तु सर्वमन्त्राणाम् । अयञ्च सर्वञ्च तन्मन्त्रफलमिति फलविशेषणत्वेनापि व्याख्येयम् । तेनोपदेशादिमात्रेण सकलं फलं न प्राप्यते । अनया तु सर्वमपीत्यर्थः । उपदेशस्यापि तन्त्रान्तरे विहितत्वादिति । मन्त्रशब्दव्युत्पत्तिरुक्ता

पिङ्गलामते— मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसारबन्धनात् ।
यतः करोति संसिद्धो मन्त्र इत्युच्यते ततः ॥ इति ।

रुद्रयामले च— मननात् त्राणनाच्चैव मद्रूपस्यावबोधनात् ।
मन्त्र इत्युच्यते सम्यक् मदधिष्ठानतः प्रिये ॥ इति ।

अन्यत्रापि— गुप्तोपदेशतो मन्त्रो मननात् त्राणनादपि । इति ॥ १ ॥

दीक्षा के द्वारा जो मन्त्र ग्रहण किया जाता है, वही फलप्रद होता है । इसलिये मन्त्र साधन में दीक्षा की आवश्यकता है । अतः ग्रन्थकार दीक्षा का क्रम कहते हैं—अब मैं शिष्यों के हित के लिये दीक्षा की विधि कहता हूँ । क्योंकि दीक्षा के बिना सभी प्रकार के मन्त्रों का फल प्राप्त नहीं होता है ॥ १ ॥

दीक्षाशब्दव्युत्पत्तिः

दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयः ।
तस्माद् दीक्षेति संप्रोक्ता देशिकैस्तन्त्रवेदिभिः ॥ २ ॥

दीक्षाया क्रियावत्यादिभेदः

चतुर्विधा सा सन्दिष्टा क्रियावत्यादिभेदतः ।
क्रियावती वर्णमयी कलात्मा वेधमय्यपि ॥ ३ ॥
ताः क्रमेणैव कथ्यन्ते तन्त्रेऽस्मिन् सम्पदावहाः ॥ ४ ॥

क्रियावतीदीक्षाविधिः

देशिको विधिवत् स्नात्वा कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः ।
यायादलङ्कृतो मौनी यागार्थं यागमण्डपम् ॥ ५ ॥

दीक्षाशब्दव्युत्पत्तिमाह ज्ञानमिति । दद्यात्—क्षयमित्यनयोराद्यर्णमादायेयं निरुक्तिः । 'अप्यक्षरसाम्यान्निर्ब्रूयात्' इति यास्कोक्तेः । तदुक्तं—

ददाति यस्मादिह दिव्यभावं मायामले कर्म च संक्षिणोति ।
फलं चतुर्वर्गभवञ्च यस्मात्तस्मात्तु दीक्षेत्यभिधानमस्याः ॥ इति ।

प्रयोगसारेऽपि— दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पापसञ्चयः ।
तेन दीक्षेति सा ज्ञेया पाशच्छेदाह्वया क्रिया ॥ इति ।

अत्र दीक्षायामेव तन्त्रेण नित्यपूजाया अपि वक्ष्यमाणत्वात् देशिकैरित्यनेन सूचितम् । स्नानात् पूर्वं नित्यकृत्यं किञ्चिदुच्यते । ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय स्मृत्युक्तविधानेन शौचादिकं देहशुद्धिञ्च विधाय रात्रिवासः परित्यज्य वासोऽन्तरं परिधाय मन्त्रस्नानं कृत्वा देवगृहमागत्य सम्मार्जनोपलेपनादिकं कृत्वा देवस्य निर्माल्यमपसार्य पूर्वदिना-वशिष्टपत्रादिनाऽभ्यर्च्य नमस्कुर्यात् । अन्यथा दोषदर्शनात् ।

यदाहुः— तृषाक्रान्तः पशुर्बद्धः कन्यका च रजस्वला ।
देवता च सनिर्माल्या हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥ इति ।

तदुक्तं मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—स्मृत्युक्तेन विधानेन सम्यक् शौचं विधाय च ।
प्रक्षाल्य पादावाचम्य कृत्वा न्यासं यतात्मवान् ॥
प्रविश्य देवतास्थानं निर्माल्यमपकृष्य च ।
दद्यात् पुष्पाञ्जलिं विद्वानर्घ्यपाद्ये तथैव च ॥
मुखप्रक्षालनं दद्याद् दद्याद्वै दन्तधावनम् ।
दद्यादाचमनीयञ्च दद्याद्वासोऽमलं शुभम् ॥ इति ।

ततो यथोक्तासने उपविश्य गुरुन् मूर्द्धनि ध्यायेत् ।

प्रातः शिरसि शुक्लेऽब्जे द्विनेत्रं द्विभुजं गुरुम् ।
प्रसन्नवदनं शान्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकम्
अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाऽहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥

इति गुरुदेवतात्मनामैक्यं भावयित्वा प्रार्थयेत्—

त्रैलोक्यचैतन्यमयादिदेव श्रीनाथ विष्णो भवदाज्ञयैव ।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं संसारयात्रामनुवर्त्तयिष्ये ॥

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥ इति ।

अत्र श्रीनाथ विष्णो इति शिवादावूहः कार्यः । चण्डीश शम्भो इत्यादि ततो देवतागुणनामादि कीर्त्तयन् स्नानार्थं नद्यादौ गच्छेत् । स्नात्वेति स्नानादिकोपदेशोऽनुक्रमकथनाय ।

यतश्च—अशुचिवस्त्रमस्नातमनलङ्कारं पुरुषं देवता नाऽधितिष्ठन्ति । इति ।

अनेन मज्जनस्नानाशक्तः स्नानान्तरमपि कुर्यादित्युक्तं भवति । यदाहुः—

भूत्या वा गोरजोभिर्भवति विपदि तत् केवलैर्वाऽपि मन्त्रैः । इति ।

अथच विधिवत् स्नात्वा पूर्वाह्णिकीः क्रियाः कृत्वा इति मन्त्रस्नानं मन्त्रसन्ध्यां मन्त्रतर्पणञ्च कर्त्तव्यमिति सूचितम् ।

अथ स्नानं प्रवक्ष्यामि सर्वपापहरं शुभम् ।
यत् कृत्वा साधकः सम्यक् सर्वकर्मार्हको भवेत् ॥

इत्यादिना महाकपिलपञ्चरात्रे ।

वशिष्ठसंहितायामपि—कृत्वादौ वैदिकं स्नानं ततस्तान्त्रिकमाचरेत् ।

इत्यादिना च मन्त्रस्नानादिविधिरुक्तः । तत्र मन्त्रस्नानं द्विविधम्—आन्तरं बाह्यञ्च । तत्र वैष्णवस्नानमान्तरमुक्तं वशिष्ठसंहितायाम्—

अनन्तादित्यसङ्काशां वासुदेवं चतुर्भुजम् ।
शङ्खचक्रगदापद्ममुकुटं वनमालिनम् ॥
तत्पादोदकजां धारां निपतन्तीं स्वमूर्द्धनि ।
चिन्तयेद् ब्रह्मरन्ध्रेण प्रविशन्तीं स्वकां तनुम् ॥

तया संक्षालयेत् सर्वमन्तर्देह(मेतद्देह)गतं मलम् ।
तत्क्षणाद्विरजा मन्त्री जायते स्फटिकोपमः ॥
इदं स्नानं वरं मन्त्रात् सहस्रम(स्त्राद)धिकं स्मृतम् । इति ।

शाक्तमाभ्यन्तरं स्नानमुक्तं श्रीपञ्चमीमते—

स्नानप्रकारो द्विविधो बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
आन्तरं स्नानमत्यन्तरहस्यमपि सादरात् ॥
कथयामि भवध्वस्त्यै चतुर्वर्गाप्तयेऽपि च ।
संवित्त्रयमनुस्मृत्य चरणत्रयमध्यतः ॥
स्रवन्तं सच्चिदानन्दप्रवाहं भावगोचरम् ।
विमुक्तिसाधनं पुंसां स्मरणादेव योगिनाम् ॥
तेनाप्लावितमात्मानं भावयेद्भवशान्तये ।

एवमाभ्यन्तरं स्नानम् । इति । शैवागमे आभ्यन्तरं स्नानमुक्तं—

मनसा मूलमन्त्रेण प्राणायामपुरःसरम् ।
कुर्वीत मानसं स्नानं सर्वत्र विहितञ्च तत् ॥ इति ।

बाह्यप्रकारस्तूच्यते । स्वशाखोक्तविधिना स्नात्वा प्राणायामपुरःसरमङ्गे षडङ्गानि विन्यस्य—

ब्रह्माण्डोदरतीर्थानि करैः स्पृष्टानि ते रवे ।
तेन सत्येन मे देव तीर्थं देहि दिवाकर ॥
गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥
आवाहयामि त्वां देवि स्नानार्थमिह सुन्दरि ।
एहि गङ्गे नमस्तुभ्यं सर्वतीर्थसमन्विते ॥

इति मन्त्रैरङ्कुशमुद्रयाऽऽदित्यमण्डलात्तीर्थमाकृष्य आवाह्य वमिति अम्भसि नियोज्य सोमसूर्याग्निमण्डलानि तत्र सञ्चिन्त्य वं इत्यमृतबीजेन द्वादशधाऽभिमन्त्र्य कवचेनावगुण्ठ्य अस्त्रेण संरक्ष्य मूलमन्त्रेणैकादशवारमभिमन्त्र्य—

ॐ आधारः सर्वरूप(भूत)स्य विष्णोरतुलतेजसः ।
तद्रूपाश्च ततो जाता आपस्ताः प्रणमाम्यहम् ॥

इत्युपस्थाय निमज्जेत् ।

अनेनोपस्थाय तीर्थं निमज्जेच्चिन्तयन् हरिम् ।

इति मन्त्रतन्त्रप्रकाशोक्तेः । तत्र मूलमन्त्रं देवताकृतिञ्च सञ्चिन्त्य उन्मज्य मूलमन्त्रेण सप्तकृत्वो द्वादशकृत्वो वा शङ्खमुद्रया कलशमुद्रया वा आत्मानमभिषिच्य—

सिसृक्षोर्निखिलं विश्वं मुहुः शुक्रं प्रजायते ।
मातरः सर्वभूतानामापो देव्यः पुनन्तु माम् ॥
तारवारुणबीजेन पुटितत्वेनमुच्चरेत् ।
अलक्ष्मीं मलरूपां याः सर्वभूतेषु संस्थिताम् ।
क्षालयन्ति निजस्पर्शादापो नित्यं पुनन्तु माम् ॥

इति मन्त्राभ्याञ्चाभिषिच्य—

यन्मे केशेषु दौर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्द्धनि ।
ललाटे कर्णयोरक्ष्णोरापस्तदघ्नन्तु वो नमः ॥
आयुरारोग्यमैश्वर्यमरिपक्षक्षयं सुखम् ।
सन्तोषः क्षान्तिरास्तिक्यं विद्या भवतु वो नमः ॥

इत्यभिषिञ्चेत् । इति बाह्यं मन्त्रस्नानम् ।

अभिषिञ्चेदथात्मानं वारुणैर्मूलविद्यया ।

इति मन्त्रतन्त्रप्रकाशे उक्तेः । तदुक्तम्—

विहितावश्यकः शौचमाचामं दन्तधावनम् ।
मुखप्रक्षालनादीनि कृत्वा स्नानं समाचरेत् ॥
हृन्मुद्रा(न्मन्त्रा)ङ्कुशमुद्राभ्यां तीर्थमाकृष्य मण्डलात् ।
आवाह्याऽम्भसि संयोज्य सोमसूर्याग्निमण्डलम् ॥
सञ्चिन्त्य मन्त्री तन्मध्ये निमज्जेत् सुसमाहितः ।
मूलमन्त्रं समावर्त्त्य मनसोल्लिख्य चाकृतिम् ॥
उत्थायाऽऽचम्य तत्पश्चात् षडङ्गन्याससंयुतः ।
आत्मानं मूलमन्त्रेण मुद्रया कलशाख्यया ॥
सप्तकृत्वोऽभिषिच्याऽथ मनुना मन्त्रितैर्जलैः । इति ।

वशिष्ठसंहितायामपि—

विन्यस्याङ्गे षडङ्गानि प्राणायामपुरःसरम् ।
श्रीसूर्यमण्डलात्तीर्थमाकृष्याऽङ्कुशमुद्रया ॥
वमित्यनेन चाप्लाव्य कवचेनावगुण्ठयेत् ।
संरक्ष्यास्त्रेण मूलेन मन्त्रयेद्रुद्र(द्रस) संख्यया ॥
निमज्य तस्मिन् श्रीदेवं ध्यायेच्छक्त्या जपन्मनुम् ।
उन्मज्य कुम्भमुद्राञ्च बद्धा स्नायाद् द्विषट् ततः ॥
शालग्रामशिलातोयं तुलसीगन्धमिश्रितम् ।
कृत्वा शङ्खे भ्रामयंस्त्रिः प्रक्षिपेत्रिजमूर्द्धनि ॥
शालग्रामशिलातोयमपीत्वा यस्तु मस्तके ।
प्रक्षेपणं प्रकुर्वीत ब्रह्महा स निगद्यते ॥
विष्णुपादोदकात् पूर्वं विप्रपादोदकं पिबेत् ।
विरुद्धमाचरन्मोहादात्महा स निगद्यते ॥
पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि सागरे ।
ससागराणि तीर्थानि पादे विप्रस्य दक्षिणे ॥
ततः संक्षेपतो देवान् मनुष्यांस्तर्पयेत् पितृन्
पीडयित्वाम्बरं चोरू प्रक्षाल्याचम्य यत्नतः ॥
धारयेद्वाससी शुद्धे परिधानोत्तरीयके ।
अच्छिन्ने सुदृशे शुक्ले आचमेत् पीठसंस्थितः ॥
ऊर्द्धपुण्ड्रं त्रिपुण्ड्रं वा कृत्वा सन्ध्यां समाचरेत् ॥ इति ।

अङ्कुश-कुम्भ-शङ्खमुद्रालक्षणानि यथा—

दक्षमुष्टिगृहीतस्य वाममुष्टेस्तु मध्यमाम् ।
प्रसार्य तर्ज्जन्याकुञ्चेत् सेयमङ्कुशमुद्रिका ॥
दक्षाङ्गुष्ठे पराङ्गुष्ठं क्षिप्त्वा हस्तद्वयेन तु ।
सावकाशात्मकं मुष्टिं कुर्यात् कुम्भस्य मुद्रिका ॥
वामाङ्गुष्ठन्तु संगृह्य दक्षिणेन तु मुष्टिना ।
कृत्वोत्तानं तथा मुष्टिमङ्गुष्ठन्तु प्रसारयेत् ॥
वामाङ्गुल्यस्तथा शिष्टाः संयुक्ताः सुप्रसारिताः ।
दक्षिणाङ्गुष्ठसंस्पृष्टा मुद्रा शङ्खस्य चोदिता ॥

तत्र वैष्णवतिलके विशेषः—

ललाटे तु गदा कार्या मूर्द्ध्नि चापं शरन्तथा ।
नन्दकञ्चैव हृन्मध्ये शङ्खं चक्रं भुजद्वये ॥
शङ्खचक्राङ्कितो विप्रः श्मशाने म्रियते यदि ।
प्रयागे या गतिः प्रोक्ता सा गतिस्तस्य नारद ॥ इति ।

शैवैस्तूर्द्ध्वपुण्ड्रधारणानन्तरमेव भस्मना त्रिपुण्ड्रधारणमपि कार्यम् । यतो द्विजानामूर्द्ध्वपुण्ड्रस्यावश्यकत्वम् । तदुक्तं ब्रह्माण्डपुराणे—

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रमृजुं सौम्यं ललाटे यस्य दृश्यते ।
स चाण्डालोऽपि शुद्धात्मा पूज्य एव न संशयः ॥
अशुचिश्चाप्यनाचारो मनसा पापमाचरन् ।
शुचिरेव भवेन्नित्यमूर्द्ध्वपुण्ड्राङ्कितो नरः ॥
मत्प्रियार्थं शुभार्थं वा रक्षार्थं चतुरानन ।
मद्भक्तो धारयेन्नित्यमूर्द्ध्वपुण्ड्रमतन्द्रितः ॥ इति ।

तत्र त्रिपुण्ड्रधारणविधानं यथा—

भस्माग्निहोत्रसम्भूतमानयेच्छोधितं बुधः ।
यद्वा धरामसंस्पृष्टं सद्योनानीय गोमयम् ॥
वामेन पात्रे संशोष्य (योज्य) अघोरेण विनिर्द्दहेत् ।
ततूपुरुषेण समुद्धृत्येशानेन विशोधयेत् ॥
इत्थन्तु संस्कृतं भस्म अग्निरित्यादिमन्त्रतः ।
विमृज्याङ्गानि संस्पृश्य पुनरादाय मन्त्रतः ॥
तद्रुद्रायेे(स्माद्ब्रह्मे)ति यजुषा मन्त्रयेद् रुद्रसंख्यया ।
प्रणवाद्यैश्चतुर्थीहृदन्तैर्नामभिरंशकैः ॥
पञ्चवर्णाक्षराद्यैश्च भालांसोदरहृत्सु च ।
त्रिपुण्ड्रधारणं कुर्यान्मूर्द्ध्नि पञ्चाक्षरेण च ॥
त्रिपुण्ड्रं धारयन्मन्त्री साक्षाच्छिव इवापरः ॥ इति ।

मन्त्रस्तु । 'अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, जलमिति भस्म, स्थलमिति भस्म, व्योमेति भस्म सर्वं ह वा इदं भस्म मन एतानि चक्षूंषि भस्मानि तस्माद्व्द्

व्रतमेतत् पाशुपतं यद्भस्मनाङ्गानि संस्पृशेत् । तस्मात् ब्रह्म तदेतत् पाशुपतं पशुपाशविमोक्षाय' । यजुषा पञ्चाक्षरेणेत्यर्थः ।

प्रकारान्तरेण वा— ललाटे ब्रह्मा(ह्म) विज्ञेयो(यं) हृदये हव्यवाहनः ।
नाभौ स्कन्दो गले पूषा रुद्रो दक्षिणबाहुके ॥
आदित्यो बाहुमध्ये च शशी च मणिबन्धके ।
वामदेवो वामबाहौ बाहुमध्ये प्रभञ्जनः ॥
मणिबन्धे च वसवः पृष्ठदेशे हरः स्मृतः ।
शम्भुः ककुदि संप्रोक्तः परमात्मा शिरः स्मृतः ॥ इति ।

वायवीयसंहितायाममन्त्रकमेव त्रिपुण्ड्रधारणमुक्तम् ।

पुनर्न्यस्तकरो मन्त्री त्रिपुण्ड्रं भस्मना लिखेत् । इति ।

भस्मग्रहणमपि तत्रैवोक्तम् ।

शिवाग्नेर्भस्म संग्राह्यमग्निहोत्रोद्भवन्तु वा ।
वैवाह्याग्न्युद्भवं वापि पक्वं शुचि सुगन्धि च ॥
कपिलायाः शकृच्छस्तं गृहीतं गगने पतत् ।
न क्लिन्नं नाति कठिनं न दुर्गन्धि न चोषितम् ॥
उपर्यधः परित्यज्य गृह्णीयात् पतितं यदि ।
पिण्डीकृत्य शिवाग्नौ तु तत् क्षिपेन्मूलमन्त्रतः ॥
अपक्वमतिपक्वञ्च सन्त्यज्य भसितं सितम् ।
आदाय वाससाऽऽलोड्य भस्माधारे विनिक्षिपेत् ॥
भस्मसंग्रहणं कुर्याद् देवेऽनुद्वासिते सति ।
उद्वासने कृते यस्माच्चण्डभस्म प्रजायते ॥ इति ।

ततः स्वशाखोक्तसन्ध्यां कृत्वा मन्त्रसन्ध्यां कुर्यात् । तद्यथा । प्राणायामत्रयं कृत्वा तीर्थजलं दक्षहस्ते गृहीत्वा मूलमन्त्रेण त्रिः संजप्य तेन मूलेन त्रिराचम्य पुनस्तीर्थजलं दक्षहस्तेन सव्यहस्ते निधाय मूलेन त्रिधाऽभिमन्त्र्य तद्गलितोदकबिन्दुभिः सप्तधा मूलेनात्मानं सम्मार्ज्य अवशिष्टं जलं दक्षहस्ते गृहीत्वा नासिकासमीपं नीत्वा इडया देहान्तराकृष्य क्षालितैः पापसञ्चयैः कृष्णवर्णं तदुदकं दक्षनाड्या विरेचितं ध्यात्वा पुरःकल्पितवज्रशिलायामन्त्रमन्त्रेण प्रक्षिपेत् । इदमघमर्षणम् । पुनरञ्जलिना जलमादाय सूर्यमण्डलस्थाय देवायाऽर्घ्यं कल्पयामीति तत्तद्गायत्र्या मूलेन वा त्रिरर्घ्यं दत्त्वा सूर्यमण्डलस्थं देवं ध्यायन् मूलमन्त्रेणोपस्थाय तत्तन्मन्त्रगायत्रीं मूलमन्त्रं वाऽष्टाविंशतिवारं जपेत् । ततो मूलमन्त्रमुच्चार्य देवं तर्पयामीति अष्टाविंशतिवारं तर्पयित्वा सूर्यमण्डले देवतां सञ्चिन्त्य सूर्यायार्घ्यं दत्त्वा संहारमुद्रया तीर्थं विसृज्य सूर्यादिकं नमस्कृत्य देवतास्तुतिं पठन् यागमण्डपं गच्छेदिति ।

दतुक्तं मन्त्रतन्त्रप्रकाशे— कृत्वा सन्ध्यां जपन् स्तोत्रं यायाद्वै यागमन्दिरम् । इति ।

तथा— उक्तेनैव विधानेन कृत्वा स्नानन्तु तान्त्रिकम् ।
वैदिकीं तान्त्रिकीं सन्ध्यां कृत्वा तर्पणमेव च ॥
जपन् स्तोत्राणि नामानि यायाद्देवनिकेतनम् । इति ।

मौनीत्यनेनान्यजनसम्भाषानिषेधः । संहारमुद्रालक्षणं यथा—

अधोमुखे वामहस्ते ऊर्ध्वास्यं दक्षहस्तकम् ।
क्षिप्त्वाऽङ्गुलीरङ्गुलिभिः संयोज्य परिवर्त्तयेत् ॥
प्रोक्ता संहारमुद्रेयमर्पणे तु प्रशस्यते । इति ।

तदुक्तं महाकपिलपञ्चरात्रे—

उपविश्य शुचौ देशे प्राणायामत्रयं क्रमात् ।
परतत्त्वेन कृत्वा वै देहे कुर्वीत मार्जनम् ॥
नासामाश्लिष्य तोयेन ततस्तेनाऽघमर्षणम् ।
समस्तेन समुद्दिष्टं अर्घ्यं पापहरं शुभम् ॥
उपस्थानं ततः कुर्यात् पश्चात्तत्त्वेन मन्त्रवित् ।
स्मृत्वा ज्योतिर्मयं विष्णुं मण्डलस्थं महात्मकम् ॥
जपं पश्चात् प्रकुर्वीत मूलमन्त्रेण साधकः ।
गायत्र्या वाऽथ वैष्णव्या प्रणवाद्यन्तकद्वयम् ॥
उपविश्य शुचौ देशे ततस्तर्पणमाचरेत् ।
विष्ण्वाद्या देवतास्तत्र पितृंश्च मनुजानथ ॥
तर्पयेत्तान् प्रयत्नेन ततस्तीर्थं क्षमापयेत् ।
मूलमन्त्रं जपन् गच्छेद् यावत् प्राप्नोति वै गृहम् ॥
प्राप्य हस्तौ च पादौ च प्रक्षाल्याचम्य यत्नतः ॥
यागमण्डपमासाद्य विशेत् कृत्वा प्रदक्षिणम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— पुनराचम्य विन्यस्य षडङ्गमपि पूर्ववत् ।
वामहस्ते जलं गृह्य गलितोदकबिन्दुभिः ॥
सप्तधा प्रोक्षणं कृत्वा मूर्ध्नि मन्त्रं समुच्चरन् ।
अवशिष्टोदकं दक्षहस्ते संगृह्य बुद्धिमान् ॥
इडयाऽऽकृष्य देहान्तः क्षालितैः पापसञ्चयैः ।
कृष्णवर्णं तदुदकं दक्षनाड्या विरेचितम् ॥
दक्षहस्तेऽथ तन्मन्त्री पापरूपं विचिन्त्य च ।
पुरतो वज्रपाषाणे प्रक्षिपेदस्त्रमन्त्रतः ॥
दिनेशायोत्क्षिपेत् तिष्ठन् वारिणा चाऽञ्जलित्रयम् ।
अष्टोत्तरशतावृत्त्या गायत्रीं प्रजपेत् सुधीः ॥
रविमण्डलगं देवं प्रणिपत्य क्षमापयेत् ।
संहारमुद्रया तीर्थमुद्वास्याचम्य वाग्यतः ॥
एवं सन्ध्यां समाप्याथ न्यासकर्म समारभेत् ॥ इति ।

शैवागमे तु— ततः शिवात्मकैर्मन्त्रैः कृत्वा तीर्थं शिवात्मकम् ।
मार्जनं संहितामन्त्रैस्तत्तोयेन समाचरेत् ॥
वामपाणिपतत्तोययोजनं सव्यपाणिना ।
उत्तमाङ्गे क्रमान्मन्त्रैर्मार्जनं समुदाहृतम् ॥
नीत्वा तदुपनासाग्रं दक्षपाणिपुटे स्थितम् ।

बोधरूपं सितं तोयं वामयाकृष्य कुम्भयेत् ॥
तत्पापं कज्जलाभासं पिङ्गया रेच्य वर्त्मना (विष्टिना) ।
क्षिपेद् वज्रशिलायां यत्तद्धवेदघमर्षणम् ॥
स्वाहान्तशिवमन्त्रेण कुशपुष्पाक्षतान्वितम् ।
शिवायाऽर्घ्याञ्जलिं दत्त्वा गायत्रीं शक्तितो जपेत् ॥
समाचम्य विधानेन त्र्यञ्जलेनाऽर्घ्यमुद्धरेत् ।
रक्तपुष्पादितोयेन मूलमन्त्रेण भानवे ॥ इति ।

वायवीयसंहितायामपि—आचरेद् ब्रह्मयज्ञान्तं कृत्वा देवादितर्पणम् ।
मण्डलस्थं महादेवं ध्यात्वाऽभ्यर्च्य यथाविधि ।
दद्यादर्घ्यं ततस्तस्मै शिवायादित्यरूपिणे ॥ इति ।

शिवसंहितायान्तु—व्योमव्यापीति यो मन्त्रः पञ्चब्रह्माणि यानि च ।
ये मन्त्राः शिवगायत्र्या रुद्रश्चेति यथाक्रमम् ॥
सर्वपापापहा प्रोक्ता विद्येयं शिवसंहिता । इति ।
आमीमूमाद्यतो व्योमव्यापिने च प्रकीर्त्तयेत् ।
प्रणवाद्यन्तरुद्धोऽयं व्योमव्यापी प्रकीर्त्तितः ॥ इति ।

अयं सामान्यविधिः । मन्त्रविशेषे आचमनादौ मन्त्रविशेषास्तत्तत्कल्पोक्ता अनुसन्धेयाः । इयञ्च सन्ध्या त्रिकालं कार्या । यदगस्त्यसंहितायाम्—

रामात्मानं गुरुं ध्यात्वा रामसन्ध्यामथाचरेत् । सायं प्रातश्च मध्याह्ने । इति । शैवागमेऽपि—प्रातर्मध्याह्नसायाह्ने सन्ध्यां कुर्याच्च मन्त्रवित् । इति ॥ २-५ ॥

यतः दीक्षा दिव्यज्ञान प्रदान करती है और समस्त पापों का क्षय करती है, इसलिये तन्त्रवेत्ता आचार्यों ने उसे 'दीक्षा' कहा है । यह दीक्षा क्रियावती, वर्णमयी, कलात्मा और वेधमयी भेद से चार प्रकार की कही गई है ॥ २ ॥

ये सभी दीक्षायें ऐश्वर्य प्रदान करने वाली हैं । अतः उन सभी प्रकार की दीक्षाओं को इस तन्त्रशास्त्र में कहता हूँ । सर्वप्रथम दीक्षा देने वाला आचार्य विधिवत् स्नान करे । तदनन्तर पूर्वाह्ण की सारी क्रिया संपादन कर शुचि और अलङ्कार युक्त हो मौन धारण कर यज्ञ के लिये याग मण्डप में जावे ॥ ४-५ ॥

शाक्तादिभेदेनाचमनभेदः

आचम्य विधिना तत्र सामान्यार्घ्यं विधायच ।
द्वारमस्त्राम्बुभिः प्रोक्ष्य द्वारपूजां समाचरेत् ॥ ६ ॥

आचम्येति । तत्र यागमण्डपबाह्यदेशे । महाकपिलपञ्चरात्रे तथोक्तेः । विधिनेति स्मृत्युक्तविधिना वैष्णवादिविधिना च । यदाहुः—

प्राङ्मुखो वोदङ्मुखः सूपवीतो बद्ध्वा चूडां जानुमध्यस्थबाहुः ।
तोयं चेक्षन् सूपविष्टोऽथ मौनी स्यादप्रह्वस्त्वेकधीराचमिष्यन् ॥

अदुष्टरसगन्धाद्यैरकीटाफेणवुद्बुदैः ।
अनुष्णैरम्बुभिः शुद्धैराचामेदपि वीक्षितैः ॥

हृत्कण्ठास्यगताः पुनन्ति विबु(वि)धानापो द्विजातीन् क्रमात्
त्रिः पीता वृषल-स्त्रियावपि सकृत् कुण्डानुलोमादिकान् ।
आचम्य त्रिरपस्त्रिवेदपुरुषाः प्रीणन्ति निर्माष्टि यत्
द्विः साथर्व षडङ्गयज्ञपुरुषाः प्रीताः स्युरङ्गुष्ठतः ॥
प्रीणात्यर्कमनामिकानयनयोः स्पर्शात् तथाऽङ्गुष्ठयुक्
साङ्गुष्ठा त्वथ तर्जनी सममिता घ्राणद्वये मारुतम् ।
अङ्गुष्ठेन कनिष्ठिका श्रवणयोराशाश्च नाभेर्वसून्
आत्मानन्तु हृदंसयोर्गिरिमृषीन् मूर्द्धनः समस्ताङ्गुलैः ॥ इति ।

यद्वा वैष्णवाचमनं यथा—केशवाद्यैस्त्रिभिः पीत्वा द्वाभ्यां प्रक्षालयेत् करौ ।
द्वाभ्यामोष्ठौ तु संमृज्येत् द्वाभ्यां मृज्यान्मुखन्तथा ॥
एकेन हस्तं प्रक्षाल्य पादावपि तथैकतः ।
संप्रोक्ष्यैकेन मूद्ध्र्नः ततः सङ्कर्षणादिभिः ॥
आस्यनासाक्षिकर्णांश्च नाभ्युरः कं भुजौ स्पृशेत् ।
एवमाचमनं कृत्वा साक्षान्नारायणो भवेत् ॥
केशवाद्याः पुरा प्रोक्ता वक्ष्ये सङ्कर्षणादिकान् ।
सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः ॥
पुरुषोत्तमाधोक्षजनृसिंहाश्च तथाऽच्युतः ।
जनार्दनोपेन्द्रहरिविष्णवो द्वादशैव ते ॥ इति ।

शाक्तमाचमनं पिङ्गलामते—आचम्य चात्मतत्त्वाद्यैः प्रणवाद्यैः स्वधान्तिमैः ।
मन्त्रैस्त्रेधा ततो वक्त्रं नासाक्षिश्रोत्रनाभिहृत् ॥
मस्तकांसान् स्पृशेदुक्तं हृदा श्रोत्राभिवन्दनम् ।
आत्मविद्याशिवास्तत्त्वाः प्रणवो वाग्भवं मतम् ॥ इति ।

शैवागमे तु—संवीक्ष्य त्रिः पिबेदम्बु ब्रह्मतीर्थेन शम्बरैः ।
स्वधान्तैरात्मतत्त्वाद्यैरात्मविद्याशिवात्मकम् ।
क्रमात् तत्त्वत्रयं विद्यात् ह्रां ह्रीँ ह्रूं शम्बराः क्रमात् ॥ इति ।

सामान्यार्घ्यं विधाय चेति बहिरेव । सामान्यार्घ उक्तो मन्त्रमुक्तावल्याम्—

पात्रमस्त्रेण संशोध्य हृन्मन्त्रेणाभिपूरयेत् ।
तीर्थमावाह्य गन्धादीन् निःक्षिपेत् प्रणवेन तु ।
धेनुमुद्रां दर्शयेच्च सामान्यार्घ उदाहृतः ॥ इति ।

अत्र प्रणवशब्देन यथायथं पञ्चप्रणवानामपि ग्रहणं ज्ञेयम् । तत्र प्रकारः । साधारं पात्रं द्वाराभिमुखं संस्थाप्य ॐ हः द्वारार्घ्यं साधयामीति कृत्वा । पात्रमस्त्रेणेति श्लोकोक्तक्रमोऽनुसन्धेयः । द्वारमिति । अस्त्रमन्त्रमुच्चार्य सामान्यार्घ्यजलेन द्वारं प्रोक्षयेत् । सामान्यास्त्रा(र्घ्या)द्यग्रे वक्ष्यति । अत्र सर्वत्राग्रेऽपि अस्त्रादिप्रस्तुतदेय-मन्त्रास्त्रान्ते अस्त्राय फट् इति सामान्यास्त्रं योजयेत् । एवं सर्वाङ्गमन्त्रेषु । केचनास्त्रादिषु फट्काराद्याः केवलजातीरेवाहुः ॥ ६ ॥

विधिपूर्वक आचमन करने के अनन्तर सामान्यार्घ्य का निर्माण कर अर्घ पात्र को (ॐ हः द्वारार्घ्यं साधयामि) यह मन्त्र पढ़ कर द्वार पर रखे । पुनः यागमण्डप के द्वार को अस्त्र मन्त्र (अस्त्राय फट्) द्वारा प्रक्षालित करे । फिर द्वार की पूजा करे ॥ ६ ॥

द्वारपूजाविधिः

ऊर्ध्वोडुम्बरके विघ्नं महालक्ष्मीं सरस्वतीम् ।
ततो दक्षिणशाखायां विघ्नं क्षेत्रेशमन्यतः ॥ ७ ॥
तयोः पार्श्वगते गङ्गायमुने पुष्पवारिभिः ।
देहल्यामर्चयेदस्त्रं प्रतिद्वारमिति क्रमात् ॥ ८ ॥

द्वारपूजामेवाह ऊद्ध्वेंति । द्वारशाखोपरितनतिर्यक्काष्ठमूर्ध्वोडुम्बरकं देहल्यामुडुम्बरशाखाभिधेया प्रवर्त्तते । साऽप्यूर्ध्वस्थदेहली चेति साम्यात्तत्र लक्षणयोडुम्बरशब्दप्रयोगः । तत्र मध्ये महालक्ष्मीमिति द्वारश्रियम् । पुष्पवारिभिः अर्घ्यजलपुष्पैः प्रपूजयेदिति सम्बन्धः ।

तदुक्तं—'ऊर्ध्वं द्वारश्रियं चेष्ट्वा' इति ।

अन्यत्रापि—'द्वारोपरि नमो द्वारश्रियै तद्दक्षवामयोः । विघ्नं सरस्वतीञ्च' इति ।

तत ऊर्ध्वस्थकोणद्वये दक्षिणादि विघ्नं सरस्वतीं च पूजयेत् । दक्षिणशाखायामिति दक्षिणशाखाधः । अत्र केचन दुर्गापूजामाहुः । अन्यत इति वामशाखाधः । क्षेत्रेशमिति सम्बन्धः । तदुक्तं—

कोणेषु विघ्नं दुर्गाञ्च वाणीं क्षेत्रेशमर्चयेत् । इति ।

तयोरिति विघ्नक्षेत्रेशयोः । पार्श्वगते गङ्गायमुने इत्यनेन पूर्ववत् द्वारादिपूजा सूचिता । सैव क्रमादित्यनेनाग्रे उक्ता । वारि सामान्यार्घ्यजलम् । तारसबिन्दुस्वनाद्यक्षरादि ङेऽन्त-स्वनामनमोऽन्विता एतेषां मन्त्राः । ॐ द्वां द्वारश्रियै नमः इत्यादिप्रयोगः ।

तदुक्तं डामरे— ॐकारबिन्दुमध्यस्थं नामधेयाद्यमक्षरम् ।
देवतानां स्वबीजं तत् पूजायामृद्धिसिद्धिदम् ॥ इति ।

ग्रन्थकृदपि वक्ष्यति 'स्वनामाद्यक्षरादिकाः' इति । एतच्च यत्र बीजं नोक्तं तद्विषयं ज्ञेयम् । देहल्यामिति ॐ ह्रः अस्त्राय फट् नमः इत्यस्त्रपूजा । पुष्पवारिभिरित्येव ।

तदुक्तं—हकाररेफौ च विसर्गवन्तावस्त्राय फट्कारवचस्तदन्ते ।
उक्त्वान्तरे सर्षपमक्षतान् वा पुष्पाणि मुञ्चेदथ चात्र विद्वान् ॥ इति ।

अन्ये तु वास्तुपुरुषपूजामत्रेच्छन्ति । तदुक्तं—

पूज्यो वास्तुपुमांस्तत्र तत्र द्वाः पीठमध्यतः । इति ।

एषां ध्यानं तत्तत्प्रकरणे ज्ञेयम् । अतएवात्र महालक्ष्मीपदप्रयोगः ।

प्रतिद्वारमित्यनेनैतदुक्तम्भवति । यदाहुः—

द्वारस्य शोभनस्याथ शाखयोर्दक्षवामयोः ।
धात्रे विधात्रे गङ्गायै यमुनायै च पूर्वतः ॥
ॐ भद्राय सुभद्राय गोदां कृष्णाञ्च दक्षिणे ।
चण्डाय च प्रचण्डाय रेवां तापीञ्च पश्चिमे ॥
ॐ शङ्खपद्मनिधये वाणीं वेणीं तथोत्तरे ॥ इति ।

सोमशम्भुरपि— स्वनामभिश्चतुर्थ्यन्तैः स्रवन्तीनां द्वयं द्वयम् । इति ।

अन्यत्र तु— भद्रं सुभद्रं गङ्गाञ्च यमुनां द्वारशाखयोः ।
चतुर्थ्यन्तं नमोऽन्तञ्च प्राग्द्वारे सम्प्रपूजयेत् ॥
बलप्रबलचिच्छक्तिमायाशक्तिस्तथैव च ।
चतुर्थ्यन्तं नमोऽन्तञ्च दक्षिणद्वारि पूजयेत् ॥
चण्डं प्रचण्डं गौरीञ्च श्रियञ्च द्वारशाखयोः ।
चतुर्थ्यन्तं नमोऽन्तञ्च पश्चिमे सम्प्रपूजयेत् ॥
जयञ्च विजयञ्चैव शङ्खपद्मनिधी तथा ।
चतुर्थ्यन्तं नमोऽन्तञ्च उत्तरे सम्प्रपूजयेत् ॥ इति ।

केचन वक्ष्यमाणद्वारपालपूजामपि नित्यमाहुः । एतत्सर्वं नित्यपूजायामपि समानं ज्ञेयम् । यदाहुः—विधेयमेतत् सर्वत्र स्थापितेषु विशेषतः । इति ।

दीक्षायान्तु विशेषस्तन्त्रान्तरोक्तः ।

वैष्णवादिप्रभेदेन द्वारपालान् समर्चयेत् ।
प्रतिद्वारं पार्श्वयोस्तु द्वौ द्वावष्टाविति क्रमात् ॥
नन्दः सुनन्दश्चण्डाख्यः प्रचण्डो बलनामकः ।
प्रबलो भद्रनामा च सुभद्रो वैष्णवा मताः ॥
अथ नन्दिमहाकालौ गणेशवृषभौ पुनः ।
ततो भृङ्गिरिटिः स्कन्दः पार्वतीशश्च सप्तमः ॥
चण्डेश्वरोऽष्टमः शैवा द्वारपालाः क्रमादमी ।
वक्रतुण्डैकदंष्ट्रौ च महोदरगजाननौ ॥
लम्बोदराख्यविकटौ विघ्नराजश्च सप्तमः ।
धूम्रराजोऽष्टमो ज्ञेयो गाणपत्या इति क्रमात् ॥
ब्राह्मयाद्या मातरः प्रोक्ताः शाक्तेया द्वारपालकाः ॥ इति ।

अन्ये तु गोपालरामचन्द्रद्वारपालानन्यानाहुः—

चण्डप्रचण्डौ प्राग् धातृविधातारौ च दक्षिणे ।
जयश्च विजयः पश्चाद् बलः प्रबल उत्तरे । इति ॥ ७-८ ॥

सर्वप्रथम द्वार के ऊपर ऊर्ध्वोडुम्बरक काष्ठ में विघ्न, महालक्ष्मी, और महासरस्वती की पूजा करे । फिर द्वार के दक्षिण भाग में विघ्न और क्षेत्रेश की पूजा करे ॥ ७ ॥

विमर्श—द्वार के दोनों खम्भों पर ऊपर तिरछे लगे हुये काष्ठ को ऊर्द्धोडुम्बरक कहते है ।

द्वार के वाम भाग में पुष्प के जल से गङ्गा और यमुना की पूजा करे । तदनन्तर देहली में 'ॐ ह्रः अस्त्राय फट् नमः' इस मन्त्र को पढ़कर अस्त्र की पूजा करे ॥ ८ ॥

विघ्नापसारणम्

अनन्तरं देशिकेन्द्रो दिव्यदृष्ट्यवलोकनात् ।
दिव्यानुत्सारयेद् विघ्नानस्त्रादिभिश्चान्तरीक्षगान् ॥ ९ ॥

अयश्चानन्तरमित्यनेन सूचितः । देशिकेन्द्र इत्यनेन सदाशिवमात्मानं विचिन्त्येत्युक्तम् । सदाशिवरूपस्वदृष्ट्यवलोकनमेव दिव्यदृष्ट्यवलोकनम् । अद्भिरिति सामान्यार्घ्य जलैः ॥ ९ ॥

पुनः आचार्य अपने में शिव की भावना करते हुये अपनी दिव्य दृष्टि से मण्डपस्थ दिव्य विघ्नों को दूर करे और सामान्य अर्घ्य पात्र के जल से अन्तरिक्ष में रहने वाले विघ्नों को दूर करे ॥ ९ ॥

पार्ष्णिघातैस्त्रिभिर्भौमानिति विघ्नान्निवारयेत् ॥ १० ॥

पार्ष्णिघातैरिति । तत्रायं मन्त्रः—

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भूमिसंस्थिताः ।
ये भूता विघ्नकर्त्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ॥
अपक्रमन्तु भूतानि पिशाचाः सर्वतो दिशम् ।
सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभे ॥ इति ।

वशिष्ठसंहितायामपसर्पन्त्वित्यादि पठित्वोक्तम्—

पार्ष्णिघातत्रयं कृत्वा मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् ।
भूतसङ्घान् समुत्सार्य संविशेदासने बुधः ॥ इति ।

सोमशम्भौ तु— दक्ष पार्ष्णेस्त्रिभिर्घातैर्भूमिष्ठांस्त्रिविधानपि । इति ।

इत्येवं प्रकारेण विघ्नान् त्रिविधानपीति ॥ १० ॥

तीन पादाघात पृथ्वी पर देकर 'अपसर्पन्तु ते भूताः' आदि मन्त्र से भूमिगत समस्त विघ्नों को दूर करे ॥ १० ॥

गृहप्रवेशः

किञ्चित् स्पृशन् वामशाखां देहलीं लङ्घयेद् गुरुः ।
अङ्गं सङ्कोचयन्नन्तः प्रविशेद्दक्षिणाङ्घ्रिणा ॥ ११ ॥

अङ्गमिति वामाङ्गम् । सङ्कोचयन्निति निःसरद्विघ्नावकाशदानाय ।

तदुक्तं—उत्सारितानां विघ्नानां ददद्वर्त्म तु वामतः । इति ।

अन्यत्रापि—निर्गच्छतां विघ्नकृतामथैषां वामाङ्गसङ्कोचनचेष्टितेन ।
प्रदाय मार्गम् । इति ।

तथान्यत्रापि— वामतः निःसार्य विघ्नसङ्घञ्च । इति । अन्तः स्पृशन्नित्यादित्रयं दृष्टार्थं देहल्यामपि देवस्य पूजितत्वात् ॥ ११ ॥

इस प्रकार समस्त विघ्नों का उत्सारण कर गुरु अपने अङ्गों को संकुचित करते हुये द्वार के वाम भाग का स्पर्श करते हुये स्वयं देहली को पार करे । मण्डप के भीतर दाहिना पैर रख कर प्रवेश करे ॥ ११ ॥

नैर्ऋत्यां दिशि वास्त्वीशान् ब्रह्माणञ्च समर्चयेत् ।
पञ्चगव्यार्घ्यतोयाभ्यां प्रोक्षयेद् यागमण्डपम् ॥ १२ ॥

वास्त्वीशमिति तत्तत्क्षेत्रस्य क्षेत्रपालम् । ते च मया क्षेत्रपालमन्त्रे वक्ष्यन्ते । दिव्यदृष्टीत्यादिब्रह्मार्चनान्तं नित्यपूजायामपि समानम् । पञ्चगव्येति । पञ्चगव्यप्रकार-मेकविंशे वक्ष्यति । अर्घ्यतोयं सामान्यार्घ्यजलम् । प्रोक्षयेदिति देयमन्त्रेण ।

तदुक्तम् नारायणीये—गव्येन प्रोक्षयेद्दीक्षास्थानं मन्त्रेण शोधितम् ।

इति ॥ १२ ॥

मण्डप के नैर्ऋत्य दिशा में क्षेत्रपाल और ब्रह्मदेव का पूजन करे । तदनन्तर पञ्चगव्य और अर्घ्य स्थित जल से याग मण्डप का प्रोक्षण करे ॥ १२ ॥

चतुष्पथान्तं तच्छुद्धिं विदध्याद् वीक्षणादिना ।
वीक्षणं मूलमन्त्रेण शरेण प्रोक्षणं मतम् ॥ १३ ॥
तेनैव ताडनं दर्भैर्वर्मणाऽभ्युक्षणं मतम् ।
चन्दनागुरुकर्पूरैर्धूपयेदन्तरं सुधीः ॥ १४ ॥
विकिरान् विकिरेत् तत्र सप्तजप्तांश्छराणुना ।
लाजाचन्दनसिद्धार्थभस्मदूर्वाङ्कुशाक्षताः ॥ १५ ॥
विकिरा इति सन्दिष्टाः सर्वविघ्नौघनाशनाः ।
अस्त्रजप्तेन दर्भाणां मुष्टिना मार्जयेच्च तान् ॥ १६ ॥

चतुष्पथान्तमिति पूर्वेण सम्बध्यते । तत्र मण्डपाद्बहिः आतोरणस्तम्भहस्तमात्रा व्यवहारभूश्चतुष्पथशब्दवाच्या । वीक्षणादिभिश्चतुर्भिस्तच्छुद्धिं मण्डपशुद्धिं कुर्यात् । अत्रापि चतुष्पथान्तमित्यन्वेति । वीक्षणादीनेवाह वीक्षणमिति । मूलमन्त्रेणेति देय-मन्त्रेण । शरेणेत्यस्त्रमन्त्रेण । वर्मणेति कवचमन्त्रेण । प्रोक्षणाभ्युक्षणस्वरूपमग्रे वक्तव्यम् । ते च सामान्यार्घ्यजलेनैव । अन्तरमिति मण्डपमध्यम् । सुधीरित्यग्रिमेण सम्बध्यते । अनेन च सोमशम्भूक्तो विशेषः सूचितः ।

तत्रेति मण्डपमध्ये । शराणुनेत्यस्त्रमन्त्रेण । अणुशब्दो मन्त्रपर्याय आगमशास्त्रे। सिद्धार्था गौरसर्षपाः । भस्म गोमयभस्म । सर्वविघ्नौघनाशना इति ध्यानम् ।

अस्त्रजप्तेनेति सप्तेत्यनुषज्यते । मार्जयेच्चेति चकारेण विकिरानित्यनुषज्यते । तानित्युत्तरेण सम्बध्यते । सोमशम्भौ तु विशेषः—

विकिरान् शुद्धलाजान् वा सप्तशस्त्राभिमन्त्रितान् ।
अस्त्राम्बुप्रोक्षितानेतान् कवचेनावगुण्ठतान् ॥
नाना प्रहरणाकारान् विघ्नौघविनिवारकान् ।
दर्भाणां तालमानेन कृतान् षट्त्रिंशता दलैः ।
सप्तजप्तान् शिवास्त्रेण मुष्टिं तेन तु मार्जयेत् (बोधासिमुत्तमम्) ॥

इति । विकिरणमार्जने देयमन्त्रेण ॥ १३-१६ ॥

आचार्य मूल मन्त्र पढ़कर चतुष्पथ पर्यन्त भूमि को स्ववीक्षणादि द्वारा शुद्ध करे । पुन: अस्त्र मन्त्र ॐ हः (अस्त्राय फट्) तथा कवच मन्त्र (कवचाय हुँ) को पढ़कर याग मण्डप का प्रोक्षण करे ॥ १३ ॥

विमर्श—मण्डप से बाहर तोरण स्तम्भ पर्यन्त एक हाथ की भूमि को चतुष्पथ कहते हैं ॥ १३ ॥

अस्त्र मन्त्र पढ़कर दर्भ से ताडन करे और कवच मन्त्र पढ़ कर अभ्युक्षण करने के पश्चात् बुद्धिमान् आचार्य चन्दन, अगुरु तथा कपूर का धूप देवे ॥ १४ ॥

पुन: अस्त्र मन्त्र को सात बार पढ़ कर कुछ विकिरों को यज्ञ मण्डप में विकीर्ण करे । लावा-चन्दन, सिद्धार्थ (पीली सरसों), भस्म, दूर्वा, और अक्षत ये विकिर कहे जाते हैं । ये विकिर, सभी विघ्नों का नाश करने वाले हैं, अत: अस्त्र मन्त्र मढ़कर दर्भयुक्त मुष्टि से उन विकिरों का मार्जन करना चाहिए ॥ १५-१६ ॥

वर्द्धन्यासनम्

ईशस्य दिशि वर्द्धन्या आसनाय प्रकल्पयेत् ।
पुण्याहं वाचयित्वा तु ब्राह्मणान् परितोष्य च ॥ १७ ॥
उक्तेषु मण्डलेष्वेकं वेदिकायां समालिखेत् ।
विशेन्मृद्वासने मन्त्री प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ॥ १८ ॥

ईशस्येति । सनालं पात्रं वर्द्धनी तस्या आसनाय । ईशस्य दिशीति ऐशान्याम् । तान् विकिरान् प्रकल्पयेत् स्थापयेदिति सम्बन्धः । पुण्याहमिति । पुण्याहवाचनं तृतीयपटलोक्तम् ॥ १७ ॥

एकमिति मण्डलम् । एतावद्दीक्षायामेव । विशेदित्युपविशेत् । मृद्वासन इति अनुद्वेगाय इति दृष्टार्थम् । उद्वेगे सति तत्रैव मनोयाति न तु जपपूजादौ । मन्त्रीत्यनेनैतदुक्तम् । अनन्तासनाय नमः । विमलासनाय नमः । पद्मासनाय नमः इति जप्तान् कुशानासने दत्त्वा आसनं सम्पूज्य । आसनमन्त्रस्य मेरुपृष्ठ ऋषिः सुतलं छन्दः कूर्मो देवता आसनोपवेशने विनियोगः ।

ॐ पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता ।
त्वञ्च धारय मां नित्यं (देवि) पवित्रं कुरु चासनम् ॥

इति आसनमन्त्रेणोपविशेदिति । तदुक्तम्—

तदासनस्यर्षि मुशन्ति कूर्मं छन्दस्तथा स्यात् सुतलं सुधीशः ।
प्रोक्ता तु पृथ्वी किल देवताऽस्य जपादिकर्मण्युपयोग उक्तः ॥ इति ।

तत्रासनानि तन्त्रान्तरोक्तानि—

कौशेयं वाऽथ चैलं वा चार्मं तौलमथापि वा ।
वेत्रजं तालपत्रं वा काम्बलं दार्भमासनम् ॥
वंशाश्म-दारु-धरणी-तृण-पल्लवनिर्मितम् ।
वर्जयेदासनं मन्त्री दारिद्र्य-व्याधि-दुःखदम् ॥
धर्मार्थकाममोक्षाप्तिश्चैलाजिनकुशोत्तरे ॥ इति ।

दार्वासनेऽन्यत्र विशेष उक्तः—

यतीनामासनं श्लक्ष्णं कूर्माकारन्तु कारयेत् ।
अन्येषान्तु चतुष्पादं चतुरस्रन्तु कारयेत् ॥
गोशकृण्मृण्मयं भिन्नं तथा पालाशपिप्पलम् ।
लोहविद्धं सदैवार्कं वर्जयेदासनं बुधः ॥
दानमाचमनं होमं भोजनं देवतार्चनम् ।
प्रौढपादो न कुर्वीत स्वाध्यायञ्चैव तर्पणम् ॥
आसनारुढपादस्तु जानुनोर्वाऽथ जङ्घयोः ।
कृतावसक्थिको यस्तु प्रौढपादः स उच्यते ॥ इति ॥ १८ ॥

इतनी क्रिया कर लेने के पश्चात् वर्द्धनी रखने के लिये शेष विकिरों को ईशान कोण में आसन के रूप में रखना चाहिए । तदनन्तर पुण्याहवाचन कर ब्राह्मणों को दक्षिणा से संतुष्ट कर वेदिका के ऊपर कहे गये मण्डलों में किसी एक मण्डल (सर्वतोभद्र) का निर्माण करे ॥ १७-१८ ॥

बद्ध पद्मासनो मौनी समाहितजितेन्द्रियः।
स्थापयेद्दक्षिणे भागे पूजाद्रव्याणि देशिकः ॥ १९ ॥

बद्धपद्मासन इति । पद्मासनमन्त्ये वक्ष्यति । 'अङ्गुष्ठौ च निबध्नीयाद्धस्ताभ्याम्' इत्ययं भागो योग एवोपयुक्तः सोऽत्र नास्ति । तन्त्रान्तरे पद्मासनलक्षणस्य तथैवोक्तत्वात्—

सव्यं पादमुपादाय दक्षिणोपरि विन्यसेत् ।
तथैव दक्षिणं सव्यस्योपरिष्टान्निधापयेत् ॥
विष्टभ्य कट्योः पार्ष्णी तु नासाग्रन्यस्तलोचनः ।
पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामपि पूजितम् ॥

पद्मासन इत्युपलक्षणम् । यदाहुः—

पद्म-स्वस्तिक-वीरादिष्वेकासनसमास्थितः ।
जपार्चनादिकं कुर्यादन्यथा निष्फलं भवेत् ॥ इति ।

मौनमित्यनेन रागप्राप्तसम्भाषणनिषेधः । तदुक्तम्—

सभ्यैरपि न भाषेत जपहोमार्चनादिषु । इति ।

समाहितः सावधानश्चासौ जितेन्द्रियश्चेति विशेषणसमासः । पूजाद्रव्याणि पुष्पादीनि । देशिक इत्युत्तरेण सम्बध्यते । अनेनार्घ्यपाद्याचमनमधुपर्काचमनपात्राण्यपि सव्ये स्थापयेदित्युक्तम् ॥ १९ ॥

मन्त्रवेत्ता स्वयं पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख हो कोमल आसन पर पद्मासन लगा कर, मौन हो, अपनी इन्द्रियों को वश में रख कर सुखपूर्वक बैठे और अपनी दाहिनी ओर पुष्पादि पूजा के समस्त उपकरणों को स्थापित करे ॥ १९ ॥

पात्रासादनम्

सुवासिताम्बुसम्पूर्णं सव्ये कुम्भं सुशोभनम् ।
प्रक्षालनाय करयोः पश्चात् पात्रं निवेशयेत् ॥ २० ॥
घृतप्रज्ज्वालितान् दीपान् स्थापयेत् परितः शुभान् ।
दर्पणं चामरं छत्रं तालवृन्तं मनोहरम् ॥ २१ ॥
मङ्गलाङ्कुर पात्राणि स्थापयेद्दिक्षु देशिकः ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वामदक्षिणपार्श्वयोः ॥ २२ ॥

भूतशुद्धिः

नत्वा गुरून् गणेशानं भूतशुद्धिं समाचरेत् ।
करशुद्धिं समासाद्य पश्चात्तालत्रयं ततः ॥ २३ ॥
उर्ध्वोर्ध्वमस्त्रमन्त्रेण दिग्बन्धमपि देशिकः ।
तेन सञ्जनितं तेजो रक्षां कुर्यात् समन्ततः ॥ २४ ॥

सुवासितमिति कर्पूरादिना ॥ २० ॥

मनोहरमिति दर्पणादीनां चतुर्णामपि विशेषणम् । दर्पणं स्थापयेदित्यादि-रन्वयः । विशेदित्यादि । एतदन्तं नित्यपूजायामपि समानम् ॥ २१ ॥

मङ्गलेति । मङ्गलानि मङ्गलरूपाणि यानि अङ्कुरपात्राणि उक्तरीत्या उप्त-बीजानि तानि दिक्षु स्थापयेत् । देशिक इत्यनेनैतदुक्तं भवति । उक्तक्रमेण पूर्वादिदिशि एवं त्रिरावृत्त्येति । तेषामिदमेव प्रतिपत्तिकर्म इदं दीक्षायामेव । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वामदक्षिणपार्श्वयोः । गुरुं गणेशानं नत्वेति सम्बन्धः । तत्र प्रयोगः । ॐ गुं गुरुभ्यो नमः । ॐ गं गणपतये नमः ।

तदुक्तमाचार्यैः—गुर्वाद्यास्तारादिका याग(येऽङ्ग) मन्त्रा लोकेशान्तास्ते चतुर्थी-नमोऽन्ताः । पूजायां स्युर्वह्निकार्ये द्विठान्ताः । इति ।

अत्र वह्निकार्ये द्विठान्ता इत्युक्तेः वक्ष्यमाणाग्निजिह्वादीनामपि संग्रहः । तदनन्तरं लोकेशमन्त्रैर्होमविधानात् ॥ २२ ॥

गुरूनिति बहूक्त्या गुरुपरमगुरुपरापरगुरुपरमेष्ठिगुरवो गृह्यन्ते । यदाहुः—

तत आदित आरभ्य नमेद् गुरुपरम्पराम् । इति ।

तत इमां ऋचं पठेत्—

'ॐनमो महद्भ्यो नमोऽर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः ।

यजाम देवान् यदि शक्नुवाम मा ज्यायसः शं समावृक्षि(चक्ष्व) देवाः ।' इति।

करशुद्धिमिति । अत्र करशुद्ध्यादिषु त्रिषु अस्त्रमन्त्रेणेति सम्बद्ध्यते । तत्र करशुद्धिर्नामाऽङ्गुष्ठादिष्वङ्गुलिषु उभयकरान्तः उभयकरबाह्ययोरुभयकरपार्श्वद्वये अस्त्रमन्त्रस्य व्यापकत्वेन न्यासः । तदुक्तम्—

व्याप्यव्यापकयोर्हस्तयोर्मन्त्रमन्तर्बाह्ये पार्श्वे । इति ॥ २३ ॥

दिग्बन्धमिति । नाराचमुष्ट्युद्धृततर्ज्जन्या दशदिशि अस्त्रमन्त्रन्यासः ।

तदुक्तं प्रयोगसारे—आच्छाद्य दिक्षु तर्ज्जन्या ज्येष्ठाग्रस्खलिताग्रया । इति ।

अन्यत्रापि— अङ्गुष्ठमग्रं यदि मध्यमाग्रं स्पृशेत् स्युरन्याङ्गुलयस्त्वलग्नाः ।
तदा भवेत् भूतनिषूदनस्य नाराचनाम्नोऽस्त्रवरस्य मुद्रा ॥ इति ।

अन्यत्र विशेषः— प्रणवहृदोरवसाने सचतुर्थिं सुदर्शनं तथाऽस्त्रपदम् ।
उक्त्वा फडन्तमनुना कल्पयेच्च दशहरितः ॥ इति ।

देशिक इत्यनेन सुदर्शनमन्त्रेण वक्ष्यमाणाग्निप्राकारमन्त्रेणापि अग्निप्राकारं कुर्यादिति सूचितम् । अग्निप्राकारमुद्रोक्ता प्रयोगसारे—

त्रिशूलाग्रौ करौ कृत्वा व्यत्यस्तावभितो नयेत् ।
अस्त्रमुद्रेयमाख्याता वह्निप्राकारलक्षणा ।
परद्रोहोपशमनी नागाशनिभयापहा ॥ इति ।

तदुक्तं—ततोऽस्त्रमन्त्रेण विशोध्य पाणित्रितालदिग्बन्धहुताशशालाम् । इति ।
एषां फलमाह तेनेति ॥ २४ ॥

बाईं ओर कर्पूरादि से सुवासित शोभा युक्त जलपूर्ण घट स्थापित करे । हस्तप्रक्षालन के लिये पीछे की ओर जलपात्र स्थापित करे । घी से जलते हुये शोभा युक्त दीपों को अपने चारों ओर स्थापित करे और दिशाओं में मनोहर दर्पण, मनोहर चामर, मनोहर छत्र, मनोहर ताड़पत्र का पंखा और मनोहर मङ्गलांकुर पात्रों को भी स्थापित करे ॥ २०-२२ ॥

पुनः हाथ जोड़कर अपनी बाईं ओर तथा दाहिनी ओर (ॐ गुं गुरुभ्यो नमः, ॐ गं गणपतये नमः इस मन्त्र से) गुरु तथा गणपति को नमस्कार कर भूतशुद्धि करे । इस प्रकार हाथ शुद्ध कर लेने के पश्चात् अस्त्र मन्त्र पढ़कर (त्रिशूलाग्र अंगुलि करके अस्त्रमुद्रा से) ऊपर और नीचे तीन ताल दे कर दिग्बन्धन करे । क्योंकि उस ताल से उत्पन्न तेज चारों ओर से यज्ञकर्त्ता की रक्षा करता है ॥ २२-२४ ॥

परमात्मन्यात्मयोजनम्

सुषुम्णावर्त्मनात्मानं परमात्मनि योजयेत् ।
योगयुक्तेन विधिना चिन्मन्त्रेण समाहितः ॥ २५ ॥

कारणे तत्त्वचिन्ता

कारणे सर्वभूतानां तत्त्वान्यपि च चिन्तयेत् ।
बीजभावेन लीनानि व्युत्क्रमात् परमात्मनि ॥ २६ ॥

सुषुम्णेति । समाहितः सुषुम्णावर्त्मना कुण्डलिन्या आत्मानं योगयुक्तेन विधिना चिन्मन्त्रेण परमात्मनि योजयेदिति सम्बन्धः । तत्रात्मानं जीवात्मानं हृदयकमलस्थितमित्यर्थः ।

यदाहुः— हृदम्बुजे ब्रह्मकन्दसम्भूते ज्ञाननालके ।
आराग्रमात्रो जीवस्तु चिन्तनीयो मनीषिभिः ॥ इति ।

योगयुक्तेन विधिना इत्यस्यायमर्थः । गुरूपदिष्टमार्गेण हूँकारेण कुण्डलिनीमुत्थाप्य तां हृदयकमलगतां विभाव्य ततो जीवं मुखे गृहीत्वा सहस्रारगतां विभावयेत् । अत एव समाहित इत्युक्तिः । चिन्मन्त्रेण वक्ष्यमाणात्ममन्त्रेण ।

यदाहुः— नेतव्यो हंसमन्त्रेण द्वादशान्ते सितः परः । इति ।

अन्यत्रापि— जीवं स्वाब्जे स्वनाड्या स्वनिलयत उदनीय तं हंसेन । इति ।

अन्यत्रापि—संयोज्य जीवमथ दुर्गममध्यनाडीमार्गेण पुष्करनिविष्टशिवे सूसूक्ष्मे ।
हंसेन । इति । परमात्मनि सहस्रारकर्णिकागते इत्यर्थः ॥ २५ ॥

कारण इति । सर्वभूतानां कारणे परमात्मनि बीजभावेन व्युत्क्रमात् लीनानि तत्त्वानि पृथिव्यादीनि चिन्तयेदित्यन्वयः । तत्र सृष्ट्यपेक्षया व्युत्क्रमः । सर्वत्र कार्यस्य कारणे लयो दृष्टः । अत एव प्रथमपटले सृष्ट्युक्तिः । विना सृष्टिं कार्यकारणाज्ञानात्। अतएव सर्वभूतानां कारण इति विशेषणोक्तिः । अपिशब्दाद्वर्णानिपि ।

यदुक्तम्—सङ्कल्प्यैवं ततो न्यासस्थानाद् वर्णांश्च संहरेत् ।

तत्क्रमश्च तन्त्रे—

प्रतिलोमेन क्षलयो लकारेऽस्य हकारके ।
हकारस्य सकारेऽथ सकारस्य षकारके ॥
क्रमेणाऽकारपर्यन्तं लयमुत्पाद्य यत्नतः ।
अकारं ब्रह्मरन्ध्रे च सहस्रारे नियोजयेत् ॥ इति ।

चकारः पूर्वसमुच्चये ॥ २६ ॥

पुनः समाहित चित्त हो गुरूपदिष्ट मार्ग से कुण्डलिनी को ऊपर उठाकर सहस्रार की कर्णिका में ले जाकर वहाँ पर रहने वाले परमात्मा में अपनी आत्मा को चिन्मन्त्र के द्वारा संयुक्त करे ॥ २५ ॥

समस्त कार्य अपने कारण में लय को प्राप्त होते हैं, इस नियम के अनुसार समस्त बीज तत्त्व, जिसमें संहार काल में लीन रहते हैं और जो समस्त भूतों का कारण है, उस परमात्मा में पृथ्व्यादि तत्त्वों का भी ध्यान करे ॥ २६ ॥

ततः संशोषयेद् देहं वायुबीजेन वायुना।
वह्निबीजेन तेनैव संहरेत् सकलां तनुम्॥ २७ ॥
विश्लेषयेत् तदा दोषानमृतेनामृताम्भसा।
आप्लाव्याप्लावयेद् देहमापादतलमस्तकम् ॥ २८ ॥

तत इति । वायुबीजेन यकारेण । वायुना तदुत्थेनेत्यर्थः । अनेन पूरक उक्तः। वह्निबीजेन रेफेण । तेनैवेत्यग्निबीजोत्थाग्निना सकलां स्वकलुषरूपपापपुरुषसहितां तनुं निर्दहेत् । पापपुरुषध्यानं यथा—

ब्रह्महत्याशिरस्कञ्च स्वर्णस्तेयभुजद्वयम् ।
सुरापानहृदा युक्तं गुरुतल्पकटिद्वयम् ॥
तत्संयोगिपदद्वन्द्वमङ्गप्रत्यङ्गपातकम् ।
उपपातकरोमाणं रक्तश्मश्रुविलोचनम् ॥
खड्गचर्मधरं पापमङ्गुष्ठपरिमाणकम् ।
अधोमुखं कृष्णवर्णं दक्षकुक्षौ विचिन्तयेत् ॥ इति ।

अनेन कुम्भक उक्तः ॥ २७ ॥

तदा दाहे जाते दोषान् दोषस्वरूपपापपुरुषभस्म विश्लेषयेदित्यनेन रेचक उक्तः । तत्र भस्मविश्लेषोऽपि वायुबीजेनेति ज्ञेयम् । यदाहुराचार्याः—पूर्वविधिना मुञ्चेत् । इति ।

नागभट्टोऽपि— सास्यादिनाथमरुताऽपनयन्नशेषं तद्भस्मराशिम् । इति ।

गणेश्वरविमर्शिन्यामपि—तद्भस्मकूटमखिलं वायुबीजोत्थवायुना । विकीर्य । इति ।

अन्यत्रापि— तदुद्यद्वसुवपुरनलप्लुष्टदेहोऽनिलेन तद्भस्मोत्क्षिप्य । इति ।

अत्र स्थानत्रये षोडशचतुःषष्टिद्वात्रिंशत्संख्याक्रमेणेति केचित् । अन्ये द्वादश पञ्चाशत् पञ्चविंशतिसंख्येत्यूचुः । तदुक्तं संहितायाम्—

मरुदग्निसुधाबीजैः पञ्चाशन्मात्रमात्रकम् । इति ।

आचार्याश्च— अथवा शोषणदहनप्लावनभेदेन शोधिते देहे ।
पञ्चाशद्भिर्मात्राभेदैर्विधिवत् समानये(यमे)त् प्राणान् ॥
पञ्चाशदात्मकोऽपि च कलाप्रभेदेन तार उद्दिष्टः ।
तावन्मात्रायमनात् कलाश्च विधृता भवन्ति तत्त्वविदा ॥ इति ।

केचित्तु स्थानत्रयेऽपि प्रत्येकं त्रिविधं प्राणायाममपीच्छन्ति । अमृतेनामृतबीजेन वं इत्यनेन । अमृताम्भसा तदुत्थेनामृतेन आपादतलमस्तकं देहमाप्लाव्याप्लावयेदिति सम्बन्धः ॥ २८ ॥

तदनन्तर वायुबीज (यँ) इस मन्त्र को पढ़कर वायु को ऊपर उठा कर पूरक के द्वारा शरीर का शोषण करे। वह्नि बीज (रँ) इस मन्त्र को पढ़कर साधक अपने कलुष सहित पाप को कुम्भक के द्वारा जला देवे ॥ २७ ॥

इस प्रकार पापपुरुष का दाह कर रेचक के द्वारा वायु बीज (यँ) से उस पाप पुरुष को अपने शरीर से बाहर निकाल देवें। पुनः अमृत बीज (वँ) इस मन्त्र को पढ़कर अमृत रूप जल को पाद से लेकर मस्तक पर्यन्त समस्त शरीर में प्रवाहित करते हुये शरीर को अमृत रस से परिपूर्ण करे ॥ २८ ॥

आत्मलीनतत्त्वानां स्वस्थानप्रापणम्

आत्मलीनानि तत्त्वानि स्वस्थानं प्रापयेत्तदा।

जीवात्मनो हृदयाम्भोजे आनयनम्

आत्मानं हृदयाम्भोजमानयेत् परमात्मनः ॥ २९ ॥

स्वस्थानमिति सृष्टिक्रमेण प्रथमपटलोक्तरीत्या। तदेत्यनेन अकारादिक्षान्तान् वर्णान् अपि सृष्टिक्रमेण स्वस्थानं प्रापयेदित्युक्तम्। तदुक्तं—

अमुतः सकलार्णमयीं लपरजपान्निपात्य रचयेच्च तया।
सकलं वपुरमृतौघवृष्टिमिति। इत्यारचय्य वपुरर्णशतार्द्धकेनेति।

परमात्मनः सकाशात् हंसदेवस्य मनुना आत्मानं हृदयाम्भोजमानयेदिति सम्बन्धः। हंसस्य जीवस्य देवः परमात्मा उपास्यत्वात्। तेन मन्त्रेण सोऽहम् इत्यनेन। यद्वा परमात्मनः मनुना इति सम्बध्यते इति पूर्वं परमात्मनि योजयेदित्युक्तम्। तत इत्यर्थाल्लभ्यते। हंसदेवस्य इत्यग्रिमेण सह सम्बध्यते।

तदुक्तं वशिष्ठसंहितायाम्—

सोहं मन्त्रेण तामाद्यां(मण्वी) नादान्ते सिद्धभाविताम्।
ध्वात्वैवं ब्रह्मरन्ध्राच्च हृदि जीवकलां न्यसेत् ॥ इति।

गणेश्वरविमर्शिन्यामपि—सोऽहंधियाऽऽत्मचैतन्यं समानीय चिदम्बरात्। इति।

तत्र गुरूपदेशतः प्रकारो लिख्यते—श्रीदेवपूजाद्यधिकारसिद्धये भूतशुद्ध्यादिकं करिष्ये इति सङ्कल्प्य मूलाधारादुत्थितां विद्युत्सहस्रप्रभाभासुरां बिसतन्तुरूपां सुषुम्णामार्गेण हृदयकमलमागतां कुण्डलिनीं विभाव्य हृदयकमलाज्जीवं प्रदीपकलिकाकारं गृहीत्वा द्वादशान्ताम्बुजात् सहस्रदलं गतां विभाव्य तत्र जीवात्मानं हंसमन्त्रेण परमात्मनि योजयेत्। ततः पादादिजानुपर्यन्तं चतुरस्रं पीतं पृथिवीमण्डलं तत्र पादगमनक्रियागन्तव्यगन्धघ्राणपृथिवीब्रह्मनिवृत्तिसमानवायून् संस्मृत्य ॐ ह्रां ब्रह्मणे पृथिव्यधिपतये निवृत्तिकलात्मने हुं फट् स्वाहा इत्यमुं मन्त्रमुच्चार्य तान् सर्वान् कुण्डलिनीद्वारा अप्सु प्रविलापयामीत्यपां स्थाने संहरेत्। जान्वादिनाभिपर्यन्तं शुक्लमर्द्धचन्द्राकारं जलमण्डलं तत्र हस्तादानादातव्यरसरसनाजलविष्णुप्रतिष्ठोदानान् स्मृत्वा ॐ ह्रीँ विष्णवे जलाधिपतये प्रतिष्ठाकलात्मने हुं फट् स्वाहा इत्यमुं मन्त्रमुच्चार्य तान् सर्वान् कुण्डलिनीद्वारा अग्नौ प्रविलापयामीत्यग्निस्थाने संहरेत्।

नाभ्यादिहृदयपर्यन्तं त्रिकोणं वह्निमण्डलं रक्तवर्णं तत्र पायुविसर्गविसर्जनीयरूप-चक्षुस्तेजोरुद्रविद्याव्यानान् संस्मृत्य ॐ ह्रूं रुद्राय तेजोऽधिपतये विद्याकलात्मने हुं फट् स्वाहा इत्यमुं मन्त्रमुच्चार्य तान् सर्वान् कुण्डलिनीद्वारा वायौ प्रविलापयामीति वायुस्थाने संहरेत् । ततो हृदयादिभ्रूपर्यन्तं कृष्णं वर्त्तुलं षड्बिन्दुलाञ्छितं वायुमण्डलं तत्रोपस्थानन्दतद्विषयस्पर्शस्पृष्टव्यवाय्वीश्वरशान्त्यपानान् संस्मृत्य ॐ ह्रैं ईशानाय वाय्वधिपतये शान्तिकलात्मने हुं फट् स्वाहा इत्यमुं मन्त्रमुच्चार्य तान् सर्वान् कुण्डलिनीद्वारा आकाशे प्रविलापयामीत्याकाशस्थाने संहरेत् । ततो भ्रूमध्याद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं स्वच्छं वर्त्तुलम् आकाशमण्डलं तत्र वाग्वदनवक्तव्यशब्दश्रोत्राकाश सदाशिवशान्त्यतीताप्राणान् संस्मृत्य ॐ ह्रौं सदाशिवाकाशाधिपतये शान्त्यतीता-कलात्मने हुं फट् स्वाहा इत्यमुं मन्त्रमुच्चार्य तान् सर्वान् अहङ्कारे प्रविलाप-यामीत्यहङ्कारे प्रविलाप्य तमहङ्कारं महत्तत्त्वे प्रविलाप्य महत्तत्त्वं मातृकासंज्ञक-शब्दब्रह्मस्वरूपायां हृल्लेखार्थभूतायां प्रकृतौ प्रविलापयामीति प्रविलाप्य तां तथाविधां नित्यबुद्धशुद्धस्वभावे स्वप्रकाशे सत्यज्ञानानन्तानन्दलक्षणे परमकारणे परब्रह्मणि प्रविलापयामीति प्रविलापयेत् । तुदक्तं मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

गन्धादि घ्राणसंयुक्तां पृथिवीमप्सु संहरेत् ।
रसादि जिह्वया सार्द्धं जलमग्नौ विलापयेत् ॥
रूपादि चक्षुषा सार्द्धमग्निं वायौ विलापयेत् ।
समीरमम्बरे विद्वान् स्पर्शादि त्वक्समन्वितम् ॥
अहङ्कारे हरेद् व्योम सशब्दं तं महत्यपि ।
महच्च सर्वशक्तीनामव्यक्ते कारणे परे ॥
सच्चिदानन्दरूपं यत् वैष्णवं परमं पदम् ।
पृथिव्यादिक्रमात् सर्वं तत्र लीनं विचिन्तयेत् ॥ इति ।

ततः शरीरस्याऽन्तर्यामी ऋषिः, सत्यं देवता, प्रकृतिपुरुषं छन्दः, सशरीर-पापपुरुषस्य शोधने विनियोगः इत्युक्त्वा दक्षकुक्षिस्थं शुक्लरूपं पापपुरुषं विचिन्त्य यमिति वायुबीजस्य किष्किन्ध ऋषिः, वायुर्देवता, जगती छन्दः सशरीरपापपुरुष-शोधने विनियोगः इत्युक्त्वा नाभिमूले च षड्बिन्दुमण्डले यं विचिन्तयेत् ।

तद्वायुबीजं धूम्रञ्च चञ्चलध्वजसंयुतम् ।
धूँ धूँ शब्दयुतं सर्वशोधनन्त्वीशदैवतम् ॥

इति ध्यात्वा पूरकप्रयोगेन षोडशवारं द्वादशवारं वा बीजमावर्त्त्य बीजोत्थवायुना सशरीरं पापपुरुषं शोषितं विभावयेत् । ततो रमित्यग्निबीजस्य कश्यपऋषिरग्निर्देवता त्रिष्टुप् छन्दः तद्दाहे विनियोगः इत्युक्त्वा—

चिन्तयेद्धृदये रक्तं त्रिकोणं वह्निमण्डलम् ।
विद्याकलायुतं रुद्रदैवतञ्च समीरितम् ॥

इति ध्यात्वा कुम्भकप्रयोगेन चतुःषष्टिवारं पञ्चाशद्वारं वा बीजमावर्त्तयेत् । तद्बीजोत्थाग्निना तद् भस्मीभूतं विभावयेत् । ततो रेचकेन द्वात्रिंशन्मात्रया पञ्चविंशतिमात्रया वा पूर्वोक्तरूपं वायुबीजमावर्त्त्य पापपुरुषभस्म रेचयेत् । ततो वमिति वरुणबीजस्य हिरण्यगर्भ ऋषिर्हंसो देवता त्रिष्टुप् छन्दः प्लावने विनियोगः

इत्युक्त्वा— वारुणं मण्डलं मूर्द्धिन शुभ्रं चन्द्रार्द्धसन्निभम् ।
सितपङ्कजयुग्मस्थं वं स्याद् वरुणदैवतम् ॥

इति ध्यात्वा तद्बीजस्रुतामृतेन तच्छरीरभस्म पिण्डीभूतं विभावयेत् । ततो लमिति पृथिवीबीजस्य ब्रह्मा ऋषिरिन्द्रो देवता गायत्री छन्दः कठिनीकरणे विनियोगः
इत्युक्त्वा— आधारमण्डले पृथ्वीमण्डलं वज्रलाञ्छितम् ।
चतुष्कोणञ्च कठिनं पीतवर्णेन्द्रदैवतम् ।
लं बीजेन समायुक्तं ध्यायेन्मनसि पूर्ववत् ॥

इति ध्यात्वा तद्बीजोत्थकाठिन्येन तनुं दृढा भावयेत् । ततो हमित्याकाश-बीजस्य ब्रह्मा ऋषिराकाशं देवता पंक्तिश्छन्दः व्यूहने विनियोगः इत्युक्त्वा—

आकाशमण्डलं वृत्तं द्वादशान्ते हमुज्ज्वलम् ।
शान्त्यतीताकलायुक्तं चिन्त्यमाकाशदैवतम् ॥

इति ध्यात्वा तदुत्थेनाकाशेनावकाशं भावयेत् । तदुक्तम्—

ग्लौमिति पृथ्वीबीजेन तञ्च सहनतां नयेत् ।
ॐ हं वमिति बीजेनाऽवयवीकरणं भवेत् ॥ इति ।

एवं स्वशरीरं विचिन्त्य परमात्मनः सकाशात् सृष्टिक्रमेण तत्त्वानि स्वस्वस्थानं प्रापयेदिति । ततः परमात्मनः सकाशाज्जीवं सोऽहं मन्त्रेण हृत्पद्ममानयेदिति संक्षेपः । इयञ्च भूतशुद्धिरावश्यकीया ।

भूत(पञ्च) शुद्धिविहीनेन कृता पूजाऽभिचारवत् (जपादिकम्) ।
विपरीतं फलं दद्यादभक्त्या चार्चनं तथा ॥
निर्ऋतिर्विधिहीनानां फलं हन्ति हि कर्मणाम् ।
निशाचराधिपत्यञ्च कुरुते शङ्कराज्ञया ॥

इति शैवागम उक्तेः ।

अन्यत्रापि— शरीराकारभूतानां भूतानां यद् विशोधनम् ।
अव्ययब्रह्मसम्पर्काद् भूतशुद्धिरियं मता ॥
भूतशुद्धिं विना कर्म जपहोमार्चनादिकम् ।
भवेत्तन्निष्फलं सर्वं प्रकारेणाप्यनुष्ठितम् ॥ इति ।

वक्ष्यमाणप्राणप्रतिष्ठामन्त्रेण एतदनन्तरं स्वप्राणप्रतिष्ठाऽवश्यं कर्त्तव्या । सम्प्रदायाद् गुरूपदेशाच्च । अत्र विशेषो वशिष्ठसंहितायाम्—

हृदि हस्तं सन्निधाय प्राणस्थापनमाचरेत् ।
ततो जन्मादिकद्व्यष्टक्रिया संस्कारसिद्धये ।
षोडशप्रणवावृत्तीः कृत्वा शक्तिं परां स्मरेत् ॥ इति ॥ २९ ॥

सृष्टि क्रम से आत्मा में लीन पृथ्व्यादि तत्त्वों को पुनः अपने स्थान पर ला कर स्थापित करे । इसी प्रकार अकार से लेकर क्षकारान्त वर्णों को भी तत्तत्स्थानों में प्राप्त करावें । तदनन्तर परमात्मा में युक्त हुये जीव को भी सहस्रार से ले आकर हृदय कमल में स्थापित करे ॥ २९ ॥

हंसन्यासादि

मनुना हंसदेवस्य कुर्यान्न्यासादिकं ततः।
ऋषिच्छन्दोदैवतानि न्यसेत् मन्त्रस्य मन्त्रवित्॥ ३० ॥

प्राणायामः

आत्मनो मूर्द्धिन वदने हृदये च यथाक्रमात्।
विधाय मूलमन्त्रेण प्राणायामं यथाविधि॥ ३१ ॥

अनन्तरकर्त्तव्यमाह हंसदेवस्येति। ततो मूलमन्त्रेण यथाविधि प्राणायामत्रयं विधाय हंसदेवस्य न्यासादिकं कुर्यादिति सम्बन्धः। तत्र यथाविधीत्यस्यायमर्थः। यदा अजपान्यासस्तदा अजपया यदा प्रणवन्यासस्तदा प्रणवेन यदा बहिर्मातृकान्यासस्तदा मातृकया। एवं यदा भुवनेशीन्यासस्तदा तया यदा मूलमन्त्रस्य न्यासस्तदा जप्यमानमन्त्रेणेति। तत्र मातृकाप्राणायामे विशेषः। यदाहुः—

इडया पूरयेत् प्राणं स्वरैः स्पर्शैश्च कुम्भयेत्।
रेचयेद् यादिकैरूष्मैस्ततः पिङ्गलया पुनः॥
तथैव पूरणं वायोः कुम्भनं रेचनं पुनः।
इडया स्यात्ततो द्वाभ्यां पूरणादित्रयं पुनः॥
प्राणायामत्रयं कृत्वा पश्चाद् व्यापकमाचरेत्।
अकाराद्यैः क्षान्तवर्णैरापादतलमस्तकम्॥ इति।

जप्यमानमन्त्रे तु मन्त्रमुख्यैकेन बीजेन प्राणायामः कार्यः। सर्वेण वा। तत्रैकेन चेत् कुम्भके चतुःषष्ट्यावृत्तिः अष्टाक्षरैश्चेद् द्वात्रिंशद्वारम् इत्यादि ज्ञेयम्।

यदाहुः— अष्टाविंशतिवारमिष्टफलदं मन्त्रं दशार्णं जप-
न्नायच्छेत् पवनं सुशंसितमिति त्वष्टादशार्णेन चेत्।
अभ्यस्यन्मुनिवार(न्नविचार) मन्यमनुभिर्वर्णानुरूपं जपन्
कुर्याद्रेचकपूर्वकर्मनिपुणः प्राणप्रयोगं नरः॥ इति।

न्यासो यथा। अजपाया आद्यं मूले परं शिरसि। तथा दक्षवामभागयोः। तत्रायं प्रयोगः—हं पुरुषात्मने नमः, सः प्रकृत्यात्मने नमः। हंसः प्रकृतिपुरुषात्मने नमः। इति व्यापकम्। तद्रूपेणान्तर्मातृकान्यासोऽपि। आदिशब्दात् पूजापूर्वदिनजपनिवेदनं तद्दिनजपसङ्कल्पश्च। एतदनन्तरं हंसमन्त्रोत्पन्नत्वात् प्रणवस्य न्यासः। सोऽपि ॐ अं ब्रह्मणे नमः, ॐ आं विष्णवे नमः इत्यादि मातृकास्थानेषु न्यसेत्। नामानि तु अन्त्यपटले प्रणवोत्पत्तौ मया वक्ष्यन्ते। तज्जन्यचतुर्नवतिकला न्यासोऽपि सूचितः। तन्न्यासस्थानं यथा—

मूलाधारत्रिकोणेषु विन्यसेदग्निजाः कलाः।
हृत्पङ्कजदलेष्वर्ककला द्वादशसंख्यकाः॥
मूर्द्धिनषोडशपत्राणां मध्ये सोमभवाः कलाः।
नादजास्तु स्वरस्थाने बिन्दुजाः पञ्चवक्त्रके॥
पूर्वदक्षिणसौम्येषु पश्चिमोर्द्ध्वमुखेषु च।

हृद्गलांसेषु नाभौ च सोदरे पृष्ठवक्षसोः ॥
उरोजयोर्न्यसेच्चापि कला माक्षरसम्भवाः ।
पादे गुह्ये सोरुजानुजङ्घास्फिक्षु उकारजाः ॥
पादहस्ततलघ्राणकेषु बाह्वोश्च पाद(श्र्व)योः ।
न्यसेदकारजा गुप्तकलाः पञ्च प्रविन्यसेत् ॥
कास्यहृद्गुह्यपादेषु । इति ।

उक्तवक्ष्यमाणानां सामान्यतः ऋष्यादिन्यासमाह ऋषीति । अत एव मन्त्रस्येति सामान्यग्रहणम् । अत्र देवताया अपि प्राप्तत्वादात्मन इत्युक्तिः । तेनाऽजपान्यासे अजपायाः प्रणवन्यासे प्रणवस्य बहिर्मातृकान्यासे मातृकाया भुवनेशीन्यासे तस्या मूलमन्त्रन्यासे जप्यमानस्य मन्त्रस्येति । मन्त्रविद् यथाक्रमाद् इत्यनेन बीजशक्तीनामपि न्यास उक्तः । सदक्षिणवामकोश(कोण)योरित्येके । गुह्यपादयोरित्यन्ये । स्तनयोरित्यपरे । ऋष्यादिन्यासस्यावश्यकतोक्ताऽन्यत्र—

ऋषिच्छन्दोदेवतानां विन्यासेन विना यदा ।
जप्यते साधितोऽप्येष तस्य तुच्छफलं भवेत् । इति ॥ ३०-३१ ॥

तदनन्तर हंसदेव के मन्त्र (हं सः) से न्यासादि करे । पुनः मन्त्रवेत्ता उसी मन्त्र के ऋषि छन्द तथा देवता का भी न्यास करे ॥ ३० ॥

शिर, मुख तथा हृदय यथाक्रम न्यास के स्थान कहे गये हैं । हंस मन्त्र के जप में उसकी विधि इस प्रकार है—'हं पुरुषात्मने नमः शिरसि; सः प्रकृत्यात्मने नमः मुखे तथा हंसः प्रकृतिपुरुषात्मने नमः हृदये । इसके बाद मूल मन्त्र से यथाविधि प्राणायाम करना चाहिए ॥ ३१ ॥

बहिर्मातृकान्यासादि

विदध्यान्मातृकान्यासं मन्त्रन्यासमनन्तरम् ।
अङ्गुष्ठादिष्वङ्गुलीषु न्यसेदङ्गैः सजातिभिः ॥ ३२ ॥

दिग्बन्धनम्

अस्त्रं तत्तलयोर्न्यस्य कुर्यात्तालत्रयादिकम् ।
दिशस्तेनैव बध्नीयाच्छोटिकाभिः समाहितः ॥ ३३ ॥

बहिर्मातृकान्यासमाह विदध्यादिति । मातृकान्यासं वक्ष्यमाणं प्रपञ्चयागान्तमित्यर्थः । अनन्तरं मन्त्रन्यासं भुवनेशीन्यासं विदध्यादिति सम्बन्धः ।

यदाहुः— प्रणवो मातृकादेवी हृल्लेखेत्यमृतत्रयम् ।
दीपनं सर्वमन्त्राणामित्याह भगवान् शिवः ॥ इति ।

वायवीयसंहितायाम्—हंसन्यासस्तु तत्राद्यः प्रणवन्यास एव च ।
तृतीयो मातृकान्यासो ब्रह्मन्यासस्ततः परम् ॥
पञ्चमः कथ्यते सद्भिर्न्यासः पञ्चाक्षरात्मकः ।
एतेष्वेकमनेकं वा कुर्यात् पूजादिकर्मसु ॥ इति ।

उक्तवक्ष्यमाणानां करन्यासमाह अनन्तरम् अङ्गुष्ठेति । अनन्तरमित्यनेन मूलमन्त्रेण करशुद्धिः कर्त्तव्येत्युक्तम् । अतएव लक्ष्मीपटले वक्ष्यति 'हस्तौ संशोध्य मन्त्रेण' इति । तदुक्तम्—

व्याप्यव्याप्योर्हस्तयोर्मन्त्रमन्तर्बाह्ये पार्श्वे ताररुद्रं बुधेन । इति ।

अङ्गैस्तत्तत्कल्पोक्ताङ्गमन्त्रैः । तत्र हृन्मन्त्रमुच्चार्य अङ्गुष्ठाभ्यां नम इत्यादि प्रयोगः ।

तदुक्तमाचार्यैः— अङ्गुलीषु क्रमादङ्गैरङ्गुष्ठादिषु विन्यसेत् । इति ।

सजातिभिरित्यग्रिमेण सम्बध्यते । तत्तलयोरिति तच्छब्देन प्रकृतत्वादङ्गुलय उच्यन्ते । ताभिः करो लक्ष्यते । तलशब्देनान्तर्बाह्यमपि तलं गृह्यते । तेनास्त्रमन्त्रमुच्चार्य करतलपृष्ठाभ्यां नम इति अस्त्रमन्त्रप्रयोगः । तदुक्तम्—

अङ्गुष्ठाभ्यां नमो ह्रां ह्रीँ तर्जनीभ्यां नमस्ततः ।
मध्यमाभ्यां नमो ह्रुं ह्रैं अनामिकाभ्यां नमस्ततः ॥
ॐ ह्रौँ कनिष्ठिकाभ्यां च नमो हस्तलपृष्ठयोः । इति ।

कुर्यात्तालत्रयादिकमिति अङ्गास्त्रविनियोगः । तस्य स्वरूपमुक्तमन्यत्र—

प्रसारिततलाभ्यान्तु तालत्रयमुदीरयेत् । इति ।

तालत्रयादिकमित्यादिशब्दोक्तं विशदयति दिश इति । तेनैवेत्यस्त्रमन्त्रेण । छोटिका नाराचमुद्रारूपा ।

अङ्गुष्ठतर्ज्जन्यग्राभ्यां स्फोटो नाराचमुद्रिका ।

इति तल्लक्षणात् । समाहित इत्यग्रिमेण सम्बध्यते । तत्रैवं सम्बन्धः । ततः समाहितः सुधीर्जातिभिः अङ्गमन्त्रान् हृदादिषु च विन्यसेदिति । चकारोऽङ्गुष्ठादिष्विति पूर्वोक्तसमुच्चयार्थः । तत इति वक्ष्यमाणतत्तत्कल्पोक्ततत्तन्मन्त्रन्यासानन्तरमित्यर्थः ।

यदाहुः— आदावृष्यादिविन्यासः करशुद्धिस्ततः परम् ।
अङ्गुलिव्यापकन्यासौ हृदादिन्यास एव च ॥
तालत्रयञ्च दिग्बन्धः । इति ।

अन्यत्रापि— करन्यासं पुरा कृत्वा देहन्यासमतः परम् ।
अङ्गन्यासं न्यसेत् पश्चादेष साधारणो विधिः ॥ इति ।

आचार्या अपि षडङ्गन्यासान्तमुक्त्वा—

जपारम्भे मनूनां हि सामान्येयं प्रकल्पना । इति ।

समाहितः सुधीरित्यनेन षडङ्गमुद्राः सूचिताः । तदुक्तमागमान्तरे—

प्रसारिततलेनैव पाणिना हृदयं शिरः ।
प्रोक्ता शिखा तथा सम्यगधोऽङ्गुष्ठेन मुष्टिना ॥
तथाविधाभ्यां पाणिभ्यां वर्मस्कन्धादिनाभिगम् ।
तर्जनीमध्यमानामाः प्रोक्ता नेत्रत्रये क्रमात् ॥
यदा नेत्रद्वये प्रोक्ते तदा तर्जनीमध्यमे ॥ इति ।

अत्र प्रसारिततलेनेत्यत्र अङ्गुष्ठवर्जमङ्गुलीचतुष्टयेनेत्यर्थः ।

तदुक्तम्—

> अङ्गुष्ठवर्जमङ्गुल्यश्चतस्रो हृदि मूर्द्धनि ।
> शिखायां मुष्टिरेव स्यादङ्गुष्ठकृतनालिका ॥
> सर्वाङ्गुलय आनाभेः पाण्योः कवचबन्धनम् ॥ इति ।

शक्तिषडङ्गमुद्रास्तन्त्रान्तरे—

> हृदयं मध्यमानामातर्जनीभिः स्मृतं शिरः ।
> मध्यमातर्जनीभ्यां स्यादङ्गुष्ठेन शिखा स्मृता ॥
> दशभिः कवचं प्रोक्तं तिसृभिर्नेत्रमीरितम् ।
> प्रोक्ताङ्गुलीभ्यामस्त्रं स्यादङ्गक्लृप्तिरियं मता ॥ इति ।

शैवषडङ्गमुद्राः शैवागमे—

> कृतमुष्टिपदौ (पुटौ) हस्तौ कृत्वाऽङ्गुष्ठौ हृदि न्यसेत् ।
> हृन्मुद्रेयं समाख्याता शिरोमुद्रा प्रकीर्त्त्यते ॥
> ललाटाग्रे समाधाय कृतमुष्टिपुटौ करौ ।
> कुर्यादूर्द्ध्वप्रसक्ताग्रौ तर्जन्यौ ज्येष्ठबाह्यतः ॥
> करौ शिखायां संयोज्य कृतमुष्टिपुटाकृती ।
> ज्येष्ठावधःप्रसक्ताग्रौ कनिष्ठावूर्द्ध्वतस्तथा ॥
> कुर्यात् सेयं शिखामुद्रा सर्वोपद्रवनाशिनी ।
> कृत्वाऽङ्गुष्ठौ प्रसक्ताग्रौ तर्जन्यौ च त्रिकोणवत् ॥
> मूर्द्धिर्न पश्चान्मुखं कृत्वा नयेदुभयपार्श्वतः ।
> करौ हृदन्त मुद्रेयं कवचस्याऽभयप्रदा ॥
> कृत्वा नेत्रोन्मुखं हस्तं सक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठिकम् ।
> प्रसार्य मध्यमां किञ्चिन्नमयेदितराङ्गुलीः ॥
> नेत्रमुद्रेयमुद्दिष्टा रक्षोभूतार्त्तिभञ्जिनि ।
> परस्परतलद्वन्द्वं पुनरास्फोटयेद् भृशम् ॥ इति ॥ ३२-३३ ॥

फिर वक्ष्यमाण मातृकान्यास करना चाहिए । उसके अनन्तर वक्ष्यमाण भुवनेशी मन्त्र का न्यास करें । सजातीय अङ्गों से अङ्गुष्ठाभ्यां नमः, तर्जनीभ्यां नमः, मध्यमाभ्यां नमः, इत्यादि क्रम से अङ्गुष्ठादि अङ्गुलियों में करन्यास करे ॥ ३२ ॥

तदनन्तर दोनों हाथ के तलवों में अस्त्र न्यास कर हाथों के द्वारा तीन ताल देकर अङ्गुष्ठ तथा तर्जनी से छोटिका लगा कर सावधानी से दिशाओं की रक्षा करे ॥ ३३ ॥

अङ्गन्यासमन्त्राः

> **हृदयादिषु विन्यस्येदङ्गमन्त्रांस्ततः सुधीः ।**
> **हृदयाय नमः पूर्वं शिरसे वह्निवल्लभा ॥ ३४ ॥**

शिखायै वषडित्युक्तं कवचाय हुमीरितम् ।
नेत्रत्रयाय वौषट् स्यादस्त्राय फडिति क्रमात् ॥ ३५ ॥
षडङ्गमन्त्रानित्युक्तान् षडङ्गेषु नियोजयेत् ।
पञ्चाङ्गानि मनोर्यस्य तत्र नेत्रमनुं त्यजेत् ॥ ३६ ॥

जातिभिरित्युक्तेस्ताः का इत्यपेक्षायामाह हृदयेति । पूर्वं प्रथमो मन्त्रः शिरसे एतदनन्तरं वह्निवल्लभा स्वाहेति उच्चरेदित्यर्थः ॥ ३४ ॥

नेत्रत्रयायेत्युपलक्षणम् । तेन द्विनेत्रे विष्ण्वादौ नेत्राभ्यां वौषडिति प्रयोगः ॥३५॥

षडङ्गमन्त्रान् तत्तत्कल्पोक्तानित्येवं प्रकारेणोक्तान् जातिमन्त्रांश्च मिलित्वा षडङ्गेषु हृदयादिषु उक्तमुद्राभिर्नियोजयेन्न्यसेदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

फिर बुद्धिमान् आचार्य हृदयादि स्थानों में अङ्ग मन्त्रों का न्यास करे । सर्वप्रथम 'हृदयाय नमः' से हृदय में, 'शिरसे स्वाहा' से शिर में 'शिखायै वषट्' से शिखा में, 'कवचाय हुँ' इससे दोनों बाहुओं में, 'नेत्रत्रयाय वौषट्' से दोनों नेत्रों में तथा 'अस्त्राय फट्' से शरीर के चारों ओर न्यास करे ॥ ३४-३५ ॥

जहाँ मन्त्र के छः अङ्ग कहे गये हैं वहाँ उपर्युक्त छः स्थानों में न्यास करे, किन्तु जहाँ मन्त्र के पाँच अङ्ग हैं वहाँ 'नेत्रत्रयाय वौषट्' इस मन्त्र का त्याग कर देना चाहिए ॥ ३६ ॥

अङ्गहीनस्य मन्त्रस्य स्वेनैवाङ्गानि कल्पयेत् ।
तत्तत्कल्पोक्तविधिना न्यासानन्यान् समाचरेत् ॥ ३७ ॥

अङ्गेति । अङ्गहीनत्वं नाम नारायणाष्टाक्षरादिवन्मन्त्रोद्धाराभावः । स्वेनैवेत्यावृत्त्या छेदेन वा । एतेनाङ्गानामावश्यकत्वमुक्तम् । यदाहुः—

पूजाजपार्चनाहोमाः सिद्धमन्त्रकृता अपि ।
अङ्गविन्यासविधुरा न दास्यन्ति फलान्यमी ॥ इति ।

गौतमेन षडङ्गकरणप्रयोजनमप्युक्तम्—

इज्यमानो हृदात्माऽयं हृदये स्याच्चिदात्मकः ।
क्रियते तत्परत्वन्तु (परात्मा च) हृन्मन्त्रेण ततः परम् ॥
सर्वज्ञादिगुणोपेते (तुङ्गे) संविद्रूपे परात्मनि ।
क्रियते विषयाहारः शिरोमन्त्रेण धीमता ॥
हृच्छिरोरूपचिद्धाममयता (नियता) भावना दृढा ।
क्रियते निजदेवस्य शिखामन्त्रेण सादरम् ॥
मन्त्रात्मकस्य देवस्य मन्त्रवाच्येन (व्याप्तेन) तेजसा ।
सर्वतो वर्ममन्त्रेण क्रियते न्याससंभृतिः ॥
यद्ददाति परं ज्ञानं संविद्रूपे परात्मनि ।
हृदयादिमयं तेजः स्यादेतन्नेत्रसंज्ञकम् ॥

आध्यात्मिकादिरूपं यत् साधकस्य विनाशयेत् ।
अविद्याजातमस्त्रं तत् परं धाम समीरितम् ॥ इति ।

पूर्वं तत इति मन्त्रन्यासानन्तरमिति व्याख्यातम् । तत्र को मन्त्रन्यास इत्यपेक्षयामाह तत्तदिति । न्यासान् मन्त्रन्यासान् । एषामप्यावश्यकतोक्ताऽन्यत्र—

न्यासं विना जपं प्राहुरासुरं विफलं बुधाः ।
न्यासात्तदात्मको भूत्वा देवो भूत्वा तु तं यजेत् ॥ इति ।

कुलप्रकाशतन्त्रेऽपि—आगमोक्तेन मार्गेण न्यासान् नित्यं करोति यः ।
देवताभावमाप्नोति मन्त्रसिद्धिः प्रजायते ॥
अकृत्वा न्यासजातं यो (जालानि) मूढात्मा प्रभजेन्मनून् ।
सर्वविघ्नैश्च बाध्येत व्याघ्रैर्मृगशिशुर्यथा ॥
यो न्यासकवचच्छन्नो मन्त्रं जपति तं प्रिये ।
विघ्ना दृष्ट्वा पलायन्ते सिंहं दृष्ट्वा यथा गजाः ॥ इति ।

वायवीयसंहितायामपि—नाशिवः शिवमभ्यस्येन्नाशिवः शिवमर्चयेत् ।
नाशिवस्तु शिवं ध्यायेन्नाशिवः शिवमाप्नुयात् ॥ इति ।

ग्रन्थकृदपि— मन्त्राक्षराणि विन्यस्येद्देवताभावसिद्धये । इति ।
एतेन यत्र मन्त्रे अक्षरन्यासो वाचनिको नोक्तस्तत्रापि कर्त्तव्य इत्युक्तम् ॥ ३७ ॥

जहाँ मन्त्रों के अङ्ग नहीं बताये गये हैं, जैसे अष्टाक्षरादि नारायण मन्त्र, वहाँ पर स्वयं अङ्गों की कल्पना कर लेनी चाहिए और मन्त्र में कहे गये तत्कल्पोक्त विधि के अनुसार न्यास का विधान कर लेना चाहिए ॥ ३७ ॥

आत्मयागे पीठकल्पनविधिः

कल्पयेदात्मनो देहे पीठं धर्मादिभिः क्रमात् ।
अंसोरुयुग्मयोर्विद्वान् प्रादक्षिण्येन देशिकः॥ ३८ ॥
धर्मं ज्ञानञ्च वैराग्यमैश्वर्यं न्यस्य तु क्रमात् ।
मुखपार्श्वनाभिपार्श्वेऽधर्मादींश्च प्रकल्पयेत् ॥ ३९ ॥
धर्मादयः स्मृताः पादाः पीठगात्राणि चापरे ।
अनन्तं हृदये पद्ममस्मिन् सूर्येन्दुपावकान् ॥ ४० ॥

आत्मयागार्थं देहे पीठकल्पनामाह कल्पयेदिति । आत्मनो देहे न्यस्तैर्धर्मादिभिः पीठं कल्पयेदित्यर्थः । अत्र क्रमादित्यनेनैतदुक्तं भवति । मण्डूकाय नम इत्याधारे । कालाग्निरुद्राय नमः इति स्वाधिष्ठाने । कूर्माय नम इति नाभौ । ततो हृदि आधारशक्त्यादिन्यासं कृत्वा पश्चाद्धर्मादिन्यास इति । यदाहुः—

न्यसेदाधारशक्तिप्रकृतिकमठशेषक्षमाक्षीरसिन्धून्
श्वेतद्वीपञ्च रत्नोज्ज्वलमहित महामण्डपं कल्पवृक्षम् ।

हृद्देशे । इति । अंसेति । प्रादक्षिण्येन दक्षिणावर्त्तक्रमेण । विद्वान् देशिकः

इत्यनेन दक्षिणांसमारभ्य दक्षोरुपर्यन्तं न्यास इत्युक्तम् । अयं पक्षः साम्प्रदायिकः । तूक्तमीशानशिवेन—आधाराख्यां यजेच्छक्तिं हृदयेंऽसे च दक्षिणे ।

धर्मं ज्ञानञ्च सव्यांसे ऊर्वोर्वामान्ययोरपि ॥

वैराग्यसंज्ञमैश्वर्यम् । इति ।

क्रमादित्युत्तरेण सम्बध्यते ॥

मुखेति । अत्रापि प्रादक्षिण्येनेत्यनुषञ्जनीयम् । क्रमादित्यनेनैतदुक्तम् । मुखं ततो वामपार्श्वं ततो नाभिस्ततो दक्षिणपार्श्वम् । तदुक्तम्—

मुखे च वामपार्श्वे च नाभौ दक्षिणपार्श्वके ।

अधर्मञ्चाप्यथाज्ञानमवैराग्यमनैश्वरम् ॥ इति ।

ईशानशिवेनाप्युक्तम्— अधर्मं वदने ततः ।

अज्ञानं सव्यपार्श्वे च नाभौ पार्श्वे च दक्षिणे ॥

अवैराग्यमनैश्वर्यम् । इति ।

यत्त्वाचार्यवचनम्—'आननाभिमूलपार्श्वद्वयैः' इति तदपि तट्टीकाकारैराननपार्श्व नाभिमूलपार्श्वैरित्येव व्याख्यातम् । अधर्मादीन् तानेव नञ्पूर्वानित्यर्थः ॥

अपर इति अधर्मादयः । अस्मिन्नित्यनन्ते । पद्ममिति वक्ष्यमाणलक्षणम् । एतेन पूतेन (?) पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रत्याधारतोक्ता । अस्मिन् पद्मे सूर्येन्दुपावकानिति योज्यम् ॥ ३८-४० ॥

आचार्य सर्वप्रथम अपने शरीर में धर्मादि (धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य) का न्यास कर उसी को आधार पीठ के रूप में कल्पित करे । प्रदक्षिण क्रम के अनुसार दाहिने कन्धे से लेकर बायें कन्धे तथा बायें ऊरु से लेकर दाहिने ऊरु पर्यन्त क्रमशः धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य का न्यास करे । पुनः मुख, वाम पार्श्व, नाभि तथा दक्षिण पार्श्व में अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य का न्यास करे ॥ ३८-३९ ॥

विमर्श—धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य उस आधारभूत पीठ के पैर हैं। अन्य अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य गात्र हैं ।

हृदय में वक्ष्यमाण अनन्त नामक पद्म है, जिसमें सूर्य-चन्द्रमा तथा पावक इन तीन मण्डलों का निवास है ॥ ४० ॥

एषु स्वस्वकला न्यस्येन्नामाद्यक्षरपूर्विकाः ।

सत्त्वादींस्त्रीन् गुणान् न्यस्येत्तथैवात्र गुरूत्तमः ॥ ४१ ॥

आत्मानमन्तरात्मानं परमात्मानमत्र तु ।

ज्ञानात्मानं प्रविन्यस्य न्यसेत् पीठमनु ततः ॥ ४२ ॥

एष्विति त्रिषु मण्डलेषु । नामादौ यदक्षरं कभादि आदि आदि तत्पूर्विकाः । तत्र क्रमः । सूर्यमण्डलं विन्यस्य तत्र तत्कलाः ततः सोममण्डलं तत्र तत्कलाः ततो

वह्निमण्डलं तत्र तत्कलाः न्यसेदिति । तथैवेति पूर्वपूर्वस्योपरि । नामाद्यक्षरपूर्वकानिति पदमेवाऽत्राकृष्यते । तेन नाम्नो यदाद्यक्षरं तत्पूर्वकान् न्यसेदिति । अत्र गुरुत्तम इत्युत्तरेण सम्बध्यते । ततः ॐ सं सत्त्वाय नमः इत्यादिप्रयोगः ।

तदुक्तम्—'आद्यक्षरैः सत्त्वरजस्तमांसि' इति । एतच्च दिक्प्रदर्शनमात्रम् । पूर्वं सर्वत्र तथोक्तेः । अत्र परमात्मनि तुशब्दो व्यतिरेके । तेनायमर्थः । आत्मादित्रयेऽप्याद्यक्षरमेव बीजम् । ज्ञानात्मनि तु मायाबीजमिति गुरूत्तमपदेनोक्तम् ।

न्यसेत् पीठमनुं ततः इत्यनेनैतदुक्तं भवति । मां मायातत्त्वाय नमः, कं कलातत्त्वाय नमः, विं विद्यातत्त्वाय नमः, पं परतत्त्वाय नमः । हृत्पद्मप्राग्राद्यष्टदलमूलेषु मध्ये च पीठशक्तिनवकं न्यसेदिति ।

तदुक्तम्— मायातत्त्वं कलातत्त्वं विद्यातत्त्वं परं तथा ।
विन्यस्य पीठशक्तीश्च ततः पीठमनुं न्यसेत् ॥ इति ।

अन्यत्रापि—अथाष्टदिक्षु परितो मध्ये च शक्तीर्नव ।
न्यस्त्वा पीठमहामनुं च विधिवत्तत्कर्णिकामध्यगम् ॥ इति ॥ ४१-४२ ॥

इन तीन मण्डलों में नाम के आदि अक्षर युक्त पद का सन्निवेश कर क्रमशः उनकी कलाओं का भी सन्निवेश करे । जैसे 'सूं सूर्यमण्डलं न्यसामि', ऐसा कहकर सूर्यमण्डल का निवेश कर पश्चात् उनकी कलाओं का निवेश करे । इसी प्रकार सोममण्डल और सोमकला का तथा वह्निमण्डल एवं वह्निकला का निवेश करे । फिर उत्तम गुरु 'सं सत्त्वाय नमः' से सत्त्वगुण का, 'रं रजसे नमः' से रजोगुण का तथा 'तं तमसे नमः' से तमोगुण का भी उस पीठ में सन्निवेश करे । तदनन्तर आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा का न्यास कर अपने शरीर रूपी पीठ में पीठमन्त्र का न्यास करे ॥ ४१-४२ ॥

विमर्श—इसके बाद मां मायातत्त्वाय नमः, कं कलातत्त्वाय नमः, विं विद्यातत्त्वाय नमः और पं परतत्त्वाय नमः पद से हृत् पद्म के आठ दलों एवं मध्य में नौ पीठशक्तियों का न्यास करना चाहिए ॥ ४२ ॥

तत्रेष्टदेवताचिन्तनम्

एवं देहमये पीठे चिन्तयेदिष्टदेवताम् ।

अर्घ्यस्थापनविधिः

मुद्राः प्रदर्श्य विधिवदर्घ्यस्थापनमाचरेत् ॥ ४३ ॥

मुद्रा इति । तत्तद्विशेषमुद्राश्च तत्तत्कल्पोक्तास्तत्तत्पटले मया वक्ष्यन्ते । विधिवदित्यनेनैतदनन्तरं मानसीं पूजां कृत्वा देवमभ्यर्थयेदित्युक्तम् ।

तत्राभ्यर्थनमन्त्रः— ॐ स्वागतं देवदेवेश सन्निधीभाव केशव ।
गृहाण मानसीं पूजां यथार्थपरिभाविताम् ॥ इति ।

अत्र केशवेत्यत्र तत्तद्देवतानाम्नामूहः कार्यः । तदुक्तम्—

इति ध्यात्वात्मानं पटुविशदधीर्नन्दतनयं
पुरोबुद्ध्यैवार्घ्यप्रभृतिभिरनिन्द्योपहृतिभिः । यजेत् । इति ।

अन्यत्रापि— ध्यात्वा देवं प्रदर्श्याऽथ मुद्रा अपि विधानतः ।
पूजाञ्च मानसीं कुर्यात्ततोर्घ्यस्थापनञ्चरेत् ॥ इति ॥ ४३ ॥

पुनः उसी देहमयपीठ में अपने इष्टदेवता का ध्यान कर, सविधि मुद्रा प्रदर्शित कर अर्घ्य स्थापन की क्रिया आरम्भ करे ॥ ४३ ॥

विमर्श—इस प्रकार विधिपूर्वक मानसी पूजा करके देवता से इस प्रकार अभ्यर्थना करे—

'ॐ स्वागतं देवदेवेश सन्निधीभाव केशव ।
गृहाण मानसीं पूजां यथार्थपरिभाविताम् ॥' इति ।

इस मन्त्र में सम्बोधन पद केशव के स्थान पर तत्तद् देवों का नाम रखना चाहिए ॥ ४३ ॥

शङ्खमस्त्राम्बुना प्रोक्ष्य वामतो वह्निमण्डले ।
साधारं स्थापयेद् विद्वान् बिन्दुस्रुतसुधामयैः ॥ ४४ ॥
तोयैः सुगन्धिपुष्पाद्यैः पूरयेत्तं यथाविधि ।
आधारं पावकं शङ्खं सूर्यं तोयं सुधामयम् ॥ ४५ ॥
स्मरेद्वह्न्यर्कचन्द्राणां कलास्तास्तेष्वनुक्रमात् ।
मूलमन्त्रं जपेत् स्पृष्ट्वा न्यसेत्तस्याङ्गमन्त्रवित् ॥ ४६ ॥
हृन्मन्त्रेणाभिसम्पूज्य हस्ताभ्यां छादयन्नपः ।
जपेद्विद्यां यथान्यायं देशिको देवताधिया ॥ ४७ ॥

अर्घ्यस्थापनमाचरेदित्युक्तम् । तद्विधिमाह शङ्खमिति । वामतो वामभागे स्वाग्रत इति ज्ञेयम् । यदुक्तम्—'आत्मनः पुरतः शङ्खम्' इति । वह्निमण्डले ऊर्ध्वाग्रे त्रिकोणे साधारं शङ्खमित्यन्वयः । विद्वानित्यनेनात्र वह्निमण्डल इत्युपलक्षणम् इत्युक्तम् । तेन त्रिकोणषट्कोणवृत्तचतुरस्ररूपे शङ्खमुद्रावष्टब्धे पूजितषडङ्गे इति ज्ञेयम् । तदुक्तम्—

अग्रे त्रिकोणमालिख्य षट्कोणञ्च ततो बहिः ।
वर्त्तुलं चतुरस्रञ्च मध्ये मायां विलिख्य च ।
शङ्खमुद्रां प्रदर्श्याऽथ कोणदिक्ष्वङ्गपूजनम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— त्रिकोणषट्कोणवृत्तचतुरस्राणि कारयेत् ।
शङ्खमुद्रामवष्टभ्य षडङ्गानि प्रपूजयेत् ॥ इति ।

बिन्दुर्भ्रूमध्यम् । केचन ब्रह्मरन्ध्रमिति वदन्ति । तत्र चन्द्रमण्डलस्य सत्त्वादिति । बिन्दुस्रुतसुधामयैरिति जलध्यानम् । यत् सोमशम्भौ—

बिन्दुप्रसूत पीयूषरूपतोयाक्षतादिना ।
हृदापूर्य षडङ्गेन पूजयित्वाऽभिमन्त्रयेत् ॥ इति ।

पूरयेत्तं यथाविधीत्यनेनैतदुक्तम् । बिन्द्वन्तां प्रतिलोममातृकां विलोममूलमन्त्रञ्च जपन्निति । तदुक्तम्—

पूरयेद्विमलपाथसा सुधीरक्षरैः प्रतिगतैः शिरोऽन्तकैः । इति ।

आधारमिति । आधारं पावकमण्डलत्वेन शङ्खं सूर्यमण्डलत्वेन तोयमिन्दुमण्डलत्वेन । तेषु मण्डलेषु तत्तत्कला अपि स्मरेत् । केचन पूजयन्त्यपि ।

तत्र प्रयोगः—स्ववामाग्रतः चतुरस्रवृत्तषट्कोणत्रिकोणमण्डलं कृत्वा शङ्खमुद्रयाऽवष्टभ्य पुष्पाक्षतैः पूजाक्रमेण षडङ्गानि सम्पूज्य आधारमस्त्रमन्त्रेण प्रक्षाल्य 'मं वह्निमण्डलाय दशकलात्मने अमुकार्घ्यपात्रासनाय नमः' इति आधारं प्रतिष्ठाप्य पूर्वादग्नेर्दशकलाः पूजयेत् ।

ततः शङ्खमन्त्रेण (पुरुषोत्तमपटलोक्तशङ्खमन्त्रेण) शङ्खं प्रक्षाल्य 'अं सूर्यमण्डलाय द्वादशकलात्मने अमुकार्घ्यपात्राय नमः' इति पात्रमाधारे निधाय प्रादक्षिण्येन द्वादशस्थानेषु सूर्यस्य द्वादशकलाः सम्पूज्य विलोममातृकां विलोममूलमन्त्रञ्च जपन् शुद्धोदकेन शङ्खमापूर्य 'ॐ सोममण्डलाय षोडशकलात्मने अमुकार्घ्यामृताय नमः' इति सम्पूज्य सोमस्य षोडशकलास्तत्र प्रादक्षिण्येन पूजयेदिति । ततस्तत्र 'गङ्गे च' इति मन्त्रेण सूर्यमण्डलादङ्कुशमुद्रया तीर्थमावाह्य स्वहृत्कमलाद्देवमप्यावाहयेत् । देशिको देवताधियेति वक्ष्यमाणत्वात् । तदुक्तम्—

तत्र तीर्थमनुनाभिवाहयेत् तीर्थमुष्णरुचिमण्डलात् पुनः ।
स्वीयहृत्कमलतो हरिं यथा । इति ।

अङ्कुशमुद्रालक्षणं स्नानप्रसङ्गे उक्तम् । यद्वेयमङ्कुशमुद्रा । यदाहुः—

ऋजुमध्या मध्यपर्वाक्रान्ता तर्जन्यधोमुखी ।
विज्ञेयाऽङ्कुशमुद्रेयं कुञ्चिता मध्यपर्वतः ॥ इति ।

स्पृष्ट्वेति । अप इति सम्बध्यते । न्यसेदिति अप्स्विति सम्बध्यते । तस्येति मूलमन्त्रस्य । अङ्गमन्त्रविदित्यनेन वक्ष्यमाणदिक्क्रमपूजनेनैव न्यास इत्युक्तम् ।

अभिसम्पूज्येति अप इति सम्बन्धः । हस्ताभ्यां छादयन्निति देशिक इत्यनेन मत्स्यमुद्रयेत्युक्तम् । तल्लक्षणन्तु—

अधोमुखावुभौ हस्तौ स्वस्योपरि च संस्थितौ ।
पार्श्वद्वयगताङ्गुष्ठौ मत्स्यमुद्रेयमीरिता ॥

अत्र मूलमन्त्रविद्याशब्दाभ्यामेवमादिविधौ पुंस्त्रीदेवताकत्वमविवक्षितमित्युक्तम्। अन्यथैकग्रहणे इतरग्रहणं न स्यात् । यथान्यायमिति सप्तकृत्वोऽष्टकृत्वो वा । इयं संख्या (व्यवस्था) पूर्वमपि ज्ञेया । तदुक्तम्—

संस्पृशन् जपतु मन्त्रमष्टशः । इति ॥ ४४-४७ ॥

अस्त्र मन्त्र (अस्त्राय फट्) पढ़ कर जल से शङ्ख का प्रक्षालन करे और उसे विद्वान् साधक बाईं ओर अपने आगे वह्निमण्डल में किसी आधार कुशादि पर स्थापित करे । उस अर्घ्य पात्र को चन्द्रमण्डल से झरते हुये सुधामय बिन्दुओं से,

जिसमें सुगन्धित पुष्प कर्पूर, गुलाबजल आदि पड़े हों यथाविधि परिपूर्ण करे। शङ्ख के आधार पात्र में अग्निमण्डल की और उस पर स्थापित शङ्ख में सूर्यमण्डल की तथा शङ्ख स्थित जल में चन्द्रमण्डल की भावना करे ॥ ४४-४६॥

पुनः उन-उन स्थानों में क्रमशः अग्नि, सूर्य, तथा चन्द्रमा की कलाओं का ध्यान करे। तदनन्तर अङ्ग तथा मन्त्रवेत्ता विद्वान्, शङ्ख स्थित जल का स्पर्श करते हुये मूल मन्त्र का आठ बार जप करे ॥ ४६ ॥

पुनः दोनों हाथों से जल को आच्छादित कर हृन्मन्त्र (अद्भ्यो नमः) इस मन्त्र को सात या आठ बार पढ़े। पुनः उसमें देवता बुद्धि कर विद्यामन्त्र (अर्थात् मूल मन्त्र) का जप करे ॥ ४७ ॥

अस्त्रमन्त्रेण संरक्ष्य कवचेनावगुण्ठ्य च।
धेनुमुद्रां समापाद्य रोधयेत्तत् स्वमुद्रया ॥ ४८ ॥

संरक्ष्येति। तदिति सम्बन्धः। तच्च संरक्षणं छोटिकाभिरिति ज्ञेयम्। अवगुण्ठ्येत्यत्रापि तदिति सम्बध्यते। तच्चावगुण्ठनमुद्रया। समापाद्येत्यमृतबीजेन। स्वमुद्रयेति सन्निरोधिन्या। अवगुण्ठनधेनुसन्निरोधनमुद्रास्त्रयोविंशे वक्ष्यन्ते। ततः शङ्खोपरि शङ्खमुषलचक्रमहामुद्रायोनिमुद्राः प्रदर्शयेत्। यदाहुः—

चिन्मयं चिन्तयेत्तीर्थमानीयाऽङ्कुशमुद्रया।
ब्रह्माण्डोदरतीर्थेभ्यो धेनुमुद्रां प्रदर्श्य च ॥
शङ्खमुद्रां चक्रमुद्रां मुषलाख्याञ्च दर्शयेत्।
परमीकृत्य यत्नेन गुह्याख्याञ्चैव दर्शयेत् ॥ इति।

कृष्णमन्त्रे गालिनीप्रदर्शनं राममन्त्रे गरुडमुद्राप्रदर्शनम् इत्यादिविशेषोऽनुसन्धेयः। शङ्खमुद्रालक्षणमुक्तं प्राक्।

अन्यासां लक्षणानि तु—

मुष्टिं कृत्वा तु हस्ताभ्यां वामस्योपरि दक्षिणम्।
कुर्यान्मुषलमुद्रेयं सर्वविघ्नप्रणाशिनी ॥
मिथः कनिष्ठिके बद्ध्वा तर्जनीभ्यामनामिके।
अनामिकोर्ध्वगाश्लिष्टदीर्घमध्यमयोरधः।
अङ्गुष्ठाग्रद्वयं न्यस्येद् योनिमुद्रेयमीरिता ॥ इति।
विपर्यस्ते तले कृत्वा वामदक्षिणहस्तयोः।
अङ्गुष्ठौ ग्रथयेच्चैव कनिष्ठानामिकान्तरे।
चक्रमुद्रेयमुद्दिष्टा सर्वसिद्धिकरी शुभा ॥ इति।

महामुद्रालक्षणं त्रयोविंशे वक्ष्यते।

कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ सक्तौ करयोरितरेतरम्।
तर्जनीमध्यमानामाः संहता भुग्नवर्जिताः (सज्जिताः)।
मुद्रैषा गालिनी प्रोक्ता शङ्खस्योपरि चालिता ॥ इति।

हस्तावभिमुखौ कृत्वा रचयित्वा कनिष्ठिके ।
मिथस्तर्जनिके श्लिष्टे श्लिष्टावङ्गुष्ठकौ तथा ॥
मध्यमानामिके द्वे तु द्वौ पक्षाविति कुञ्चयेत् ।
एषा गरुडमुद्रा स्यादशेषविषनाशिनी ॥ इति ॥ ४८ ॥

पुनः अस्त्र मन्त्र (अस्त्राय फट्) से छोटिका (चुटकी) बजा कर उसकी रक्षा करे । कवच मन्त्र (कवचाय हुँ) पढ़कर उसको चारों ओर से जल से घेर देवे । धेनु मुद्रा दिखा कर उसमें अमृतत्त्व लावे तथा स्वमुद्रा (सन्निरोधिनी) से उसमें सन्निरुद्ध करे । इस प्रकार अवगुण्ठन मुद्रा, धेनुमुद्रा तथा सन्निरोधन करे ।

विमर्श—अवगुण्ठन मुद्रा, धेनुमुद्रा, तथा सन्निरोधन मुद्रा का लक्षण तेइसवें पटल में देखना चाहिए ॥ ४८ ॥

दक्षिणे प्रोक्षणीपात्रमाधायाऽद्भिः प्रपूरयेत् ।
किञ्चिदर्घ्याम्बु संगृह्य प्रोक्षण्यम्भसि योजयेत् ॥ ४९ ॥

दक्षिण इति । पात्रं ताम्रादिजं । यदाहुः—

रत्नं रौक्मं रौप्यमब्जं ताम्रं मृद्दारुपैत्तलम् ।
पाद्यं पालाशमुत्कृष्टान्यमन्त्राण्यच्युतार्चने ।
सर्वोत्कृष्टौ ताम्रशङ्खावर्घ्यायाऽब्जोऽतिशस्यते ॥ इति ॥ ४९ ॥

पुनः शङ्ख के दक्षिण भाग में ताम्रादि निर्मित प्रोक्षणी पात्र रख कर उसे जल से परिपूर्ण करे । पुनः शङ्ख स्थित अर्घ्यजल ले कर उसे प्रोक्षणी पात्र में मिला देवे ॥ ४९ ॥

अर्घ्यस्योत्तरतः कार्यं पाद्यं साचमनीयकम् ।
आत्मानं यागवस्तूनि मण्डलं प्रोक्षयेद् गुरुः ॥ ५० ॥
प्रोक्षणीपात्रतोयेन मनुनाऽन्यान्यपि क्रमात् ।

धर्मादिपूजा

न्यासक्रमेण देहे स्वे धर्मादीन् पूजयेत्ततः ॥ ५१ ॥

अर्घ्यस्येत्यर्घ्यपात्रस्य । शक्तौ सत्यां एतानि भिन्नानि । अशक्तौ एकेनैव सर्वम् । यदाहुः—एकस्मिन्नथवा पात्रे पाद्यार्घ्यादीनि कल्पयेत् । इति ।

मनुनेति मूलमन्त्रेण प्रोक्षयेदिति सम्बन्धः । इदञ्च सामान्यविधानम् । अन्यत्र तु मन्त्रविशेषे प्रोक्षणमन्त्र उक्तः । तत्र तेनैव प्रोक्षणमिति ज्ञेयम् । गुरुरित्यनेनेदं प्रोक्षणं त्रिरित्युक्तं भवति । यदाहुः—

प्रोक्षयेन्निजतनुं ततोऽमुना त्रिः करेण मनुनाऽखिलं तथा ।
साधनं कुसुमचन्दनादिकम् । इति ।

अन्यान्यपि यागवस्तूनि पूजाद्रव्याणि क्रमात् प्रोक्षयेदिति सम्बन्धः ॥

आन्तरं यागमाह न्यासेति । तदुक्तम्—

द्विविधं स्याल्लब्धमनोर्बाह्यान्तरमुपासनम् ।
न्यासिनाश्चान्तरं प्रोक्तमन्येषामुभयं तथा ॥ इति ।

वायवीयसंहितायामपि—आदावाभ्यन्तरं यागमग्निकार्यावसानकम् ।
विधाय मानवः पश्चाद् बहिर्यागं समाचरेत् ॥ इति ।

तथा संहितायां शम्भुवाक्यमपि—

न गृही ज्ञानमात्रेण परत्रेह च मङ्गलम् ।
प्राप्नोति चन्द्रवदने दानहोमादिभिर्विना ॥
गृहस्थो यदि जुहुयान्न दद्यादपि नेश्वरि ।
पूजयेद् विधिना नैव कः कुर्यादितदन्वहम् ॥
न ब्रह्मचारिणो दातुमधिकारोऽस्ति भामिनि ।
गुरुभ्योऽपि च सर्वेभ्यः को वा दास्यत्यपेक्षितम् ॥
नाऽरण्यवासिनां शक्तिर्न ते सन्ति कलौ युगे ।
परिव्राड् ज्ञानमात्रेण दानहोमादिभिर्विना ॥
सर्वदुःखपिशाचेभ्यो मुक्तो भवति नान्यथा ।
परिव्राड्विरक्तश्च विरक्तश्च गृही तथा ॥
कुम्भीपाके निमज्जेते द्वावुभौ कमलानने ।
पुण्याः स्त्रियो गृहस्थाश्च मङ्गलैर्मङ्गलार्थिनः ॥
पूजोपकरणैः कुर्युर्दद्युर्दानानि चार्हणाम् ।
वानप्रस्थाश्च यतयो यद्येवं कुर्युरन्वहम् ॥
संसारान्न निवर्त्तन्ते विध्यतिक्रमदोषतः ।
आरूढयतिता ह्येते भवेयुर्दुःखभाजनम् ॥ इति ।

अत्र न्यासक्रमेणेत्यनेनैतदुक्तं भवति । मण्डूककालाग्निरुद्रकूर्मान् आधार-स्वाधिष्ठाननाभिदेशेषु तत आधारशक्त्यादीन् हृदि पश्चाद्धर्मादीनष्टौ यथास्थानं सम्पूज्य पुनर्हृदि शेषादिपरतत्त्वान्ता पूजा । तदुक्तं रामपूर्वतापनीये—

मायाविद्ये ये कलापरे तत्त्वे सम्पूजयेद्विमलादीश्च शक्तीः । इति ॥ ५०-५१ ॥

अर्घ्य पात्र के उत्तरभाग में आचमनी युक्त पाद्य पात्र स्थापित करे । तदनन्तर गुरु स्वयं प्रोक्षणी के जल से मन्त्र पढ़ते हुये अपने को, यज्ञ की वस्तुओं को तथा मण्डल को प्रोक्षित करे ॥ ५० ॥

इसी प्रकार अन्यान्य वस्तुओं को भी प्रोक्षित करे । तदनन्तर अपने शरीर में न्यास क्रम के अनुसार धर्मादिकों की पूजा करे ।

विमर्श—यहाँ न्यास क्रम से पूजा का अभिप्राय इस प्रकार है—प्रथम मण्डूक, कालाग्नि, रुद्र तथा कूर्म के आधार स्वाधिष्ठान, नाभिदेश में पूजा करे और आधार शक्तियों की हृदय में पूजा करे । तदनन्तर धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य की यथास्थान पूजा करे ॥५१॥

अशक्तस्य विधिः

पुष्पाद्यैः पीठमन्वन्तं तस्मिंश्च परदेवताम् ।
पञ्चकृत्वः पुनः कुर्यात् पुष्पाञ्जलिमनन्यधीः ॥ ५२ ॥
उत्तमाङ्गहृदाधारपादसर्वाङ्गके क्रमात् ।
विना निवेद्यं गन्धाद्यैरुपचारैः समर्चयेत् ॥ ५३ ॥

पुष्पस्याद्यं गन्धः । बहुवचनमाद्यर्थं तेन गन्धाद्यैरित्यर्थः । एतादृशयुक्तिस्तु आदिशब्देन पुष्पमात्रग्रहणार्था । यद्वा पुष्पाणि च आद्यो गन्धश्च पुष्पाद्यैः । उपचारेषु गन्धानन्तरं पुष्पस्योद्दिष्टत्वात् । पीठमन्वन्तमिति । पीठशक्ति पीठमन्त्रपर्यन्तमित्यर्थः । तस्मिन्निति । एवम्भूते देहमये पीठे परदेवतां गन्धाद्यैरुपचारैः समर्चयेदित्यग्रिमेण सम्बन्धः । आद्येन पुष्पम् । तत्र विशेषमाह पञ्चेति ।

अनन्यधीरित्यनेन त्रिंशो वा इत्युक्तम् । तदुक्तमाचार्यैः—

कुर्यात् पुष्पाञ्जलिमपि निजदेहे पञ्चशोऽथवापि त्रिंशः । इति ।

विना निवेद्यमिति । अस्यायमभिप्रायः । आसनादिदीपान्तानुपचारान् प्रदर्श्य बाह्ये नैवेद्यं न देयम् । ततो गुरूपदिष्टविधिना कुण्डलिनीमुत्थाप्य द्वादशान्तं नीत्वा तत्रत्यशिवेन समागमय तदुत्थामृतधारया देवं प्रीणयेदिति ॥ ५२-५३ ॥

तदनन्तर उस स्वदेहमय पीठ में परदेवता की गन्ध-पुष्प द्वारा पीठ-शक्ति से लेकर पीठ-मन्त्र पर्यन्त पूजा कर अनन्यबुद्धि (एकाग्रचित्त) से अपने शरीर रूपी पीठ में पाँच बार पुष्पाञ्जलि समर्पित करे ॥ ५२ ॥

आचार्य आसन से लेकर दीप पर्यन्त समस्त उपचारों द्वारा स्वदेहमय पीठ के शिर हृदयाधार और पाद पर्यन्त स्थानों की (मानस) पूजा करे किन्तु बाहर नैवैद्य न देवे ॥ ५३ ॥

विमर्श—गुरु से उपदिष्ट मार्ग द्वारा कुण्डलिनी का उत्थापन करके द्वादश चक्र तक उसे लाकर वहाँ शिव से मिलाकर उससे उत्थित अमृतधारा से देवता को प्रसन्न करे । यह अन्तः नैवेद्य समर्पण है ।

गुरूपदिष्टविधिना शेषमन्यत् समापयेत् ।
सर्वमेतत् प्रयुञ्जीत प्रोक्षणीस्थेन वारिणा ॥ ५४ ॥

बहिर्यागविधिः

विसृज्य तोयं प्रोक्षण्याः पूरयेत्तां यथा पुरा ।
ततस्तन्मण्डलं मन्त्री गन्धाद्यैः साधु पूजयेत् ॥ ५५ ॥

गुरूपदिष्टेति । अन्यत् शेषं मानसौ धूपदीपौ मन्त्रजपः जपनिवेदनं ब्रह्मार्पणं क्षमापनादि विसर्जनवर्जम् । यदाहुः—

ध्यात्वा यजेच्चन्दनाद्यैर्मानसैर्धूपदीपकैः ।
भोजनावसरे किञ्चिज्जपं कृत्वा निवेदयेत् ॥ इति ।

अशक्तं प्रत्याह सर्वमिति । नत्वा गुरूनित्यादि एतदन्तं नित्यपूजायामपि समानम् । विशेषस्त्वयं नित्यपूजायाम् । एतच्छङ्खजलमेव वर्द्धन्यां निक्षिपेदिति । ततः प्राणायामत्रयं कृत्वा अष्टोत्तरसहस्रं नित्यजपं कृत्वा पुनः प्राणायामत्रयञ्च कुर्यात् । किञ्चन 'क्षिपतु वर्द्धनीजले' इति पुरतो जपस्य परतोऽपि 'विहितमथ तत्त्रयं बुधैः' इति चोक्तेः । तदुक्तं मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

अष्टोत्तरसहस्रन्तु कृत्वाऽन्तर्यागमादरात् ।
जपेत् प्रतिदिनं यत्तु नित्य एष जपः स्मृतः ॥
अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।
द्वादश्यां पूर्णिमायाञ्च तेषु नैमित्तिको जपः ॥
नित्यात् त्रिगुणितः सोऽथ पूजा चैव हरेस्तथा ॥ इति ।

आन्तरं यागमुक्त्वा बहिर्यागमाह तत इति । ततस्तदनन्तरं मन्त्री साधु शोभनत्वेन सर्वतोभद्रत्वमुक्तम् । तन्मण्डलं वेदिमध्यलिखितं सर्वतोभद्रमण्डलं गन्धाद्यैः पूजयेदिति सम्बन्धः । आदिशब्देन पुष्पम् । मन्त्रीत्यनेन श्रीसर्वतोभद्र-मण्डलाय नमः इति पूजामन्त्रः सूचित इति ज्ञेयम् ॥ ५४-५५ ॥

अन्य शेष कार्य जैसे (मानस, धूप, दीप, मन्त्रजप, जपनिवेदन तथा ब्रह्मार्पणादि कार्य) अपनी गुरु परम्परा की शिक्षा के अनुसार समाप्त करे । यह सारा कार्य प्रोक्षणी स्थित जल से करना चाहिए ॥ ५४ ॥

यहाँ तक अन्तर्याग कहा गया । अब **बहिर्याग की क्रिया** कहते हैं— तदनन्तर मन्त्रवेत्ता प्रोक्षणी का जल हटा देवे और पूर्ववत् दूसरे जल से उसे पूर्ण करे । पश्चात् सर्वतोभद्रमण्डल की—'सर्वतो भद्रमण्डलाय नमः'—इस मन्त्र से गन्धादि उपचारों द्वारा पूजा करे ॥ ५५ ॥

शालिभिः कर्णिकामध्यमापूर्योपरि तण्डुलैः ।
अलंकृत्य पुनस्तेषु दर्भानास्तीर्य तन्त्रवित् ॥ ५६ ॥

पीठपूजा । आधारशक्तिपूजा

कूर्च्चमक्षतसंयुक्तं न्यसेत्तेषामथोपरि ।
आधारशक्तिमारभ्य पीठं मन्त्रमयं यजेत् ॥ ५७ ॥

शालिभिरिति । उपरि शाल्युपरि तण्डुलैरलङ्कृत्य तण्डुलान् तत्र निक्षिप्येत्यर्थः । पुनरनन्तरम् । तेषु तण्डुलेषु । तत् प्रमाणमन्यत्रोक्तम्—

शालींस्तु कर्णिकायाञ्च निक्षिप्याढकसम्मितान् ।
तण्डुलांश्च तदष्टांशान् कूर्च्चञ्चोपरि विन्यसेत् ॥ इति ।

आढकलक्षणन्तु—'कुडवश्चतुःपलः स्यात् । प्रस्थः कुडवैश्चतुर्भिः स्यात् । प्रस्थैश्चतुर्भिराढकः ।' इति । तदष्टांशानिति कुडवद्वयमितान् । शास्त्रोक्ततोलकाष्टकं

पलम् । सप्तविंशतिसाग्रदर्भपत्रमयं वेण्याकारेण ग्रथितं विष्टरापरपर्यायं कूर्चम् ।

तदुक्तं डामरे— सप्तविंशतिदर्भाणां वेण्यग्रे ग्रन्थिभूषितम् ।
विष्टरे सर्वयज्ञेषु लक्षणं परिकीर्त्तितम् ॥ इति ।

अत्र आत्मादितत्त्वत्रयेण देवं सम्पूज्य बाह्यपूजामारभेदिति सम्प्रदायविदः ।

आधारशक्तीति । अत्र प्रथमं गुरुगणपतिपूजनं कुर्यात् । तदुक्तम्—

वायव्यास्त्रादीशपर्यन्तमर्चापीठस्योदग्गौरवी पङ्क्तिरादौ ।
पूज्योऽन्यत्राप्याम्बिकेयः कराब्जैः पाशं दण्डं श्रृण्यभीति दधानः ॥ इति ।

अन्यत्रापि—पीठस्योत्तरे भागे गुरुपङ्क्तिं पूजयेच्च मन्त्रवित् ।
यावद् गिरीशकोणं वायोः कोणं समारभ्य ॥
अथ गुरुपरमगुरू द्वौ परमेष्टिगुरुं तथाऽभ्यर्च्य ।
परमाचार्यगुरुश्चादिसिद्धिगुरुमथार्चयेत् स्वगुरुम् ॥ इति ।

अत्र परमाचार्यगुर्वनन्तरं परापरगुरुः परमसिद्धिगुरुरपि ज्ञेयः । तेषां ध्यानं मन्त्रतन्त्रप्रकाशे उक्तम्—

श्वेताम्बरधरा गौरा गुरवः पुस्तकान्विताः ।
व्याख्यानमुद्रया युक्ता ध्यायन्तो वा हरिं निजम् ।
ध्यातव्याः पूजनादौ च तद्ध्यानाज् ज्ञानवान् भवेत् ॥ इति ।

शाक्तादौ तु विशेषस्तन्त्रान्तरे—

ते रक्तमाल्याम्बरगन्धभूषाः स्वलङ्कृता पङ्कजविष्टरस्थाः ।
सर्वे च सालम्बनयोगनिष्ठाः प्राप्ताखिलैश्वर्यगुणाष्टकार्थाः ॥ इति ।

तत्र श्रीगुरुभ्यो नमः इत्यादि प्रयोगः ।

देवं गुरुं गुरुस्थानं क्षेत्रं क्षेत्राधिदेवताः ।
सिद्धं सिद्धाधिकारांश्च श्रीपूर्वं समुदीरयेत् ॥

इत्युक्तेः अर्चयेदित्युक्तम् ॥ ५६-५७ ॥

तन्त्रवेत्ता कर्णिका के मध्य आढ़क प्रमाण शालि धान्य से परिपूर्ण कर उसके ऊपर अष्टमांश चावल रख कर, उस पर पुनः कुशा रखे ॥ ५६ ॥

पुनः कुश समूह पर अक्षत रख कर उसके ऊपर आधार शक्ति से आरम्भ कर मन्त्रमय पीठ की पूजा करे ॥ ५७ ॥

कूर्मध्यानम् । अनन्तध्यानम्

अधः कूर्मशिलारूढां शरच्चन्द्रनिभप्रभाम् ।
आधारशक्तिं प्रयजेत् पङ्कजद्वयधारिणीम् ॥ ५८ ॥
मूर्ध्नि तस्याः समारूढं कूर्मं नीलाभमर्चयेत् ।
ऊर्ध्वं ब्रह्मशिलासीनमनन्तं कुन्दसन्निभम् ॥ ५९ ॥

यजेच्चक्रधरं मूर्ध्नि धारयन्तं वसुन्धराम् ।
तमालश्यामलां तत्र नीलेन्दीवरधारिणीम् ॥ ६० ॥

वसुमत्यादि

अभ्यर्चयेद्वसुमतीं स्फुरत्सागरमेखलाम् ।
तस्यां रत्नमयं द्वीपं तस्मिंश्च मणिमण्डपम् ॥ ६१ ॥
यजेत् कल्पतरूंस्तस्मिन् साधकाभीष्टसिद्धिदान्।
अधस्तात् पूजयेत्तेषां वेदिकां मण्डपोज्ज्वलाम् ॥ ६२ ॥
पश्चादभ्यर्चयेत्तस्यां पीठं धर्मादिभिः पुनः।
रक्तश्यामहरिद्रेन्द्रनीलाभान् पादरूपिणः ॥ ६३ ॥

तदेवाह अध इति । अनेनैतदुक्तं भवति । कर्णिकायां महाकायं रक्तं मण्डूकं मण्डूकाय नमः इति यजेत् । तदूर्ध्वं दशभुजं पञ्चवक्त्रं रक्तकृष्णदक्षिणवामपार्श्वं कालाग्निरुद्रं कालाग्निरुद्राय नम इति । तदुपरि महाकायं कूर्मं कूर्माय नम इति । तदुक्तं शौनककल्पे—

मण्डूकादि पृथिव्यादि कर्णिकायां यजेत् क्रमात् । इति ।

नारसिंहकल्पेऽपि—पद्मेऽष्टपत्रे मण्डूकं परतत्त्वान्तमर्चयेत् । इति ।

कूर्मशिलेति । कूर्माकारा शिला कूर्मशिला तामारूढाम् । पूर्वं पूजितः कूर्म एव कूर्मशिलेति ज्ञेयम् । वक्ष्यमाणस्तु कूर्मस्तद्भिन्न एव ।

तदुक्तं तापनीये—'शक्तिं चाधाराख्यकां कूर्मनागौ' इति । शरच्चन्द्रस्येत्यस्यार्थः पूर्ववज् ज्ञेयः । ब्रह्मशिलेति मूलप्रतिमाधस्तन शिलायाः संज्ञा । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—

शोधितां चन्दनालिप्तां श्वभ्रे ब्रह्मशिलां क्षिपेत् ।
रत्न (तत्त्व) न्यासं ततः कृत्वा नवभिः शक्तिनामभिः ॥
हरितालादि धातूंश्च बीजं गन्धौषधीरपि ।
शिवशास्त्रोक्तविधिना क्षिपेद्ब्रह्मशिलोपरि ॥ इत्यादिना
'लिङ्गं ब्रह्मशिलोपरि । प्रागुदक्प्लवनं किञ्चित्' इत्यन्तेन ।

अनन्तमिति । 'नाभ्यूर्ध्वं नराकृतिमधस्त्वह्याकृतिमेककुण्डलं सहस्रफणम्' इति तत् स्वरूपम् । अन्यत्र तद्ध्यानमुक्तम्—

द्वात्रिंशद्भिः खलु तत्त्वैर्धराद्यैर्विद्यान्तैः स्वैर्महितं विष्णुतेजः ।
आनन्त्यं तत्कथितं ह्यासनं स्यात् पीठाकारः स तु नागोऽह्यनन्तः ॥ इति ।

अन्यत्रापि— तत्त्वैर्धरादिविद्यान्तैर्द्वात्रिंशत्संख्यकैरिह ।
पीठाकारोऽह्यनन्तः स्यादनन्तासनमीरितम् ॥ इति ॥

नीलेन्दीवरे धारयतीति समासः । वक्ष्यति 'इन्दीवरे द्वे' इति ।

स्फुरत्सागरमेखलामित्यनेन पृथिव्यनन्तरं सागराय नम इति समुद्रः पूज्य इत्यर्थः ।

तत्र सरस्वतीमन्त्रे विद्याब्धिः लक्ष्मीविष्णुमन्त्रे क्षीराब्धिः गणेशमन्त्रे इक्षुरसः समुद्रः । अन्यत्रामृतसमुद्र इत्यादि ज्ञेयम् । तस्यां विशिष्टायाम् ॥ ५८-६३ ॥

आसन के नीचे कूर्म की आधारभूत शिला पर आरूढ़ शरच्चन्द्र की चन्द्रिका के समान शोभा वाली दो कमल के पुष्पों को धारण करने वाली आधार शक्ति का पूजन करे ॥ ५८ ॥

विमर्श—इसका तात्पर्य यह है कि कर्णिका में महाकाय रक्तवर्ण वाले मण्डूक की 'मण्डूकाय नमः' इस मन्त्र से पूजा करे । उसके ऊपर दश भुजा वाले, पाँच मुख वाले रक्त कृष्ण दक्षिणवाम पार्श्व वाले कालाग्नि नामक रुद्र की 'कालाग्निरुद्राय नमः'—इस मन्त्र से पूजा करे । उसके ऊपर विशालकाय वाले कूर्म की 'कूर्माय नमः' मन्त्र से पूजा करे । पुनः कूर्मशिला पर आरूढ़ आधार शक्ति की पूजा करे ॥ ५८ ॥

उस आधार शक्ति के ऊपर (पूर्व कथित कूर्म शिला से भिन्न) नीलवर्ण वाले कूर्म की पूजा करे । उसके ऊपर ब्रह्म शिला पर आसीन कुन्द के समान स्वच्छ वर्ण वाले अनन्त नामक आसन की 'अनन्ताय नमः'—इस मन्त्र से पूजा करे ॥ ५९ ॥

अनन्त के शिर पर तमाल श्यामला, नीलेन्दीवरी धारिणी वसुन्धरा को धारण करने वाले चक्रधारी वाराह रूपी विष्णु का 'वराहरूपधारिणे नमः'—इस मन्त्र से पूजन करे ॥ ६० ॥

सागर रूप मेखला वाली वसुमती को 'वसुमत्यै नमः'—इस मन्त्र से, तदनन्तर 'समुद्राय नमः' इस मन्त्र से सागर का पूजन करे । तदनन्तर पृथ्वी में रहने वाले रत्नमय सात द्वीपों की पूजा करे । तदनन्तर मणिमय मण्डप की पूजा करे ॥ ६१ ॥

पुनः उस मणिमण्डप में साधकों का अभीष्ट पूर्ण करने वाले कल्पवृक्षों की पूजा करे । उस कल्पवृक्ष के नीचे मण्डप के समान उज्ज्वल वर्ण वाली वेदिका को 'वेदिकायै नमः' इस मन्त्र से पूजन करे ॥ ६२ ॥

तदनन्तर धर्मादिकों के साथ पीठ का पूजन करे । इसमें धर्म रक्तवर्ण तथा वृष स्वरूप हैं । ज्ञान श्याम वर्ण तथा सिंहस्वरूप है । वैराग्य पीतवर्ण तथा भूत स्वरूप है । ऐश्वर्य काला तथा गज का स्वरूप है । इस प्रकार ये सभी धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य उस पीठ के पादस्वरूप हैं ॥ ६३ ॥

वृषकेशरिभूतेभरूपान् धर्मादिकान् यजेत् ।
गात्रेषु पूजयेत्तांस्तु नञ्पूर्वानुक्तलक्षणान् ॥ ६४ ॥

वृषेति । केशरी सिंहः । भूतो देवयोनिः । तत्स्वरूपमुक्तमन्यत्र—

रक्तवस्त्रधराः कृष्णा नखदंष्ट्राः सुदंष्ट्रिकाः ।

कर्त्रीखट्वाङ्गहस्ताश्च राक्षसा घोररूपिणः ॥
भूतास्तथैव दीनास्याः । इति ।

इभो हस्ती । नञ्पूर्वान् अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यान् । उक्तलक्षणानिति रक्तादिवर्णान् वृषभादिरूपान् । उक्तञ्च—

धर्मं रक्तं वृषरूपञ्च सिंहं ज्ञानं श्यामं दुष्टभूतञ्च पीतम् ।
वैराग्यं स्याद् गजरूपासिताङ्गमैश्वर्यञ्च क्रमतः पीठपादाः ॥
पीठस्येशा स्युरधर्मादयो ये ये चत्वारस्ते ह्युदिताकाररम्याः । इति ॥ ६४ ॥

इस प्रकार वृष, सिंह, भूत तथा हस्ति स्वरूप धर्मादिकों की पूजा कर पीठ देवता के गात्र में अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य जो ऊपर कहे गये वृष सिंह, भूत तथा हस्ती स्वरूप हैं उनका भी पूजन करे ॥ ६४ ॥

आग्नेयादिषु कोणेषु दिक्षु चाथाम्बुजं यजेत् ।
आनन्दकन्दं प्रथमं संविन्नालमनन्तरम् ॥ ६५ ॥

आग्नेयादिष्विति । आदिशब्देन निर्ऋतिवाय्वीशकोणानां ग्रहणम् । दिक्षु प्राग्-दक्षिणपश्चिमोत्तरासु । चः समुच्चये । 'आशाश्चतस्रो लभ्यन्ते दिक्शब्देन वृषादयः' इति परिभाषणात् । वायवीयसंहितायामपि—

अधर्मादींश्च पूर्वादीनुत्तरान्ताननुक्रमात् । इति ।

इह देवतापुरोभागस्य पूर्वत्वमित्याचार्याः । तथा चागमे—

देवसाधकयोरन्तः पूर्वा सा दिगिहोच्यते । इति ।

अन्यत्रापि—देवाग्रे स्वस्य चाप्यग्रे प्राची प्रोक्ता तु देशिकैः ।
प्राच्येव प्राची चोद्दिष्टा मुक्त्वा तु देवतार्चनम् ॥ इति ।

तन्त्रान्तरेऽपि—यत्रैव भानुस्तु वियत्युदेति प्राचीति तां वेदविदो वदन्ति ।
तथा परा पूजकपूज्ययोश्च सदागमज्ञाः प्रवदन्ति तान्तु ॥ इति ।

अन्यत्रापि द्वारपूजावसरे—देवस्य मुखमारभ्य दिशं प्राचीं प्रकल्पयेत् ।
तदादिपरिवाराणामङ्गाद्यावरणस्थितिः ॥ इति ।

अत्र युक्तिरपि । देहे पीठदेवतान्यासावसरे मुखे अधर्मन्यास उक्तः । स चाग्रभागः । महागणपतिपूजावसरे ग्रन्थकृदपि त्रिकोणबाह्ये पूर्वादिचतुर्दिक्षु समर्चये-दित्युक्त्वा अग्रस्थबिल्ववृक्षाधः इत्युक्तवान् । तथा रामपूजायां द्वितीयावरणे 'हनूमन्तं ससुग्रीवम्' इत्युक्त्वा पुनराह 'वाचयन्तं हनुमन्तमग्रतो धृतपुस्तकम् ।' इति । अन्यच्च उत्तराभिमुखत्वेनापि पूजा विहिता । कर्मान्तरे च प्रतीच्यादिमुखत्वेन च । तत्र चाधर्मादिपूजनम् अङ्गादिपूजनं च कदाचित् क्रमान्तरेण स्यात् । अन्यदा क्रमेण स्यादित्यादि विरुद्धम् । तन्त्रान्तरे च—

होतुः पूर्वं पूर्वभागं प्रदिष्टं सव्यं भागं दक्षिणन्त्वागमज्ञैः ।
दक्षं विद्यादुत्तरं भागमग्र्यं प्रज्ञावद्भिः पश्चिमं भागमुक्तम् ॥ इति ।

नृसिंहकल्पे च— अथावरणपूजायां पुरः प्राचीं प्रकल्पयेत् ।
तदादिपरिवाराणां प्रादक्षिण्येन पूजनम् ॥ इति ।

नारायणीयेऽपि— शक्तीरग्रादिपत्रेषु लक्ष्म्याद्या धृतचामराः । इति ।

अत एव पीठशक्त्यादिपूजने अग्रदलादीति व्याख्यास्यते । तेनोदङ्मुख-पूजादावपि स्वाग्रभागस्य पूर्वत्वमाकल्प्या धर्मादिपूजनमङ्गादिपूजनमिति ज्ञेयम् । तेन यन्त्रादावपि दलेष्वक्षरलेखने अग्रदलात् प्रभृति लेखनीयमिति ज्ञेयम् । इयं दिक् चरार्चायाम् । अथाम्बुजं यजेदिति वक्ष्यमाणक्रमेण । अत्राम्बुजात् पूर्वमनन्ताय नमः इत्यनन्तं पूजयेदित्यथशब्देनोक्तम् । तदुक्तम्— हृद्यथ शेषमम्बुजम् । इति ।

शरीरे न्यासावसरे ग्रन्थकृदप्युक्तवान्—

'अनन्तं हृदये पद्ममस्मिन् ।' इति ॥ ६५ ॥

पीठ देवता का मुख भाग प्राची कहा जाता है, अतः आग्नेयादि कोणों में तथा पूर्वादि दिशाओं में क्रमशः धर्मादिकों तथा अधर्मादि चतुष्टय की पूजा कर हृदय स्थान में अनन्त नामक पद्म की पूजा करें, जिस पद्म का आनन्द ही कन्द है, और संवित् (तत्त्वज्ञान) जिसका नाल है, उसकी भी पूजा करे ॥ ६५ ॥

सर्वतत्त्वात्मकं पद्ममभ्यर्च्य तदनन्तरम् ।
मन्त्री प्रकृतिपत्राणि विकारमयकेसरान् ॥ ६६ ॥

कर्णिकापूजा

पञ्चाशद्बीजवर्णाढ्यां कर्णिकां पूजयेत्ततः ।

तत्र सूर्येन्दुपावककलापूजा

कलाभिः पूजयेत् सार्द्धं तस्यां सूर्येन्दुपावकान् ॥ ६७ ॥

सत्त्वादिपूजा । चतुरात्मपूजा

प्रणवस्य त्रिभिर्वर्णैरथ सत्त्वादिकान् गुणान् ।
आत्मानमन्तरात्मानं परमात्मानमर्चयेत् ॥ ६८ ॥
ज्ञानात्मानञ्च विधिवत् पीठमन्त्रावसानकम् ।
पीठशक्तीः केसरेषु मध्ये च सवराभयाः ॥ ६९ ॥

कलाभिरिति । तत्र द्वादशकलात्मकसूर्यमण्डलाय षोडशकलात्मकचन्द्र-मण्डलाय दशकलात्मकवह्निमण्डलाय इति केचन कलाभिः सार्द्धमित्यस्यार्थं व्याचक्षते । अन्ये त्वन्यथा वर्णयन्ति । द्वादशकलादित्वमनुक्तमपि लभ्यते । तेन सूर्यमण्डलं सम्पूज्य तत्र द्वादशकलाः ततः सोममण्डलं तत्षोडशकलाः ततः अग्निमण्डलं तद्दशकलाः पूजयेदिति । अयं साम्प्रदायिकः पक्षः । तस्यामिति कर्णिकायाम् । प्रणवस्य त्रिभिर्वर्णैरकारोकारमकारैः । कलाभिः सार्द्धं सूर्येन्दु-पावकान् पूजयेदिति सम्बन्धः ।

तदुक्तम्— 'सूर्येन्दुवह्नीन् प्रणवांशयुक्तान्' इति ।

एतेन तत्तन्मण्डलाधिष्ठातृदेवता ब्रह्मविष्ण्वीशास्तत्तन्मण्डले पूजनीया इति सूचितम् ।

यदाहुः— सौरे बिम्बे चतुरास्यः किरीटीं हंसे सौधं कलशं चाक्षमालाम् ।
ब्रह्मा विभ्रद्वरदश्चाभयाख्यं हस्तैर्ध्येयः सितवस्त्रश्चतुर्भिः ॥
सौम्ये बिम्बे गरुडे मेघनीलश्चक्रं शङ्खं सगदाब्जं दधानः ।
हारी माली कटकी सत्किरीटी विष्णुः पीतं वसनं कौस्तुभञ्च ॥
अग्नेर्बिम्बे वृषभे चन्द्रमौलिः श्वेतो रुद्रो दशबाहुस्त्रिनेत्रः ।
टङ्कैणाग्नित्रिशिखाह्युत्कपाल मुद्राक्षस्रग्वरदाभीतिपाणिः ॥ इति ।

अन्यत्रापि—ब्रह्मविष्ण्वीश्वरास्त्वर्च्याः क्रमाद्वै मण्डलत्रये । इति ।

अथ सत्त्वादिकानिति । शुक्लरक्तकृष्णरूपान् । तदुक्तम्—

सितरक्तासिताः प्रोक्ता गुणाः पीठोपरि स्थिताः । इति ।

विधिवदित्यनैतदुक्तं भवति । एतदनन्तरं मायाकलाविद्यापरतत्त्वानि सम्पूजयेदिति ।

आत्मादि परतत्त्वान्तमिष्ट्वा शक्तीः प्रपूजयेत् । इत्युक्तेः ।

वैहायसीमन्त्रप्रकाशेऽपि—

सत्त्वं रजः शार्वरसंज्ञकञ्च बिम्बानि चार्केन्दुहुताशनानाम् ।
सम्पूजयेदात्मचतुष्टयान्ते विद्यादिकं तत्त्वचतुष्टयञ्च ॥ इति ।

वायवीयसंहितायामपि—त्रिमण्डलोपर्यात्मादितत्त्वत्रितयमासनम् । इति ।

पीठमन्त्रावसानकमित्यनेनाक्षिप्तानां पीठशक्तीनां पूजास्थानमाह पीठेति । केसरेषु पूजितपद्मकेसरेषु । तत्र अग्रदलाद्यष्टसु प्रादक्षिण्येन मध्ये च पीठशक्तिपूजां कृत्वा पीठमन्त्रपूजनमित्यर्थः ।

असव्येनाविशेषोक्तौ क्रमः सर्वत्र गृह्यते । इति परिभाषणात् । अत एव देहे पीठदेवतान्यासावसरे पीठशक्तिन्यास उक्तो मया । पीठशक्तयः पीठमन्त्राश्च तत्तन्मन्त्रे वक्ष्यन्ते । सवराभया इति ध्यानम् । आसां वर्णा अप्युक्ता आचार्यैः—

श्वेता कृष्णा रक्ता पीता श्यामाऽनलोपमा शुक्ला ।
अञ्जनजपासमाने तेजोरूपाश्च शक्तयः प्रोक्ताः ॥ इति ।

मण्डूकादि एतदन्तं नित्यपूजायामपि समानम् ॥ ६७-६९ ॥

इस प्रकार मन्त्रज्ञ आचार्य, अनन्त स्वरूप पद्म की पूजा कर, उस पद्म के प्रकृति रूप पत्र विकारमय केशर तथा पचास वर्ण स्वरूप कर्णिका की पूजा करे । पुनः कर्णिका में कलाओं के सहित सूर्यमण्डल, इन्द्रमण्डल तथा पावकमण्डल की पूजा करे ॥ ६६-६७ ॥

पुनः उसी कर्णिका में प्रणव के आकार, उकार तथा मकार रूप तीन वर्णों के साथ सत्त्वादिक त्रिगुण की पूजा करे । तदनन्तर आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा तथा ज्ञानात्मा की पूजा करे । पुनः केशर में पीठ शक्ति तथा पीठमन्त्र की पूजा

करे । पूजा काल में वर तथा अभय मुद्रा धारण किये हुये पीठ शक्तियों का भी ध्यान करे ॥ ६८-६९ ॥

कुम्भस्थापनविधिस्तच्छोधनञ्च

हेमादिरचितं कुम्भमस्त्राद्भिः क्षालितान्तरम्।
चन्दनागुरुकर्पूरधूपितं शोभनाकृतिम् ॥ ७० ॥
आवेष्टिताङ्गं नीरन्ध्रं तन्तुना त्रिगुणात्मना ।
अर्चितं गन्धपुष्पाद्यैः कूर्च्चाक्षतसमन्वितम् ॥ ७१ ॥

एवं पूजिते पीठे कुम्भस्थापनमाह हेमादीति । आदिशब्देन राजतताम्रमृण्मयाः शक्त्यनुसारेण ज्ञेयाः । कुम्भं कलशम् । तदुक्तं महाकपिलपञ्चरात्रे—

सौवर्णं कलशं रम्यं रौप्यं ताम्रमथापि वा ।
निर्दोषं मृण्मयं वापि चन्दनेन विलेपितम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— सौवर्णं राजतं वापि मार्त्तिकं वा यथोदितम् ।
क्षालयेदस्त्रमन्त्रेण कुम्भं सम्यक् सुरेश्वरि ॥ इति ।

अन्यत्र कलशशब्दव्युत्पत्तिः प्रमाणञ्चोक्तम्—

कलां कलां गृहीत्वा वै देवानां विश्वकर्मणा ।
निर्मितोऽयं सुरैर्यस्मात् कलशस्तेन उच्यते ॥
पञ्चाशदङ्गुलव्यास उत्सेधः षोडशाङ्गुलः ।
कलशानां प्रमाणन्तु मुखमष्टाङ्गुलं भवेत् ॥ इति ।

पद्मपादाचार्यैस्तु कलाः शेरते इति व्युत्पत्तिः कृता । अस्त्राद्भिः अस्त्रमन्त्रजप्तोदकैः । त्रिगुणात्मना त्रिगुणेन सत्त्वादिगुणरूपेण च तन्तुना आवेष्टिताङ्गम् । तेन कण्ठे सूत्रवेष्टनं कुर्वन्ति । नीरन्ध्रमिति कुम्भविशेषणम् । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—

सौवर्णं राजतं वापि ताम्रं मृण्मयमेव वा ।
गन्धपुष्पाक्षताकीर्णं कुशदूर्वाङ्कुरार्चितम् ।
सितसूत्रावृतं कण्ठे नववस्त्रयुगावृतम् ॥ इति ।

केचित्तु नीरन्ध्रं यथा स्यात्तथा तन्तुना आवेष्टिताङ्गमिति योजयन्ति । तन्मते सर्वोऽपि घटः तन्तुवेष्टितो भवति । तदात्राङ्गशब्दवैयर्थ्यं स्यात् । अन्यत्र विशेषः—

कन्याकर्त्तितसूत्रेण त्रिगुणेन च कर्मणा ।
गुणत्रयात्मकेनैव वेष्टयेदभितः समम् ॥ इति ।

आदिशब्देन धूपः ॥ ७०-७१ ॥

इस प्रकार पूजा समाप्त करने के पश्चात् सुवर्णादि निर्मित एवं देखने में मनोहर कुम्भ का अस्त्र मन्त्र (अस्त्राय फट्) से प्रक्षालन करे । तदनन्तर चन्दन, अगुरु तथा कपूर का धूप देकर उसे सुवासित करे ॥ ७० ॥

छिद्र रहित उस घट को त्रिगुणात्मक तन्तु से आवेष्टित करे । पुनः उसमें कुश तथा अक्षत आदि डालकर गन्ध पुष्पादि से उसे अर्चित करे ॥ ७१ ॥

नवरत्नोदरं मन्त्री स्थापयेत्तारमुच्चरन् ।
ऐक्यं सङ्कल्प्य कुम्भस्य पीठस्य च विधानवित् ॥ ७२ ॥

नवरत्नोदरमिति । नवरत्नानि षष्ठे वक्ष्यन्ते । एवम्भूतं कुम्भं तारमुच्चरन् स्थापयेदित्यन्वयः । अत्र तारशब्देन यथास्वं तत्तन्मन्त्रेषु पञ्चप्रणवानामपि ग्रहणमिति ज्ञेयम् । मन्त्रीत्यनेन मूलमन्त्रोच्चारोऽप्युक्तः । विधानविदित्यनेन विनापि पञ्चाश-दौषधिक्वाथैः तज्जन्य सामर्थ्योपपादनक्षम इत्युक्तम् ॥ ७२ ॥

पुनः कलश में नव रत्न (द्र. ६. ९४-९५) छोड़कर 'ॐकार' का उच्चारण करते हुये मन्त्र विधानवेत्ता साधक आचार्य, पीठ और कुम्भ में ऐक्य की भावना करते हुये उसे स्थापित करे ॥ ७२ ॥

क्षीरद्रुमकषायेण पलाशत्वग्भवेन वा ।
तीर्थोदकैर्वा कर्पूरगन्धपुष्पसुवासितैः ॥ ७३ ॥
आत्माभेदेन विधिवन्मातृकां प्रतिलोमतः ।
जपन्मूलमनुं तद्वत् पूरयेद् देवताधिया ॥ ७४ ॥

क्षीरेति । क्षीरद्रुमकषायेण अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटत्वक्कषायेण इत्यर्थः । आयुर्वेदोक्तरीत्या चतुर्थांशावशेषः कषायो ग्राह्यः । विधिवदिति सबिन्दुकम् । तद्वदिति विलोमेन । आत्माभेदेन देवताधिया पूरयेदिति सम्बन्धः । आत्मदेवताजलानामैक्यं भावयन्नित्यर्थः ॥ ७३-७४ ॥

क्षीरद्रुम (अश्वत्थ उदुम्बर, प्लक्ष या वट) के त्वक् (छाल) के कषाय से अथवा केवल पलाश के छाल के कषाय (आयुर्वेद की रीति से अग्नि पर तपाये गये चतुर्थांश जल को कषाय कहते हैं) से अथवा तीर्थ जल से जो कपूर, गन्ध, और पुष्प से सुवासित हो, देवता बुद्धि करते हुये घट को पूर्ण करे । घट में जल भरते समय, प्रतिलोम क्रम से मातृका वर्ण पढ़कर मूल मन्त्र का जप करते रहना चाहिए ॥ ७३-७४ ॥

शङ्खे क्वाथाम्बुसम्पूर्णे गन्धाष्टकमभीष्टदम् ।
विलोड्य पूजयेत्तस्मिन्नावाह्य सकलाः कलाः ॥ ७५ ॥
दश वह्नेः कलाः पूर्वं द्वादश द्वादशात्मनः ।
कलाः षोडश सोमस्य पश्चात् पञ्चाशतं कलाः ॥ ७६ ॥
जपित्वा प्रतिलोमेन मूलमन्त्रञ्च मन्त्रवित् ।
समाहितेन मनसा ध्यायन्मन्त्रस्य देवताम् ॥ ७७ ॥

शङ्ख इति स्थापितशङ्खादन्यस्मिन् । तत्र शङ्खस्थापनान्तं कर्म पूर्ववत् कार्यम् । क्वाथाम्बुनेति कलशपूरणावशिष्टेन सम्पूर्ण इति । समूलेन हृदयेन गन्धाष्टकं विलोड्य इति पिष्टगन्धाष्टकम् । तदुक्तम्—

अष्टमूर्त्यात्मकं पिष्टमष्टगन्धं विलोड्य च । इति ।

अभीष्टदमित्यनेन गन्धद्वारामित्यस्य जप उक्तः । पूजयेदिति शिरसा धेनुमुद्रां प्रदर्श्येति ज्ञेयम् । सकलाः चतुर्नवति । द्वादशात्मन इति सूर्यस्य । पश्चादित्यनेनैतदुक्तम् । अकारजकलानन्तरं हंस इति । उकारजानन्तरं प्रतद्विष्णुरिति । मकारजानन्तरं त्र्यम्बकमिति । बिन्दुजानन्तरं तत्पदादिकम् । नादजानद्वारं विष्णुर्योनिमिति ऋचं पठेत् । पञ्चाशत् एकपञ्चाशत्कलाः तारपञ्चभेदोत्पन्नाः । अत्राष्टत्रिंशत्कलाः तत एकपञ्चाशत्कलाः पश्चात् पञ्चगुप्तकलाश्च शङ्खजले पूजनीयाः । ताश्च इच्छाज्ञानाक्रियाचिदात्मानन्दात्मिकाः । एवञ्चाष्टत्रिंशत्कलाः पञ्चाशत्कला एकाधिकाः पञ्च गुप्तकलाश्चेति चतुर्नवतिदेवतात्मकत्वम् ।

यदाहुराचार्याः— प्रथमं प्रकृतेर्हंसः प्रतद्विष्णुरनन्तरम् ।
त्रियम्बकस्तृतीयः स्याच्चतुर्थस्तत्पदादिकः ॥
विष्णुर्योनिमितीत्यादि पञ्चमः कल्प्यतां मनुः ।
चतुर्नवतिमन्त्रात्मदेवमा (ता) वाह्य पूज्यताम् ॥
अत्र याः पञ्च संप्रोक्ता ऋचस्तारस्य पञ्चभिः ।
कलाप्रभेदैश्च मिथो युज्यन्ते ताः पृथक् पृथक् ॥ इति ।

अन्यत्रापि—चतुर्नवति संख्याश्च समावाह्य कलाः क्रमात् । इति ।

समाहितेनेति । मन्त्रस्य देवतां समाहितेन मनसाध्यायन् प्रतिलोमेन मूलमन्त्रं जपित्वा तामेवावाह्य पूजयेदिति सम्बन्धः । इदं चकारानमन्त्रवित्पदाच्च लभ्यते ।

यदाहुः— मूलमन्त्र समुच्चार्य देवमावाह्य मन्त्रवित् ।
अभ्यर्च्च्य शङ्खसलिलं दिव्यकुम्भे विनिक्षिपेत् ॥ इति ।

समाहितेन मनसेति प्रसङ्गसङ्गत्याऽत्रोक्तं परं सर्वत्र ध्याने इदं विशेषणं ज्ञेयम् । अन्यथा ध्यानस्यैव कर्त्तुमशक्यत्वात् ॥ ७५-७७ ॥

कलश में भरने से शेष क्वाथ को अर्घ्यपात्र स्थित शङ्ख के अतिरिक्त किसी दूसरे शङ्ख में डाल देवे । पुनः 'गन्धद्वाराम्' इस मन्त्र को पढ़कर गन्धाष्टक को भली प्रकार विलोडित करे ।। ७५ ।।

तदनन्तर अग्नि की दश कलायें, सूर्य की बारह कलायें, सोम की सोलह कलायें इस प्रकार कुल ३८ कला, फिर ॐकार की ५१ कला, तदनन्तर ५ गुप्त कला का इस प्रकार कुल ९४ कलाओं का आवाहन कर उनका पूजन करे ।। ७६ ।।

तदनन्तर मन्त्रवेत्ता प्रतिलोम क्रम से मूल मन्त्र का एकाग्ररूपेण जप करते हुये मन्त्र के देवता का ध्यान करे ॥ ७७ ॥

प्राणप्रतिष्ठा

प्राणप्रतिष्ठां कुर्वीत तत्र तत्र विचक्षणः।
कलात्मकं शङ्खसंस्थं क्वाथं कुम्भे विनिक्षिपेत्॥ ७८ ॥

प्राणेति । प्रतिष्ठाशब्दव्युत्पत्तिरुक्ता महाकपिलपञ्चरात्रे—

प्रतिष्ठाशब्दसंसिद्धिः प्रतिपूर्वात्तु तिष्ठतेः ।
बह्वर्थत्वान्निपातानां संस्कारादी प्रतेः स्थितिः ॥
अर्थस्तदयमेतस्य गीयते शाब्दिकैर्जनैः ।
विशेषसन्निधिर्या तु क्रियते व्यापकस्य हि ॥
सन्मूर्त्तौ भावना मन्त्रैः प्रतिष्ठा साऽभिधीयते । इति ।

तत्र प्रयोगः । धूम्रार्चिराहूता भवेत्यावाहन्याद्यष्टमुद्राः प्रदर्श्य यं धूम्रार्चिषे नम इति सम्पूज्य प्राणप्रतिष्ठामन्त्रे अमुष्यपदस्थाने षष्ठ्यन्तं धूम्रार्चिःपदं प्रक्षिप्य प्राणप्रतिष्ठां कुर्यात् । एवं सर्वास्वपि कलासु । अथवा दशानामप्यग्निकलानाम् एकदैवावाहनादि कृत्वा प्रत्येकं पूजां कृत्वा प्राणप्रतिष्ठामन्त्रे अमुष्यपदस्थाने सर्वासां षष्ठ्यन्तं नामोच्चार्य प्राणप्रतिष्ठां कुर्यात् । कलाध्यानं द्वितीयपटलोक्तमनुसन्धेयम् । तत्र तत्रेत्यस्यायमर्थः । प्रथमं दशवह्निकलानां ततो द्वादशसूर्यकलानां ततः षोडशसोमकलानां ततो दशाकारजानां तदृचस्ततो दशोकारजानां तदृचस्ततो दश मकारजानां तदृचस्ततः पञ्चानां बिन्दुजानां तदृचस्ततः षोडशनादकलानां तदृचस्ततः पञ्चगुप्तकलानाम् । विचक्षण इत्यनेन सर्वत्र त्रिः प्राणप्रतिष्ठामन्त्रं जपेदित्युक्तम् । अन्ये तु प्रतिलोमेनेति सर्वत्र योजयन्ति । यत्तु आभिचारिकाभिषेकविषयम् । तदा प्रथमं नादकलास्तादृक् ततो बिन्दुकलास्तादृक् ततो मकारकलास्तादृक् तत उकारकलास्तादृक् ततोऽकारकलास्तादृक् ततः सोमसूर्याग्नीनाम् । यदाहुः—

स्थण्डिलाधारगं शङ्खं पूरयित्वा तदम्बुना ।
अष्टमूर्त्यात्मकं पिष्टमष्टगन्धं विलोड्य च ॥
कलानादक्रमेणैव स्वस्वनामसमायुताः ।
हृल्लेखाङ्गानि विन्यस्य प्रत्येकं ताः प्रयोजयेत् ॥
अत्र नादकलान्ते च विष्णुर्योन्यादिकां कलाम् ।
सर्वासां व्यापिनीं व्याप्तां सम्यगावाह्य पूजयेत् ॥
स्पृष्ट्वा सुस्थापनमनुं दक्षिणेनैव पाणिना ।
युक्तनादकलानाम्नेत्यादिना योजयेत् त्रिशः ॥
बिन्द्वादितारभेदानां कलाः सौम्या दिनेशितुः ।
अग्नेरपि समावाह्य तथैवाभियजेत् क्रमात् ॥ इति ।

विनिक्षिपेदिति मूलमन्त्रेणेति शेषः । तदुक्तम्—

पुनस्तोयं कलात्मकम् ।
उच्चारयेन्मूलमन्त्रं कलशे सन्निधापयेत् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— कलशे तत् क्षिपेन्मूलमन्त्रमुच्चार्य मन्त्रवित् । इति ॥ ७८ ॥

पुनः बुद्धिमान् मन्त्रवेत्ता उस शङ्ख के जल में मन्त्र देवता की भावना करते हुये उसमें मन्त्र की प्राण प्रतिष्ठा करे। तदनन्तर कलायुक्त शङ्ख में रहने वाले क्वाथ को कुम्भ में डाल देवे ॥ ७८ ॥

गन्धष्टकम्

गन्धाष्टकं तत् त्रिविधं शक्तिविष्णुशिवात्मकम् ।
चन्दनागुरुकर्पूरचोरकुङ्कुमरोचनाः ॥ ७९ ॥
जटामांसीकपियुताः शक्तेर्गन्धाष्टकं विदुः ।
चन्दनागुरुह्नीवेरकुष्ठकुङ्कुमसेव्यकाः ॥ ८० ॥
जटामांसीमुरमिति विष्णोर्गन्धाष्टकं विदुः ।
चन्दनागुरुकर्पूरतमालजलकुङ्कुमम् ।
कुशीतकुष्ठ संयुक्तं शैवं गन्धाष्टकं स्मृतम् ॥ ८१ ॥

गन्धाष्टकं विलोड्य इति यदुक्तं तदाह गन्धाष्टकमिति । शक्तिविष्णुशिवात्मकमिति तदात्मकतोक्त्या अत्यन्तप्रियत्वं सूचितम् । चोर इति भटिऊर इति कान्यकुब्जभाषायाम् । रोचना गोरोचना । कपि गण्ठिवनेति प्रसिद्धम् । ह्रीवेरो वालकम् । कुष्ठं कूठ इति प्रसिद्धम् । सेव्यकमुशीरम् । जटामांसीमुरमिति समाहारद्वन्द्वैकत्वेन नपुंसकत्वम् । सुरा स्वनाम्ना प्रसिद्धाः । तमालं पत्रजम् । जलं वालकम् । कुशीतं रक्तचन्दनम् । एतानि समभागानि ग्राह्याणि । गणपतिसंहितायां गणेशगन्धाष्टकमप्युक्तम्—

स्वरूपं चन्दनं चोरं रोचनागुरुमेव च ।
मदं भृगद्वयोद्भूतं कस्तूरीचन्द्रसंयुतम् ।
अष्टगन्धं विनिर्दिष्टं गणेशस्य महाविभोः ॥ इति ॥ ७९-८१ ॥

पुनः उस कुम्भ में 'गन्धद्वारा' इस मन्त्र से पूर्व विलोडित गन्धाष्टक डाल देवे । शक्ति, विष्णु तथा शिव के भेद से गन्धाष्टक तीन प्रकार का होता है । चन्दन, अगुरु, कपूर, चोर, कुंकुम, गोरोचन, जटामांसी तथा कपि—ये आठ शक्ति के गन्धाष्टक कहे गये हैं । चन्दन, अगुरु, ह्रीवेर, कुष्ठ, कंकुम, सेव्यक, जटामांसी और मुरा—ये विष्णु के गन्धाष्टक हैं । चन्दन, अगुरु, कर्पूर, तमाल, जल, कुंकुम, कुशीत तथा कुष्ठ—ये ८ शैव गन्धाष्टक कहे गये हैं ॥ ७९-८१ ॥

प्राणप्रतिष्ठामन्त्रः

पाशादित्र्यक्षरात्मान्ते स्यादमुष्यपदन्ततः ।
क्रमात् प्राणा इह प्राणास्तथा जीव इह स्थितः॥ ८२ ॥
अमुष्य सर्वेन्द्रियाणि भूयोऽमुष्यपदं भवेत् ।
वाङ्मनोनयनश्रोत्रघ्राणप्राणपदान्यथ ॥ ८३ ॥

पश्चादिहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु ठद्वयम्।
अयं प्राणमनुः प्रोक्तः सर्वजीवप्रदायकः॥ ८४ ॥

प्राणप्रतिष्ठां कुर्वीतेत्युक्तमतस्तन्मन्त्रमाह पाशादीति । पाशादित्र्यक्षरो नवमे वक्ष्यते । आत्मा जीवमन्त्रः । अत्र पाशादित्र्यक्षर आदौ आत्ममन्त्रः अन्त इत्यनेन यं रं लं वं शं षं सं हौं इत्येतान्यष्टबीजानि त्रयोविंशे वक्ष्यमाणानि संगृहीतानि इति सम्प्रदायविदः । अत्र पाशाद्यात्मान्तानां प्रत्यमुष्यपदम् आवृत्तिरपि ज्ञेया । त्रयोविंशे तथा वक्ष्यमाणत्वात् । अमुष्यपदस्यायमर्थः । साध्यदेवतायन्त्रादेः षष्ठ्यन्तं नामपदं प्रयोक्तव्यमिति । तथा च 'इमममुष्य पुत्रममुष्याः पुत्रमस्यै विश एष वः कुरवो राजा' इत्यस्याः श्रुतेः प्रयोगकथने कल्प (श्रौत) सूत्रे कात्यायनः 'असावित्यपनोदे' इति । तद्भाष्यञ्च अपनोदः अदःपदमपनोद्य नाम प्रयोक्तव्यमित्यर्थ इति । नारायणीयेऽपि—

अमुकपदं यद्रूपं यत्र मन्त्रेषु दृश्यते ।
साध्याभिधानं तद्रूपं तत्र स्थाने नियोजयेत् ॥ इति ।

तट्टीकायामपेक्षितार्थद्योतनिकायामेवमुक्तम् । एतच्च पुरुषोत्तममन्त्रव्यतिरिक्त-स्थानेऽवगन्तव्यम् । तत्रामुकशब्दे दुरितपदस्यालक्ष्मीपदस्य वा प्रयोगादिति । तथेति अमुष्यपदं वदेदित्यर्थः । वाङ्मनोनयनमिति नयनपदपर्यायस्य चक्षुःपदस्योपलक्षकम् । केवलं छन्दोनुरोधात्तथोपदेशः । तथा च त्रयोविंशे असावेव 'सर्वेन्द्रियाण्यमुष्यान्ते वाङ्मनश्चक्षुरन्ततः' इति । मन्त्रविदामप्युपदेशे चक्षुःपदमेवोपदिष्टमुपलभ्यते सम्प्रदाय-विदाम् । तथा चाचार्यवचनं दीक्षापटले—

तद्वद्वाङ्मनसी उदीर्य तदनुप्राणा इहाथायान्त्विति ।

तट्टीकाकाराः पद्मपादाचार्या व्याख्यातवन्तः 'वाङ्मनसो ग्रहणं चक्षुःश्रोत्र-घ्राणप्राणानामुपलक्षणार्थमिति' । तथा प्राणप्रतिष्ठापटले आचार्याः—

तद्वद्वाङ्मनसं दृशं श्रुतिमथो घ्राणञ्च सप्राणकम् । इति । अत्रापि टीकाकारै-र्व्याख्यातम् 'दृकपदेन चक्षुःपदं गृह्यते' इति । एवञ्चेत्र स्यात् क्वचिन्नयनपदं क्वच्चिक्षुःपदं क्वचिद्दृक्पदं तद्वत् क्वचिल्लोचनपदमपि स्यात् । तच्चायुक्तम् । नहि पर्यायेणोच्चारितो मन्त्रः स मन्त्रो भवति अन्यथा मन्त्रोद्धारश्लोका एव मन्त्रा भवेयुः। तस्मान्नयनपदं चक्षुः पदोपलक्षकमिति स्थितम् । घ्राणप्राणपदानीति । अत्र मन्त्रे प्राणा इति बहुवचनान्तता ज्ञेया । वागादीनां बहूनां पदानां द्वन्द्वसमासात् । त्रयोविंशे वक्ष्यति 'वायं श्रोत्रघ्राणपदे प्राणाः' इति । ठद्वयं स्वाहा ।

नन्वत्र मन्त्रे यदमुष्यस्थाने साध्यदेवतायन्त्रादेर्नामपदप्रयोगः तस्य कथं मन्त्रत्वमिति चेत् । मीमांसाधिकरणसिद्धान्तसिद्धमिति ब्रूमः । तथाहि द्वितीयेऽध्याये भावार्थचरणे 'अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः स्यात्' इत्यत्राधिकरणे ऊह-प्रवरनामधेयानां मन्त्रत्वममन्त्रत्वं वेति संशय तेषाममन्त्रत्वं सिद्धान्तितम् । तत्प्रसङ्गे-नेदमपि विचारितं यदूहप्रवरनामधेयानां प्रक्षेपे सर्वस्यैवामन्त्रत्वम् उत प्रक्षिप्तस्यैवेति । तत्र प्रक्षिप्तस्यैवामन्त्रत्वं सिद्धान्तितम् । तत्प्रसङ्गानुप्रसङ्गेनेदमपि चिन्तितम् । यत्र मन्त्रे 'इमममुष्य पुत्रममुष्याः पुत्रमस्यै विश एष वो राजा' इत्यादौ यत् सर्वनामस्थाने राजादिशब्दप्रयोगः तस्यामन्त्रत्वमुत मन्त्रत्वमिति । तत्राम्नातस्य सर्वनाम्नो राजादि-

पदप्रयोगे । प्रामाण्यसमर्पकत्वमात्रमिति । ऊहादिवदमन्त्रत्वमिति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु । भवेदेवं यद्याम्नातस्य सर्वनाम्नो राजादिपदप्रयोगे प्रामाण्यसमर्पकत्वं स्यात् । किन्तु सर्वनाम्नां तत्स्थाने शब्दान्तरसमर्पकत्वमेव । तथाहि । ऊहे तु 'अग्नये त्वाजुष्टं निर्वपामि' इति प्रकृतौ श्रुतौ च मन्त्रः । विकृतौ तु सूर्यदेवताके चरौ न्यायात् सूर्यायेति पदमूह्यते इति । भवतु तस्यामन्त्रत्वम् । एवं प्रवरशब्देनासितदेवलशाण्डिल्य-प्रवराभिधायिपदकीर्त्तनम्, नामधेयशब्देन च यजमानाभिधायि विष्णुशर्मादि नाम-कीर्त्तनमभिमतम् । तेषाञ्च वेदे अनाम्नानात् 'प्रवरनामधेयानि कीर्त्तयेत्' इति वाक्येन च मन्त्रप्रयोज्य विशेषरूपेणाम्नानाभावान्न मन्त्रत्वम् । सर्वनाम्नामाम्नानन्तु राजादि-विशेषनाम्नाम् आनन्त्यात् आम्नातुमशक्यत्वात् राजादिविशेषार्थप्रतिपादनार्थम् । न चास्य स्वतस्तत्प्रतिपादनसामर्थ्यमस्तीति । स्वयं प्रयोगानर्हं सत् विशेषशब्दानेव प्रयोगार्हानुपलक्षयति । यथा तस्यापत्यमित्यादौ । अतो विवक्षितस्वरूपराजाद्यर्थ-विशेषविषयानेव शब्दान् मन्त्रवाक्यनिवेशिनो दर्शयति । इत्येतदर्थमेव सर्वनामपदं दृष्टार्थेनाऽध्ययनविधिनाऽध्यापितमिति निश्चीयते । तस्माद्राजादिनाम्नामप्याम्नात-प्रायत्वान्मन्त्रत्वमेवेति ॥ ८२-८४ ॥

पाशादि तीन अक्षर (क्रोँ), इसके अन्त में आत्माक्षर (यं रं लं वं शं षं सं हौं), इसके अनन्तर 'अमुष्य' पद, तदनन्तर 'प्राणा इह प्राणाः', इसके बाद 'जीव इह स्थितः', तदनन्तर 'अमुष्य सर्वेन्द्रियाणि', तदनन्तर पुनः 'अमुष्य' पद, पुनः 'वाङ्मनोनयनश्रोत्रघ्राण प्राण', पद इसके पश्चात् 'इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु' पद, तदनन्तर 'स्वाहा' पद का उच्चारण करे । यह प्राण का मन्त्र है, जो सर्वत्र जीवन प्रदान करने वाला है ॥ ८२-८४ ॥

पश्चादश्वत्थपनसचूतकोमलपल्लवैः ।
इन्द्रवल्लीसमाबद्धैः सुरद्रुमधिया गुरुः ।
कुम्भवक्त्रे पिधायास्मिंश्चषकं सफलीकृतम् ॥ ८५ ॥
संस्थापयेत् फलधिया विधिवत् कल्पशाखिनाम् ।
ततः कुम्भं निर्मलेन क्षौमयुग्मेन वेष्टयेत् ॥ ८६ ॥

इन्द्रवल्लीति इन्द्रवारुणी लताविशेषः । चषकं कलशजातीयं शरावादि । विधिवदित्यनेन मूलमन्त्रोच्चारणमुक्तम् । क्षौममित्यतसीसम्भवम् । तदभावे पट्ट-वस्त्रादि । अन्यत्र एकवस्त्रवेष्टनमप्युक्तम् ।

अतिसूक्ष्मतरेणैव विशुद्धेन नवेन च ।
मायातत्त्वस्वरूपेण वेष्टयेद्वाससा घटम् ॥ इति ॥ ८५-८६ ॥

इस प्रकार प्राण प्रतिष्ठा कर लेने के पश्चात् गुरु अश्वत्थ, पनस और आम के पल्लवों से जो इन्द्रनील के वेल में बँधे हों उसमें कल्पवृक्ष की भावना कर कुम्भ के मुख को ढक देवे । तदनन्तर फल सहित अक्षत से पूर्ण पात्र द्वारा उस कलश का मुख ढक देवे ॥ ८५ ॥

इस प्रकार कुम्भ को अपने फल सिद्धि हेतु कल्पवृक्ष की भावना करते हुये मूल मन्त्र पढ़कर आचार्य स्वयं स्थापित करे । पुनः निर्मल दो अतसी से बने वस्त्रों से उस कलश को ढक देवे ॥ ८६ ॥

मूलेन मूर्त्तिं क्लृप्तास्मिंश्छायायां कल्पशाखिनाम् ।
आवाह्य पूजयेत्तस्यां मन्त्री मन्त्रस्य देवताम् ॥ ८७ ॥

मन्त्रस्य देवतामित्येकमन्त्रदीक्षायाम् । पञ्चायतनदीक्षापक्षे पञ्चकलशान् संस्थाप्य तत्तत्कलशे तत्तद्देवतामावाहयेदिति मन्त्रीत्यनेनोक्तम् ।

तदुक्तमाचार्यैः— प्रोक्तेनैवं कलशविधिनैकेन वानेककुम्भैः । इति ।

पञ्चायतनदीक्षायां देवतास्थापनक्रम उक्तो ज्ञानमालायाम्—

यदा तु शङ्करं मध्ये ऐशान्यां श्रीपतिं यजेत् ।
आग्नेयाञ्च तथा हंसं नैर्ऋत्यां पार्वतीसुतम् ॥
वायव्याञ्च सदा पूज्या भवानी भक्तवत्सला ।
यदा तु मध्ये गोविन्दमैशान्यां शङ्करं यजेत् ॥
आग्नेयां गणनाथञ्च नैर्ऋत्यां तपनन्तथा ।
वायव्यामम्बिकाञ्चैव यजेन्मन्त्री समाहितः ॥
सहस्रांशुं यदा मध्ये ऐशान्यां पार्वतीपतिम् ।
आग्नेयामेकदन्तञ्च नैर्ऋत्यामच्युतं यजेत् ॥
वायव्यां पूजयेद् देवीं भोगमोक्षैकभूमिकाम् ।
भवानीन्तु यदा मध्ये ऐशान्यां माधवं यजेत् ॥
आग्नेयां पार्वतीनाथं नैर्ऋत्यां गणनायकम् ।
प्रद्योतनन्तु वायव्यामाचार्यस्तु प्रपूजयेत् ॥
हेरम्बन्तु यदा मध्ये ऐशान्यामच्युतं यजेत् ।
आग्नेयां पञ्चवक्त्रन्तु नैर्ऋत्यां जगदम्बिकाम् ॥
वायव्यां द्युमणिञ्चैव यजेन्मन्त्री ह्यतेन्द्रितः ।
स्वस्थानवर्जिता देवाः शोकदुःखभयप्रदाः ।
तन्मण्डलस्थितो राजा साधकश्च विनश्यति ॥ इति ।

अन्यत्रापि— शम्भौ मध्यगते हरीनहरभूदेव्यो हरौ शङ्करे-
भास्येनागसुता रवौ हरगणेशाजाम्बिकाः स्थापिताः ।
देव्यां विष्णुहरैकदन्तरवयो लम्बोदरेऽजेश्वरा-
र्येनाः शङ्करभागतोऽतिशुभदा व्यस्तास्तु ते हानिदाः ॥ इति ।

पण्डिता अपि— 'शं ना रग दे मध्यान्ना शं गरभेशतः सूशं
ग नादे दे ना शं गर ग नाशं भसू विदिक् पूज्याः ॥' इति ।

अन्यत्राग्नेयादिक्रमेण स्थापनमुक्तम् ।

सूर्यैकदन्ताच्युतशक्तिरुद्रा विघ्नेश्वरेशाद्रिसुतार्ककृष्णाः ।
श्रीनाथविघ्नेशभगाम्बिकेशाश्चण्डीशहेरम्बपतङ्गकृष्णाः ॥

श्रीशम्भुसूर्याखुरथाम्बकृष्णाः प्रदक्षिणं मध्यविदिक्षु पूज्याः ।
स्वस्थानगाः सर्वमनोरथाप्त्यै अर्थं विनिघ्नन्ति परत्र संस्थाः ॥ इति ।

अन्यत्रापि— मध्येऽभ्यर्च्य हरिं गणेननगजाशर्वा गणं मध्यतः
शंभ्वार्यारविविष्णवो रविमथो विघ्नाजशक्तीश्वराः ।
मध्ये शक्तिमथेशविघ्नरवयो विष्णुश्च मध्ये हरं
सूर्येभास्यशिवाच्युता हि विहिता आग्नेयकोणादिमाः ॥ इति ।

अत्रोभयत्र स्थापनक्रमे फलतः साम्यमेव । पूजा तु गणपतिमारभ्य । यत्र गणपतेर्मुख्यत्वं तत्र सूर्यमारभ्येति ज्ञेयम् । यदाहुः—

मुख्ये पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा गणेशाद्यर्चनं भवेत् ।
गणेश एव मुख्यश्चेत् यत्र सूर्यक्रमाद्भवेत् ॥ इति ।

एतद्व्याख्यानमुभयथा कुर्वन्ति । पुष्पाञ्जलिमिति मुख्ये प्रथमतः पुष्पाञ्जलिमात्रं कृत्वा पश्चाद् गणेशाद्यर्चनं कृत्वा मुख्यपूजेति । अपरे तु—पुष्पाञ्जलिशब्देन पूजासमाप्तौ यः पुष्पाञ्जलिः स संगृहीतः । तेन मुख्यदेवपूजानन्तरं गणेशाद्यर्चनमिति । एतच्च स्वस्वगुरुसम्प्रदायानुसारेण ज्ञेयम् । अयमेव देवतास्थापनक्रमो नित्यपूजायामपि समानः । तत्र नित्यपूजा शालग्रामे मणौ यन्त्रे वा पाषाणादिप्रतिमायां वा कार्या ।

तदुक्तं ज्ञानमालायाम्—गिरिजारतसौख्याय जाता विघ्नपराः सुराः ।
तच्छ्रुत्वा चरितं देव्या शापो दत्तोऽतिदारुणः ॥
पार्वतीशापसंयुक्ता देवा अश्मत्वमागताः ।
विष्णुना शङ्करेणापि तथाऽन्यैः सुरसत्तमैः ॥
संस्तुता वरदा जाता पाषाणत्वेऽपि भो सुराः ।
स्वस्थाने पूजयिष्यन्ति पुरुषार्थचतुष्टयम् ॥
दातुं समर्था मद्वाक्यादेष एव वरोऽर्पितः ।
तस्मात् पूजा विधातव्या पाषाणप्रतिमासु च ॥ इति ।

हयशीर्षपञ्चरात्रे— मृण्मयी दारुघटिता लोहजा रत्नजा तथा
शैलजा गन्धजा चैव कौसुमी सप्तधा स्मृता ॥
कौसुमी गन्धजा चैव मृण्मयी प्रतिमा हिता ।
तत्कालपूजिताश्चैताः सर्वकामफलप्रदाः ॥ इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—शैलजा लोहजा वापि रत्नजा वाथ दारुजा ।
मृण्मयी चेति पञ्चैताः प्रतिमाः परिकीर्त्तिताः ॥
सर्वेषामेव देवानां महानीला यशःप्रदा ।
दारुजा कामदा प्रोक्ता सौवर्णी भुक्तिमुक्तिदा ॥
राजती स्वर्गफलदा ताम्री ह्यायुर्विवर्धिनी ।
कांस्या बह्वापदं हन्ति रैतिकी शत्रुनाशिनी ॥
सर्वभोगप्रदा शैली स्फाटिकी दीप्तिकारिका ।
महाभोगप्रदा ख्याता मृण्मयी खलु शोभना ॥
मानाङ्गुलप्रमाणेन दशपञ्चाङ्गुलात्मिका ।
गृहे तु प्रतिमा पूज्या नाधिका हि प्रशस्यते ॥ इति ।

अन्यत्रापि— अङ्गुष्ठपर्वादारभ्य वितस्तिर्यावदेव तु ।
गृहे तु प्रतिमा कार्या नाधिका शस्यते बुधैः ॥ इति ।

यत्तु— सौम्या तु हस्तमात्रा वसुदा हस्तद्वयोच्छ्रिता प्रतिमा ।
क्षेमसुभिक्षाय भवेत् त्रिचतुर्हस्तप्रमाणोच्चा ॥ इति ।

तत् स्थापितप्रतिमाविषयं ज्ञेयम् । मृण्मयां तत्रैव विशेष उक्तः—

मृण्मयीं प्रतिमां वक्ष्ये यथावत्तां निबोध मे ।
पक्वापक्वा द्विधा प्रोक्ता मृण्मयी प्रतिमा क्रमात् ॥
सर्वे लोका न शंसन्ति प्रतिमां दग्धमृण्मयीम् ।
अपक्वा प्रतिमा शस्ता सैव कार्या विचक्षणैः ॥
सुधया नैव कर्त्तव्या नाश्मचूर्णैः कदाचन ।
मृदैव मृण्मयीं कुर्याद् यथावदनुपूर्वशः ॥
ब्राह्मणस्य सिता मृद्वै क्षत्रियस्याऽरुणा स्मृता ।
विशां पीता भवेन्मृद्वै कृष्णा शूद्रस्य कीर्त्तिता ॥ इति ।

अन्यत्र विशेषः— नृपभयमत्यङ्गायां हीनाङ्गायामकल्पता कर्त्तुः ।
क्षामोदर्यां क्षुद्भयमर्थविनाशः कृशाङ्गायाम् ॥
मरणन्तु सक्षतायां शस्त्रनिपातेन निर्दिशेत् कर्त्तुः ।
वामे विनता पत्नीं दक्षिणविनता हिनस्त्यायुः ॥
अन्धत्वमूर्द्ध्वदृष्टौ करोति चिन्तामधोमुखी दृष्टिः ।
सर्वप्रतिमास्वेवं शुभाशुभं भास्करोक्तमवगच्छेत् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— नाधिकाङ्गी न हीनाङ्गी कर्त्तव्या देवता क्वचित् ।
अधिका शिल्पिनं हन्यात् कृशा चैवार्थनाशिनी ॥
कृशोदरी तु दुर्भिक्षं निर्मांसा धननाशिनी ।
वक्रनासा तु दुःखाय सङ्क्षिप्ताङ्गी भयङ्करी ॥
चिपिटा दुःखशोकाय अनेत्रा नेत्रनाशिनी ।
दुःखदा हीनवक्त्रा तु पाणिपादकृशा तथा ॥
हीनांसा हीनजङ्घा च भ्रमोन्मादकरी नृप ।
शुष्कवक्त्रा च राजानं कटिहीना च मारयेत् ॥
पाणिपादविहीनायां जायते नरको महान् ।
जङ्घाहीना च या मूर्त्तिः शत्रुकल्याणकारिणी ॥
पुत्रमित्रविनाशाय हीना वक्षःस्थलेन या ।
सम्पूर्णावयवा या तु आयुर्लक्ष्मीप्रदा सदा ॥
एवं लक्षणमासाद्य कर्त्तव्या मूर्त्तिरुत्तमा ॥ इति ।

अन्यत्र विशेषः— खण्डिते स्फुटिते भ्रष्टे दग्धे मानविवर्जिते ।
यागहीनेऽथवोच्छिष्टे पतिते दुष्टभूमिषु ॥
अन्यमन्त्रार्चिते चैव पतितस्पर्शदूषिते ।
दशस्वेतेषु नो चक्रुः सन्निधानं दिवौकसः ॥
इति सर्वगतो विष्णुः परिभाषां चकार ह ॥ इति ।

अन्यत्र— खण्डितां स्फुटितां जीर्णामवलीढाञ्च वह्निना ।
प्रतिमां वर्जयेद् यत्नाद् भग्नां स्वाल्लक्षणाच्च्युताम् ॥
निक्षिपेद्दारुजामग्नौ तथाऽन्यामप्सु निक्षिपेत् ॥ इति ।

तथा— एकाहपूजाविहतौ कुर्याद् द्विगुणमर्चनम् ।
त्रिरात्रे तु महापूजां संप्रोक्षणमतः परम् ॥
मासादूर्द्धमनेकाहं पूजा यदि विहन्यते ।
प्रतिष्ठैवेष्यते कैश्चित् कैश्चित् संप्रोक्षणक्रमः ॥

संप्रोक्षणलक्षणं यथा तत्रैव—

संप्रोक्षणन्तु देवस्य देवमुद्वास्य पूर्ववत् ।
पञ्च पञ्च क्रमेणैव स्नापयित्वा मृदम्भसा ॥
गवां रसैश्च संस्नाप्य दर्भतोयैर्विशोध्य च ।
प्रोक्षयेत् प्रोक्षणीतोयैर्मूलेनाष्टोत्तरं शतम् ॥
सपुष्पं सकुशं पाणिं न्यस्य देवस्य मस्तके ।
पञ्चवारं जपेन्मूलमष्टोत्तरशतोत्तरम् ॥
ततो मूलेन मूर्द्धादि पीठान्तं संस्पृशेदपि ।
तत्त्वन्यासं लिपिन्यासं मन्त्रन्यासञ्च विन्यसेत् ॥
प्राणप्रतिष्ठामन्त्रेण प्रतिष्ठापनमाचरेत् ।
पूजाञ्च महतीं कुर्यात् स्वतन्त्रोक्तां यथाविधिः ॥
यागहीनादिषु प्रायः संप्रोक्षणविधिः स्मृतः ॥ इति ।

अन्यत्रापि—शालग्रामे मणौ यन्त्रे मण्डले प्रतिमासु वा ।
नित्यपूजा हरेः कार्या न तु केवल भूतले ॥ इति ।

रामपूर्व्वतापनीयेऽपि—सोभयस्याऽस्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना ।
विना यन्त्रेण चेत् पूजा देवता न प्रसीदति ॥ इति ।

संहितायामपि— यन्त्रं मन्त्रमयं प्राहुर्देवता मन्त्ररूपिणी ।
यन्त्रेणाऽपूजितो देवः सहसा न प्रसीदति ॥

तथा— सर्वेषामपि मन्त्राणां यन्त्रे पूजा प्रशस्यते । इति ।

ईशानशिवेनाप्युक्तम्—शक्तिं निजैक्येन तथैव चक्रे चित्रे पटे वा यजनं न भूमौ ।
मोहादसौ स्थण्डिलगां यजेच्चेद् भ्रंश्येत् त्रिवर्गादिति मन्त्रसिद्धाः ॥ इति ।

शिवपूजा तु शिवमूर्त्तौ शिवलिङ्गे स्थिरे चले वा कार्या । तत्र चले पाषाणादिलिङ्गे यत् पञ्चसूत्रादिलक्षणमुक्तं तदवश्यं द्रष्टव्यम् । रत्नलिङ्गादौ तु तत्तलक्षणाभावेऽपि न दोषः । तदुक्तं हयशीर्षपञ्चरात्रे—

न कुर्याल्लक्षणोद्धारं रत्नजानां चलात्मनाम् ।
सु(स्व)प्रभा लक्षणन्त्वेषां स्वर्णजानामपि द्विज ॥
तस्मान्न लक्षणोद्धारं कुर्यात् पाषाणलिङ्गवत् ।
अचलानां तैजसानां क्वचिदिष्येत लक्षणम् ॥
लक्षणं कल्पनीयन्तु स्थाप्यलिङ्गे यथाविधि ।

चललिङ्गे कुशा (ऽङ्गुला) ग्रेण लक्षणं कल्पयेद् गुरुः ।
मनसा चिन्तयेद्वापि लक्षणं लिङ्गसंस्थितम् ॥ इति ।

सोमशम्भुनाऽपि— रत्नजे लक्षणोद्धारो न लौहे न सरिद्भवे ।
लिङ्गेषु च न लौहेषु न दृष्टं क्वचिदागमे ॥
स्वरूपं लक्षणं तेषां प्रभा रत्नेषु निर्मला । इति ।

अन्यत्र तु विशेषः— गृहे लिङ्गद्वयं नार्च्यं गणेशद्वयमेव च ।
शक्तित्रयं तथा शङ्खं मत्स्यादिदशकाङ्कितम् ॥
द्वौ शङ्खौ नार्चयेच्चैव शालग्रामशिलाद्वयम् ।
द्वे चक्रे द्वारकायास्तु तथा सूर्यद्वयं बुधः ॥
एतेषामर्चनान्नित्यमुद्वेगं प्राप्नुयाद् गृही । इति ॥ ८७ ॥

इस प्रकार निष्पन्न हुये कलश रूप कल्पवृक्ष की छाया में मूल मन्त्र को पढ़कर मूर्त्ति का आवाहन कर मन्त्रज्ञ आचार्य मन्त्र के देवता का पूजन करे ॥८७॥

देवावाहनादिकथनम्

मूलमन्त्रं समुच्चार्य सुषुम्णावर्त्मना सुधीः ।
आनीय तेजः स्वस्थानान्नासिकारन्ध्रनिर्गतम् ॥ ८८ ॥
करस्थमातृकाम्भोजे चैतन्यं पुष्पसञ्चये ।
संयोज्य ब्रह्मरन्ध्रेण मूर्त्यामावाहयेत् सुधीः ॥ ८९ ॥

आवाह्य पूजयेदित्युक्तम् । तत्रावाहनप्रकारमाह मूलेति । स्वस्थानाद् हृदयकमलात् । अन्ये सूर्यमण्डलादित्याहुः । तदुक्तं वैहायसीमन्त्रकोषे—

अथार्कतो वा हृदयारविन्दादावाहयेन्नन्दसुतं सुवेशम् । इति ।

अन्यत्रापि— आवाहयेन्महादेवीं हृदयाम्बुजगह्वरात् ।
सूर्यमण्डलतो वापि स्वीयाद्वा द्वादशान्ततः ॥ इति ।

ब्रह्मरन्ध्रेणेति ब्रह्मरन्ध्रद्वारा । करस्थमातृकाम्भोजे पुष्पसञ्चये इति व्यधिकरणसप्तम्यौ । सुधीः मूलमन्त्रमुचार्य स्वस्थानात्तेजः सुषुम्णावर्त्मना आनीय ब्रह्मरन्ध्रद्वारा नासिकारन्ध्रनिर्गतं तच्चैतन्यं करस्थमातृकाम्भोजे पुष्पसञ्चये संयोज्य मूर्त्तावावाहयेदिति सम्बन्धः । तदुक्तम्—

देवं सुषुम्णामार्गेण आनीय ब्रह्मरन्ध्रकम् ।
वामनासापुटे ध्यात्वा निर्यान्तं स्वाञ्जलिस्थितम् ।
पुष्पमारोप्य तत् पुष्पं प्रतिमादौ निधापयेत् ॥ इति ।

अत्रावाहनमाह्वानम् । तदावाहिन्या । तच्च मूलमन्त्रान्ते आवाहितो भव नमः इति प्रकारेण आगमोक्तश्लोकान्ते वा । यद्वा मूलमन्त्रान्ते आगमश्लोकमुच्चार्येति सुधीरित्यनेनोक्तम् । अयमेव मुख्यः प्रकारः । संहितायामपि धूपमन्त्रमुक्त्वा—

एवमित्थन्तु बीजान्ते धूपमन्त्र उदाहृतः । इत्यादिनोक्तम् । एवमग्रेऽपि स्थापनादिषूह्यम् । श्लोकस्तु—

आत्मसंस्थमजं शुद्धं त्वामहं परमेश्वर ।
अरण्यामिव हव्याशं मूर्त्तावावाहयाम्यहम् ॥ इति ।

इदमावाहनादि शालग्रामादौ न कार्यम् । यदाहुः—

शालग्रामे स्थावरे वाऽऽवाहनं न विसर्जनम् ।
शालग्रामशिलादौ यन्नित्यं सन्निहितो हरिः ॥ इति ।

अन्यत्रापि—उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने ।
अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेद् द्वयम् ॥
शालग्रामार्चने नैव ह्यावाहनविसर्जने । इति ।

अत्र पञ्चायतनपक्षे प्रत्येकं देवतानामावाहनं ततः प्रत्येकं देवतानां स्थापनमिति पदार्थानुसमयो वा उतावाहनादि नैवेद्यान्तम् एकत्र समाप्य पश्चादेवमन्यत्रेति काण्डानुसमय इति संशये अत्र काण्डानुसमय इति सिद्धान्तः ।

यतः—मुख्ये पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा गणेशाद्यर्चनं भवेत् । इत्युक्तम् ।

तत्रार्चनशब्दः पूजावाचकः सा चाऽऽवाहनादिनैवेद्यान्ता । इदञ्च पञ्चमाध्याये द्वितीयचरणे 'वचनात्तु परिव्याणान्तम्' इत्यधिकरणे सिद्धान्तितम् ॥ ८८-८९ ॥

अब **इष्टदेवता के आवाहन का प्रकार** कहते हैं—आचार्य मूल मन्त्र का उच्चारण करते हुये सुषुम्णा के मार्ग से हृदय स्थान से, वायु द्वारा तेज को ऊपर उठा कर नासिका के छिद्रों से निकलने वाले तेज को ब्रह्मरन्ध्र में लाकर उसके द्वारा अपने हाथ में स्थित मातृका कमल रूप संचित पुष्प में चैतन्य को संयुक्त कर मूर्त्ति में इष्ट देवता का आवाहन करे ॥ ८८-८९ ॥

संस्थापनं सन्निधानं सन्निरोधमनन्तरम् ।
सकलीकरणं पश्चाद् विदध्यादवगुण्ठनम् ॥ ९० ॥
अमृतीकरणं कृत्वा कुर्वीत परमीकृतिम् ।
क्रमादेतानि कुर्वीत स्वमुद्राभिः समाहितः ॥ ९१ ॥

सुधीः संस्थापनं विदध्यादिति सम्बन्धः । संस्थापनं स्थापनम् । तत् स्थापिन्या। श्लोकस्तु—

तवेयं महिमामूर्त्तिस्तस्यां त्वां सर्वगं प्रभो (विभो) ।
भक्तिस्नेहसमाकृष्टं दीपवत् स्थापयाम्यहम् ॥ इति ।

सुधीरित्यनेनासनोपवेशने कर्त्तव्ये इत्युक्तं भवति । तद् यथा मूलमन्त्रान्ते—

सर्वान्तर्यामिणे देव सर्वबीजमयं शुभम् ।
स्वात्मस्थाय परं शुद्धमासनं कल्पयाम्यहम् ॥

आसनं गृहाण नमः । ततो मूलमन्त्रान्ते—

अस्मिन् वरासने देव सुखासीनोऽक्षरात्मक ।
प्रतिष्ठितो भवेश त्वं प्रसीद परमेश्वर ॥

उपविष्टो भव नमः । सन्निधानं नैकट्यावस्थानप्रार्थनम् । तत् सन्निधापिन्या । श्लोकस्तु—

अनन्या तव देवेश मूर्त्तिशक्तिरियं प्रभो ।
सान्निध्यं कुरु तस्यां त्वं भक्तानुग्रहतत्पर ॥ इति ।

सन्निरोधः सन्निरोधनम् अनन्यचित्तप्रार्थनम् । तत् सन्निरोधिन्या । श्लोकस्तु—

आज्ञया तव देवेश कृपाम्भोधे गुणाम्बुधे ।
आत्मानन्दैकतृप्तं त्वां निरुणध्मि पितर्गुरो ॥ इति ।

सिद्धान्तसागरे आवाहनादीनामन्यथा लक्षणमुक्तम् ।

स्वत एवाभिपूर्णस्य तत्त्वस्येहार्चनादिषु ।
सादरं सम्मुखीभावस्तदावाहनमुच्यते ॥
शिवस्याऽऽवाहितस्यास्य विद्यादेहे तु सन्ततम् ।
स्थिरीकरणमुद्दिष्टं स्थापनं भक्तितोऽर्चने ॥
पूजां प्रयोज्यमानान्तु गृहीत्वाऽनुग्रहादिकम् ।
कर्त्तुं सामर्थ्यमस्येह तत् सान्निध्यं प्रचक्षते ॥
आसमाप्तेस्तु पूजायाः सान्निध्यं हि शिवस्य यत् ।
स सन्निरोध उद्दिष्टो विभोरस्यापि शक्तितः ॥ इत्यादिना ।

अनन्तरमित्यनेन सम्मुखीकरणं प्रार्थनञ्च मुद्राद्वयेनोक्तम् । श्लोकौ तु—

अज्ञानाद् दुर्मनस्त्वाद्वा वैकल्यात् साधनस्य च ।
यदाऽपूर्णं भवेत् कृत्यं तदाऽप्यभिमुखो भव ॥
दृशा पीयूषवर्षिण्या पूरयन् यज्ञविष्टरम् ।
मूर्त्ता वा यज्ञसम्पूर्त्तेः स्थिरो भव महेश्वर ॥ इतिं

मुद्रालक्षणं यथा— मुष्टिद्वयस्थिताङ्गुष्ठौ सम्मुखौ च परस्परम् ।
संश्लिष्टावुच्छ्रितौ कुर्यात् सेयं सम्मुखमुद्रिका ॥
प्रसृताङ्गुलिकौ हस्तौ मिथः श्लिष्टौ च सम्मुखौ ।
कुर्यात् स्वहृदये सेयं मुद्रा प्रार्थनसंज्ञिका ॥ इति ।

सकलीकरणं पूर्णरूपत्वेनावस्थितिप्रार्थनम् । तच्च देवताङ्गे षडङ्गन्यासात् । अवगुण्ठनम् अयोग्यदृष्ट्यविषयत्वापादनम् । तदवगुण्ठन्या । श्लोकस्तु—

अभक्तवाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रदूरामितद्युते ।
स्वतेजः पञ्जरेणाऽऽशु वेष्टितो भव सर्वतः ॥ इति ।

अमृतीकरणमानन्दपूर्णतावस्थितित्वम् । तद् धेनुमुद्रया । परमीकरणं सर्वापराधसहिष्णुत्वम् । तन्महामुद्रया । स्वमुद्राभिरिति त्रयोविंशे वक्ष्यमाणाभिः । समाहित इत्यनेन मूलमन्त्रपुटितमातृकाक्षराणि देवदेहे विन्यसेदित्युक्तम् । पूजायां वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ९०-९१ ॥

तदनन्तर उस मूर्त्ति में आवाहन के बाद देवता का संस्थापन, सन्निधान और सन्निरोध करे । अनन्तर सकलीकरण कर अवगुण्ठन करे ॥ ९० ॥

तदनन्तर अमृतीकरण कर परमीकरण करे । यह सारी क्रिया क्रमशः तत्तन्मुद्राओं से समाहित होकर करनी चाहिए (इन क्रियाओं में की जाने वाली मुद्रा तेइसवें पटल में देखता चाहिए) ॥ ९१ ॥

विमर्श—आनन्दपूर्णता की स्थिति को अमृतीकरण कहते हैं । जिसे धेनुमुद्रा से प्रदर्शित करना चाहिए । सर्वापराध सहिष्णु होने को परमीकरण कहते हैं जिसे महामुद्रा के द्वारा प्रदर्शित करते हैं । समाहित से तात्पर्य है—मूलमन्त्र से सम्पुटित मातृकाक्षरों को देवता के विग्रह में न्यस्त करते हुए कृत्य करना ॥ ९१ ॥

उपचाराः

अथोपचारान् कुर्वीत मन्त्रवित् स्वागतादिकान् ।
स्वागतं कुशलप्रश्न निगदेदग्रतो गुरुः ॥ ९२ ॥

अथेति । उपचारशब्दार्थो ज्ञानमालायामुक्तः—

भक्त्या चैते कृता देवे साधकं देवसन्निधिम् ।
चारयन्ति यतस्तस्मादुच्यन्ते ह्युपचारकाः ॥
समीपे चारणाद्वाऽपि फलानां ते तथोदिताः ॥ इति ।

मूले षोडश उक्ता ज्ञानमालायामन्येऽपि । तद् यथा—

अष्टत्रिंशत्षोडशार्कदशपञ्चोपचारकाः ।
तान् विभज्य प्रवक्ष्यामि के के ते तैः कृतैश्च किम् ॥
आसनं प्रथमं तेषामावाहनमुपस्थितिः ।
सान्निध्यमाभिमुख्यञ्च स्थिरीकृतिः प्रसाधनम् ॥
अर्घ्यञ्च पाद्याचमने मधुपर्कमुपस्पृशम् ।
स्नानं नीराजनं वस्त्रमाचामं चोपवीतकम् ॥
पुनराचामभूषे च दर्पणालोकनं ततः ।
गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यञ्च ततः क्रमात् ॥
पानीयं तोयमाचामं हस्तवासस्ततः परम् ।
ताम्बूलमनुलेपञ्च पुष्पदानं पुनः पुनः ॥
गीतं वाद्यं तथा नृत्यं स्तुतिश्चैव प्रदक्षिणम् ।
पुष्पाञ्जलिनमस्कारावष्टत्रिंशत् समीरिताः ॥ इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—आसनं प्रथमं तेषु ततश्चावाहनं मतम् ।
उपस्थानञ्च सान्निध्यम् । इत्यादिना—
पुष्पाञ्जलिनमस्कारौ विष्णुप्रीत्यै भवन्त्यमी ।
त्रिंशचाष्टौ समाख्याता उपचारा मनीषिभिः ॥ इत्यन्तेन ।

षोडश मूले स्पष्टाः । तथा—आसनस्वागते वस्त्रभूषे त्यक्त्वा तु द्वादश ।
अर्घ्यपाद्याचमान्येव मधुपर्काचमान्यपि ॥
गन्धादयो नैवेद्यान्ता उपचारा दश क्रमात् ।
गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यं पञ्च संस्मृताः ॥

सपर्या पञ्चधा प्रोक्ता तासामेकां समाचरेत् । इति ।

प्रयोगसारे षष्ठी अप्युक्ताः ।

अर्घ्यं गन्धं ततः पुष्पमक्षतं धूपमेव च ।
दीपो नैवेद्यं सप्ताङ्गी सपर्येत्यपरे जगुः ॥ इति ।

स्वागतमिति । कुशलप्रश्नमिति स्वागतमित्यस्यार्थकथनम् । श्लोकस्तु—

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः स्वाभीष्टसिद्धये ।
तस्मै ते परमेशाय स्वागतं स्वागतञ्च मे ॥ इति ।

एतदनन्तरं सुस्वागतमपि मूलमन्त्रान्ते । श्लोकस्तु—

कृतार्थोऽनुगृहीतोऽस्मि सफलं जीवितं मम ।
आगतो देवदेवेश सुखागतमिदं पुनः ॥ इति ॥ ९२ ॥

आवाहन से अमृतीकरण कर लेने के पश्चात् मन्त्रवेत्ता गुरु षोडशोपचार द्वारा पूजन करे तथा स्वागत कर कुशल प्रश्न भी पूछे ॥ ९२ ॥

पाद्यं पादाम्बुजे दद्याद् देवस्य हृदयाणुना ।
एतच्छ्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्ताभिरीरितम् ॥ ९३ ॥

पाद्यमिति । हृदयाणुना नमोमन्त्रेण । श्लोकस्तु—

यद्भक्तिलेशसम्पर्कात् परमानन्दसम्भवः ।
तस्मै ते चरणाब्जाय पाद्यं शुद्धाय कल्पये ॥ इति ।

अत्र नमोमन्त्रमुच्चार्य श्लोकमुच्चार्य पाद्यं गृहाण नमः इति शङ्खस्थजलमुत्सृजेत् । एवमग्रेऽपि । यत्र मन्त्रविशेषो नोक्तस्तत्र मूलमन्त्र एव ज्ञेयः ।

एतदिति । श्यामाकः श्यामा इति प्रसिद्धः । महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—

दूर्वा च विष्णुपत्नी च श्यामाकं पद्ममेव च ।
पाद्याङ्गानि च चत्वारि कथितानि समासतः ॥ इति ॥ ९३ ॥

तदनन्तर हृदयमन्त्र (देवाय नमः, देव्यै नमः) इस मन्त्र से इष्ट देवता के चरण कमलों में श्यामाक, दूर्वा, कमल और विष्णुक्रान्ता मिश्रित पाद्य समर्पित करे ॥ ९३ ॥

सुधामन्त्रेण वदने दद्यादाचमनीयकम् ।
जातीलवङ्गकक्कोलैस्तदुक्तं तन्त्रवेदिभिः ॥ ९४ ॥

सुधामन्त्रेण वमित्यनेन । श्लोकस्तु—

वेदानामपि वेदाय देवानां देवतात्मने ।
आचामं कल्पयामीश शुद्धानां शुद्धिहेतवे ॥ इति ।

जाती जातीफलम् । कक्कोलं कोशफलम् कवाव इति कान्यकुब्जभाषायाम् । तदुक्तमगस्तिसंहितायाम्—

तथाऽऽचमनपात्रेऽपि दद्याज्जातीफलं मुने ।
लवङ्गमपि कक्कोलं शस्तमाचमनीयकम् ॥ इति ।
महाकपिलपञ्चरात्रे आचमनीयद्रव्याण्यन्यथोक्तानि ।
कर्पूरमगुरुं पुष्पं द्रव्याण्याचमनीयकम् । इति ।

अन्यत्र विशेषः— अर्घ्यं त्रिर्ददाति, पाद्यं त्रिर्ददाति, आचमनीयं षड्ददाति । इति ।
आगताय तथार्चायां स्नातुमासनगाय च ।
पूजातो गन्तुकामस्य दद्यादर्घ्यं विचक्षणः ॥
आगते स्नानकाले च नैवेद्योपक्रमे तथा ।
पाद्यस्यापि समुद्दिष्टः समयस्त्रिविधो बुधैः । इति ॥ ९४ ॥

सुधा मन्त्र (वम्) पढ़कर मुख में आचमन देवे। यह आचमन का जल जाती, लवंग और कंकोल पदार्थ से मिश्रित होना चाहिए ऐसा तन्त्रवेत्ताओं ने कहा है ॥ ९४ ॥

अर्घ्यं दिशेत्ततो मूर्द्धिन शिरोमन्त्रेण देशिकः।
गन्धपुष्पाक्षतयवकुशाग्रतिलसर्षपैः ॥ ९५ ॥
सदूर्वैः सर्वदेवानामेतदर्घ्यमुदीरितम् ।
सुधाणुना ततः कुर्यान्मधुपर्कं मुखाम्बुजे ॥ ९६ ॥
आज्यं दधिमधून्मिश्रमेतदुक्तं मनीषिभिः।
तेनैव मनुना कुर्यादद्भिराचमनीयकम् ॥ ९७ ॥

शिरोमन्त्रेण स्वाहेत्यनेन । महाकपिलपञ्चरात्रे कुशाग्रस्थाने फलमुक्तम् ।
सिद्धार्थमक्षतञ्चैव दूर्वा च तिलमेव च ।
यवं गन्धं फलं पुष्पमष्टाङ्गन्त्वर्घ्यमुच्यते ॥ इति।

सर्वदेवानामिति सर्वत्र सम्बध्यते । पाद्याद्युक्तद्रव्याणि सर्वदेवतासु समानानीत्यर्थः ।

श्लोकस्तु— तापत्रयहरं दिव्यं परमानन्दलक्षणम् ।
तापत्रयविनिर्मुक्तं तवार्घ्यं कल्पयाम्यहम् ॥ इति ।

मधुपर्कमिति । श्लोकस्तु—
सर्वकालुष्यहीनाय परिपूर्णसुखात्मक ।
मधुपर्कमिमं देव कल्पयामि प्रसीद मे ॥ इति ।

अत्रार्घ्यादिप्रोक्तद्रव्याभावे केवलतण्डुलानेव निक्षिपेत् । तदुक्तं मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—
द्रव्याभावे प्रदातव्याः क्षालितास्तण्डुलाः शुभाः । इति ।

अन्यत्रापि— तण्डुलान् प्रक्षिपेत्तेषु द्रव्यालाभे तु तत्समान् । इति ।

तेनैव मनुना सुधाणुनेत्यर्थः । श्लोकस्तु—
उच्छिष्टोऽप्यशुचिर्वाऽपि यस्य स्मरणमात्रतः ।
शुद्धिमाप्नोति तस्मै ते पुनराचमनीयकम् ॥ इति ।

मधुपर्कान्ते आचमनमुपलक्षणम् । तेन स्मृत्युक्तनिमित्तेऽप्याचमनं दद्यात् । स्नानान्ते वासोदानान्ते उपवीतदानान्ते नैवेद्यान्ते । तदुक्तं महाकपिलपञ्चरात्रे—

स्नाने वस्त्रे तथा भक्ष्ये दद्यादाचमनीयकम् । इति ।

एवं षडप्याचमनीयानि । तदुक्तं ज्ञानमालायाम्—

पाद्ये च मधुपर्के च स्नाने वस्त्रोपवीतयोः ।
भोजने चाचमनं देयम् । इति ।

स्नानात् पूर्वं महाकपिलपञ्चरात्रे तु विशेषः—

गन्धं तैलमथो दद्याद् देवस्याप्रतिमं ततः । इति ।

श्लोकस्तु— स्नेहं गृहाण स्नेहेन लोकनाथ महाशय ।
सर्वलोकेषु शुद्धात्मन् ददामि स्नेहमुत्तमम् ॥ इति ।

तत उद्वर्त्तनम्—महाकपिलपञ्चरात्रे—

रजनी सहदेवी च शिरीषो लक्ष्मणापि च ।
सदाभद्रा कुशाग्राणि उद्वर्त्तनमिहोच्यते ॥ इति ।

अन्यत्रापि— अभ्यङ्गोद्वर्त्तने चापि महास्नानं समाचरेत् । इति ॥ ९५-९७ ॥

तदनन्तर आचार्य शिरो मन्त्र (अमुक देवाय देव्यै वा स्वाहा) से इष्ट देवता के शिर पर अर्घ्य प्रदान करे । यह अर्घ्य गन्ध, पुष्प अक्षत, यव, कुशाग्र, तिल, सर्षप तथा दूर्वा से युक्त होना चाहिए जो सभी देवताओं के लिये प्रशस्त कहा गया है । तदनन्तर सुधा मन्त्र (वम्) से देवता के मुखकमल में मधुपर्क प्रदान करना चाहिए ॥ ९५-९६ ॥

मनीषी लोगों ने घी, दधि और मधु से मिले पदार्थ को मधुपर्क कहा है । पुनः उसी मन्त्र से आचार्य मधुपर्क देने के पश्चात् आचमन भी करावे ॥ ९७ ॥

गन्धाद्भिः कारयेत् स्नानं वाससी परिधापयेत् ।
दद्याद् दिव्योपवीतञ्च हाराद्याभरणैः सह ॥ ९८ ॥

गन्धाद्भिरिति । तदुक्तं मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

शुद्धतोयाद् गन्धतोयं श्रेष्ठं शतगुणोत्तरम् ।
गङ्गादितीर्थतोयानां फलं शास्त्रप्रणोदितम् ॥

तत्र तत्राधिगन्तव्यम् । इति । तथा—

नाहरेन्मलिनं तोयं केशकीटादिदूषितम् ।
मलिनेनापि भाण्डेन व्यङ्गेनाऽशुचिना तथा ॥ इति ।

तत्रैव विशेषः—अक्षता गन्धपुष्पाणि स्नानपात्रे तथा त्रयम् । इति ।

श्लोकस्तु—परमानन्दबोधाब्धिनिमग्ननिजमूर्त्तये ।
साङ्गोपाङ्गमिदं स्नानं कल्पयाम्यहमीश ते ॥ इति ।

एतदनन्तरं शङ्खजलेन देवतायाऽभिषेकं कुर्यात् । यदाहुः—

शतं सहस्रमयुतं शक्त्या चैवाभिषेचयेत् ।
शङ्खं सम्पूर्य तेनैव सपुष्पेण च देवताम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— अ(स्व)शक्त्या गन्धतोयेन संस्नाप्य जगदीश्वरम् । इति ।

अत्र विशेषः— महाभिषेकं सर्वत्र शङ्खेनैव प्रकल्पयेत् ।
सर्वत्रैव प्रशस्तोऽब्जः शिवसूर्यार्चनं विना ॥ इति ।

तत्र विशेषस्तु तन्त्रान्तरे—प्रतिमापटयन्त्राणां नित्यं स्नानं न चाचरेत् ।
कारयेत् पर्वदिवसे तथा मलनिवारणम् ॥ इति ।

वाससीति द्विवचनेनोत्तरीयं गृहीतम् । श्लोकौ तु—

मायाचित्रपटाच्छन्न निजगुह्योरुतेजसे ।
निरावरणविज्ञान वासस्ते कल्पयाम्यहम् ॥
यमाश्रित्य महामाया जगत्सम्मोहिनी सदा ।
तस्मै ते परमेशाय कल्पयाम्युत्तरीयकम् ॥ इति ।

तत्र विशेषो मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

पीतं कौशेयवसनं विष्णोः प्रीत्यै प्रकीर्त्तितम् ।
रक्तं शक्त्यर्कविघ्नेषु ईश्वरस्य सितं प्रियम् ।
मलहीनं तथाऽच्छिद्रं क्षौमं कार्पासमेव वा ॥
तैलादिदूषिताद्रोगः सच्छिद्राद्वाच्यता भवेत् ।
जीर्णाद्दरिद्रता कर्त्तुर्मलिनात् कीर्त्तिहीनता ॥ इति ।

यज्ञोपवीतमिति ।

श्लोकस्तु— यस्य शक्तित्रयेणेदं संप्रोतमखिलं जगत् ।
यज्ञसूत्राय तस्मै ते यज्ञसूत्रं प्रकल्पये ॥ इति ।

हाराद्याभरणैरिति ।

श्लोकस्तु— स्वभावसुन्दराङ्गाय नानाशक्त्याश्रयाय ते ।
भूषणानि विचित्राणि कल्पयाम्यमरार्चित ॥ इति ॥ ९८ ॥

फिर सुगन्ध युक्त पदार्थ मिश्रित जल से इष्टदेवता को स्नान करावे । धौत वस्त्र तथा उत्तरीय प्रदान करे और हारादि आभरणों के सहित दिव्य यज्ञोपवीत पहनावे ॥ ९८ ॥

अङ्गादिपूजा

न्यासक्रमेण मनुना पुटितैर्मातृकाक्षरैः ।
अभ्यर्च्य देवीं गन्धाद्यैरङ्गादीन् पूजयेत् ततः ॥ ९९ ॥

न्यासेति । उपचारात् पूर्वं कृतो यो देवदेहे न्यासः तत्क्रमेण मूलमन्त्र-पुटितमेकैकमक्षरं कृत्वेत्यर्थः ।

वर्णैर्मनुप्रपुटितैः क्रमशः शतार्द्धैर्न्यासक्रमादभियजेत् सकलासु मन्त्री ।
गन्धादिभिः प्रथमतो मनुदेवतासु त्रैलोक्यमोहन इति प्रथितः प्रयोगः ॥

इत्याचार्योक्तेः ।

अभ्यर्च्य देवीमिति । अत्र देवीमित्युपलक्षणं स्वेष्टदेवतामित्यर्थः । क्वचिद्देवमिति पाठः । पुटितलक्षणं त्रयोविंशे वक्ष्यति । ततो गन्धाद्यैरभ्यर्च्य पुनरन्तरमङ्गादीनावरणानि चार्चयेत् । इति क्रमविधायकम् । गन्धाद्यैरित्यादिशब्देन पुष्पम् । अङ्गादीनिति तत्तत्कल्पोक्ताङ्गावृत्यादि । अस्यायमाशयः । मुख्यदेवे गन्धपुष्पे दत्त्वा अङ्गादिलोकपालान् सम्पूज्य धूपादि दद्यादिति ॥ ९९ ॥

उपचार से पूर्व जो इष्ट देवता में न्यास कहा गया है, मूल मन्त्र से संपुटित एक एक मातृका वर्णों द्वारा इष्ट देवता का गन्धादि उपचारों द्वारा पूजन करे । पुनः तदङ्गभूत लोकपालों का पूजन कर धूपादि प्रदान करे ॥ ९९ ॥

पूजापुष्पाणि

गन्धश्चन्दनकर्पूर कालागुरुभिरीरितः ।
कमले करवीरे द्वे कुमुदे तुलसीद्वयम् ॥ १०० ॥
जातीद्वयं केतके द्वे कह्लारं चम्पकोत्पले ।
कुन्दमन्दारपुन्नागपाटला नागचम्पकम् ॥ १०१ ॥
आरग्वधं कर्णिकारं पारन्ती नवमल्लिका ।
सौगन्धिकं सकोरण्टं पलाशाशोकमल्लिकाः॥ १०२ ॥
धूस्तूरं सर्जकं बिल्वमर्जुनं मुनिपुष्प(पत्र)कम् ।
अन्यान्यपि सुगन्धीनि पत्रपुष्पाणि देशिकैः ॥ १०३ ॥
उपदिष्टानि पूजायामाददीत विचक्षणः ।
मलिनं भूमिसंस्पृष्टं कृमिकेशादि दूषितम् ॥ १०४ ॥
अङ्गस्पृष्टं समाघ्रातं त्यजेत् पर्युषितं गुरुः ।
देवस्य मस्तकं कुर्यात् कुसुमोपहितं सदा ॥ १०५ ॥

गन्धाद्यैरित्युक्तं तत्स्वरूपमेवाह गन्ध इत्यादिना । श्लोकस्तु—

परमानन्दसौरभ्यपरिपूर्णदिगन्तर ।
गृहाण परमं गन्धं कृपया परमेश्वर ॥ इति ।

इदं गन्धदानं कनिष्ठिकयेति ज्ञेयम् । यदाहुः—

शङ्खपात्रस्थितं गन्धं मन्त्रैर्दद्यात् कनिष्ठया । इति ।

ततो गन्धमुद्रां प्रदर्शयेत् । तल्लक्षणन्तु—

कनिष्ठाङ्गुष्ठसंयुक्ता गन्धमुद्रा प्रकीर्त्तिता । इति ।

कमले इति । द्वे इति श्वेतरक्ते । श्लोकस्तु—

तुरीयवनसम्भूतं नानागुणमनोहरम् ।
अमन्दसौरभं पुष्प गृह्यतामिदमुत्तमम् ॥ इति ।

ततः पुष्पमुद्रां प्रदर्शयेत् ।

केतके द्वे इति श्वेतपीते । मन्दारोऽर्कः । पुन्नागो नागकेशरः । आरग्वधो राजवृक्षः घनवदर इति कान्यकुब्जभाषायाम् । पारन्ती लताभेदः । सौगन्धिकं कह्लारभेदः । देशिकैः पूजायामुपदिष्टानीत्यनेनान्येषु पुष्पाध्यायेषु विहितानि ग्राह्याणि तत्तद्देवतानां निषिद्धानि त्याज्यानीत्युक्तं । ज्ञानमालायाम्—

नाक्षतैरर्चयेद् विष्णुं न तुलस्या विनायकम् ।
न दूर्वया यजेद् दुर्गां बिल्वपत्रैर्दिवाकरम् ॥
उन्मत्तमर्कपुष्पञ्च विष्णौ वर्ज्यं सदा बुधैः ।
देवीनाञ्चार्कमन्दारावादित्ये तगरं यथा ॥
गणेशाय च सूर्याय रक्तपुष्पमति प्रियम् ।
शिवे कुन्दं न (म)दन्तीञ्च यूथीं बन्धूककेतके ॥
जवां रक्तां त्रिसन्ध्ये द्वे सिन्दूरं कूटजानि च ।
मालतीं घुसृणं रक्तं हयारिं बर्बरां त्यजेत् ॥
उग्रगन्धमगन्धञ्च कृमिकेशादिदूषितम् ।
अशुद्धपात्रपाण्यङ्गवासोभिः कुत्सितात्मभिः ॥
आनीतं नार्पयेच्छम्भोः प्रमादादपि दोषकृत् ।
कलिकाभिस्तथा नेज्यं विना चम्पकपङ्कजैः ॥
शुष्कैर्न पूजयेद्विष्णुं पत्रैः पुष्पैः फलैरपि ।
स्नात्वानीतैः पर्युषितैर्याचितैः कृष्णवर्णकैः ॥
सायं विकाशितैः पुष्पैः स्वयञ्च पतितैर्भुवि ।
वर्जयेद्बृहतीद्वन्द्वं काञ्चनारं कुरुण्टकम् ॥
सर्वपुष्पैः सदा पूजा विहिता विहितैरपि ।
कर्त्तव्या सर्वदेवानां भक्तियोगोऽत्र कारणम् ॥
पुष्पं वा यदि वा पत्रं फलं नेष्टमधोमुखम् ।
दुःखदं तत् समाख्यातं यथोत्पन्नं तथाऽर्पणम् ॥
चित्रपूजासु सर्वासु न विद्धस्यापि दूषणम् ।
अधोमुखार्पणं नेष्टं पुष्पाञ्जलिविधौ न तत् ॥
लक्षपूजासु सर्वासु पुष्पमेकैकमर्पयेत् ।
समुदायेन चेत् पूजा लक्षपुष्पार्पणन्तु तत् ॥ इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—पुष्पं पञ्चविधं प्रोक्तं मुनिभिर्नारदादिभिः ।
परापरोत्तमञ्चैव मध्यमञ्च तथाऽधमम् ॥
सौवर्णन्तु परं प्रोक्तमपरं चित्रवस्त्रजम् ।
वृक्षगुल्मलतापुष्पमुत्तमं परिकीर्त्तितम् ॥
अधमं पत्रतोयादि मध्यमन्तु फलात्मकम् ।

उत्सृष्टं न क्रियायोग्यं सदायोग्ये परापरे ॥
पत्रेषु तुलसी श्रेष्ठा बिल्वमामलकं शुभम् ।
मरुको देवकह्लारी विष्णुक्रान्ता तथैव च ॥
अपामार्गोऽथ गान्धारी पत्री सुरभिसंज्ञिका ।
नागवल्लीदलं दूर्वा कुशपत्रं तथा मतम् ॥
पत्रञ्चागस्त्यवृक्षस्य पुण्यं धात्रीदलं तथा ।
फलेऽप्यामलकं श्रेष्ठं वादरं तिन्तिणीभवम् ॥
दाडिमं मातुलुङ्गञ्च जम्बीरं पनसोद्भवम् ।
कदली चूतसम्भूतं श्रेष्ठं जम्बूफलन्तथा ॥
यजेदेतैः सदा विष्णुं पत्रैः पुष्पैः फलैस्तथा । इति ।

तथा— दिवसे दिवसोत्फुल्लैः पुष्पैः पूजा तथा निशि ।
पुष्पाभावे प्रवालैर्वा पूजयेच्च न कोरकैः ॥ इति ।
अन्यार्थमाहृतं दुष्टं तथैवान्योपभुक्तकम् । इति ।

गुरुरित्यनेन केषुचित् पर्युषितेषु दोषाभाव इत्युक्तम् । यत् ज्ञानमालायाम्—

न पर्युषितदोषोऽस्ति जलजोत्पलचम्पके ।
तुलस्यगस्त्यवकुले बिल्वगङ्गाजले तथा ॥ इति ।

पण्डितैर्दिनसंख्यया केषाञ्चित् पर्युषितदोषाभाव उक्तः ।

बिल्वापामार्गजातीतुलसिशमिशता केतकीभृङ्गदूर्वा
मन्दाम्भोजाहिदर्भा मुनितिलतगरा ब्रह्मकह्लारमल्ली ।
चम्पाश्वारातिकुम्भीमरुवकदमना विश्वतोऽहानि च स्युः
त्रिंशत्त्र्येकार्यरीशोदधिनिधिवसुभूभूयमा भूय एवम् ॥ इति ।

शता शतपत्रम् । भृङ्गं भृङ्गराजः । मन्दो मन्दारः । अहि द्रोणकलशः । ब्रह्म पलाशः। अश्वारातिः करवीरः । एषां यथायोग्यं पत्रपुष्पाणि ग्राह्याणि । अरयः षट् । यमो द्वयम् । एवम् एकावृत्त्या आहृतानां दिनसंख्या । भूय एवमस्यार्थः । द्वितीयावृत्त्या दर्भादीनामियं दिनसंख्येति । स्मृत्यन्तरेऽपि—

पङ्कजं पञ्चरात्रं स्यात् दशरात्रञ्च बिल्वकम् ।
तुलस्यैकादशाहात्तु पुनः प्रक्षाल्य पूजयेत् ॥ इति ।

तुलस्यां निर्माल्यदोषोऽपि नास्ति । यदाहुः—

सद्यः पर्युषिता वापि निर्माल्या नैव दूष्यति ।
तथान्यैर्न हरेस्तुष्टिस्तुलस्या तुष्यते यथा ॥ इति ॥१००-१०५॥

कालागुरु, चन्दन तथा कपूर को मिला कर सुगन्ध प्रदान करना चाहिए । दो कमल, दो करवीर, दो कुमुद, दो तुलसीपत्र, दो जाती पुष्प, दो केतकी, दो कह्लार (कुमुद), दो चम्पक, दो उत्पल, कुन्द, मन्दार, पुन्नाग, गुलाब, नागकेशर, चम्पक, आरग्वध, कचनार, पारन्ती, नवमल्लिका, सौगन्धिक कुरण्ट, पलाश, अशोक, मल्लिका, धत्तूर, सहिजन, बिल्वपत्र, अर्जुन, अगस्त्य—इसी

प्रकार अन्य भी पत्र पुष्प, पूजा के कार्य में आचार्यों ने विहित किया है । अत: विचक्षण साधक इन्हें पूजा के कार्य में ग्रहण करे ॥ १००-१०४ ॥

मलिन, पृथ्वी पर गिरे हुये, कृमि, केशादि दूषित, अङ्ग से स्पृष्ट, सूँघे गये तथा पर्युषित पुष्प अवश्य ही पूजा कार्य में नहीं ग्रहण करना चाहिए । बुद्धिमान् साधक इष्टदेवता का मस्तक सर्वदा पुष्पों से अलंकृत रखे ॥ १०४-१०५ ॥

पूजाकाले देवताया नोपरि भ्रामयेत् करम् ।
अगुरूशीरगुग्गुलुशर्करामधुचन्दनैः ॥ १०६ ॥
धूपयेदाज्य संमिश्रैर्नीचैर्देवस्य देशिकः ।
वर्त्त्या कर्पूरगर्भिण्या सर्पिषा तिलजेन वा ॥ १०७ ॥
आरोप्य दर्शयेद्दीपानुच्चैः सौरभशालिनः ।
स्वादूपदंशं विमलं पायसं सहशर्करम् ॥ १०८ ॥

उद्दिष्टमुक्त्वा प्रकृतमाह धूपयेदिति । वामहस्तेन घण्टामन्त्रेणार्चितां घण्टां वादयन् धूपं दद्यादित्यर्थः । देशिक इत्यनेन घण्टामन्त्रेण तत्पूजनमप्युक्तम् ।

यदाहुः— जयध्वनि ततो मन्त्रमातः स्वाहेत्युदीर्य च ।
अभ्यर्च्य वादयन् घण्टाम् । इति ।

शैवागमे तु—धूपभाजनमस्त्रेण प्रोक्ष्याऽभ्यर्च्य हृदाणुना ।
अस्त्रेण पूजितां घण्टां वादयन् गुग्गुलुं दहेत् ॥ इति ।

श्लोकस्तु— वनस्पतिरसोपेतो गन्धाढ्यः सुमनोहरः ।
आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥ इति ।

तदुक्तम्—घण्टां गन्धाक्षतकुसुमकैरर्चितां वादयानः । इति ।

अन्यत्रापि— ततः समर्पयेद्धूपं घण्टां वाद्य जयस्वनैः । इति ।

अत्र प्रयोगः—धूपपात्रमस्त्रेण प्रोक्ष्य नमोमन्त्रेण पुष्पं दत्त्वा वामया तर्जन्या संस्पृशन् मूलमन्त्रं श्लोकश्च पठित्वा साङ्गाय सपरिवाराय देवाय धूपं समर्पयामि नमः इति शङ्खजलमुत्सृज्य धूपमुद्रां प्रदर्श्य घण्टामन्त्रेणार्चितां घण्टां वामहस्तेन वादयन् देवतागुणनामयशः स्तुत्यादि कीर्त्तयन् देवं धूपयेत् । उक्तञ्च—

धूपस्थानं समभ्यर्च्य तर्जन्या वामया स्पृशन् ।
सङ्कल्प्यैवं ततः पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा यशः पठेत् ॥

बहवृच परिशिष्टेऽपि—धूपस्य व्यजनेनैव धूपेनाङ्गविधूपने ।
नीराजनेषु सर्वेषु देव (गुण) नामादि कीर्त्तयन् ॥
जयघोषं प्रकुर्वीत कारुण्यञ्चापि कीर्त्तयेत् ।
तथा मङ्गलघोषञ्च जगद्बीजस्य च स्तुतिम् ॥ इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे तु—न दहेद् दूषितं धूपं कार्पासास्थिशिरोरुहैः । इति ।

एवं दीपदानेऽपि घण्टावादनादि सर्वं पूर्ववत् कुर्यात् । विशेषस्त्वयं उत्सर्गे वाममध्यमया दीपपात्रस्पर्शः । दीपमुद्रादर्शनञ्च ।

श्लोकस्तु—सुप्रकाशो महादीपः सर्वतस्तिमिरापहः ।
सबाह्यभ्यन्तरंज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥ इति ।

उक्तञ्च ज्ञानमालायाम्—सर्वनादप्रिया देवा नैकः कर्त्तुञ्च तान् क्षमः ।
सर्वनादमयी घण्टा रवात्मा(र्था)सर्वनादकृत् ॥ इति ।

नीचैरिति देवतानाभिदेशे उच्चैरिति नेत्रदेशे इत्याचार्याः । 'दृष्ट्याद्यति विशदधीः पादपर्यन्तमुच्चैः' इत्युक्तेः । बहुवर्त्तिदीपपक्षे विषमा एव वर्त्तिसंख्या ग्राह्या ।

यदाहुः— आरार्तिकन्तु विषमबहुवर्त्तिसमन्वितम् । इति ।

प्रयोगसारे तु—तैलेन कपिलाज्येन सिक्थकेनापरेण वा ।
स्नेहेन वर्त्तिसंयुक्तं दीपमुच्चैः प्रदर्शयेत् ॥ इति ।

तत्र सर्पिषा चेद्दीपः तदा दक्षिणतः तैलेन चेत्तदा वामत इति सम्प्रदायः । एवञ्च सितावर्त्तिश्चेद्दक्षिणतः रक्ता चेद्वामतो निवेदनमिति ॥ १०७-१०८ ॥

कदलीफलसंयुक्तं साज्यं मन्त्री निवेदयेत् ।
तत्र तत्र जलं दद्यादुपचारान्तरान्तरा ॥ १०९ ॥

मन्त्रीत्यनेनैतदुक्तं भवति नैवेद्यम् अस्त्रमन्त्रजप्तजलेन सम्प्रोक्षयेत् ।

शैवागमे तु—ततो मृत्युञ्जयेनैव वौषडन्तेन सप्तधा ।
जप्तैः सदर्भशङ्खस्थैः सिञ्चेत् तत्तोयबिन्दुभिः ॥ इति ।

ततश्चक्रमुद्रयाऽभिरक्ष्य वायुबीजेन द्वादशवाराभिमन्त्रितजलेन हविः सम्प्रोक्ष्य तदुत्थवायुना तद्दोषं संशोष्य (ध्य) दक्षिणकरतलेऽग्निबीजं विचिन्त्य तत्पृष्ठलग्नं वामकरतलं कृत्वा नैवेद्ये प्रदर्श्य तदुत्थाग्निना तद्दोषं दग्ध्वा वामकरतलेऽमृतबीजं विचिन्त्य तत्पृष्ठलग्नं दक्षिणकरतलं कृत्वा नैवेद्ये प्रदर्श्य तदुत्थामृतधारया प्लावितं विभाव्य मूलमन्त्रजप्तजलेन सम्प्रोक्ष्य तदखिलममृतात्मकं ध्यात्वा तत् स्पृष्ट्वा मूलमन्त्रमष्टधा जप्त्वा धेनमुद्रां प्रदर्श्य जलगन्धपुष्पैरभ्यर्च्य देवतायै पुष्पाञ्जलिं समर्प्य तन्मुखात्तेजो निर्गतमिति ध्यात्वा वामाङ्गुष्ठेन मुख्यं नैवेद्यपात्रं स्पृष्ट्वा दक्षिणकरेण जलं गृहीत्वा स्वाहान्तं मूलमन्त्रम्

सत्पात्रसिद्धं सुहविर्विविधानेकभक्षणम् ।
निवेदयामि देवाय सानुगाय गृहाण तत् ॥

इति श्लोकञ्च जपित्वा साङ्गाय सपरिवाराय देवाय नैवेद्यं समर्पयामि नमः इति जलमुत्सृज्य नैवेद्यमुद्रां प्रदर्शयेत् । ततः सपुष्पाभ्यां हस्ताभ्यां नैवेद्यपात्रं त्रिः प्रोद्धरन्—'निवेदयामि भवते जुषाणेदं हविर्हरे' इति जपेत् । तत्र हरे इति पदस्थाने तत्तद्देवतानामोह्यम् । यदाहुः—

अस्त्रोक्षितं तदरिमुद्रिकयाऽभिरक्ष्य वायव्यतोयपरिशोषितमग्निदोष्णा ।
संदह्य वामकरसौधरसाभिपूर्णं मन्त्रामृतीकृतमथाभिमृशन् प्रजप्यात् ॥

मनुमष्टशः सुरभिमुद्रिकया परिपूर्णमर्चयतु गन्धमुख्यैः ।
हरिमर्चयेदथ कृतप्रसराञ्जलिरास्यतोऽस्य विसरेच्च महः ॥
वीतिहोत्रदयितान्तमुच्चरन् मूलमन्त्रमथ निक्षिपेज्जलम् ।
अर्पयेत्तदमृतात्मकं हविर्दोर्युजा सकुसुमं समुद्धरन् ॥
निवेद्यार्पणमन्त्रोऽयं सर्वार्चासु निजाख्यया । इति ।

ततो वामकरेण ग्रासमुद्रां दक्षिणकरेण प्राणादिमुद्राश्च दर्शयन् प्राणाय स्वाहेत्यादि मन्त्रान् जपेत् । यदाहुः—

ग्रासमुद्रां वामदोष्णा विकचोत्पलसन्निभाम् ।
प्रदर्शयन् दक्षिणेन प्राणादीनाञ्च दर्शयेत् ॥
स्पृशेत् कनिष्ठोपकनिष्ठिके द्वे स्वाङ्गुष्ठमूर्द्ध्ना प्रथमेहमुद्रा ।
तथा परा तर्जनिमध्यमे स्यादनामिकामध्यमिके च मध्या ॥
अनामिकातर्जनिमध्यमा स्यात्तद्वच्चतुर्थी सकनिष्ठिकास्ताः ।
स्यात् पञ्चमी तद्वदिहोपदिष्टाः प्राणादिमुद्रा निजमन्त्रयुक्ताः ॥
प्राणापानोदानव्यानसमानाः क्रमाच्चतुर्थ्या युक्ताः ।
ताराधारा वध्वा चेद्वाः कृष्णाध्वनस्त एते मनवः ॥ इति ।

पुष्पादिमुद्रालक्षणानि च—

ज्येष्ठाङ्गुष्ठस्य पुष्पस्य युक्ता धूपस्य तर्जनी ।
दीपस्य मध्यमानामा नैवेद्यस्य प्रकीर्त्तिता ॥
इतराङ्गुलिसंयोगात् पञ्चमुद्राः प्रकीर्त्तिताः ।
गन्धादिष्वपि दत्तेषु (भेदेषु) मुद्राश्चेमाः प्रदर्शयेत् ॥
मुद्रया यत् कृतं कर्म तदक्षयफलप्रदम् ॥ इति ।

तत्रेति । उपचाराणाम् अन्तरान्तरा पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा जलं दत्त्वा स्वहस्तं प्रक्षालयेदिति परमगुरवः । इदानीं तन्त्रान्तरोक्तो विशेषो लिख्यते ।

अनिर्माल्यं सनिर्माल्यमर्चनं द्विविधं स्मृतम् ।
दिव्यैर्मनोभवैर्द्रव्यैर्गन्धपुष्पैः स्रगादिभिः ॥
यदर्चनमनिर्भाल्यं दिव्यभोगापवर्गदम् ।
ग्राम्यारण्यादिसम्भूतैर्यागद्रव्यैर्मनोरमैः ॥
भक्तैर्यत् क्रियते सम्यक् सनिर्माल्यं तदर्चनम् ।

तत्र तत्त्वसागरसंहितायां निर्माल्यत्वमुक्तम्—

जातमात्राणि पुष्पाणि घ्रातान्येव निसर्गतः ।
पञ्चभिश्च महाभूतैर्भानुना शशिना तथा ॥
प्राणिभिश्च द्विरेफाद्यैः पौष्पैरेव न संशयः ।
अतो निर्माल्यमित्युक्तम् । इति

निर्माल्यञ्चेत् अनेन फलं कथमित्याशङ्क्य तत्रैवोक्तम्—

अल्पबुद्धित्वतो नृणां बाह्यपुष्पैर्भवेत् क्रिया ॥ इति ।

तथा— पुनस्त्रिधा मता पूजा उत्तमाधममध्यमा ।
अधिकारिनिमित्ताभ्यां भिद्यते शतधा पुनः ॥
यागोपकरणैः कृत्स्नैः क्रियमाणोत्तमा मता ।
यथालब्धैर्विनिष्पाद्या दृष्टैः पूजा तु मध्यमा ॥
पत्रपुष्पाम्बुनिष्पाद्या पूजा चाधमसंज्ञिता ।
विदिताखिलवेदार्थैर्ब्रह्मर्षिभिरकल्मषैः ॥
क्रियमाणा तु या पूजा सात्त्विकी सा विमुक्तिदा ।
राजर्षिभिस्तपोनिष्ठैर्भगवत्तत्त्ववेदिभिः ॥
या पूजा क्रियते सम्यक् राजसी सा सुखप्रदा ।
स्त्रीबालवृद्धमूर्खाद्यैर्भक्तैश्च(र) क्षुद्रमानसैः ॥
या पूजा क्रियते नित्यं तामसी सा प्रकीर्त्तिता ।
आतुरी सौतकी चैव त्रासी दौर्बोधिकी तथा ॥
साधनाभाविनी चेति पञ्चधा भिद्यते पुनः ।
यदि लङ्घनपर्यन्तो व्याधिरात्मनि दृश्यते ॥
तदा पूजा न कर्त्तव्या स्थण्डिले प्रतिमासु च ।
न स्नानं दन्तकाष्ठं वा कुर्याद्धोममथापि वा ॥
रविमण्डलमालोक्य प्रतिमामथवा पुनः ।
मूलमन्त्रं सकृज्जप्त्वा पुष्पं साक्षतमुत्क्षिपेत् ॥
श्रान्तो व्याधिभिरत्युग्रैः क्लान्तश्चैवोपवासकैः ।
निजसामयिकैर्वापि स्वकर्त्तव्यं समापयेत् ॥
स्नात्वा (स्तुत्त्वा) देवमथाग्नींश्च गुरून् विप्रान् प्रपूज्य च ।
एतावत्कालविच्छिन्ना पूजा युष्मत्प्रसादतः ॥
न दोषो मेऽस्त्विति प्रार्थ्य पुनः पूर्ववदाचरेत् ।
अथ सूतकिनः पूजां वदाम्यागमचोदिताम् ॥
स्नात्वा नित्यञ्च निर्वर्त्त्य मानस्या क्रियया तु वै ।
बाह्यपूजाक्रमेणैव स्थान (ध्यान) योगेन पूजयेत् ॥
यदि कामी न चेत् कामी नित्यं पूर्ववदाचरेत् ।
त्रासिनो वक्ष्यते पूजा यथैवागमचोदिता ॥
लब्धं वा यदिवाऽलब्धमर्घ्यपात्रादि साधनम् ॥
पूजोदकेन कर्त्तव्या न चेत्तोयञ्च विद्यते ॥
यदि सम्पूजयेद्देवं भावनाकुसुमादिभिः ।
दौर्बोधिकीं प्रवक्ष्यामि पूजामागमचोदिताम् ॥
मूर्खस्त्रीबालवृद्धाद्या दूर्बोधा इति भाविताः ।
रत्नमण्डपधर्मादिचतुष्कमुरगोम्बुजम् ॥
मूलमूर्त्तेस्तथाङ्गानि तेषां पूजा विधीयते ।
अन्येषामपि सर्वेषां प्रोक्ता संक्षेपकर्मणि ॥
सर्वोपचारवस्तूनामलाभे भावनेव हि ।
निर्मले (र्माल्ये) नोदकेनाथ पूर्णतेत्याह नारदः । इति ।

पूजाकरणासमर्थं प्रति—आराधनासमर्थश्चेद्द्द्यादर्चनसाधनम् ।
यो दातुं नैव शक्नोति कुर्यादर्चनदर्शनम् ॥
नैकञ्च यस्य विद्येत सोऽधो यात्येव नान्यथा ।
यस्तु भक्त्या प्रयत्नेन स्वयं सम्पाद्य चाखिलम् ॥
साधनञ्चाऽर्चयेद्विद्वान् स समग्रफलं लभेत् ।
योऽर्चयेद्विधिवद्भक्त्या परानीतैश्च साधनैः ॥
पूजाफलार्द्धमेवाऽस्य न समग्रफलं लभेत् । इति ॥ १०९ ॥

पूजा करते समय देवता के ऊपर हाथ न घुमावे । अगुरु, उशीर, गुग्गुल, शर्करा, मधु, चन्दन इन्हें घी में मिला कर आचार्य इष्ट देवता के नीचे धूप प्रदान करे । कर्पूर मिश्रित, घी मिश्रित तथा तिल तेल मिश्रित अथवा अन्य सुगन्धित पदार्थ मिश्रितबत्ती किसी पात्र में स्थापित कर ऊँचे स्थान से (नेत्र के समानान्तर) दीप प्रदान करे । तदनन्तर मन्त्री स्वादिष्ट, विमल पायस, जिसमें शर्करा मिला हो और इसी प्रकार केले का फल तथा घी मिश्रित पदार्थों का नैवेद्य अपने इष्ट देवता को समर्पित करे । उपचारों के बीच बीच में पुष्पाञ्जलि दे कर जल भी देते रहना चाहिए ॥ १०६-१०९ ॥

अङ्गदेवताध्यानम्

अङ्गादिलोकपालान्तं यजेदावरणान्यपि ।
केशरेष्वग्निकोणादि हृदयादीनि पूजयेत् ॥ ११० ॥

अङ्गादीन् पुनरर्चयेदित्युक्तम् । तत्राद्यन्ते सामान्ये इति । तयोर्ध्यानस्थानप्रयोगान् वक्तुम् आदिशब्दार्थञ्च प्रकटयितुं पुनः संगृहणाति । तत्स्वरूपमाह अङ्गादीति । पूजावसरस्य प्रागुक्तत्वात् अतएव वक्ष्यति 'एवं सम्पूज्य विधिवन्निवेद्यान्तम्' (४. ११८) इति । अङ्गम् अङ्गावृतिरादौ यत्र तत् । लोकपालावृतिरन्ते यत्र तत् । अङ्गादि-लोकपालान्तमिति क्रियाविशेषणम् । लोकपालशब्देनैव स्वास्त्रावृतिग्रहणं ज्ञेयम् । एतच्च सम्भवाभिप्रायं बहुषु स्थलेषु तथा दर्शनात् न नियमः । अपिशब्दादत्रापि अन्तरान्तरा जलं दद्यादित्यनुषज्यते ।

अङ्गपूजायाः सर्वसामान्यम् अर्चनस्थानमाह केशरेष्विति ।

अग्निकोणादीत्यादिशब्देन नैर्ऋतवायव्येशानकोणेषु । तदुक्तम्—
वह्न्यदीशान्तमङ्गानि हृदादिकवचान्तिकम् ।
अर्चयेत् पुरतो नेत्रमन्त्रं दिक्षु बहिः पुनः ॥ इति ।

अन्यत्रापि—हुतवहनिर्ऋति समीरण शिवदिक्षु हृदादिवर्मान्तम् । इति ।

अन्ये तु आग्नेयेशाननैर्ऋतवायव्यकोणेष्विति व्याचक्षते । यदाहुः—
इष्ट्वा हृदयमाग्नेयामैशान्यान्तु शिरो यजेत् ।
नैर्ऋत्यान्तु शिखा पूज्या वायव्यां कवचं यजेत् ॥
अभ्यर्च्य पुरतो नेत्रं दिक्षु शस्त्रमथार्चयेत् । इति ।

अन्यत्रापि—अग्नीशासुरवायव्यमध्यदिक्ष्वङ्गपूजनम् । इति ।

यथागुरूपदेशश्च निर्णयः । अत्राग्नेयादीनि पुरःकल्पितपूर्वदिगपेक्षया न तु प्रसिद्धानीति ॥ ११० ॥

इस प्रकार इष्टदेवता की पूजा कर लेने के पश्चात् आदि में अङ्गावृत्ति के क्रम से लोकपाल पर्यन्त आवरणों की पूजा करे । केशर के अग्निकोण में हृदय की, ईशानकोण में शिर की नैर्ऋत्य में शिखा की तथा वायव्य में कवच की पूजा करे ॥ ११० ॥

नेत्रमग्रे दिशास्वस्त्रं ध्यातव्या अङ्गदेवताः ।
तुषारस्फटिकश्यामनीलकृष्णारुणार्चिषः ॥ १११ ॥

नेत्रमग्र इति कर्णिकायां देवस्य पुरतः । शिरःप्रभृतिमन्त्रेषु पूजायां नमोऽन्तता ज्ञेया । होमे तु हृदयादीनां स्वाहान्तता । आद्यद्वितीययोस्तज्जातियुक्तत्वादेव न तत्प्रयोगः । अधिकरणसिद्धश्चायमर्थः । तथा हि—'मन्त्रे स्ववाक्यशेषत्वं गुणोपदेशात् स्यात्' इत्यत्राधिकरणे स्वाहाकारेण वषट्कारेण वा देवेभ्यो हविर्ददातीति सामान्येन विहितया स्वाहाकारान्ततया पृथिव्यै स्वाहा अन्तरिक्षाय स्वाहेत्यादिषु मन्त्रेषु न पुनस्तस्य वाधः । सामिधेनीसाप्तदश्यवदुपसंहाराभावान्नान्य-मन्त्रेषु बाधश्चेति स्थितम् ॥ १११ ॥

अपने अग्रभाग में नेत्र की और दिशाओं में अस्त्र की पूजा करे । तुषार, स्फटिक, श्याम, नील, कृष्ण तथा रक्तवर्ण वाली अङ्ग देवता का ध्यान करना चाहिए ॥ १११ ॥

वरदाभयधारिण्यः प्रधानतनवः स्त्रियः ।
पश्चादभ्यर्चनीयाः स्युः कल्पोक्तावृतयः क्रमात् ॥ ११२ ॥

प्रधानतनवः स्त्रिय इति पक्षद्वयमिति पद्मपादाचार्याः ।

उक्तञ्च—वरदाभयधारिण्यो महिलाकृतयोऽङ्गदेवताः पूज्याः । इति ।

आवरणानीत्युक्तानां स्थानमाह पश्चादिति । पश्चादङ्गावृत्यनन्तरमित्यर्थः । इदमपि प्रायिकम् । तत्पूर्वमप्यावृतीनां सत्त्वात् ॥ ११२ ॥

ये सभी अङ्ग देवता वर तथा अभय धारण करने वाली हैं मुख्य रूप से स्त्री स्वरूप वाली हैं । इनकी पूजा कर लेने के पश्चात् कल्पोक्त आवरणों की पूजा करनी चाहिए ॥ ११२ ॥

लोकपालपूजा

अन्ते यजेल्लोकपालान् मूलपारिषदान्वितान् ।
हेतिजात्यधिपोपेतान् दिक्षु पूर्वादितः क्रमात् ॥ ११३ ॥

तेषां नामादि

इन्द्रमग्निं यमं रक्षो वरुणं पवनं विधुम् ।

ईशानं पन्नगाधीशमध ऊर्ध्वं पितामहम् ॥ ११४ ॥
पीतो रक्तो सितो धूम्रः शुक्लो धूम्रः सितावुभौ।
गौरोऽरुणः क्रमादेते वर्णतः परिकीर्तिताः ॥ ११५ ॥

अन्त इति बाह्ये । चतुरस्रे आवरणान्तत्त्वस्य पूर्वमुक्तेः । एतच्च व्याख्यानं वैहायसीमन्त्रकोशे वायवीयसंहितायाञ्च तथा दर्शनात् । सत्सम्प्रदायाच्च । पूर्वादितो दिक्षु क्रमाच्च । अन्ते इन्द्रमग्निं इत्यादीन् लोकपालान् यजेदिति सम्बन्धः । तत्र सामान्यत इन्द्राय नम इत्यादि प्रयोगे प्राप्ते विशेषमाह मूलेत्यादिना । अन्ते इत्यत्रापि सम्बध्यते । तेनेदं पदं सर्वान्ते देयमेवेत्यर्थः । तच्च प्रयोगलिखने स्फुटीभविष्यति । मूलपारिषदान्वितानित्यस्यायमर्थः । यदा शक्त्यावरणे इन्द्रादि पूजा तदा प्रत्येकं शक्तिपारिषदायेति लोकपालानां वज्रादीनाञ्च विशेषणं ज्ञेयम् । एवं शिवपूजायां प्रत्येकं शिवपारिषदायेति । एवं गणेशपूजायां प्रत्येकं गणेशपारिषदायेति । एवं सूर्यपूजायां प्रत्येकं सूर्यपारिषदायेति । एवं विष्णुपूजायां प्रत्येकं विष्णुपारिषदायेति । चरणव्यत्ययो गोपनार्थं कृतः । हेतीत्यत्रापि अन्त इति सम्बध्यते । इन्द्रायेत्यादेरन्त इत्यर्थः । अत्रापि प्रयोगे जात्यधिपानां पूर्वमुच्चारणं पश्चाद्धेतीनाम् । मूले तु हेतिशब्दस्याल्पाक्षरत्वात् पूर्वनिपातः । हेतयः आयुधानि । जातयः सुरतेजः-प्रेतरक्षोजलप्राणनक्षत्रभूत नागलोकाः । सवाहनान् सपरिवारानित्यपि ज्ञेयम् । वाहनानि तु ऐरावताजमहिषनरमकरमृगाश्ववृषभरथहंसाः । तदुक्तमाचार्यैः—

जात्यधिपहेतिवाहनपरिवारान्ताः क्रमेण यष्टव्याः । इति ।

वक्ष्यति च स्वयं नित्यामन्त्रे—.

लोकपालान् यजेदन्ते वाहनायुधसंयुतान् । इति ।

सशक्तिकानिति ज्ञेयम् । तदुक्तं वैहायसीमन्त्रकोशे—

लोकेश्वरान् पार्थिवमण्डले सशस्त्रान् सशक्तीन् सहवाहनांश्च ।
सपार्षदांश्चन्दनपुष्पधूपैर्यजेत् स मन्त्री निजवाञ्छिताय ॥ इति ।

स्वस्वबीजाद्यानित्यपि ज्ञेयम् । बीजानि तु लं रं मं क्षं बं यं शं हं नं कं । तदुक्तं महाकपिलपञ्चरात्रे—

यानुलोमतृतीयन्तु द्वितीयं लविलोमतः ।
चतुर्थं फानुलोमेन रानुलोमेन चाष्टमम् ॥
तृतीयं पानुलोमेन लविलोमात् तृतीयकम् ।
चतुर्थं सप्तमं वर्णं रानुलोमेन संस्थितम् ॥
चतुर्थं थानुलोमेन तृतीयं गविलोमतः ।
स्वरोपान्त्यस्वनामाभ्यां भेदितं सर्वमेव तत् ॥
अनुपूर्वोद्धृतं बीजं ब्रह्मान्तं वासवादिमम् ॥ इति ।

एतानि दीर्घाण्यपीति केचित् । अनन्तब्रह्मणोर्मायापाशबीज इति केचित् । तदुक्तम्—

पृथ्व्याग्निपवनाद्यन्तवरुणानिलसेश्वरैः ।
अनन्तबिन्दुसंयुक्तैरर्च्याः पाशेन मायया ॥ इति ।

तत्र रक्ष इति निर्ऋतिं पवनं वायुं विधुं सोमं पन्नगाधीशम् अनन्तं पितामहं ब्रह्माणम् । दिक्षु पूर्वादितः क्रमादिति । अत्र प्रसिद्धा एव पूर्वादयो ग्राह्याः । तदुक्तम्—

प्रयजेत् स्वदिक्ष्वमलधीः स्वजात्यधीश्वरहेतिवाहपरिवारसंयुतान् । इति ।

नारायणीये च— इन्द्रादींश्च स्वदिक्षु । इति ।

ग्रन्थकृदपि—इन्द्रादिकान् लोकपालान् स्वस्वदिक्षु समर्चयेत् । इति । तत्राष्टदिक्षु अष्ट पूजयितव्याः । निर्ऋतिवरुणयोर्मध्ये अनन्तम् । इन्द्रेशानयोर्मध्ये ब्रह्माणम् । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—

विष्णुं नैर्ऋते विधिमैश्वरे ।
बहिः पद्मस्य वज्राद्यान्यब्जान्तान्यायुधान्यपि ॥
प्रसिद्धरूपास्वाशासु लोकेशानां क्रमाद् यजेत् । इति ।

अत्र नैर्ऋते ऐश्वरे इति तत्सामीप्यलक्षकमिति ज्ञेयम् । अत्र क्वचिद् ब्रह्माणं पूजयित्वा अनन्तं पूजयेदिति क्रमः । स पौराणिक इति ज्ञेयं न तान्त्रिकः । महाकपिलपञ्चरात्रहयशीर्षपञ्चरात्रप्रपञ्चसारादिबहुतन्त्रविरोधात् । तथा चाचार्याः—

अनन्तब्रह्मपर्यन्तैः पञ्चमीन्द्रादिभिर्मता ।
चक्रपद्मान्तिकैः षष्ठी वज्राद्यैः ॥ इति ।

प्रयोगो यथा । ॐ लं इन्द्राय सुराधिपतये सायुधाय सवाहनाय सपरिवाराय सशक्तिकाय विष्णुपारिषदाय नमः इति । एवं ॐ रं अग्नये तेजोऽधिपतये इत्यादि । एषां पूजायां लोकपालमुद्रा दर्शनीया । यदाहुः—

पाणिमूले सुसंलग्ने शाखाः सर्वाः प्रसारिताः ।
लोकेशानामियं मुद्रा तेषामर्चासु दर्शयेत् ॥ इति ॥११३-११५॥

पुनः अन्त में तत्तत्पारिषदों से युक्त इन्द्राग्नि आदि लोकपालों की पूजा उनके आयुध, देवता, प्रेत, राक्षस, जल, प्राण, नक्षत्र, भूत तथा नागलोकादि जाति तथा उनके वाहन एवं परिवार आदि के साथ क्रमशः पूर्वादि दिशाओं में करनी चाहिए ॥ ११३ ॥

इन्द्र, अग्नि, यम, राक्षस, वरुण, पवन, चन्द्रमा, ईशान, पन्नग तथा पितामह—ये दश दिक्पाल हैं । ये क्रम से पीत, रक्त, सित, धूम्र, शुक्ल, धूम्र, सित, सित, गौर तथा अरुण वर्ण के कहे गये हैं ॥ ११४-११५ ॥

वज्रं शक्तिं दण्डमसिं पाशमङ्कुशकं गदाम् ।
शूलं चक्रं पद्ममेषामायुधानि क्रमाद्विदुः ॥ ११६ ॥
पीतशुक्लसिताकाशविद्युद्रक्तसितासिताः ।
करविन्दपाटलाभा वज्राद्याः परिकीर्तिताः ॥ ११७ ॥

अग्निसंस्कारः

एवं सम्पूज्य विधिवन्निवेद्यान्तं ततो गुरुः ।

दक्षिणे स्थण्डिलं कृत्वा तत्राऽऽधाय हुताशनम्॥ ११८ ॥
संस्कृत्य विधिवद्विद्वान् वैश्वदेवं समाचरेत् ।
तत्र सम्पूज्य गन्धाद्यैर्देवतामुक्तविग्रहाम् ॥ ११९ ॥

वज्रमिति । असिं खड्गं । आकाशो नीलवर्णः । करविन्दः नीलपुष्पोऽतसीप्रायो वृक्षः । तत्पुष्पवर्ण इत्यर्थः । तदुक्तमाचार्यैः—करविन्दारुणवर्णाः । इति ।

तत्र प्रयोगो यथा ॐ वज्राय वज्रलाञ्छितमौलये सायुधाय सवाहनाय सपरिवाराय सशक्तिकाय विष्णुपारिषदाय नमः इत्याद्यूह्यम् । तदुक्तमाचार्यैः—

अर्चा बहिर्निजसुलक्षितमौलियुक्ताः
स्वस्वायुधाभयसमुद्यतपाणिपद्माः । इति ।

मूलेन मूर्त्तिं क्लृप्तेत्यादि निवेद्यान्तमिति नित्यपूजायामपि समानम् । विद्वान् विधिवत् संस्कृत्येत्यनेन वीक्षणादयश्चत्वारः संस्कारा घृतसंस्कारा अग्नेराज्याहुतिक्रमेण गर्भाधानादि संस्काराश्च कर्त्तव्या इत्युक्तं भवति ॥ ११६-११९ ॥

इन लोकपालों के वज्र, शक्ति, दण्ड, असि, पाश, अंकुश, गदा, शूल, चक्र और पद्म क्रमशः आयुध कहे गए हैं ॥ ११६ ॥

इन वज्रादि आयुधों के वर्ण पीत, शुक्ल, सित, आकाश (नीला), विद्युत्, रक्त, सित, असित, करविन्द (अरुण) तथा पाटल के समान कहे गए हैं ।

इस प्रकार गुरु नैवेद्य पर्यन्त सायुध सपरिवार लोकपालों की पूजा कर दक्षिण में स्थण्डिल निर्माण कर उस पर अग्नि की स्थापना करे ॥ ११७-११८॥

विद्वान् आचार्य विधिपूर्वक अग्नि का संस्कार कर उनका पूजन करे । पश्चात् ऊपर कहे गये विग्रह वाले देवता का गन्धादि द्वारा पूजन करे ॥ ११९ ॥

तारव्याहृतिभिर्हुत्वा मूलमन्त्रेण मन्त्रवित् ।
सर्पिष्मता पायसेन पञ्चविंशतिसंख्यया ॥ १२० ॥
हुत्वा व्याहृतिभिर्भूयो गन्धाद्यैः पुनरर्चयेत् ।
तां योजयित्वा पीठस्थमूर्त्तौ वह्निं विसर्जयेत् ॥ १२१ ॥
अवशिष्टेन हविषा विकिरेत् परितो बलिम् ।
देवतायाः पार्षदेभ्यो गन्धपुष्पाक्षतान्वितम् ॥ १२२ ॥

तारव्याहृतिभिरिति । अत्राद्याश्चतस्रः सतारव्याहृतिभिः एका समस्तेन । भूयोऽनन्तरं व्याहृतिभिर्हुत्वेति सम्बन्धः । पूर्ववदिति ज्ञेयम् । पुनरनन्तरं गन्धाद्यैस्तां देवताम् अर्चयेत् । आदिपदेन पुष्पधूपदीपनैवेद्यानि । पीठस्थमूर्त्तौ योजयित्वा तामित्यनुषज्यते ॥ १२०-१२२ ॥

मन्त्रवेत्ता आदि में चार आहुति 'भूः स्वाहा', 'भुवः स्वाहा', 'स्वः स्वाहा' तथा 'भू भुर्वः स्वः स्वाहा'—इन मन्त्रों से देकर पश्चात् घी युक्त खीर से पुनः २५

बार व्याहृति होम कर गन्धादि द्वारा उन देवता का पूजन करे। फिर उन देवता को पीठस्थ मूर्त्ति में सन्निविष्ट कर अग्नि का विसर्जन कर देवे ॥ १२०-१२१ ॥

हवन करने से शेष जो पायस बचे उसमें गन्ध पुष्पादि मिला कर देवता के पार्षदों के लिये बलि रूप में उसे विकीर्ण कर देवे ॥ १२२ ॥

ततो निवेद्यमुद्धृत्य शोधयित्वा जलं पुनः।
पञ्चोपचारैः सम्पूज्य दर्शयेच्छत्रचामरे ॥ १२३ ॥
कर्पूरशकलोन्मिश्रं ताम्बूलञ्च निवेदयेत्।
सहस्रावृत्य संजप्य मूलमन्त्रमनन्यधीः।
तज्जप्तं सर्वसम्पत्त्यै देवतायै समर्पयेत् ॥ १२४ ॥

तत इत्यनेनैतदुक्तं भवति। पानार्थं जलं दद्यात्। मूलमन्त्रान्ते

श्लोकस्तु—समस्तदेवदेवेश सर्वतृप्तिकरं परम्।
अखण्डानन्दसम्पूर्ण गृहाण जलमुत्तमम् ॥ इति।

ततो भोजनशेषोदकञ्च दत्त्वा निर्गततेजो देवमुखे संहृत्य नैवेद्यांशं विश्वक्सेनादिभ्यो दद्यादिति। तदुक्तम्—

मुख्यादीशानातः पात्रान्नैवेद्यांशं समुद्धरेत्।
सर्वदेवस्वरूपाय पराय परमेष्ठिने।
श्रीरामसेनायुक्ताय विश्वक्सेनाय ते नमः ॥
गणेशे वक्रतुण्डाय सूर्ये चण्डांशवेऽर्पयेत्।
शक्तावुच्छिष्टचाण्डाल्यै शिवे चण्डेश्वराय च ॥ इति।

देवतायाः पार्षदेभ्य इत्यत्रापि पारिषदशब्देनैषामेव ग्रहणम्। सर्वसम्पत्त्यै देवतायै इति व्यधिकरणे चतुर्थ्यौ। समर्पयेदिति। अत्र नित्यपूजायां ताम्बुलछत्रादर्शचामराणि समर्प्य—बुद्धिः सवासना क्लृप्ता दर्पणं मङ्गलानि च।
मनोवृत्तिर्विचित्रा ते नृत्यरूपेण कल्पिता ॥
ध्वनयो गीतरूपेण शब्दा वाद्यप्रभेदतः।
छत्राणि नव पद्मानि कल्पितानि मया प्रभो ॥
सुषुम्णाध्वजरूपेण प्राणाद्याश्चामरात्मना।
अहङ्कारो गजत्वेन वेगः क्लृप्तो रथात्मना ॥
इन्द्रियाण्यश्वरूपाणि शब्दादि रथवर्त्मना।
मनः प्रग्रहरूपेण बुद्धिः सारथिरूपतः।
सर्वमन्यत्तथा क्लृप्तं तवोपकरणात्मना ॥

इति श्लोकान् पठित्वा यथाशक्ति मूलमन्त्रं जप्त्वा गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणाऽस्मत्कृतं जपम्।

सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादात्त्वयि स्थिते ॥
इत्यनेनं तं जपं देवतायै निवेदयेत्।

तदुक्तं शैवागमे— मन्त्री श्लोकं पठित्वा तु दक्षहस्तेन शम्भवे ।
मूलाणुनाऽर्घ्यतोयेन दक्षहस्ते निवेदयेत् ॥ इति ।

ततः पराङ्मुखमर्घ्यं दत्त्वा शङ्खं पूजयेत् । तदुक्तं मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

पूजयेद् गन्धपुष्पाद्यैः शङ्खं वै देववद् बुधः । इति

अन्यत्रापि— त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि वासुदेवस्य चाज्ञया ।
शङ्खे तिष्ठन्ति विप्रेन्द्र तस्माच्छङ्खं सदाऽर्चयेत् ॥

ततः प्रदक्षिणं कुर्यात् । तत्र विशेषस्तन्त्रान्तरे—

एकां चण्ड्यां रवौ सप्त तिस्रो दद्याद् विनायके ।
चतस्रः केशवे दद्यात् शिवस्यार्द्धं प्रदक्षिणम् ॥ इति ।

ततः स्तुत्वा नत्वा नित्यहोमं कुर्यात् । तत्र तन्त्रान्तरे विशेषः—

अग्न्याधानादिकं कर्म नित्यहोमे न विद्यते । इति ।

ततश्चुल्लुकोदकेन 'इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत् स्मृतं यदुक्तं यत् कृतं तत् सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा । मां मदीयञ्च सकलं हरये समर्पये ॐ तत् सत्' इति ब्रह्मार्पणमन्त्रेणात्मानं समर्प्य स्वहृत्कमले संहारमुद्रया देवमुपसंहरेदिति विशेषः । संहारमुद्रालक्षणमुक्तमेव । प्रसादस्वीकारे तत्तद्देवताभक्तेन तत्तद्देवताप्रसादः स्वीकर्त्तव्य एव । पञ्चदेवतापूजायान्तु विष्णोरेव शालग्रामशिलास्पर्शादन्येषाञ्च ।

तथा च बह्वृचपरिशिष्टे—पवित्रं विष्णुनैवेद्यं सुरसिद्धर्षिभिः स्मृतम् ।
अन्यदेवस्य नैवेद्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥
अग्राह्यं शिवनिर्माल्यं पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।
शालग्रामशिलास्पर्शात् सर्वं याति पवित्रताम् ॥ इति ।

अन्यो विशेषस्तन्त्रान्तरे विक्षेपादथ बालिश्याजपहोमार्चनान्तरा । उत्तिष्ठति तदा न्यासं षडङ्गं विन्यसेत् पुनः ॥ इति ॥ १२३-१२४ ॥

फिर (१०९ श्लोक में कहे गये) समस्त नैवेद्य पदार्थों को उठा लेवे और उस स्थल को शुद्ध करे । देवता का पञ्चोपचार से पूजन कर उन्हें छत्र तथा चामर प्रदर्शित करे ॥ १२३ ॥

तदनन्तर कपूर खण्ड से मिश्रित ताम्बूल समर्पित करे । पुन: अनन्य बुद्धि से सहस्रावृत्ति मूल मन्त्र का जप कर सर्वैश्वर्य प्राप्ति के लिये देवता को जप समर्पित करे ॥ १२४ ॥

अस्त्रदेवताध्यानम् । तन्मन्त्रः

ततः शम्भोर्दिशि गुरुर्विकिरे पूर्वसञ्चिते ॥ १२५ ॥
हेमवस्त्रादिसंयुक्तां कर्करीं तोयपूरिताम् ।
संस्थाप्य तस्यां सिंहस्थां खड्गखेटकधारिणीम् ॥ १२६ ॥

घोररूपां पश्चिमास्यां पूजयेदस्त्रदेवताम्।
चलासनेन सम्पूज्य तामादाय गुरुः पुनः॥ १२७ ॥
रक्षेति लोकपालानां नालमुक्तेन वारिणा ।
देवाज्ञां श्रावयन्नन्तः परिवृत्त्य प्रदक्षिणम्॥ १२८ ॥
अस्त्रमन्त्रं समुच्चार्य यथापूर्वं निवेशयेत् ।
अभ्यर्च्य भूयो गन्धाद्यैरस्त्रं तत्र स्थिरासने ॥ १२९ ॥

शम्भोर्दिशीति ऐशान्याम् । कर्करीं सनालं जलपात्रम् । तस्यां कर्कर्याम् एवम्भूतामस्त्रदेवतां पूजयेदित्यन्वयः । चलासनेन इत्युच्छ्रितासनेन । तामिति । गुरुस्तां कर्करीमादाय नालमुक्तेन वारिणा लोकपालानां रक्षेति देवाज्ञां श्रावयन् अन्तर्मण्ड-पान्तर्वेद्याः परितः प्रदक्षिणं परिवृत्त्य यथापूर्वं तां निवेशयेदिति सम्बन्धः । तत्र कर्कर्याम् । स्थिरासने निश्चलासने उपविष्ट इत्यर्थः ॥ १२५-१२९ ॥

तदनन्तर ईशान कोण में पूर्व सञ्चित विकिर पर जहाँ हेम तथा वस्त्र से संयुक्त जलपूर्ण केकरी (सनाल जलपात्र) रखी हुई थी, उस पर अस्त्र देवता को स्थापित कर पूजा करे ॥ १२५ ॥

अब **कर्करी पर स्थापित की जाने वाली अस्त्र देवता का स्वरूप** कहते हैं—जो खड्ग तथा खेटक धारण करने वाली हैं, सिंह पर स्थित हैं, जिनका रूप अत्यन्त भयानक है और जिनका मुख पश्चिम की ओर है ॥ १२५-१२६ ॥

इस प्रकार के अस्त्र देवता का आसन से उठकर आचार्य स्वयं पूजन करे । फिर उस कर्करी को हाथ में ले कर उसके नाल से जल गिराते हुये 'लोकपालानां रक्षा' इस मन्त्र को सुनाते हुये भीतर की वेदी के चारों ओर प्रदक्षिणा कर अस्त्र मन्त्र (अस्त्राय फट्) पढ़कर कर्करी को यथास्थान सन्निविष्ट कर देवे । पुनः निश्चल आसन पर बैठ कर गन्धादि द्वारा पुनः कर्करी स्थित अस्त्र देवता की पूजा करे ॥ १२७-१२९ ॥

ततश्च संस्कृते वह्नौ गोक्षीरेण चरुं पचेत् ।
अस्त्रेण क्षालिते पात्रे नवे ताम्रमयादिके॥ १३० ॥

तत इति । संस्कृते वह्नाविति आचार्येण स्वकुण्डे संस्कृते । यतोऽग्रिमपटले वक्ष्यमाणाग्निजननकर्म आचार्येण अस्मिन्नेव काले कृतमस्ति तस्यानुवादः संस्कृते वह्नाविति । तदुक्तं प्रयोगसारे—

कुण्डमस्त्रेण संप्रोक्ष्य तत्राधाय हुताशनम् ।
सान्वाधानादिकं देवं यथावत् पूजयेत्ततः ॥
कृत्वा तण्डुलनिर्वापं तस्मिन् क्षीरे पचेच्चरुम् ॥ इति ।

नारायणीयेऽपि— तत्र सम्भृतसम्भारः शिवमिष्ट्वा विधानतः ।

मूलमूर्त्यङ्गविद्याभिस्तण्डुलक्षेपणादिकम् ॥
कृत्वा चरुं पचेत् क्षीरे पुनस्तद्विभजेत् त्रिधा ।
निवेद्यैकं परं हुत्वा सशिष्योऽन्यद् भुजेद् गुरुः ॥ इति ॥ १३०॥

तदनन्तर 'अस्त्र मन्त्र' से धोये गये, नवीन ताम्रादि निर्मित पात्र में गो दुग्ध स्थापित कर सुसंस्कृत अग्नि में चरु का निर्माण करे ॥ १३० ॥

तण्डुलान् शालिसम्भूतान् मूलमन्त्राभिमन्त्रितान् ।
प्रसृतीनां पञ्चदश क्षिप्त्वा चाऽस्त्रमनुं जपेत् ॥ १३१ ॥
प्रक्षाल्य पात्रवदनं पिधाय कवचाणुना ।
प्राङ्मुखो मूलमन्त्रेण देशिकेन्द्रश्चरुं पचेत् ॥ १३२ ॥

तण्डुलानिति । प्रसृतीनां पञ्चदशभिः परिमितानिति शेषः। तण्डुलान् प्रक्षाल्याऽस्त्रमनुं जपन् क्षिप्त्वा इति सम्बन्धः । प्रसृतिलक्षणमग्रे वक्ष्यते ॥ १३१-१३२ ॥

मूल मन्त्र से अभिमन्त्रित शाली नामक धान्य के पञ्चदश प्रसृति प्रमाण तण्डुल को धो कर उसे गो दुग्ध पात्र में डाल कर अस्त्र मन्त्र का जप करते हुये चरु का निर्माण करना चाहिए ॥ १३१ ॥

कवच मन्त्र से उस चरु पात्र का मुख ढक देवे । पुनः पूर्वाभिमुख हो विज्ञ आचार्य मूल मन्त्र का जप करते हुये चरु को पकावे ॥ १३२ ॥

स्रुवेणाज्येन संस्विन्ने दद्यात्तप्ताभिघारणम् ।
मूलेन पश्चात्तत्पात्रं कवचेनाऽवतारयेत् ॥ १३३ ॥
अस्त्रजप्ते कुशास्तीर्णे मण्डले विधिवद् गुरुः ।
तं विभज्य त्रिधा भागमेकं देवाय कल्पयेत् ॥ १३४ ॥

स्रुवेणेति । संस्विन्ने चरौ स्रुवेण कृत्वा मूलमन्त्रेण आज्येन तप्ताभिघारणं दद्यादिति सम्बन्धः । विधिवद् गुरुरित्यनेन मूलेन कुशेन समविभागः कार्य इत्युक्तम् ॥ १३३-१३४ ॥

अन्यमग्नौ प्रजुहुयादपरं देशिकः स्वयम् ।
शिष्येण सार्द्धं भुञ्जीत विहिताचमनस्तदा ॥ १३५ ॥

अन्येति । अग्नाविति कुण्डाग्नौ देशिकः प्रजुहुयादित्यनेनैतदुक्तम् । 'साज्येन चरुणा तथा' इत्यग्निमपटले मूलमन्त्रेण पञ्चविंशतिवारमुक्तो होमोऽत्रानुसन्धेयः इति । भुञ्जीतेति । तत्र विशेषः सोमशम्भौ—

चरोस्तृतीयभागन्तु ग्रासत्रितयसम्मितम् ।
अष्टग्रासप्रमाणं वा दर्शनस्पर्शवर्जितम् ॥
पालाशे पुटके मुक्तौ भुक्तौ पिप्पलपत्रजे ।
हृदा सम्भोजयेन्मन्त्री पूतैराचमयेज्जलैः ॥ इति ॥ १३५ ॥

चरु के पक जाने पर तप्त घृत स्रुवा में डालकर उसी से मूल मन्त्र पढ़कर उसका अभिघारण करे। पुनः कवच मन्त्र (कवचाय हुँ) पढ़कर चरु पात्र को नीचे उतार लेवे ॥ १३३ ॥

चरु के उतार लेने के पश्चात् आचार्य स्वयं अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित कुशा के द्वारा आच्छादित मण्डल पर दो पात्र रख कर चरु को बराबर बराबर दो भागों में विधिवत् प्रविभक्त करे। उसमें से एक भाग देवता के लिये रख देवे। दूसरा भाग अग्नि में हवन करे और देवता के लिये निवेदित अपर भाग आचमन कर शिष्य के साथ स्वयं भोजन करे ॥ १३४-१३५ ॥

आचान्तं शिष्यमानीय सकलीकृत्य देशिकः।
तालप्रमाणं हृज्जप्तं क्षीरवृक्षादिसम्भवम् ॥ १३६ ॥

दन्तकाष्ठम्

दन्तकाष्ठं तदा दद्याच्छिष्याय नियतात्मने।
दन्तान् विशोध्य स पुनस्तत् प्रक्षाल्य विसर्जयेत् ॥ १३७ ॥

सकलीकृत्येति मन्त्रषडङ्गमस्याङ्गे न्यस्येति। तालेति। प्रसृतपाणेरङ्गुष्ठाग्रान्मध्यमाग्रं यावत्तालः। तदुक्तम्—

अङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुल्यौ ये हस्तस्य प्रसारिते।
तदग्रयोरन्तरालं तालमाहुर्मनीषिणः ॥ इति।

देशिको दद्यादित्यनेन दानमन्त्र उक्तः। यत् पिङ्गलामते—

माया दण्डिनि ठद्वन्द्वं प्रदद्यादमुना च तत्। इति।

विसर्जनानन्तरं तत्परीक्षा कर्त्तव्येति विसर्जयेदित्यनेनोक्तम्।

प्रक्षाल्य निक्षिपेद्भूमौ वामतो वामपाणिना। इति।

प्रयोगसारे विशेषः। स यथा नारायणीये—

दन्तकाष्ठं हृदा जप्तं क्षीरिवृक्षादिसम्भवम्।
सम्मार्ज्य दन्तांस्तच्छित्त्वा प्रक्षाल्यैतद्भुवि क्षिपेत् ॥
दिक्षु पूर्वाद्यधोर्द्धासु तस्याग्रपतनं क्रमात्।
वृद्धिस्त्रपो मृतिर्वित्तं क्षयं शान्तिर्गदो धनम् ॥
सुखवृद्धिः परं दुखं फलान्येतानि संशति। इति।

अन्यत्रापि— धीश्रीतापवियोगापमृत्युशुभदुःस्थताशमैशादौ।
रदधावनाग्रपाते कुफले मूलाहुतिस्तिलैर्दिशति ॥ इति।

अन्यत्रापि— अथात्र चूतवृक्षस्य द्वादशाङ्गुलमानतः।
दन्तकाष्ठं प्रदातव्यं तद्दन्ताग्रविचर्वितम् ॥
ऊर्द्धास्यं क्षेपयेत्तत्र मण्डले पीठमुन्नयेत्।
पश्चिमोत्तररुद्रेन्द्रे शुभः पातोऽन्यथाऽशुभः ॥

दुर्निमित्तविनाशाय जुहुयाच्छतमस्त्रतः ॥ इति ।

वायवीयसंहितायान्तु—त्यक्तं तद्दन्तपवनं दृश्यते गुरुणा यदि ।
प्रागुदक्पश्चिमेशाग्रं शिवमन्यच्छिवेतरम् ॥
अशस्ताशामुखे तस्मिन् गुरुस्तद्दोषशान्तये ।
शतमर्द्धं तदर्द्धं वा जुहुयान्मूलमन्त्रतः ॥ इति ॥ १३६-१३७ ॥

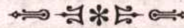
पुनः आचार्य आचमन किये शिष्य को अपने पास बुला कर उसके अङ्गों में षडङ्गन्यास कर उसका सकलीकरण करे । तदनन्तर हृन्मन्त्र (नमः) पढ़कर तोडे गये क्षीरीवृक्ष के दन्त काष्ठ को जिसका प्रमाण तालमात्र (लगभग एक वित्ता) के बराबर हो नियमपूर्वक रहने वाले शिष्य को देवे । शिष्य उसे ले कर अपने दाँतों को स्वच्छ करे । पुनः उस दन्तकाष्ठ को दूर फेंक देवे ॥ १३६-१३७ ॥

शिखाबन्धः, अधिवासः

अनन्तरकर्त्तव्यानि

यथाविधि तमाचान्तं शिखाबन्धाभिरक्षितम् ।
विधाय सार्द्धममुना वेद्यां दर्भास्तरे गुरुः ।
शयीत तस्यां तां रात्रिमधिवासः समीरितः ॥ १३८ ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचिते शारदातिलके चतुर्थः पटलः समाप्तः ॥ ४ ॥



यथाविध्याचान्तं यथाविधि शिखाबन्धाभिरक्षितं विधायेति सम्बन्धः । तत्राचमने विधिः पूर्वं मयोक्त एव । शिखाबन्धे तु यथाविधीत्यनेनैतदुक्तं भवति । मूलमन्त्रस्य सजातिशिखामन्त्रेण अघोरादिमन्त्रेण वा शिखां बध्नीयादिति ।

शयीतेति । गुरुस्तस्यां वेद्यां अमुना शिष्येण सार्द्धं दर्भास्तरे तां रात्रिं शयीतेति सम्बन्धः । वेद्यामिति सामीप्यमधिकरणार्थम् । तदुक्तं नारायणीये—

पुनस्तं शिष्यमाचान्तं शिखाबन्धाभिरक्षितम् ।
कृत्वा वेद्यां सहाऽनेन स्वपेद् दर्भास्तरे गुरुः ॥ इति ।

गुरुरित्यनेन देवदक्षिणभागे पूर्वशिरसा शिष्यं स्वापयेदित्युक्तम् ।

स्वप्नमाणवमाश्रित्य स्वापयेत् पूर्वमस्तकम् ।

इति पिङ्गलामत उक्तेः ।

सोमशम्भौ तु— गृहस्थान् दर्भशय्यायां पूर्वशीर्षास्त्ररक्षितान् ।
हृदा सद्भस्मशय्यायां यतीन् दक्षिणमस्तकान् ॥ इति ।

वायवीयसंहितायान्तु—देवस्य दक्षिणे भागे शिष्यं तमधिवायसयेत् ।
अहतास्तरणास्तीर्णे सदर्भशयेन शुचिः ॥
मन्त्रिते च शिवं ध्यायन् प्राक्शिरस्को निशि स्वपेत् ।
शिखाबद्धस्य सूत्रस्य शिखया तच्छिखां गुरुः ॥
आवेष्ट्याहतवस्त्रेण तमाच्छाद्य च वर्मणा ।
रेखात्रयञ्च परितो भस्मना तिलसर्षपैः ।
कृत्वाऽस्त्रजप्तैस्तद्बाह्ये दिगीशानां बलिं हरेत् ॥ इति ।

स्वप्नमाणवमन्त्रो वैष्णवेषु मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

ॐ हृत् सकललोकाय विष्णवे प्रभविष्णवे ।
विश्वाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः ।
स्वप्नमाणवमन्त्रोयं कथितो नारदादिभिः ॥ इति ।

शैवशाक्तादौ तु पिङ्गलामते— तारो हिलिद्वयं शूलपाणये द्विठ ईरितः ।
स्वप्नमाणवमन्त्रोऽयं शम्भुना परिकीर्त्तितः ॥ इति ।

तन्त्रान्तरोक्तो विशेषः—नमोऽजाय त्रिनेत्राय पिङ्गलाय महात्मने ।
वामाय विश्व(विष्णु)रूपाय स्वप्नाधिपतये नमः ॥
स्वप्ने कथय मे तथ्यं सर्वकार्येष्वशेषतः ।
क्रियासिद्धिं विधास्यामि त्वत्प्रसादान्महेश्वर ॥

इति मन्त्रेण स्वापकाले देवं संप्रार्थ्य स्वपेत् ।

प्रातश्च स्वप्नपरीक्षा कार्या । तदुक्तं पिङ्गलामते—

स्वप्ने शुभाशुभं दृष्टं पृच्छेत् प्रातः शिशु गुरुः ।
शुभे शुभं वदेत्तस्य जुहुयादशुभे शतम् ।
अस्त्रेणेति क्रमात् प्रोक्तो विधिः शिष्याधिवासने ॥ इति ।

अन्यत्रापि— क्रूरेऽधमा मध्यमा स्याददृष्टे तूत्तमोत्तमा(मापि च) ॥ इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—गुरुपादार्चनं कृत्वा उपवासी जितेन्द्रियः ।
दर्भशयां गतो रात्रौ दृष्ट्वा स्वप्नं निवेदयेत् ॥
कन्यां छत्रं रथं दीपं प्रासादं कमलं नदीम् ।
कुञ्जरं वृषभं माल्यं समुद्रं फणिनं द्रुमम् ॥
पर्वतञ्च हयं मेध्यमाममांसं सुरासवम् ।
एवमादीनि सर्वाणि दृष्ट्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥
चाण्डालं करभं कारुं गर्त्तं शून्यममङ्गलम् ।
तैलाभ्यक्तं नरं नग्नं शुष्कवृक्षं सकण्ट(नपुंस)कम् ॥
प्रासादमत(न)लं दृष्ट्वा नरो रोगमवाप्नुयात् ।
दृष्ट्वा दुःस्वप्नकञ्चैव होमात् सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ इति ।

अत्रोपवासीति रागतः प्राप्तभोजननिषेधः न तु वचनविहितचरुभोजननिषेधः।
मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—अथ प्रातः समुत्थाय स्वप्नं दृष्ट्वा विचारयेत्।
भद्रे भद्रं विजानीयादभद्रे जुहुयाच्छतम्॥ इत्यादि।

नारायणीये तु—स्वप्नान् संवीक्षितान् शिष्यः प्रभाते श्रावयेद् गुरुम्।
शुभैः सिद्धिः परैर्भक्तिः। इति।

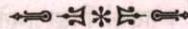
अधिवासः समीरित इति मन्त्रग्रहणपूर्वदिने।

पिङ्गलामते तु सद्योऽधिवासोऽप्युक्तः—
सद्योऽधिवासमथवा प्रकुर्वीत यथाविधि। इति।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—दिनद्वये नैव कुर्याद्दीक्षाकर्म विचक्षणः।
सद्योऽधिवासनं कुर्यादेकस्मिन् दिवसे यदि॥

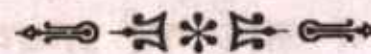
अधिवासशब्दार्थ उक्तो महाकपिलपञ्चरात्रे—
वसतेरधिपूर्वस्य भावे घञ्प्रत्यये कृते।
अधिवास इति ह्येष प्रयोगः सिद्धिमेति च॥
गुर्वादिसहितो वासो रात्रौ नियमपूर्वकः।
सोऽस्यार्थो हि निपातानामनेकार्थतया मतः॥ इति॥ १३८॥

॥ इति श्रीराघवभट्टविरचित-शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां
पदार्थादर्शाभिख्यायां चतुर्थः पटलः॥ ४॥



पुनः यथाविधि शास्त्रीय रीति से शिष्य को आचमन कराकर आचार्य मूलमन्त्र से अथवा 'अघोरामित्यादि' मन्त्र से शिष्य की शिखा बाँधकर अभिरक्षित करे। तदनन्तर उसी शिष्य के साथ वेदी पर दर्भयुक्त आसन पर उस रात्रि में शयन करे। इस प्रकार हमने अधिवास की क्रिया का वर्णन किया॥ १३८॥

॥ इस प्रकार शारदातिलक के चतुर्थ पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय
कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई॥ ४॥



अथ पञ्चमः पटलः

अथ अग्निजननम्

ततोऽग्निजननं वक्ष्ये सर्वतन्त्रानुसारतः ।
आचार्यकुण्डे विधिवत् संस्कृते शास्त्रवर्त्मना ॥ १ ॥

अधिवासदिवस एवास्त्रदेवतापूजानन्तरं आचार्यकर्त्तव्यकुण्डसंस्कारादिकर्माह तत इति ॥ शास्त्रवर्त्मना विधिवत् । संस्कृते आचार्यकुण्डे सर्वतन्त्रानुसारतोऽग्निजननं वक्ष्य इति सम्बन्धः ॥ १ ॥

ग्रन्थकार अधिवासन के दिन अस्त्र देवता के पूजन के अनन्तर आचार्यकुण्ड के आवश्यक करणीय संस्कार तथा उसमें अग्निस्थापन की विधि कहते हैं ।

शास्त्र की रीति के अनुसार आचार्य कुण्ड में जिसका विधिपूर्वक संस्कार किया गया है उसमें अग्नि उत्पन्न करने की विधि कहता हूँ ॥ १ ॥

कुण्डसंस्कारविधिः

अष्टादश स्युः संस्काराः कुण्डानां तन्त्रचोदिताः ।
वीक्षणं मूलमन्त्रेण शरेण प्रोक्षणं मतम् ॥ २ ॥

तमेव विधिमाह अष्टादशेति । शरेणेत्यस्त्रमन्त्रेण । अत्र सर्वत्र अस्त्रादिमन्त्रा देयमन्त्रस्य ज्ञेयाः । वीक्षणं मूलमन्त्रेणेति प्रथमत उक्तेः केचन जातिमन्त्रमेवाहुः । तच्च साम्प्रदायिकम् । प्रोक्षणमित्युत्तानेन हस्ताग्रेण । 'उत्तानेन हस्तेन प्रोक्षयेत्' इति सूत्रणात् ॥ २ ॥

तन्त्रशास्त्रों में कुण्डों के अट्ठारह प्रकार के संस्कार कहे गये हैं मूलमन्त्र पढ़कर कुण्ड का अवेक्षण करना प्रथम संस्कार कहा गया है, अस्त्र मन्त्र (अस्त्राय फट्) पढ कर हाथ के अग्रभाग को उतान कर प्रोक्षण करना दूसरा संस्कार है ॥ २ ॥

तेनैव ताडनं दर्भैर्वर्मणाऽभ्युक्षणं स्मृतम् ।
अस्त्रेण खननोद्धारौ हृन्मन्त्रेण प्रपूरणम् ॥ ३ ॥

अभ्युक्षणमिति मुष्टिबन्धेन सर्वत्र सेचनम् । उद्धारः खातमृदः पूरणम् अन्यमृदा सेचनमभ्युक्षणमेव । अभेर्धात्वर्थानुवर्त्तनात् कश्चित्तमनुवर्त्तते इत्युक्तेः ॥ ३ ॥

समीकरणमस्त्रेण सेचनं वर्मणा मतम्।
कुट्टनं हेतिमन्त्रेण वर्ममन्त्रेण मार्जनम्॥ ४ ॥
विलेपनं कलारूपकल्पनं तदनन्तरम्।
त्रिसूत्रीकरणं पश्चाद्धृदयेनाऽर्चनं मतम्॥ ५ ॥

हेतिमन्त्रेणेत्यस्त्रमन्त्रेण । वर्ममन्त्रेणेत्यग्रिमेषु चतुर्षु सम्बध्यते । तदुक्तं सोमशम्भुना—

संमार्जनं समालेपं कलारूपप्रकल्पनम् ।
त्रिसूत्रीपरिधानञ्च वर्मणाऽभ्यर्चनं हृदा ॥ इति ।

कलारूपकल्पनमिति चन्द्रसूर्याग्निकलारूपकल्पनम् । त्रिसूत्रीकरणमिति सूत्रत्रयवेष्टनम् ॥ ४-५ ॥

पुन: अस्त्र मन्त्र से दर्भ द्वारा कुण्ड का ताडन करना तीसरा संस्कार है वर्ममन्त्र (कवचाय हुँ) से मुट्ठी बाँध कर उसका सेचन करना चौथा संस्कार है, अस्त्र मन्त्र से कुण्ड की मिट्टी का खनना तथा उसे बाहर निकालना पुन: अन्य मृत्तिका लाकर (नम: मन्त्र) से उस खात को पूर्ण करना क्रमश: पाँचवाँ छठाँ एवं सातवाँ संस्कार है ॥ ३ ॥

अस्त्र मन्त्र पढ़कर मिट्टी को समतल बनाना, कवच मन्त्र पढ़कर सेचन करना, अस्त्र मन्त्र से उसे कूटना, वर्म मन्त्र से मार्जन करना ये आठ नव दश तथा इग्यारह संस्कार हुये ॥ ४ ॥

कुण्ड को लीपना, उसमें चन्द्र सूर्य और अग्नि की कला की कल्पना करना, तीन सूत्र लपेटना, पुन: नम: पढ़कर अर्चन करना ये क्रमश: बारह, तेरह और चौदहवें संस्कार हुये ॥ ५ ॥

अस्त्रेण वज्रीकरणं हृन्मन्त्रेण कुशैः शुभैः।
चतुष्पथं तनुत्रेण तनुयादक्षपाटनम् ॥ ६ ॥
यागे कुण्डानि संस्कुर्यात् संस्कारैरेभिरीरितैः।
अथवा तानि संस्कुर्याच्चतुर्भिर्वीक्षणादिभिः॥ ७ ॥

वज्रीकरणमिति वज्रवद्दृढचिन्तनम् । चतुष्पथमिति मध्यात् कुशैश्चतुर्दिक्षु मार्गचतुष्टयकरणम् । तनुत्रेणेति कवचमन्त्रेण । अक्षपाटनमिन्द्रियोच्चाटनम् इत्येके । अन्ये तु क्षपाटना राक्षसाः न विद्यन्ते क्षपाटना यस्मिन् तत् । हुंकारेण राक्षसनिवारणं कुर्यादित्यर्थः । अन्ये तु साम्प्रदायिकाः अट पट गतौ गतिर्ज्ञानम् आदिक्षान्तानां पाटनं व्याप्तिः । अशक्तान् प्रत्याह अथवेति ॥ ६-७ ॥

अस्त्र मन्त्र के कुण्ड को दृढ़ बनाना, 'नम:' मन्त्र पढ़कर अच्छे कुशों से कुण्ड में चतुष्पथ निर्माण करना, वर्म मन्त्र पढ़कर उसका इन्द्रियोच्चाटन करना तथा हुँकार से राक्षसों का अपसरण करना ये क्रमश: पन्द्रह, सोलह, सत्रह तथा

अट्ठारह संस्कार कुण्ड के किये जाते हैं।

अब **अशक्तों के लिये कुण्ड का संस्कार** कहते हैं—

ऊपर कहे गये इन अट्ठारह प्रकार के संस्कारों से कुण्ड का संस्कार करना। अशक्त होने पर केवल तत्तन्मन्त्रों से वीक्षण, प्रोक्षण, ताडन तथा अभ्युक्षण—ये चार ही संस्कार करना चाहिए ॥ ६-७ ॥

तिस्रस्तिस्रो लिखेल्लेखा हृदा प्रागुदगग्रगाः।
प्रागग्राणां स्मृता देवा मुकुन्देशपुरन्दराः ॥ ८ ॥
रेखाणामुदगग्राणां ब्रह्मवैवस्वतेन्दवः।
अथवा षट्कोणावृतं त्रिकोणं तत्र संलिखेत् ॥ ९ ॥

तिस्र इति। तिस्रस्तिस्रो रेखा लिखेत्। गा इत्यनेनैतदुक्तं भवति। प्रागग्राणाम् उदक्संस्थत्वम् उदगग्राणां पूर्वसंस्थत्वमिति। सर्वाः प्रादेशमिताः इत्यपि सम्प्रदायात्। तदुक्तं सौत्रामणितन्त्रे—

प्राचीपूर्वमुदक्संस्थं दक्षिणारम्भमालिखेत्।
उदगग्रं पुरःसंस्थं पश्चिमारम्भमालिखेत्।
तिस्रस्तिस्रो लिखित्वैवं प्रोक्षयेद् वाग्भवेन च ॥ इति।

अथवा षट्कोणावृतं त्रिकोणं लिखेत्। अत्र केचित् षट्कोणवृत्तत्रिकोणम् इति पाठमपठन्। तदज्ञानविजृम्भितम्। तथा च आचार्याः—

अथवा षट्कोणावृतत्रिकोणके गुरुजनोपदेशेन। इति।

तथा च यामले—षट्कोणेनावृतं देवि त्रिकोणञ्चात्र संलिखेत्। इति।

अन्यत्रापि—कृत्वा रेखाश्च मध्यतः। षट्कोणं त्रिकोणञ्च। इति ॥ ८-९ ॥

पुनः उस कुण्ड में दक्षिण दिशा से आरम्भ कर पूर्वाभिमुख तीन रेखा, तथा पश्चिम दिशा के क्रम से उत्तराभिमुख तीन रेखा का निर्माण करना चाहिए। जिन तीन रेखाओं के अग्रभाग पूर्वाभिमुख हैं उनके मुकुन्द, ईश्वर तथा पुरन्दर देवता हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥ ८ ॥

जिन रेखाओं के अग्र भाग उत्तराभिमुख हैं उनके ब्रह्मा, वैवस्वत तथा चन्द्रमा देवता हैं। अथवा षट्कोण के भीतर एक त्रिकोण का निर्माण करना चाहिए ॥ ९॥

सर्वाण्यभ्युक्ष्य तारेण योगपीठमथार्चयेत्।
वागीश्वरीमृतुस्नातां नीलेन्दीवरसन्निभाम् ॥ १० ॥

अग्निसंग्रहः। अग्निसंस्कारः

वागीश्वरेण संयुक्तामुपचारैः प्रपूजयेत्।
सूर्यकान्तादिसम्भूतं यद्वा श्रोत्रियगेहजम् ॥ ११ ॥

आनीय चाग्निं पात्रेण क्रव्यादांशं परित्यजेत् ।
संस्कुर्यात् तं यथान्यायं देशिको वीक्षणादिभिः ॥ १२ ॥

सर्वाणीति । एतानि प्रणवेनाऽभ्युक्ष्य योगपीठं वागीशीयोगपीठं मण्डूकादि परतत्त्वान्तं सम्पूज्य नवमोक्ताः पीठशक्तीः सम्पूज्य ह्रीं वागीश्वरयोर्योगपीठाय नम इति योगपीठं पूजयेत् । अत्र तारशब्देन यथास्वं तत्तन्मन्त्रेषु पञ्चप्रणवानामपि ग्रहणं ज्ञेयम् । प्रपूजयेदिति । पीठे शक्तिबीजेन वागीशीं साध्यमन्त्रेण वागीशम् । तदुक्तं गणेश्वरविमर्शिन्याम्—शक्तिबीजेन वागीशीं वागीशं साध्यमन्त्रतः । इति ।

अन्यत्रापि—साध्यमन्त्रेण तं देवम् इत्यादिना ।

सूर्यकान्तादीत्यादिशब्देन अरणिजन्यः । तदुक्तम्—

जातं मार्त्तण्डकान्ताद्धुतवहमरणेः श्रोत्रियागारजं वा । इति ।

श्रोत्रियगेहजमिति । श्रोत्रियत्वं वेदाध्ययनेन तत्कर्मानुष्ठातृत्वेन च । तेन साग्नित्वे तात्पर्यम् । तदुक्तं वशिष्ठसंहितायाम्—

प्रमथ्य विधिनैवाग्निमाहिताग्नेर्गृहादपि । आनीय चादधीतात्र । इति ।

पात्रेणेति कांस्यादिपात्रेण । पात्रान्तरपिहितेन इत्याचार्याः ।

अन्यत्र तु— श्रोत्रियागारजं वापि सूर्यकान्तोद्भवन्तु वा ।
अरणीसम्भवं वापि क्षिप्तं स्वर्णादिभाजने ॥ इति ।

अत्रिरपि— पात्रान्तरेण पिहिते ताम्रपात्रादिके शुभे ।
अग्निप्रणयनं कुर्याच्छरावे तादृशेऽपि च ॥ इति ।

अन्यत्रापि— क्षेत्रान्निक्षिप्य पात्रे वरकनकमये ताम्रपात्रेऽथ वापि
मृत्पात्रे वा पिधायाऽमलविपुलमतिः । इति ।

यत्तु स्मृतिसारे— शरावे भिन्नपात्रे वा कपाले वोल्मुकेऽपि वा ।
नाग्निप्रणयनं कुर्याद् व्याधिहानिभयावहम् ॥

इति वचनं तस्य मुख्यपात्रसम्भवे शरावो न ग्राह्य इत्यत्र तात्पर्यम् । क्रव्यादांशं परित्यजेदिति । अस्त्रमन्त्रेण नैर्ऋत्य इति ज्ञेयम् ।

तदुक्तम्— अस्त्रेणाऽग्निं समादाय कवचेन पिधाय च ।
क्रव्यादांशन्तु चाऽस्त्रेण नैर्ऋत्ये संत्यजेत् प्रिये ॥ इति ।

अन्यत्र वह्निबीजेन क्रव्यादांशत्यागः । तदुक्तम्—वह्निबीजेन मन्त्री क्रव्यादांशं त्यजेत् तं तदनु च मनुना शोधयेदस्त्रकेन । इति । मन्त्रमुक्तावल्यान्तु विशेषः—

आनीयाऽस्त्रेण नैर्ऋत्ये क्रव्यादांशं परित्यजेत् ।
देवांशं मूलमन्त्रेण स्थापयेत् पुरतः सुधीः ॥ इति ।

यथान्यायमित्यनेन प्रोक्षणाभ्युक्षणे तथा कार्ये यथा आनीतोऽग्निस्तिष्ठतीत्युक्तम् । वीक्षणादिभिरित्यादिशब्देन संस्कारत्रयम् ॥ १०-१२ ॥

पुनः 'प्रणव' मन्त्र से अभ्युक्षण कर वागीश्वरी के योगपीठ की अर्चना करे। अर्चना का मन्त्र इस प्रकार है—'ह्रीँ वागीश्वरी वागीश्वरयोर्योगपीठाय नमः' पुनः उस पीठ पर वागीश्वर से संयुक्त नील कमल के समान स्वरूप वाली ऋतुस्नाता भगवती वागीश्वरी का पूजन षोडशोपचार से करना चाहिए। 'ह्रीँ' इस मन्त्र से वागीश्वरी का तथा साध्यमन्त्र से वागीश्वर के पूजन का विधान कहा गया है। इतनी क्रिया कर लेने के पश्चात् सूर्यकान्तमणि से उत्पन्न अग्नि अथवा श्रोत्रियगृह की अग्नि अथवा अरणि संभूत अग्नि पात्र में रख कर उसमें क्रव्याद अंश को त्याग देवे। पुनः आचार्य को वीक्षण प्रोक्षण ताडन तथा अभ्युक्षण के द्वारा उस अग्नि का संस्कार करना चाहिए। क्रव्यादांश के परित्याग की विधि अन्यत्र इस प्रकार बताई गई है—ऊपर कही गई विधि के अनुसार पात्र में स्थित अग्नि का कुछ अंश 'रं' मन्त्र पढ़कर नैर्ऋत्य में त्याग देवे। यह क्रव्याद अंश के परित्याग की विधि है ॥ १०-१२ ॥

औदर्यबैन्दवाग्निभ्यां भौमस्यैक्यं स्मरन् वसोः।
योजयेद् वह्निबीजेन चैतन्यं पावके तदा ॥ १३ ॥

औदर्येति । बिन्दुः प्रसिद्धः परमात्मस्वरूपः । तस्याग्नीषोमस्वरूपत्वात् । तद्भवो वह्निर्बैन्दवः । अन्ये बिन्दुः भ्रूमध्यमिति । भौमस्य पार्थिवस्य । वसोरग्नेः ॥ १३ ॥

तदनन्तर उस भौम अग्नि की औदर्य अथवा परमात्मा रूप अग्नि से एकत्त्व की संभावना करते हुये 'रँ' इस अग्नि मन्त्र को पढ़ कर उसमें चैतन्य की स्थापना करनी चाहिए ॥ १३ ॥

तारेण मन्त्रितं मन्त्री धेनुमुद्रामृतीकृतम् ।
अस्त्रेण रक्षितं पश्चात्तनुत्रेणाऽवगुण्ठितम् ॥ १४ ॥
अर्चितं त्रिः परिभ्राम्य कुण्डस्योपरि देशिकः।
प्रदक्षिणं तदा तारमन्त्रोच्चारणपूर्वकम् ॥ १५ ॥

मन्त्राः

आत्मनोऽभिमुखं वह्निं जानुस्पृष्टमहीतलः ।
शिवबीजधिया देव्या योनावेव विनिक्षिपेत् ॥ १६ ॥

तारेणेति । पूर्ववत्तारशब्दार्थः । अमृतीकृतमित्यमृतबीजेनेत्याचार्याः । तदुक्तम्—अमृतीकरणं ततो विदध्याज्जलबीजेन सबिन्दुना कृशानोः । इति । रक्षितमिति दिग्बन्धेन । प्रदक्षिणमिति पूर्वेण सम्बध्यते ।

तारमन्त्रोच्चारणेति तारस्य प्रणवस्य मन्त्रस्य मूलमन्त्रस्योच्चारणम् । तदुक्तम्—

योनावेनं विन्यसेत् स्वाभिवक्त्रं पश्चादग्निं मूलमन्त्रेण मन्त्री । इति । अत्रापि तारशब्दार्थः पूर्ववत् । 'रं वह्निचैतन्याय नमः' इति पद्मपादाचार्याः । अन्ये तु

तारशब्देन हूँकारं मन्त्रशब्देन वह्निचैतन्याय नमः' इत्याहुः । तदुक्तम्—

> हूँ वह्निपूर्वं चैतन्यं चतुर्थ्यन्तं नमोऽन्वितम् ।
> मन्त्रमुचार्य पश्चात्तं वह्निमुत्थाप्य देशिकः ॥
> भूमिष्ठजानुको भूत्वा कुण्डस्योर्द्ध्वं प्रदक्षिणम् ।
> भ्रामयित्वा त्रिधा तत्र वागीशीगर्भगोचरे ॥
> शिवबीजमिति ध्यात्वा निक्षिपेदाशुशुक्षणिम् ॥ इति ।

शिवबीजधियेति । इदं शैवे । शैवतन्त्रे तथोक्तेः । स एव वक्ष्यति च—नाम्नापि शिवाग्निरिति कल्पयेत् । इति ।

नारायणीयेऽपि—शिवाग्निं जनयित्वा । इति ।

अत एव संहितायाम्—लक्ष्मीमृतुमतीं तत्र प्रभोर्नारायणस्य च ।
ग्राम्यधर्मेण सञ्जातमग्निं तत्र विचिन्तयेत् ॥ इति ।

अत एव ग्रन्थकृदपि 'वह्नेः पितरौ' इति सामान्यतो वक्ष्यति । अग्रे च—जुहुयाद् वैष्णवे वह्नौ । इति । जानुभ्यां स्पृष्टं महीतलं येनेति विग्रहः ।

वायवीयसंहितायान्तु—

> वह्निबीजं समुच्चार्य त्वादधीताऽग्निमासने ।
> योनिमार्गेण वा तद्वदात्मनः सम्मुखेन च ॥ इति ॥ १४-१६ ॥

'प्रणव' मन्त्र से उसे अभिमन्त्रित करना चाहिए, धेनुमुद्रा से अमृतीकरण, अस्त्र मन्त्र से संरक्षण, कवच मन्त्र से अवगुण्ठन तथा पुनः अर्चन कर कुण्ड के ऊपर उस अग्नि को तीन बार दाहिनी ओर घुमाना चाहिए । पुनः प्रणव मन्त्र का उच्चारण कर स्वयं आचार्य पृथ्वी पर जानु रख कर अपने सामने कुण्ड में देवी की योनि में शिव बीज का ध्यान करते हुये, अग्नि स्थापित करे ॥ १४-१६ ॥

पश्चाद्देवस्य देव्याश्च दद्यादाचमनादिकम् ।
ज्वालयेन्मनुनाऽनेन तमग्निमथ देशिकः ॥ १७ ॥

आचमनादिकमित्यादिशब्देन आचमनोत्तरोपचारग्रहणम् । 'उपचारैः प्रपूजयेत्' इत्युक्तेः । ज्वालयेदिति । अनेन वक्ष्यमाणेन ।

तत्र विशेषः— जुहुयुश्च हुताग्निश्च पाणिसूर्पस्त्रुवादिभिः ।
न कुर्यादग्निधमनं न कुर्याद् व्यजनादिना ॥
मुखेनैव धमेदग्निं मुखादेषो ह्यजायत ।
नाग्निं मुखेनेति तु यत् लौकिके योजयेत्तु तत् ॥ इति ॥ १७ ॥

अग्निस्थापन के अनन्तर आचार्य स्वयं वागीश्वर तथा वागीश्वरी को आचमन करावे और आगे कहे जाने वाले मन्त्र से अग्नि को प्रज्वलित करे ॥१७॥

चित्पिङ्गलं हनदहपचयुग्मान्युदीर्य च ।
सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहा मन्त्रोऽयं प्रागुदीरितः ॥ १८ ॥

अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम् ।
सुवर्णवर्णममलं समिद्धं विश्वतोमुखम् ॥ १९ ॥

चित्पिङ्गलमिति शब्दकर्मणि द्वितीया मन्त्रे तु सम्बद्ध्यन्तम् । हनेत्यादित्रयाणां युग्मानि । ज्वालयेन्मनुनाऽनेनेति यो मन्त्रः प्रागुदीरितः उद्दिष्टः स मन्त्रोऽयमीरित इत्यर्थः । क्वचित्तु समुदीरित इत्येव पाठः । अत्र अग्निज्वालने ज्वालिनीमुद्रां प्रदर्शयेत् । तल्लक्षणन्तु—

मणिबन्धौ समौ कृत्वा करौ तु प्रसृताङ्गुली ।
मध्यमे मिलिते कृत्वा तन्मध्येऽङ्गुष्ठकौ क्षिपेत् ॥
इयं सा परमा मुद्रा ज्वालिनी होमकर्मणि । इति ॥ १८-१९ ॥

अग्निजिह्वान्यासः

उपतिष्ठेत विधिवन्मनुनाऽनेन पावकम् ।
विन्यसेदात्मनो देहे मन्त्रैर्जिह्वा हविर्भुजः ॥ २० ॥
लिङ्गपायुशिरोवक्त्रघ्राणनेत्रेषु सर्वतः ।
वह्निरार्घीशसंयुक्ताः सादियान्ताः सबिन्दवः ॥ २१ ॥

गुणभेदेन जिह्वाभेदः

वर्णा मन्त्राः समुद्दिष्टा जिह्वानां सप्तदेशिकैः ।
जिह्वास्तास्त्रिविधाः प्रोक्ता गुणभेदेन कर्मसु ॥ २२ ॥

विधिवदित्यनेनैतदुक्तं भवति उत्थाय कृताञ्जलिपुटो भूत्वा मन्त्रं जपेदिति । अनेनाग्निमित्यादिना । सर्वत इति सप्तमं स्थानं सर्वाङ्गे इत्यर्थः । 'सर्वाङ्गेषु जिह्वाश्च' इत्याचार्योक्तेः । इदञ्च न्यासस्थानम् । बहुरूपायाः पूजायास्तथारभ्य माणत्वात् ॥
उक्तञ्च— सलिङ्गगुदमूर्द्धास्यनासानेत्रेषु च क्रमात् ।
विन्यसेदतिरक्तां ताः सर्वाङ्गे बहुरूपिणीम् ॥ इति ।
उद्देशक्रमस्तु बीजोद्धारसौकर्यायेत्यवधेयम् ॥

वह्नीति । वह्नो रेफः इरो यः अर्धीश ऊकारः एतद्युक्ताः । सादियान्ताः सकारादियकारान्ताः । वैपरीत्येन एते वर्णाः सबिन्दवो मन्त्रा भवन्ति ॥ २०-२१ ॥

जिह्वानामिति त्रिविधानामपि । तत्र प्रयोगः स्र्यूँ हिरण्यायै नमः लिङ्गे इत्यादि ॥ २२ ॥

'चित्पिंगल हन हन दह दह पच पच, सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहा' यह मन्त्र अग्नि प्रज्वलित करने का है, जिसे पहले भी कहा जा चुका है ॥ १८ ॥

अग्नि प्रज्वलित कर लेने के अनन्तर आचार्य 'अग्नि प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं, हुताशनम् । सुवर्ण वर्णममलं समिद्धं विश्वतोमुखम् ॥' इस मन्त्र से विधिपूर्वक अग्नि की स्तुति करें तथा अग्नि की सप्तजिह्वा के वर्ण मन्त्रों से अपने शरीर का न्यास करें ॥ १९-२० ॥

लिङ्ग, पाद, शिर, मुख, घ्राण, नेत्र और सर्वांग इन सात स्थानों में वह्नि (रेफ) इर (य) इन दो वर्णों का अर्घीश (ऊ) से युक्त कर इनके आदि में स से आरम्भ कर य पर्यन्त वर्णों को बिन्दु से युक्त कर क्रमशः न्यास करे ।

प्रयोग—यथा—'स्र्यूं हिरण्यायै नमः लिङ्गे' इत्यादि । 'सं' से लेकर 'य' पर्यन्त सात वर्णों को आचार्यों ने अग्नि की सात जिह्वाओं का क्रमशः वर्णमन्त्र कहा है । यज्ञ कर्मों में गुण के भेद से अग्नि की सात जिह्वाओं का तीन भेद कहा गया है ॥ २१-२२ ॥

हिरण्या गगना रक्ता कृष्णाऽन्या सुप्रभा मता ।
बहुरूपाऽतिरक्ता च सात्त्विक्यो यागकर्मसु ॥ २३ ॥
पद्मरागा सुवर्णान्या तृतीया भद्रलोहिता ।
लोहिताऽनन्तरं श्वेता धूमिनी च करालिका ॥ २४ ॥
राजस्यो रसना वह्नेर्विहिताः काम्यकर्मसु ।
विश्वमूर्त्तिस्फुलिङ्गिन्यौ धूम्रवर्णा मनोजवा ॥ २५ ॥
लोहितान्या करालाख्या काली तामस्य ईरिताः ।
एताः सप्त नियुज्यन्ते क्रूरकर्मसु मन्त्रिभिः ॥ २६ ॥

तासामधिदेवताः

स्वस्वनामसमाभाः स्युर्जिह्वाः कल्याणरेतसः ।
अमर्त्य-पितृ-गन्धर्व-यक्ष-नाग-पिशाचकाः ।
राक्षसाः सप्तजिह्वानामीरिता अधिदेवताः ॥ २७ ॥

कल्याणरेतसोऽग्नेः । अधिदेवता आह अमर्त्येति । अत्र जिह्वानामधिदेवता-कथनं तत्तत्स्थानेषु न्यासार्थम् । तेन सुरेभ्यो नम इत्यादि । अन्ये तु सुराधिपतये हिरण्यायै नमः इत्यादि । किञ्च तत्तद्देवतां जिह्वामध्यस्थां बुद्ध्वा तस्यां तस्यां तत्तद्रव्यैः तत्तत्कर्मणि क्रियमाणे फलसिद्धिरिति प्रदर्शनार्थम् । तथा च आचार्याः—

जिह्वासु त्रिदशादीनां तत्तत्कार्यसमाप्तये ।
जुहुयाद्वाञ्छितां सिद्धिं दद्युस्ता देवतामयाः ॥ इति ।

गणेश्वरविमर्शिन्यां द्रव्यविशेषोऽप्युक्तः—

एधांसि च हिरण्यायां गगनायां चरुं घृतम् ।
सिद्धार्थं बहुरूपायां रक्तायान्तु यवांस्तथा ॥
कृष्णायान्तु हुनेल्लाजैः सुप्रभायान्तु शक्तुभिः ।
तिलांश्चैवाऽतिरक्तायां कनकायान्तु सर्वदा ।
सर्वद्रव्याणि जुहुयात् साधकः सर्वकर्मसु ॥ इति ।

कर्माण्यपि तन्त्रान्तरे—फलन्तु कामभेदेन क्रमादासामुदीर्यते ।
वश्याकर्षण्योराद्या गगना स्तम्भने मता ॥

विद्वेषमोहयो रक्ता कृष्णा मारणकर्मणि ।
सुप्रभा शान्तिके पुष्टौ सुरक्तोच्चाटने मता ।
एकैव बहुरूपा तु सर्वकामफलप्रदा ॥ इति ॥ २३-२७ ॥

हिरण्या, गगना, रक्ता, कृष्णा, सुप्रभा, बहुरूपा और अतिरिक्ता ये सात अग्नि की सात्त्विकी जिह्वा हैं । इनका प्रयोग यज्ञ कर्म में किया जाता है ॥ २३॥

पद्मरागा, सुवर्णा, भद्रलोहिता, लोहिता, श्वेता, धूमिनी और करालिका—ये सात अग्नि की राजसी जिह्वायें हैं । इनका प्रयोग काम्य कर्म में किया जाता है । विश्वमूर्त्ति, स्फुलिङ्गिनी, धूम्रवर्णा, मनोजवा लोहिता, कराला और काली—ये अग्नि की तामसी जिह्वायें हैं । मन्त्रवेत्ता लोग इनका प्रयोग क्रूर अभिचारादि कर्मों के लिये करते हैं ॥ २४-२६ ॥

अग्नि की ये जिह्वायें जैसा नाम है, उसी प्रकार का फल देती हैं देवता, पितर, गन्धर्व, यक्ष, नाग, पिशाच और राक्षस—ये सात इन जिह्वाओं के अधिदेवता हैं ॥ २७ ॥

वह्नेरङ्गमनून् न्यस्येत्तनावुक्तेन वर्त्मना ।

षडङ्गमन्त्राः

सहस्रार्चिः स्वस्तिपूर्ण उत्तिष्ठपुरुषः पुनः ॥ २८ ॥
धूमव्यापी सप्तजिह्वो धनुर्द्धर इति क्रमात् ।
षडङ्गमनवः प्रोक्ता जातिभिः सह संयुताः ॥ २९ ॥

वह्नेरिति । तनौ स्वशरीरे । आत्मन इत्यनुषज्यते । एवमग्रेऽपि । उक्तेन पूर्वपटलोक्तेन । सहस्रार्चिरादीनां चतुर्थ्यन्तत्वं सम्प्रदायात् । प्रयोगस्तु—सहस्रार्चिषे हृदयाय नम इत्यादि ॥ २८-२९ ॥

तदनन्तर ऊपर कही गई विधि के अनुसार अग्नि के अङ्गमन्त्रों का स्व शरीर में न्यास करे । प्रयोग विधि यथा 'सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः' इत्यादि ॥२८॥

सहस्रार्चि, स्वस्तिपूर्ण, उत्तिष्ठपुरुष, धूमव्यापी, सप्तजिह्व, धनुर्धर—ये क्रमशः अग्नि के षडङ्गमन्त्र कहे गये हैं । ये मन्त्र नाम के अनुसार अपने-अपने गुणों से युक्त हैं ॥ २९ ॥

अष्टमूर्त्तयः

मूर्त्तीरष्टौ तनौ न्यस्येद् देशिको जातवेदसः ।
मूर्द्धांसपार्श्वकट्यन्धु कटिपार्श्वांसके पुनः ॥ ३० ॥
प्रदक्षिणवशान् न्यस्येदुच्यन्ते ता यथाक्रमात् ।
जातवेदाः सप्तजिह्वो हव्यवाहनसंज्ञकः ॥ ३१ ॥
अश्वोदरजसंज्ञोऽन्यः पुनर्वैश्वानराह्वयः ।

कौमारतेजाः स्याद्विश्वमुखो देवमुखः स्मृताः ॥ ३२ ॥
ताराग्नयेपदाद्याः स्युर्नत्यन्ता वह्निमूर्त्तयः ।

मूर्त्तीरिति । अंसपार्श्वकटिषु वामेषु । अन्धु गुदन् । केचन लिङ्गमित्याहुः । पश्चात् कटिपार्श्वांसकेषु दक्षिणेषु ॥ ३०-३२ ॥

ताराग्नय इति । तारः प्रणवः अग्नये इति पदं एते आदो यासां ता इति विग्रहः । नत्यन्ता इति न्यासे पूजायाञ्च । होमे तु स्वाहान्तत्वमित्युक्तम् । आसां नमसा योगाच्चतुर्थ्यन्तत्वम् । प्रयोगस्तु हुँ अग्नये जातवेदसे नमो मूर्द्धनीत्यादि ॥ ३३ ॥

आचार्य अग्नि की आठ मूर्त्तियों से क्रमश: अपने शरीर के १. मूर्धा, २. बायें कन्धें, ३. वाम पार्श्व, ४. वाम कटि, ५. लिङ्ग, ६. पुन: दाहिनी कटि, ७. दाहिने पार्श्व, तथा ८. दाहिने कन्धे में प्रदक्षिण क्रम से न्यास करे । अब अग्नि की उन आठ मूर्त्तियों के नाम क्रमश: कहते हैं ॥ ३०-३१ ॥

१. जातवेद, २. सप्तजिह्व, ३. हव्यवाहन, ४. अश्वोदरज, ५. वैश्वानर, ६. कौमार तेजा:, ७. विश्वमुख एवं ८. देवमुख—अग्नि के इन पदों के आदि में ॐ अग्नये शब्द तथा अन्त में नम: पद लगाकर न्यास करे । **प्रयोग विधि—** यथा—'ॐ अग्नये जातवेदसे नम: मूर्ध्नि' । इस मन्त्र से मूर्धा में न्यास करे । इसी प्रकार दूसरे नाम से वाम स्कन्ध में प्रयोग करे ॥ ३१-३३ ॥

आसनं कल्पयित्वाऽग्नेर्मूर्त्तिं तस्य विचिन्तयेत् ॥ ३३ ॥

अग्निध्यानम्

इष्टं शक्तिं स्वस्तिकाभीतिमुच्चै-
र्दीर्घैर्दोर्भिर्धारयन्तं जवाभम् ।
हेमाकल्पं पद्मसंस्थं त्रिनेत्रं
ध्यायेद्वह्निं बद्धमौलिं जटाभिः ॥ ३४ ॥
परिषिञ्चेत्ततस्तोयैर्विशुद्धैर्मेखलोपरि ।
दर्भैरगर्भैर्मध्यस्थमेखलायां परिस्तरेत् ॥ ३५ ॥

आसनं कल्पयित्वेति । तनावित्यनुषज्यते। मण्डूकादिपरतत्त्वान्तं चतुर्दशपटलोक्तपीठशक्तिपूर्वकम् रं अग्न्यासनाय नम इति एषां देहे न्यास आसनकल्पना ॥३३॥

ध्यानमाह इष्टमिति । इष्टं वरम् । दक्षाधःकराद्वामाधःकरपर्यन्तमिष्टादीनि ध्येयानि । स्वस्तिकयुक्ता अभीतिरिति मध्यपदलोपी समासः । आकल्पो भूषा ॥३४॥

तत इति । अन्तर्यागक्रमेण स्वहृदये वह्निं सम्पूज्येत्यर्थः । परिस्तरेदिति । प्रागुदगग्रतया । तदुक्तं गणेश्वरविमर्शिन्याम्—

पूर्वाग्रैरुत्तराग्रैश्च दर्भैरग्निं परिस्तरेत् । इति ।

अन्यत्रापि— अथ दर्भैर्हरिधनददिशाग्रैः परिस्तीर्य कुण्डम् । इति ॥ ३५ ॥

तदनन्तर रं अग्न्यासनाय नमः इस मन्त्र से अग्नि को आसन देकर उन अग्नि की मूर्तियों का इस प्रकार ध्यान करे—जिनके नीचे के दाहिने विशाल हाथ में वर, ऊपर के दाहिने हाथ में शक्ति और ऊपर के बायें हाथ में स्वस्तिक तथा नीचे के बायें हाथ में अभय मुद्रा है, बाहु विशाल तथा ऊँचे हैं । शरीर का वर्ण जपा कुसुम के सदृश है, जिनका शरीर स्वर्ण के आभूषण से जगमगा रहा है कमलासन पर जो विराजमान हैं, जिनके तीन नेत्र हैं और शिर पर जटायें है । इस प्रकार अग्नि का ध्यान कर कुण्ड की मेखला को विशुद्ध जल से अभिषिञ्चित करे और श्रेष्ठ आचार्य मध्य में रहने वाली मेखला का दर्भ से परिस्तरण करें ॥ ३३-३५ ॥

निक्षिपेद्दिक्षु परिधीन् प्राचीवर्जं गुरूत्तमः ।
प्रादक्षिण्येन सम्पूज्यास्तेषु ब्रह्मादिमूर्त्तयः ॥ ३६ ॥

गुरूत्तम इत्यनेन एकमेखलादिकुण्डेऽपि परिस्तरणादि कार्यमित्युक्तम् । यदाहुः—

एकमेखले कुण्डे निशितमतिर्मेखलाधस्तात् परिस्तरेद्द्विमेखले ।
द्वितीयमेखलोपरि त्रिमेखले तदन्तरालमेखलोपरि न्यसेत् ॥ इति ।

प्राचीवर्जं दिक्षु परिधीन् निक्षिपेदित्यन्वयः । परिधयस्तु कात्यायनोक्ताः । परिधीन् परिदधात्यार्द्रनिकवृक्षीयान् बाहुमात्रान् पालाशवैकङ्कतकाश्मर्यबैल्वान् । इति । स्थण्डिलेऽपि परिस्तरणपरिधिनिक्षेपोऽवश्यकर्त्तव्यः । मध्यस्थमेखलायामित्युक्तत्वात् । स्थण्डिले मेखलानामभावात् परिस्तरणाद्यपि न कार्यमिति न मन्तव्यम् । यतस्तदग्निस्थापनाङ्गं न कुण्डाङ्गम् । ग्रन्थकृता तु स्वोक्तत्रिमेखलकुण्डे परिस्तरणादि कर्त्तव्यमित्यपेक्षायां मध्यस्थमेखलायामित्युक्तम् । यदाहुः—

बाह्येऽथ स्थण्डिलं च त्रिपरिधिसहितं प्रागुदग्रास्तदर्भम् । इति ।

अन्यत्रापि—स्थण्डिलके सिकतानां बाह्येऽथ त्रिर्न्यसेत् परिधीन् । इति ॥३६॥

उत्तम गुरु पूर्व दिशा को छोड़कर शेष सभी दिशाओं में परिधि का निक्षेप करे । उसके बाद प्रदक्षिण क्रम से पुनः उन परिधियों पर ब्रह्मादि मूर्त्तियों का पूजन करना चाहिए ॥ ३६ ॥

विमर्श—पालाश, वैकंकत, काश्मर्य तथा बिल्व के वृक्षों की एक हाथ लम्बी तथा आर्द्र समिधा को परिधि कहते हैं ॥ ३६ ॥

ध्यातं वह्निं यजेन्मध्ये गन्धाद्यैर्मनुनाऽमुना ।

अग्निमन्त्रः

वैश्वानरजातवेदपदे पश्चादिहावह ॥ ३७ ॥
लोहिताक्षपदस्यान्ते सर्वकर्माणि साधय ।
वह्निजायावधिः प्रोक्तो मन्त्रः पावकवल्लभः ॥ ३८ ॥

मध्ये इति मण्डूकादिपीठमन्त्रान्तमन्त्रैः पूजिते कुण्डमध्ये इत्यर्थः । तदुक्तं सौत्रामणितन्त्रे— कुण्डमध्ये विधानवित् ।

पद्मासनान्तमाधारशक्त्यादिमनुभिः क्रमात् ॥
उपर्युपरि सम्पूज्य वह्नेरासनशक्तयः ।
पूर्वादिदलमूलेषु मध्ये पूज्याः क्रमेण तु ॥ इति ।

अग्निमन्त्रमाह वैश्वानर इति । वह्निजाया स्वाहा ॥ ३७-३८ ॥

तदनन्तर पूर्वोक्त रीति से (द्र. ३४-३५) श्लोक में ध्यान की गई अग्नि का नीचे लिखे मन्त्रों से गन्धादि द्वारा पूजन करे ॥ ३७ ॥

'वैश्वानर जातवेद इहावह । लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय स्वाहा' यह अग्नि पूजन का मन्त्र है अग्नि देव को यह मन्त्र अत्यन्त प्रिय है ॥ ३८ ॥

मध्ये षट्स्वपि कोणेषु जिह्वा ज्वालारुचो यजेत् ।
केशरेषूक्तमार्गेण पूजयेदङ्गदेवताः ॥ ३९ ॥

अग्न्यावरणपूजामाह मध्य इति । अनेन षट्कोणकर्णिकमष्टदलमग्निपीठमुक्तम् । ज्वालारुच इति जिह्वाध्यानम् । तदुक्तं प्रयोगसारे—

जिह्वाः सर्वाः परिज्ञेया ज्वालाभासाः स्वरूपतः । इति ।

अपिर्भिन्नक्रमः । तत्र षट्षु कोणेषु मध्येऽपि जिह्वा यजेदिति सम्बन्धः । तत्र षट्सु कोणेषु ईशादि वायुकोणान्तं यथान्यासं षड्जिह्वाः सम्पूज्य यथान्यस्तां बहुरूपां मध्ये पूजयेदिति सम्प्रदायविदः । तदुक्तं सोमशम्भौ—

रुद्रेन्द्रवह्निमांसाद वरुणानिलगोचरे ।
हिरण्याद्याः स्थिता वह्ने रसनाः षट् ह्यनुक्रमात् ॥
मध्यतो बहुरूपा तु । इति ।

गणेश्वरविमर्शिन्यामपि—

मध्ये च कोणषट्के च जिह्वाः सम्पूजयेत्ततः ।
हिरण्या तप्तहेमाभा शूलपाणिदिशि स्थिता ॥
वैदूर्यवर्णा गगना प्राच्यां दिशि समाश्रिता ।
तरुणादित्यसङ्काशा रक्ता जिह्वाऽग्निदिक् स्थिता ॥
कृष्णा नीलाब्जसङ्काशा नैर्ऋत्यां दिशि संस्थिता ।
सुप्रभा पद्मरागाभा वारुण्यां दिशि संस्थिता ॥
अतिरक्ता जवाभासा वायव्यां दिशि संस्थिता ।
बहुरूपा यथार्थाभा दक्षिणोत्तरसंस्थिता ॥
एता ज्वाला रुचा पीता वराभययुता अपि । इति ।

अन्यत्रापि— कोणषट्के च मध्ये च जिह्वा अङ्गानि केशरे । इति ।

वायवीयसंहितायामपि— हिरण्या प्रागुदग्जिह्वा कनका पूर्वतः स्थिता ।
रक्ताग्नेयी नैर्ऋती च कृष्णाऽन्या सुप्रभा मता ॥

अतिरक्ता मरुज्जिह्वा स्वनामानुगुणप्रभा ।
त्रिशिखा मध्यमा जिह्वा बहुरूपा समाह्वया ॥
तच्छिखैका दक्षिणतो ज्वलन्ती वामतः परा ।
स्वबीजानन्तरं वाच्या । इति ।

यथाश्रुतपाठक्रमादरिणः केचन प्रथमां मध्ये ततः शिवकोणादि प्रादक्षिण्येन वायुकोणान्तं यथान्यस्तास्ताः षट् जिह्वाः पूजयेदित्याहुः । तेषामयमभिप्रायः । तत्तत्कर्मणि तां तां मध्यस्थामिष्ट्वा ईशादिषु अन्या यजेदिति । तदुक्तम्—

कुण्डस्य मध्ये त्वथ या प्रशस्ता जिह्वा हिरण्या भुवि कर्मणादौ ।
स्तम्भनादिषु मता कनकाख्या द्वेषणादिषु मता खलु रक्ता ॥
मारणे निगदिता भुवि कृष्णा सुप्रभा बुधवरैरथ शान्त्याम् ।
उच्चाटनेऽतिरक्ता । इति ।

सम्प्रदायविदुक्तं तु दीक्षायामेव बहुरूपायाः सर्वकामफलप्रदत्वात् ।

उक्तञ्च—सा तनुते मध्ये शुभानि सदा । इति ।

तन्त्रान्तरे तु—अन्ये त्वागमपारगामलधियः प्राहुर्बुधाः सुप्रभां
वृत्रारेः ककुभि स्थितां पितृपतेः कृष्णां हिरण्यां पुनः ।
वारुण्यां बहुरूपिकां पुरभिदो रक्तामुदीच्यां स्थिता-
माग्नेयामतिरक्तिकाञ्च कनकां कुण्डस्य मध्ये स्थिताम् ॥ इति ।

एतदनन्तरमधिदेवतापूजाऽप्येषु स्थानेषु ज्ञेया । उक्तमार्गेणेति पूर्वपटलोक्तेन । तत्र पूजाप्रकारः । सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः स्वस्तिपूर्णाय शिरसे स्वाहा नमः इत्यादि ॥ ३९ ॥

तदनन्तर षट्कोण के मध्य में अग्नि की छः जिह्वाओं का क्रमशः ईशानादि क्रम से पूजन करे । केशरों में पूर्वोक्त रीति से अङ्गदेवता का पूजन करे ॥ ३९ ॥

मूर्त्तिपूजा

दलेषु पूजयेन्मूर्त्तीः शक्तिस्वस्तिकधारिणीः ।
लोकपालांस्ततो दिक्षु पूजयेदुक्तलक्षणान् ॥ ४० ॥

मूर्त्तीः पूजयेदिति यथान्यस्ताः । 'एतदनन्तरं मातृभैरवावृतिमपीच्छन्ति पद्मपादाचार्याः । क्वचित् 'दलाग्रे मातरः पूज्याः सासिताङ्गादिभैरवाः' इत्यधिकः पाठोऽपि । दिक्ष्विति मेखलाश्रितदर्भेष्विति प्रसिद्धपूर्वादिदिक्ष्वित्यपि ज्ञेयम् ।

यदाहुः— मध्ये च कोणषट्के च जिह्वाभिः केशरेष्वपि ।
अङ्गमन्त्रैस्ततो बाह्ये अष्टाभिर्मूर्त्तिभिः क्रमात् ॥
मेखलाश्रितदर्भेषु दिक्पतीन् पूर्वतः क्रमात् । इति ।

उक्तलक्षणान् प्राक्पटलोक्तस्वरूपान् ॥ ४० ॥

अष्टदलों में शक्ति तथा स्वस्तिक धारण करने वाली अग्नि की अष्टमूर्त्तियों का यजन करे। पत्र के अग्रभाग में असितादि भैरवों से युक्त अष्ट मातृकाओं की तदनन्तर पूर्व में कहे गये लोकपालों का पूजन करे ॥ ४० ॥

स्रुक्स्रुवसंस्कारः

पश्चादादाय पाणिभ्यां स्रुक्स्रुवौ तावधोमुखौ।
त्रिः सम्प्रतापयेद्वहनौ दर्भानादाय देशिकः ॥ ४१ ॥
तदग्रमध्यमूलानि शोधयेत्तैर्यथाक्रमात्।
गृहीत्वा वामहस्तेन प्रोक्षयेद् दक्षिणेन तौ ॥ ४२ ॥

पश्चादित्यनेन सूचितः तन्त्रान्तरोक्तोऽवश्यकर्त्तव्यो विशेषो लिख्यते। स्ववामभागे प्रागग्रान् कुशानास्तीर्य तेषामुपरि प्रणीताप्रोक्षणीपात्रे आज्यस्थालीचरुस्थाल्यौ स्रुक्स्रुवौ विस्त्रंसितौ कुशमूलकौ पञ्चपलाशसमिधः एवमुक्तान्यन्यान्यपि पात्राणि द्वन्द्वशोऽधोमुखानि निधाय मूलेन पवित्रेण प्रोक्षितानि पात्राणि उत्तानीकृत्य प्रणीतापात्रं जलेनापूर्य तत्र तीर्थान्यावाह्य पवित्रमक्षतादि च निक्षिप्योत्पूय उत्तरस्यां दिशि संस्थाप्य तज्जलं किञ्चित् प्रोक्षणीपात्रे निधाय तेन जलेन नमोमन्त्रेण मूलमन्त्रेण वा सर्वं हवनीयद्रव्यजातं प्रोक्ष्य 'अत्र कर्मणि कृताकृतावेक्षकत्वेन त्वं ब्रह्मा भवेति' ब्रह्माणमावाह्याऽभ्यर्च्यासने उपवेशयेदिति।

तदुक्तं संहितायाम्—

पात्राण्यासाद्य विधिवद् द्वन्द्वशश्चापि मन्त्रवित्।
तान्यवोक्ष्य पवित्रेण चोत्तानानि विधाय च ॥
पुनः प्रक्षालयेत् पात्रं परिपूर्य शुभाम्बुना।
दत्त्वाऽक्षतान् पवित्रञ्च तदूत्पूय निधाय तत् ॥
दिश्युत्तरस्यां तत्पात्रं प्रणीतेत्युच्यते बुधैः।
ततः किञ्चित् प्रणीताम्बु प्रोक्षण्यादाय तज्जलैः ॥
यज्ञसाधनसम्भारं प्रोक्षयेन्मूलमन्त्रतः।
ततो ब्रह्माणमावाह्याऽप्यर्चयेन्मूलमन्त्रतः ॥ इति।

तत्राधोमुखेन हस्तेन सेचनमवोक्षणम्।

'अवाङ्मुखेन हस्तेनावोक्षयेत्' इति सूत्रणात्।

अन्यत्रापि— वामे चास्तीर्य दर्भान् बलरिपुहरिदग्रान् तदूर्द्ध्वं निधाय
पात्राणि द्वन्द्वशोऽधोवदनमथ तथोत्तानवक्त्राणि कृत्वा।
हृमन्त्रेणाऽभिपूर्यान्यतममथ जलैर्मन्त्रपूतैरथैभिः
अभ्युक्ष्योपेतकूर्चैः सकलमपि हृदा सव्यगं हव्यजातम् ॥

अन्यत्रापि—स्ववामभागे प्रागग्रान् दर्भानास्तीर्य चोपरि।
यथावित्तानुसारेण सौवर्णादीनि कर्मणि।
अधोमुखानि पात्राणि द्वन्द्वरूपेण विन्यसेत्।
उत्तानीकृत्य पात्राणि जलाद्यैः सम्प्रपूरयेत् ॥ इति।

अन्यत्रापि—ततो वामभागे परिस्तीर्य दर्भान् पुलोमात्मजावल्लभाशागताग्रान् ।
तदूर्ध्वं न्यसेद् द्वन्द्वरूपेण पात्राण्यथाऽधोगतास्यानि सर्वाणि धीमान् ॥
अथोत्तानितेष्वेषु पात्रेषु विद्वान् जलैरेकमापूर्य तीर्थानि तत्र ।
सुसञ्चिन्त्य तैः प्रोक्षयेत् कूर्चदर्भः हृदा सव्यभागे स्थितं द्रव्यजातम् ॥ इति।

स्रुक्स्रुवसंस्कारमाह आदायेति । आदानम् ऊर्ध्वमुखयोरेवेति ज्ञेयम् । तावधोमुखौ तापयेदित्युक्तेः । पाणिभ्यां दक्षिणवामाभ्यां । शोधयेदिति प्रत्येकम् । यथाक्रमादित्यस्यायमर्थः । दर्भमूलैस्तन्मूलं दर्भमध्यैस्तन्मध्यं दर्भाग्रैस्तदग्रमिति । दक्षिणेन दक्षिणहस्तेन । प्रोक्षयेदिति प्रोक्षण्युदकेन ॥ ४१-४२ ॥

पुनः अपने दोनों हाथों में स्त्रुक तथा स्त्रुवा ले कर उन्हें अधोमुख कर अग्नि से प्रतप्त करे । फिर कुशा ले कर उसके अग्रभाग से उन दोनों का अग्रभाग, मध्यभाग से मध्यभाग, मूल भाग से मूल भाग यथाक्रम संशुद्ध करे । तदनन्तर उन्हें अपने बायें हाथ में रख कर दाहिने हाथ से प्रोक्षणी के जल से आसिञ्चन करें ॥ ४१-४२ ॥

पुनः प्रताप्य तौ मन्त्री दर्भानग्नौ विनिक्षिपेत् ।
आत्मनो दक्षिणे भागे स्थापयेत्तौ कुशास्तरे ॥ ४३ ॥

पुनरित्यनेन पाणिद्वयस्थावधोमुखौ त्रिश इत्युक्तम् । एवं दर्भानग्नौ विनिक्षिपेदिति प्रतिपत्तिकर्म । मन्त्रीत्यनेन मूलमध्याग्रेषु क्रमेण इच्छाज्ञानक्रियाशक्तीनां न्यासः । नमोमन्त्रेण स्रुचि शक्तिं स्रुवे शम्भुं विन्यसेदिति ज्ञेयम् । शैवे तु आत्मादितत्त्वत्रयम् ।

यदाहुः— गृहीत्वा स्रुक्स्रुवावूर्ध्ववदनाधोमुखौ क्रमात् ।
प्रताप्याग्नौ त्रिधा दर्भमूलमध्याग्रकैः स्पृशेत् ॥
पुनस्त्रिंशः प्रताप्याऽधोमुखावग्नौ कुशान् क्षिपेत् ।
मूलमध्याग्रके न्यस्येच्छक्तीरिच्छादिकाः क्रमात् ॥
स्रुचि शक्तिं स्रुवे शम्भुं विन्यसेद्धृदयाणुना । इति ।

शैवागमे तु— गृहीत्वा स्रुक्स्रुवावूर्ध्ववदनाधोमुखौ क्रमात् ।
प्रताप्याऽग्नौ त्रिधा दर्भमूलमध्याग्रकैः स्पृशेत् ॥
कुशभागप्रदेशेषु आत्मविद्याशिवात्मकम् ।
क्रमात्तत्त्वत्रयं न्यस्य हां हीं हूं शंवरैः क्रमात् ॥
स्रुचि शक्तिं स्रुवे शम्भुं विन्यस्य हृदयाणुना ।
त्रिसूत्रवेष्टितग्रीवौ पूजितौ कुसुमादिभिः ॥
कुशानामुपरिष्टात्तौ स्थापयित्वा स्वदक्षिणे । इति ।

एवं स्रुक्स्रुवयोरष्टौ संस्कारा उक्ताः । ताविति स्रुक्स्रुवौ सर्वत्र पुंस्त्वेन पाठक्रम एवानुसन्धेयः ॥ ४३ ॥

पुनः मन्त्रवेत्ता विद्वान् आचार्य उन दोनों को अग्नि पर प्रतप्त कर मार्जन करने वाले कुशों को अग्नि में प्रक्षिप्त कर देवे और कुशा का आसन दे कर अपने दक्षिणभाग में उन्हें स्थापित करे ॥ ४३ ॥

आज्यसंस्कारः

आज्यस्थालीमथादाय प्रोक्षयेदस्त्रवारिणा ।
तस्यामाज्यं विनिक्षिप्यं संस्कृतं वीक्षणादिभिः ॥ ४४ ॥

आज्यसंस्कारमाह आज्येति । अस्त्रवारिणेति अस्त्रमन्त्रजप्तेन प्रोक्षणीजलेन । वीक्षणादिभिः संस्कृतमाज्यं तस्याम् आज्यस्थाल्यां विनिक्षिप्येत्यन्वयः । अत्राज्यं गव्यादि ज्ञेयम् । तदुक्तं पिङ्गलामते—

उत्तमं गोघृतं ज्ञेयं मध्यमं महिषीघृतम् ।
अधमं छागलीजातं तस्माद् गव्यं प्रशस्यते ॥ इति ।

अत एव ग्रन्थकृत्तत्र तत्र वक्ष्यति गव्येन सर्पिषा इति महिषीघृतसंप्लुता इति मेषीघृताक्ता इति च ॥ ४४ ॥

तदनन्तर आज्यस्थाली को अस्त्र मन्त्र का जप करते हुये जल से प्रक्षालित करे और उसमें घी रख कर वीक्षणादि से सुसंस्कृत करे ॥ ४४ ॥

निरुह्य वायव्येऽङ्गारान् हृदा तेषु निवेशयेत् ।
इदं तापनमुद्दिष्टं देशिकैस्तन्त्रवेदिभिः ॥ ४५ ॥

निरुह्येति । कुण्डाग्नितः पृथक्कृत्वा हृदा निवेशयेत् इत्याज्यस्थालीमिति शेषः । तन्त्रवेदिभिर्देशिकैरिदं तापनमुद्दिष्टं पश्चाद् दिष्टमुक्तमित्यर्थः । तेन पूर्वं मूलमन्त्रेणाऽभिमन्त्रणं स्वीयब्रह्ममूर्त्तिभावनमिति संस्कारद्वयं सूचितम् ।

यदाहुः— गव्यमाज्यं समादाय मूलेनैवाऽभिमन्त्रितम् ।
स्वकां ब्रह्ममयीं मूर्त्तिं सञ्चिन्त्याग्नौ प्रतापयेत् ॥ इति ।

शैवागमेऽपि— गव्यमाज्यं समादाय मूलमन्त्राभिमन्त्रितम् ।
स्वकां ब्रह्ममयीं मूर्त्ति सञ्चिन्त्य च । इति ।

वायवीयसंहितायामपि—न्यस्य मन्त्रं घृते मुद्रां दर्शयेद् धेनुसंज्ञिताम् । इति ।

एवं संस्कारद्वयं वक्ष्यमाणाश्च षट्संस्काराः । एवं घृतेऽप्यष्टसंस्काराः ।

यदुक्तं पिङ्गलामते—कुण्डे चाष्टादश ज्ञेयाः संस्काराः शिवशास्त्रतः ।
घृते स्रुचि स्रुवे चाष्टौ । इति ॥ ४५ ॥

पुनः कुण्ड से अग्नि निकाल कर वायव्यकोण में उसे रखकर 'नमः' मन्त्र पढ़ते हुये उस घृत युक्त आज्यस्थाली को उस पर रख देवे । इसे तन्त्रवेत्ता आचार्यों ने सम्पन्नाज्य का तापन संस्कार कहा है ॥ ४५ ॥

सन्दीप्य दर्भयुगलमाज्ये क्षिप्त्वाऽनले क्षिपेत् ।
गुरुर्हृदयमन्त्रेण पवित्रीकरणन्त्विदम् ॥ ४६ ॥
दीप्तेन दर्भयुग्मेन नीराज्याज्यं स वर्मणा ।
अग्नौ विसर्जयेद् दर्भमभिद्योतनमीरितम् ॥ ४७ ॥

घृते प्रज्वलितान् दर्भान् प्रदर्श्याऽस्त्राणुना गुरुः ।
जातवेदसि तान् न्यस्येदुद्योतनमिदं मतम् ॥ ४८ ॥

सन्दीप्येति । दर्भयुगलं सन्दीप्य हृदयमन्त्रेणाज्ये क्षिप्त्वा अनले क्षिपेदित्यन्वयः। नीराज्य इत्यभितः परिभ्राम्य । स इति गुरुः । वर्मणेति कवचमन्त्रेण । वर्मणा आज्यं स नीराज्य इति सम्बन्धः। दर्भमिति दर्भयुग्मम् । अत्र संस्कारत्रये वक्ष्यमाण संस्कार-द्वयेऽपि दर्भाणामग्नौ प्रक्षेपः प्रतिपत्तिकर्म । अतएव मन्त्राभावोपि तत्र ततश्च केनापि कारणेन तद्दर्भनाशे जाते सति अग्निप्रक्षेपरूपं कर्म दर्भाणां न प्रयोजकम् । एतच्चतुर्थाध्याये प्रतिपादितम् । अग्नौ तानिति । एवं स्रुक्स्रुवसंस्कारेऽपि ॥ ४६-४८ ॥

आचार्य दो कुशा अग्नि में प्रतप्त कर उसे घी में डुबोकर 'नमः' मन्त्र पढ़ते हुये अग्नि में प्रक्षिप्त कर देवें इसे आज्य का पवित्रीकरण कहते हैं ॥ ४६ ॥

जलते हुये कुशा से कवच मन्त्र द्वारा आज्य की आरती कर उसे अग्नि में विसर्जित कर देने का नाम अभिद्योतन संस्कार है ॥ ४७ ॥

आचार्य जलते हुये कुशा को अणु मन्त्र से घृत में दिखा कर पुनः उसे अग्नि में डाल देवे तो उसे उद्योतन कहते हैं ॥ ४८ ॥

होमविधिः

गृहीत्वा घृतमङ्गारान् प्रत्यूह्याऽग्नौ जलं स्पृशेत् ।
अङ्गुष्ठोपकनिष्ठाभ्यां दर्भौ प्रादेशसम्मितौ ॥ ४९ ॥
घृत्वोत्पुनीयादस्त्रेण घृतमुत्पवनन्त्विदम् ।
तद्वद्धृदयमन्त्रेण कुशाभ्यामात्मसम्मुखम् ॥ ५० ॥
घृते संप्लवनं कुर्यात् संस्काराः षडुदीरिताः ।
प्रादेशमात्रं सग्रन्थि दर्भयुग्मं घृतान्तरे ॥ ५१ ॥
निक्षिप्य भागौ द्वौ कृत्वा पक्षौ शुक्लेतरौ स्मरेत् ।
वामे नाडीमिडां भागे दक्षिणे पिङ्गलां पुनः ।
सुषुम्णां मध्यतो ध्यात्वा कुर्याद्धोमं यथाविधि ॥ ५२ ॥

घृतं गृहीत्वेत्याज्यस्थालीम् उद्वास्येत्यर्थः । प्रत्यूह्य संयोज्येत्यर्थः । स एतदनन्तरं जलस्पर्शं कुर्यात् । अङ्गुष्ठेति । उपकनिष्ठाऽनामा । अङ्गुष्ठोपकनिष्ठाभ्यां हस्तद्वयस्येति शेषः । उत्पुनीयादित्यग्निसमुखमिति ज्ञेयम् । उक्तञ्च शैवागमे— प्रादेशमात्रदर्भाभ्यामङ्गुष्ठानामिकाग्रकैः ।
घृताभ्यां समुखं वह्नेरस्त्रेणोत्पवनञ्चरेत् ॥ इति ।

तद्वदिति । हस्तद्वयस्य अङ्गुष्ठानामिकाग्राभ्यां घृत्वेत्यर्थः । अत्रापि संस्कारद्वये कुशयोर्वह्निप्रक्षेपलक्षणं प्रतिपत्तिकर्म ज्ञेयम् ।

होमविधिमाह प्रादेशेति । घृतान्तरे घृतमध्ये । शुक्लेतरौ वामे शुक्लपक्षः, दक्षे कृष्णपक्षः । ध्यात्वेति तिस्रोऽपि घृत एव ॥ ४९-५२ ॥

आज्यस्थाली को नीचे उतार कर उस अग्नि को कुण्ड की अग्नि से संयुक्त कर जल का स्पर्श करे । पुनः प्रादेश मात्र कुशा अङ्गुष्ठ तथा अनामिका अङ्गुली में धारण कर अस्त्र मन्त्र पढ़ते हुये घृत को पवित्र करे । इसे घृत का उत्प्लवन संस्कार कहते हैं । पुनः 'नमः' मन्त्र पढ़ते हुये दो कुशाओं से घृत को अपने संमुख ऊपर उछाले इस क्रिया का नाम उत्प्लवन है । यहाँ तक हमने आज्य के छः संस्कारों का वर्णन किया । प्रादेश प्रमाण के ग्रन्थियुक्त दो दर्भ, घृत के मध्य में डुबोकर उसे दो भाग कर बायीं तथा दाहिनी ओर फेंक देवे, तदनन्तर बाई ओर शुक्ल पक्ष का तथा दाहिनी ओर कृष्णपक्ष का ध्यान करे । पुनः बाईं ओर इडा नाडीं का तथा दाहिनी ओर पिङ्गला का और मध्य में सुषुम्णा नाड़ी का ध्यान कर स्रुवा से अपनी दाहिनी ओर से, घृत लेकर नमः मन्त्र पढ़ते हुये होम प्रारम्भ करे ॥ ४९-५३ ॥

स्रुवेण दक्षिणाद्भागादादायाऽऽज्यं हृदा गुरुः ॥ ५३ ॥
जुहुयादग्नये स्वाहेत्यग्नेर्दक्षिणलोचने ।
वामतस्तद्वदादाय वामे वह्निविलोचने ॥ ५४ ॥
जुहुयादथ सोमाय स्वाहेति हृदयाणुना ।
मध्यादाज्यं समादाय वह्नेर्भालविलोचने ॥ ५५ ॥
जुहुयादग्नीषोमाभ्यां स्वाहेति हृदयाणुना ।
हृन्मन्त्रेण स्रुवेणाज्यं भागादादाय दक्षिणात् ॥ ५६ ॥
जुहुयादग्नये स्विष्टिकृते स्वाहेति तन्मुखे ।
इति सम्पातयेद् भागे स्वाज्यस्याऽन्वाहुतिक्रमात्[1] ॥ ५७ ॥

यथाविधीत्युक्तं विधिमाह स्रुवेणेति । तद्वदिति स्रुवेण हृदयाणुना वामत आदायेति सम्बन्धः । हृदयाणुना मध्यादाज्यं समादायेति सम्बन्धः । हेति सम्पातयेद् भाग इति केचन पठन्ति । तत्र हेतिराहुतिशेषः । ये तु इति सम्पादयेदिति पठन्ति तन्मते 'इति समाप्तौ' । स्वाहान्तहोमं विधाय अग्निनेत्रवक्त्राणां कुर्यादुद्घाटनं गुरुः। ये तु हेति सम्पातयेदिति पठन्ति तन्मते स्वान्तं होमं विधाय हा इत्यस्यान्ते यस्माद् भागाद् या आज्याहुतिर्गृहीता तस्मिन्नेव भागे तस्य सम्पातं कुर्यादिति सम्बन्धः । साम्प्रदायिकास्त्विममेव पाठमिच्छन्ति । अन्वाहुति आहुतिमनु प्रत्याहुति इत्यर्थः ।

तदुक्तं शैवागमे— स्रुवेणादाय होमयेत् ।
स्वेत्यग्नौ हेति तद्भागशेषमाज्यं क्षिपेत् क्रमात् ॥ इति ॥ ५३-५७ ॥

सर्वप्रथम 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि के दाहिने नेत्र में हवन करें । इसी प्रकार 'अग्नये स्वाहा' मन्त्र पढ़कर बाई ओर से घृत ले कर अग्नि के वाम नेत्र में हवन करे ॥ ५४ ॥

---

१. हेतिं संपातयेद् भागेष्वाज्यस्याद्याहुतिं क्रमात् । इति वा पाठः पुरश्चर्यार्णवे ।

पुनः 'नमः' इस मन्त्र को पढ़कर मध्यभाग से स्रुवा से घृत लेकर 'सोमाय स्वाहा' मन्त्र पढ़ते हुये अग्नि के भालस्थ नेत्र में आहुति प्रदान करे । पुनः दक्षिणभाग से 'नमः' इस मन्त्र से स्रुवा से घृत लेकर 'अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' हृदयाय नमः मन्त्र से होम करे ॥ ५५-५६ ॥

'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि के मुख में आहुति प्रदान करे। इस प्रकार से गुरु प्रत्येक आहुतियों को अग्नि के नेत्र, हृदय तथा मुख में गिरावे ॥ ५७ ॥

इत्यग्निनेत्रवक्त्राणां कुर्यादुद्घाटनं[1] गुरुः ।
सताराभिर्व्याहृतिभिराज्येन जुहुयात् पुनः ॥ ५८ ॥

अग्नेर्गर्भाधानादिसंस्कारः

जुहुयादग्निमन्त्रेण त्रिवारं देशिकोत्तमः ।
गर्भाधानादिका वह्नेः क्रिया निर्वर्त्तयेत् क्रमात्॥ ५९ ॥

इत्यग्नीति । तेनाहुतिचतुष्टयेन नेत्रत्रयवक्त्राणामुद्घाटनम् । क्रमेणेत्यर्थः । सताराभिर्व्याहृतिभिरिति व्यस्तसमस्ताभिः । अतएव नारायणीये 'पञ्चभिर्मनुभिर्हुनेत्' इति । पुनरनन्तरमिति उत्तरेण सम्बध्यते । अग्निमन्त्रेणेति वैश्वानरेति पूर्वोक्तेन । प्रणवेनेति पञ्चापि प्रणवा गृहीताः । देशिकोत्तम इत्यनेन तत्तन्मन्त्रेषु यथास्वं विनियोगो विज्ञेय इत्युक्तम् ॥ ५८-५९ ॥

गुरु उपर्युक्त प्रकार से अग्नि के नेत्र तथा मुख का उद्घाटन करे । फिर प्रणवयुक्त व्याहृतियों के द्वारा घृत का होम कर पश्चात् 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से तीन आहुति प्रदान करे । इतना कर लेने के पश्चात् क्रमशः अग्नि की गर्भधानादि क्रिया संपादन करे ॥ ५८-५९ ॥

अष्टाभिराज्याहुतिभिः प्रणवेन पृथक् पृथक् ।
गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं पुनः ॥ ६० ॥
अनन्तरं जातकर्म स्यान्नामकरणं तथा ।
उपनिष्क्रमणं पश्चादन्नप्राशनमीरितम्॥ ६१ ॥
चौलोपनयने भूयो महानाम्न्यं महाव्रतम् ।
अथोपनिषदं पश्चाद् गोदानोद्वाहकौ मृतिः॥ ६२ ॥
शुभेषु स्युर्विवाहान्ताः क्रियास्ताः क्रूरकर्मसु ।
मरणान्ताः समुद्दिष्टा वह्नेरागमवेदिभिः ॥ ६३ ॥

गर्भाधानादिका इत्यादिशब्दसंगृहीतमेवाह गर्भाधानमिति । पुनरनन्तरं जातकर्म अनन्तरं तथा नामकरणं स्यादिति सम्बन्धः । अनन्तरमित्यस्यायमर्थः । वक्ष्यमाणं

---

१. 'उद्योतनम्' इत वा पाठः पुरश्चर्यार्णवे पृ० २८३ ।

पञ्चसमिद्धोमलक्षणं नालापनयनं कर्म कृत्वा सूतकं विशोध्य तथा तत्तद्देवतानाम्नाऽग्नेर्नामकरणं कुर्यात् । यथा कृष्णाग्निर्नारायणाग्निर्दुर्गाग्निरिति । ततोऽग्नेः पितरावात्मनि संयोज्योपनिष्क्रमणादि संस्कारान् कुर्यात् । आदिशब्दकथनार्थमेकप्रक्रमेणोक्तिः । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—

जातं ध्यात्वैवमाकारं जातकर्म समाचरेत् ।
नालापनयनं कृत्वा ततः संशोध्य सूतकम् ॥
शिवाग्निरिति नामाऽस्य कृत्वाहुतिपुरःसरम् ।
पित्रोर्विसर्जनं कृत्वा चौलोपनयनादिकम् ॥
अथोद्वाहावसानञ्च कृत्वा संस्कारमस्य तु । इति ।

सौत्रामणितन्त्रेऽपि— गर्भाधानादिकाः क्रियाः ।
जातकर्मान्तिका वह्नेर्वाग्भवेन पृथक् पृथक् ॥
आज्याहुत्यष्टकैः कृत्वा वाराह्यग्निर्भवेति च ।
नाम कृत्वा ततो वह्नेरन्नप्राशनपूर्वकम् ॥
विवाहान्तं वाग्भवेन पूर्वोक्ताष्टाहुतिक्रमात् । इति ।

अत्र गोदानानन्तरं समावर्त्तनमनुक्तमपि कर्त्तव्यमित्याचार्याः । तदुक्तं गणेश्वरविमर्शिन्याम्—समावर्त्तनमुद्वाहमाधानञ्च ततः परम् । इति ।

अन्यत्रापि— तेनैव समावर्त्तनविवाहयोराहुतीर्जुहुयात् । इति ।

अन्यत्रापि— कुर्वीत समावर्त्तनमुद्वाहं तेनैव विधिना । इति ।

केचित्तु तथोपनिषदं स्नानम् इति पठित्वा स्नानं समावर्त्तनमिति व्याख्यायन्ति । तन्मते समावर्त्तनानन्तरं गोदानम् । प्रयोगस्तु ॐ अस्याग्नेर्गर्भाधानसंस्कारं करोमि स्वाहा इत्यादि ॥ ६०-६३ ॥

प्रणव मन्त्र के द्वारा प्रत्येक संस्कारों में घृत से पृथक् पृथक् आठ आठ आहुति प्रदान करे । गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, उपनिष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, उपनयन, समावर्त्तन, स्नान के पश्चाद् गोदान, उद्वाह और मृति ये संस्कारों के नाम हैं ॥ ६०-६२ ॥

शुभ कार्यों में अग्नि का विवाहान्त संस्कार करे । किन्तु क्रूर अभिचारादि कार्यों में मरणान्त संस्कार की विधि कही गई है । ऐसा आगम शास्त्र के विद्वानों का मत है ॥ ६३ ॥

तस्य पितृपूजा

ततश्च पितरौ तस्य सम्पूज्यात्मनि योजयेत् ।
समिधः पञ्च जुहुयान्मूलाग्रघृतसंप्लुताः ॥ ६४ ॥

तत इति । नामकरणानन्तरं तस्य वह्नेः पितरौ पूर्वोक्तौ । समिधः पञ्च जुहुयादिति । नालापनोदाय जातकर्मानन्तरमित्यर्थः । तदुक्तं शैवागमे—

वक्त्राणामस्त्रमन्त्रेण ततो नालापनुत्तये ।
समिधः पञ्च होतव्याः प्रान्ते मूले घृतप्लुताः ॥ इति ।

वायवीयसंहितायान्तु—ताः पालाश्यः परा वापि यज्ञीया द्वादशाङ्गुलाः ।
अवक्रा न स्वयं शुष्काः सत्वचो निर्व्रणाः समाः ॥
दशाङ्गुला वा विहिताः कनिष्ठाङ्गुलिसन्निभाः ।
प्रादेशमात्रा वाऽलाभे होतव्याः सकला अपि ॥ इति ॥ ६४ ॥

इतना संस्कार कर लेने के पश्चात् आचार्य अग्नि के माता पिता की पूजा कर उस अग्नि को आत्मा में स्थापित करें और पाँच समिधायें जो मूल से लेकर अग्रभाग तक घी में डुबोई गई हों उनका हवन करें ॥ ६४ ॥

मन्त्रैर्जिह्वाङ्गमूर्त्तीनां क्रमाद्वह्नेर्यथाविधि ।
प्रत्येकं जुहुयादेकामाहुतिं म(त)न्त्रवित्तमः ॥ ६५ ॥

मन्त्रैरिति न्यासप्रस्तावोक्तैः क्रमादिति न्यासक्रमात् । यथाविधीत्यनेन होमे स्वाहान्ततेत्युक्तं स्मारयति । प्रयोगस्तु—स्त्यूं हिरण्यायै स्वाहेत्यादि । एतदनन्तरं ॐ सुरेभ्यः स्वाहेत्याद्यधिदेवताहोमेऽपि । सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः स्वाहेत्यादि । ॐ अग्नये जातवेदसे स्वाहेत्यादि । म(त)न्त्रवित्तम इत्यनेन लोकपालतदस्त्रावृतिग्रहणं ज्ञेयम् । तदुक्तं गणेश्वरविमर्शिन्याम्—

जुहुयादङ्गमन्त्राद्यैस्ताराद्यैश्च सकृत् सकृत् ।
तत्तत्स्थानेषु शितधीः स्वाहान्तैश्च यथाक्रमम् ॥ इति ।

प्रयोगसारेऽपि—सर्वे मन्त्राः प्रयोक्तव्याः स्वाहान्ता होमकर्म्मसु । इति ॥ ६५ ॥

इसी प्रकार यथाविधि अग्नि की जिह्वा, उनके अङ्ग और मूर्त्तियों के प्रत्येक मन्त्र से मन्त्रज्ञ आचार्य एक आहुति प्रदान करें ॥ ६५ ॥

अवदाय स्रुवेणाज्यं चतुः स्रुचि पिधाय ताम् ।
स्रुवेण तिष्ठन्नेवाऽग्नौ देशिको यतमानसः ॥ ६६ ॥
जुहुयाद्वह्निमन्त्रेण वौषडन्तेन सम्पदे ।
विघ्नेश्वरस्य मन्त्रेण जुहुयादाहुतीर्दश ॥ ६७ ॥

अवदायेति । यतमानसो देशिकः स्रुवेणाज्यं चतुर्वारं स्रुचि निधाय तां स्रुचं स्रुवेण पिधाय तिष्ठन्नेव वौषडन्तेन वह्निमन्त्रेणाऽग्नौ जुहुयादित्यन्वयः । यतमानसो देशिक इत्यनेन समपादत्वं शृङ्गाग्रव्यग्रलोचनादिकत्वमुक्तम् । वौषडन्तेनेति स्वाहापदस्थाने वौषट्पदप्रक्षेप इति । शैवागमे तु विशेषः—

घृतेन स्रुचि पूर्णायां निधायाऽधोमुखं स्रुवम् ।
शृङ्गाग्रे पुष्पमारोप्य पश्चाद्वामेन पाणिना ॥
पुनः सव्येन तौ धृत्वा शङ्खसन्निभमुद्रया ।
समुन्नतोर्द्ध्वकायश्च समपादः समुत्थितः ॥
नाभौ तन्मूलमाधाय शृङ्गाग्रे व्यग्रलोचनः ।

वामस्तनान्तमानीय तयोर्मूलमतन्द्रितः ॥ इति ।

विघ्नेश्वरस्येति । महागणपतेर्दशधा विभक्तेन पूर्वपूर्वानुविद्धेनेति ज्ञेयम् । समस्तेनाहुतिचतुष्टयं दद्यादित्यपि । तदुक्तं गणेश्वरविमर्शिन्याम्—

महागणेशमन्त्रेण पूर्वपूर्वयुतेन च ।
तारादिबीजषट्केषु करणेष्वद्रिवर्णकैः ॥

भिन्नेषु दशधा हुत्वा समस्तेन सुरेश्वरि । इति । तथा चाचार्याः—

ताराद्यैर्दशभिर्भेदैः पूर्वपूर्वसमन्वितैः ।
मनुना गाणपत्येन जुहुयाच्च दशाहुतीः ॥
जुहुयाच्च चतुर्वारं समस्तेनैव तेन तु ॥ इति ।

अन्यत्रापि—महागणेशमन्त्रेण पूर्वपूर्वयुतेन च ।
भिन्नेन दशधा हुत्वा सामान्येन सुरेश्वरि ॥ इति ॥ ६६-६७ ॥

पुनः आचार्य दत्तचित्त हो स्रुवा से चार बार घृत ले कर स्रुचा में स्थापित कर उस स्रुचा को स्रुवा से ढक कर खड़े हो 'वौषड्' अन्त वाले अग्नि के मन्त्रों से हवन करें। इसके बाद महागणेश मन्त्र से पूर्व-पूर्व से मिलाते हुए दश आहुति प्रदान करनी चाहिए ॥ ६६-६७ ॥

सामान्यं सर्वतन्त्राणामेतदग्निम(मु)खं मतम् ।
ततः पीठं समभ्यर्च्च्य देवताया हुताशने ॥ ६८ ॥
अर्चयेद्वह्निरूपां तां देवतामिष्टदायिनीम् ।
तन्मुखे जुहुयान्मन्त्री पञ्चविंशतिसंख्यया ॥ ६९ ॥
आज्येन मूलमन्त्रेण वक्त्रैकीकरणन्त्विदम् ।
वह्निदेवतयोरैक्यमात्मना सह भावयन् ॥ ७० ॥

देवताया इति । प्रकृतदेयमन्त्रदेवताया इत्यर्थः । देवतामिति सावरणाम् । वक्त्रैकीकरणमिति । तदुक्तं शैवागमे—

इतीष्टवक्त्रे वक्त्राणामन्तर्भावस्तु चैकता ।
अथवा कुण्डमानत्वं यदीष्टवदने स्मरेत् ॥
अन्तर्भाव्यानि वक्त्राणि तदेकीकरणं मतम् ॥ इति ॥ ६८-७० ॥

सभी तन्त्रों के मत में इतना अग्निकार्य मुख्य रूप से होना चाहिए । पुनः उस अग्नि में प्रकृत देवता के पीठ का पूजन करना चाहिए ॥ ६८ ॥

तदनन्तर इष्ट फल प्रदान करने वाले उस प्रकृत देवता का अग्निरूप से पूजन कर मन्त्रज्ञ आचार्य पच्चीस आहुति उनके मुख में प्रदान करे ॥ ६९ ॥

इस प्रकार मूलमन्त्र से आज्य के द्वारा अग्नि का एकीकरण किया जाता है । तदनन्तर उस अग्नि और प्रकृत इष्टदेवता का एकीकरण अपनी आत्मा के साथ करे ॥ ७० ॥

नाडीसन्धानम्

मूलमन्त्रेण जुहुयादाज्येनैकादशाहुतीः ।
नाडीसन्धानमुद्दिष्टमेतदागमवेदिभिः ॥ ७१ ॥
जुहुयादङ्गमुख्यानामावृतीनामनुक्रमात् ।
एकैकामाहुतिं सम्यक् सर्पिषा देशिकोत्तमः ॥ ७२ ॥

नाडीसन्धानमिति । अग्निदेवतात्मनां त्रयाणां नाड्येकीकरणम् । अङ्गमुख्यानामावृतीनामिति प्रकृतदेयमन्त्रदेवताया इत्यर्थः । अत्राप्यङ्गेत्यादि सम्भवाभिप्रायम् । सम्यगित्यनेन यत्राङ्गवृतेराद्यत्वं नास्ति तत्र यथावृत्तिस्तदादीनामावृतीनामित्युक्तम् । देशिकोत्तम इत्यनेन मूलमन्त्रेण दशाहुतयो होतव्या इत्युक्तम् । यदाहुः—

परिवारस्यैकैकां देव्यास्तु दशाहुतीर्जुहुयात् । इति ॥ ७१-७२ ॥

तदनन्तर मूलमन्त्र से ग्यारह घृत की आहुति अग्नि में प्रदान करे । आगम शास्त्र के विद्वानों ने इसे 'नाडीसन्धान' की संज्ञा कही है ॥ ७१ ॥

इसी प्रकार आचार्य अनुक्रम से अग्नि के अङ्ग देवताओं और परिवार देवताओं के मूल मन्त्र से घी की १-१ आहुति प्रदान करें । (द्र.५.२९) ॥ ७२ ॥

दीक्षाविधौ द्वितीयदिनकृत्यम्

ततोऽन्येष्वपि कुण्डेषु संस्कृतेषु यथाविधि ।
आचार्यो विहरेदग्निं पूर्वादिषु समाहितः ॥ ७३ ॥

संस्कृतेष्विति । ऋत्विग्भिरिति शेषः । तेन ऋत्विजः स्वे स्वे कुण्डे अष्टादशसंस्कारान् यथाविधि कुर्युः । आचार्योऽग्निविहरणं कुर्यात् सर्वत्रैवेत्यर्थः । पूर्वादिषु ईशान्ते । समाहित इत्यनेनाविच्छेदेनाग्निविहरणमुक्तम् ॥ ७३ ॥

तदनन्तर अन्य कुण्डों में जिनका संस्कार पूर्वोक्त रूप से भली प्रकार कर लिया गया हो पूर्वादि कुण्ड के ईशान पर्यन्त दिशाओं के क्रम से आचार्य समाहित चित्त हो अग्नि स्थापन करें ॥ ७३ ॥

विमर्श—ऋत्विज अपने अपने कुण्ड में १८ संस्कार विधि के अनुसार करे और आचार्य सर्वत्र अविच्छेद रूप से अग्नि विहरण करें ॥ ७३ ॥

ऋत्विजो गन्धपुष्पाद्यैरङ्गाद्यावरणान्विताम् ।
तन्त्रोक्तदेवतामिष्ट्वा पञ्चविंशतिसंख्यया ।
मूलेनाज्येन जुहुयुः साज्येन चरुणा तथा ॥ ७४ ॥

देवतामिष्ट्वेति । अत्र पूजानन्तरं तत्तद्देवताङ्गावृत्यादीनां पूर्ववदेकैकामाहुतिं हुत्वा मूलदेवताया दशाहुतीर्जुहुयुरिति ज्ञेयम् । साज्येन चरुणा तथेति । पूर्वपटले यश्चरू कारितस्तस्य भागत्रयं कृतम् । एको भागो देवतायै निवेदितः । अन्यमग्नौ प्रजुहुयादित्युक्तम् । तस्यैवायं होमः । तथेति मूलेन पञ्चविंशतिवारम् ॥ ७४ ॥

ऋत्विज गन्ध पुष्पादि उपचारों से अङ्गादि आवरणों से युक्त तन्त्रोक्त देवता का पूजन कर मूल मन्त्र पढ़ते हुये केवल आज्य की अथवा आज्य संयुक्त चरु से २५ आहुति द्वारा अग्नि में हवन करें ॥ ७४ ॥

प्रातरुत्थाय जुहुयुः पुनराज्यान्वितैस्तिलैः ।
द्रव्यैर्वा कल्पविहितैः सहस्रं साष्टकं पृथक् ॥ ७५ ॥

द्वितीयदिनकृत्यमाह प्रातरिति । जुहुयुरित्याचार्याः प्रत्येकमृत्विजश्च । तत्र विशेषो वायवीयसंहितायाम्—

स्रुवेणाज्यं समित् पाण्या स्रुचा शेषं करेण वा ।
तत्र दिव्येन होतव्यं तीर्थेनार्षेण वा तथा ॥ इति ।

पृथक् प्रत्येकमष्टोत्तरसहस्रं तत्र समिद्धेऽग्नौ होतव्यम् । अन्यथा दोषदर्शनात् । तदुक्तं बह्वृचपरिशिष्टे—अन्धो बुधः सधूमे च जुहुयाद् यो हुताशने ।
यजमानो भवेदन्धः सपुत्र इति च श्रुतिः ॥ इति ।

छन्दोगपरिशिष्टेऽपि—योऽनर्चिषि जुहोत्यग्नौ व्यङ्गारिणि च मानवः ।
मन्दाग्निरामयावी च दरिद्रश्चोपजायते ॥
तस्मात् समिद्धे होतव्यं नासमिद्धे कथञ्चन ।
आरोग्यमिच्छतायुश्च श्रियमात्यन्तिकीं तथा ॥ इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—अप्रदीप्ते न होतव्यं मध्यमे नाप्यनिन्दिते ।
प्रदीप्ते लेलिहानेऽग्नौ होतव्यं कर्मसिद्धये ॥ इति ॥ ७५ ॥

पुनः दूसरे दिन प्रातः काल उठकर आज्ययुक्त तिल की २५ आहुति अग्नि में देवें अथवा हवनीय पदार्थों में शास्त्र विहित पृथक् पृथक् द्रव्यों से १०८ आहुति प्रदान करें ॥ ७५ ॥

षडध्वशोधनम्

ततः सुधौतदन्तास्यं स्नातं शिष्यं समाहितम् ।
पाययित्वा पञ्चगव्यं कुण्डस्याऽन्तिकमानयेत् ॥ ७६ ॥
विलोक्य दिव्यदृष्ट्या तं तच्चैतन्यं हृदम्बुजात् ।
गुरुरात्मनि संयोज्य कुर्यादध्वविशोधनम् ॥ ७७ ॥

होमानन्तरं गुरुकृत्यमाह तत इति । पञ्चगव्यं पाययित्वेति मण्डपबाह्य एव । पञ्चगव्यप्रकारं तु एकविंशे वक्ष्यति । तदुक्तं प्रयोगसारे—

पञ्चगव्यं यथा प्रोक्तं पीत्वाऽऽचान्तं यथाविधि ।
द्वारेण दक्षिणेनाथ यागस्थानं प्रवेशयेत् ॥ इति ।

तच्चैतन्यमिति । तद्धृदो वहन्नाड्या अङ्कुशमुद्रया चैतन्यमाकृष्य स्ववहन्नाडीमार्गेण स्वहृदि संयोजयेदित्यर्थः । तदुक्तम्—

हृदि स्थितं तच्चैतन्यं प्रस्फुरत्तारकाकृति ।
आदाय स्थापयेत् स्वीये हृदयेऽङ्कुशमुद्रया ॥ इति ।

अध्वविशोधनमिति । तदुक्तं षडन्वयमहारत्ने—

शोधनं नाम तत्त्वानां कारणैकत्वचिन्तनम् ।
वर्णादीनां कलानाञ्च तस्यां बिन्द्वैक्यचिन्तनम् ॥ इति ॥ ७६-७७ ॥

तदनन्तर अच्छी प्रकार से दाँत आदि को शुद्धकर स्नान किये हुये आस्तिक धर्मात्मा शिष्य को स्वयं आचार्य पञ्चगव्य पिलाकर कुण्ड के समीप ले आवें। पुन: उसे दिव्य दृष्टि से देख कर उसके चैतन्य शक्ति को हृदयकमल से खींचकर अपनी आत्मा में उसे संयुक्त कर अध्वशोधन की क्रिया करें ॥ ७६-७७ ॥

उक्तं कलाध्वा तत्त्वाध्वा भुवनाध्वेति च त्रयम् ।
वर्णाध्वा च पदाध्वा च मन्त्राध्वेत्यपरं त्रयम् ॥ ७८ ॥

उक्तमिति । इति च त्रयम् इति च । अपरं त्रयम् उक्तं तन्त्रविद्भिरिति शेषः । आद्यास्त्रयोऽर्थरूपाः, परे त्रयः शब्दरूपाः । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—

तत्र शब्दास्त्रयो धातुस्त्रयस्त्वर्थाः समीरिताः । इति ।

अन्यत्रापि— मन्त्राध्वा च पदाध्वा च वर्णाध्वा चेति शब्दतः ।
भुवनाध्वा च तत्त्वाध्वा कलाध्वा चाऽर्थतः क्रमात् ॥ इति ।

अत्र तु संहारक्रमेणोक्तिः मूले तु सृष्टिक्रमेणेति ज्ञेयम् ॥ ७८ ॥

कलाध्वा, तत्त्वाध्वा, और भुवनाध्वा ये तीन अर्थरूप अध्वा हैं । वर्णाध्वा, पदाध्वा, और मन्त्राध्वा ये शब्द रूप अध्वा कहे गये हैं ॥ ७८ ॥

कलाध्वकथनम्

निवृत्याद्याः कलाः पञ्च कलाध्वेति प्रकीर्त्तितः ।

तत्त्वाध्वकथनम्

तत्त्वाध्वा बहुधा भिन्नः शिवाद्यागमभेदतः ॥ ७९ ॥
षट्त्रिंशच्छिवतत्त्वानि द्वात्रिंशद्वैष्णवानि तु ।
चतुर्विंशतितत्त्वानि मैत्राणि प्रकृतेः पुनः ॥ ८० ॥

शिवतत्त्वानि

उक्तानि दश तत्त्वानि सप्त च त्रिपदात्मनः ।

बहुधेति पञ्चधा । मैत्राणि सांख्यानि । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—

पौराणानि च तत्त्वानि त्रिपुरायाश्च कानि चित् ।
सांख्ययोगप्रसिद्धानि तत्त्वान्यपि च कानि चित् ।
शिवशास्त्रप्रसिद्धानि ततोऽन्यान्यपि कृतस्नशः ॥ इति ।

त्रिपदात्मनस्त्रिपुरायाः ॥ ७९-८१ ॥

निवृत्ति आदि पाँच कलायें कलाध्वा कही जाती हैं । (१. निवृत्ति, २. प्रतिष्ठा, ३. विद्या, ४. शान्ति और ५. शान्त्यतीता—ये पाँच कलाध्वा हैं) ।

तत्त्वाध्वा, शिवादि आगम भेद से बहुधा विभिन्न प्रकारों से कहे गये हैं । शैवागम के अनुसार ३६ तत्त्व हैं, वैष्णव आगमों में ३२ तत्त्व कहे गये हैं । सांख्यमत में २४ तत्त्व कहे गये हैं, प्रकृति के मत में दश तत्त्व कहे गये हैं और त्रिपुरा के मत में सात तत्त्व कहे गये हैं ॥ ७९-८१ ॥

तत्त्वानि शैवान्युच्यन्ते शिवः शक्तिः सदाशिवः॥ ८१ ॥
ईश्वरो विद्यया सार्द्धं पञ्च शुद्धान्यमूनि हि ।
माया कालश्च नियतिः कला विद्या पुनः स्मृता ॥ ८२ ॥

शुद्धानीति । आणवकार्ममायीयमलत्रयरहितत्वात् शुद्धत्वम् । तत्राणवो नाम सदाशिवस्य स्वस्यानवमर्शः । कार्मो नाम पुण्यपापवानहमिति प्रतीतिः । मायीयो नाम अहङ्कारादावात्मबुद्धिः । उक्तञ्च वायवीयसंहितायाम्—

शिवः शक्तिस्ततो नादस्तस्माद्बिन्दुः सदाशिवः ।
तस्मान्महेश्वरो जातः शुद्धा विद्या महेश्वरात् ॥ इति ॥ ८२ ॥

रागः पुरुष एतानि शुद्धाशुद्धानि सप्त च ।
प्रकृतिर्बुद्ध्यहङ्कारो मनो ज्ञानेन्द्रियाण्यथ ॥ ८३ ॥
कर्मेन्द्रियाणि तन्मात्राः पञ्चभूतानि देशिकाः ।
एतान्याहुरशुद्धानि चतुर्विंशतिरागमे ॥ ८४ ॥
शैवानामिति तत्त्वानां विभागोऽत्र प्रदर्शितः ।

शुद्धाशुद्धानीति । कारणत्वेन मलत्रयराहित्याच्छुद्धत्वम् कार्यरूपत्वेन तद्युक्तत्वादशुत्वम् । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—

सा वाचामीश्वरी शक्ति र्वागीशाख्यस्य शूलिनः ।
या सा वर्णस्वरूपेण मातृकेति विजृम्भते ॥
अथानन्तसमायोगान्मायां कालमवासृजत् ।
नियतिञ्च कलां विद्यां कलातो रागपूरुषौ ॥ इत्यादि ।
षट्त्रिंशत् संख्ययोपेतः शुद्धाशुद्धोभयात्मकः । इत्यन्तेन ॥ ८३-८४ ॥

अब शिवतत्त्व का प्रतिपादन करता हूँ । १. शिव, २. शक्ति, ३. सदाशिव, ४. विद्या और ५. ईश्वर—ये पाँच शुद्ध तत्त्व कहे गये हैं । १. माया, २. काल, ३. नियति, ४. कला, ५. विद्या, ६. राग और ७. पुरुष—ये सात शुद्धाशुद्ध तत्त्व कहे गये हैं ॥ ८१-८३ ॥

१. प्रकृति, २. बुद्धि, ३. अहङ्कार, ४. मन, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ तन्मात्रायें और पञ्चमहाभूत—ये २४ तत्त्व आगमशास्त्र में अशुद्धतत्त्व कहे गये हैं । इस प्रकार हमने यहाँ शिवतत्त्व के ३६ भेदों का वर्णन किया ॥ ८३-८५ ॥

वैष्णवतत्त्वानि

जीवप्राणधियश्चित्तं ज्ञानकर्मेन्द्रियाण्यथ ॥ ८५ ॥
तन्मात्राः पञ्चभूतानि हृत्पद्मं तेजसां त्रयम् ।
वासुदेवादयश्चेति तत्त्वान्येतानि शार्ङ्गिणः ॥ ८६ ॥

मैत्रतत्त्वानि

पञ्चभूतानि तन्मात्रा इन्द्रियाणि मनस्तथा ।
गर्वो बुद्धिः प्रधानञ्च मैत्राणीति विदुर्बुधाः ॥ ८७ ॥

प्रकृतितत्त्वानि

निवृत्याद्याः कलाः पञ्च ततो बिन्दुः कला पुनः ।
नादः शक्तिः सदापूर्वः शिवश्च प्रकृतेर्विदुः ॥ ८८ ॥

त्रिपदतत्त्वानि

आत्मविद्या शिवः पश्चाच्छिवो विद्या स्वयं पुनः ।
सर्वतत्त्वञ्च तत्त्वानि प्रोक्तानि त्रिपदात्मनः ॥ ८९ ॥

ज्ञानकर्मेन्द्रियाणीति दश । पञ्चेत्युभयत्र सम्बध्यते । तेजसां त्रयमग्नीन्दुसूर्याः । वासुदेवादयश्चत्वारोऽष्टमे वक्ष्यन्ते ॥ ८५-८६ ॥

इन्द्रियाणि दश । गर्वोऽहङ्कारः । बुद्धिर्महत्तत्त्वम् । प्रधानं प्रकृतिः । स्वयमात्मा । स्वकपोलकल्पितत्त्वशङ्कां वारयति तत्तदागमवेदिभिरिति ॥ ८७-९० ॥

जीव, प्राण, बुद्धि, चित्त, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्रायें, पञ्चमहाभूत, हृत्पद्म, सूर्य, चन्द्र अग्न्यात्मक तीन तेज, वासुदेवादि चतुर्व्यूह—ये ३२ तत्त्व वैष्णवतत्त्व कहे गये हैं । पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्रा, दश इन्द्रियाँ, मन, अहङ्कार, बुद्धि और प्रधान (=प्रकृति)—ये २४ तत्त्व सांख्यमत के तत्त्व कहे गये हैं । निवृत्ति आदि पाँच कलायें, बिन्दुकला, नाद, शक्ति और सदाशिव ये प्रकृति तत्त्व कहे गये हैं । १. आत्मा, २. विद्या, ३. शिव, ४. शिव, ५. विद्या, ६. आत्मा और ७. सर्वतत्त्व—ये सात त्रिपुरा के तत्त्व कहे गये हैं । यहाँ तक आगम शास्त्र के विद्वानों ने तत्त्वाध्वा का विवेचन किया है ॥ ८५-९० ॥

तत्त्वाध्वा कथितो ह्येष तत्तदागमवेदिभिः ।

भुवनाध्वकथनम्

ईरितो भुवनाध्वेति भुवनानि मनीषिभिः ॥ ९० ॥

वर्णाध्वकथनम्

वर्णाध्वेति वदन्त्यर्णानादिक्षान्तान् मनीषिणः ।

पदाध्वकथनम् । मन्त्राध्वकथनम्

वर्णसङ्घः पदाध्वा स्यान्मन्त्राध्वा मन्त्रराशयः ॥ ९१ ॥

भुवनानि आकाशवायुतैजसाप्यपार्थिवभुवनानि पञ्च । वायवीयसंहितायान्तु—

आधाराद्युन्मन्यन्तञ्च भुवनाध्वा प्रकीर्त्तितः । इति ।

वर्णसङ्घः सबिन्दुवर्णाः । वायवीयसंहितायान्तु—

अनेकभेदसम्भिन्नः पदाध्वा पदसंहतिः ।
महामन्त्रोपमन्त्राणां वर्त्ततेऽवयवात्मना ॥
प्रधानावयवत्वेन सोऽध्वा पञ्चपदात्मकः । इति ।
मन्त्रराशयः अकचटतपयाः सप्त मन्त्राः ॥ ९०-९१ ॥

मनीषियों ने भुवनों को 'भुवनाध्वा' कहा है । अकार से लेकर क्षकारान्त वर्णों को विद्वानों ने 'वर्णाध्वा' कहा है । इस प्रकार वर्णों का समूह पदाध्वा कहा जाता है और मन्त्र समूह को मन्त्राध्वा कहा जाता है ॥ ९०-९१ ॥

क्रमादेतानध्वनः षट् शोधयेद् गुरुसत्तमः ।
पादान्धुनाभिहृद्भालमूर्द्धस्वपि शिशोः स्मरेत्॥ ९२ ॥

मूर्द्धनि ब्रह्मरन्ध्रे । तत्रायं शोधनप्रकारः । पादे कलाध्वानं स्मरत्वा पदगुह्यहृद्वक्त्रशिरःसु स्वबीजादिकाः कला विन्यस्य पश्चात् कलाध्वविशोधनम् । एवं तत्त्वाध्वानम् अन्धौ स्मृत्वा विलोमेषु पूर्व्वस्थानेषु तान् विन्यस्य पश्चात् तेत्त्वाध्वशोधनम् । एवं भुवनाध्वानं नाभौ स्मृत्वा अनन्तरस्थानेषु स्वबीजाद्यान् विन्यस्य पश्चात् तच्छोधनम् । एवं हृदि वर्णाध्वानं संस्मृत्य शुद्धान् वर्णान् तद्देहे विन्यस्य पश्चाद्वर्णाध्वशोधनम् । एवं भाले पदाध्वानं संस्मृत्य सबिन्दुवर्णान् विन्यस्य तच्छोधनम् । एवं मूर्द्धनि मन्त्राध्वानं संस्मृत्य सप्त मन्त्रान् तत्तत्स्थानेषु व्याप्य पश्चात्तदध्वविशोधनमिति गुरुसत्तम इत्यनेनोक्तम् ॥ ९२ ॥

तदनन्तर कुण्ड के समीप बैठे हुये शिष्य के ऊपर कहे गये षडध्वजों का गुरु स्वयं संशोधन करें और उन्हीं षडध्वों का क्रमशः पाद, गुह्य, नाभि, हृदय, भाल और शिरःप्रदेश में स्मरण कर शोधन करे ॥ ९२ ॥

प्रयोग विधि—यथा—पाद में कलाध्वा का स्मरण कर 'गुह्यनाभिहृद्वक्त्रशिरःसु पञ्चकला विन्यसामि' इस प्रकार से कलाध्वा का शोधन करे । पुनः गुह्यस्थान में तत्त्वाध्वा का स्मरण कर 'नाभिहृदयभालशिरःसु तत्त्वान् विन्यसामि । इस प्रकार तत्त्वाध्वा का शोधन करे । इसी प्रकार भुवनाध्वा का नाभि में, हृदय में वर्णाध्वा का, भाल में पदाध्वा का और शिर में मन्त्राध्वा का स्मरण पूर्वक न्यास कर षडध्वों का संशोधन करना चाहिए ॥ ९२ ॥

ततः कूर्च्चेन विधिवत्तं स्पृशेत् जुहुयाद् गुरुः ।
आचार्यकुण्डे संशुद्धैस्तिलैराज्यपरिप्लुतैः ॥ ९३ ॥

शोधयाम्यमुमध्वानं स्वाहेति पृथगध्वना।
ताराद्यमाहुतीरष्टौ क्रमात्तान् विलयं नयेत्॥ ९४ ॥

विधिवदित्यनेन शिष्य इति ज्ञेयम् । तं गुरुं स्पृशेदिति भिन्नं वाक्यम् । तदुक्तं नारायणीये—

ध्यानेनात्मनि तं शिष्यं संहृत्य प्रलयक्रमात् ।
पुनरुत्पाद्य तत्पाणौ दद्याद्दर्भांश्च मन्त्रितान् ॥ इति ।

केचन तं स्पृशन्निति पठन्ति । तदा विधिवदित्यनेन वामकरस्थेनेति ज्ञेयम् । गुरुरष्टावाहुतीः अध्वना ताराद्यं पृथक् जुहुयादिति सम्बन्धः । शोधयामीति अमुष्येत्यर्थः । संशुद्धैरिति । अवकरं दूरीकृत्य प्रक्षाल्य संशोषितैरित्यर्थः । प्रयोगस्तु —ॐ अमुष्य कलाध्वानं शोधयामि स्वाहा इत्यादि ॥ ९३-९४ ॥

शिवे शिवात्तान् संलीनान् जनयेत् सृष्टिमार्गतः ॥ ९५ ॥

शिष्ये आत्मचैतन्ययोजनम्

विलोकयन् दिव्यदृष्ट्या तं शिशुं देशिकोत्तमः।
आत्मस्थितं तच्चैतन्यं पुनः शिष्ये नियोजयेत्॥ ९६ ॥

शिवे सहस्रारस्थिते इति पूर्वेण सम्बध्यते । क्रमादित्यग्रिमम् । पूर्वस्मिन्निति शिवपर्यन्तम् । शिवात् सृष्टिमार्गतस्तान् जनयेदिति सम्बन्धः । सृष्टिमार्गतः पूर्वस्माद-ग्रिमं नियोजयेदिति । यथा आनीतं तथैवेत्यर्थः । अनेन अध्वविशोधनेन शरीरशुद्धिः कृता भवति । यतः षडध्वमयमेव शरीरम् । यदाहुः—

शान्त्यतीतकलामूर्द्धा शान्तिवक्त्रशिरोरुहा ।
निवृत्तिजानुजङ्घाङ्घ्रिर्भुवनाध्वशिरोरुहा ॥
मन्त्राध्वमांसरुधिरा पदवर्णशिरायुता ।
तत्त्वाध्वमज्जमेदोऽस्थिधातुरेतोयुता शिवे ॥ इति ॥ ९५-९६ ॥

तदनन्तर आचार्य कुश समूह से शिष्य का स्पर्श करते हुये आठ आहुति प्रदान करे । आचार्य कुण्ड में शुद्ध किये गये तिलों को घृत से परिपूर्ण कर 'अध्वानं शोधयामि स्वाहा' इस मन्त्र से अध्वा के लिये पृथक् आहुति प्रदान करे । पुनः प्रणव के द्वारा आठ आहुति देकर संहार क्रम से उस अग्नि को शिव में विलीन कर देवे । तदनन्तर उस विलीन अग्नि को सृष्टि मार्ग से उत्पन्न करे ॥ ९४-९५ ॥

शिष्य में गुरु द्वारा आत्मचैतन्य का नियोजन—आचार्य दिव्य दृष्टि से शिष्य की ओर देखते हुये आत्मगत चैतन्य शिष्य में पुनः स्थापित करें ॥ ९६ ॥

स्रुचा पूर्णाहुतिं दत्त्वा मूलमन्त्रेण मन्त्रवित्।
उद्वास्य देवतां कुम्भे साङ्गां सावरणां गुरुः॥ ९७ ॥

पुनर्व्याहृतिभिर्हुत्वा जिह्वादीनां विभावसोः।
एकैकामाहुतिं हुत्वा परिषिच्याऽद्भिरात्मनि ॥ ९८ ॥
पावकं योजयित्वा स्वे परिधीन् सपरिस्तरान्।
नैमित्तिके दहेन्मन्त्री नित्ये तु न दहेदिमान्॥ ९९ ॥

मूलमन्त्रेणेति । देशिक इत्यनेन वौषडन्तेनेत्युक्तम् । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्— ततो होमावशिष्टेन घृतेनापूर्य वै स्रुचम् ।
निधाय पुष्पं तस्याग्रे स्रुवेणाऽधोमुखेन ताम् ॥
सदर्भेण समाच्छाद्य मूलेनाऽञ्जलिनोत्थितः ।
वौषडन्तेन जुहुयाद्धारान्तु यवसम्मिताम् ॥
इत्थं पूर्णाहुतिं कृत्वा । इति ।

उद्वास्य अग्नित उद्वासनं कृत्वा कुम्भे आनीय इत्यर्थः । देशिको गुरुरित्यनेन देवतायाः अङ्गावृत्यादीनाम् एकैकामाहुतिं हुत्वा उद्वासनमित्युक्तं भवति । व्याहृतिभिर्व्यस्तसमस्ताभिः ।

साम्प्रदायिकास्तु व्याहृतिशब्देनात्र महाव्याहृतय उच्यन्ते इत्याहुः । ताश्च । ॐ भूरग्नये च पृथिव्यै च महते च स्वाहा । ॐ भूवो वायवे चान्तरीक्षाय च महते च स्वाहा । ॐ स्वरादित्याय च दिवे च महते च स्वाहा । ॐ भूर्भुवः स्वश्चन्द्रमसे च नक्षत्रेभ्यश्च दिग्भ्यश्च महते च स्वाहा इति ।

उक्तञ्च—पुनः समापयेद्धोम् महाव्याहृतिपूर्वकम् । इति ।

विभावसोर्जिह्वादीनाम् इत्यादिशब्देन अधिदेवताङ्गमूर्त्तिलोकपालतदायुधानि । परिषिच्येति पावकमिति सम्बध्यते । अद्भिः प्रोक्षण्युदकैरित्यर्थः ॥

स्वे आत्मनि पावकं योजयित्वेति । तत्र प्रार्थनमन्त्रेण संप्रार्थ्य पश्चादुद्वासनम् । तदुक्तं गणेश्वरविमर्शिन्याम्—

भो भो वह्ने महाशक्ते सर्वकर्मप्रसाधक ।
कर्मान्तरेऽपि सम्प्राप्ते सान्निध्यं कुरु सादरम् ।
इतिमन्त्रेण संप्रार्थ्य वह्निमुद्वासयेदपि ॥ इति ॥ ९७-९९ ॥

मन्त्रज्ञ साधक मूल मन्त्र पढ़ कर स्रुचा से पूर्णाहुति प्रदान करे । पुनः अग्नि में स्थापित अङ्ग आवरण सहित, समस्त देवताओं का विसर्जन कर उन्हें कुम्भ में स्थापित करे । व्यस्त एवं समस्त व्याहृतियों से हवन कर अग्नि की जिह्वाओं एवं अधिदेवता, अङ्ग मूर्त्ति, लोकपाल, तथा उनके आयुधों को भी नाम के आगे चतुर्थ्यन्त विभक्तिपूर्वक अन्त में स्वाहा लगा कर एक एक आहुति प्रदान करे । फिर प्रोक्षणी के जल से अग्नि को अभिषिक्त कर उस अग्नि को अपनी आत्मा में एकीकरण कर, परिधियों (पूर्वोक्त ३६ श्लोक) को परिस्तरण सहित अग्नि में जला देवे । यह क्रिया मन्त्रज्ञ साधक नैमित्तिक कर्म में ही करे । नित्यकर्म में इन परिधियों का दहन न करे ॥ ९७-९९ ॥

नेत्रे शिष्यस्य बघ्नीयान्नेत्रमन्त्रेण वाससा।
करे गृहीत्वा तं शिष्यं कुण्डतो मण्डलं नयेत्॥ १०० ॥
तस्याञ्जलिं पुनः पुष्पैः पूरयित्वा यथाविधि।
कलशे देवताप्रीत्यै क्षेपयेन्मूलमुच्चरन्॥ १०१ ॥

वाससेति नवेन शुक्लेन। तदुक्तं महाकपिलपञ्चरात्रे—नवेन शुक्लवस्त्रेण नेत्रे बद्ध्वा। इति। पिङ्गलामते तु विशेषः—नेत्रवस्त्रेण तन्नेत्रे नेत्रमन्त्रेण बन्धयेत्। इति। मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—अथ नेत्रेण तन्नेत्रे बद्ध्वा नेत्रेण देशिकः। इति। नारायणीये तु—नेत्राद्यैर्नेत्रं नेत्रेण बन्धयेत्। इति।

मण्डलं नयेदिति। प्रादक्षिण्येन पश्चिमद्वारमिति शेषः। तदुक्तं नारायणीये—

न्यासं शिष्यतनौ कृत्वा तं प्रदक्षिणमानयेत्।
पश्चिमद्वारमानीय क्षेपयेत् कुसुमाञ्जलिम् ॥ इति।

यथाविधि क्षेपयेदित्यनेन विशेषः पिङ्गलामतोक्तः संगृहीतः—

पुष्पैरञ्जलिमापूर्य योगपीठे प्रदापयेत्।
पश्चिमोत्तररुद्रैन्द्रे पुष्पपातः शुभोऽशुभे ॥
अष्टोत्तरशतं शान्त्यै जुहुयादस्त्रमन्त्रतः ॥ इति ॥ १००-१०१ ॥

पुनः नवीन वस्त्र से नेत्र मन्त्र (नेत्रभ्यां वौषट्) पढ़ते हुये आचार्य शिष्य के नेत्रों को बाँध देवें और शिष्य का हाथ पकड़ कर उसे कुण्ड के समीप ले आवें ॥ १०० ॥

पुनः शिष्य की अञ्जुलि को फूलों से विधिपूर्वक परिपूर्ण कर मूल मन्त्र पढ़ते हुये पश्चिम द्वार पर उसे ले आकर कलश पर उन फूलों को चढ़वा देवें, जिससे देवता प्रसन्न हों ॥ १०१ ॥

व्यपोह्य तं नेत्रबन्धमासीनं दर्भसंस्तरे।
आत्मयागक्रमाद् भूयः संहृत्योत्पाद्य देशिकः॥ १०२ ॥
तत्तन्मन्त्रोदितान् न्यासान् कुर्याद् देहे शिशोस्तदा।
पञ्चोपचारैः कुम्भस्थां पूजयित्वेष्टदेवताम्॥ १०३ ॥

आत्मयागक्रमादिति। वक्ष्यमाणप्रपञ्चयागक्रमेणेति केचित्। साम्प्रदायिकास्तुआत्मयागः अन्तर्यागः। तत्क्रमात् तत्रोक्तभूतशुद्धिक्रमेणेत्यर्थः। तत्र भूतसंहारस्य भूतसृष्टेश्चोक्तत्वात्। देहं संहृत्य भूयोऽनन्तरमुत्पाद्येत्यन्वयः। तदुक्तं प्रयोगसारे—

गुणांशेन पृथिव्यादिभूतानि विलयं नयेत्।
यथावत् पिण्डसंस्थानि संहारक्रमयोगतः।
ततः सृष्टिक्रमेणैव पिण्डं सम्भावयेत्तदा ॥ इति।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—उपविश्यासने दिव्ये संहरेत्तस्य विग्रहम्।
गन्धादिघ्राणसंयुक्तां पृथिवीमप्सु संहरेत् ॥

इत्यादिना 'उत्पन्नं भावयेत्ततः' । इत्यन्तेन ।

अन्यत्रापि— अथाभिषेकमण्डपे सुखोपविष्टमासने ।
गुरुर्विशोधयेदमुं पुरेव शोषणादिभिः ॥ इति ।

नारायणीयेऽपि— शोषादिना सुखासीनं तत्र संबोधयेद् गुरुः । इति ।

अत्र देवताप्रार्थनमाहुराचार्याः—

कारुण्यनिलये ! देवि ! सर्वसम्पत्तिसंश्रये ! ।
शरण्यवत्सले मातः ! कृपामस्मिन् शिशौ कुरु ॥
आणवप्रमुखैः पाशैः पाशितस्य सुरेश्वरि ।
दीनस्याऽस्य दयाधारे ! कुरु कारुण्यमीश्वरि ॥
ऐहिकामुष्मिकैर्भोगैरपि सम्बर्ध्यतामयम् ।
स्व(सद्)भक्तिः सकला चास्मै दीयतां निष्कलाश्रये ॥ इति ॥ १०२-१०३ ॥

इसके बाद उसका नेत्र खोल देवें और सुख से कुश के आसन पर बैठाकर आगे कही जाने वाली विधि के अनुसार भूत संहार तथा भूत सृष्टि क्रम से उससे आत्मयाग करावें ॥ १०२ ॥

आचार्य सर्वप्रथम उस शिष्य से कुम्भ स्थित तत्तद् देवताओं का पञ्चोपचार पूजन करा कर उसके शरीर में तत्तद्देवताओं का न्यास करे ॥ १०३ ॥

तस्याः तन्त्रोक्तमार्गेण विदध्यात् सकलीकृतिम् ।
मण्डलेऽलंकृते शिष्यमन्यस्मिन्नुपवेशयेत् ॥ १०४ ॥

अन्यस्मिन् मण्डल इति । मण्डलाद्बहिरैशान्याम् । तदुक्तं सोमशम्भुना—

यागालयाद्दिशीशस्य रचिते स्नानमण्डपे ।
कुर्यात् करद्वयायामां वेदिमष्टाङ्गुलोच्छ्रिताम् ॥
श्रीपर्ण्याद्यासने तत्र विन्यस्यानन्तमासनम् ।
शिष्यं निवेश्य पूर्वास्यं सकलीकृत्य पूजयेत् ॥ इति ।

प्रयोगसारे— अथैशान्यां दिशि यथा मन्त्रविन्यस्तविग्रहम् ।
पीठस्थं चतुरस्रायां वेद्यां दर्भाग्रपाणिना ॥
अभिषिञ्चेत् स्वयं शिष्यमात्मतत्त्वानुवर्त्तिनम् ॥ इति ।

उपवेशयेदिति भुक्तौ प्राङ्मुखं मुक्तांवुदङ्मुखमिति ज्ञेयम् । तदुक्तं सोमशम्भौ—स्नाने तूदङ्मुखं मुक्तौ पूर्ववक्त्रञ्च भुक्तये । ऊद्ध्र्वकायं समारोप्य । इति ।

अन्यत्रापि— मण्डले त्वीशदिक्कृत्वा मुमुक्षूनुत्तराननान् ।
भुक्तये पूर्ववक्त्रांश्च शिष्यांस्तत्र निवेशयेत् ॥ इति ॥ १०४ ॥

तदनन्तर तन्त्रशास्त्र में कही गई विधि के अनुसार उसका सकलीकरण (कला से युक्त) करें । इसके बाद उस शिष्य को अन्य अलंकृत मण्डल (मण्डल से बाहर ईशान कोण) में उसे बैठावे ॥ १०४ ॥

शिष्यकृत्यम्

नदत्सु पञ्चवाद्येषु सार्द्धं विप्राशिषा गुरुः ।
विधिवत् कुम्भमुद्धृत्य तन्मुखस्थान् सुरद्रुमान् ॥ १०५ ॥
शिशोः शिरसि विन्यस्य मातृकां मनसा जपन् ।
मूलेन साधितैस्तोयैरभिषिञ्चेत् तमात्मवित् ॥ १०६ ॥
पूजितां पुनरादाय वर्द्धनीमस्त्ररूपिणीम् ।
तस्यां सुसाधितैस्तोयैः सिञ्चेद्रक्षार्थमञ्जसा ॥ १०७ ॥

विधिवन्मातृकां मनसा जपन् मूलेनाऽभिषिञ्चेदिति सम्बन्धः । तत्र विधिवदिति विलोमपठितां मूलञ्च तादृग्रूपमिति । तदुक्तमाचार्यैः—

यथा पुरा पूरितमक्षरैर्घटं सुधामयैः शिष्यतनौ तथैव तैः ।
प्रपूरयन्मन्त्रिवरोऽभिषेचयेदवाप्तये मङ्क्षु यथेष्टसम्पदाम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— सुमतिरभिषिञ्चेन्नरो मन्त्रजापी । इति ।

अन्यत्रापि— अभिषेचयता यथावत् ।
क्षाद्यैरान्तैर्वर्णैरपि पूर्णतुनस्त्रिरुक्तमन्त्रार्णैः ॥ इति ।

सुसाधितैरित्यनुवादमात्रम् उभयत्रापि । पूजितामित्यप्यनुवादः । अञ्जसा तत्त्वेन ॥ १०५-१०७ ॥

ब्राह्मणों के आशीर्वाद तथा पञ्चवाद्य बाजों के साथ आचार्य विधिपूर्वक कुम्भ को उठाकर, उसमें स्थापित कल्पवृक्षों को मन में विलोम रूप से मातृकाओं का जप करते हुये, शिष्य के शिर पर रखें । फिर मूल मन्त्र से कलश के जल द्वारा उसका अभिषेक करें ॥ १०५-१०६ ॥

तदनन्तर पूर्व में अस्त्र मन्त्र से पूजी गई वर्धनी (सनाल पात्र) को लेकर उसमें रखे गये जल से तत्त्वों के द्वारा उसका अभिषेक करें ॥ १०७ ॥

अवशिष्टेन तोयेन शिष्यमाचामयेद् गुरुः ।
ततस्तं सकलीकुर्याद्देवतात्मानमात्मवित् ॥ १०८ ॥
उत्थाय शिष्यो विमले वाससी परिधाय च ।
आचम्य वाग्यतो भूत्वा निषीदेत् सन्निधौ गुरोः ॥ १०९ ॥
देवतामात्मनः शिष्ये संक्रान्तां देशिकोत्तमः ।
पूजयेद् गन्धपुष्पाद्यैरैक्यं सम्भावयस्तयोः ॥ ११० ॥

अवशिष्टेनेति अभिषेकावशिष्टकलशस्थेन । देवतात्मानमभिषेकेन । सन्निधौ समीपे । संक्रान्तामित्यभिषेकेन । देशिकोत्तम इत्यनेनाद्यशब्देन धूपदीपे एव ग्राह्ये इत्युक्तम् । तयोरिति शिष्यदेवतयोः । तत इत्यनेन शिष्यमूर्द्धनि हस्तं दत्त्वाऽष्टोत्तरशतं मन्त्रं जपेदिति सूचितम् । तदुक्तं वशिष्ठसंहितायाम्—

ततस्तच्छिरसि स्वस्य हस्तं दत्त्वा शतं जपेत् ।
अष्टोत्तरं ततो मन्त्रं दद्यादुदकपूर्वकम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि—अथ सम्पादयेन्मन्त्रं हस्तं शिरसि धारयन् ।
समोऽस्त्वित्यक्षतं दद्यात् । इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—

विश्वात्मा स्वयमाचार्यस्तन्मूर्द्धिन स्वकरं न्यसेत् । इति ॥ १०८-११० ॥

(अभिषेकावशिष्ट) शेष जल से शिष्य को आचमन करा देवें । इस प्रकार जब वह देवता स्वरूप हो जाय तब आचार्य उसका सकलीकरण (कला से युक्त) करें ॥ १०८ ॥

तदनन्तर शिष्य वहाँ से उठकर स्वच्छ और नवीन उत्तरीय तथा स्वच्छ वस्त्र धारण करें । तत्पश्चात् आचमन करके मौन होकर पुनः गुरु के सन्निधान में बैठे ॥ १०९ ॥

आचार्य शिष्य की आत्मा में देवता का संक्रमण जान कर देवता से अभिन्न शिष्य की गन्ध पुष्पादि से पूजा करें ॥ ११० ॥

दद्याद्विद्यां ततस्तस्मै विनीतायाऽम्बुपूर्वकम् ।
गुरोर्लब्ध्वां पुनर्विद्यामष्टकृत्वो जपेत् सुधीः ॥ १११ ॥

दद्यादिति दक्षिणकर्णे त्रिवारं यावत् पाठं वा । तदुक्तम्—

ऋष्यादियुक्तमथ मन्त्रवरं यथावद्
ब्रूयात् त्रिशो गुरुरनर्ध्यमवामकर्णे । इति ।

अम्बुपूर्वकमिति ब्राह्मणविषयम् । एतदन्तरम्—

आवयोस्तुल्यफलदो भवत्वेवमुदीरयेत् ।
प्रसन्नवदनस्तस्मै शिष्याय मुनिपुङ्गवः ॥
स्वतो ज्योतिर्मयीं विद्यां गच्छन्तीं भावयेद् गुरुः ।
आगतां भावयेच्छिष्यः । इति ॥

वायवीयसंहितायान्तु—अथ गुर्वाज्ञया शिष्यः शिवाग्निगुरुसन्निधौ ।
भक्त्यैवमभिसन्धाय दीक्षावाक्यमुदीरयेत् ॥
वरं प्राणपरित्यागश्छेदनं शिरसोऽपि वा ।
न त्वनभ्यर्च्य भुञ्जीयं भगवन्तं त्रिलोचनम् ॥ इति ।

विद्यादानान्तरं गुरुरष्टोत्तरसहस्रं मन्त्रं जपेत् । तदुक्तम् 'अष्टोत्तरं सहस्रं स्वशक्तिहानानवाप्तये जप्यात्' इति । नारायणीयमहाकपिलपञ्चरात्रयोरपि—

मन्त्रं दत्त्वा सहस्रं वै स्वसिद्ध्यै देशिको जपेत् । इति ॥ १११ ॥

पुनः विनीत शिष्य के हाथ में जल देकर उसे मन्त्र दान करे । विद्वान् शिष्य भी गुरु द्वारा मन्त्र ग्रहण कर आठ बार उस मन्त्र का जप करे ॥ १११ ॥

विमर्श—विद्या दान के बाद स्वशक्ति की हानि न हो इसलिए गुरु को एक हजार आठ मन्त्र जाप करना चाहिए ॥ १११ ॥

गुरुविद्यादेवतानामैक्यं सम्भावयन् धिया ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमौ गुरुं तं देवतात्मकम् ॥ ११२ ॥
तस्य पादाम्बुजद्वन्द्वं निजमूर्द्धनि योजयेत् ।
शरीरमर्थं प्राणञ्च सर्वं तस्मै निवेदयेत् ॥ ११३ ॥

प्रणमेदिति । त्वत्प्रसादादहं देव कृतकृत्योऽस्मि सर्वतः ।
मायामृत्युमहापाशाद् विमुक्तोऽस्मि शिवोऽस्मि च ॥

इति मन्त्रं पठन्निति ज्ञेयम् । तत्र अष्टाङ्गः पञ्चाङ्गो वा प्रणामः कार्य इत्यर्थः ।

यदाहुः— दोर्भ्यां पद्भ्याञ्च जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा ।
मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥
बाहुभ्याञ्च सजानुभ्यां शिरसा वचसा धिया ।
पञ्चाङ्गकः प्रणामः स्यात् सर्वत्र प्रवराविमौ ॥ इति ।

अर्थं निवेदयेदित्यनेन गुरवे दक्षिणां कुम्भादिकञ्च दद्यादित्युक्तम् । यदाहुः—
द्रव्यार्द्धं गुरवे दद्याद् दक्षिणां वा तदर्द्धकम् । इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—आचार्यादनभिप्राप्तः प्राप्तश्चादत्तदक्षिणः ।
सततं जप्यमानोऽपि मन्त्रः सिद्धिं न गच्छति ॥
सर्वस्वं वा तदर्द्धं वा वित्तशाठ्यविवर्जितः ।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा ततो मन्त्रग्रहो मतः ॥ इति ।

वायवीयसंहितायाम्—मण्डपं गुरवे दद्याद् यागोपकरणैः सह । इति ।

अन्यत्रापि— तां वित्तशाठ्यं परिहृत्य दक्षिणां
दत्त्वा तनुं स्वाञ्च समर्पयेत् सुधीः । इति ।

अन्यत्रापि— कृतकृत्यस्तथा शिष्यः सर्वं तस्मै निवेदयेत् ।
यच्च यावच्च तद्भक्त्या गुरोराकृष्टचेतनः ॥
गोभूहिरण्यं विपुलं गृहक्षेत्रादिकं बहु ।
न चेदर्द्धं तदर्द्धं वा तद्दशांशमथापि वा ॥
अक्लेशादन्नवस्त्रादि दद्याद् वित्तानुसारतः ॥ इति ।

तथा— कुम्भादिकञ्च सकलं गुरवे तु समर्प्य च । इति ।

अन्यत्रापि— विभवानुरूपतोऽसौ दातव्या दक्षिणा च निजगुरवे ।
प्राणप्रदानकर्त्रे न च कार्यं वित्तशाठ्यममलधिया ॥ इति ।

ततो गुरोः कृत्यं तन्त्रान्तरोक्तं लिख्यते ।

स्नानसन्ध्ये सदाचारं नित्यं काम्यं तथैव च ।
मन्त्रसिद्धिप्रकारांश्च शिष्यायाऽभिवदेद् गुरुः ॥

इति मन्त्रतन्त्रप्रकाशे ।

अन्यत्रापि—अभिवन्द्य ततः शृणोतु सम्यक् समयान् भक्तिभरावनम्रमूर्त्तिः । इति ।

तत्र सदाचार उक्तः प्रयोगसारे—

देवस्थाने गुरुस्थाने श्मशाने वा चतुष्पथे ।
पादुकासनविण्मूत्रमैथुनानि परित्यजेत् ॥
देवं गुरुं गुरुस्थानं क्षेत्रं क्षेत्राधिदेवताः ।
सिद्धं सिद्धाधिकारांश्च श्रीपूर्वं समुदीरयेत् ॥
प्रमत्तामन्त्यजां कन्यां पुष्पितां पतितस्तनीम् ।
विरूपां मुक्तकेशीञ्च कामार्त्ताञ्च न निन्दयेत् ॥
कन्यायोनिं पशुक्रीडां दिग्वस्त्रां प्रकटस्तनीम् ।
नालोकयेत् परद्रव्यं परदारांश्च वर्जयेत् ॥
धान्यगोगुरुदेवाग्नि विद्याकोशनरान् प्रति ।
नैव प्रसारयेत् पादौ नैतानपि च लङ्घयेत् ॥
आलस्यमदसम्मोहशाठ्यपैशून्यविग्रहान् ।
असूयामात्मसम्मानं परनिन्दाञ्च वर्जयेत् ॥
लिङ्गिनं व्रतिनं विप्रं वेदवेदाङ्गसंहिताः ।
पुराणागमशास्त्राणि कल्पांश्चापि न दूषयेत् ॥
युगं मुषलमश्मानं दाम चुल्लीमुदूखलम् ।
शूर्पसमार्जनीदण्डध्वजवैदूर्यमायुधम् ॥
कलशं चामरं छत्रं दर्पणं भूषणन्तथा ।
भोगयोग्यानि चान्यानि यागद्रव्याणि यानि च ॥
महास्थानेषु वस्तूनि यानि वा देवतालये ।
दिव्योक्तानि पदार्थानि भूताविष्टानि यानि वै ॥
लङ्घ्येज्जातु नैतानि नैतानि च पदा स्पृशेत् ।
या गोष्ठी लोकविद्विष्टा या च स्वैरविसर्पिणी ॥
परहिंसात्मिका या च न तामवतरेत् सदा ।
प्रतिग्रहं न गृह्णीयादात्मभोगविधित्सया ॥
देवतातिथिपूजार्थं यत्नतोऽप्यर्जयेद्धनम् ।
धारयेदार्जवं सत्यं सौशील्यं समतां धृतिम् ॥
क्षान्तिं दयामनास्थाञ्च दिव्यां शक्तिञ्च सर्वदा ।
अत्रोक्तान् यः सदा ह्येतानैहिकामुष्मिकोचितान् ॥
आचारानाचरेत् शान्तिं दीक्षितः सोऽधिगच्छति । इति ।

तथा— विभीतकार्ककारञ्जनुहीच्छायां न चाश्रयेत् ।
स्तम्भदीपमनुष्याणामन्येषां प्राणिनां तथा ॥
नखाग्रकेशनिष्ठ्यूतं स्नानवस्त्रघटोदकम् ।
एतत्स्पर्शं त्यजेद् दूरं खरश्वाजरजस्तथा ॥ इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे सोमशम्भौ तु—न निन्देत् कारणं देवं न शास्त्रं तेन निर्मितम् ।
न गुरुं साधकञ्चैव लिङ्गच्छायां न लङ्घयेत् ॥
नाद्याल्लङ्घेत्र निर्माल्यं न दद्याच्छिवदीक्षिते ॥ इति ।

षडन्वयमहारात्रेऽपि—न लङ्घयेद् गुरोराज्ञामुत्तरं न वदेत्तथा ।
रात्रौ दिवा च तस्याज्ञां दासवत् परिपालयेत् ॥
असत्यमशुभं तद्वद्बाहुवादं परित्यजेत् ।
अप्रियञ्च तथालस्यं कामक्रोधौ विशेषतः ॥
अप्रच्छन्नमुखो ब्रूयाद् गुरोरग्रे कदापि न ।
अभिमानं न कुर्वीत धनजात्याश्रमादिभिः ॥
गुरुद्रव्यं न भोक्तव्यं तेनाऽदत्तं कदाचन ।
दत्तं प्रसादवद् ग्राह्यं लोभतो न कदाचन ॥
अद्वैतं देवपूजाञ्च गुरोरग्रे परित्यजेत् ।
पादुकायोगपट्टादि गुरुचिह्नानि साधनम् ॥
न लङ्घयेत् स्पृशेन्नैव पादाभ्यां प्रणमेत् सदा ।
पर्यङ्कशयनं तद्वत्तथा पादप्रसारणम् ॥
अङ्गभङ्गञ्च लीलाञ्च न कुर्याद् गुरुसन्निधौ ।
गमनागमने कुर्यात् प्रणम्य गुरुपादुकाम् ॥
विचार्य कार्यं कुर्वीत गुरुकार्यं प्रसादवान् ।
छायां न लङ्घयेत्तद्वन्न गच्छेत् पुरतो गुरोः ॥
पश्चात्पादेन निर्गच्छेत् प्रणम्य च गुरोर्गृहात् ।
गुरोरग्रे न कुर्वीत प्रभावं शिष्यसंग्रहम् ॥
अहङ्कारं न कुर्वीत नोल्वणं धारयेद्वपुः ।
प्रगुरोः सन्निधौ नैव स्वगुरुं प्रणमेद्बुधः ॥
नमस्काराय चोद्युक्तं गुरुर्दृष्ट्वा निवारयेत् । इति ।

तथा—न नियोगं गुरोर्दद्याद् युष्मदा नैव भाषयेत् । इति ॥ ११२-११३ ॥

पुनः गुरु, मन्त्र तथा देवता में एकत्व की भावना करते हुये शिष्य देवतात्मक अपने गुरु को साष्टांग प्रणाम करे ॥ ११२ ॥

गुरु के दोनों चरण कमलों को अपने शिर पर लगावें और अपना शरीर अपना समस्त धन तथा अपना प्राण गुरु को समर्पित करे ॥ ११३ ॥

ततः प्रभृति कुर्वीत गुरोः प्रियमनन्यधीः ।
ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां दत्त्वा समग्रां प्रीतमानसः ॥ ११४ ॥
ब्राह्मणांस्तर्पयेत् पश्चाद् भक्ष्यभोज्यैः सदक्षिणैः ।
एषा क्रियावती दीक्षा प्रोक्ता सर्वसमृद्धिदा ॥ ११५ ॥

गुरोः प्रियं कुर्वीतेत्यनेन गुरुसन्तोषस्य मुख्यत्वमुक्तं भवति । तदुक्तं दशपटल्याम्— शिष्येणापि प्रकर्त्तव्या शुश्रूषा च गुरोः सदा ।
शुश्रूषया विना विद्या न भवेत् सा फलप्रदा ॥
गुरौ तुष्टे शिवस्तुष्टः शिवे तुष्टे जगत्त्रयम् ।
गुरौ रुष्टे महेशानि नाहं त्राता त्वया सह ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरोः कोपं न कारयेत् ॥ इति ।

ऋत्विग्भ्य इति ब्रह्मादिभ्यः । तत्र प्रणीतामार्जनं कृत्वा ब्रह्मणे दक्षिणां दत्त्वा ब्रह्माणमुद्वास्य हुतचरुशेषम् प्राशयेदिति ज्ञेयम् । तदुक्तं संहितायाम्—

प्रणीतामार्जनं कृत्वा दद्याच्च ब्रह्मदक्षिणाम् ।
स्वस्ववित्तानुसारेण लोभमोहविवर्जितः ॥
ततो ब्रह्माणमुद्वास्य ब्राह्मणान् भोजयेदथ ।
आशीर्वचोभिर्विदुषामेधमानः सुखी भवेत् ॥

हुतशेषं ततः प्राश्य कुक्कुटाण्डप्रमाणकम् । मन्त्रितं मन्त्रगायत्र्या । इति ।

अन्यच्च 'त्र्यायुषं यमदग्ने' इति मन्त्रेण भस्म धारयेत् ।

पूर्णपात्रं पूर्यतोयैः सप्तकृत्वोऽभिमन्त्रितैः ।
आत्मानमभिषिञ्चेत्तैः सदूर्वैस्तुलसीदलैः ॥ इति ॥ ११४-११५॥

उसी दिन से वह अनन्य बुद्धि हो गुरु का समस्त प्रिय कार्य करे तथा प्रसन्न मन से समस्त ऋत्विजों को दक्षिणा देवे ॥ ११४ ॥

पुनः भक्ष्य एवं भोज्य पदार्थों का ब्राह्मणों को भोजन करावे और उन्हें दक्षिणा द्वारा संतुष्ट करे । यहाँ तक हमने क्रियावती दीक्षा का वर्णन किया । इस दीक्षा से संपूर्ण समृद्धि प्राप्त होती है ॥ ११५ ॥

वर्णात्मिकादीक्षा

अथ वर्णात्मिकां वक्ष्ये दीक्षामागमवेदिताम् ।
पुंप्रकृत्यात्मका वर्णाः शरीरमपि तादृशम् ॥ ११६ ॥
यतस्तस्मात्तनौ न्यस्येद् वर्णान् शिष्यस्य देशिकः ।
तत्तत्स्थानयुतान् वर्णान् प्रतिलोमेन संहरेत् ॥ ११७ ॥
स्वाज्ञया देवताभावाद् विधिना देशिकोत्तमः ।
तदा विलीनतत्त्वोऽयं शिष्यो दिव्यतनुर्भवेत् ॥ ११८ ॥
परमात्मनि संयोज्य तच्चैतन्यं गुरूत्तमः ।
तस्मादुत्पाद्य तान् वर्णान् न्यस्येच्छिष्यतनौ पुनः ॥ ११९ ॥
सृष्टिक्रमेण विधिवच्चैतन्यञ्च नियोजयेत् ।
जायते देवताभावः परानन्दमयः शिशोः ॥ १२० ॥

क्रमप्राप्तां वर्णात्मिकां दीक्षामाह अथेति । तत्तदिति । देशिकोत्तमः तच्चैतन्यं शिष्यच्चैतन्यं परमात्मनि संयोज्य देवताभावात् स्वस्य देवतात्वात् अतएव आज्ञासिद्धत्वात् । स्वस्याज्ञया विधिना प्रतिलोमेन वर्णस्थानोभयप्रातिलोम्येन तत्तत्स्थानयुतान् वर्णान् संहरेत् । अग्रिमं स्थानं वर्णं पूर्वस्मिन् स्थाने वर्णे च संहरेदित्यर्थः । गुरूत्तम इत्युत्तरेण सम्बध्यते । तस्मात् परमात्मनः । विधिवदिति पूर्वस्मात् स्थानाद् वर्णादग्रिमं स्थानं वर्णञ्च । चैतन्यञ्चेति चकारेण शिष्यतनावित्यनुषज्यते । तदुक्तमाचार्यैः—

अग्नीन्दुयोगविकृता लिपयो हि सृष्टा-
स्ताभिर्विलोमपठिताभिरिदं शरीरम् ।
भूतात्मकं त्वगसृगादियुतं समस्तं
संव्यापयेन्निशितधीर्विधिना यथावत् ॥

अन्त्यावूष्मस्वमून् वादिषु लिपिषु तांस्तांश्चतुर्वर्गवर्णे-
ष्वेतान्नस्यम्पदस्तद्वति तदपि परेषु स्वरेषु क्रमेण ।
संहृत्य स्थानयुक्तं क्षपितसकलदेहो ललाटस्थितान्तः
प्राप्तिव्याप्तद्विसप्ताधिकभुवनतलो यातु मद्भावमेव ॥

मूलाधारात् स्फुरिततडिदाभाप्रभा सूक्ष्मरूपो-
द्गच्छन्त्यामस्तकमणुतरा तेजसां मूलभूता ।
सौषुम्नाध्वा चरणनिपुणा सा सवित्रानुविद्धा
ध्याता सद्योऽमृतमथ रवेः स्रावयेत् सार्द्धसोमात् ॥

शिरसि निपतिता या बिन्दुधारा सुधाया
भवति लिपिमयी सा ताभिरङ्गं मुखाद्यम् ।
विरचयतु समस्तं पातितान्तश्च तेज-
स्यनल इव घृतस्योद्दीपयेदात्मतेजः ॥

संहृत्य चोत्पाद्य शरीरमेवं
तेजोमयं व्याप्तसमस्तलोकम् ।
सङ्कल्प्य शक्त्यात्मकमात्मरूपं
तच्चिन्हमात्मन्यपि सन्दधीत ॥ इति ॥ ११६-१२० ॥

अब **आगम शास्त्र में प्रतिपादित वर्णात्मिका दीक्षा का वर्णन** करता हूँ— सभी वर्ण पुरुष रूप हैं तथा शरीर भी पुरुष रूप है । इसलिये आचार्य पुरुष रूप वर्णों को शिष्य के पुरुष शरीर में न्यास करें । पुनः शिष्यगत चैतन्य को परमात्मा में संयुक्त कर, स्वयं देवस्वरूप हो अपनी आज्ञा से प्रतिलोम क्रम से आगे आगे के स्थान युक्त वर्णों को पूर्व पूर्व स्थान युक्त वर्णों में उपसंहृत करें । इस प्रकार शिष्य के शरीर में वर्णों के विलीन कर देने से उसका शरीर देवमय हो जाता है ॥ ११६-११९ ॥

पुनः उत्तम गुरु उन्हीं वर्णों को शिष्य के शरीर से उद्भूत कर शरीर में सृष्टिक्रम के अनुसार न्यास करें और शिष्यगत् चैतन्य को परमात्मा में संयुक्त करें । ऐसा करने से शिष्य में देवताभाव आता है और वह शुद्ध आनन्द स्वरूप हो जाता है । इस प्रकार हमने वर्ण दीक्षा का विधान कहा जो समस्त ज्ञानों की जननी है ॥ ११९-१२१ ॥

कलावतीदीक्षा

एषा वर्णमयी दीक्षा प्रोक्ता सम्वित्प्रदायिनी ।
ततः कलावती दीक्षा यथावदभिधीयते ॥ १२१ ॥

निवृत्त्याद्याः कलाः पञ्च भूतानां शक्तयो यतः ।
तस्माद् भूतमये देहे ध्यात्वा ता वेधयेच्छिशोः ॥ १२२ ॥
निवृत्तिर्जानुपर्यन्तं तलादारभ्य संस्थिता ।
जानुनोर्नाभिपर्यन्तं प्रतिष्ठा व्याप्य तिष्ठति ॥ १२३ ॥
नाभेः कण्ठावधि व्याप्ता विद्या शान्तिस्ततः परम् ।
कण्ठाल्ललाटपर्यन्तं व्याप्ता तस्माच्छिखावधि ॥ १२४ ॥
शान्त्यतीता कला ज्ञेया कलाव्याप्तिरितीरिता ।
संहारक्रमयोगेन स्थानात् स्थानान्तरे गुरुः ॥ १२५ ॥
संयोज्य वेधयेद् विद्वानाज्ञया ताः शिवा(रो)ऽवधि ।
इयं प्रोक्ता कला दीक्षा दिव्यभावप्रदायिनी ॥ १२६ ॥

कलावतीदीक्षाक्रममाह तत इति । ध्यात्वेत्यत्र यद् ध्यानमुद्दिष्टं तन्निवृत्तिरित्यादि ईरितेत्यन्तेनोक्तम् । तलात् पादतलात् । जानुनोर्नाभेः कण्ठात् तस्माल्ललाटादारभ्येति सम्बन्धः । स्थानात् स्थानान्तरे ताः संयोज्य संहारक्रमयोगेन शिशोर्देहे वेधयेदिति सम्बन्धः । संहारः पूर्ववदेव स्वस्वकारणे । शिवावधि शिवपर्यन्तम् । शिवात् सृष्टिमार्गेणोत्पत्तिरनुक्तापि पूर्ववदेवाऽनुसन्धेया ॥ १२१-१२६ ॥

अब **कलावती दीक्षा का विधान** कहता हूँ—

यतः निवृत्ति आदि पाँच कलायें समस्त भूतों की शक्तियाँ हैं अतः आचार्य उन कलाओं का ध्यान कर शिष्य के पञ्चभूतमय शरीर का भेदन कर उन्हें शरीर में प्रवष्टि करावें ॥ १२१-१२२ ॥

शरीर में पैर के तलवे के आरम्भ से जानुपर्यन्त भाग में निवृत्तिकला स्थित है और जानु से नाभि पर्यन्त भाग में प्रतिष्ठाकला व्याप्त होकर स्थित है ॥१२३॥

नाभि से आरम्भ कर कण्ठावधि पर्यन्त भाग में विद्या कला, उसके बाद कण्ठ से ललाट पर्यन्त भाग में शान्तिकला, तथा ललाट से शिखा पर्यन्त भाग में शान्त्यतीता कला व्याप्त है—ऐसा समझना चाहिए । गुरु इन पाँच कलाओं का वेधन संहार क्रम के अनुसार करे । आज्ञाचक्र से शिवचक्र पर्यन्त एक चक्र को दूसरे चक्र में संयुक्त करें । इसे कला दीक्षा कहते हैं । इस दीक्षा से दिव्यभाव की प्राप्ति होती है ॥ १२४-१२६ ॥

वेधमयीदीक्षा

ततो वेधमयीं वक्ष्ये दीक्षां संसारमोचनीम् ।
ध्यायेच्छिष्यतनोर्मध्ये मूलाधारे चतुर्दले ॥ १२७ ॥
त्रिकोणमध्ये विमले तेजस्त्रयविजृम्भिते ।
वलयत्रयसंयुक्तां तडित्कोटिसमप्रभाम् ॥ १२८ ॥

षट्चक्रभेदवर्णनम्

शिवशक्तिमयीं देवीं चेतनामात्रविग्रहाम् ।
सूक्ष्मां सूक्ष्मतरां शक्तिं भित्वा षट्चक्रमञ्जसा ॥ १२९ ॥
गच्छन्तीं मध्यमार्गेण दिव्यां परशिवावधि ।
वादिसान्तदलस्थार्णान् संहरेत् कमलासने ॥ १३० ॥
तं षट्पत्रमये पद्मे बादिलान्ताक्षरान्विते ।
स्वाधिष्ठाने समायोज्य वेधयेदाज्ञया गुरुः ॥ १३१ ॥
तान् वर्णान् संहरेद् विष्णौ तं पुनर्नाभिपङ्कजे ।
दशपत्रे डादिफान्त-वर्णाढ्ये योजयेद् गुरुः ॥ १३२ ॥
तान् वर्णान् संहरेद् रुद्रे तं पुनर्हृदयाम्बुजे ।
कादिठान्तार्कवर्णाढ्ये योजयित्वेश्वरे गुरुः ॥ १३३ ॥
तान् वर्णान् सहरेदस्मिंस्तं भूयः कण्ठपङ्कजे ।
स्वराढ्यषोडशदले योजयित्वा स्वरान् पुनः ॥ १३४ ॥
सदाशिवे तान् संहृत्य तं पुनर्भ्रूसरोरुहे ।
द्विपत्रे हक्षलसिते योजयित्वा ततो गुरुः ॥ १३५ ॥
तदर्णौ संहरेद् बिन्दौ कलायां तं नियोजयेत् ।
तां नादेऽनन्तर नादं नादान्ते योजयेद् गुरुः ॥ १३६ ॥
तमुन्मन्यां समायोज्य विष्णुवक्त्रान्तरे च ताम् ।
तां पुनर्गुरुवक्त्रे तु योजयेद् देशिकोत्तमः ॥ १३७ ॥

अनया शिष्यस्य दिव्यबोधावाप्तिः

सहैवमात्मना शक्तिं वेधयेत् परमेश्वरे ।
गुर्वाज्ञया छिन्नपाशस्तदा शिष्यः पतेद्भुवि ॥ १३८ ॥
सञ्जातदिव्यबोधोऽसौ सर्वं विन्दति तत्क्षणात् ।
साक्षात् शिवो भवत्येष नात्र कार्या विचारणा ॥ १३९ ॥
एषा वेधमयी दीक्षा सर्वसम्वित्प्रदायिनी ।
क्रमाच्चतुर्विधा दीक्षा तन्त्रेऽस्मिन् सम्यगीरिता ॥ १४० ॥

वेधमयीं दीक्षामाह तत इति । तनोर्मध्ये मूलाधारे त्रिकोणमध्ये व्यधिकरण्यः सप्तम्यः । शिष्यतनोर्मध्ये चतुर्दले मूलाधारे त्रिकोणमध्ये एवम्भूतां शक्तिं ध्यायेदिति सम्बन्धः । कीदृशीं शक्तिं वलयत्रयसंयुक्ताम् । अत्र यद्यपि शक्तेरपरिमितानि वलयानि तथापि वेदत्रयादेः प्रधानतमसृष्टेर्वलयत्रयादुत्पत्तेस्तदुक्तिः । पुनः कीदृशीम् । षट्चक्रं भित्त्वा मध्यमार्गेण सुषुम्नामार्गेण परशिवावधि गच्छन्तीम् । षट्चक्राणि तु मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरकानाहत-विशुद्धाज्ञाख्यानि । कमलासने ब्रह्मणि आधाराधिष्ठातृ-

देवतायाम् । एवं विष्णवादयः स्वाधिष्ठानाद्यधिष्ठातृदेवाः ज्ञेयाः । तं ब्रह्माणम् तान् वर्णान् बादिलान्तान् । तं विष्णुं नाभिपङ्कजे मणिपूरके योजयेत् । ततो वेधयेदित्यनुषङ्गः । तान् वर्णान् डादिफान्तान् । तं रुद्रम् । अर्कपत्राढ्ये द्वादशपत्राढ्ये । हृदयाम्बुजे अनाहते योजयित्वा वेधयेदित्यनुषङ्गः । गुरुस्तान् वर्णान् कादिठान्तान् ईश्वरे संहरेदित्यन्वयः । भूयोऽनन्तरमीश्वरमस्मिन् कण्ठपङ्कजे विशुद्धौ योजयित्वा वेधयेदित्यनुषङ्गः । तान् स्वरान् सदाशिवे संहृत्येत्यन्वयः । तं सदाशिवं भ्रूसरोरुहे आज्ञायां योजयित्वा वेधयेदित्यनुषङ्गः । अग्रे नियोजयेदित्यादेर्वेधयेदित्यर्थः । तदर्णौ हक्षौ । बिन्दौ शिवे । बिन्दुः शिवात्मकः इत्युक्तेः । तं शिवम् । कलादीनि भ्रूमध्यादुपर्युपरि एतानि षट्चक्राणि । अत एव सहस्रारस्य द्वादशान्तता । एवं पूर्वोक्तक्रमेण आत्मना शिष्यजीवात्मना शक्तिं कुण्डलिनीं परमेश्वरे शिवे वेधयेदिति सम्बन्धः । शक्तिं विना वेधस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् । अत एवादौ मूलाधारे शक्तिं ध्यायेदित्युक्तिः । ततश्च स्वाधिष्ठानादावपि शक्त्या एव वेध इति ज्ञेयम् । छिन्नपाशः पाशत्रयविमुक्त इत्यर्थः । यत् प्रयोगसारे—

> पाशस्तु सत्सु चासत्सु कर्मस्वास्था समीरिता ।
> त्रिविधः स तु विज्ञेयः पाशो बन्धैकसाधनः ॥
> प्रथमः सहजः पाशस्तथा चागन्तुकः परः ।
> प्रासंगि (संसर्गि) कस्ततीयः स्यादिति पाशत्रयं स्मृतम् ॥ इति ।

यथा ग्रन्थकृत्परमगुरुसोमानन्दाचार्यकृतवेधेन ग्रन्थकृद्गुरव उत्पलाचार्या शिवात्मानो जाताः । ग्रन्थकृद्गुरुपङ्क्तिस्तु तृतीयश्लोकव्याख्याने दर्शिता । तथा चण्डेश्वराचार्यकृतवेधेन शिवस्वामी शिवात्मा जातः । तथा श्रीकण्ठाचार्या ऊचुः—

> कालज्ञानं तथा कालवञ्चनान्यतनौ तथा ।
> प्रवेशो वेध इत्यादि प्रसन्ने लभ्यते शिवे ॥ इति ।

उपसंहरति क्रमादिति । षडन्वयमहारत्ने इयमाणवी दीक्षा दशविधा इत्युक्तम् ।

> तद्यथा— आणवी बहुधा दीक्षा शाक्तेयी शाम्भवी पुनः ।
> एकधैवेति विद्वद्भिः पठ्यते शास्त्रकोविदैः ॥
> आणवी बहुधेत्युक्ता तद्भेदमधुनोच्यते ।
> स्मार्त्ती मानसिकी यौगी चाक्षुषी स्पार्शनी तथा ॥
> वाचिकी मान्त्रिकी हौत्री शास्त्री चेत्याभिषेचिकी ।
> विदेशस्थं गुरुः स्मृत्वा शिष्यं पाशत्रयं क्रमात् ॥
> विश्लिष्य लयभोगाङ्गविधानेन परे शिवे ।
> सम्यग् योजनरूपैषा स्मार्त्ती दीक्षेति कथ्यते ॥
> स्वसन्निधौ समासीनमालोक्य मनसा शुचिम् ।
> मलत्रयादुपायैर्या मोचिका सा तु मानसी ॥
> योगोक्तक्रमतो योगी शिष्यदेहं प्रविश्य तु ।
> गृहीत्वा तस्य चात्मानं स्वात्मना योजनात्मिका ॥
> योगदीक्षेति सा प्रोक्ता मलत्रयविनाशिनी ।
> शिवोऽहमिति निश्चित्य वीक्षणं करुणार्द्रया ॥

दृशा सा चाक्षुषी दीक्षा सर्वपापप्रणाशिनी ।
स्वयं परशिवो भूत्वा निःसन्दिग्धमना गुरुः ॥
शिवहस्तेन शिष्यस्य समन्त्रं मूर्द्धिन संस्पृशेत् ।
स्पर्शदीक्षेति सा प्रोक्ता शिवाभिव्यक्तिकारिणी ॥

(शिवहस्तलक्षणं सोमशम्भौ—

गन्धैर्मण्डलकं स्वीये विदध्याद् दक्षिणे करे ।
विधिनात्राऽर्चयेद् देवमित्थं स्याच्छिवहस्तकम् ॥ इति ।)
गुरुवक्त्रं निजवक्त्रं विभाव्य गुरुरादरात् ।
गुरुवक्त्रप्रयोगेन दिव्यमन्त्रादिकं शिशौ ॥
मुद्रान्यासादिभिः सार्द्धं दद्यात् सेयं हि वाचिकी ।
दीक्षा परा तथा मन्त्रन्याससंयुक्तविग्रहः ॥
स्वयं मन्त्रतनुर्भूत्वा सक्रमं मन्त्रमादरात् ।
दद्याच्छिष्याय सा दीक्षा मान्त्री मलविघातिनी ॥
कुण्डे वा स्थाण्डिले वापि निक्षिप्याऽग्निं विधानतः ।
लयभोगक्रमेणैव प्रत्यध्वानं यथाक्रमम् ॥
मन्त्रवर्णकलातत्त्वपदविष्टपमेव च ।
शुद्ध्यर्थं होमरूपैषा हौत्री दीक्षा समीरिता ॥
योग्यशिष्याय भक्ताय शुश्रूषार्चापराय च ।
सार्द्धं शास्त्रपदा त्रय्या शास्त्री दीक्षेति सोच्यते ॥
शिवञ्च शिवपत्नीञ्च कुम्भे सम्पूज्य सादरम् ।
शिवकुम्भाभिषेकात् सा दीक्षा स्यादाभिषेचिकी ॥१२७-१४०॥

अब **संसार से मुक्त करने वाली वेधमयी दीक्षा का वर्णन** करता हूँ—आचार्य सर्वप्रथम शिष्य के शरीर के मूलाधार स्थित त्रिकोण के मध्य में जहाँ विमल चतुर्दल कमल है जो सोम, सूर्य तथा अग्निमय तीनों तेजों से खिला हुआ है वहाँ कुण्डलिनी का ध्यान करें। वह कुण्डलिनी तीन वलय से युक्त है, उसका प्रकाश करोड़ों विद्युत्प्रभा के समान है। उसका शरीर चैतन्य से युक्त है वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, इस प्रकार शिव शक्तिमयी कुण्डलिनी देवी का ध्यान करना चाहिए ॥ १२७-१२९ ॥

वह अनायास षट्चक्रों (मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा) का भेदन कर सुषुम्नारूप मध्य मार्ग के द्वारा परशिव पर्यन्त जाती है, ऐसी दिव्य कुण्डलिनी देवी का ध्यान करें ॥ १२९-१३० ॥

तदनन्तर उस **मूलाधार** स्थित व र ल श ष स इन अक्षरों वाले षड्दल कमल को ब्रह्म में उपसंहार कर, ब भ म य र ल रूप षट् पत्रमय कमल रूप **स्वाधिष्ठान चक्र** में उसे युक्त कर विष्णु में उपसंहृत करे। पुनः उन वर्णों को भी वहाँ से उठाकर नाभि चक्र स्थित ड ढ ण त थ द ध न प फ रूप दशपत्र कमल वाले **मणिपूर चक्र** में संयुक्त करे ॥ १३०-१३२ ॥

पुनः उन वर्णों का रुद्र में उपसंहार कर हृदय स्थित क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ ट ठ रूप द्वादशपत्रात्मक कमल वाले **आज्ञा चक्र** में स्थापित कर ईश्वर में गुरु उपसंहृत करे ॥ १३३ ॥

पुनः उन वर्णों को वहाँ से ऊपर उठाकर कण्ठ स्थित षोडश स्वरात्मक रूप षोडश पत्र कमल वाले **विशुद्ध चक्र** में स्थापित कर सदाशिव में उनका उपसंहार करे ॥ १३४-१३५ ॥

पुनः उन वर्णों को भी वहाँ से ऊपर उठाकर भ्रूमध्य स्थित ह क्ष वर्ण वाले द्विपत्रात्मक कमल वाले **आज्ञाचक्र** में स्थापित कर बिन्दु में उसे कला से संयुक्त करे। पुनः उसे नाद में एवं नाद को पुनः नाद में तथा उन्हें भी नादान्त में संयुक्त करे। पुनः उसे उन्मनी में संयुक्त कर विष्णु के मुख में, पुनः उसे भी गुरु के मुख में आचार्य संयुक्त करें ॥ १३५-१३७ ॥

इस प्रकार शिष्य की जीवात्मा को कुण्डलिनी शक्ति द्वारा भेदन कर उसे परमात्मा में स्थापित करे। ऐसा करने से शिष्य पाश से मुक्त हो पृथ्वी पर गिर कर गुरु को प्रणाम करे ॥ १३८ ॥

विमर्श—पाशत्रय निम्न हैं—१. सहज प्राप्त भोग, २. आगन्तुक भोग और ३. संसर्ग जन्य भोग। ये तीनों पाश बन्धन करने वाले हैं जैसा कि कहा है—

पाशस्तु सत्सु चासत्सु कर्मस्वास्था समीरित।
त्रिविधः स तु विज्ञेयः पाशो बन्धैकसाधनः ॥
प्रथमः सहजः पाशस्तथा चागन्तुकः परः।
प्रासंगि(संसर्गि)कस्तृतीयः स्यादिति पाशत्रयं स्मृतम् ॥

इस प्रकार दीक्षा का प्रयोजन पाशत्रय से मुक्ति है। इनका विधि-विधान अन्य ग्रन्थों से लेकर विस्तृत विवेचन पदार्थादर्श में भी किया गया है। इसे इसी ग्रन्थ की भूमिका में देखना चाहिए ॥ १३८ ॥

वेध के होने से शिष्य में सर्वज्ञता आ जाती है और वह सब कुछ जानने लगता है, वह शिव स्वरूप हो जाता है, इसमें संदेह नहीं ॥ १३९ ॥

यहाँ तक हमने वेधमयी दीक्षा का वर्णन किया। यह वेधमयी दीक्षा संपूर्ण ज्ञान को देने वाली है। इस प्रकार यहाँ तक इस तन्त्र में क्रमशः चार प्रकार की दीक्षा का वर्णन सम्यक् रूप से किया गया है ॥ १४० ॥

होमद्रव्यमानम्

अथाऽत्र होमद्रव्याणां प्रमाणमभिधीयते।
कर्षमात्रं घृतं होमे शुक्तिमात्रं पयः स्मृतम् ॥ १४१ ॥
उक्तानि पञ्च गव्यानि तत्समानि मनीषिभिः।
तत्समं मधु-दुग्धान्नमक्षमात्रमुदाहृतम् ॥ १४२ ॥

दधि प्रसृतिमात्रं स्याल्लाजाः स्युर्मुष्टिसम्मिताः ।
पृथुकास्तत्प्रमाणाः स्युः शक्त्वोऽपि तथोदिताः॥ १४३ ॥
गुडं पलार्द्धमानं स्याच्छर्कराऽपि तथा मता ।
ग्रासार्द्धं चरुमानं स्यादिक्षुः पर्वावधिर्मतः ॥ १४४ ॥
एकैकं पत्रपुष्पाणि तथाऽपूपानि कल्पयेत् ।
कदलीफलनारङ्गफलान्येकैकशो विदुः ॥ १४५ ॥
मातुलुङ्गं चतुःखण्डं पनसं दशधा कृतम् ।
अष्टधा नारिकेलानि खण्डितानि विदुर्बुधाः ॥ १४६ ॥
त्रिधा कृतं फलं बिल्वं कपित्थं खण्डितं त्रिधा ।
उर्वारुकफलं होमे चोदितं खण्डितं त्रिधा ॥ १४७ ॥
फलान्यन्यानि खण्डानि समिधः स्युर्दशाङ्गुलाः ।
दूर्वात्रयं समुद्दिष्टं गुडूची चतुरङ्गुला ॥ १४८ ॥
व्रीहयो मुष्टिमात्राः स्युर्मुद्गमाषा यवा अपि ।
तण्डुलाः स्युस्तदर्द्धांशाः कोद्रवा मुष्टिसम्मिताः ॥ १४९ ॥
गोधूमरक्तकलमा विहिता मुष्टिमानतः ।
तिलाश्चुलुकमात्राः स्युः सर्षपास्तत्प्रमाणकाः ॥ १५० ॥
शुक्तिप्रमाणं लवणं मरीचान्येकविंशतिः ।
पुरं वदरमानं स्याद्रामठं तत्समं स्मृतम् ॥ १५१ ॥
चन्दनागुरुकर्पूर-कस्तूरी-कुङ्कुमानि च ।
तिन्तिडीबीजमानानि समुद्दिष्टानि देशिकैः॥ १५२ ॥

कर्षमात्रमिति । कर्षलक्षणं प्रागुक्तम् । तैलस्याप्येतदेव प्रमाणमिति ज्ञेयम् । शुक्तिमात्रमिति । कर्षद्वयं शुक्तिः । अक्षमात्रं कर्षमात्रम् । प्रसृतिमात्रं पलद्वयमात्रम् । मुष्टिसम्मिताः पलसम्मिताः । पृथुकाश्चिपिटकाः । पलार्द्धमानं कर्षद्वयम् । ग्रासार्द्धं अशीतिरक्तिकामानम् । तदुक्तम्—

गुञ्जाभिर्दशभिर्माषः शाणो माषचतुष्टयम् ।
द्वौ शाणौ घटकः कालो बदरं द्रक्षणश्च यः ॥
तौ द्वौ पाणितलं कर्षः सुवर्णं कवलग्रहः ।
पिचुर्विडालपदकं तिन्दुकोऽक्षश्च तद्द्वयम् ॥
शुक्तिरष्टमिका ते द्वे पलं बिल्वं चतुर्थिका ।
मुष्टिराम्रं प्रकुञ्चोऽथ द्वे पले प्रसृतिस्तथा । इति ।

मातुलुङ्गं बीजपूरम् । उर्वारुकं कर्कटी । समिध इति । तत्र विशेषः—

विशीर्णा द्विदला ह्रस्वा वक्रा स्थूला कृशा द्विधा ।
कृमिदष्टाश्च दीर्घाश्च निस्त्वचः परिवर्जिताः ॥

विशीर्णाऽऽयुःक्षयं कुर्याद् द्विदला व्याधिसम्भवम् ।
ह्रस्वायां मृत्युमाप्नोति वक्रा विघ्नकरी तथा ॥
स्थूलाभिर्हरते लक्ष्मीं कृशायां याजकक्षयः ।
द्विधायां नेत्ररोगाः स्युः कीटदष्टाऽर्थनाशिनी ॥
द्वेषं प्रकुर्वते दीर्घा प्राणघ्न्यो निस्त्वचः स्मृताः ।
सक्षीरा नाधिकान्यूनाः समिधः सर्वकामदाः ।
आर्द्रत्वचं समच्छेदां तर्जन्यङ्गुलिवर्त्तुलाम् ॥
ईदृशीं होमयेत् प्राज्ञः प्राप्नोति विपुलां श्रियम् ।
श्रौते स्मार्त्ते च तन्त्रोक्ते समिधः परिकीर्त्तिताः ॥ इति ।

विशेषान्तरं प्रयोगसारे—

श्लेष्मातकपिशाचतरुं त्यक्त्वाऽन्येभ्यः समाहरेत् समिधः । इति ।

मुष्टिमात्राः पलसमिताः। तदर्द्धांशाः कर्षद्वयमिताः । चुलुकमात्राः कर्षमात्राः । पाणितलशब्देन चुलुकग्रहणात् । शुक्तिः कर्षद्वयम् । पुरं गुग्गुलुः । बदरमानमशीतिगुञ्जामितम् । रामठं हिङ्गुः । शैवागमे तु—

खण्डत्रयन्तु मूलानां सूक्ष्माणि पञ्च होमयेत् ।
कन्दानामष्टमं भागं लतानामङ्गुलद्वयम् ॥ इति ॥१४१-१५२॥

अब हम दीक्षा में किये जाने वाले होम द्रव्यों का प्रमाण वर्णन करते हैं—होम में कर्षमात्र घृत तथा शक्तिप्रमाण (दो कर्ष) दूध होना चाहिए ॥ १४१ ॥

मनीषियों ने पञ्चगव्य का भी उतना ही प्रमाण (दो कर्ष) कहा है, मधु, दुग्ध एवं चावल की भी मात्रा कर्ष प्रमाण में होनी चाहिए ॥ १४२ ॥

दही प्रसृति (दो पल) मात्र लावा मुष्टि (एक पल) मात्र, चिउड़ी तथा सत्तू भी उतने ही प्रमाण में होने चाहिए ॥ १४३ ॥

दो कर्ष गुड़ की मात्रा, शर्करा भी उतने ही प्रमाण में, आधा ग्रास (अस्सी रत्ती) चरु, एक पर्व मात्र उख होम द्रव्य में कहे गये हैं ॥ १४४ ॥

एक पुष्प, एक पत्र तथा एक अपूप (पूआ), एक कदलीफल (केला), तथा नारंगी भी एक एक की ही संख्या में कही गई हैं ॥ १४५ ॥

मातुलिङ्ग (बिजौरा-नीबू) के चार टुकड़े, पनस (कटहल) के दश टुकड़े एवं नारिकेल के आठ टुकड़े बुद्धिमानों ने हवन द्रव्य के लिये प्रशस्त कहे हैं ॥१४६॥

एक बिल्व के तीन टुकड़े, कपित्थ को फोड़कर उसे भी तीन टुकड़े के रूप में और कर्कटी भी फोड़ कर उसे तीन भाग में विभक्त कर होम में ग्रहण करना चाहिए ॥ १४७ ॥

इसी प्रकार अन्यान्य फलों के तीन टुकड़े तथा दश अङ्गुल की समिधा एवं तीन अङ्गुल की दूर्वा तथा गुडूची चार अङ्गुल की होम में ग्राह्य मानी गई हैं ॥ १४८ ॥

एक मुट्ठी व्रीहि (धान्य) एक एक मुट्ठी मूँग, माष (उड़द) और यव तथा उसका आधा चावल, एवं एक मुट्टी कोदों का चावल होम में प्रमाण रूप से ग्रहण करना चाहिए ॥ १४९ ॥

गेहूँ तथा रक्त कमल की मात्रा एक मुट्ठी होनी चाहिए । तिल और सर्षप की मात्रा एक एक पसर होनी चाहिए ॥ १५० ॥

लवण की मात्रा शुक्ति (दो कर्ष) मात्र तथा २१ मरीच, गुगुल, अगरू (अस्सी रत्ती) मात्र, तथा रामठ (हींग) भी उतनी ही मात्रा में ग्राह्य है ॥ १५१ ॥

चन्दन, अगुरु, कपूर, कस्तूरी, कुंकुम तथा इमली का बीज भी उतनी ही मात्रा में आचार्यों ने कहा है ॥ १५२ ॥

होमभेदे अग्नेर्ध्यानभेदः

वैश्वानरं स्थितं ध्यायेत् समिद्धोमेषु देशिकः।
शयानमाज्यहोमेषु निषण्णं शेषवस्तुषु ॥ १५३ ॥

अग्नेरास्यादि

आस्यान्तर्जुहुयादग्नेर्विपश्चित् सर्वकर्मसु ।
सधूमोऽग्निः शिरो ज्ञेयं निर्धूमश्चक्षुरेव हि ॥ १५४ ॥
ज्वलत्कृष्णो भवेत् कर्णः काष्ठमग्नेर्नसस्तथा ।
प्रज्वलोऽग्निस्तथा जिह्वा एतदेवाऽग्निलक्षणम्॥ १५५ ॥

अङ्गभेदे होमफलभेदः

कर्णहोमे भवेद् व्याधिर्नेत्रेऽन्धत्वमुदीरितम् ।
नासिकायां मनःपीडा मस्तके धनसंक्षयः॥ १५६ ॥

स्थितमुत्थितम् । आस्यान्तरिति । आस्यादीनां लक्षणमुक्तमन्यत्र—

सधूमोऽग्निः शिरो ज्ञेयो निर्धूमश्चक्षुरेव च ।
ज्वलत्कृशो भवेत् कर्णः काष्ठमग्नेश्च नासिका ॥
अग्निर्लालायते यत्र शुद्धस्फटिकसन्निभः ।
तन्मुखं तत्र विज्ञेयं चतुरङ्गुलमानतः ॥ इति ।

गुरुप्रोक्ते वनदुर्गाकल्पे तु—सर्वकार्यप्रसिद्ध्यर्थे जिह्वायां तत्र होमयेत् ।
चक्षुः कर्णादिकं ज्ञात्वा होमयेद् देशिकोत्तमः ॥
अग्निकर्णे हुतं यत्तु कुर्याच्चेद् व्याधितो भयम् ।
नासिकायां महद्दुःखं चक्षुषोर्नाशनं भवेत् ॥
केशे दारिद्र्यदं प्रोक्तं तस्माज्जिह्वासु होमयेत् ।
यत्र काष्ठं तत्र श्रोत्रे यत्र धूमस्तु नासिके ॥
यत्राऽल्पज्वलनं नेत्रे यत्र भस्म तु तच्छिरः ।
यत्रैव ज्वलितो वह्निस्तत्र जिह्वा प्रकीर्त्तिता ॥ इति ।

विपश्चिदित्यनेनैतदुक्तम् । शत्रुनाशकहोमे एतदङ्गेषु हवनात् तत्तदङ्गक्षयो भवति ।
यदाहुः— वह्नेः शिरसि नासायां श्रोत्रे चक्षुषि वा तथा ।
जुहुयाच्चेत् तदा क्षिप्रं तदङ्गानि विनाशयेत् ॥ इति ॥ १५३-१५६ ॥

जब समिधा का होम करना हो तो आचार्य अग्नि को खड़े रूप में ध्यान करें । घी का होम करना हो तो सोये रूप में तथा शेष वस्तुओं के होम में उन्हे बैठे हुये रूप में ध्यान करें और विद्वान् साधक को अग्नि के मुख में आहुति डालना चाहिए ॥ १५३ ॥

धूमयुक्त अग्नि, की शिर संज्ञा है, धूम रहित अग्नि की चक्षु संज्ञा है, जलती कालिमा युक्त अग्नि की कर्ण संज्ञा है और केवल काठ ही दिखाई पडें तो उसे नासा (=नासिका) कहते हैं ॥ १५४ ॥

अच्छी प्रकार से जलने वाली अग्नि, जिह्वा कही जाती है, यही अग्नि के लक्षण हैं । विद्वान् को चाहिए कि सभी कार्यों में अग्नि की जिह्वा (जब प्रकृष्ट रूप से अग्नि जल रही हो) में होम करें ॥ १५५ ॥

क्योंकि कर्णस्थान में होम करने से व्याधि, नेत्र स्थान में होम करने से अन्धता, नासिका स्थान में मानसिक पीड़ा तथा मस्तक में होम करने से धन का संक्षय होता है अतः प्रज्वलित अग्नि में होम करे ॥ १५६ ॥

विमर्श—यदि शत्रुनाश के लिए होम हो तो इन अंगों में होम करने से उसके वे भंग हो जाते हैं ॥ १५६ ॥

वर्णभेदेन होमफलभेदः

स्वर्णसिन्दूरबालार्क कुङ्कुमक्षौद्रसन्निभः ।
सुवर्णरेतसो वर्णः शोभनः परिकीर्तितः ॥ १५७ ॥

क्षौद्रं मधु । स्वर्णकुङ्कुमक्षौद्रसन्निभो वर्णः शोभन इति । आकृष्टाविति ज्ञेयम् । यदाहुः श्रीमतङ्गपारमेश्वरे—

दिव्यानामप्यदिव्यानामाकृष्टाविष्यते सदा ।
ध्मातचामीकरप्रख्यो हरितालनिभश्च यः ॥
हरिद्राकुनटीवर्णो रोचनाभश्च शस्यते ॥ इति ।

सिन्दूरबालार्क इति जयार्थ इति ज्ञेयम् ।

पद्मरागद्युतिः श्रेष्ठो लाक्षारससमोऽपि वा ।
बालार्कवर्णो हुतभुग् जयार्थं शस्यते बुधैः ॥

इति तत्रोक्तेः । अन्यकर्मणि तु तत्रैव—

इन्द्रगोपकसङ्काशः शोणिताभोऽथ पावकः ।
शक्रचापनिभः शस्तः कुङ्कुमाम्बुनिभस्तथा ॥
रक्तानां पुष्पजातीनां तुल्यो वर्णः प्रशस्यते ॥ इति ॥ १५७ ॥

सुवर्ण, सिन्दूर, उदित सूर्य के समान लाल, कुंकुम तथा क्षौद्र—ये हूयमान अग्नि के वर्ण कहे गये हैं । इनमें अग्नि का सुवर्ण वर्ण प्रशस्त है क्योंकि अग्नि सुवर्णरेता कहे गए हैं ॥ १५७ ॥

ध्वनिभेदेन होमफलभेदः

भेरीवारिदहस्तीन्द्रध्वनिर्वह्नेः शुभावहः ।

गन्धभेदेन होमफलभेदः

नागचम्पकपुन्नागपाटलायूथिकानिभः ॥ १५८ ॥
पद्मेन्दीवरकह्लारसर्पिर्गुग्गुलुसन्निभः ।
पावकस्य शुभो गन्ध इत्युक्तं तन्त्रवेदिभिः ॥ १५९ ॥

भेरीत्याद्युपलक्षणम् ।

जीमूतवल्लकीशङ्खमृदङ्गध्वनितुल्यकः ।
शब्दोऽग्नेः सिद्धये होतुरतोऽन्यो सिद्धिदः स्मृतः ॥ इति ।

नागेत्याद्युपलक्षकम् । 'सुगन्धद्रव्यगन्धोऽग्निर्घृतगन्धश्च शोभनः' इत्युक्तेः । पद्मगन्ध आयुषे इन्दीवरादिगन्धः सौभाग्ये ।

तदुक्तम्— नीलोत्पलसमो गन्धः सौभाग्ये शस्यतेऽञ्जसा ।
आयुषे पद्मगन्धः स्याद् बिल्वगन्धश्च सुव्रते ॥ इति ।

विशेषोऽपि—उग्रगन्धोऽभिचारेऽत्र प्रशस्तः सर्वदाऽनलः इति ॥ १५८-१५९ ॥

भेरी, बादल और हाथी के समान शब्द करने वाली अग्नि प्रशस्त कही गई है । नाग, चम्पक, पुन्नाग, पाटला (गुलाब) यूथिका, कमल, इन्दीवर, कह्लार, घी, और गुग्गुल के समान यदि अग्नि की गन्ध हो तो वह शुभकारक है ऐसा तन्त्रज्ञों का कहना है ॥ १५८-१५९ ॥

प्रदक्षिणास्त्यक्तकम्पाश्छत्राभाः शिखिनः शिखाः ।
शुभदा यजमानस्य राज्यस्यापि विशेषतः ॥ १६० ॥

धूमवर्णभेदेन होमफलभेदः

कुन्देन्दुधवलो धूमो वह्नेः प्रोक्तः शुभावहः ।
कृष्णः कृष्णगतेर्वर्णो यजमानं विनाशयेत् ॥ १६१ ॥
श्वेतो राष्ट्रं निहन्त्याशु वायसस्वरसन्निभः ।
खरस्वरसमो वह्नेः ध्वनिः सर्वविनाशकृत् ॥ १६२ ॥

छत्राभा इत्युपलक्षणम् । 'छत्राकारभुजः श्रेष्ठो ध्वजचामरसन्निभः' इत्युक्तेः कृष्णो यजमानं श्वेतो राष्ट्रं निहन्तीति । यत्र कर्मणि रक्तपीतादिवर्णो विहितस्तत्रेति ज्ञेयम् । न तु सामान्यतः ।

यदाहुः— ज्ञात्वा कर्मानुरूपां तां तस्य तस्याऽनुकूलताम् ।
कर्मणः सततं ग्राह्यस्त्याज्यो वा तद्विलोमतः ॥ इति ।

विशेषस्तत्रैव—मारणोच्चाटनोत्सादकर्मण्यस्मिन् सुशोभनः ।
कृष्णानां पुष्पजातीनां वर्णो वह्नेरिहेष्यते ॥
शङ्खस्फटिककुन्देन्दुवर्णेभ्योऽपि सितः शुभः ।
शान्तिके पौष्टिके वापि विहितः सर्वदाऽनलः ॥ इति ।

त्याज्यं कृष्णत्वमपि तेनैवोक्तम्—

षट्पदाञ्जननिस्त्रिंशतुल्यो वर्णो न सिद्धिदः । इति ।

अन्योऽपि विशेषः—मार्जाराक्षिनिभोऽग्राह्यः शुकपिच्छाभ एव च ।
मयूरकण्ठसदृशश्चित्रपारावतप्रभः ॥ इति ॥ १६०-१६२ ॥

कम्पन रहित छत्राकार अग्नि की ज्वाला दाहिनी ओर जाती हो तो यजमान के लिये शुभप्रद हैं, राज्य के लिये तो विशेष रूप से शुभकारक है । अग्नि का कुन्द तथा इन्दु (=लाल) के समान स्वच्छ वर्ण का धूम शुभप्रद है, यदि अग्नि की ज्वाला काली दिखाई पड़े तो उससे यजमान का विनाश होता है ॥ १६०-१६१ ॥

श्वेत अग्नि का काक के समान कर्कश स्वर राष्ट्र का विनाश करता है और गदहे के समान अग्नि का शब्द सब कुछ विनष्ट कर देता है ॥ १६२ ॥

पूतिगन्धो हुतभुजो होतुर्दुःखप्रदो भवेत् ।
छिन्नावर्त्ता शिखा कुर्यान्मृत्युं धनपरिक्षयम् ॥ १६३ ॥
शुकपक्षनिभो धूमः पारावतसमप्रभः ।
हानिं तुरगजातीनां गवाञ्च कुरुतेऽचिरात् ॥ १६४ ॥
एवंविधेषु दोषेषु प्रायश्चित्ताय देशिकः ।
मूलेनाज्येन जुहुयात् पञ्चविंशतिमाहुतीः ॥ १६५ ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचिते शारदातिलके
पञ्चमः पटलः समाप्तः ॥ ५ ॥

पूतिगन्धो दुर्गन्धः । मृत्युमित्यादि यथाक्रमम् । एवंविध इत्यनेनैतदुक्तं भवति ।

वृषकुञ्जरयानेन तुल्योऽग्निः पुष्टिदः सदा ।
विमानानां वितानानां प्रासादानाञ्च यो भवेत् ॥
आकारेणाऽथ हंसानां मयूराणाञ्च शस्यते ।
सिंहाकृतिः सदा वह्निः सद्यः सिद्धिकरः स्मृतः ॥
शेषाणां दंष्ट्रिणां रूपं न शस्तं होमकर्मणि ।
खरोष्ट्रमहिषादीनां रूपमत्र न सिद्धये ॥
स्निग्धः प्रदक्षिणावर्त्तः सुशब्दश्चापि यो भवेत् ।
वेद्यः सोऽर्थप्रसिद्ध्यर्थमन्यथा विघ्नकारकः ॥
रूक्षश्चटचटाशब्द अपसव्यगतिः सदा ।
उल्लिखेद् वसुधां यश्च यश्चधः शिख एव च ।
नेष्यतेऽसौ मुनिश्रेष्ठ शास्त्रेऽस्मिन् परमेश्वरे ॥ इति ।

पञ्चविंशतिमिति । दोषद्वयदर्शने दोषत्रयदर्शने वा प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकमावर्त्तते इति न्यायात् तावत्कृत्वः पञ्चविंशतिराहुतयो होतव्या इति ॥ १६३-१६५ ॥

॥ इति श्रीराघवभट्टविरचित-शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां पञ्चमः पटलः ॥ ५ ॥

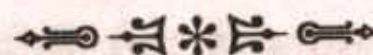


अग्नि का दुर्गन्ध युक्त गन्ध होता को दुःख देता है । अग्नि की शिखा (ज्वाला) जब छिन्न भिन्न दिखाई पड़े तो यजमान की मृत्यु तथा धन को नष्ट करने वाली होती है ॥ १६३ ॥

होमकाल में सुग्गे के पंख के समान अग्नि के धूएँ का वर्ण घोड़े की जाति का विनाश करता है और कश्तर के समान प्रभावाली अग्नि गायों का अल्प काल में विनाश करती है ॥ १६४ ॥

उपर्युक्त प्रकार के दोष युक्त अग्नि के दिखाई पड़ने पर आचार्य मूलमन्त्र पढ़कर पच्चीस आहुति और प्रदान कर प्रायश्चित करें ॥ १६५ ॥

॥ इस प्रकार शारदातिलक के पञ्चम पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ५ ॥



अथ षष्ठः पटलः

अथ मातृकाप्रकरणम्

अथ वर्णतनुं वक्ष्ये विश्वबोधविधायिनीम् ।
यस्यामनुपलब्धायां सर्वमेतज्जगज्जडम् ॥ १ ॥

दीक्षाकथनानन्तरं मन्त्रा वक्तव्या अतस्तेषां प्रकृतिभूतां मातृकां वक्तुं प्रतिजानीते अथेति । वर्णतनुं मातृकाम् । विश्वेषां सर्वेषां बोधानां ज्ञानशक्ति प्रसरात्मकानां तदुत्पादकानां वैखरीमध्यमापश्यन्तीपरारूपाणां विधायिनी उन्मीलिनी शक्तिस्तामित्यर्थः ॥ १ ॥

ग्रन्थकार दीक्षा के अनन्तर मन्त्र कहने के उपक्रम में मन्त्र की प्रकृतिभूता मातृकाओं का प्रतिपादन करते हैं—

समस्त जगत् की ज्ञानशक्ति उत्पन्न करने वाली (वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा स्वरूपा) मातृका का वर्णन करता हूँ । उन मातृपश्यन्ती तथा परा स्वरूपा मातृका का वर्णन करता हूँ जिन मातृकाओं के अभाव में यह सारा जगत् जड़ जैसा प्रतीत होता है ॥ १ ॥

ऋषिर्ब्रह्मा समुद्दिष्टो गायत्री छन्द ईरितम् ।
सरस्वती समाख्याता देवता देशिकोत्तमैः ॥ २ ॥

समुद्दिष्ट इत्यनेन विधिपदयोगः । ईरितमित्यनेन देवीपदयोगः । समाख्याते-त्यनेन मातृकापदयोगः । पद्मपादाचार्यसम्मतमेतत् । देशिकोत्तमैरित्यनेन बीजशक्ती अपि वक्तव्ये इति सूचितम् । तत्र केचित् हलो बीजानि स्वराः शक्तयः ।

तदुक्तं दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

हलो बीजानि शक्तयः स्वराश्च परमेशानि । इति ।

एतएव बीजशक्ती प्रपञ्चयागव्यतिरिक्तभूतलिप्यन्तसर्वमातृकामन्त्राणामिति ज्ञेयम् । अन्यत्रान्ये बीजशक्ती उक्ते । यदाहुः—

अकारं बिन्दुसहितं बीजमस्य प्रकीर्त्तितम् ।
द्विबिन्दुसहितोऽकारः शक्तिरित्यभिधीयते ॥ इति ।

विनियोगस्तु मातृकामन्त्रजपकाले जपे विनियोग इति । अन्यत्र मन्त्राङ्गत्वेन् न्यासेऽनुष्ठीयमानामुकमन्त्राङ्गत्वेन न्यासे विनियोग इति ज्ञेयम् ॥ २ ॥

इन मातृकाओं के ब्रह्मा ऋषि हैं, इनका छन्द गायत्री हैं, (तन्त्र के) आचार्यों ने इनका देवता सरस्वती को कहा है ॥ २ ॥

अक्लीवह्रस्वदीर्घान्तर्गतैः षड्वर्गकैः क्रमात् ।
षडङ्गानि विधेयानि जातियुक्तानि देशिकैः ॥ ३ ॥

अक्लीबेति । क्लीबा नपुंसकाः ऋ ॠ ऌ ॡ तद्रहिताः अक्लीबा ये ह्रस्वदीर्घाः अ इ उ ए ओ अं एते ह्रस्वाः परे षट् दीर्घाः तदन्तर्गतैस्तन्मध्यस्थैः । षट् च ते वर्गाश्च काश्च ते । बहुवचनमाद्यर्थम् । कादयः क च ट त प यास्तैः, क्रमाद्धृदयादि । जातियुक्तानि हृदयाय नम इत्यादियुक्तानि । प्रयोगस्तु—

अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः इत्यादि । देशिकैरित्यनेनैतदुक्तं भवति । अत्र नपुंसकचतुष्टयेन करशुद्धिं विधाय 'अङ्गुष्ठादिष्वङ्गुलीषु न्यसेदङ्गैः सजातिभिः' इत्युक्तेः अं कं खं गं घं ङं आं अङ्गुष्ठाभ्यां नम इत्यादि करतलकरपृष्ठान्तं षडङ्गानि विन्यस्य ततो दक्षवामकरतलयोः तत्पृष्ठयोः करयोः दक्षिणकनिष्ठादिवामाङ्गुष्ठान्तमङ्गुलीषु षोडश स्वरान् विन्यस्य वामतर्जनीमारभ्य दक्षिणतर्जन्यन्तमेकैकस्यां पर्वस्वग्रे चतुरश्चतुरो वर्णान् इति क्रमेण कादिसान्तान् विन्यस्य अङ्गुष्ठयोः हलौ सर्वाङ्गेषु क्षकारं न्यसेदिति करस्य मातृकान्यासो ज्ञेयः । एवं सर्वत्र बोद्धव्यम् ।

यत् प्रयोगसारे—तलतत्पृष्ठतद्व्याप्त्या षडादौ विन्यसेत्ततः ।
कनिष्ठाङ्गुलिमारभ्य दक्षिणास्वङ्गुलीषु च ॥
वामाङ्गुष्ठान्तकं न्यस्य ततश्च व्यञ्जनान्यपि ।
वामतर्जनीमारभ्य चतुष्टयचतुष्टयम् ॥
यथाङ्गुलिक्रमेणैव यावद्दक्षिणतर्जनीम् ।
न्यसेदङ्गुष्ठयोः शेषे करन्यासः समीरितः ॥ इति ॥ ३ ॥

क्लीव (ऋ ॠ ऌ ॡ) इन वर्णों के अतिरिक्त छः ह्रस्व (अ इ उ ए ओ अं) वर्ण तथा छः दीर्घवर्ण (आ ई ऊ ऐ औ अः) तथा छः वर्ग (क च ट त प य इन्हें मिला देने पर मातृकाओं के षडङ्ग हो जाते हैं । अतः इनके जाति वाले स्थानों के साथ न्यास करना चाहिए ।

प्रयोग विधि—अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः । इं चं छं जं झं ञं ईं शिरसे स्वाहा । इत्यादि ॥ ३ ॥

वाग्देवताध्यानम्

पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोःपन्मध्यवक्षःस्थलां
भास्वन्मौलिनिबद्धचन्द्रशकलामापीनतुङ्गस्तनीम् ।
मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्याञ्च हस्ताम्बुजै-
र्विभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये ॥ ४ ॥

पञ्चाशदिति । विभक्तत्वं वक्ष्यमाणन्यासस्थानकथनेनैव स्फुटीभविष्यति । मुद्रा ज्ञानमुद्रा अङ्गुष्ठतर्जनीयोगरूपा पार्श्वाभिमुखी । यदाहुः—

शिलष्टाग्रेऽङ्गुष्ठतर्जन्यौ प्रसार्याऽन्याः प्रयोजयेत् ।
पार्श्वस्याभिमुखी सेयं ज्ञानमुद्रा प्रकीर्त्तिता ॥ इति ।

विद्यां पुस्तकं तन्मुद्रेत्यर्थः ।

वाममुष्टिः स्वाभिमुखी बद्धा पुस्तकमुद्रिका ॥ इति ।

विशदप्रभां शुभ्रवर्णाम् । इदं वस्त्राङ्गरागमाल्यानामुपलक्षकम् । एवमग्रेऽपि सर्वत्र वर्णवाचकेषु द्रष्टव्यम् । ऊर्द्धादि आद्ये दक्षिणे परे वामे इत्यायुधध्यानम् । अत्र ध्यानानन्तरमायुधमुद्राः प्रदर्शयेत् । एवमग्रेऽपि सरस्वतीमन्त्रान्तं ज्ञेयम् । प्रत्यक्षरध्यानं तन्त्रान्तरोक्तं यथा—

(अ) चामीकरनिभः शूलगदाराजद्भुजाष्टकः ।
चतुरास्योऽतिकायः स्यादकारः कूर्मवाहनः ॥
(आ) पाशाङ्कुशकरा श्वेता पद्मसंस्थेभवाहना ।
षष्ट्यूर्द्ध्वयोजनमिता स्यादा मौक्तिकभूषणा ॥
(इ) पीतं कराब्जकुलिशपरशुं वैरिनाशनम् ।
द्व्येकयोजनमानं स्यादिकारं कच्छपस्थितम् ॥
(ई) दशयोजनदीर्घार्द्धनाहाऽसौ हंसवाहना ।
ईः स्यात् पुष्टिप्रदा श्वेता मौक्तिकाढ्या सितानना ॥
(उ,ऊ) गदाङ्कुशकरं काकवाहनं कृष्णभूषणम् ।
योजनद्विसहस्राणां मानमुद्वयमक्षरम् ॥
(ऋ,ॠ) पाशशक्तिभुजं रक्तं वह्निबिम्बस्थितोष्ट्रगम् ।
उक्तप्रमाणं कालघ्नमृऋवर्णद्वयं भवेत् ॥
(ऌ,ॡ) चतुरस्राब्जहंसस्थं पुष्परागसमप्रभम् ।
पाशवज्रकरं रौद्रं लृयुग्मं स्यान्निरोधनम् ॥
(ए) गदाफलारिपद्माढ्यकरं हारविभूषणम् ।
चक्रवाकस्थितं श्याममेकारं तु महद्भवेत् ॥
(ऐ) नवकुन्दनिभा शूलवज्रबाहा द्विपस्थिता ।
कोटियोजनमाना स्यादैमूर्त्तिः कविताकरी ॥
(ओ) चिन्मयं सर्वगं शान्तं द्विसहस्रकरोज्ज्वलम् ।
पीतं गोवृषसंस्थं स्यादोरूपं श्रीकरात्मकम् ॥
(औ) तप्तहेमनिभा पाशचक्रबाहुर्विभूतिदा ।
योजनानां सहस्रेण स्यादौवर्णामितौजसा ॥
(अं) नवकुङ्कुमसंच्छायः पद्मस्थो रक्तभूषणः ।
चतुर्भुजः स्यादंवर्णः श्रीकरो रिपुनाशकः ॥
(अः) वज्रशूलकरं क्षुद्रं (युद्ध) फलदं खरवाहनम् ।
सहस्रयोजनमितं स्वरान्तं द्विभूजं स्मरेत् ॥
(क) भूबिम्बगजसंस्थः स्यान्नवकुङ्कुमसन्निभः ।
शूलवज्रकरः कार्णः सहस्रद्वययोजनः ॥
(ख) पाशतोमरहस्तः खो मेषसंस्थो निरोधनः ।
योजनानां सहस्रेण मितः कृष्णो विभीषणः ॥

(ग) पाशाङ्कुशकरः पद्मे फणिसंस्थोऽरुणप्रभः ।
गकारः सर्पभूषः स्याच्छतयोजनसंस्थितः ॥
(घ) उष्ट्रोलूखनसंस्थः स्याद् गदावज्रकरोऽमितः ।
योजनानां सहस्रेण द्विमुखो घः सितेतरः ॥
(ङ) कोटियोजनदीर्घाद्धिनाहं कृष्णं ज्वलत्प्रभम् ।
द्विभुजं काकवाहं स्यात् ङार्णं क्षुद्रफलप्रदम् ॥
(च) युगाग्रपद्मसंस्थः स्याच्चतुर्बाहुः सितप्रभः ।
चः कपर्द्दी सुगन्धाढ्यः कोटियोजनसंस्थितः ॥
(छ) सितस्तावन्मितः पद्मे चतुर्बाहुश्छवर्णकः ।
(ज,झ) जझौ च कोटिमानौ स्तश्चतुर्बाहू सितप्रभौ ॥
(ञ) योजनानां सहस्रैः स्यात् सम्मितं काकवाहनम् ।
विद्वेषकरणं ञार्णं कृष्णवर्णं भुजद्वयम् ॥
(ट,ठ) क्रौञ्चस्थो द्विभुजष्टः स्यान्नागबद्धो महाध्वनिः ।
धरापद्मगजेन्द्रस्थष्ठवर्णो द्विकरोज्ज्वलः ॥
(ड) लक्षयोजनमानः स्याद् गरनाशकरो विभुः ।
डवर्णोऽप्यष्टबाहुः स्याच्चतुर्वक्त्रः स्वलङ्कृतः ॥
(ढ) योजनानां सहस्रेण मितः कुवलये स्थितः ।
अग्निबिम्बाजगो ढार्णो दशबाहुर्ज्वलत्प्रभः ॥
(ण) सहस्रमानं व्याघ्रस्थं योजनानां हि णं भवेत् ।
षष्टिहायनसंस्थः स्याच्चतुर्बाहुः स्वलङ्कृतः ॥
(त) सहस्रमानो गन्धाढ्यः कुङ्कुमाभश्च ताक्षरः ।
कोटियोजनमानः स्यादष्टबाहुश्चतुर्मुखः ॥
(थ) पीतवर्णा वृषारूढस्थवर्णोऽपि भयङ्करः ।
(द) द्विमुखं षड्भुजं कोटिमानं दं महिषस्थितम् ॥
(ध) सिंहवाहश्चतुर्बाहुर्धश्चतुर्लक्षसम्मितः ।
(न) द्विभुजं काकवाहं नं तत्सहस्रैर्मितं भवेत् ॥
(प) विंशभुजो दशास्यः पः कोटिमानो वकस्थितः ।
(फ) दशकोटिमितः फार्णो योजनानां भुजद्वयः ॥
(ब) कण्ठीरवसिताम्भोजे निषण्णश्चञ्चलः सितः ।
षडास्यो द्विभुजो बः स्याद्दशकोटिमितोऽरुणः ॥
(भ) नीलोत्पललसद्धंसवाहनः पुष्टिदायकः ।
त्रिहस्तं त्रिमुखं व्याघ्रवाहनं भीषणाकृतिम् ॥
(म) दशलक्षमितं भार्णं धूम्राभं स्यान्महाबलम् ।
चतुर्भुजो मकारः स्यात् सविषोरगसन्निभः ॥
(य) मण्डितो मुण्डमालाभिः शशिखण्डविराजितः ।
व्याप्तश्चतुर्मुखो(र्भुजो)धूम्रो यार्णः स्यान्मृगसंस्थितः ॥
(र) त्रिकोणाम्बुजमेषस्थो रार्णो बाहुचतुष्टयः ।
चतुरस्राब्जदन्तीन्द्र पृष्ठेनोपरि राजिता ॥

(ल) चतुर्भुजा लकारस्य मूर्त्तिः स्याद् घुसृणप्रभा ।
(व) अब्धिस्थपद्मनक्रस्थो द्विभुजो वः सितः स्मृतः ॥
(श) करद्वयाब्जगा हेमवर्णा शार्णाकृतिस्तथा ।
(ष) सहस्रमानः कृष्णाभो द्विभुजः कार्मणेऽथ षः ॥
(ह) कोटिमानः सितः सः स्याद्धंसगो(द्धयाङ्गो)द्विभुजान्वितः ।
हार्णः श्वेतस्त्रिबाहुः स्याद् व्याप्तशीतांशुशेखरः ॥
(ळ) पाशाभयकरा ळार्णमूर्त्तिः श्वेता गजस्थिता ।
भूबिम्बशैलसंस्थः क्षो दशबाहुर्मणिप्रभः ॥
(क्ष) मूर्त्तिभेदा यथाऽर्णानां मयाऽत्र प्रतिपादिताः ॥ इति ॥ ४ ॥

अब षडङ्गन्यास करने के पश्चात् **वाग्देवता का ध्यान** कहते हैं—

वाग्देवता का ध्यान—जिनका मुख, बाहु, पैर, कटि प्रदेश तथा वक्षःस्थल प्रदेश पच्चास वर्णात्मक लिपियों से विभक्त है, जिनके भालस्थल में द्वितीया का चन्द्रमा सुशोभित है, तथा स्तन अत्यन्त पीन (स्थूल है), जिन्होंने अपने कर-कमलों में मुद्रा, जपमाला, सुधा संयुक्त कलश, और विद्या धारण किया है, जो शुभ वस्त्र तथा शुभ अलङ्कारों से जगमगा रही हैं ऐसी तीन नेत्रों वाली वाग्देवता का मैं ध्यान करता हूँ ॥ ४ ॥

अक्षरन्यासस्थानानि

ललाटमुखवृत्ताक्षिश्रुतिघ्राणेषु गण्डयोः ।
ओष्ठदन्तोत्तमाङ्गास्यदोःपत्सन्ध्यग्रकेषु च ॥ ५ ॥
पार्श्वयोः पृष्ठतो नाभौ जठरे हृदयेऽंसवो ।
ककुद्यंसे च हृत्पूर्वं पाणिपादयुगे तथा ॥ ६ ॥
जठराननयोर्न्यस्येन्मातृकार्णान् यथाक्रमात् ।
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जा शुक्रात्मकान् विदुः ॥ ७ ॥

पुरश्चरणम्

वा(या)दिहा(सा)न्तान् न्यसेदात्मपरमज्ञानपूर्वकान् ।
दीक्षितः प्रोक्तमार्गेण न्यसेल्लक्षं समाहितः ॥ ८ ॥
जपेत् तत्संख्यया विद्वानयुतं मधुराप्लुतैः ।
विदधीत तिलैर्होमं मातृकामन्वहं जपेत् ॥ ९ ॥

अक्षरन्यासस्थानान्याह । ललाटे केशान्ते । केशान्ताननवृत्त इत्युक्तेः । मुखवृत्तेत्येकं स्थानम् । दक्षिणावर्त्तेन अक्ष्यादि गण्डान्तं दक्षादि । ओष्ठदन्तयोरूर्द्धादि । आस्ये तदन्तः जिह्वायामित्यर्थः । दोःपदोर्दक्षादि । दोःपत्सन्ध्यग्राणि च पञ्च शेषयोरङ्गुलिसन्धित्वात् । पार्श्वयोर्दक्षादि । अंसक इति दक्षांसे । ककुदि ग्रीवायाम् । अंस इति वामे । हृतपूर्वं पाणिपादयुग इति स्थानचतुष्टयम् । जठराननयोरित्यत्रापि हृतपूर्वमिति सम्बध्यते । तदुक्तं मन्त्रमुक्तावल्याम्—

हृदंसककुदंसेषु हृदादि करयोर्युगे।
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाभिर्यादिषान्तगान्॥
हृदादिपादयुग्मे च तदाद्युदरके तथा।
तदादि मूर्द्धनि प्राज्ञो न्यसेत् सादीन् कषान्तगान्॥ इति।

केचनोत्तरांसशब्देन कक्षाद्वयं व्याचक्षते। तेषां मते अंसद्वये वर्णद्वयं ककुद्येकं कक्षाद्वये वर्णद्वयं पाण्योर्युगे एकं पादयोर्युगे एकमिति न्यासः। अयं साम्प्रदायिकः।

तदुक्तं दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

हृद्दोर्मूलेषु संन्यस्य तथापरगले न्यसेत्।
कक्षाद्वये हृदारभ्य पाणिपादयुगे तथा।
जठराननयोर्व्याप्त्या न्यसेदित्यर्णरूपिणीम्॥ इति।

आचार्या अपि—हृद्दोर्मूलापरगलकक्षेषु। इति। तत्र प्रयोगः—

अं नमः केशान्ते, आं नमः मुखवृत्ते इत्यादि।

उक्तञ्च— ओमाद्यन्तो नमोऽन्तो वा सबिन्दुर्बिन्दुवर्जितः।
पञ्चाशदक्षरन्यासः क्रमेणैव विधीयते॥ इति।

यथाक्रमादित्यनेनैतदुक्तं भवति। सौस्थानिकौत्थानिकस्नानभोजनानुष्ठानेषु लिपिर्विन्यस्तव्येति। तत्र सौस्थानिके उक्तप्रकारेण एकपञ्चाशद्वर्णन्यासः। औत्थानिके सप्तवर्गाणां मुखबाहुपादद्वयनाभिहृत्सु व्यापकत्वेन न्यासः। तद्देवताः ब्रह्मसरस्वती-विष्णुश्रीरुद्रोमासर्वेश्वराः। स्नाने अकथादिवर्गत्रयस्य मुखमध्यपादेषु न्यासः। एत-द्देवताः चन्द्रसूर्याग्नयः। भोजनकाले समस्तस्य मस्तकादिपादान्तो न्यासः। देशकालाद्यपेक्षया सर्वत्र प्रयोक्तव्या इति। (त्वगसृगित्यादि पूर्वकानित्यन्तं श्लोकार्द्ध-द्वयं केषुचित् पुस्तकेषु नास्ति)। तत्संख्यया लक्षसंख्यया। एकवारं न्यासं कृत्वा एकवारं जपेदित्यर्थः। समाहित इत्यनेन कृतपुरश्चरणधर्म इत्युक्तम्।

तदुक्तम्—पञ्चाशद्वर्णमूर्त्तिं तामेवं ध्यात्वा सुविग्रहे।
स्थानेषु क्रमतो न्यस्य पूर्वोक्तेषु जपेल्लिपिम्॥
पञ्चाशत्संख्यया नित्यं यावल्लक्षं प्रपूर्यते। इति।

मधुराप्लुतैरिति पयोघृतमधुयुक्तैः। तदुक्तं प्रयोगसारे—

पयोमधुघृतञ्चेति समं त्रिमधुरं स्मृतम्। इति॥ ५-९॥

अब उपर्युक्त ५० अक्षरों के न्यास के लिये स्थानों का निर्देश करते हैं—

१. केशान्त, २. मुखवृत्त, ३-४. दो नेत्र, ५-६. दो कान, ७. घ्राण, ८. गण्ड प्रदेश ९. ओष्ठ, १०. दाँत, ११. शिर, १२. मुख १३-१४. भुजा तथा पैरों के सन्धि प्रदेश के अग्रभाग, १५-१६ दोनों पार्श्व पृष्ठभाग, १७. नाभिप्रदेश, १८. जठर १९. हृदय २०. कन्धा, २१ ग्रीवा, २२. हृदय, २३-२४ दोनों हाथ, २५-२६ दोनों पैर, २७. जठर, तथा २८. आनन—ये कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, तथा पवर्ग य र ल वर्णों के न्यास स्थान हैं॥ ५-७॥

त्वक्, असृङ्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, तथा शुक्र व श ष स ह क्ष ल इन वर्णों के न्यास स्थान कहे गये हैं । दीक्षा लेने वाला साधक एकाग्र चित्त हो इन वर्णों का एक लाख न्यास तथा एक लाख जप करे । इस प्रक्रिया में एक बार न्यास कर एक बार जप करे । पुनः एक न्यास कर एक जप करे यही क्रम है । पुनः त्रिमधुर (घी, मधु और दूध) से आप्लुत तिलों से दस हजार होम करे तथा प्रति आहुति में एक एक बार मातृकाओं का जप भी करे ॥ ७-९ ॥

मातृकाचक्रम्

व्योमेन्द्वौरसनार्णकर्णिकमचां द्वन्द्वैः स्फुरत्केशरं
पत्रान्तर्गतपञ्चवर्गयशलार्णादित्रिवर्गं क्रमात् ।
आशास्वस्त्रिषु लान्तलाङ्गलियुजा क्षौणीपुरेणावृतं
पद्मं कल्पितमत्र पूजयतु तां वर्णात्मिकां देवताम् ॥ १० ॥

व्योमेति । व्योम हः इन्दुः सः औ स्वरूपं रसनार्णो विसर्गः । 'व्योमाविः स चतुर्दशस्वरविसर्गान्तस्फुरत्कर्णिकम्' इत्युक्तेः । अचां स्वराणाम् । अत्र केशरेषु स्वरलिखनं पत्रेषु वर्गलिखनञ्च । अग्रपत्रादिकर्णिकाभिमुखत्वेन चेति ज्ञेयम् । आशासु दिक्षु । अस्त्रिषु कोणेषु । लान्तो वः । लाङ्गली ठः । अनयोः रेखासंलग्नतया लिखनं ज्ञेयम् । तदुक्तं दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

चतुरस्रं ततः कुर्यात् सिद्धिदं दिक्षु संलिखेत् ।
ठकाराणां चतुष्कञ्च रेखान्तं बाह्यतस्ततः ॥
वारुणञ्च समालिख्य देवीमावाहयेत् सुधीः । इति ।

अत्र पूजायन्त्रेऽपि अक्षरादिलिखनस्योक्तेः । केषाञ्चिन्मते इदमेव धारण-यन्त्रमिति सूचयति । पद्ममिति श्वेतम् । 'स्मरेत् पद्मं तथा श्वेतम्' इत्युक्तेः । तेन श्वेतकमलासना ध्येयेत्यर्थः ॥ १० ॥

इसके पश्चात् अष्टपत्र युक्त एक कमल बनावे । उसकी कर्णिकाओं में व्योम (हकार) इन्द्र (स) उन दोनों पर औ की मात्रा जो विसर्ग युक्त हों, इस प्रकार ह्सौः आदि में लिखकर चतुर्दश स्वर लिखे । केशरों में दो दो अच् लिखे । अष्टपत्रों पर क वर्ग, च वर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग, (य र ल व) श वर्ग (स ह श ष) तथा ल वर्ग (ल क्ष त्र ज्ञ) इन आठ वर्गों को लिखे, दिशाओं के कोणों में बाहर चार ठ युक्त चार वकार लिखे, इस प्रकार भूपुर युक्त श्वेत कमल की रचना करे । पुनः उस पर वर्णदेवता (सरस्वती) की पूजा करे । क्योंकि सरस्वती श्वेत कमल पर आसीन रहती हैं ॥ १० ॥

पीठशक्तयः

आधारशक्तिमारभ्य पीठशक्त्यन्तमर्चयेत् ।
मेधा प्रज्ञा प्रभा विद्या धीर्धृतिस्मृतिबुद्धयः ॥ ११ ॥

विद्येश्वरीति सम्प्रोक्ता भारत्या नव शक्तयः।
वर्णाब्जेनासनं दद्यान्मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ १२ ॥

अर्चयेदिति चतुर्थोक्तप्रकारेण । तत्र मण्डूककालाग्निरुद्रकूर्मशिलाः सम्पूज्य पश्चादाधारशक्त्यादिपूजने पृथिव्यनन्तरं विद्याब्धिं सम्पूज्य अन्ते मायाकलाविद्यापर-तत्त्वानि सम्पूज्य पीठशक्तिपूजनमिति सर्वत्र क्रमोऽनुसन्धेयः । पीठशक्तीराह मेधेति । आसां ध्यानं यथा—

कृताञ्जलिद्वयकरास्तत्तदूर्द्धकरद्वये ।
दधत्यः पुस्तकं कुम्भं श्वेताः सुन्दरमूर्त्तयः ॥ इति ।

पीठमन्त्रमुद्धरति वर्णाब्जेनेति । हसौः मातृकायोगपीठाय नम इति मन्त्रेणासन-पूजा । अयं पीठमन्त्रः सर्वमातृकामन्त्रसाधारण इति ज्ञेयम् । अन्ये त्वन्यथा व्याचक्षते । वर्णाब्जेन वर्णाब्जकर्णिकाबीजादिना आसनमन्त्रेणेति । तत्र प्रयोगः—

ह्सौः सर्वशक्तिकमलासनाय नमः। एवमग्रे सरस्वतीमन्त्रेऽपि । पद्मपादाचार्यैस्तु ॐ ह्रीं वर्णाब्जाय सरस्वत्यासनाय नमः इति पीठमन्त्रः सूचित इत्युक्तम् ॥ ११-१२॥

उपर्युक्त पूजा का 'क्रम आधार शक्ति से आरम्भ कर पीठ शक्ति के अर्चन पर्यन्त होना चाहिए । मेधा, प्रज्ञा, प्रभा, विद्या, धी, धृति, स्मृति, बुद्धि और विद्येश्वरी—ये नव सरस्वती की शक्तियाँ कही गई हैं । 'वर्णाब्जाय नमः' इस मन्त्र से आसन देना चाहिए और मूल मन्त्र से (ॐ ह्रीं) से उस पर मूर्त्ति स्थापित करनी चाहिए ॥ ११-१२ ॥

आवरणदेवतानामानि

आवाह्य पूजयेत् तस्यां देवीमावरणैः सह ।
अङ्गैरावरणं पूर्वं द्वितीयं युग्मशः स्वरैः ॥ १३ ॥
अष्टवर्गैस्तृतीयं स्यात् तच्छक्तिभिरनन्तरम् ।
पञ्चमं मातृभिः प्रोक्तं षष्ठं लोकेश्वरैः स्मृतम् ॥ १४ ॥
लोकपालायुधैः प्रोक्तं वज्राद्यैः सप्तमं ततः।
विधिनाऽनेन वर्णेशीमुपचारैः प्रपूजयेत् ॥ १५ ॥
व्यापिनी पालिनी पश्चात् पावनी क्लेदिनी तथा।
धारिणी मालिनी भूयो हंसिनी शान्तिनी स्मृता ॥ १६ ॥
शुभ्राः पत्रेषु सम्पूज्या धृताक्षगुणपुस्तकाः।
ब्राह्मी माहेश्वरी भूयः कौमारी वैष्णवी मता ॥ १७ ॥
वाराह्यनन्तरेन्द्राणी चामुण्डा सप्तमी मता ।
अष्टमी स्यान्महालक्ष्मीः प्रोक्ताः स्युर्विश्वमातरः॥ १८ ॥

आवाह्येति । चतुर्थोक्तप्रकारेण । अङ्गैरावरणं कर्णिकामध्ये इति ज्ञेयम् । युग्मशः स्वरैरिति । तत्र प्रयोगः । अं आं नमः । 'बीजैः पूजा स्याद् विभक्त्या

वियुक्तैः' इत्याचार्योक्तेः । एवमष्टवर्गेष्वपि । उक्तञ्च संहितायाम्—

नियोज्य स्वरयुग्मान्ते नमस्कारं पृथक् पृथक् ।
तथैव कादिवर्गेषु नमस्कारं पृथक् क्षिपेत् ॥ इति ।

तच्छक्तिभिरिति वर्गशक्तिभिः पत्रमध्योपरि । अत्र तच्छक्तीनां वर्गरूपमन्त्रादित्वं ज्ञेयम् । तथा स्वयमेव वक्ष्यति—वर्णमन्त्रयुताः प्रोक्तलक्षणाः । सर्वसिद्धिदाः । इति । अनन्तरमिति चतुर्थम् । मातृभिरिति पत्राग्रे । लोकेश्वरैरायुधैश्चेति पद्माद् बहिर्भूपुरे । (शान्तिनीत्यत्र शङ्खिनीति पाठोऽपि दृश्यते) ॥ १३-१८ ॥

इस प्रकार आवाहन कर कर्णिका मध्य में अङ्गमन्त्रों से प्रथमावरण की, दो दो स्वरों (अं आं नमः) से द्वितीय आवरण की, अष्टवर्ग से तृतीय आवरण की, शक्तियों के नामों से चतुर्थ आवरण की, मातृकावर्णों से पञ्चम आवरण की तथा लोकपालों के नामों से षष्ठ आवरण की पूजा करे ॥ १३-१४ ॥

लोकपालों के वज्रादि आयुधों के नाम से सप्तम आवरण की पूजा करे । पुनः वागीश्वरी की इसी विधि से गन्धादि उपचारों द्वारा पूजा सुसम्पन्न करे ॥१५॥

तदनन्तर व्यापिनी, पालिनी, पावनी, क्लेदिनी धारिणी, मालिनी, हंसिनी एवं शंन्तिनी इन शुभ्रवर्ण वाली आठ देवियों की जिनके हाथों में अक्षमाला तथा पुस्तक शोभित है, उनकी पूजा करे ॥ १६-१७ ॥

पुनः भुपूर में ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, सप्तमी चामुण्डा तथा आठवीं महालक्ष्मी का नीचे लिखे प्रकार से ध्यान कर पूजन करे । ये सभी विश्व की मातायें हैं ॥ १७-१८ ॥

ब्राह्मयादीनां ध्यानकथनम्

१. दण्डं कमण्डलुं पश्चादक्षसूत्रमथाऽभयम् ।
बिभ्रती कनकच्छाया ब्राह्मी कृष्णाजिनोज्ज्वला ॥ १९ ॥
२. शूलं परश्वधं क्षुद्रदुन्दुभिं नृकरोटिकाम् ।
वहन्ती हिमसङ्काशा ध्येया माहेश्वरी शुभा ॥ २० ॥
३. अङ्कुशं दण्डखट्वाङ्गौ पाशञ्च दधती करैः ।
बन्धूकपुष्पसङ्काशा कौमारी कामदायिनी ॥ २१ ॥
४. चक्रं घण्टां कपालञ्च शङ्खञ्च दधती करैः ।
तमालश्यामला ध्येया वैष्णवी विभ्रमोज्ज्वला ॥ २२ ॥
५. मुषलं करवालञ्च खेटकं दधती हलम् ।
करैश्चतुर्भिर्वाराही ध्येया कालघनच्छविः ॥ २३ ॥
६. अङ्कुशं तोमरं विद्युत् कुलिशं बिभ्रती करैः ।
इन्द्रनीलनिभेन्द्राणी ध्येया सर्वसमृद्धिदा ॥ २४ ॥

७. शूलं कृपाणं नृशिरः कपालं दधती करैः।
मुण्डस्त्रङ्मण्डिता ध्येया चामुण्डा रक्तविग्रहा ॥ २५ ॥
८. अक्षस्त्रजं बीजपूरं कपालं पङ्कजं करैः।
वहन्ती हेमसङ्काशा महालक्ष्मीः समीरिता ॥ २६ ॥
पूजयेन्मातृकामित्थं नित्यं साधकसत्तमः ॥ २७ ॥

ब्रह्म्यादीनामायुधध्यानम् । ब्राह्म्याम् आयुधध्यानं वामोर्द्धादि वामाधस्तनं यावत् । माहेश्वर्याञ्च दक्षाद्यूर्द्धयोराद्ये अधस्तनयोरन्त्ये। कौमार्यां वामोर्द्धादि दक्षिणोर्द्ध-पर्यन्तम् । वैष्णव्यां दक्षोर्द्धतो वामोर्द्धं यावत् । वाराह्यां दक्षाधस्तनाद् वामाधः पर्यन्तम् । इन्द्राण्यां चामुण्डायाञ्च दक्षवामयोरूर्द्धादि । महालक्ष्म्यां दक्षोर्द्धहस्तमारभ्य वामोर्द्ध-पर्यन्तम् । आसां वाहनान्यपि ध्येयानि । तानि तत्तदेवतानामिति ज्ञेयम् । ब्राह्म्यां हंस इति । तत्र वराह्यां महिषः ।

तदुक्तम् —वाराहीञ्च प्रवक्ष्यामि महिषोपरि संस्थिताम् । इति ।

चामुण्डायां प्रेत इति ज्ञेयम् । वाराही वराहवक्त्रा । चामुण्डा निर्मांसा ध्येया । आसु च कौमारी-वैष्णवी-इन्द्राणी-महालक्ष्म्यो द्विनेत्राः अन्यास्त्रिनेत्राः । आसां बीजानि तन्त्रान्तरोक्तानि । यथा—

अष्टौ दीर्घाः क्षादयोऽष्टौ सानन्ता बिन्दुयोगतः ।
इन्द्र आकाशसंयुक्तो बीजान्यासां क्रमाद् विदुः ॥ इति ।

साधकसत्तम इत्यनेन एवम्प्रकारेण साधितां मातृकामन्यमन्त्राङ्गत्वेन विनि-युंज्यादित्युक्तं भवति ॥ १९-२७ ॥

सोने के समान कान्तिवाली, कृष्णाजिन धारण किये हुये **ब्राह्मी** देवी अपने हाथों में दण्ड, कमण्डलु जपमाला तथा अभय धारण की हैं । इस प्रकार **ब्रह्माणी** का ध्यान करे ॥ १९ ॥

हिम के समान शुभ्र वर्ण वाली, सबका शुभ करने वाली माहेश्वरी अपने हाथों में शूल, फरसा, दुन्दुभि तथा मनुष्य की खोपड़ी धारण की है । **माहेश्वरी** का ध्यान साधक को इसी रूप में करना चाहिए ॥ २० ॥

बन्धूक पुष्प के समान वर्ण वाली कामदायिनी कौमारी अपने हाथों में अंकुश, दण्ड, खट्वांग तथा पाश धारण की हैं । इस स्वरूप से **कौमारी** का ध्यान करे ॥ २१ ॥

तमाल पत्र के समान श्यामवर्ण वाली, क्रीडा में निपुण, वैष्णवी अपने हाथों में चक्र, घण्टा, कपाल तथा शङ्ख धारण की हैं । उन **वैष्णवी** का इस स्वरूप से ध्यान करे ॥ २२ ॥

काले बादल के समान कान्तिवाली **वाराही** अपने हाथों में मुशल, करवाल, खेटक तथा हल धारण की हैं । उनका भी इसी स्वरूप से ध्यान करे ॥ २३ ॥

इन्द्रनील के समान कान्ति वाली **इन्द्राणी** अपने हाथों में अंकुश, तोमर, विद्युत् तथा वज्र धारण की हैं। उनका इस रूप से ध्यान करे ॥ २४ ॥

शूल कृपाण (तलवार), नृशिर और कपाल हाथों में धारण करने वाली मुण्डमाला से मण्डित रक्तवर्ण वाली **चामुण्डा** का ध्यान करना चाहिए ॥ २५ ॥

सुवर्ण के समान कान्ति वाली **महालक्ष्मी** अपने हाथों में जप माला, बीजपूर, कपाल तथा कमल धारण की हैं उनका इस स्वरूप से ध्यान करे ॥ २६ ॥

इस प्रकार ऊपर कही गई ८ मातृकाओं का ध्यान कर उत्तम साधक उनका पूजन करे ॥ २७ ॥

सृष्टिन्यासः । स्थितिन्यासः

न्यसेत् सर्गान्वितान् सृष्ट्या ध्यात्वा देवीं यथाविधि ।
सर्गबिन्द्वन्तिकान् न्यस्य डार्णाद्यान् स्थितिवर्त्मना ॥ २८ ॥
विद्यात् पूर्वोदितान् विद्वानृष्यादीनङ्गसंयुतान् ।
ध्यायेद् वर्णेश्वरीमत्र वल्लभेन समन्विताम् ॥ २९ ॥

सृष्टिन्यासमाह न्यसेदिति । यदा सृष्ट्या सृष्टिमार्गेण न्यसेत् तदा सर्गान्वितानिति। यत्तदोरध्याहारेणाऽन्वयः । एवमग्रेऽपि । यथाविधीत्यनेनैतदुक्तं भवति । अत्र सृष्टिमातृका देवता । पूर्ववद् विसर्गान्तैर्वर्णैः षडङ्गन्यासः । ऋषिच्छन्दसी ध्यानं पूजादिकमपि सर्वं पूर्ववदेव । न्यासस्थानान्यपि पूर्वोक्तान्येवेति । प्रयोगस्तु । अः नमः केशान्ते । आः नमः मुखवृत्ते इत्यादि ।

स्थितिन्यासमाह सर्गेति । डार्णाद्यानिति ठपर्यन्तानित्यर्थः । सर्गबिन्द्वन्तिकानिति। बिन्दुसर्गान्वितत्त्वं प्रत्यक्षरमिति ज्ञेयम् । विद्वानित्यनेनैतदुक्तं भवति स्थितिमातृकादेवताषडङ्गान्यपि पूर्ववदेव सर्गबिन्द्वन्तिकवर्णैः कार्याणीति । तत्र प्रयोगः । डंः नमः दक्षिणगुल्फे । ढंः नमः दक्षिणपादाङ्गुलिमूले । इत्यादि क्षान्तं विन्यस्य अं नमः केशान्ते इत्यादि ठंः नमः दक्षिणजानुनीत्यन्तं न्यसेत् ।

तदुक्तं शैवे—डकारादि ठकारान्तां योजयेत् परदेवताम् । इति ।

अत्र केचित् सृष्टौ अकारादि ठकारपर्यन्तं न्यासं कारयन्ति । स्थितौ डकारादि क्षकार पर्यन्तं । तदविचारितरमणीयम् । समस्तमातृकावृत्तेर्न्यासत्वात् । अत्रेति स्थितिन्यासे ॥ २८-२९ ॥

पुनः विधि के अनुसार जब सृष्टि मार्ग से षडङ्ग न्यास करे तब सर्ग युक्त स्थिति में उनका ध्यान करे । सर्ग युक्त स्थितिन्यास में अः नमः केशान्ते, आः नमः मुखवृत्तेः, इत्यादि न्यास का क्रम जानना चाहिए ।

विद्वान् साधक स्थिति क्रम में डकार वर्ण से आरम्भ कर ठ पर्यन्त वर्णों का न्यास करे । इस क्रम में मातृका देवताओं के षडङ्गन्यास, सर्ग बिन्दु युक्त वर्णों स करना चाहिए । इनके ऋषि, छन्द तथा देवता का भी पूर्वोक्त क्रम से विनियोग करना चाहिए ।

प्रयोग विधि इस प्रकार है—डं नमः दक्षिण गुल्फे, ढं नमः दक्षिण-पादांगुलिमूले के क्रम से क्षकारान्त न्यास कर अं नमः केशान्ते, ठं नमः दक्षिणजानुनि, पर्यन्त न्यास करे ॥ २८-२९ ॥

वर्णेश्वरीध्यानम्

सिन्दूरकान्तिममिताभरणां त्रिनेत्रां
विद्याक्षसूत्रमृगपोतवरं दधानाम् ।
पार्श्वस्थितां भगवतीमपि काञ्चनाङ्गीं
ध्यायेत् कराब्जधृतपुस्तकवर्णमालाम् ॥ ३० ॥

पार्श्वं वामम् । आयुधध्यानम् ऊर्ध्वादि । दक्षे अक्षमालावरौ वामे मृगपोतविद्ये इति । उक्तञ्च पद्मपादाचार्यैः—वराक्षसूत्रमृगपुस्तकधरैतदेवम् । वर्णमालामक्ष-मालामिमं दक्षे विद्या वामे । कराब्जेति उपमासमासः । इति ॥ ३० ॥

स्थिति क्रम में **वर्णेश्वरी का ध्यान** वर्णेश्वर से युक्त इस प्रकार करना चाहिए—

जिनके शरीर की कान्ति सिन्दूर के समान है, जो अपरिमित आभूषणों से युक्त हैं, जिनके तीन विशाल नेत्र हैं जिन्होंने अपने हाथों में विद्या, अक्षसूत्र, मृगपोत तथा वरमुद्रा धारण किया है, जिनके पार्श्वभाग में काञ्चन के समान वर्ण वाली भगवती अपने कर कमलों में पुस्तक तथा वर्णमाला धारण किये हुये स्थित हैं ॥ २९-३० ॥

संहारन्यासः

अभ्यर्चनादिकं सर्वं विदध्यात् पूर्ववर्त्मना ।
बिन्दुयुक्तामिमां न्यस्येत् संहृत्या प्रतिलोमतः ॥ ३१ ॥
विद्यात् पूर्वोदितान् विद्वान् ऋष्यादीनङ्गसंयुतान् ।

संहारन्यासमाह बिन्दुयुक्तामिति । प्रतिलोमतः क्षकारादि अकारान्तम् । स्थानानि तु तान्येव । विद्वानित्यनेनैतदुक्तं भवति । संहारमातृकादेवताषडङ्गान्यपि पूर्ववदेव बिन्द्वन्तैर्वर्णैः कार्याणीति । तदुक्तम्—

ततः सबिन्दुके न्यासे ऋषिच्छन्दस्तु पूर्ववत् ।
संहारशारदादेवी सबिन्द्वर्णैः षडङ्गकम् ॥ इति ।

प्रयोगस्तु—क्षं नमः हृदादि मुखे लं नमः हृदादि जठरे इत्यादि ॥ ३१-३२ ॥

इस प्रकार ध्यान के पश्चात् उनका पूजन कर प्रतिलोम क्रम से क्षकारादि से आरम्भ कर अकारान्त वर्णों को बिन्दु से युक्त कर भगवती का संहार न्यास करे । ऋषि, छन्द तथा देवता का विनियोग भी पूर्ववत् करे ।

विमर्श—संहार क्रम में इस प्रकार की विधि है—'यथा क्षं नमः' हृदादि मुखे, 'हं नमः' हृदादि जठरे इत्यादि ।

विद्वान् साधक पूर्व में कहे गये प्रकार के अनुसार इनका ऋषि, छन्द, देवता तथा षडङ्ग समझे ॥ ३१-३२ ॥

ध्येया वर्णमये पीठे देवी वाग्वल्लभा शिवा ॥ ३२ ॥

संहारमातृकाध्यानम्

अक्षस्रजं हरिणपोतमुदग्रटङ्कं
विद्यां करैरविरतं दधतीं त्रिनेत्राम् ।
अर्द्धेन्दुमौलिमरुणामरविन्दवासां
वर्णेश्वरीं प्रणमत स्तनभारनम्राम् ॥ ३३ ॥

अक्षेति । उदग्रस्तीक्ष्णः ऊर्ध्वाग्रो वा टङ्कः परशुः । आयुधध्यानं दक्षोर्ध्वादि परशुवर्णमाले । परे वामे । उक्तञ्च पद्मपादाचार्यैः—अक्षमालाटङ्कमृगपुस्तकधरां ध्यायेत् इति । अरविन्दवासां श्वेताब्जस्थाम् । का नाम सृष्टिः स्थितिः संहृतिर्वेति । अन्तर्गतस्य बहिरवभासः सृष्टिः । शिवेऽवभासः स्थितिः । संस्कारमात्रशेषतया अन्तरवस्थानं विनाशः । यदाहुः—

चिद्रूपस्यात्मनः सर्वजगतामीशितुः प्रभोः ।
ग्राह्यग्राहकवैचित्र्यप्रकाशः सृष्टिरीश्वरि ॥
अत्र स्थितिः स्याज्जगतामवभासः समीरितः ।
संस्कारमात्रशेषोऽयं विनाशः संहृतिः शिवे ॥ इति ।

एवं ध्यानेन न्यासत्रयं कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

पुनः वर्णमय पीठ पर **वाग्वल्लभा शिवाभगवती का ध्यान** इस प्रकार करे—माला, हरिणशावक, तीक्ष्ण परशु तथा विद्या को अपने हाथों में निरन्तर धारण की हुई, तीन नेत्र वाली, मस्तक पर अर्द्धेन्दु से विराजमान कमल पर निवास करने वाली तथा स्तन भार से नम्र भगवती वर्णेश्वरी को प्रणाम करना चाहिए ॥ ३२-३३ ॥

न्यासार्चनादिकं सर्वं कुर्यात् पूर्वोक्तवर्त्मना ।
तारोत्थाभिः कलाभिस्तां न्यसेत् साधकसत्तमः ॥ ३४ ॥
वर्णाद्यास्तारसंयुक्ता न्यस्तव्यास्ता नमोऽन्विताः ।

अस्या ऋष्यादिकथनम्

ऋषिः प्रजापतिश्छन्दो गायत्रं समुदाहृतम् ॥ ३५ ॥
कलात्मा वर्णजननी देवता शारदा स्मृता ।
ह्रस्वदीर्घान्तरगतैः षडङ्गं प्रणवैः स्मृतम् ॥ ३६ ॥

कलान्यासमाह तारोत्थाभिरिति । प्रणवपञ्चभेदसमुत्पन्नाभिः सृष्ट्यादिभिः कलाभिः सह तां मातृकां न्यसेदित्युक्तस्थानेषु । साधकसत्तम इत्यनेन प्रणवत्रयादित्व-

मप्युक्तं भवति । वर्णाद्या इति अकारादिवर्णाद्याः । एवम्भूतास्तारसंयुक्ताः । अनेनायं क्रमः । प्रथमतः प्रणवः पश्चादकाराक्षरं पश्चात् कलानाम । अत एवाद्यसंयुक्ता शब्दा नमोऽन्विता इति सम्प्रदायात् अन्ते नमसा योगात् चतुर्थ्यन्तत्वम् । न्यसेदित्यनेन नैराकाङ्क्ष्येऽपि पञ्चभेदकलानामादौ न्यासख्यापनायाह न्यस्तव्यास्ता इति । तत्र तु—

'न्यासे तु योजयेदादौ षोडश स्वरजाः कलाः' इत्युक्तत्वात् प्रथमं नादकलानां निवृत्त्यादीनां न्यासः पश्चादकारोकारबिन्दुजानां सृष्ट्यादीनाम् । प्रयोगस्तु—ॐ अं निवृत्त्यै नमः केशान्ते इत्यादि । कलात्मा वर्णजननी शारदा देवतेति । कलात्म मातृका देवतेत्यर्थः । ह्रस्वदीर्घान्तरगतैरिति । अक्लीबह्रस्वदीर्घस्वरमध्यगतैरित्यर्थः । अं ॐ आं हृदयाय नमः इत्यादि प्रयोगः ॥ ३४-३६ ॥

पुनः उनका न्यास तथा पूजन पूर्वोक्त रीति से कर उत्तम साधक प्रणव से उत्पन्न सृष्टि आदि पाँच भेद वाली कलाओं से युक्त मातृकाओं को पूर्वोक्त स्थानों में न्यास करे । पुनः संहार क्रम में भी प्रणव संयुक्त अकारादि वर्ण जिनके अन्त में नमः पद हो उनसे न्यास करे । प्रथम नाद कला से उत्पन्न निवृत्ति आदि से तदनन्तर अकार ऊकार मकार बिन्दु से उत्पन्न सृष्टि आदि से न्यास करे ।

प्रयोग विधि—यथा—'ॐ अं निवृत्यै नमः केशान्ते' इत्यादि ।

विमर्श—अन्तर्गत पदार्थ का बाहर भासित होना **सृष्टि** है, शिव में भासित होना **स्थिति** है । संस्कार मात्र शेष रह कर पुनः भीतर में निवास करने का नाम **संहार** है ॥ ३४-३५ ॥

इसके भी प्रजापति ऋषि हैं, गायत्री छन्द हैं, कलात्मा वर्णजननी शारदा देवता हैं । क्लीव वर्ण (ऋ ॠ ऌ ॡ) से रहित ह्रस्व और दीर्घ के मध्य में प्रणव मन्त्र लगा कर षडङ्ग न्यास करे ।

प्रयोग विधि—यथा—'अं ॐ आं हृदयाय नमः' इत्यादि ॥ ३५-३६ ॥

शारदाध्यानम्

हस्तैः पद्मं रथाङ्गं गुणमथ हरिणं पुस्तकं वर्णमालां
टङ्कं शुभ्रं कपालं दरममृतलसद्धेमकुम्भं वहन्तीम् ।
मुक्ताविद्युत्पयोदस्फटिकनवजवाबन्धुरैः पञ्चवक्त्रै-
स्त्र्यक्षैर्वक्षोजनम्रां सकलशशिनिभां शारदां तां नमामि ॥ ३७ ॥

हस्तैरिति । रथाङ्गं चक्रम् । गुणस्त्रिशूलम् । वर्णमालामक्षमालाम् । टङ्कः परशुः । शुभ्रमिति कपालविशेषणम् । दरः शङ्खः । आयुधध्यानं दक्षाधस्तनतो वामाधस्तनपर्यन्तं पुस्तकाक्षमालयोर्विपर्ययः । तदुक्तं पद्मपादाचार्यैः—पद्मचक्रशूल-मृगाक्षसूत्रपुस्तकटङ्ककपालशङ्खकलशधरा ध्येया इति, मुक्तेति ऊर्ध्वादि मुखानां वर्णाः । सकलशशिनिभां शुभ्रवर्णाम् । सर्वकामदामिति विनियोगोक्तिः । अतएव पद्मपादाचार्याः 'सर्वत्र सर्वं च' इति ॥ ३७ ॥

जिन्होंने अपने दश हाथों में १. पद्म, २. चक्र, ३. अक्षमाला, ४. हरिण-शिशु, ५. पुस्तक, ६. वर्णमाला, ७. शुभ्रपरशु, ८. कपाल, ९. त्रिशूल तथा १०. अमृत युक्त हेमकुम्भ धारण किया है तथा जिनके पाँच मुख, मुक्ता, विद्युत्, प्रमोद, स्फटिक तथा नवीन जपा-पुष्प के समान आभा वाले है, जिनके तीन नेत्र हैं तथा स्तनभार से जो अत्यन्त विनम्र है, जो संपूर्ण कलाओं से युक्त चन्द्रमा के समान शोभित हो रही हैं ऐसी **शारदा** को मै नमस्कार करता हूँ ।। ३७ ।।

श्रीकण्ठमातृकाप्रकरणम्

अर्चयेदुक्तमार्गेण शारदां सर्वकामदाम् ।
तार्त्तीयपूर्वां तां न्यस्येन्नमोऽन्तां रुद्रसंयुताम् ॥ ३८ ॥

श्रीकण्ठमातृकामाह तार्त्तीयेति । तार्त्तीयं भैरव्याः द्वादशे वक्ष्यमाणम् । केचन रेफवर्जितं तद्वदन्ति । अयमेव साम्प्रदायिकः पक्षः । यतो मातृकाब्जकर्णिकाबीजमेवं संगृहीतं भवति । भैरवीत्रिंशद्भेदमध्ये एकस्य भेदस्य तार्त्तीयं रेफवर्जितं भवत्येव । ग्रन्थकृदत एव षडङ्गावसरे हसा षड्दीर्घयुक्तेन इति वक्ष्यति । न्यसेदित्युक्तस्थानेषु । साम्प्रदायिकास्तु प्रणवशक्तिप्रासादपञ्चाक्षरीयोगमाहुः । रुद्रसंयुतामिति सशक्तिक-श्रीकण्ठादिसहिताम् । नमोऽन्तामित्यनेन चतुर्थीयोगोऽप्युक्तः । हसौ अं श्रीकण्ठेश-पूर्णोदरीभ्यां नमः केशान्ते इत्यादि प्रयोगः । अयं साम्प्रदायिकः पक्षः । अत्र ग्रन्थकृता छन्दोऽनुरोधादीशशब्दः क्वचिन्न दत्तः । न्यासावसरे सोऽवश्यं देय इति । केचित्तु पूर्णोदरीसहिताय श्रीकण्ठाय नमः इति वदन्ति । अन्ये तु पूर्णोदर्यै श्रीकण्ठाय नमः इत्याहुः । तदुभयमतेऽपि रुद्राणां प्राधान्यमिति ते वदन्ति । पूर्णोदरीश्रीकण्ठाभ्यां नमः इत्यपि केचिदिच्छन्ति । तत्पक्षत्रयमप्यसाम्प्रदायिकम् । सहितशब्दस्याऽनुक्तस्याऽ-धिकस्य प्रथमपक्षे प्रयोगः । द्वितीयपक्षे उभयत्र चतुर्थ्यनुपपन्ना । एकत्र नमोयोगात् प्राप्यते अन्यत्र प्रापकाभावात् । पक्षत्रये च रुद्रसंयुताम् इत्युक्तत्वात् मातृकाया रुद्रैः सहाऽव्यवधानेन संयोगो न भवति । अतः साम्प्रदायिकः पक्ष एव ज्यायान् ।

अपेक्षितार्थद्योतनिकाकारस्तु श्रीकण्ठेशाय पूर्णोदर्यै नमः इति प्रयोगमाह स्म । तदप्ययुक्तम् । यतो ध्याने अग्नीषोमादिवत् समुच्चितयोरेव देवतात्वं प्रतीयते । अस्मिंश्च प्रयोगे देवतयोः समुच्चितत्वम् । पृथक्चतुर्थीनिर्देशेनेतरेतरनिरपेक्षयोरेव तत्प्रतीतेः । किञ्च । यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोतीत्यत्र शब्दद्वयकृत परस्परापेक्षयोः प्रत्येकं क्रियान्वयाभावेऽपि देवतासमुच्चयस्येष्टत्वात् । अत्र तु तदभावेन प्रत्येकं नमोऽन्वयात् सुतरां तत्समुच्चया प्रतीतिः । तेन होमादावपि श्रीकण्ठेशपूर्णोदरीभ्यां स्वाहेत्येकै-वाहुतिः । एवं केशवादिकामगणेशन्यासेष्वपि द्रष्टव्यम् । यत्तु क्वचित् केशवाय च कीर्त्त्यै चेत्युद्धारः स छन्दोऽनुरोधेनेति ज्ञेयम् ॥ ३८ ॥

संपूर्ण कामनाओं को देने वाली शारदा का पूर्ववत् अर्चन करे । पुनः 'हसौं' मन्त्र को आदि में लगाकर रुद्र तथा उनकी शक्तियों को चतुर्थ्यन्त कर उसमें नमः पद लगाकर, तत्तत्स्थानों में न्यास करे ।

प्रयोग विधि—यथा—'हसौ श्रीकण्ठेशपूर्णोदरीभ्यां नमः केशान्ते' आदि । (द्र० मन्त्रमहोदधि पृ० ६७२-६७५) ।। ३८ ।।

ऋष्यादिकथनम्

सधातुप्राणशक्त्यात्मयुक्ता यादिषु ते क्रमात्।
ऋषिः स्याद्दक्षिणामूर्त्तिर्गायित्रं छन्द ईरितम् ॥ ३९ ॥
अर्द्धनारीश्वरः प्रोक्तो देवता तन्त्रवेदिभिः।
हसा षड्दीर्घयुक्तेन कुर्यादङ्गानि देशिकः॥ ४० ॥

सधात्विति। ते रुद्रा यादिषु यकारादिषु दशसु व्यापकेषु। धातवः त्वगसृग्भ्यां समेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि प्राणः शक्तिरात्मा च एतद्युक्ताः क्रमात् ज्ञेयाः । अत्र यद्यपि रुद्रपदं समासगर्भितं तथापि सर्वनाम्ना परामृश्यते । 'सर्वनाम्नानुवृत्तिर्वृत्तिच्छन्नस्य' इति वामनसूत्रात् । प्रयोगस्तु । ह्सौः यं त्वगात्मभ्यां वालीश-सुमुखीश्वरीभ्यां नमः हृदये इत्यादि। अत्र आत्मशब्दः सम्प्रदायात् प्रयुज्यते। ग्रन्थान्तरे आत्मशब्दस्थाने क्रोधशब्दमुक्त्वा आत्मशब्दः सर्वत्र प्रयोक्तव्य इत्युक्तम्।

तथा — यादीन् धातुप्राणशक्तिक्रोधाद्यानात्मने युतान्। इति।

अन्यत्रापि — जीवं शक्तिं क्रोधमप्यात्मने तान्। इति।

आचार्यास्तु—तावपि धातवो याद्याः सप्तसमीरणश्च सपरःक्षः क्रोध इत्यम्बिके। इति। अत्र क्षकारस्य नरसिंहबीजत्वात् क्रोधशब्दोक्तिः । पद्मपादाचार्यैः प्रथमपद्यव्याख्याने विरचितेत्यादिना मातृकास्थानोक्तिराख्यायते । आख्यायन्ते एभिरिति सप्तधातवः हृच्छब्देन प्राणः शक्तिश्चाभिहिता। कशब्देन सुखार्थेन परमात्मोक्त इति यादिन्यास-स्थानानीत्युक्तम् । तन्मतानुसारेणेह मूलकारेण आत्मग्रहणं कृतम् । ननु त्वगादिपरमात्मान्तस्य देवतात्मनो यादिन्यासेनैव साधकशरीरे सन्निधाने सति किमवशिष्टाक्षरन्यासेनेति । देवतावयवविशेषरचनाकल्पनेति ब्रूमः । न च प्रथमं सामान्यकल्पना पुनर्विशेषकल्पनेति नियमोऽस्ति । येन लिपिन्यासस्य क्षकारादित्वं स्यात् । सर्वत्र नित्यमेव सामान्यविशेषरूपं हि देवताशरीरम् । तस्य साधकशरीरे सन्निधिर्न्यासेनोत्पाद्यते । अतः प्रथममकारादिन्यासेन अवयवविशेषसन्निधिस्मरणे न कश्चिद्दोषः । न च संहारक्रमेण मातृकान्यासे प्रथमं सामान्यसंहारः पश्चाद्विशेषसंहार इति क्रमलोपः । उभयोरप्यात्मन्येव संहारात् । न च सामान्यसंहारेणैव संहृतत्वात् विशेषाणां पृथक्संहरणमनर्थकम् । विशेषसंहारक्रमचिन्तायाः कर्त्तव्यत्वात् । षड्दीर्घाः आ ई ऊ ऐ औ अः । तद्युक्तेन हसा हकारसकारेण देशिक इत्यनेन मिलितेन इत्युक्तम्। प्रयोगस्तु—हसां हृदयाय नम इत्यादि । अन्ये तु हसामादिकानि मातृकाङ्गानि एवमिच्छन्ति।

साम्प्रदायिकास्तु प्रणवमायालक्ष्मीपञ्चाक्षरीब्रह्माणिमाहेश्वरिकौमारिवैष्णवि-वाराहीन्द्राणीः स्वबीजाद्याः रक्षयुग्मान्ता अमुकवाहनेप्रमुखरक्षयुग्मान्ता अमुकहस्ते प्रमुख मां रक्षयुग्मान्ता दीर्घत्रयाक्रान्तमायापुटितमातृकाङ्गानि तार्त्तीयञ्च सञ्जीवनि ऊर्द्ध्वकेशिनि जटिलकेशिनि विस्वरूपिणि ताराक्षिणि द्विः मारय शब्दानुच्चार्य हृदयादीन्युच्चारयेत् इति। प्रयोगस्तु—ॐ ह्रीं श्रीं नमः शिवाय नमः हँ ब्रह्माणि रक्ष रक्ष हंसवाहने रक्ष रक्ष पद्महस्ते मां रक्ष रक्ष ह्रां ह्रीं ह्रूँ अं कं खं गं घं ङं आँ ह्रां ह्रूँ ह्सौः सञ्जीवनि हृदयाय नमः इत्यादि । बीजानि तु माँ कँ क्रों हुं हँ । आयुधानि

पद्मशूलशक्तिचक्रगदावज्राणि । व्यापकमन्त्रस्तु—ॐ ह्रीं श्रीं नमः शिवाय हूं चामुण्डे रक्ष रक्ष वेतालवाहने रक्ष रक्ष पाशहस्ते मम सर्वाङ्गं रक्ष रक्ष ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्स्वषट्कं आदिक्षान्तं दीर्घषट्कमुच्चार्य ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्सौः सर्वाङ्गव्यापिनी स्वाहा इति व्यापकं कृत्वा श्रीकण्ठमातृकां न्यसेदिति । अत्रान्ये मुखादौ अष्टव्यापकमन्त्राः सम्प्रदायतो ज्ञेयाः । यत् प्रयोगसारे—

मातरोऽष्टौ समुत्पन्ना वर्गाणां नायिकाश्च ताः ।
व्यापिनी पालिनी देवी पावनी क्लेदिनी पुनः ॥
धारिणी मालिनी भूयो हंसिनी शान्तिनी तथा ।
वर्गाणां नायकाश्चाष्टौ भैरवाः समुदाहृताः ॥ इति ।

अष्टमो व्यापकन्यासस्तु आदिक्षान्तमुच्चार्य संहारभैरवशान्तिनीभ्यां नमः सर्वाङ्गे ॥ ३९-४० ॥

पुनः साधक यकारादि दश व्यापक वर्णों को आदि में उच्चारण कर त्वक्, असृक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र इन सप्त धातुओं को बारी बारी से आत्मशक्ति के साथ रुद्रात्मक शक्तियों में चतुर्थी विभक्ति लगाकर अन्त में नमः शब्द का प्रयोग करते हुये न्यास करे ।

प्रयोग विधि—यथा—ॐ हसौँ यं त्वगात्मभ्यां बालीशसुमुखीश्वरीभ्यां नमः हृदये इत्यादि ।

तन्त्रवेत्ताओं ने इस न्यास का ऋषि दक्षिणामूर्त्ति, गायत्री छन्द तथा अर्धनारीश्वर देवता कहा है । तदनन्तर साधक छः दीर्घाक्षरों (आ ई ऊ ऐ औ अः) से युक्त हसौ मन्त्र से षडङ्गन्यास करे ।

प्रयोग विधि—यथा—ॐ आं हसौ हृदयाय नमः, ॐ ई हसौ शिरसे स्वाहा इत्यादि ॥ ३९-४० ॥

अर्द्धाम्बिकेशध्यानम्

बन्धूककाञ्चननिभं रुचिराक्षमालां
पाशाङ्कुशौ च वरदं निजबाहुदण्डैः ।
बिभ्राणमिन्दुशकलाभरणं त्रिनेत्र-
मर्द्धाम्बिकेशमनिशं वपुराश्रयामः ॥ ४१ ॥

बन्धूकेति । आयुधध्यानं दक्षे ऊर्द्धादि अङ्कुशाक्षमालेऽपरे वामे ॥ ४१ ॥

अर्धनारीश्वर का ध्यान—जिन अर्द्धनारीश्वर का वर्ण बन्धूक पुष्प तथा काञ्चन वर्ण के समान रक्त पीत मिश्रित है । जिन्होंने अपने हाथों में मनोहर जपमाला, पाश, अंकुश तथा वर मुद्रा धारण किया है, जो चन्द्रमा की कला का आभूषण मस्तक में धारण किये हुये हैं । ऐसे अर्धाम्बिकेश्वर के दिव्य विग्रह का मैं ध्यान करता हूँ ॥ ४१ ॥

केशवादिमातृकान्यासः

पूर्वोक्तेनैव मार्गेण पूजयेत् तं यथाविधि।
स्मराद्यां मातृकां न्यस्येत् केशवादिनमोऽन्विताम् ॥ ४२ ॥

यथाविधीत्यनेनैतदुक्तं भवति । स्मराद्यां वालाद्यां वा काममातृकां न्यसेत् । क्लीँ अं कामरतिभ्यां नमः इति केशान्ते इत्यादिप्रयोगः । एतद्ध्यानं यथा—

रक्ताङ्गारागकुसुमाम्बरमात्तभूषं
नीलोत्पलाढ्यकरशक्तिसुभूषिताङ्कम् ।
ध्यायेत् प्रसूनशरमिक्षुधनुर्धरञ्च
सद्दाडिमीकुसुमभासमनङ्गमूर्त्तिम् ॥ इति ।

एवं गणपतिबीजाद्यां षड्बीजाद्यां वा गणपतिमातृकां न्यसेत् । तत्र प्रयोगः— गं अं विघ्नेशश्रीभ्यां नमः केशान्ते इत्यादि । ध्यानञ्च—

तारुण्योन्मदचारुलोहितलसत्कान्त्यङ्गरागाम्बरं
सद्रक्तोत्पलहस्तया वनितया वामाङ्कमारूढया ।
हस्ताब्जैर्वरमङ्कुशं गुणमभीतिं धारयन्तं शुभं
ध्यायेयं गणपं गजेन्द्रवदनं नेत्रत्रयोद्भासितम् ॥ इति ।

अत्रोभयोरपि व्यापकेषु त्वगादियोगोऽप्यनुसन्धेयः । केशवादिमातृकान्यासमाह स्मराद्यामिति कामबीजाद्याम् । साम्प्रदायिकास्तु त्रिपुटानारायणाष्टाक्षरयोगमिच्छन्ति । अन्ये प्रणवत्रययोगं परे प्रणवत्रयपुटितत्वम् । केचन श्रीबीजयोगमिति । यथासम्प्रदायं व्यवहारः । प्रयोगस्तु—क्लीँ अं केशवकीर्त्तिभ्यां नमः केशान्ते इत्यादि । केचन केशवाय कीर्त्त्यै नमः इत्यपीच्छन्ति ॥ ४२ ॥

इस प्रकार अर्द्धनारीश्वर का ध्यान कर पूर्वोक्त रीति से उनका पूजन करे । और स्मराद्यां (क्लीं) पूर्वक काम मातृका का न्यास करे।

प्रयोग विधि—यथा—क्लीँ अं कामरतिभ्यां नमः इति केशान्ते इत्यादि ।

इस न्यास के बाद मातृकाक्षरों से युक्त केशवादि और उनकी शक्तियों में चतुर्थ्यन्त लगा कर नमः पद से केशवादिन्यास करे ।

प्रयोग विधि—यथा—ॐ अं केशवकीर्त्तिभ्यां नमः केशान्ते इत्यादि (द्र० मन्त्रमहोदधि पृ०६७५-६७७) ॥ ४२ ॥

सधातुप्राणशक्त्यात्मयुक्ता यादिषु विष्णवः।
ऋषिः प्रजापतिः प्रोक्तो गायत्रं छन्द ईरितम् ॥ ४३ ॥
अर्द्धलक्ष्मीर्हरिः साक्षाद् देवताऽत्र समीरिता ।
दीर्घयुक्तेन बीजेन षडङ्गानि समाचरेत् ॥ ४४ ॥

सधात्विति । यं त्वगात्मने पुरुषोत्तमाय वसुधायै नमः हृदय इत्यादि । दीर्घयुक्तेनेति । दीर्घाः षट् पूर्वोक्ताः तद्युक्तेनादिबीजेन कामबीजेन तेन क्लां क्लीं

इत्यादि हृदयादिषु ज्ञेयम् । अन्ये तु क्लामादिकानि मातृकाङ्गान्येवेच्छन्ति । साम्प्रदायिकास्तु मायानारायणाष्टाक्षरराजपापरमात्ममन्त्रस्वरपुटितैः कादिवर्णैः देवी-पद्मिनीविष्णुपत्नीवरदाकमलरूपाशूलिनीयुक्तैः हृदयादीन्यङ्गानि इति मन्यते । प्रयोगस्तु—ॐ नमो नारायणाय हंसः सोहं अं कं खं गं घं ङं आं ॐ नमो नारायणाय हंसः सोहं देव्यै हृदयाय नमः इत्यादि ॥ ४३-४४ ॥

पुन: यकारादि पूर्वक त्वगादि से युक्त प्राणशक्ति भूत आत्मशब्द के साथ विष्णु के नामों द्वारा त्वगादि सप्त धातुओं में न्यास करे ।

प्रयोग विधि—यथा यं त्वगात्मने पुरुषोत्तमवसुधाभ्यां नम: हृदये' इत्यादि ।

इस न्यास के प्रजापति ऋषि है, गायत्री छन्द है अर्धलक्ष्मी एवं हरि साक्षात् देवता कहे गये हैं । तदनन्तर दीर्घाक्षर (आ ई ऊ ऐं औ अ:) आदि से युक्त बीजाक्षर (क्लाँ, क्लीँ) से षडङ्गन्यास करे ।

प्रयोग विधि—यथा—'आं क्लीं हृदये नम:' इति हृदि इत्यादि ॥४३-४४॥

अर्द्धलक्ष्मीध्यानम्

हस्तैर्बिभ्रत् सरसिजगदाशङ्खचक्राणि विद्यां
पद्मादर्शौ कनककलशं मेघविद्युद्विलासम् ।
वामो तुङ्गस्तनमविरलाकल्पमाश्लेषलोभा-
देकीभूतं वपुरवतु वः पुण्डरीकाक्षलक्ष्म्योः ॥ ४५ ॥

हस्तैरिति । मेघेत्यादि वपुर्विशेषणम् । आकल्पो भूषा । आयुधध्यानं दक्षिणाधोहस्तमारभ्य वामाधस्तनं यावत् । तेन पुरुषायुधानि दक्षिणतः स्त्र्यायुधानि वामत इति सिध्यति । पद्मपादाचार्याणां सम्मतमेतत् । उक्तञ्च—

विद्यारविन्दमुकुरामृतकुम्भपद्म कौमोदकीदरसुदर्शनशोभिहस्तम् । इति ।

अत्र वामोर्द्धादि दक्षोर्द्धान्तं क्रमो ज्ञेयः । अन्यत्र यदस्मिन् न्यासे चतुर्भुजध्यानं तत् केवलविष्णोः न लक्ष्मीसहितस्येति ज्ञेयम् । अयमप्यावश्यकः । यदाहुः—

केशवादिरयं न्यासो न्यासमात्रेण देहिनाम् ।
अच्युतत्वं ददात्येव सत्यं सत्यं न चान्यथा ॥ इति ॥ ४५ ॥

पुन: **अर्धलक्ष्मीश्वर हरि का ध्यान** इस प्रकार करे—जिन अर्द्धलक्ष्मीश्वर श्री हरि ने अपने हाथों में कमल, गदा, शङ्ख, चक्र, विद्या, पद्म, आदर्श तथा कनक कलश धारण किया है तथा आलिङ्गन के लोभ से मेघ में चमकती हुई बिजली के समान जिनका बायाँ स्तन निरन्तर अविरल रूप से अर्धविष्णु में एकीभूत हो गया है—ऐसे पुण्डरीकाक्ष श्री विष्णु तथा माता लक्ष्मी का मिला हुआ अर्द्धलक्ष्मीश्वर स्वरूप हम लोगों की रक्षा करे ॥ ४५ ॥

अत्राऽर्चनादिकं सर्वं प्राग्वन्मन्त्री समाचरेत् ।
शक्तिपूर्वां तनौ न्यस्येन्मातृकां मन्त्रवित्तमः ॥ ४६ ॥

ऋषिः शक्तिः स्मृतं छन्दो गायत्रं देवता बुधैः।
सम्प्रोक्ता विश्वजननी सर्वसौभाग्यदायिनी ॥ ४७ ॥
दीर्घार्द्धेन्दुयुजाऽङ्गानि कुर्यान्मायात्मना बुधः॥ ४८ ॥

ऋषिः शक्तिरिति वशिष्ठपुत्रः । सर्वसौभाग्यदायिनीति विनियोग उक्तः । दीर्घेति । दीर्घाः षड्दीर्घाः अर्द्धेन्दुर्बिन्दुः । एतद्युक्तेन मायात्मना बीजेनेति शेषः । प्रयोगस्तु ह्रां हृदयाय नमः इत्यादि । केचन ह्रामादिकानि मातृकाङ्गान्येवेच्छन्ति । एवमग्रेऽपि ॥ ४६-४८ ॥

इस प्रकार ध्यान कर, मन्त्र साधक उन अर्द्धलक्ष्मीश्वर का पूर्ववत् पूजन करे । पुनः शक्तिपूर्वक (ह्रीं क्लीँ) मातृकाओं से न्यास करे ॥ ४६ ॥

बुद्धिमानों ने इस न्यास का ऋषि वशिष्ठपुत्र शक्ति, गायत्री छन्द तथा सर्वसौभाग्यदायिनी विश्वजननी देवता कहा है ॥ ४७ ॥

दीर्घ वर्णों पर (आ ई ऊ ऐ औ अः) अर्द्धेन्दु अनुस्वार लगा कर उससे युक्त मायाबीज से अङ्गन्यास करे ।

प्रयोग विधि—यथा—'ॐ आं क्लीं ह्रीं हृदयाय नमः' इति हृदि इत्यादि ॥४८॥

विश्वजननीध्यानम्

उद्यत्कोटिदिवाकर [1]प्रतिभटोत्तुङ्गोरुपीनस्तनी
बद्धवार्द्धेन्दुकिरीटहार रसनामञ्जीर संशोभिता ।
बिभ्राणा करपङ्कजैर्जपवटीं पाशाङ्कुशौ पुस्तकं
दिश्याद् वो[2] जगदीश्वरी त्रिनयना पद्मे निषण्णा मुखम् ॥४९॥

उद्यदिति । मञ्जीरो नूपुरः । जपवटीमक्षमालाम् । आयुधध्यानं दक्षे ऊर्ध्वादि अङ्कुशाक्षमाले परे वामे । उक्तञ्च पद्मपादाचार्यैः—अक्षसूत्राङ्कुशपाशपुस्तककरा ध्येया इति ॥ ४९ ॥

उदय होते हुये करोडों सूर्य के समान जिनके अङ्ग प्रत्यङ्ग की कान्ति है, जिनका ऊरु अत्यन्त मांसल तथा उत्तुङ्ग है, स्तन स्थूल (मोटे हैं) भाल प्रदेश पर द्वितीया के चन्द्रमा का किरीट, वक्षःस्थल में मुक्ताहार, कटिप्रदेश में काञ्ची, पैरों में मञ्जीर शोभा दे रही है और जिनके कर कमलों में जपमाला, पाश, अंकुश और पुस्तक विद्यमान हैं, पद्मासन पर बैठी हुई ऐसी तीन नेत्रों वाली जगदीश्वरी आप को सुख प्रदान करें ॥ ४९ ॥

पुरोदितेन विधिना देवीमन्वहमर्चयेत् ।
न्यसेच्छ्रीबीजसम्पन्नां मातृकां विधिना तनौ ॥ ५० ॥

---

१. 'प्रतिनिभा' इति पुरश्चर्यार्णवे पाठः ।
२. 'नो' इति पुर० पाठः ।

ऋषिर्भृगुः स्मृतं छन्दो गायत्रं देवता स्मृता ।
समस्तसम्पदामादिर्जगतां नायिका बुधैः ॥ ५१ ॥
प्राक्प्रस्तुतेन बीजेन कुर्यादङ्गानि साधकः ॥ ५२ ॥

समस्तसम्पदामादिरिति विनियोगोक्तिः । प्राक्प्रस्तुतेनेति पूर्वोक्तेन मार्गेण षड्दीर्घयुक्तेनेत्यर्थः । बीजेन श्रीबीजेनेत्यर्थः । तेन श्रां श्रीमित्यादि षडङ्गम् । एतदादीनि मातृकाङ्गानि वा ॥ ५०-५२ ॥

इस प्रकार पूर्व में कही गई विधि के अनुसार देवी का नित्य अर्चन करे । पश्चात् श्री बीज से युक्त मातृकाओं से अङ्गन्यास करे ।

प्रयोग विधि—यथा—'ॐ श्रीं अं नमः' इत्यादि ॥ ५० ॥

इस न्यास के भृगु ऋषि हैं, गायत्री छन्द है । बुद्धिमानों ने इसका जगत् की समस्त संपत्तियों को प्रदान करने वाली महालक्ष्मी को देवता कहा है । पुनः साधक पूर्ववत् (षड्दीर्घ) श्री बीज से षडङ्गन्यास करे ॥ ५१-५२ ॥

महालक्ष्मीध्यानम्

विद्युद्दामसमप्रभां हिमगिरि प्रख्यैश्चतुर्भिर्गजैः
शुण्डादण्डसमुद्धृतामृतघटैरासिच्यमानामिमाम् ।
बिभ्राणां करपङ्कजैर्जपवटीं पद्मद्वयं पुस्तकं
भास्वद्रत्नसमुज्ज्वलां कुचनतां ध्यायेज्जगत्स्वामिनीम् ॥५३॥

विद्युदिति । आयुधध्यानं दक्षाधस्ताद् वामाधःपर्यन्तम् ॥ ५३ ॥

इसके बाद इस प्रकार **महालक्ष्मी का ध्यान** करे—

जिनके शरीर की कान्ति बिजली के समान जगमगा रही है, जिन्हें हिमालय पहाड़ के समान ऊँचे ऊँचे चार गजराज अपने शुण्डादण्ड में धारण किये गये अमृत के घड़े से स्नान करा रहे हैं, जिन्होंने अपने कर कमलों में जपमाला, दो कमल, और पुस्तक धारण किया है, ऐसी रत्नों के आभूषणों से सुशोभित कुचभार से विनम्र जगत्स्वामिनी महालक्ष्मी का हम ध्यान करते हैं ॥ ५३ ॥

आराधयेदिमां प्रोक्तवर्त्मना कुसुमादिभिः ।
न्यसेत् स्मराद्यां वपुषि मातृकां मङ्गलप्रदाम् ॥ ५४ ॥
ऋषिः सम्मोहनः प्रोक्तश्छन्दो गायत्रमुच्यते ।
देवता मन्त्रिभिः प्रोक्ता समस्तजननी परा ॥ ५५ ॥
स्मरेण दीर्घयुक्तेन विदध्यादङ्गकल्पनाम् ॥ ५६ ॥

स्मराद्यामित्यनेन कामश्रीशक्त्यादिकामपि न्यसेदित्युक्तम् । तस्य त एव ऋष्याद्याः । द्विरुक्तैर्बीजैरङ्गानि ।

पञ्चबाणपद्माङ्कुशाक्षमालापुस्तकपाशपद्मधनुर्धराऽरुणा ध्येया । आयुधध्यानं दक्षाधस्तनमारभ्य वामाधस्तन पर्यन्तम् । न्यासपूजादिकं पूर्ववदेव । सौकर्याय ध्यान-श्लोकोऽपि—

सा पञ्चबाणकमलाङ्कुशकाक्षमाला
विद्यागुणाब्जधनुरष्टकरा त्रिनेत्रा ।
रक्ताऽरुणाम्बर विलेपनभूषणाढ्या
पायात्तु वर्णजननी शशिशेखरा वः ॥

मङ्गलप्रदामिति विनियोगोक्तिः । दीर्घयुक्तेन षड्दीर्घयुक्तेन ॥ ५४-५६ ॥

तदनन्तर पूर्वोक्त रीति से पुष्प गन्धाक्षतादि द्वारा उनका पूजन करे और शरीर में मङ्गलप्रद क्लीं युक्त मातृकाओं से न्यास करे ॥ ५४ ॥

इस न्यास के सम्मोहन ऋषि है, गायत्री छन्द है तथा मन्त्रज्ञों ने पराम्बा समस्त जगज्जननी को इसका देवता कहा है । षड्दीर्घ युक्त काम मन्त्र के द्वारा षडङ्गन्यास करे ।

प्रयोग विधि—'ॐ आं क्लीं हृदये नमः' इति हृदि आदि ॥ ५५-५६ ॥

समस्तजननीध्यानम्

बालार्ककोटिरुचिरां स्फटिकाक्षमालां
कोदण्डमिक्षुजनितं स्मरपञ्चबाणान् ।
विद्याञ्च हस्तकमलैर्दधतीं त्रिनेत्रां
ध्यायेत् समस्तजननीं नवचन्द्रचूडाम् ॥ ५७ ॥
अर्चनादिक्रियाः सर्वाः प्रोक्ताः पूर्वविधानतः ।
शक्तिश्रीकामबीजाद्यां देवीं वर्णतनुं भजेत् ॥ ५८ ॥

बालेति । विद्यां पुस्तकम् । अक्षमालां पञ्चबाणान् दक्षे अधस्तनादि । वामे पुस्तकचापौ । इत्यायुधध्यानम् । तदुक्तं पद्मपादाचार्यैः—

अक्षस्त्रक्शरचापपुस्तकधरा ध्येया इति ॥ ५७-५८ ॥

तदनन्तर **समस्त जगत् की जननी का ध्यान** इस प्रकार करे—

करोड़ों उदीयमान सूर्य के समान जिनके शरीर की कान्ति है, जिन्होंने अपने कमल के समान हाथों में इक्षु का धनुष तथा काम के पञ्चबाण और विद्या धारण किया है, ऐसी तीन नेत्रवाली, चन्द्रमा को मस्तक में धारण किये हुये समस्त जगत् की जननी का मैं ध्यान करता हूँ ॥ ५७ ॥

इनकी भी अर्चनादि क्रिया पूर्वोक्त रीति से विधानपूर्वक करनी चाहिए । शक्ति ह्रीँ श्रीं (श्रीँ) कामबीज (क्लीँ) पूर्वक मातृकाओं का न्यास करे ॥ ५८ ॥

ऋषिः पूर्वोदितश्छन्दो गायत्रं देवता बुधैः।
सम्मोहनी समुद्दिष्टा सर्वलोकवशङ्करी ॥ ५९ ॥

पूर्वोदित इति । समोहनी सर्वलोकवशङ्करीति विनियोगोक्तिः ॥ ५९ ॥

इसके भी पूर्वोक्त ऋषि हैं, गायत्री छन्द हैं, तथा बुद्धिमानों ने समस्त लोकों को वश में करने वाली सम्मोहनी देवी को इसका देवता कहा है ॥ ५९ ॥

आवर्त्तितैस्त्रिभिर्बीजैः षडङ्गानि प्रकल्पयेत् ॥ ६० ॥

अवर्त्तितैरिति द्विवारम् । प्रथमातिक्रमे कारणाभावात् । एवं षड्बीजानि भवन्ति, ह्रीँ हृदयाय नमः इत्यादि प्रयोगः ॥ ६० ॥

'ह्रीँ क्लीँ श्रीँ' इन तीन बीज मन्त्रों की दो बार आवृत्ति कर षडङ्गन्यास करे । पुनः इस प्रकार ध्यान करे ॥ ६० ॥

सम्मोहनीध्यानम्

ध्यायेयमक्षवलयेक्षुशरासपाशान्
पद्मद्वयाङ्कुशशरान् वरपुस्तकञ्च ।
आबिभ्रतीं निजकरैररुणां कुचार्त्तां
सम्मोहनीं त्रिनयनां तरुणेन्दुचूडाम् ॥ ६१ ॥

ध्यायेयमिति । इक्षुशरासः इक्षुधनुः । आयुधध्यानं दक्षे ऊर्द्धादि अङ्कुश-पद्मशराक्षमालाः । वामे पाशपद्मधनुः पुस्तकानि । तदुक्तं पद्मपादाचार्यैः—अक्षस्रक्-पञ्चशरपद्माङ्कुशपाशपद्मेक्षुधनुः पुस्तकधराऽरुणा ध्येया इति ॥ ६१ ॥

सम्मोहिनी का ध्यान—अपने हाथों में अक्षवलय, इक्षु का शरासन, पद्मद्वय, अंकुश, बाण तथा नवीन पुस्तक धारण की हुई अरुण वर्णा, कुचभार विनम्र, तीन नेत्र वाली, अर्द्ध चन्द्र को भालप्रदेश में धारण किये हुये सम्मोहनी भगवती का मैं ध्यान करता हूँ ॥ ६१ ॥

यजेदावरणैः सार्द्धमुपचारैः सुशोभनाम् ।
प्रपञ्चयागं वक्ष्यामि सच्चिदानन्दसिद्धिदम् ॥ ६२ ॥
वेदादिः शक्तिरजपा परमात्ममहामनुः ।
वह्नेर्जाया च कथिता पञ्चमन्त्राः शुभावहाः ॥ ६३ ॥

प्रपञ्चेति । सच्चिदानन्दसिद्धिदमिति विनियोगोक्तिः । वेदादिः प्रणवः । अजपा हंसः । आत्ममहामनुः सोऽहं । वह्नेर्जाया स्वाहा । प्रणवो बीजं हल्लेखा शक्तिः । शुभावहा इत्यनेनास्य स्वातन्त्र्यमप्युक्तम् । यदाहुः—

स्वतन्त्रोऽपि यदा सिद्धिं कुर्यादष्टाक्षरो मनुः ।
तस्माद् यथावत् प्रजपेद्धीमान् मोक्षपरः पुमान् ॥ इति ।

साम्प्रदायिका वाग्भवहल्लेखासम्पुटमाहुः ॥ ६२-६३ ॥

सबका कल्याण करने वाली इन सम्मोहनी देवी का आवरणों के सहित उपचारों से पूजन करे । अब सत् चिद् आनन्द तथा सिद्धि देने वाले प्रपञ्चयाग को कहता हूँ ॥ ६२ ॥

प्रपञ्चयाग—वेदादि (प्रणव) शक्ति (ह्रीँ) अजपा (हंसः) परमात्ममनु (सोऽहम्) वह्निजाया (स्वाहा) ये उस प्रपञ्चयाग के महामन्त्र हैं । ॐ ह्रीं हंसः सोऽहँ स्वाहा' यही इस मन्त्र का स्वरूप हैं ॥ ६३ ॥

तारशक्त्यादिकां न्यस्येदजपात्मद्विठान्तिकाम्।
मातृकामुक्तमार्गेण सृष्ट्या देहे विधानवित्॥ ६४ ॥
ऋषिर्ब्रह्मा समुद्दिष्टश्छन्दो गायत्रमीरितम्।
समस्तवर्णसंव्याप्त परं तेजोऽस्य देवता ॥ ६५ ॥

तारशक्त्यादिकामिति । आत्मा परमात्ममन्त्रः । अजपायाः पूर्वमुक्तत्वात् । द्विठः स्वाहा । प्रतिवर्णमादौ तारमाये अन्ते त्वजपादयः । ॐ ह्रीं अं हंसः सोऽहं स्वाहा केशान्ते इत्यादि प्रयोगः । संहारस्य वक्ष्यमाणत्वात् अत्र सृष्ट्येत्युक्तिः । विधानविदित्यनेनैतदुक्तं भवति । षडङ्गन्यासपूर्वकं सावरणं महागणपतिं ध्यात्वा चतुश्चत्वारिंशद्वारं गणेशबीजं सकृद् गणानां त्वा इत्येवं चतुरावृत्तिमहागणपतिमन्त्रं प्रजप्य यथोक्तां शुद्धमातृकां त्रिर्विन्यस्य अ क च ट त प यादिकानपि सप्तमुखदोः-पदुदरहृत्सु न्यसेदिति ॥ ६४-६५ ॥

तारशक्ति (प्रणव) के सहित मायाबीज आदि में लगाकर पश्चात् अजपा (हंसः) परमात्मनु (सोऽहँ) के सहित स्वाहा अन्त में लगा कर प्रत्येक वर्ण से न्यास करे ।

प्रयोग विधि—यथा—'ॐ ह्रीं अं हंसः सोऽहं स्वाहा' इति केशान्ते इत्यादि ॥ ६४ ॥

इसके ब्रह्मा ऋषि तथा गायत्री छन्द हैं । समस्त वर्णों में व्याप्त परतेज इसका देवता कहा गया है ॥ ६५ ॥

स्वाहाद्यैः पञ्चमनुभिः पञ्चाङ्गानि प्रकल्पयेत्।
अस्त्रं दिक्षु बुधः कुर्याद् भूयो हरिहराक्षरैः॥ ६६ ॥

स्वाहाद्यैरिति विपरीतैः । स्वाहा हृदयाय नमः सोहं शिरसे स्वाहा इत्यादि प्रयोगः । दिक्ष्विति छोटिकाभिः । भूयोऽनन्तरं षष्ठाङ्गादित्यर्थः । हरिहराक्षरैरिति यथा श्रुतैः । तदुक्तम्—

जायाग्नेर्हृदयमथो शिरश्च सोहं हंसात्मा त्वथ च शिखा स्व(मा) यश्च वर्म ।
ताराख्यं समुदितमीक्षणं तथास्त्रं प्रोक्तं स्याद्धरिहरवर्णमङ्गमेव ॥ इति ।

हि ह इति केचित् ॥ ६६ ॥

प्रपञ्च मन्त्र के विलोम रूप स्वाहादि मन्त्रों के द्वारा पञ्चाङ्ग न्यास करे ।

प्रयोग विधि—यथा—स्वाहा हृदयाय नमः सोहं शिरसे स्वाहा, हंसः शिखायै वषट्, ह्रीँ, कवचाय हुम् ॐ नेत्रद्वयाभ्यां वौषट् इत्यादि । तदनन्तर इस प्रकार ध्यान करे ॥ ६६ ॥

ब्रह्मध्यानम्

तारादिपञ्चमनुभिः परिचीयमानं
मानैरगम्यमनिशं जगदेकमूलम् ।
सच्चित्समस्तगमनश्वरमच्युतं तत्
तेजः परं भजत सान्द्रसुधांशु(धाम्बु)राशिम् ॥ ६७ ॥

तारादीति । तत् प्रसिद्धं परं तेजः ब्रह्म अनिशं सर्वदा भजत । अन्येषां तेजसामेतद्व्याप्यत्वादस्य परत्वम् । सान्द्रसुधांशु (धाम्बु) राशिमिति व्यस्तरूपकम् । तेन पुलिङ्गत्वदोषोऽपि न । अङ्गुल्यः पल्लवान्यासन् इतिवत् । एतेनानन्दमयत्वं ध्वनितम् । अच्युतम् अविकारि । अविनश्वरमविध्वंसि । समस्तगं व्यापकम् । चित् स्वप्रकाशज्ञानरूपम् । सत् सत्तात्मकम् । 'सद्धीदं सर्वं सत्सत्' इति 'चिद्धीदं सर्वं काशते' इति श्रुतेः । जगदेकमूलं तत्परिणामरूपत्वाद् जगतः । मानैरगम्यम् । 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इति श्रुतेः । अत एवाह एतैः परिचीयमानम् एतेषां जपेन लभ्यमित्यर्थः । तत्र तारस्य पञ्चावयवस्य प्रलीनाशेषविकृतित्वात् देवीतारावयवानामपि तदवयवैः अभेदानन्दप्रत्ययार्थे पर्यवसायित्वात् । अजपात्ममन्वोरपि जीवपरमात्मतादार्थ्यत्वात् पञ्चद्विठावयवानामपि सर्वत्रानुगतचिदर्थत्वात् । संहितायान्तु—

प्रणवश्चित्कला ज्ञेया मायाव्याप्तिस्वरूपिणी ।
हंसः पदेन देवेशि साक्षादात्मस्वरूपिणी ॥
तत्रत्यबिन्दुत्रितयात् सृष्टिस्थितिलयात्मिका ।
प्रसूता बिन्दुनाद्येन वामेयं ब्रह्मरूपिणी ॥
बिन्दुनाऽथ द्वितीयेन पालयन्ती जगत्त्रयम् ।
ज्येष्ठेयं वैष्णवी माया चाद्या सत्त्वगुणा प्रिये ॥
अन्तेन बिन्दुना सर्वं रसन्ता तमसावृता ।
रौद्री बिन्दुत्रयं देवि प्रसूते चाम्बिका तदा ॥
आत्मानं दर्शयत्येषा हंसाख्या संहतिर्यदा ।
तदेयं दर्पणाकारा ततो ज्योतिर्मयी भवेत् ॥
वर्णाभ्यां वह्निजायायाः परं ज्योतिरिति प्रिये ।
एवं विचारयन् मन्त्री साक्षाद् ब्रह्म भवेत्तु सः ॥ इति ।

अत्र प्रपञ्चयागमूर्त्तेः पूजा नोक्ता सा तन्त्रान्तरोक्ता यथा—

मातृकामन्त्रसम्प्रोक्ते पीठे सल्लिपिपङ्कजे ।
प्रपञ्चयागमूर्त्तिन्तु समावाह्य प्रपूजयेत् ॥
स्वरैराद्यावृतिः प्रोक्ता द्वितीया कादिमूर्त्तिभिः ।
तृतीया तु समुद्दिष्टा भारत्या ह्यष्टशक्तिभिः ॥
चतुर्थी मातृभिः सार्द्धमसिताङ्गादिभैरवैः ।

वासवादिदिशां नाथैः पञ्चमी त्वायुधैः परा ॥ इति ॥ ६७ ॥

जिस परब्रह्म स्वरूप तेज का परिचय प्रपञ्चमन्त्र (ॐ ह्रीँ हंसः सोऽहं स्वाहा) से प्राप्त होता है, जो अन्य प्रमाणों से अगम्य होने के कारण ज्ञान से परे हैं, जो जगत् का मूल कारण हैं और सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, जो सब में व्याप्त हैं तथा जिसका कभी नाश नहीं होता, जिसमें कभी विकार नहीं होता, ऐसे सान्द्र सुधासमुद्र रूपी परब्रह्मतेज का भजन करना चाहिए ॥ ६७ ॥

प्रपञ्चयागः

पञ्चभूतमया वर्णा वर्गशः प्रागुदीरिताः ।
तस्माज्ज्ञानेन्द्रियात्मानः प्रपञ्चं तन्मयं विदुः ॥ ६८ ॥

प्रपञ्चयागं वक्ष्यामीत्युक्तम् । तत्र प्रपञ्च इज्यते हूयते यत्रेति प्रपञ्चयागः । तमेव होमप्रकारं वदन् न्यासान्तरमपि सूचयति पञ्चभूतेति । प्रागिति द्वितीये । ज्ञानेन्द्रियात्मान इत्युपलक्षणम् । तेनाकाशवर्णाः । ज्ञानकर्मेन्द्रियात्मानः वायुवर्णाः तदर्थरूपाः अग्निवर्णाः प्राणादिदशवायुरूपा इत्याद्यूह्यम् । तन्मयं पञ्चभूतमयम् ॥ ६८ ॥

देहोऽपि तादृशस्तस्मिन् न्यस्येद् वर्णान् विलोमतः ।
तत्तत्स्थानयुतान् मन्त्री जुहुयात् परतेजसि ॥ ६९ ॥

तादृश इति पञ्चभूतमयः । तत्र वर्णान् न्यस्येदिति । तत्र प्रकारः पृथिव्या दशवर्णान् प्रपञ्चयागवदुच्चार्य पादतलादिजानुपर्यन्तं विन्यसेत् । एवमाकाशान्तं विन्यसेत् । विलोमत इति । पुनराकाशादिवर्णान् तत्तत्स्थानेषु भूमिपर्यन्तं विन्यसेत् । तत्तदिति विपरीतन्यासे ध्यानम् । एवं ध्यानं कृत्वा विपरीतं न्यसेत् ॥ ६९ ॥

वर्गों के प्रसङ्ग (२,९,१०) से यह कहा गया है कि वर्ण पञ्चभूतमय हैं, उन भूतमय वर्णों से ज्ञानेन्द्रियाँ तथा समस्त प्रपञ्च उन्हीं से उत्पन्न हुये हैं, देह भी पञ्चभूतमय हैं इसलिये पञ्चभूतमय देह में पञ्चभूतमय वर्णों का विलोम क्रम से न्यास करे ।

उसकी विधि—उ औ ग ज ड द ब ल ह पृथ्व्यात्मकान् दशवर्णान् तलादिजानुपर्यन्तं न्यसामि । एवं नाभि पर्यन्तम्, हृदय पर्यन्तम् इत्यादि । पुनः आकाश वर्णों को शिर से आरम्भ कर पादतल पर्यन्त न्यास करे ।

तदनन्तर मन्त्रज्ञ साधक 'ॐ ह्रीं क्षं हंसः सोऽहं स्वाहा' इस संहार क्रम से न्यास करे तथा 'क्षकार' तदधिष्ठातृ देवतां तत्तत्स्थानं च तदवच्छिन्नचैतन्ये जुहोमि' इस प्रकार ध्यान भी करे ॥ ६८-६९ ॥

एवं वर्णमयं होमं कृत्वा दिव्यतनुर्भवेत् ।
न्यस्य मन्त्री यथान्यायं देहे विश्वस्य मातरम् ॥ ७० ॥
जपेन्मन्त्रान् भजेद्देवान् यजेदग्निमनन्यधीः ।
द्रव्यैश्च जुहुयादग्नौ मन्त्रवित् तन्त्रचोदितैः ॥ ७१ ॥

पूर्वोक्तं प्रपञ्चयागेऽप्यतिदिशति एवमिति । तत्र प्रकारः ॐ ह्रीँ क्षं हंसः सोऽहं स्वाहा इति आन्तं विन्यसेत् । तत्र क्षकारं तदधिष्ठातृदेवतां तत्तत्स्थानञ्च तदवच्छिन्नैः चैतन्ये जुहोमीति ध्यायन्नेव संहारन्यासं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः । अयं साम्प्रदायिकः पक्षः ।

तदुक्तम्— आधारोद्यच्छक्तिबिन्दूत्थिताया
वक्त्रे मूर्द्धेन्दु ग्रसन्त्याः प्रियायाः ।
क्षाद्यान्तार्णान् पातयेत् वह्निसोम-
प्रोतान् मन्त्री मुच्यते रोगजातैः ॥ इति ।

एवमुक्तसर्वविधमातृकान्यासस्य मन्त्रान्तरादौ कर्त्तव्यतामाह न्यस्येति । मन्त्री यथान्यायमित्यनेनैतदुक्तं भवति । सर्वान् मातृकान्यासान् कर्त्तुमशक्तः शाक्ते कलामातृकादीन् शैवे श्रीकण्ठमातृकादीन् वैष्णवे केशवमातृकादीन् शुद्धप्रपञ्चयागमातृके सर्वत्र न्यसेदिति । तदुक्तम्—

जपादौ सर्वमन्त्राणां विन्यासेन लिपेर्विना ।
कृतं तन्निष्फलं विद्यात् तस्मात् पूर्वं लिपिं न्यसेत् ॥ इति ।

कादिमतेऽपि— मातृकायाः षडङ्गञ्च मातृकान्यासमेव च ।
सर्वासां प्रथमं कृत्वा पश्चात्तन्त्रोदितं न्यसेत् ॥इति।

आचार्याश्च—लिपिन्यासादिकान् साङ्गान् । इति ।

नारायणीये च— अङ्गानि च न्यसेत् सर्वे मन्त्राः साङ्गास्तु सिद्धिदाः । इति ।

अन्यत्रापि— रुद्रैर्युक्तां केवलां वा मनूनां कर्मारम्भे मातृकां विन्यसेद् यः ।
मन्त्रान् सद्यः कुर्वते तस्य सिद्धिं पापैः सार्द्धं याति नाशं जरा च ॥

इति । अनन्यधीरित्यनेन मातृकापुटितजपेन मन्त्रसिद्धिरुक्ता । तदुक्तम् —

कुलप्रकाशतन्त्रे— मन्त्री तु प्रजपेन्मन्त्रं मातृकाक्षरसम्पुटम् ।
क्रमोत्क्रमाच्छतावृत्त्या मासात् सिद्धो भवेन्नरः ॥
मातृकाजपमात्रेण मन्त्राणां कोटिकोटयः ।
सुसिद्धाः स्युर्न सन्देहो यस्मात् सर्वं तदुद्भवम् ॥ इति ।

प्रयोगसारेऽपि— मातृकायां तु सिद्धायां सिद्धाः स्युर्मन्त्रजातयः ।
सर्वे मन्त्रा यतो मग्ना मातृकायामितस्ततः ॥ इति ॥ ७०-७१ ॥

साधक इस प्रकार अपने शरीर में शास्त्रीय रीति से विश्वमाता का न्यास कर तथा वर्णमय होम कर दिव्य शरीर वाला हो जावे ।। ७० ।।

तदनन्तर दिव्य शरीर हो एकाग्रचित्त से मन्त्र का जप करे और देवताओं का पूजन करे तथा तन्त्रोक्त द्रव्यों द्वारा मन्त्रवेत्ता साधक अग्नि में होम करे ।

विमर्श—मातृकाक्षरों से संपुटित मन्त्र जप का विधान है ऐसा करने से मातृकायें सिद्ध हो जाती है । मातृकाओं के सिद्ध होने पर ही सभी मन्त्रों की सिद्धि होती है क्योंकि मातृकायें सभी वर्णों की जननी हैं ।। ७१ ।।

काम्यकर्मकथनम्

अश्वत्थोडुम्बरप्लक्षन्यग्रोधसमिधस्तिलाः ।
सिद्धार्थपायसाज्यानि द्रव्याण्यष्टौ विदुर्बुधाः ॥ ७२ ॥
अमीभिर्जुहुयाल्लक्षं तदर्द्धं वा समाहितः ।
सर्वान् कामानवाप्नोति परां सिद्धिञ्च विन्दति ॥ ७३ ॥

सर्वमातृकामन्त्राणां काम्यकर्माण्याह द्रव्यैरिति । द्रव्याण्याह अश्वत्थेति । जुहुयाल्लक्षमिति द्वादशसहस्राणि पञ्चशती एकैकेन द्रव्येण । तदर्द्धं वेति । षट्-सहस्राणि पञ्चाशदधिका द्विशती एकैकेन द्रव्येण । समाहित इत्यनेन तस्याप्यर्द्धमिति सूचितम् । 'मन्त्री तदर्द्धमथवापि तदर्द्धकं यः' इत्युक्तेः । तदा त्रिसहस्री सपाद-शतमेकैकेन द्रव्येण ॥ ७१-७३ ॥

१. अश्व, २. गूलर, ३. पाकर एवं ४. वट की समिधायें कही गई हैं । ५. तिल, ६. सिद्धार्थ (श्वेत सर्षप), ७. पायस और ८. घृत—ये ८ द्रव्य तन्त्र शास्त्रों में होम के लिये विहित कहे गये है ।। ७२ ।।

इनमें एक लाख होम के लिये एक एक द्रव्य से १२५० आहुति देवे, अथवा उसकी आधी संख्या में होम करे । ऐसा करने से साधक को महान् सिद्धि प्राप्त होती है और वह अपनी समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है ।। ७३ ।।

एभिरर्कसहस्राणि हुत्वा मन्त्री विनाशयेत् ।
रिपून् क्षुद्रग्रहान् भूतान् ज्वराञ्छापांश्च पन्नगान् ॥ ७४ ॥

अर्कसहस्राणीति । तदा सार्द्धसहस्रमेकैकेन । मन्त्रीत्यनेनैतदुक्तम् । विद्यादीना-मल्पत्वमहत्वे विचार्य द्विगुणं चतुर्गुणं वा होमः कार्य इति । उक्तञ्च—

द्वादशसहस्रमथवा तद्द्विगुणं तच्चतुर्गुणं वाथ जुहुयात् । इति ।

तदा सहस्त्रत्रयं सहस्रषट्कं वैकैकेन । एवमुत्तरत्रापि । अत्यल्पत्वे एकादिशतावृत्त्येत्यपि ज्ञेयम् । तदुक्तम्—

एकद्विकत्रिकचतुष्कशताभिवृत्त्या तां तां समीक्ष्य विकृतिं प्रजुहोतु मन्त्री । इति।

क्षुद्रं नारायणीयोक्तम्—स्तम्भद्वेषौ तथोत्साद उच्चाटो भ्रममारणे ।
व्याधिश्चेति स्मृतं क्षुद्रम् । इति ॥ ७४ ॥

मन्त्राणामयथावृत्तिप्रतिपत्तिसमुद्भवान् ।
विकारान् नाशयेदाशु होमोऽयं समुदीरितः॥ ७५ ॥

प्रयोगान्तरमाह मन्त्राणामिति। अयथावृत्तिर्वर्णानामन्यथोच्चारणम् । अप्रतिपत्तिः अयं मन्त्रः कलदो नेति ज्ञानम् । तदुद्भवान् विकारान् । तत्र अयथावृत्तेर्विकारो वातकुष्ठादिः अप्रतिपत्तेर्विकार उन्माद इति नारसिंहे प्रपञ्चितम् । तेन यथावृत्तिश्च प्रतिपत्तिश्च यथावृत्तिप्रतिपत्ती पश्चान्नञा सम्बन्धः । होमः समुदीरित इति सहस्रावृत्त्येति ज्ञेयम् । 'शमयेदचिरात् सहस्रवृत्त्या' इत्युक्तेः ॥ ७५ ॥

इन द्रव्यों के साथ आक के सहस्रों पत्रों द्वारा होम करने से मन्त्रज्ञ ब्राह्मण अपने शत्रुओं का क्षुद्र उपसर्ग (जड़ता, द्वेष, मानसिक दु:ख, उच्चाटन, भ्रम और मारण व्याधि) ग्रह-बाधा, भूतबाधा, शाप सर्पव्याधा मन्त्रों के अयथोचित उच्चारण होने से उत्पन्न उन्मादादि विकार शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ७४-७५ ॥

विमर्श—जिस मन्त्र का जो स्थान प्रयत्न है, उसे वैसा न उच्चारण करने से मन्त्र विकृत हो जाते हैं और वे उन्मादादि व्याधियों को उत्पन्न करते हैं ।

एभिस्त्रिमधुरोपेतैर्जुहुयाल्लक्षमानतः ।
अचिरादेव स भवेत् साक्षाद् भूमिपुरन्दरः ॥ ७६ ॥

त्रिमधुरोपेतैरिति । एभिरष्टभिः । पयोमधुघृतं त्रिमधुरम् । तदुक्तम्—आज्यं क्षीरं मधु तथा मधुरत्रयमुच्यते । इति । पयः स्थाने शर्करा वा ॥ ७६ ॥

जो पय, मधु, घृत इन तीन मधुर पदार्थों से युक्त कर उपर्युक्त अष्टद्रव्यों द्वारा पृथक् पृथक् (कुल मिला कर) एक लाख होम करता है वह शीघ्र ही इस पृथ्वी का इन्द्र बन जाता है ॥ ७६ ॥

अमीभिः साधको हुत्वा वश्यादीनपि साधयेत्।
हुत्वा लक्षं तिलैः शुद्धैर्मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ७७ ॥
पायसान्नेन जुहुयान्मन्त्री सर्वसमृद्धये ।
पद्मानां लक्षहोमेन महतीं श्रियमाप्नुयात् ॥ ७८ ॥
घृतेन जुहुयाल्लक्षं प्राप्नुयात् कीर्त्तिमुत्तमाम् ।
जातीकुसुमहोमेन सर्वलोकवशं नयेत् ॥ ७९ ॥
संशोधितैस्त्रिमध्वक्तैर्लवणैर्लक्षमानतः ।
जुहुयाद् गुलिकाः कृत्वा वशयेत् सर्वमञ्जसा ॥ ८० ॥

अमीभिरष्टभिः । साधक इत्यनेन लक्षार्द्धमब्दत्रयादर्वागित्युक्तम् । यदाहुः—लक्षं तदर्द्धकं वा मधुरत्रयसंयुतैर्हुनेदेतैः । अब्दत्रयादथाऽर्वाक् त्रिभुवनमखिलं वशीकुरुते । शुद्धैरिति अवकरं दूरीकृत्य प्रक्षाल्य संशोषितैरित्यर्थः । जुहुयाल्लक्षमिति सम्बध्यते । होमेनेति लक्षमानत इति सम्बध्यते । संशोधितैस्त्यक्तावकरैः लवणैः गुलिकाः कृत्वा इति सम्बन्धः । हुत्वा लक्षमित्यादिका संख्या महति कार्ये ।

जुहुयाच्च कार्यगुरुतालाघवमभिवीक्ष्य योग्यपरिमाणम् । इत्युक्तेः ॥७७-८०॥

इन त्रिमधुराक्त अष्टद्रव्यों के होम करने से साधक वशीकरणादि समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण कर लेता है । इतना ही नहीं त्रिमधुराक्त तिल से एक लाख होम करने से वह सभी पातकों से मुक्त हो जाता है ॥ ७७ ॥

अपने को सब प्रकार से सम्पन्न बनाने के लिये मन्त्रज्ञ साधक पायसान्न (खीर) से होम करे । एक लाख कमलों से होम करने पर अत्यधिक लक्ष्मी की प्राप्ति होती है ॥ ७८ ॥

केवल घृत द्वारा एक लाख होम करने से साधक महान् कीर्ति प्राप्त करता है। जाती पुष्प के होम से सारे संसार को वश में करने में समर्थ होता है ।। ७९।।

भली प्रकार से शुद्ध किये गये, त्रिमधुमिश्रित लवण की गोली बना कर एक लाख होम करने से साधक सबको अनायास वश में कर सकता है ।। ८० ।।

लिखित्वा पत्रखण्डेषु मातृकार्णान् पृथक् पृथक्।
अभ्यर्च्य जुहुयाद् वह्नौ तत्पत्राक्षरमुच्चरन् ॥ ८१ ॥

अभिचारहरहोमः

अभिचारहरो होमः सर्वरक्षाप्रसिद्धिदः ।
सहस्रहोमे वितरेद् दक्षिणां निष्कमानतः ॥ ८२ ॥

लिखित्वेति । पत्रखण्डेषु तालपत्रादिखण्डेषु मातृकार्णान् पृथक् प्रत्येकं लिखित्वा पृथक् प्रत्येकमभ्यर्च्य अग्नौ मातृकापीठमिष्ट्वा तन्मन्त्राक्षरमुच्चरन् जुहुयादिति सम्बन्धः । तत्र प्रत्यक्षरमृषिच्छन्दोदेवताशक्तिबीजान्युच्चार्य ध्यानं कृत्वा तेनैवाक्षरेण गन्धादि दद्यादित्यर्चनाक्रमः ।

तत्र ऋष्यादि यथा—अर्जुन्यायनमध्ये द्वौ भार्गवस्तौ प्रतिष्ठिका ।
अग्निवेश्यः सुप्रतिष्ठा त्रिषु चाब्धिषु गौतमः ॥
गायत्री च भरद्वाज उष्णिगेकारके परे ।
लोहित्यायनकोऽनुष्टुप् वशिष्ठो बृहती द्वयोः ॥
माण्डव्यो दण्डकश्चापि स्वराणां मुनिछन्दसी ।
मौहायनश्च पङ्क्तिः केऽजस्त्रिष्टुप् द्वितये घङोः ॥
योग्यायनश्च जगती गोपाल्यायनको मुनिः ।
छन्दोऽतिजगती चे छेत्रषकः शर्करी ह्यजः ॥
शर्करी काश्यपश्चातिशर्करी झञयोष्टठोः ।
शुनकोष्टिः सौमनस्योत्यष्टिर्डे कारणो धृतिः ॥
ढणोर्माण्डव्यातिधृति सांकृत्यायनकः कृतिः ।
त्रिषु कात्यायनस्तु स्यात् प्रकृतिर्नपकेषु बे ॥
दाक्षायनाकृति व्याघ्रायणौ भे विकृतिर्मता ।
शाण्डिल्यसंकृती मेऽथ काण्डल्यातिकृती यरोः ॥
दाण्ड्यायनोत्कृती लेऽथ वे जातायनदण्डकौ ।
लाट्यायनो दण्डकः शे षसहे जयदण्डकौ ॥
माण्डव्यदण्डकौ लक्षे कादीनामृषिछन्दसी ।
एवमुक्ते देवताश्च श्रीकण्ठादय ईरिताः ॥
बीजमस्याः शक्तयस्तु पूर्णोदर्यादयो मताः ॥ इति ।

ध्यानं पूर्वोक्तम् । तदुक्तमनुसन्धेयम् । निष्केति सुवर्णचतुष्कम् ॥ ८१-८२ ॥

पत्ते के टुकड़ों पर अलग अलग एक एक मातृकाओं को लिख कर उस पत्र में लिखे गये वर्णों का उच्चारण कर होम करने से अन्य द्वारा किया गया

अभिचार (मारण) प्रयोग नष्ट हो जाता है तथा साधक की सब प्रकार से रक्षा होती है । उसे सिद्धि प्राप्त होती है । एक सहस्रहोम में एक निष्क (चार सुवर्ण) दक्षिणा देनी चाहिए ॥ ८१-८२ ॥

अर्द्धं वा शक्तितो दद्याद् यथोक्तं फलमाप्नुयात् ।
अनया सप्त संजप्तं पिबेत् प्रातर्दिने दिने ॥ ८३ ॥

अनयेति । अयमत्र प्रयोगक्रमः । स्वयं देवताविग्रहो भूत्वा लिपिपद्मे जलमादाय बालादशाक्षरी ताः विपरीतदशाक्षरी बाला च एवं क्षान्तं जप्त्वाक्षाद्यन्तमेवं सबिन्दुकञ्च पुनः सबिन्दुविसर्गम आदिक्षान्तञ्च जप्त्वा भ्रूमध्ये अक्षराणां दीपशिखावद्व्याप्तिं ध्यायन् पिबेदिति । वर्णानामास्यान्तरुद्गमनम् आस्यात् शास्त्राद्याकारेण निर्गमनञ्च ध्यायन् पुनर्द्विवारं पिबेदिति ॥ ८३ ॥

ब्राह्मीघृतपाकप्रकारः

सलिलं स भवेद् वाग्मी लभते कवितां पराम् ।
ब्राह्मीरसे वचाकल्के पयसा विपचेद् घृतम् ॥ ८४ ॥

सलिलमिति पूर्वेण सम्बध्यते । भवेदित्यर्कमासत इति ज्ञेयम् । अनेडमूकोऽपि कवित्वगर्वितः पराञ्च सिद्धिं लभतेऽर्कमासतः । इत्युक्तेः । ब्राह्मीरस इति । अत्र घृतं जीवद्वत्सैकवर्णगोरेव ग्राह्यम् । दुग्धमपि तादृश्या एव । आयुर्वेदोक्तप्रकारेण च घृतपाकः । तत्र 'कल्काच्चतुर्गुणः स्नेहः' इति सामान्यतः स्नेहस्य चतुर्थभागः कल्क उक्तः । अत्र त्वयं स्वरसपाक इति कृत्वा स्नेहाष्टमांशः कल्को ग्राह्यः ।

तदुक्तम्— स्नेहः सिध्यति शुद्धाम्बुनिः क्वाथस्वरसैः क्रमात् ।
कल्कस्य योजयेदंशं चतुर्थं षष्ठमष्टमम् ॥ इति ।

अत्र ब्राह्मीरसः स्वरसः । तदुक्तम्—सम्पिष्यार्द्रं वस्तु वस्त्रगालितं स्वरसं विदुः। इति । कल्क इति । 'कल्को दृषदि पेषितः' इति । तत्रायं क्रमः । प्रस्थद्वयमितं घृतं पलद्वयमितः श्वेतवचाकल्कः ; घृताच्चतुर्गुणो ब्राह्मीरसः चतुर्गुणं क्षीरम् ।

पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ ।
तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् च स्याच्चतुर्गुणम् ॥

इत्युक्तत्वात् । चतुर्गुणं जलं देयम् ।

तदुक्तम्— क्षीरदध्यारनालैस्तु पाको यत्रेरितः क्वचित् ।
चतुर्गुणं जलं तत्र वीर्याधानार्थमाचरेत् ॥ इति ।

पाकज्ञानञ्च— नाङ्गुलिग्राहिता कल्के न स्नेहेऽग्नौ सशब्दता ।
वर्णादिसम्पच्च यदा तदैनं शीघ्रमाहरेत् ॥

तथान्यत्र— स्नेहस्य पाके कल्कस्तु वर्त्तितो वर्त्तिवद्भवेत् ।

तथा— घृतस्य फेणोपरमस्तैलस्य च तदुद्भवः ।
लेहस्य तन्तुमत्ताप्सु मज्जनं सरणं न च ॥ इति ।

इदं घृतं पानार्थमिति । अत्र सम एव पाकः ।

तदुक्तम्— स्नेहः पक्वो भवेत् सिद्ध्यै पाकः पाने भवेत् समः ।
खरोऽभ्यङ्गे मृदुर्नस्ये सामान्येयं प्रकल्पना ॥ इति ॥ ८४ ॥

यदि दक्षिणा देने की उतनी शक्ति न हो तो आधी दक्षिणा देने से भी उसे यथोक्त फल प्राप्त होता है । इस मन्त्र के द्वारा सात बार अभिमन्त्रित जल प्रतिदिन प्रातःकाल पीने से मनुष्य वाक्पटु हो जाता है और महान् कवि होकर उत्तमोत्तम कविता करने में समर्थ हो जाता है । वचा कूटकर ब्राह्मी के स्वरस में घी के साथ चार गुना दूध में पकावें ॥ ८३-८४ ॥

अयुतं मातृकाजप्तमर्चितञ्च विधानतः ।
पिबेत् प्रातः स मेधावी भवेद् वाक्पतिसन्निभः ॥ ८५ ॥
ब्राह्मीं सहस्रसंजप्तां वचां वा पयसा पिबेत् ।
स लभेन्महतीं मेधामचिरान्नाऽत्र संशयः ॥ ८६ ॥

विधानत इति । ततो घृतं समुत्तार्य शीतलमयुतजप्तं मातृकापीठं घृते विभाव्य मातृकोक्तविधानेन पूजितं पिबेदिति । भवेदिति संवत्सरादिति ज्ञेयम् । 'कविर्भवति वत्सरतः' इत्युक्तेः । तन्त्रान्तरे तु विशेषः—

पलं श्वेतवचाचूर्णं कर्षं तुरगगन्धि च ।
कृष्णा हरिद्रा सिन्धूत्थं धात्री रुग्विश्वभेषजम् ॥
प्रतिनिष्कन्तु सञ्चूर्ण्य घृतप्रस्थे विनिक्षिपेत् ।
ब्राह्मीरसे चतुःप्रस्थे पचेन्मृद्वग्निपाकवित् ॥
ब्राह्मीघृतमिदं प्रोक्तमनयाऽयुतमन्त्रितम् ।
पिबेत् सूर्योपरागे तु सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात् ॥
दिनादौ वा लिहेन्नित्यं पञ्चाशदभिमन्त्रितम् ।
वाग्विलासमसौ विन्देत् कविवृन्देषु सम्मतम् ॥ इति ॥ ८५-८६॥

पुनः दश हजार मातृका वर्णों से उसे अभिमन्त्रित कर विधिपूर्वक पूजा करे । ऐसे रसायन को प्रातःकाल पीने से साधक मेधावी तथा बृहस्पति जैसा प्रतिभाशाली हो जाता है ॥ ८५ ॥

एक हजार मन्त्र से अभिमन्त्रित ब्राह्मी का रस अथवा वचा का रस दुग्ध के साथ पान करे तो साधक शीघ्रातिशीघ्र महती मेधा प्राप्त करता है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ८६ ॥

मातृकापूजा

पूर्वोक्तं पङ्कजं कृत्वा कुम्भं संस्थाप्य पूर्ववत् ।
क्वाथेन पूरयेन्मन्त्री यथावत् क्षीरशाखिनाम् ॥ ८७ ॥
अष्टगन्धं विलोड्याऽस्मिन्नवरत्नसमन्विते ।
आवाह्य पूजयेद् देवीं मातृकामुक्तमार्गतः ॥ ८८ ॥

सहस्रसाधितैस्तोयैरभिषिञ्चेत् प्रियं नरम् ।
भानुवारे शुभे लग्ने ब्राह्मणानपि भोजयेत् ॥ ८६ ॥
गुरवे दक्षिणां दद्याद् भक्तियुक्तः स्वशक्तितः ।

विश्वसम्मोहनप्रद-अभिषेकम्

रक्षाकरं विशेषेण कृत्याद्रोहोपशान्तिदम् ॥ ९० ॥
ऐश्वर्यजननं पुंसां सर्वसौभाग्यसिद्धिदम् ।
अभिषेकमिमं प्राहुर्विश्वसम्मोहनप्रदम् ॥ ९१ ॥

पूर्वोक्तमिति । मातृकापूजावसरोक्तम् । पूर्ववदिति तुर्योक्तरीत्या । क्वाथेन कषायेण । यथावदिति चतुर्थांशावशिष्टेन सबिन्दुकां मातृकां जपन् पूरयेदिति च । क्षीरशाखिनामिति तत् त्वचामित्यर्थः । अष्टगन्धमिति शाक्तम् । नवरत्नानि वक्ष्यन्ते । सहस्रसाधितैः सहस्रसंजप्तैरित्यर्थः । भानुवारे शुभे लग्ने तोयैरभिषिञ्चेदिति सम्बन्धः । मासमिति ज्ञेयम् । 'तञ्चापि मासम्' इत्युक्तेः । नरमिति लिङ्गमविवक्षितम् । 'नारी बन्ध्याऽपि नानाविधगुणनिलयं पुत्रवर्यं प्रसूते' इत्युक्तेः । सम्बलनं (सम्मोहनं ?) इति वश्यम् ॥ ८७-९१ ॥

पूर्व में कही गई विधि के अनुसार पूर्ववत् कमल बनाकर कलश स्थापित कर उसे क्षीरी वृक्ष के क्वाथ से पूर्ण करे । पुनः उसमें नवरत्न छोड़कर अष्ट गन्ध को विलोडित करे । पुनः उपर्युक्त विधि से उस कलश में मातृका देवियों का आवाहन कर पूजन करे ॥ ८७-८८ ॥

पुनः रविवार को शुभ लग्न में एक हजार मन्त्र से अभिमन्त्रित उस कलश के जल से अपने प्रिय पुरुष का अभिषेक करे तथा ब्राह्मणों को भोजन भी करावे । अपनी शक्ति के अनुसार भक्तियुक्त हो गुरु को दक्षिणा देवे । तो उससे रक्षा होती है, विशेष कर द्रोह की शान्ति होती है । ऐश्वर्य प्राप्त होता है, साधक को सभी सौभाग्य प्राप्त होते हैं । इस अभिषेक को समस्त विश्व का सम्मोहन कहा गया है ॥ ८८-९१ ॥

पूर्वोक्तमण्डलं कृत्वा मन्त्री नवपदान्वितम् ।
मध्यादि स्थापयेत् तेषु पदेषु कलशान् नव ॥ ९२ ॥
तन्तुभिर्वेष्टितान् शुद्धान् बहिश्चन्दनचर्चितान् ।
सुधूपवासितान् मन्त्री दूर्वाक्षतसमन्वितान् ॥ ९३ ॥
आपूर्य शुद्धतोयैस्तान् वेष्टयेदंशुकैस्तु तान् ।
मुक्तामाणिक्यवैदूर्यगोमेदान् वज्रविद्रुमौ ॥ ९४ ॥
पद्मरागं मरकतं नीलञ्चेति यथाक्रमात् ।
उक्तानि नवरत्नानि तेषु कुम्भेषु निक्षिपेत् ॥ ९५ ॥
विष्णुक्रान्तामिन्द्रवल्लीं देवीं दूर्वाञ्च निक्षिपेत् ।

स्थापयेत् कुम्भवक्त्रेषु कोमलांश्चूतपल्लवान् ॥ ९६ ॥
विन्यसेदक्षतोपेतांश्चषकांश्च फलान्वितान् ।
मध्ये कुम्भे समाराध्य देवीं मन्त्री वृषादितः ॥ ९७ ॥
अर्चयेद् दिक्षु कुम्भेषु व्यापिन्याद्याः पुरोदिताः ।
वर्गमन्त्रयुताः प्रोक्तलक्षणाः सर्वसिद्धिदाः ॥ ९८ ॥
शर्कराघृतसंयुक्तं पायसञ्च निवेदयेत् ।
स्पृष्टवा कुम्भान् कुशैर्विद्यां जपेत् साग्रं शतं शतम् ॥ ९९ ।

नवपदान्वितमिति नवनाभम् । शुद्धान् व्रणकालिमादिरहितान् । सुधूपवासितानित्यन्तः यथाक्रमात् निक्षिपेदिति मध्यादितः सर्वत्र सर्वाणि । देवीमिति सहदेवीम् । निक्षिपेदिति सर्वत्र सर्वाः । वृषा इन्द्रः तदादित इति पूर्वादितः । वासवो वृत्रहा वृषा इति कोशः । दिक्षु कुम्भेषु इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ । वर्गा अकाराद्याः व्यस्तसमस्ताः त एव मन्त्रास्तद्युतास्तदाद्याः । विद्यां मातृकाम् । साग्रमष्टोत्तरम् । शतं शतमित्यनेन प्रतिकुम्भम् ॥ ९२-९९ ॥

पूर्वोक्त रूप से नौ नाम वाला मण्डल (गोला) बनाकर मन्त्री सर्वप्रथम मध्य में उसके पश्चात् अन्यत्र स्थानों में नव कलश स्थापित करे । वे कलश सर्वथा छिद्र और कालिमा से रहित हों । उन्हें सूत्र से आवेष्टित करे । बाहर चन्दनादि का अनुलेप करे तथा धूप देकर अच्छी तरह सुवासित करे और उसमें दूर्वाक्षत डाल कर शुद्ध जल से परिपूर्ण करे । पुनः उन कुम्भों में मुक्ता, माणिक्य, वैदूर्य, गोमेद वज्र, विद्रुम, पुष्पराग, मरकत तथा गारुड़—इन नव रत्नों को कलश में छोड़ देवे । पुनः विष्णुक्रान्ता, इन्द्रवल्ली, सहदेवी और दूर्वा (कंक्कोल) तथा आम्रपल्लव छोड़ देवे ॥ ९२-९६ ॥

इतना कर लेने के पश्चात् कलश पर अक्षत तथा फलपूर्ण पूर्णपात्र स्थापित करना चाहिए । तदनन्तर उस कलश पर इन्द्र का आदि में, तदनन्तर देवी का पूजन करे ॥ ९७ ॥

कलश के चारों ओर पूर्व में कहे गये लक्षण युक्त, संपूर्ण सिद्धियों को देने वाली अकारादि वर्णों से व्यस्त तथा समस्त क्रम से व्यापिनी (द्र. ६. १६) आदि देवियों का पूजन करे और उन्हें शर्करा तथा घृतसंयुक्त नैवेद्य निवेदित करना चहिए । तदनन्तर प्रत्येक कुम्भों को कुशा से स्पर्श करते हुए प्रत्येक के क्रम से एक सौ आठ बार मूल मन्त्र का जप करे ॥ ९८-९९ ॥

अभिषिञ्चेद् विलोमेन साध्यं तं दत्तदक्षिणम् ।
सर्वपापक्षयकरं शुभदं शान्तिसिद्धिदम् ॥ १०० ॥
कृत्याद्रोहादिशमनं सौभाग्यश्रीजयप्रदम् ।
पुत्रप्रदं च बन्ध्यानामभिषेकमिमं विदुः ॥ १०१ ॥

ज्वरार्त्तस्य पुरः स्थित्वा जपेत् साग्रं सहस्रकम् ।
ज्वरो नश्यति तस्याशु क्षुद्रभूतग्रहा अपि ॥ १०२ ॥

विलोमेनेति ईशानादि स्थितैर्घटैरित्यर्थः । तदुक्तं प्रयोगसारे—

पुनरन्तादिमध्यान्तमभिषिञ्चेत् प्रियां स्त्रियम् । इति ।

क्षुद्ररोगग्रहा अपि नश्यन्तीत्यनुषज्यते ॥ १००-१०२ ॥

पुनः दक्षिणा देने वाले उस शिष्य को विलोम क्रम से (अन्त कलश के क्रम से) अभिषिञ्चित करे । यह अभिषेक सभी प्रकार के पापों का विनाश करता है और शान्ति तथा सिद्धि प्रदान करता है । कृत्या तथा द्रोहा का शमन करता है, सौभाग्य तथा श्री प्रदान करता है, बन्ध्या स्त्रियों को सन्तान देता है, ऐसा इस अभिषेक का माहात्म्य तान्त्रिक लोग बताते हैं ।। ९९-१०१ ।।

ज्वरार्त्त साधक के आगे खड़े होकर इस प्रपञ्च मन्त्र का १०८ बार जप करे तो उसके ज्वर का बिनाश शीघ्र ही हो जाता है और उसके सारे क्षुद्र ग्रह दूर भाग जाते हैं ।। १०२ ।।

परतेजसि सञ्चिन्त्य शुभ्रं स्रुतसुधामयम् ।
विधुं विद्यां जपेद् योगो विषरोगविनाशकृत् ॥ १०३ ॥
वलीपलितरोगघ्नः क्षुत्पिपासाप्रणाशनः ।
पुष्टिदः सर्वसौभाग्यदायी लक्ष्मीशुभप्रदः ॥ १०४ ॥

परतेजसि सहस्रारकमलकर्णिकास्थित परमशिवे ।
विधुं तत्रत्यमेव ॥ १०३-१०४ ॥

परब्रह्म स्वरूप सहस्र कर्णिका में स्थित इस तेज में अमृत रूप सुधा का क्षरण करते हुये चन्द्रमण्डल का ध्यान कर यदि इस मन्त्र का जप करे तो विष और रोग नष्ट हो जाते हैं ।। १०३ ।।

यह मन्त्र बुढापा और रोग को नष्ट करता है, भूख प्यास मिटाता है, पुष्टि प्रदान करता है सभी प्रकार के सौभाग्य तथा लक्ष्मी को प्रदान करता है ।।१०४।।

त्रिशक्तिमुद्रिका

सोमसूर्याग्निरूपाः स्युर्वर्णा लोहत्रयं तथा ।
रौप्यमिन्दुः स्मृतो हेम सूर्यस्ताम्रं हुताशनः ॥ १०५ ॥
लोहभागाः समुद्दिष्टाः स्वराद्यक्षरसंख्यया ।
तैर्लोहैः कारयेन्मुद्रामसङ्कलितसङ्गताम् ॥ १०६ ॥
साग्रं सहस्रं संजप्य स्पृष्ट्वा तां जुहुयात् ततः ।
तस्यां सम्पातयेन्मन्त्री सर्पिषा पूर्वसंख्यया ॥ १०७ ॥

त्रिशक्तिमुद्रिकामाह सोमेति । लोहत्रयमिति । 'सर्वञ्च तैजसं लोहम्' इत्युक्तत्वात् रूप्यहेमताम्राणां लोहशब्देनाभिधानम् । तथेति सोमसूर्याग्निरूपमित्यर्थः । तदेवाह रौप्यमिन्दुरिति । स्वरादीति । रौप्यं १६ सुवर्ण २५ ताम्रं १० । केचित्तु वर्णानां द्वादशकलात्मकत्वात् सुवर्णभागा द्वादशेति वदन्ति । अयमेव पक्षः साम्प्रदायिकः । शैवागमेऽपि—

ताम्रतारसुवर्णानामर्कषोडशखेन्दुभिः । इति ।

अत्र व्युत्क्रमेण संख्येति व्याख्यातम् । असङ्कलितेति । असङ्कलितामभिलितां पश्चात् सङ्गतां मिलिताम् । तत्र प्रकारः । तत्तद्भागमितस्य लोहत्रयस्य मुद्रिकात्रयं कृत्वा पश्चात् संयोजयेदिति । साग्रमिति अष्टाधिकम् । संजप्य मातृकामिति शेषः । ततो मन्त्री पूर्वसंख्यया अष्टोत्तरसहस्रमिति । सर्पिषा जुहुयादिति सम्बन्धः । तस्यां सम्पातयेदिति । सम्पातो नाम स्रुवस्थाहुतिशेषाज्यस्य प्रत्याहुति मुद्रिकायां पातः ॥ १०५-१०७ ॥

सोम, सूर्य तथा अग्नि स्वरूप ये वर्ण त्रिलौह स्वरूप हैं । चाँदी सोम स्वरूप है, हेम सूर्य स्वरूप है, ताँबा अग्नि स्वरूप है ।। १०५ ।।

इन लोहभागों में चाँदी का भाग १६, सुवर्ण का भाग १२ तथा ताम्र का भाग १० लेकर उनकी पृथक् पृथक् उतने ही परिमाण की अङ्गूठी बनवावे । पुनः अलग अलग बनी हुई उन मुद्रिकाओं को एक में मिला देवे ।। १०६ ।।

उस मुद्रिका को हाथ में लेकर १००८ बार इस मन्त्र का जप करे । पुनः उसका स्पर्श करते हुये उतनी ही संख्या में होम भी करे । होम करते समय प्रत्येक आहुति से शेष घी किसी पात्र में संस्त्रव के रूप में रखता जावे ।।१०७।।

निक्षिप्य कुम्भे तां मुद्रामभिषेकोक्तवर्त्मना ।
आवाह्य पूजयेद् देवीमुपचारैः समाहितः ॥ १०८ ॥
अभिषिच्य विनीताय दद्यात् तां मुद्रिकां गुरुः ।
इयं रक्षः क्षुद्ररोगविषज्वरविनाशिनी ॥ १०९ ॥
व्यालचौरमृगादिभ्यो रक्षां कुर्याद् विशेषतः ।
युद्धे विजयमाप्नोति धारयन्मनुजेश्वरः ॥ ११० ॥

अभिषेकोक्तेति । एककलशप्रोक्तेन । आवाह्येति कुम्भे । अभिषिच्येति साध्यम् । व्यालः सर्पः । मृगो व्याघ्रः ॥ १०८-११० ॥

पुनः मन्त्रज्ञ ब्राह्मण अभिषेक में कही गई विधि के अनुसार उस मुद्रा को कुम्भ में छोड़ देवे । पश्चात् मुद्रा में देवी का आवाहन कर उपचारों द्वारा पूजन करे ।। १०८ ।।

तदनन्तर उस मुद्रा का कलश के जल से अभिषेक कर गुरु उसे विनयशील, शिष्य को दे देवें । इस प्रकार की सुसंस्कृत अंगूठी राक्षस, क्षुद्र (द्र. ६. ७३) रोग एवं विषज्वरों को विनष्ट करती है ।। १०९ ।।

यह मुद्रिका विशेष कर साँप, चौर तथा जङ्गली जन्तुओं से रक्षा करती है । इस प्रकार की मुद्रिका धारण करने वाला मनुष्य युद्ध में सर्वदा विजय प्राप्त करता है ॥ ११० ॥

नवरत्नमुद्रिका

विभजेन्मातृकां मन्त्री नव वर्गान् यथाक्रमात् ।
अष्टावष्टौ स्वराः स्पर्शाः पञ्चशो व्यापका अपि॥ १११ ॥
नववर्गाः समुत्पन्ना नववर्गेश्वरा ग्रहाः ।
अर्केन्दुरक्तज्ञगुरुभृगुमन्दाहिकेतवः ॥ ११२ ॥

नवरत्नमुद्रिकामाह विभजेदिति । मन्त्रीत्यनेन नवग्रहन्यासोऽपि सूचितः । तत्र प्रकारः । स्वरानुक्त्वा सोममण्डलाय नम इति मूर्द्धादिगलपर्यन्तम्, कादिमान्तमुच्चार्य सूर्यमण्डलाय नम इति गलादि हृदयान्तम्, याद्यानुक्त्वा वह्निमण्डलाय नम इति हृदयादिपादान्तं व्यापकं न्यसेदिति मण्डलत्रयन्यासः । आदिठान्तमुक्त्वा सोमण्डलाय नम इति मूर्द्धादिहृदयान्तं, आदिक्षान्तमुक्त्वा अग्निमण्डलाय नम इति हृदादिपादान्तं न्यसेदित्यग्नीषोमन्यासः । आदिक्षान्तमुक्त्वा हंसः पुरुषात्मने नम इति व्यापकत्वेन न्यसेदिति हंसन्यासः । एते न्यासा यथाक्रमादितिपदेन सूचिताः ।

ततः अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं सूर्याय भगवते नमः इत्यादिक्रमेण केत्वन्तं विन्यस्य पुनः प्रथमोक्तन्यासत्रयं वैपरीत्येन कुर्यादिति ग्रहन्यासः । तत्र शेषाष्टस्वरैः सोमः कवर्गेणाऽङ्गारकः चवर्गेण बुधः टवर्गेण बृहस्पतिः तवर्गेण शुक्रः पवर्गेण शनैश्चरः यवर्गेण राहुः षवर्गेण केतुः । अयमत्र न्यासक्रमः । स्थानानि तु मूलाधार-लिङ्गनाभिहृदयगललम्बिकाभ्रूमध्यललाटब्रह्मरन्ध्राणीति । व्यापका यकाराद्याः । अपीत्यपिशब्दात् पञ्चशः इत्यत्राप्यन्वेति ।

ग्रहक्रममाह अर्केति । रक्तो मङ्गलः । ज्ञो बुधः । मन्दः शनैश्चरः । अहिः राहुः ॥ १११-११२ ॥

अब त्रिलोह की मुद्रिका का विधान कहने के बाद **नवरत्न की मुद्रिका का विधान** करते हैं—

मन्त्रज्ञ ब्राह्मण १६ स्वरों, २५ स्पर्श वर्णों एवं यकारादि क्षकारान्त नव वर्गों वाले मातृका वर्णों से पाँच बार इस प्रकार न्यास करे—

(१) समस्त स्वरों का उच्चारण कर 'सोममण्डलाय नमः' से शिर से लेकर कण्ठ पर्यन्त, पुनः ककार से लेकर मकारान्त स्पर्श वर्णों का उच्चारण कर 'सूर्यमण्डलाय नमः' से गले से लेकर हृदय पर्यन्त, यकार से क्षकारान्त वर्ण समुदायों का उच्चारण कर 'वह्निमण्डलाय नमः' से हृदयादि पादपर्यन्त न्यास करे। यह मण्डलत्रय से एक न्यास कहा गया ।

(२) पुनः अकार से ठकारान्त वर्णों का उच्चारण कर 'सोममण्डलाय नमः' से मूर्धादि हृदयपर्यन्त, डकारादि से क्षान्त वर्णों का उच्चारण कर 'अग्निमण्डलाय

नमः' से हृदय से पादपर्यन्त न्यास करे । यह अग्निषोमीय दूसरा न्यास हुआ ।

(३) पुनः अकारादि से क्षकारान्त वर्णों का उच्चारण कर 'हंसपुरुषात्मने नमः' इससे सर्वाङ्ग में व्यापक रूप से न्यास करे । यह तीसरा हंसन्यास हुआ ।

पुनः अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं इन नव वर्णों का उच्चारण कर 'सूर्याय भगवते नमः' इत्यादि क्रम से सूर्य प्रभृति केत्वन्त ग्रहों का न्यास करे । तदनन्तर पूर्वोक्त तीन न्यासों को विपरीत क्रम से करे । यह ग्रहन्यास हुआ । इस प्रकार पाँच न्यास करे ॥ १११ ॥

जिस प्रकार मातृकाओं से नववर्ग उत्पन्न हुये हैं उसी प्रकार नव रत्नों के अधीश्वर नव ग्रह भी मातृकाओं से उत्पन्न हुये है । सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनैश्चर, राहु, केतु इन नवों ग्रहों के नाम हैं ॥ ११२ ॥

माणिक्यं मौक्तिकं चारु विद्रुमं गारुडं पुनः ।
पुष्परागं लसद्वज्रं नीलं गोमेदकं शुभम् ॥ ११३ ॥
वैदूर्यं नव रत्नानि मुद्रां तैः कल्पयेच्छुभाम् ।
जपहोमादिकं सर्वं कुर्यात् पूर्वोक्तवर्त्मना ॥ ११४ ॥
यो मुद्रां धारयेदेनां तस्य स्युर्वशगा ग्रहाः ।
वर्द्धते तस्य सौभाग्यं लक्ष्मीरव्याहता भवेत् ॥ ११५ ॥
कृत्या द्रोहा विनश्यन्ति नश्यन्ति सकलापदः ।
रक्षोभूतपिशाचाद्यां नेक्षन्ते तं भयाकुलाः ॥ ११६ ॥
उपर्युपरि वर्द्धन्ते धनरत्नादिसम्पदः ।
मुद्रिकायाः प्रसादेन राजलक्ष्मीः स्थिरा सदा॥ ११७ ॥

चार्वित्यनेनातिलोहितप्रवालस्य ग्रहणमुक्तम् । लसदित्यनेन षट्कोणवज्रस्यैव ग्रहणमुक्तम् । पूर्वोक्तवर्त्मनेति पूर्वमुद्रोक्तप्रकारेण ॥ ११३-११७ ॥

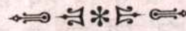
माणिक्य, मौक्तिक, लाल मूँगा, गारुड, पुष्पराग, षट्कोण वज्र (हीरा), नील, गोमेद तथा वैदूर्य ये नवरत्न हैं, इन नवरत्नों की अङ्गूठी बनवाकर पूर्वोक्त कही गई विधि के अनुसार जप होम आदि करे । इस प्रकार की नव रत्न की मुद्रा जो धारण करता है, सभी ग्रह उसके वशीभूत हो जाते हैं, उसका सौभाग्य तो बढ़ता ही है, उसकी लक्ष्मी भी अनन्त होती हैं ॥ ११३-११५ ॥

उस पर कृत्याजन्य अभिचार काम नहीं करते । उससे द्रोह करने वाले नष्ट हो जाते हैं । समस्त आपत्तियाँ भी विनष्ट हो जाती हैं । राक्षस, भूत एवं पिशाचादि उससे भयभीत हो जाते हैं और उसकी ओर दृष्टि तक नहीं करते और धन, रत्न तथा सम्पदा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है । इस प्रकार उन रत्नों की अँगूठी के प्रसाद से राजलक्ष्मी (=गृहलक्ष्मी) स्थिर हो जाती है ॥ ११६-११७ ॥

मातृकाधारणयन्त्रम्

तार्त्तीयोज्ज्वलकर्णिकं स्वरयुगैराविर्भवत् केसरं
वर्गोल्लासिवसुच्छदं वसुमतीगेहेन संवेष्टितम् ।
ताराधीश्वरवारिवर्णविलसद्दिक्कोणसंशोभितं
यन्त्रं वर्णतनोः परं निगदितं सर्वामयघ्नं परम् ॥ ११८ ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचिते शारदातिलके
षष्ठः पटलः समाप्तः ॥ ६ ॥



धारणयन्त्रमाह तार्त्तीयेति । तार्त्तीयं पूर्वोक्तं कर्णिकाबीजम् । ताराधीश्वरः ठकारः । आकारसाम्यात् । गौडलिपौ तादृक्स्वरूपस्य लिखितत्वात् । वारिवर्णो वकारः । ताभ्यां विलसन्तौ यौ दिक्कोणौ ताभ्यां संशोभितम् । तेनात्र पूर्वयन्त्रादयमेव विशेषः । उक्तं कादिमते 'ठं वं भूदिग्विदिक्षु च' इति ।

आचार्यैः पूर्वोक्तं पूजायन्त्रमेव धारणयन्त्रमुक्तम् । इदमपि पद्यं कैश्चित् तदनुसारेण व्याख्यायते । विलसन्तौ यौ दिक्कोणौ ताभ्यां संशोभितम् । तेन विदिक् विकोण इति जातम् । ततो विदिक्षु ठकारः । विकोणशब्देन दिश उच्यन्ते । ततो दिक्षु वकार इत्यर्थः । तदुक्तमाचार्यैः—

क्ष्माबिम्बेन च सप्तमार्णवयुजास्त्राशासु संवेष्टितं
वर्णाब्जं शिरसि स्मृतं विषगदप्रध्वंसि मृत्युञ्जयम् । इति ॥ ११८॥

॥ इति श्रीराघवभट्टविरचित-शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां
पदार्थादर्शाभिख्यायां षष्ठः पटलः ॥ ६ ॥



कर्णिकाओं में त्रिपुरा का तीसरा मन्त्रकूट हस्त्रौंः (द्र. १२. ४) लिखे । केशरों में दो दो स्वर लिखे । अष्टपत्रों पर मातृकाओं के अष्टवर्ग लिखे । वसुमती गेह (लकार) से उसे वेष्टित करे । दिशाओं के कोणों के ताराधीश्वर ठकार या ॐकार वारिवर्ण (व) इस प्रकार ॐ वँ वर्ण से सुशोभित करे । यह वर्णतनु का यन्त्र स्थान कहा गया है । जो संपूर्ण पापों को विनष्ट करने वाला है ॥ ११८ ॥

॥ इस प्रकार शारदातिलक के छठवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय
कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ६ ॥



अथ सप्तमः पटलः

अथ भूतलिपिप्रकरणम्

अथ भूतलिपिं वक्ष्ये सुगोप्यामतिदुर्लभाम् ।
यां प्राप्य शम्भोर्मुनयः सर्वान् कामान् प्रपेदिरे ॥ १ ॥

अथ मातृकाविशेषं भूतलिपिमन्त्रमाह अथेति । शम्भोः सकाशाद् यां प्राप्येत्यन्वयः । सर्वान् कामानित्यनेन विनियोग उक्तः ॥ १ ॥

अब मैं अत्यन्त्य गोपनीय तथा सर्वथा दुर्लभ 'भूतलिपि' का वर्णन करता हूँ, जिसे मुनियों ने सदाशिव से प्राप्तकर अपनी सारी कामनायें पूर्ण की थीं ॥१॥

भूतलिपिमन्त्रः

पञ्च ह्रस्वाः सन्धिवर्णा व्योमेराग्निजलं धरा ।
अन्त्यमाद्यं द्वितीयञ्च चतुर्थं मध्यमं क्रमात् ॥ २ ॥
पञ्चवर्गाक्षराणि स्युर्वान्तं श्वेतेन्दुभिः सह ।
एषा भूतलिपिः प्रोक्ता द्विचत्वारिंशदक्षरैः ॥ ३ ॥

मन्त्रमुद्धरति पञ्चेति । पञ्च ह्रस्वाः अ इ उ ऋ ऌ प्रथमो वर्गः । सन्धिवर्णाः ए ऐ ओ औ द्वितीयो वर्गः । व्योम हः । ईरो यः । अग्नी रः । जलं वः । धरा लः । अयं तृतीयः । पञ्चवर्गाक्षराणां क्रममाह अन्त्यमिति । अन्त्यं ङः आद्यं कः द्वितीयं खः चतुर्थं घः मध्यमं गः । अयं क्रमोऽग्रेऽपि चतुर्षु । एवं वर्गाष्टकम् । वान्तं शः । श्वेतः षः । श्रीकण्ठादिपाठात् इन्दुः सः । अयं नवमः ॥ २-३ ॥

नववर्गाद्यक्षरकथनम्

आयम्बरार्णा वर्गाणां पञ्चमाः शार्णसंयुताः ।
वर्गाद्या इति विज्ञेया नव वर्गाः स्मृता अमी ॥ ४ ॥

नववर्गाद्यक्षराण्याह आयम्बरार्णा इति । अश्च ए च अम्बरार्णश्चेति द्वन्द्वः । तत्र अ ए इत्यनयोः वृद्धिरेचीति वृद्धौ कृतायां ऐ । ततो अमित्यस्मिन् परतः एचोऽयवायवः इति आयिकृते आयम्बरार्ण इति सिध्यति । अम्बरार्णो हः । वर्गाणां अकचटतपानाम् ॥ ४ ॥

वर्गवर्णानां भूतात्मकत्वम्

व्योमेराग्निजलक्षोणीवर्गवर्णान् पृथग् विदुः ।
द्वितीयवर्गे भूर्न स्यान्नवमे न जलं धरा ॥ ५ ॥

वर्गवर्णानां भूतात्मकतामाह व्योमेति । पृथक् प्रत्येकं नववर्गाणां प्रथमादयो वर्णा व्योमादिरूपा इत्यर्थः । क्वचिन्नव वर्णान् पृथग्विदुरिति पाठः । तत्र नवेति वीप्सा ज्ञेया । पृथक् प्रत्येकं व्योमवाय्वादिरूपान् नव वर्णान् विदुरिति योजना । तत्रान्त्योपान्त्ययोः सप्ताष्टाक्षरात्मकत्वात् कथं नववर्णत्वमित्याह प्रथमपाठे प्रत्येक-वर्गवर्णानां पञ्चभूतात्मकत्वमुक्तं तद्द्वितीयनवमयोर्न घटत इत्यत आह द्वितीयेति । उभयत्रोभयसम्भवाभिप्रायमिति भावः । द्वितीयवर्गस्य चतुरक्षरात्मकत्वात् भ्वात्मक-मक्षरं नास्ति । नवमस्य त्रिवर्णात्मकत्वादुभयोरभावः ॥ ५ ॥

इस भूतलिपि में नव वर्ग तथा ४२ अक्षर होते हैं, इसका विवरण इस प्रकार है—पाँच ह्रस्व (अ इ उ ऋ ऌ) यह प्रथम वर्ग है, सन्धि वर्ण (ए ऐ ओ औ) चार यह द्वितीय वर्ग है, (ह य र व ल) यह तृतीय वर्ग है, ङ क ख घ ग यह चतुर्थ वर्ग है, इसी प्रकार ञ च छ झ ज यह पञ्चम वर्ग है, ण ट ठ ढ ड यह षष्ठ वर्ग है, न त थ ध द यह सप्तम वर्ग है, म प फ भ ब यह अष्टम वर्ग है, वान्त (श) श्वेत (ष) इन्द्र (स) यह नवम वर्ग है ।

इस प्रकार इन ४२ अक्षरों की भूतलिपि मानी गई है और उपर्युक्त नव वर्गों के क्रमशः अकार, एकार, ककार, चकार, टकार, तकार, पकार, सकार तथा शकार आद्यक्षर हैं । ये ९ वर्ग, प्रथम अक्षर के क्रम से आकाशादि पञ्चमहाभूत के स्वरूप हैं । द्वितीय वर्ग में चार अक्षर हैं, इसलिये उसमें पञ्चभूतों में अन्तिम पृथ्वी रूप भूत का अभाव है । नवम वर्ग में तीन अक्षर हैं, इसलिये उसमें अन्तिम दो जल और पृथ्वी रूप भूत नहीं है ।

इसका विवरण इस प्रकार है—अ ए ह ङ, ञ ण न म श आकाश रूप महाभूत हैं, इ ऐ य क ट त प ष ये वायु रूप महाभूत हैं, उ ओ ख छ ठ थ फ ब स तेज रूप महाभूत हैं, ऋ औ घ झ ढ ध भ जल रूप महाभूत हैं, ऌ ल ग ज ड द ब पृथ्वी वर्ग हैं ॥ २-५ ॥

नववर्गदेवताः

विरिञ्चिविष्णुरुद्राशिवप्रजापतिदिगीश्वराः ।
क्रियादिशक्तिसहिताः क्रमात् स्युर्वर्गदेवताः ॥ ६ ॥
ऋषिः स्याद्दक्षिणामूर्त्तिर्गायत्रं छन्द ईरितम् ।
देवता कथिता सद्भिः साक्षाद् वर्णेश्वरी परा ॥ ७ ॥

नववर्गदेवता आह विरिञ्चीति। दिगीश्वरा इन्द्रयमवरुणसोमाः । सर्वे कीदृशाः। क्रियादिशक्तिसहिताः त्रिरावृत्तक्रियाज्ञानेच्छाशक्तिभिरुपेताः । केचित्तु दिगीश्वर इत्येकः क्रियाशक्त्यादयस्तिस्त्र इति नव देवता इच्छन्ति ॥ ६-७ ॥

अब इन **वर्गों के देवता** का पृथक् पृथक् प्रतिपादन करते हैं—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, अश्विनीकुमार प्रजापति, चार दिग्पाल (इन्द्र, यम, वरुण और सोम) ये अपनी क्रियादि शक्तियों के साथ इन वर्गों के देवता कहे गये हैं ॥ ६ ॥

इस भूतलिपि के दक्षिणामूर्त्ति ऋषि, गायत्री छन्द तथा साक्षाद् वर्णेश्वरी परादेवता हैं ऐसा सज्जनों ने कहा है ॥ ७ ॥

हादिषड्वर्गकैः कुर्यात् षडङ्गानि सजातिभिः ।
ध्यायेल्लिपितरोर्मूले देवीं तन्मयपङ्कजे ॥ ८ ॥

हादीति । तृतीयवर्गेण हृदयम् । एवमन्यैरष्टमान्त्यैरन्यानि । हं यं रं वं लं हृदयाय नम इत्यादि प्रयोगः । ध्यायेदिति । तन्मयपङ्कजे वर्णाब्जे ॥ ८ ॥

साधक तृतीय वर्ग हादि (ह य र व ल) से आरम्भ कर हृदयादि षडङ्गन्यास करे, यथा हं यं रं वं लं हृदयाय नमः इति हृदि इत्यादि और लिपिरूपी वृक्ष के नीचे वर्णमय पंकज पर देवी का ध्यान करे ॥ ८ ॥

लिपितरुस्वरूपम्

वदन्ति सुधियो वृक्षं नित्यं वर्णमयं शुभम् ।
परसम्विन्महाबीजं बिन्दुनादमहाशिफम् ॥ ९ ॥
पृथिव्यक्षरशाखाभिः सर्वाशासु विजृम्भितम् ।
सलिलाक्षरपत्रैः स्वैः संछादितजगत्त्रयम् ॥ १० ॥
वह्निवर्णाङ्कुरैर्दीप्तं रत्नैरिव सुरद्रुमम् ।
मरुद्वर्णलसत्पुष्पैर्द्योतयन्तं वपुःश्रियम् ॥ ११ ॥
आकाशार्ण फलैर्नम्रं सर्वभूताश्रयं परम् ।
परामृताख्यमधुभिः सिञ्चन्तं परमेश्वरीम् ॥ १२ ॥
वेदागमादिभिः क्लृप्तं समुन्नतिमनोहरम् ।
शिवशक्तिमयं साक्षाच्छायाश्रितजगत्त्रयम् ॥ १३ ॥
एनमाश्रित्य मुनयः सर्वान् कामानवाप्नुयुः ॥ १४ ॥

लिपितरोरित्युक्तं तत्स्वरूपमाह नित्यमिति । वैयाकरणभाट्टमते वर्णानां नित्यत्वात् । परसम्वित् कुण्डलिनी । परब्रह्मेति कश्चित् । शिफा मूलम् । नित्यमित्युक्तं चेत् तस्य कथं बीजादुत्पत्तिः । अभिव्यञ्जकत्वेन बीजवदुपचर्यते । स्वैरित्यनेन द्वितीयोक्तभूतवर्णनिरासः । इदं पृथिव्यादिष्वपि योज्यम् । वेदागमेति । एतद्रूपेण वृक्षस्योच्चत्वमित्यर्थः ॥ ९-१४ ॥

सुधी लोग वर्णमय इस शुभ वृक्ष को नित्य कहते हैं, पर संवित् (कुण्डलिनी) इसका महाबीज है, बिन्दुनाद इसकी महाशिफा (मूल) है ॥ ९ ॥

यह लिपिस्वरूप वर्णवृक्ष पृथ्वी भूतरूप (द्र. ७.५) अक्षर शाखाओं से सभी

दिशाओं में फैला हुआ है और जल रूप (द्र. ७.५) अक्षर पत्रों से तीनों लोकों को अच्छादित किए हुए है ॥ १० ॥

अग्निरूप वर्णांकुर (द्र. ७.५) से इस प्रकार दीप्त है जिस प्रकार रत्नों से कल्पवृक्ष जगमगाता है, वायुवर्ण रूपी पुष्पों (द्र. ७.५) से यह वृक्ष अपनी शोभा व्यक्त करता है ॥ ११ ॥

आकाश वर्ण (द्र. ७.५) रूपी फलों से नम्र हैं, इस प्रकार के इस वृक्ष के नीचे जगत् के सारे प्राणी आश्रय लेते हैं और यह वृक्ष अपने अमृत रूपी मधु से श्री वागीश्वरी रूपा परमेश्वरी को अभिषिक्त करता है ॥ १२ ॥

यह वर्णात्मक वृक्ष वेद आगम तथा सच्छास्त्रों द्वारा सौन्दर्य से संयुक्त तथा ऊँचाई को प्राप्त कराया गया है। यह साक्षात् शिवशक्तिमय है इसी की छाया में तीनों लोक आश्रय प्राप्त करते हैं। इस वृक्ष का आश्रय ले कर मुनियों ने अपनी संपूर्ण कामनायें प्राप्त की हैं ॥ १३-१४ ॥

वागीश्वरीध्यानम्

अङ्कोन्मुक्तशशाङ्ककोटिसदृशीमापीनतुङ्गस्तनीं
चन्द्रार्द्धांकितमस्तकां मधुमदादालोलनेत्रत्रयाम्।
बिभ्राणामनिशं वरं जपवटीं विद्यां कपालं करै-
राद्यां यौवनगर्वितां लिपितनुं वागीश्वरीमाश्रये ॥ १५ ॥

ध्यायेदित्युक्तं तत् ध्यानमाह अङ्क इति। अङ्कः कलङ्कः तेन उन्मुक्तस्त्यक्तः। आयुधध्यानं वामाद्यधस्तनयोराद्ये तदूर्द्धयोरन्ये। अन्ये तूर्द्धादि दक्षे आद्ये परे वामे इत्याहुः ॥ १५ ॥

अब लिपि वृक्ष के नीचे वर्णमय कमल पर विराजमान विश्ववन्द्या **वागीश्वरी का ध्यान** कहते हैं—कलङ्क रहित करोड़ों चन्द्रमा के समान प्रभावाली, तुंगस्तनी मस्तक पर अर्द्धचन्द्र से सुशोभित, मधुमद से जिनके तीनों नेत्र चञ्चलता को प्राप्त हो रहे हैं, जिन्होंने अपने हाथों में वर, जपमाला, विद्या (=पुस्तक) एवं कपाल धारण किया है जो जवानी के मद से इठला रही हैं लिपि रूप विग्रह वाली इस प्रकार की भगवती वागीश्वरी का मैं आश्रय लेता हूँ ॥ १५ ॥

आधारदेशेऽधिष्ठाने नाभौ हृदि गले पुनः।
बिन्दौ नादे ततः शक्त्यां शिवे देशिकसत्तमः॥ १६ ॥
नवाधारेषु विन्यस्य स्वरान् नव यथाविधि।
हादिवर्णांस्तनौ न्यस्येन्मुखे ऊर्द्ध्वादितः सुधीः॥ १७ ॥

आधारेति। आधारदेशे गुदमेढ्रान्तराले। अधिष्ठाने लिङ्गे। बिन्दौ भ्रूमध्ये। नादे केशान्ते। शक्त्यां तदूर्द्धदेशे। शिवे द्वादशान्ते। नवाधारेषु आधाराद्युक्तनवचक्रेषु। यथाविधीत्यनेन तत्तदाधारभावनां कृत्वेत्युक्तं भवति। अत एव आधारेत्याद्युक्त्वापि

पुनर्नवाधारेष्वित्युक्तिः । आधारभावना अन्त्यपटले वक्ष्यते । देशिकसत्तम इत्यनेन वर्णानां सबिन्दुकत्वमुक्तम् ॥ १६-१७ ॥

इसके बाद उत्तम आचार्य को लिङ्ग एवं गुदा के मध्य में स्थित मूलाधार, लिङ्ग, नाभि, हृदय, कण्ठ भ्रूमध्य, केशान्त, केश से ऊर्ध्वभाग तथा शिवस्थान (सहस्र कमल पत्र जहाँ स्थित है) इन नव आधार स्थानों में नवस्वरों में बिन्दु लगाकर न्यास करना चहिए ।। १६-१७ ।।

ऊर्ध्वमाहेन्द्रयाम्योदक्पश्चिमेषु समाहितः ।
दोःपत्सु पञ्चवर्गाणां वर्णान् देशिकसत्तमः ॥ १८ ॥ क्ष
अग्रमूलोपमूलाग्रमध्यदेशक्रमेण तु ।
जठरे पार्श्वयुगले नाभौ पृष्ठे समाहितः ॥ १९ ॥

पुरश्चरणादिकथनम्

गुह्यहृद्भ्रूविले न्यस्येत् शादिवर्णत्रयं क्रमात् ।
सृष्ट्यां सर्गावसाना स्यात् स्थितौ वह्निमरुत्पयः ॥ २० ॥
वियद्भूमिक्रमान्न्यस्येद् बिन्दुसर्गावसानिकाम् ।
संहृतौ प्रतिलोमेन विन्यसेद्बिन्दुभूषिताम् ॥ २१ ॥
आगमोक्तेन मार्गेण दीक्षितः साधकोत्तमः ।
लक्षं न्यस्येज्जपेत्तावदयुतं जुहुयात् तिलैः ॥ २२ ॥

ऊर्ध्वादित इति यदुक्तं तदेव विवृणोति ऊर्ध्वेति । स्वस्यैव पञ्चमुखकल्पनया न्यास इति सुधीरित्यनेनोक्तम् । समाहित इत्यनेन वर्णानां सबिन्दुत्वमुक्तम् । दोःपदिति। देशिकसत्तमः अग्रमूलोपमूलाग्रमध्यदेशक्रमेण दोःपत्सु जठरादिपृष्ठान्तेषु पञ्चवर्गाणां वर्णान् न्यसेदित्युत्तरेण सम्बन्धः । मूलञ्च अग्रञ्च मूलाग्रे तयोः समीपमुपमूलाग्रम् । अग्रञ्च मूलञ्च उपमूलाग्रञ्च मध्यदेशश्चेति विग्रहः । अग्रमङ्गुल्यन्तः । मूलमंसोरुमूलम् । उपमूलं कूर्परजानुनी । उपाग्रं करपादाङ्गुलिप्रथमसन्धिः । मध्यदेशो मध्यसन्धिः मणिबन्धगुल्फे । समाहित इत्यनेन समाधानपरतया स्थानविपर्ययाभावद्रष्टेत्युक्तम् । देशिकसत्तम इत्यनेन वर्णानां सबिन्दुकत्वमुक्तम् । भ्रूविले भ्रूमध्ये । क्रमादिति स्वरादिषु सर्वत्र सम्बध्यते । अत्र एतन्मन्त्रोक्तक्रमादित्यर्थः । सृष्टाविति । सर्गावसाना भूतलिपिरिति शेषः । स्थितौ बिन्दुसर्गावसानिकां तां क्रमान्न्यसेदिति सम्बन्धः । कः क्रम इत्यपेक्षायामाह वह्नीति । तत्र वह्न्यादीनामेकैकं वर्णं विन्यस्य पुनस्तेनैव क्रमेण न्यसेत् । तत्रायं क्रमः । उंः इंः ऋंः अंः लृंः ओंः ऐंः औंः ऐंः औंः एंः इत्यादि । आगमोक्तेन कुलप्रकाशतन्त्रप्रोक्तेन । दीक्षितस्तावदिति लक्षं । तत्र एको न्यासः एका आवृत्तिश्चेति क्रम इति साधकोत्तम इत्यनेनोक्तम् ॥ १८-२२ ॥

पुनः हादि वर्ण (हं यं रं वं लं) इस तृतीय वर्ग के पाँच अक्षरों से अपने में पञ्चवक्त्र की भावना करते हुये क्रमशः ऊर्ध्वमुख, पूर्वमुख, दक्षिणमुख, उदङ्मुख तथा पश्चिम मुख में समाहित बुद्धि से न्यास करे । इसी प्रकार हाथ पैर के अग्र

भाग (अङ्गुल्यन्त) में शरीर के मूल कन्धे एवं अंसों में, उपमूल (दोनों कूर्पर एवं दोनों जानुभाग में) उपाग्र (कर पाद की अङ्गुलि की प्रथम सन्धि) में, मध्यदेश (मध्य सन्धि मणिबन्ध और गुल्फ) में, जठर में, दोनों पार्श्व में, नाभि तथा पृष्ठ में, क्रमशः पञ्चवर्गों में (एक एक वर्ण को बिन्दुयुक्त कर) न्यास करे । पञ्चवर्ग का क्रम (द्र. ७. २) न्यास करे ॥ १८-१९ ॥

इसके अनन्तर सावधानीपूर्वक गुह्यप्रदेश, हृदय तथा भ्रू स्थानों में शादि वर्ण (श ष स) का न्यास करे । ऊपर कहा गया यह न्यास सृष्टिक्रम में भूतवर्णों में विसर्ग लगा कर करे । स्थितिक्रम में अग्नि, वायु, जल, आकाश तथा भूमि के वर्णों में एक एक को बिन्दु एवं विसर्ग युक्त कर करे । पुनः उसी प्रकार दूसरी बार भी न्यास करे । यथा—ऊँः इंः, ऋंः अंः लृंः ओंः ऐंः औंः एंः इत्यादि । संहारक्रम में भूतलिपि के प्रत्येक वर्ण के विपरीत क्रम से बिन्दु (अनुस्वार) लगा कर न्यास करे ॥ २०-२१ ॥

उत्तम साधक उपर्युक्त प्रकार से भूतलिपियों से एक बार न्यास करे और पुनः एक बार जप करे । इस प्रकार एक लक्षन्यास तथा एक लाख जप सम्पन्न कर तिलों से हवन करे ॥ २२ ॥

पूजयेदन्वहं देवीं पीठे प्रागीरिते सुधीः ।
वर्णाब्जेनासनं दद्यान्मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ २३ ॥

अङ्गावरणदेवताः

देवीं सम्पूजयेत् तस्यामङ्गाद्यावरणैः सह ।
आदावङ्गावृतिः पश्चादम्बिकाद्याभिरीरिता ॥ २४ ॥
द्वितीया मातृभिः प्रोक्ता तृतीया द्व्यष्टशक्तिभिः ।
चतुर्थी पञ्चमी प्रोक्ता द्वाविंशच्छक्तिभिः पुनः ॥ २५ ॥
चतुःषष्ट्या स्मृता षष्ठी शक्तिभिर्लोकनायकैः ।
सप्तमी पुनरेतेषामस्त्रैः स्यादष्टमावृतिः ॥ २६ ॥
एवं पूज्या जगद्धात्री श्रीभूतलिपिदेवता ।
स्थानेषूक्तेषु विधिवदभ्यर्च्याऽङ्गानि पूजयेत् ॥ २७ ॥
अम्बिकावाग्भवी दुर्गा श्रीशक्तिश्चोक्तलक्षणाः ।
ब्राह्म्याद्याः पूर्ववत् पूज्याः करालीं विकराल्युमा ॥ २८ ॥

पूजयेदिति । अत्र कश्चित् प्रागीरिते पीठे इत्युक्तेरष्टपत्र एव षोडशशक्तीनां द्विरावृत्त्या द्वात्रिंशन्मितानां चतुरावृत्त्या चतुःषष्टिमितानामष्टावृत्त्या पूजनम्, अन्यथा पीठे प्रागीरिते इति व्याहन्येतेत्युवाच । तदसाम्प्रदायिकम् । तेषां मते अष्टावृतित्वं व्याहन्येत । आवृत्तिर्नाम सर्वत आवरणत्वेन पूजनम् । तदेकधा अष्टशक्तिपूजनेनैव जातम् । तदतिरिक्तद्वितीयावृत्तिश्चेत् पूज्यते आवृत्त्यन्तरमेव भवति । नतु तस्यास्तत्रान्तर्भावः ।

मन्त्रान्तरेषु न च दृष्टपूर्वम् । साम्प्रदायिकपक्षे तु पीठे प्रागीरिते इत्यस्यायमर्थः । प्रागुक्तपीठशक्तिपीठमन्त्रानत्रापि पूजयेदिति । इदं सर्वत्रानुसन्धेयम् ।

तथा च ग्रन्थकृन्महागणपतिपूजावसरे वक्ष्यति प्रागुक्ते पूजयेत् पीठे इति । तत्र यदि पूर्वोक्तमेकाक्षरगणपति निर्दिष्टम् अष्टदलमात्रपीठं गृह्यते तदा या षट्कोणादिषु पूजा वक्ष्यते साऽनुपपन्ना स्यात् । ध्याने च त्रिकोणषट्कोणमातृकाम्बुजं यत् पीठमुक्तं तदप्यसङ्गतं स्यात् । यद्युच्येत प्रागुक्ते पीठे इति ध्यानोक्त इत्यर्थ इति तदा पीठशक्ति-पीठमन्त्रपूजाप्रापकवचनाभावात् तत्पूजा न स्यादेवेत्यलम् । तेनात्राऽष्टदलं षोडशदलं भूपुरं चतुर्द्वारञ्च कृत्वा तत्र प्रागुक्ताः पीठशक्तीः सम्पूज्य वर्णाब्जेनासनं दत्त्वा मूर्त्तिं मूलेन सङ्कल्प्य तत्र देवीमभ्यर्च्य केसरेषु यथापूर्वमङ्गानि चाभ्यर्च्य तदुपरि दिग्दलेषु चतस्रोऽम्बिकाद्याः तदग्रे ब्राह्म्याद्याः षोडशदलादिषु कराल्याद्याः पूजयेदिति । वर्णाब्जेनेति । ह्सौः वर्णाब्जाय भूतलिपियोगपीठाय नमः इति प्रयोगः । तस्यां मूर्त्तौ ।

अङ्गादीत्यादिशब्दं विवृणोति आदावित्यादि । अङ्गावृतेः पूजास्थानमाह स्थानेष्विति । उक्तेषु तुर्योक्तेषु । विधिवदित्युक्त्या ध्यानानि । अम्बिकाद्येत्यादि शब्दं विवृणोति पूजयेदिति । आसां ध्यानं स्वस्वप्रकरणेऽनुसन्धेयम् । मातृपूजाध्यानमाह उक्तेति । उक्तलक्षणाः प्राक्पटलोक्तध्यानाः । पूर्ववदिति पूर्वोक्तस्थानेषु ॥ २३-२८ ॥

पूर्वोक्त कहे गये पीठ अष्टदल कमल के भूपुर को चार द्वार से युक्त कर सर्वप्रथम पहले कही गई पीठशक्ति का पूजन कर वर्णाब्ज से आसन देकर मूल मन्त्र से देवी का आवाहन कर पूजन करे ।

विमर्श—पश्चात् केशरों में अङ्गों का अर्चन कर ऊपर के दिग्दलों के चारों दिशाओं में चार अम्बिकादि शक्तियों का पूजन करे । उसके बाद ब्राह्मी आदि का पूजन कर षोडश दलों में कराला आदि महाशक्तियों का पूजन करे ।

देवी का आसनदान का प्रयोग इस प्रकार है—'ह्सौः वर्णाब्जाय भूतलिपि-योगपीठाय नमः' इत्यादि ॥ २३ ॥

अब इस **आवरण पूजा का क्रम** इस प्रकार कहते हैं—

अङ्गादि आवरणों के सहित देवी का पूजन इस प्रकार करे—सर्वप्रथम अङ्गादि आवरणों की पूजा करे । तदनन्तर द्वितीय आवरण में अम्बिकादि की, तृतीय आवरण में मातृकाओं की, चतुर्थ आवरण में १६ शक्तियों की, पञ्चम आवरण में पुनः ३२ शक्तियों की, षष्ठ आवरण में ६४ शक्तियों की, सप्तम आवरण में शक्तियुक्त दिक्पालों की और पुनः अष्टम आवरण में इनके वज्रादि अस्त्रों की पूजा करे ॥ २४-२६ ॥

इस प्रकार जगद्धात्री भूतलिपि देवता का विधिवत् पूजन करे । तदनन्तर उसी भाँति उनके अङ्गों की भी पूजा उक्त स्थानों पर करे ॥ २७ ॥

अम्बिका, वाग्भवी, दुर्गा और श्री ये चार द्वितीय आवरण की देवता हैं जिनका संकेत पूर्वोक्त ७. २४ में किया गया है । ब्राह्मी आदि आठ देवियों के नाम पूर्व में ६. १७-१८ में कह आये हैं ॥ २८ ॥

सरस्वतीश्रीदुर्गोषा लक्ष्मीश्रुत्यौ स्मृतिर्धृतिः।
श्रद्धा मेधा मतिः कान्तिरार्या षोडश शक्तयः ॥ २९ ॥
खड्गखेटकधारिण्यः श्यामाः पूज्याः स्वलङ्कृताः।
विद्याह्रीपुष्टयः प्रज्ञा सिनीवाली कुहूः पुनः ॥ ३० ॥
रुद्रा वीर्या प्रभा नन्दा स्यात् पोषा ऋद्धिदा शुभा।
कालरात्रिर्महारात्रिर्भद्रकाली कपर्दिनी ॥ ३१ ॥
विकृतिर्दण्डिमुण्डिन्यौ सेन्दुखण्डा शिखण्डिनी।
निशुम्भशुम्भमथिनी महिषासुरमर्दिनी ॥ ३२ ॥
इन्द्राणी चैव रुद्राणी शङ्करार्द्धशरीरिणी।
नारी नारायणी चैव त्रिशूलिन्यपि पालिनी ॥ ३३ ॥
अम्बिका ह्लादिनी चैव द्वात्रिंशच्छक्तयः स्मृताः।
चक्रहस्ताः पिशाचास्याः सम्पूज्याश्चारुभूषणाः ॥ ३४ ॥

द्व्यष्टशक्त्यादिशब्दान् विवृणोति करालीति। पूज्या इति षोडश दलेषु। रुद्रा वीर्येति पाठः। तेन रुद्रा सप्तमी वीर्या अष्टमी। प्रभा नवमी। नन्दा दशमी। शुभेति विशेषणं न शक्तिनाम।

तदुक्तं संहितायाम्—रुद्रा वीर्या प्रभा नन्दा पोषिणी ऋद्धिदा तथा। इति। दण्डिमुण्डिन्याविति। दण्डिनी मुण्डिनी इति शक्तिद्वयम्। 'विकृतिर्दण्डिनी चैव' इत्युक्तेः। निशुम्भशुम्भमथनीत्येका। सम्पूज्या इति षोडशपत्राग्रतत्सन्धिषु।

तदुक्तं संहितायाम्—

पूर्वादिक्रमतः पूज्या दलाग्रेषु च सन्धिषु। इति ॥ २९-३४ ॥

अब **षोडश शक्तियों के नामों** को कहता हूँ—

१. कराली, २. विकराली, ३. उमा, ४. सरस्वती, ५. श्री, ६. दुर्गा, ७. उषा, ८. लक्ष्मी, ९. श्रुति, १०. स्मृति, ११. धृति, १२. श्रद्धा, १३. मेधा, १४. मति, १५. कान्ति और १६. आर्या—ये १६ शक्तियाँ है ॥ २९ ॥

ये शक्तियाँ अपने हाथों में खड्ग खेटक धारण किए हुए हैं, श्यामा हैं, अलङ्कारों से सुशोभित हैं और जगत्पूज्या हैं। अब ३२ शक्तियों का नाम कहता हूँ। १. विद्या, २. ह्रीं, ३. पुष्टि, ४. प्रज्ञा, ५. सिनीवाली, ६. कुहू, ७. रुद्रा, ८. वीर्या, ९. प्रभा, १०. नन्दा, ११. पोषा, १२. कल्याण करने वाली ऋद्धिदा, १३. कालरात्री, १४. महारात्रि, १५. भद्रकाली, १६. कपर्दिनी, १७. विकृति, १८. दण्डिनी, १९. मुण्डिनी, २०. सेन्दुखण्डा, २१. शिखण्डिनी, २२. निशुम्भशुम्भमथिनी, २३. महिषासुरमर्दिनी, २४. इन्द्राणी, २५. रुद्राणी, २६. शंकरार्धशरीरिणी, २७. नारी, २८. नारायणी, २९. त्रिशूलिनी, ३०. पालिनी, ३१. अम्बिका एवं ३२. ह्लादिनी—ये ३२ शक्तियाँ है। ये शक्तियाँ चक्र धारण

करने वाली हैं, उत्तम भूषणों से भूषित हैं, इनका मुख पिशाच जैसा भयानक है, और सभी पूजा के योग्य हैं ।। ३०-३४ ।।

पिङ्गलाक्षी विडालाक्षी समृद्धिर्वृद्धिरेव च ।
श्रद्धा स्वाहा स्वधाभिख्या मायासंज्ञा वसुन्धरा ॥ ३५ ॥
त्रिलोकधात्री सावित्री गायत्री त्रिदशेश्वरी ।
सुरूपा बहुरूपा च स्कन्दमाताऽच्युतप्रिया ॥ ३६ ॥
विमला चामला पश्चादरुणी पुनरारुणी ।
प्रकृतिर्विकृतिः सृष्टिः स्थितिः संहृतिरेव च ॥ ३७ ॥
सन्ध्या माता सती हंसी मर्दिका रञ्जिका परा ।
देवमाता भगवती देवकी कमलासना ॥ ३८ ॥
त्रिमुखी सप्तमुख्यन्या सुराऽसुरविमर्दिनी ।
लम्बोष्ठी चोर्द्ध्वकेशी च बहुशीर्षा वृकोदरी ॥ ३९ ॥
रथरेखाह्वया पश्चाच्छशिरेखा तथाऽपरा ।
गगनवेगा पवनवेगा च तदनन्तरम् ॥ ४० ॥
ततो भुवनपालाख्या ततः स्यान्मदनातुरा ।
अनङ्गाऽनङ्गमदना तथैवाऽनङ्गमेखला ॥ ४१ ॥
अनङ्गकुसुमा विश्वरूपाऽसुरभयङ्करी ।
अक्षोभ्यासत्यवादिन्यौ वज्ररूपा शुचिव्रता ॥ ४२ ॥
वरदाख्या च वागीशा चतुःषष्टिः समीरिताः ।
चापबाणधराः सर्वा ज्वालाजिह्वा महाप्रभाः ॥ ४३ ॥
दंष्ट्रिण्यश्चोर्द्ध्वकेश्यस्ता युद्धोपक्रान्तमानसाः ।
सर्वाभरणसन्दीप्ताः पूजनीयाः प्रयत्नतः ॥ ४४ ॥

स्वधेति अभिख्या यस्याः मायेति संज्ञा यस्याः सा इति विग्रहः । तथा चाचार्याः—मायाभिख्या वसुन्धरा । इति ।

अन्यत्रापि—श्रद्धा स्वाहा स्वधाख्या च मातृका च वसुन्धरा । इति ।

स्थितिः संहृतिरेव च इत्यत्र संस्थितिः स्थितिरेव च इति क्वचित् पाठः । अयमेव साम्प्रदायिकः । परेति शक्तिनाम । सुरेत्येका असुरविमर्दिनीत्यपरा । तदुक्तम् । ससप्तमुख्यथ सुरा तथाऽसुरविमर्दिनी । इति । तथा अपरेति शक्तिनाम । तदनन्तरं पवनवेगेति सम्बन्धः । असुरभयङ्करीति पदच्छेदः । अक्षोभ्या च सत्यवादिनी च इति विग्रहः । पूजनीयाः प्रयत्नत इति चतुरस्रान्तरग्रादि प्रादक्षिण्येन ।

तदुक्तं संहितायाम्—एताः शक्तीश्च पूजयेत् । प्रादक्षिण्यक्रमेणैव ।

इति ॥ ३५-४४ ॥

अब ऊपर कही गई ६४ शक्तियों का नाम कहता हूँ । १. पिङ्गलाक्षी, विडालाक्षी, समृद्धि, वृद्धि, श्रद्धा, स्वाहा, स्वधा, माया, वसुन्धरा, १०. त्रिलोकधात्री, सावित्री, गायत्री, त्रिदशेश्वरी, सुरूपा, बहुरूपा, स्कन्दमाता, अच्युतप्रिया, विमला, २०. अमला, अरुणी, आरुणि, प्रकृति, विकृति, सृष्टि, स्थिति, संहृति, सन्ध्या, माता, ३०. सती, हंसी, मर्दिका, रञ्जिका, परा, देवमाता, भगवती, देवकी, कमलासना, त्रिमुखी, सप्तमुख्या, ४०. सुरासुरविमर्द्दिनी, लम्बोष्ठी, ऊर्ध्वकेशी, बहुशीर्षा, वृकोदरी, रथरेखा, शशिरेखा, गगनवेगा, पवनवेगा, त्रिभुवनपाला, ५०. मदनातुरा, अनङ्गा, अनङ्गमदना, अनङ्गमेखला, अनङ्गकुसुमा, विश्वरूपा, असुरभयंकरी, अक्षोभ्या, सत्यवादिनी, वज्ररूपा, शुचिव्रता, वरदा और वागीशा—ये ६४ शक्तियों के नाम हैं । ये सभी अपने हाथों में चाप बाण धारण की हुई हैं और सभी अपनी जिह्वा से आग की वर्षा करती हैं । सब के दाँत बहुत बड़े हैं और केश ऊपर की ओर खड़े हैं, सभी युद्ध के लिये समुत्सुकमना हैं । ये सभी आभूषणों से जगमगा रही हैं । अतः साधक को प्रयत्नपूर्वक इनकी पूजा करनी चाहिए ।। ३५-४४ ।।

लोकेशाः पूर्ववत् पूज्यास्तद्वद्वज्रादिकान्यपि ।
इत्थं यः पूजयेन्मन्त्री श्रीभूतलिपिदेवताम् ॥ ४५ ॥
श्रीवाण्योः स भवेद् भूमिर्देवैरप्यभिवन्द्यते ।
कमलैरयुतं हुत्वा राजानं वशमानयेत् ॥ ४६ ॥

होमादिविधिः

उत्पलैर्जुहुयात् तद्वन्महालक्ष्मीः प्रजायते ।
पलाशकुसुमैर्हुत्वा वत्सरेण कविर्भवेत् ॥ ४७ ॥
राजीलवणहोमेन वनितां वशमानयेत् ।
मातृकोक्तानि कर्माणि कुर्यादत्रापि साधकः॥ ४८ ॥

पूर्ववदिति तुर्योक्तवत् । तदुक्तं संहितायाम्—

तद्बहिर्लोकपालांश्च भूबिम्बे पूजयेत् प्रिये । इति ।

तद्वदिति चतुर्थोक्तवत् ॥ ४५ ॥

तद्वदित्ययुतम् । उत्तरप्रयोगद्वयेऽपीयमेव संख्या ॥ ४६-४८ ॥

इसी प्रकार लोकपालों का भी पूजन करे । पश्चात् वज्रादि आयुधों का पूजन करे जो मन्त्रज्ञ साधक इस प्रकार भूतलिपि के देवता का पूजन करता है वह लक्ष्मी तथा सरस्वती इन दोनों का भागी होता है और देवगण भी उसका अभिनन्दन करते हैं । दश हजार कमलों के हवन से मन्त्रवेत्ता साधक राजा को भी अपने वश में कर लेता है ।। ४५-४६ ।।

उत्पल के होम से महालक्ष्मी की अभिवृद्धि होती है । पलाश पुष्पों द्वारा होम करने से एक वर्ष में साधक कवि हो जाता है । राजी (राई) और नमक मिलाकर होम करने से चाहे कैसी भी स्त्री हो वह वश में हो जाती है । साधक मातृका में कहे गये कर्मों को इस भूतलिपि के प्रयोग में भी करे ॥ ४७-४८ ॥

भूतलिप्या पुटीकृत्य यो मन्त्रं भजते नरः ।
क्रमोत्क्रमाच्छतावृत्या तस्य सिद्धो भवेन्मनुः ॥ ४९ ॥

मन्त्रान्तरस्यापि अनयैव सिद्धिमाह भूतेति । क्रमोत्क्रमात् पुटीकृत्येत्यन्वयः । सिद्धो भवेन्मनुरिति । स मन्त्रस्तस्य सिद्ध्यतीत्यर्थः । मासमात्रेणेति ज्ञेयम् ।

तदुक्तं कुलप्रकाशतन्त्रे—मासमात्रं जपेन्मन्त्रं भूतलिप्यर्णसंपुटम् ।
क्रमोत्क्रमात् सहस्त्रं तु तस्य सिद्धो भवेन्मनुः ॥ इति ।

यद्वा साध्यरिस्थानपतितः सिद्धस्थानगतमन्त्रफलं ददातीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

जो साधक मनुष्य भूतलिपि से संपुटित किसी भी मन्त्र का जप बारी बारी से सौ आवृत्ति करता है वह मन्त्र उसे सिद्ध हो जाता है ॥ ४९ ॥

सुषुप्तभुजगाकारां कुण्डलीं मध्यवर्त्मना ।
सङ्गमय परं स्थानं प्राणवित् तां परामृतैः ॥ ५० ॥
प्लावयेन्मूर्द्धिन मूलान्तं योगोऽयं सर्वसिद्धिदः ।
अनया न्यस्तदेहस्तु तेजसा भास्करो भवेत् ॥ ५१ ॥
यन्त्रक्रिया विशेषांस्तु ज्ञात्वा कर्म्माणि साधयेत् ॥ ५२ ॥

मध्यवर्त्मनेति सुषुम्णामध्यमार्गेणेत्यर्थः मूर्द्धिन परं स्थानं सङ्गमयेति । षट्चक्रभेदक्रमेण परं स्थानं द्वादशान्तं शिवगृहं प्रापय । प्राणविदित्यनेन योगीत्यूक्तम् । मूलान्तं मूलाधारपर्यन्तम् । परामृतैः प्लावयेदिति सम्बन्धः । अस्यान्यमन्त्राङ्गत्वमाह अनयेति ॥ ५०-५२ ॥

योगी सोई हुई सर्पिणी के समान त्रिवेष्टित इस कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्ना मार्ग से ६ चक्रों का भेदन कर सहस्त्रार कमल वाले शिवचक्र में रहने वाले परामृत से संयुक्त कर उस परामृत से शिर से मूलाधार पर्यन्त स्थानों को सरावोर करे । यह योग समस्त सिद्धियों को देने वाला है । इससे न्यास करने वाला सूर्य के समान कान्तिमान् हो जाता है ॥ ५०-५१ ॥

साधक पञ्चमहाभूतों की यन्त्र क्रिया की विशेषताओं को जान कर तदनन्तर यन्त्र निर्माण रूप कार्य साधन करे ॥ ५२ ॥

वियद्यन्त्रम्

बिन्द्वाढ्यं गगनं तदेव शिवयुक् ज्ञानी चतुर्थ्या युतो
नत्यन्तो मनुरेष मध्यविहितः साध्यस्य बन्ध्वक्षरैः ।

पत्रेष्वक्षरशो हकारपुटितांस्तद्भूतवर्णान् लिखे-
च्छिष्टश्चान्त्यदले विलिख्य मतिमान् वृत्तेन संवेष्टयेत् ॥ ५३ ॥

वियद्यन्त्रमाह बिन्द्विति । गगनं हः बिन्द्वाढ्यं हं । तदेव सबिन्दुकं गगनं । शिव एकारस्तद्युक् तेन हें । अत्रैकादश रुद्रा इति शिवशब्देन एकादशसंख्या लक्षिता । तया चैकादशस्वरस्तेन एकारः शिवशब्दवाच्यः । ज्ञानीशब्दश्चतुर्थ्या युतः चतुर्थ्येक-वचनेन युतस्तेन ज्ञानिने । नत्यन्तो नमोऽन्त एष मनुर्मन्त्रः मध्यविहितः कर्णिकायां लेख्य इत्यर्थः । साध्यस्य विषादिग्रस्तदेवदत्तादेः बन्ध्वक्षरैः 'सिद्धार्णा बान्धवा प्रोक्ताः' (२.१३१) इत्युक्तेः सिद्धकोष्ठाक्षरैः सह पत्रेषु तद्भूतवर्णान् एतत्पटलोक्त—व्योमभूतवर्णान् अक्षरशः प्रत्यक्षरं हकारपुटितान् लिखेत् । अन्त्यं नवमं अन्त्यदले तेन अष्टमदले व्योमभूतवर्णद्वयं प्रत्येकं हकारपुटितं लिखेत् । मतिमानित्यनेन सर्वाण्यक्षराणि सबिन्दुकानीत्युक्तम् । सर्वाक्षराणि सबिन्दुकानि इति सम्प्रदायविदः । देवदत्तस्य विषं हर हरेति क्रिया मध्ये लेख्या ॥ ५३ ॥

अब सर्वप्रथम **वियद् यन्त्र का विधान** कहते हैं—

गगन (ह) उसे बिन्दु से युक्त कर उसे शिव (एकार) से युक्त करे । इस प्रकार 'हें' निष्पन्न होता है । पुनः ज्ञानी के आगे चतुर्थी विभक्ति लगावे । इस प्रकार 'ज्ञानिने' निष्पन्न हुआ । तदनन्तर नमः पद लगावे । इस प्रकार 'हें ज्ञानिने नमः' यह मन्त्र मध्य (कर्णिका) में साध्य के नाम तथा उसके अभिलषित अक्षरों के साथ लिखे । जैसे देवदत्त नाम वाला साधक विषग्रस्त है तो उसका विष उतारने के लिये 'देवदत्तस्य विषं हर हें ज्ञानिने नमः' इतना मध्य में लिखे । पुनः पत्र पर इस पटल में कहे गये आकाश भूत के अक्षरों को हकार से संपुटित कर लिखे । अष्टम पत्र पर आकाश भूत के दो वर्णों को हकार से संपुटित कर लिखे । पुनः उसे गोला बना कर घेर देवे ॥ ५३ ॥

वियद्यन्त्रमिदं प्रोक्तं लाक्षाचन्दननिर्मितम् ।
रोहिण्यामुदये राहोर्विषघ्नं सर्वशान्तिदम् ॥ ५४ ॥

लाक्षा अलक्तकः । रोहिण्यामुदये राहोरिति । अत्र तात्कालिक नक्षत्रमुहूर्ते तत्तद्भूतग्रहोदये तत्तद्यन्त्रं लेखनीयम् । तत्र दिवसे नवमं रोहिणीमुहूर्तं रात्रावप्यष्टमं रोहिणीमुहूर्त्तम् । तत्र राहोरुदये । वायुभूतोदये राहोरुदयो भवति । यतः प्रतिराशौ पञ्चभूतोदयस्य नियतत्वात् नवग्रहोदयोऽप्यस्त्येव ।

यदुक्तम्—प्राणाग्नीलाम्बुखात्मानः पवनाः स्युर्यथाक्रमम् ।
गुरुराहू भृगुकुजौ बुधार्कौ चन्द्रसूर्यजौ ॥
क्रमाच्चतुर्षु भूतेषु व्योम सर्वात्मकं भवेत् । इति ।

अन्यत्रापि—गुरुराहू च वायव्ये चरतोऽग्नौ भृगुः कुजः ।
भूम्यां बुधरवी ज्ञेयौ जले चन्द्रशनैश्चरौ ॥
आकाशं सग्रहं विद्यादेवं सर्वेषु राशिषु ।
षष्ट्युत्तरैस्तु त्रिशतैः श्वासैरेका तु नाडिका ॥

पञ्चभिर्नाडिकाभिस्तु राशिरेकः प्रकीर्त्तितः ।
दिनं मेषादिमीनान्तैरेकं द्वादशराशिभिः ॥
राशिष्वेतेषु भूतेषु विज्ञातव्या ग्रहोदयाः ।
एकैकस्मिन् भवन्त्यत्र राशौ भूतानि पञ्च च ॥
वायुर्वह्निस्तथा भूमिरापः खमिति पञ्चमम् ।
एकैकस्मिन् पञ्चसूक्ष्माण्युदयन्ति हि तेषु च ॥
सर्वेषामेव राशीनां वायव्याद्या तु नाडिका ।
द्वितीया नाडिकाऽऽग्नेयी तृतीया पार्थिवी मता ॥
चतुर्थी वारुणी ज्ञेया व्योमाख्या पञ्चमी स्मृता ।
पूर्वोदयास्तु सर्वत्र सौम्याः पापास्त्वनन्तराः ॥
राहुः कुजो रविः सौरिरेते दक्षिणतः शुभाः ।
गुरुर्भृगुर्बुधश्चन्द्रः सव्ये सौम्याः शुभावहाः ॥
एवं राशिषु भूतेषु ग्रहोदय उदीरितः । इति ।

भूतोदयमन्त्यपटले वक्ष्यति ।

नक्षत्रमुहूर्त्तान्युक्तानि ज्योतिःशास्त्रे—

आर्द्राऽश्लेषाऽनुराधा च मघा चैव धनिष्ठिका ।
पूर्वाषाढोत्तराषाढे अभिजिद्रोहिणी तथा ॥
ज्येष्ठा विशाखा मूलश्च नक्षत्रं शततारका ।
उत्तरा पूर्वफल्गुण्यौ दिने पञ्चदश क्षणाः ॥
रात्रावार्द्रा तथा चाष्टौ पूर्वभाद्रपदादयः ।
पुनर्वसुक्षणः पुष्यः श्रुतिस्तिस्त्रः करादिकाः ॥

श्रुतिः श्रवणा । करादिका हस्तादिकाः तिस्त्रः हस्ताचित्रास्वात्यः एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् । अन्ये तु यदा रोहिणीनक्षत्रे राहुर्भवति तदा कर्त्तव्यमित्याहुः ॥ ५४ ॥

यह वियद् यन्त्र की विधि कही गई । इसे लाक्षाचन्दन मिलाकर रोहिणी मुहूर्त के उदय काल अथवा राहु के उदयकाल में लिखे तो विष नष्ट करता है । यह मन्त्र सभी प्रकार की शान्ति प्रदान करता है ।

विमर्श—दिन का नवाँ भाग तथा रात्रि का अष्टमभाग रोहिणी मुहूर्त कहा गया है, इसी प्रकार प्रत्येक राशि में पञ्चभूत तथा नवग्रह का उदय होता है । वर्तमान राशि का आदि काल वायव्य माना गया है उसी के उदयकाल में राहु का उदय माना गया है ॥ ५४ ॥

वायव्ययन्त्रम्

यौ द्वौ साक्ष्यधरेन्दुखण्ड शिरसौ स्यातां क्रमात् ङेयुतं
कोपेशं नमसाऽन्वितं विरचयेन्मध्ये दलेष्वष्टसु ।
वायव्यान् यपुटान् विलिख्य विधिना शिष्टार्णमन्त्ये दले
यन्त्रं वायुगृहेण वेष्टितमिदं स्यात्तालपत्रे स्थितम् ॥ ५५ ॥

वायव्यं यन्त्रमाह यौ द्वाविति । अक्षि इकारः । 'असव्यमविशेषोक्तौ' इति परिभाषणात् । अधर एकारः । इन्दुखण्डो बिन्दुः । अक्षि च अधरश्च अक्ष्यधरौ एताभ्यां सह वर्त्तमानौ साक्ष्यधरौ तौ च ताविन्दुखण्डशिरसौ चेति विग्रहः । क्रमादित्यस्ति तेन यिं यें इति । कोपेशं ङेयुतं कोपेशाय । नमसान्वितं नमोयुक्तमिमं मन्त्रं मध्ये कर्णिकायां रचयेल्लिखेत् । वायव्यान् एतत्पटलोक्तवायुभूतवर्णान् विधिना यपुटान् अक्षरश इत्यर्थः । बिन्द्वन्तानित्यपि । वायुगृहेण 'वृत्तं दिवस्तत् षड्बिन्दुलाञ्छितं मातरिश्वनः' इत्युक्तेः षड्बिन्दुलाञ्छितेन वृत्तेन वेष्टयेत् । अत्रापि पूर्ववत् कर्म लिखनीयम् ॥ ५५ ॥

अब **वायव्य यन्त्र के निर्माण का प्रकार** कहते हैं—दो यवर्णों को इन्दु खण्ड (अनुस्वार) युक्त अक्षि (इकार) तथा अधर (एकार) से युक्त करें, इससे 'यि' 'यें' कोपेशाय नमः' यह चतुरक्षर हुआ । पुनः नमः पद लगावे । इस प्रकार 'यिं यें कोपेशाय नमः' मन्त्र का उद्धार कहा गया । यह यन्त्र के मध्य में साध्य अक्षरों से युक्त कर लिखे । तदनन्तर अष्टदल पर 'य' से संपुटित वायव्य वर्णों को लिखे । केवल आठवें पत्र पर 'य' से संपुटित शेष वर्ण को लिखे । पुनः उसे ६ बिन्दु युक्त वृत्त से आवेष्टित करे, तो यह वायव्य यन्त्र हो जाता है, इसे ताडपत्र पर लिखना चाहिए ॥ ५५ ॥

स्वात्यां मन्दोदये यन्त्रं वायव्ये निखनेद् रिपोः ।
द्वार्युच्चाटनकृत् तस्य मृतिर्वा भवति ध्रुवम् ॥ ५६ ॥

स्वात्यां मन्दोदये इति । स्वातीनक्षत्रमुहूर्त्ते यदा मन्दस्य शनैश्चरस्य उदयः जलभूतोदय इत्यर्थः । रिपोर्द्वारि वायव्यं यन्त्रं निखनेदित्यन्वयः ॥ ५६ ॥

स्वाती नक्षत्र में जिस समय शनैश्चर ग्रह का एवं जलभूत का उदय हो उस समय लिखकर शत्रु के द्वार पर गाड़ दे तो निश्चय ही उसका उच्चाटन तथा मरण हो जाता है ॥ ५६ ॥

आग्नेययन्त्रम्

वह्नेर्बीजयुगं क्रमाच्छ्रवणसद्यार्द्धेन्दुयुक् स्यात् स्वरौ
रीः फट्हृन्मनुरेष मध्यविहितः पत्रेषु वह्न्युद्भवान् ।
वर्णान् वह्निनिरोधितान् प्रविलिखेत् साध्याक्षरैः पोषकै-
रन्त्यश्चाऽन्त्यदले कृशानुपुरगं भूर्जोदरे कल्पितम् ॥ ५७ ॥

आग्नेयमाह वह्नेरिति । श्रवण उ सद्य ओ अर्द्धेन्दुर्बिन्दुः । क्रमादेतद्युक्तं वह्नेर्बीजयुगं रेफद्वयं तेन रुं रों इति । अन्यत् स्वरूपं हृन्नमःपदम् । एष मनुर्मन्त्रः मध्यविहितः कार्णिकास्थः । वह्निनिरोधितान् रेफपुटितान् प्रत्यक्षरमिति ज्ञेयम् । अत्र रोध एकाक्षरत्वात् सम्पुटे पर्यवस्यति । साध्याक्षरैः पोषकैः साध्यस्य पोषकाक्षरैः 'सुसिद्धाः पोषका ज्ञेयाः' इत्युक्तेः सुसिद्धकोष्ठाक्षरैरित्यर्थः । कृशानुपुरगं सस्वस्तिकत्रिकोणमध्यगं घातकाक्षरमिश्रं पोषकाक्षरस्थानमित्यर्थः ॥ ५७ ॥

शुभवारर्क्षसंयोगे लाक्षाकुङ्कुमनिर्मितम् ।
रक्षाकृत् सर्वभूतानां यन्त्रमाग्नेयमीरितम् ॥ ५८ ॥
घातकाक्षरमिश्रं तत् कृत्तिकायां कुजोदये ।
चिताङ्गारेण तद्वस्त्रे लिखितं नाशयेद् रिपुम् ॥ ५९ ॥

'वैरिणो घातका मताः' इत्युक्तेः अरिकोष्ठाक्षराणि घातकाक्षराणि । कृत्तिकायां कृत्तिकानक्षत्रमुहूर्त्ते कुजोदये मङ्गलोदये वह्निभूतोदये इत्यर्थः । तद्वस्त्रे चितावस्त्रे । नाशयेदिति गृहादिनिखातम् ॥ ५८-५९ ॥

अब **आग्नेय यन्त्र के निर्माण की विधि** कहते हैं—

अग्नि के दो बीज (दो रेफ) उसे क्रमशः बिन्दुयुक्त उ और ओ से युक्त करे । इस प्रकार 'रुं रों' दो वर्ण का उद्धार कहा गया । पुनः 'ह्रीं फट् नमः' पद जोड़ देवे । इस प्रकार 'यं रों ह्रीं फट् नमः' इस पद को कर्णिका में लिखे । अष्टदलों पर वह्निभूत वर्ण 'रँ' से संपुटित कर साध्य के रक्षा के अक्षरों से युक्त कर लिखे ('रं देवदत्तं महाग्रहाद् रक्ष रं' यह साध्य अक्षर के रक्षा का स्वरूप हुआ) अन्त्य दल पर वह्नि मन्त्र (रं) से संपुटित अग्निभूत का अन्तिम अक्षर लिखे ॥ ५७ ॥

इस यन्त्र को भूर्जपत्र पर लाक्षा कुंकुम मिलाकर शुभ नक्षत्र से युक्त शुभ वार में लिखे तो यह आग्नेय मन्त्र सभी प्राणियों की रक्षा करता है । यदि कृत्तिका नक्षत्र में जब मङ्गल ग्रह का एवं अग्नि भूत का उदय हो तब शत्रु के नाम से मिश्रित इस मन्त्र को चिता के कोयले से उसके वस्त्र पर लिखे तो अवश्य ही शत्रु का विनाश करता है ॥ ५८-५९ ॥

वारुणयन्त्रम्

नासार्द्धेन्दुमदम्बु तन्मनुयुतं सार्द्धेन्दुर्ङेन्तो विधु-
र्विध्वन्ते तु भुवे नमो निगदितो मध्ये मनुर्वारुणान् ।
वर्णान् पत्रपुटेषु वाक्षरपुटान् साध्यस्य बन्ध्वक्षरै-
रालिख्याप्यपुरेण वेष्टितमिदं यन्त्रं भवेद् वारुणम् ॥ ६० ॥

वारुणयन्त्रमाह नासेति । नासा ऋः अर्द्धेन्दुर्बिन्दुस्तद्युक्तं अम्बु वः तेन वृँ । तदम्बु वः मनुरौ तद्युतं सार्द्धेन्दुः सबिन्दुः तेन वौं । अत्र मनुशब्देन चतुर्दश मनव इति चतुर्दशसंख्या लक्षिता । तया चतुर्दशस्वरः तेन औकारो मनुशब्दवाच्यः । ङेन्तो विधुर्विधवे । विध्वन्ते विधुशब्दान्ते भुवे तेन विधुभुवे नम इति । अयं मनुर्मन्त्रः मध्ये कर्णिकायां निगदित उक्तः लेख्यत्वेनोक्त इत्यर्थः । वाक्षरपुटान् वकाराक्षरपुटितान् प्रत्यक्षरं सबिन्दुकान् । आप्यपुरेण पार्श्वद्वयपङ्कजद्वयसहितार्द्धेन्दुना ॥ ६० ॥

भूर्जपत्रे लिखेदेतत् रक्तचन्दनवारिणा ।
वरुणर्क्षोदये काव्ये यन्त्रं वश्यादिकृद्भवेत् ॥ ६१ ॥

वारुणर्क्षं शतभिषा तन्मूहूर्ते काव्ये शुक्रे उदिते वह्निभूतोदये इत्यर्थः । वश्यादीत्यादिशब्दात् आकर्षणमोहनादि ॥ ६१ ॥

अब **वरुण यन्त्र के निर्माण का विधान** कहते हैं—नासा (ॠ) अर्द्धेन्दु (अनुस्वार) उन दोनों से युक्त अम्बु (वकार) इस प्रकार 'वृं' यह प्रथम अक्षर का उद्धार कहा गया । उसी वकार को चतुर्दश स्वर औंकार से युक्त करे । इस प्रकार 'वौं' यह दूसरे अक्षर का उद्धार कहा गया । ङेन्त विधु शब्द (विधवे), पुन: भुवे नम: इस प्रकार वरुण मन्त्र का उद्धार कहा गया । स्वरूप वृं वौं विधवे भुवे नम:' ।

इस वारुण मन्त्र को कर्णिका में साध्य के अक्षरों के सहित लिखे । पश्चात् पत्रों पर वं से संपुटित वारुण अक्षरों को लिखे । पुन: पार्श्वद्वय स्थित दो वरुण अक्षरों को दो वं से संपुटित कर लिखे ।। ६० ।।

इस यन्त्र को लालचन्दन युक्त पानी से भोजपत्र पर जब शतभिषा नक्षत्र हो और शुक्र ग्रह के उदय का काल हो तब लिखना चाहिए । इस प्रकार लिखा हुआ यह वशीकरण होता है ।। ६१ ।।

पार्थिवयन्त्रम्

गण्डो बिन्दुविभूषितो वसुमती स्यात्तादृशी गण्डयो-
र्मध्यस्थौ तु जगौ लुके नतिरिमं मन्त्रं लिखेन्मध्यतः।
लान्तान् लार्णपुटीकृतान् वसुमतीवर्णान् दलेष्वालिखेत्
सेवावर्णयुतान् यथाविधि भुवो गेहेन संवेष्टयेत्॥ ६२ ॥

पार्थिवयन्त्रमाह गण्ड इति । बिन्दुभूषितो गण्डः ल्रं । वसुमती लकारः तादृशी बिन्दुमती तेन लं । गण्डयोः वर्णयोः मध्यस्थौ जगौ वर्णौ । तत्र गण्डयोरिति । अत्र प्रथमं गकारमात्रम् उत्तरत्र परसवर्णयुक् ण्डकारः तेन गजगण्ड इति सिद्धम् । लुके स्वरूपम् । नतिर्नमः । इमं मन्त्रं मध्यतः कर्णिकायां लिखेत् । अत्रैकाक्षरन्यून-त्वाल्लान्तानीत्युक्तम् । तेनाष्टमे दले सबिन्दुलकारत्रयं लेख्यमित्यर्थः । लार्णपुटीकृतान् प्रत्यक्षरम् । सेवावर्णयुतान् 'साध्यास्ते सेवकाः स्मृताः' (शा० २.१३१) इत्युक्तेः साध्यस्य साध्यकोष्ठाक्षरैरित्यर्थः । यथाविधीति सबिन्दुकानित्यर्थः ॥ ६२ ॥

अब **पार्थिव यन्त्र के निर्माण का प्रकार** कहते हैं—

बिन्दुभूषित गण्ड (ल्रं) तादृशी वसुमती (लं) । पुन: गण्ड शब्द के मध्य में जगौ यह वर्ण इस प्रकार गजगण्ड' इतना मन्त्राक्षर हुआ । पुन: 'लुके' तदनन्तर नम: लिखे । **मन्त्र का स्वरूप** इस प्रकार हुआ—'ल्रं लं गजगण्डलुके नम:' । इस मन्त्र को कर्णिका में लिखे । पुन: 'ल' अक्षर से संपुटित लकारान्त पृथ्वी के (लं) अक्षरों को साध्याक्षर से युक्त कर पत्रों पर लिखे । यत: पार्थिव वर्ण ७ हैं अत: आठवें पत्र पर केवल लं लं लं लिखे । पुन: उसके चारों ओर लं लं लिख कर घेर देवे ।। ६२ ।।

ज्येष्ठायामुदिते सौम्ये मृदि गैरिकनिर्मितम् ।
पार्थिवयन्त्रमचिरात् सर्वत्र स्तम्भकृद्भवेत् ॥ ६३ ॥
गुह्याद् गुह्यतरां नित्यां श्रीभूतलिपिदेवताम् ।
यः सेवते शुभैः पुत्रैर्धनधान्यैश्च पूर्यते ॥ ६४ ॥

ज्येष्ठायां ज्येष्ठानक्षत्रमुहूर्त्ते सौम्ये बुधे उदिते भूमेरुदये इत्यर्थः । मृदि मृत्पात्रे । सर्वत्र स्तम्भकृदिति वाय्वग्निजलशुक्रखड्गधारासेनादिस्तम्भनं ज्ञेयम् । तत्र शुक्रादौ धारणं सेनादौ निखननमिति यथायथं सुधीभिर्बोध्यम् ॥ ६३-६४ ॥

ज्येष्ठानक्षत्र के मुहूर्त्त में जब भूमितत्त्व (बुध) का उदय हो तब इस मन्त्र को गैरिक से मृत्तिकापात्र में लिखे तो यह यन्त्र वायु, अग्नि, जल, शुक्र, खड्गधारा तथा सेनादि का स्तम्भन कर देता है ॥ ६३ ॥

जो अत्यन्त गोपनीय श्री भूतलिपि देवता का इस प्रकार नित्य सेवन करता है वह कल्याणकारी पुत्र एवं धन धान्यादि से परिपूर्ण हो जाता है ॥ ६४ ॥

वागीश्वरीमन्त्रः

अद्रिर्वरुणसंरुद्धो दवाग्वादिनि ठद्वयम् ।
वागीश्वर्या दशार्णोऽयं मन्त्रो वाग्विभवप्रदः ॥ ६५ ॥

एवं मातृकामन्त्रानुक्त्वा तद्भेदभूतान् सरस्वतीमन्त्रान् वक्तुकामो दशाक्षरं वाग्वादिनीमन्त्रमुद्धरति अद्रिरिति । अद्रिर्दकारः वरुणेन वकारेण संरुद्धः सम्पुटितः तेन वदव इति जातम् । दवाग्वादिनि स्वरूपम् । ठद्वयं स्वाहा । वाग्विभवौ प्रकर्षेण ददातीति वाग्विभवप्रद इति । अनेनास्य विनियोगं दर्शयता बहवो भेदाः सूचिताः ।

तदुक्तं सारस्वतमते—

तारमायासम्पुटोऽयं महासारस्वतप्रदः । इति ।

वाग्बीजमायाद्य आचार्यस्तुतावुद्धृतः ।

वाग्बीजं भुवनेश्वरीं वदवदेत्युचार्य वाग्वादिनि
स्वाहा वर्णविशीर्णपातकभरां ध्यायामि नित्यां गिरम् । इति ।

वाग्बीजमायापुटित इति केचित् । मायाद्य इत्यन्ये । तन्त्रान्तरे केवलवाग्भवाद्योऽप्युद्धृतः । अत्रैव शिवशक्तियोग इति केचित् । अपरे वैपरीत्यमपीच्छन्ति । प्रयोगसारे बालादिरप्युद्धृतः । पञ्चप्रणवपुटित एक आदौ मध्ये स्वाहादौ च बालाबीजयुतोऽपरः । वाग्भवपुटितसम्बोधनः परः । बालातार्त्तीयपुटितसम्बोधनोऽन्यः। कामबीजपुटितसम्बोधनः पञ्चमः । स्वाहादौ बलायुतः षष्ठः । एवमस्या अन्येऽपि भूयांसो भेदास्ते ग्रन्थगौरवभयान्नोक्ताः । स्वस्वगुरुसम्प्रदायात् ज्ञेयाः । तदुक्तमाचार्यैः स्तवे—

आद्यन्त पञ्चप्रणवप्रभिन्नविद्येश्वरि प्रोज्ज्वलशूलहस्ते ।
भक्तद्विषां कार्मणयन्त्रविद्याः प्रत्यङ्गिरे त्वं जय संहरन्ति ॥
वीप्सावसाने समसायकेन युक्तां तदादावपि वाग्भवेन ।
सम्बोधनान्ते समनुद्विचन्द्रैर्विद्योत्तमां देवि तवानतोऽस्मि ॥

मध्ये स्थितं वाग्भवबीजयोर्वा त्वन्नामसारस्वतसम्पुटं वा ।
जात्यापि मूकस्य हठात् कवित्वं वागीशि तन्नौमि यदातनोति ॥
कामेश्वरीसम्पुटिताय नित्यं नारीनराणामपि मोहकाय ।
कस्मैचिदस्मै सततं नमोऽस्तु त्वन्नामदेवाय गिरामधीशे ॥
यद्बालया पल्लवितं जडानां त्वन्नामरत्नं रसनाविराजि ।
उद्दामकाव्यप्रकरप्रभाभिरुद्भासतेऽस्मै नतिमातनोमि ॥ इति ।

अन्ये सम्बोधनान्ते वागीश्वरीति सम्बुद्धिमधिकामाहुः । एषां ध्यानविशेषा गुरुमुखात् ज्ञेयाः ॥ ६५ ॥

अब **वाग्बीज के उद्धार का प्रकार** कहते हैं—यहाँ तक मातृका मन्त्रों को कहा गया । अब उसके भेदभूत सरस्वती मन्त्रों को कहने की इच्छा से दशाक्षर वाले वाग्वादिनी मन्त्र का उद्धार बतलाते हैं—अद्रि (दकार) उसे वकार से संपुटित (वदव) कर पश्चात् 'दवाग्वादिनि' तदनन्तर दो ठ (स्वाहा) का उच्चारण करे । इस प्रकार 'वदवदवाग्वादिनि स्वाहा' यह मन्त्र का स्वरूप हुआ । यह वागीश्वरी का दशाक्षर मन्त्र वाणी का ऐश्वर्य प्रदान करता है । इनके ध्यान का प्रकार गुरु परम्परा से जानना चाहिए ॥ ६५ ॥

ऋष्यादिकथनम्

ऋषिः कण्वो विराट् छन्दो देवता वाक् समीरिता ।
शिरः श्रवणदृङ्नासावदनान्धुगुदेष्विमान् ।
न्यस्याऽर्णान् प्राग्वदङ्गानि मातृकोक्तानि कल्पयेत् ॥ ६६ ॥

ऋषिरिति । धिषणो वा ऋषिः ज्ञेयः । तदुक्तमीशानशिवेन—

ऋषिस्तु धिषणो मतस्त्वथ परे च कण्वं विदुः । इति । वागिति बीजं स्वाहेति शक्तिः । ब्रह्म बीजं माया शक्तिः । जीवो बीजं बुद्धिः शक्तिः । उदानो बीजं कुण्डलिनी शक्तिः । इदं सूक्ष्मं बीजादित्रयं सर्वमन्त्रेषु ज्ञेयम् । तदुक्तं प्रयोगसारे—

ईश्वरो जगतां बीजं शक्तिर्गुणमयी त्वजा ।
परमात्मा तथा बुद्धिर्वायुः कुण्डलिनीति च ॥
चतुर्विधे बीजशक्ती सामान्यं त्रितयं त्विदम् । इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—चतुर्विधे बीजशक्ती सर्वमन्त्रेषु चिन्तयेत् ।
त्रितयं तत्र सामान्यं तदिदानीं निरूप्यते ॥
ईश्वरो जगतां बीजमाद्यं ब्रह्म तदुच्यते ।
तस्य माया समाख्याता शक्तिर्गुणमयी तु या ॥
स एव भगवान् देवो बुद्धिसाक्षी द्वितीयकम् ।
बीजमत्र समाख्यातं बुद्धिः शक्तिरुदाहृता ।
उदानश्चित्समायुक्तस्तृतीयं बीजमुच्यते ।
शक्तिः कुण्डलिनी तत्र सामान्यं त्रितयन्त्विदम् ॥
ज्ञातव्यं सर्वमन्त्रेषु बीजशक्ती ततो निजे ॥ इति ।

अन्धिति लिङ्गम् । प्राग्वदिति चतुर्थोक्तप्रकारेण । जातियुक्तानि । अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नम इत्यादि । सम्प्रदायविदस्तु अन्यथाऽङ्गानि मन्यन्ते । ॐ ह्रां वद ऋग्वेद हृत् । ॐ ह्रीं वद यजुर्वेद शिरः । ॐ ह्रूं वाक् सामवेद शिखा । ॐ ह्रैं वादिनि अथर्ववेद वर्म । ॐ ह्रौं स्वाहा षडङ्गं नेत्रम् । ॐ ह्रः समस्त मन्त्रमुच्चार्य पुराण-न्यायमीमांसाधर्मशास्त्रेतिहासकल्पगाथानाराशंसीरिति अस्त्रम् । तदुक्तं सारस्वतमते—

यमनेत्रधरा वह्नियुगलार्णैर्मनोः क्रमात् ।
ह्रामाद्यैश्चैव वेदाद्यैरङ्गैरङ्गानि कल्पयेत् ॥ इति ।

पद्मपादाचार्यास्तु मातृकाङ्गास्ते वदहृदयाय नम इत्याद्यूचुः ॥ ६६ ॥

इस मन्त्र के ऋषि कण्व हैं विराट् छन्द है तथा वाणी इसकी देवता हैं । शिर दो कान, दो नेत्र, दो नासा, मुख लिङ्ग और गुदा इन दस स्थानों में ऊपर कहे गये दशाक्षर वाग्बीज से न्यास करे । पुनः प्राग्वत् मातृकावर्णों से न्यास करे । यथा—'अं कं खं गं घं ङं, आं हृदयाय नमः' आदि ।। ६६ ।।

वाग्देवताध्यानम्

तरुणशकलमिन्दोर्बिभ्रती शुभ्रकान्तिः
कुचभरनमिताङ्गी सन्निषणा सिताब्जे ।
निजकरकमलोद्यल्लेखनीपुस्तकश्रीः
सकलविभवसिद्ध्यै पातु वाग्देवता नः ॥ ६७ ॥

तरुणेति । तरुणशकलं बालखण्डम् । करकमलेत्युपमितसमासः । दक्षे लेखनी वामे पुस्तकमित्यायुधध्यानम् ॥ ६७ ॥

अब **वाग्देवता का ध्यान** कहते हैं—जो अपने मस्तक में बालचन्द्र को धारण किये हुये शुभ्र कान्ति वाली कुचभार से विनम्र, श्वेत कमल पर बैठी हुई हैं जिनके दाहिने हाथ में लेखनी तथा बायें हाथ में पुस्तक शोभित है वह वाग्देवता संपूर्ण ऐश्वर्य की सिद्धि के लिये हमारी रक्षा करें ।। ६७ ।।

पुरश्चरणादिकथनम्

दशलक्षं जपेन्मन्त्रं दशांशं जुहुयात्ततः ।
पुण्डरीकैः पयोभ्यक्तैस्तिलैर्वा मधुराप्लुतैः ॥ ६८ ॥
मातृकोदीरिते पीठे वागीशीमर्चयेत् सुधीः ।
वर्णाब्जेनासनं दद्यान्मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ ६९ ॥

सुधीरित्यनेनावाहनादिश्लोकेषु स्त्रीलिङ्गयोग उक्तः । पीठमन्त्रमुद्धरति वर्णाब्जे नेति । हसौः वाग्वादिनीयोगपीठाय नम इति प्रयोगः ॥ ६८-६९ ॥

ऊपर कहे गये सरस्वती मन्त्र का दश लाख जप करे । पश्चात् दुग्धमिश्रित पुण्डरीक (श्वेत कमल) से अथवा त्रिमधुर (आज्य, मधु और दुग्ध) से आप्लुत तिल से होम करे ।। ६८ ।।

बुद्धिमान् अर्चक मातृकाओं की पीठ पर वागीश्वरी का इस प्रकार अर्चन करे। वर्णरूप कमलों का आसन देवे तथा मूल मन्त्र से मूर्त्ति की कल्पना करे। आसन देने के लिये 'ह्सौ वाग्वादिनीयोगपीठाय नमः' इस प्रकार के मन्त्र का प्रयोग करे ॥ ६९ ॥

आवरणपूजाविधानम्

आदावङ्गानि सम्पूज्य पश्चाच्छक्तीरिमा यजेत्।
योगा सत्या च विमला ज्ञाना बुद्धिः स्मृतिः पुनः ॥ ७० ॥
मेधा प्रज्ञा च पत्रेषु मुद्रापुस्तकधारिणीः।
दलाग्रेषु समभ्यर्च्या ब्राह्म्याद्यास्ता यथाविधि ॥ ७१ ॥
लोकपाला बहिः पूज्यास्तेषामस्त्राणि तद्बहिः।
एवं सम्पूजयेन्मन्त्री जपहोमादितत्परः ॥ ७२ ॥
ब्रह्मचर्यरतः शुद्धः शुद्धदन्तनखादिकः।
संस्मरन् सर्ववनिताः सततं देवताधिया ॥ ७३ ॥

पश्चाच्छक्तीरिति। पश्चादिति चतुर्थावरणे। तेनादावङ्गावृतिः कर्णिकायाम्। द्वितीया स्वरद्वन्द्वाष्टकेन। तृतीयाऽष्टवर्गैः। चतुर्थी योगादिशक्तिभिः दक्षिणादित इति यावत्। तासां ध्यानमुक्तमीशानशिवेन—

सपुस्तकजपस्रजो विमलहारमत्युज्ज्वलाः
शशाङ्कसदृशप्रभाः प्रतिदलस्थिताः शक्तयः।
चतुर्थवृतिगा यजेत् कथितदक्षिणाशादिकाः ॥ इति।

आचार्यास्तु— मातृकोक्तविधिनाऽक्षराम्बुजे। इति।
यथाविधीति पूर्वपटलोक्तध्यानाः। बहिश्चतुरस्रे ॥ ७०-७३ ॥

आवरणपूजा विधान—प्रथमावरण में अङ्गों की पूजा करे, दूसरे आवरण में दो दो स्वरों के क्रम से दो अष्टक स्वरों की, तृतीयावरण में अष्टवर्गों की, पुनः चतुर्थ आवरण में योगादि शक्तियों की पूजा करे। इन योगादि शक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—योगा, सत्या, विमला, ज्ञाना, बुद्धि, स्मृति, मेधा तथा प्रज्ञा की पत्रों पर पूजा करे। ये सभी शक्तियाँ वर मुद्रा तथा पुस्तक धारण की हुई हैं तदनन्तर ब्रह्मा आदि शक्तियों की (द्र. ६, १७, १८) पत्राग्र में यथाविधि पूजा करे ॥ ७०-७१ ॥

लोकपालों की उसके बहिर्भाग में पूजा करे। तदनन्तर उसके भी बहिर्भाग में लोकपालों के अस्त्रों की पूजा करे। जपहोम में निष्ठा रखने वाला मन्त्रज्ञ साधक इस प्रकार से आवरणों की पूजा करे ॥ ७२ ॥

वागीश्वरी की पूजा करने वाला मन्त्रज्ञ साधक ब्रह्मचारी रहे। वाणी, मन तथा शरीर से शुद्ध रहें, दाँत तथा नखादिकों को मल युक्त न रखे। समस्त स्त्रियों में देवी की भावना करे ॥ ७३ ॥

कवित्वं लभते धीमान् मासैर्द्वादशभिर्ध्रुवम् ।
पीत्वा तन्मन्त्रितं तोयं सहस्रं प्रत्यहं जपेत् ॥ ७४ ॥
महाकविर्भवेन्मन्त्री वत्सरेण न संशयः ।
उरोमात्रे जले स्थित्वा ध्यायन्मार्त्तण्डमण्डले ॥ ७५ ॥
स्थितां देवीं प्रतिदिनं त्रिसहस्रं जपेन्मनुम् ।
लभते मण्डलात् सिद्धिं वाचामप्रतिमां भुवि ॥ ७६ ॥
पलाशबिल्वकुसुमैर्जुहुयान्मधुरोक्षितैः ।
समिद्भिर्वा तदुत्थाभिर्यशः प्राप्नोति वाक्पतेः ॥ ७७ ॥
होमोऽयं सर्वसौभाग्यलक्ष्मीवश्यप्रदो भवेत् ।
राजवृक्षसमुद्भूतैः प्रसूनैर्मधुराप्लुतैः ॥ ७८ ॥
तत्समिद्भिश्च जुहुयात् कवित्वमतुलं लभेत् ।
एवं दशाक्षरी प्रोक्ता सिद्धये वाचमिच्छताम् ॥ ७९ ॥

धीमान् तन्मन्त्रितं तोयं पीत्वा द्वादशभिर्मासैः ध्रुवं कवित्वं लभते इत्यन्वयः । धीमानित्यनेन सप्तवाराभिमन्त्रणं हस्तेन पिधानं सप्तवारं पानञ्च सूचितम् । पाने पूर्वोक्तध्यानमनुसन्धेयम् ।

मण्डलादित्येकोनपञ्चाशद्दिवसैरित्यर्थः । सर्वसौभाग्यलक्ष्मीवश्यप्रद इति । अत्र सौभाग्यवश्ययोर्बालादित्वं लक्ष्म्यै श्रीबीजादित्वम् एवं पापविमुक्तौ नृसिंहबीजादित्वमपि ज्ञेयम् इति पद्मपादाचार्याः । राजवृक्षः श्योनाकः । कल्पाद् यन्त्रमुच्यते—

वाग्बीजगर्भनरमालिख पंक्तियन्त्र-
पत्रेषु मन्त्रलिपयो लिपिभिः परीतम् ।
आदिक्षकावधिभिरिष्टफलप्रदं तद्-
यन्त्रं भवेत् करधृतं कविताकरञ्च ॥ इति ॥ ७४-७९ ॥

बुद्धिमान् मन्त्रवेत्ता वागीश्वरी मन्त्र से अभिमन्त्रित जल बारह मास तक निरन्तर पान करे तो वह निश्चित रूप से कवित्व प्राप्त करता है । (इसकी विधि इस प्रकार है—सात बार जल को हाथ से ढक कर अभिमन्त्रित करे । पुनः सात बार में उसे पीवे ।) प्रतिदिन इस मन्त्र का सहस्र संख्याक जप करने वाला मन्त्र वेत्ता एक संवत्सर में महाकवि हो जाता है इसमें संशय नहीं है । (जंघा) मात्र जल में स्थित होकर मार्त्तण्ड मण्डल में स्थित हुई देवी का ध्यान कर प्रतिदिन, तीन हजार मन्त्र का जप करे तो इस पृथ्वी पर वह मण्डल (४९ दिन) संख्याक दिन में वाणी की अभूतपूर्व सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ७४-७६ ॥

पलाश अथवा बिल्व के पुष्पों को त्रिमधुर (दुग्ध, घृत तथा मधु) में डुबो कर हवन करने से अथवा उनकी समिधाओं से नित्य होम करे तो वह वाचस्पति के यश को प्राप्त कर लेता है ॥ ७७ ॥

इस प्रकार से किया गया होम सर्वसौभाग्य तथा लक्ष्मी प्रदान करता है और सबको वश्य करने वाला है । राजवृक्ष के पुष्पों को त्रिमधुर में आप्लुत कर उससे होम करे अथवा उसकी समिधाओं से होम करे तो अतुलनीय कवित्व शक्ति प्राप्त करता है । वाणी की सिद्धि चाहने वालों के लिये हमने इस प्रकार दशाक्षरी मन्त्र का विधान कहा ॥ ७८-७९ ॥

मन्त्रान्तरम्

हृदयान्ते भगवति वदशब्दयुगं ततः ।
वाग्देवि वह्निजायान्तं वाग्भवाद्यं समुद्धरेत् ॥ ८० ॥
मनुं षोडशवर्णाढ्यं वागैश्वर्यफलप्रदम् ।
मनोः षड्भिः पदैः कुर्यात् षडङ्गानि सजातिभिः ॥ ८१ ॥

मन्त्रान्तरमुद्धरति हृदयेति हृदयान्ते नमोऽन्ते । भगवति स्वरूपम् । अत्र नमः शब्दविसर्गस्य रोरुत्वे गुणे च ओकार इति ज्ञेयम् । वदशब्दयुगं वद वद । वाग्देवि स्वरूपम् इति । वदेति शेषः । कीदृक् मनुः । वह्निजाया स्वाहा अन्ते यस्य वाग्भवं वाग्बीजं एतदाद्यं यस्य । अत्र हसयोगोऽपीति केचित् । वैपरीत्यमित्यन्ये । वागैश्वर्य फलप्रदमित्यनेन विनियोगं वदता श्रीबीजादित्वमपि सूचितम् । अत्र बीजशक्ती पूर्वोक्ते ज्ञेये । ऋष्यादिकमपि पूर्वोक्तमेव । षड्भिः पदैरिति बीजमाद्यं पदं वदवदेति तुर्यम् । अन्ये तु वदवदेति पदद्वयं प्रतिपदमादौ वाग्बीज योगमाहुः ॥ ८०-८१ ॥

अब **वागीश्वरी का अन्य मन्त्र** कहते हैं—हृदयान्त (नमः), तदनन्तर 'भगवति', तदनन्तर दो बार वद शब्द (वद वद), पुनः 'वाग्देवि', तदनन्तर वह्निजाया (स्वाहा) इन सभी के पहले वाग्भव (ऐं) लगाने पर वागीश्वरी मन्त्र का उद्धार कहा जाता है । इसका स्वरूप इस प्रकार है—'ऐं नमो भगवति वद वद वाग्देवि स्वाहा' ॥ ८० ॥

वागीश्वरी का ऊपर कहा गया १६ अक्षरों वाला महामन्त्र वाणी का ऐश्वर्य प्रदान करता है । इस मन्त्र को ६ भागों में (१. ऐं, २. नमो, ३. भगवति, ४. वद वद, ५. वाग्देवि, ६. स्वाहा) विभक्त कर सजातीय 'शिरः' आदि स्थानों में न्यास करना चाहिए ॥ ८१ ॥

वागीश्वरीध्यानम् । पुरश्चरणादिविधानम्

शुभ्रां स्वच्छविलेपमाल्यवसनां शीतांशुखण्डोज्ज्वलां
व्याख्यामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्याञ्च हस्ताम्बुजैः ।
बिभ्राणां कमलासनां कुचनतां वाग्देवतां सुस्मितां
वन्दे वाग्विभवप्रदां त्रिनयनां सौभाग्यसम्पत्करीम् ॥ ८२ ॥

शुभ्रामिति । व्याख्या व्याख्यानमुद्रा । तल्लक्षणं यथा—

शिलष्टाग्रेऽङ्गुष्ठतर्जन्यौ प्रासार्यान्याः प्रदर्शयेत् ।
प्रयोज्याऽभिमुखं सैषा मुद्रा व्याख्यानसंज्ञिता ॥ इति ।

अक्षगुणम् अक्षमालाम् । विद्यां पुस्तकम् । दक्षोर्द्धतो वामोर्द्धपर्यन्तम् आयुधध्यानम् । कमलासनामिति श्वेतकमलस्थानम् ॥ ८२ ॥

अब **वागीश्वरी के दूसरे मन्त्र का ध्यान** कहते हैं—

शुभ्र वर्ण वाली जो वागीश्वरी देवि स्वच्छ विलेपन, स्वच्छ माल्य तथा स्वच्छ वस्त्र धारण की हुई हैं, जो चन्द्रिका की आभा के समान उज्ज्वल हैं, जिन्होंने अपने हाथों में कमल के समान व्याख्या की मुद्रा, जपमाला, सुधापूर्ण कलश और विद्या (पुस्तक) धारण किया है, कुच के भार से विनम्र, कमलासन पर विराजमान, मन्द मन्द हास से युक्त, वाणी रूपी ऐश्वर्य को प्रदान करने वाली, ऐसी त्रिनेत्र सरस्वती की मैं वन्दना करता हूँ, जो सौभाग्य तथा संपत्ति प्रदान करने वाली है ॥ ८२ ॥

हविष्याशी जपेत् सम्यक् वसुलक्षमनन्यधीः ।
दशांशं जुहुयादन्ते तिलैराज्यपरिप्लुतैः ॥ ८३ ॥
मातृकोक्ते यजेत् पीठे देवीं प्रागीरितक्रमात् ।
पिबेत्तन्मन्त्रितं तोयं प्रातःकाले दिने दिने ॥ ८४ ॥
विद्वान् वत्सरतो मन्त्री भवेन्नास्ति विचारणा ।
अभिषिञ्चेज्जलैर्जप्तैरात्मानं स्नानकर्मणि ॥ ८५ ॥
तर्पयेत्तां जलैः शुद्धैरतिमेधामवाप्नुयात् ।
पुष्पगन्धादिकं सर्वं तज्जप्तं धारयेत् सुधीः ।
सभायां पूज्यते सद्भिर्वादे च विजयी भवेत् ॥ ८६ ॥

सम्यगिति वक्ष्यमाणः पुरश्चरणनियम उक्तः । वसुलक्षमष्टलक्षम् । अनन्यधीर्मन्त्रार्थदत्तमनाः । तदुक्तम्—

जपतु मन्त्रमनन्यसंस्मृतिर्यथाविधिः । इति ।

प्रागीरितेति दशाक्षर्युक्तमार्गेण । पिबेदिति पूर्वोक्तमनुसन्धेयम् । पुष्पगन्धादिकमित्यत्र कामादित्वं ज्ञेयम् । तज्जप्तमिति सप्तवारम् । अभिषिञ्चेदित्यादि अवाप्नुयादित्यन्तमेकः प्रयोगः ॥ ८३-८६ ॥

वागीश्वरी का उपासक हविष्य, भोजन करते हुये एकचित्त से इस मन्त्र का आठ लाख जप करे और अन्त में घी मिश्रित तिलों से उसका दशांश होम करे । पहले दशाक्षरी मन्त्र में कहे गये मातृकापीठ पर प्रतिदिन क्रमानुसार उनका पूजन करे और प्रतिदिन प्रातःकाल वागीश्वरी मन्त्र से सात बार अभिमन्त्रित जल को सात बार में पीवे तो वह एक संवत्सर में विद्वान् हो जाता है, इसमें विचार की आवश्यकता नहीं । जो स्नान काल में उक्त मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से अपने को अभिषिक्त करता है और प्रतिदिन शुद्ध जल से वागीश्वरी का तर्पण करता है, वह विशुद्ध मेधा प्राप्त करता है ॥ ८३-८६ ॥

जो बुद्धिमान् साधक सात बार वागीश्वरी मन्त्र से अभिमन्त्रित पुष्प एवं गन्धादि धारण करता है, उसकी पूजा सज्जन लोग सभा के बीच में सर्वप्रथम करते हैं और वह शास्त्रार्थ में विजयी होता है ॥ ८६ ॥

हंसवागीश्वरीमन्त्रः

तारो मायाऽधरो बिन्दुः शक्तिस्तारं सरस्वती ।
ङेऽन्ता नत्यन्तिको मन्त्रः प्रोक्त एकादशाक्षरः ॥ ८७ ॥
ब्रह्मरन्ध्रे भ्रुवोर्मध्ये नवरन्ध्रेषु च क्रमात् ।
मन्त्रवर्णान् न्यसेन्मन्त्री वाग्भवेनाऽङ्गकल्पना ॥ ८८ ॥

हंसवागीश्वरीमन्त्रमुद्धरति तार इति । तारः प्रणवः । माया भुवनेशीबीजम् । अधर ऐ बिन्दुश्च तेन वाग्भवम् । सरस्वती ङेन्ता सरस्वत्यै । नत्यन्तिको नमोऽन्तः । अत्र वाग्भवे ह्सयोगमाहुः । केचित् परे सह योगमिच्छन्ति । वाग्भवं बीजं माया शक्तिः । अन्ये प्रणवं बीजमाहुः । ऋषिः पूर्वोक्तः । त्रिष्टुप् छन्दः । हंसवागीश्वरी देवता । नवरन्ध्रेषु कर्णनेत्रनासाद्वयमुखलिङ्गगुदेषु । मन्त्री क्रमादित्यनेनोक्तम् । वाग्भवेनेति तारमायासम्पुटेनेति परमगुरवः । अन्ये तु वाग्भवाद्येन षड्दीर्घयुक्त मायाबीजेनेत्याहुः ॥ ८७-८८ ॥

अब **हंस वागीश्वरी मन्त्र के उद्धार का प्रकार** कहते हैं—तार (प्रणव) माया (ह्रीँ), सबिन्दुक अधर (ऐं), तदनन्तर शक्ति (ह्रीं), पुनः 'ॐ', तदनन्तर चतुर्थ्यन्त सरस्वती शब्द (सरस्वत्यै), तदनन्तर नमः पद । इस प्रकार ११ अक्षरों का हंसवागीश्वरी मन्त्र का उद्धार कहा गया ।

विमर्श—इसका स्वरूप इस प्रकार है—'ॐ ह्रीँ ऐं क्लीं ॐ सरस्वत्यै नमः' (११) ॥ ८७ ॥

ब्रह्मारन्ध्र में, भ्रूमध्य में तथा दो कान, दो नासा, मुख, लिङ्ग एवं गुदा में इस प्रकार ११ स्थानों में इस मन्त्र के एक एक अक्षर का न्यास करे ॥ ८८ ॥

हंसवागीश्वरीध्यानम्

वाणीं पूर्णनिशाकरोज्ज्वलमुखीं कर्पूरकुन्दप्रभां
चन्द्रार्द्धाङ्कितमस्तकां निजकरैः संबिभ्रतीमादरात् ।
वीणामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्याञ्च तुङ्गस्तनीं
दिव्यैराभरणैर्विभूषिततनुं हंसाधिरूढां भजे ॥ ८९ ॥

वाणीमिति । क्वचिन्मुद्रामिति पाठः । यदा विद्यामिति पाठः तदा आयुधध्यानं पूर्ववत् । द्वितीयपाठे दक्षोर्द्धादि अक्षस्रक्-मुद्रे अन्यत्रान्ये ॥ ८९ ॥

जिनका मुख चन्द्र पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान उज्ज्वल है और शरीर की कान्ति कर्पूर तथा कुन्द के समान है । जिनके मस्तक पर अर्धचन्द्र विराज रहा है और जो अपने हाथों में आदरपूर्वक वीणा, माला, सुधापूर्ण कलश तथा विद्या

(पुस्तक) धारण की हैं । जिनका स्तन उत्तुङ्ग है, जिनका शरीर दिव्य आभरणों से सुशोभित है ऐसी हंसाधिरूढ़ा सरस्वती की मैं सेवा करता हूँ ॥ ८९ ॥

जपपुरश्चरणादि कथनम्

जपेद् द्वादशलक्षाणि तत्सहस्रं सिताम्बुजैः ।
नागचम्पकपुष्पैर्वा जुहुयात् साधकोत्तमः ॥ ९० ॥

साधकोत्तम इत्यनेन जपाव्यवधानेन नियमस्थ एव होमं कुर्यादित्युक्तम् । वर्णाब्जेनेति ह्सौः हंसवागीश्वरीयोगपीठाय नम इति प्रयोगः ॥ ९० ॥

मातृकोक्ते यजेत् पीठे वक्ष्यमाणक्रमेण ताम् ।
वर्णाब्जेनासनं कुर्यान्मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ ९१ ॥
देव्या दक्षिणतः पूज्या संस्कृता वाङ्मयी ततः ।
प्राकृता वामतः पूज्या वाङ्मयी सर्वसिद्धिदा ॥ ९२ ॥

पूज्या संस्कृतेति । एतयोर्ध्यानमुक्तं सारस्वतमते—

दक्षिणे संस्कृता पूज्या योगमुद्राकरद्वया ।
सततं निःसरच्छब्दवदनाऽन्या च वामतः ॥ इति ॥ ९१-९२ ॥

साधक उपर्युक्त मन्त्र का १२ लाख जप करे तथा १२ हजार मन्त्रों से श्वेत कमल, अथवा नागचम्पक के पुष्पों से होम करे तथा आगे कही गई विधि के अनुसार मातृका पीठ पर यजन करे ॥ ९०-९१ ॥

अब **देवी के यजन का प्रकार** कहते हैं—'ह्सौ हंसः वागीश्वरी योगपीठाय नमः' इस मन्त्र से आसन प्रदान करे । पुनः मूल मन्त्र पढ़ कर उस पर वागीश्वरी की मूर्त्ति का आवाहन करे । वागीश्वरी के दक्षिणभाग में संस्कृता वाङ्मयी का और बायें भाग में प्राकृता वाङ्मयी का पूजन करे । क्योंकि ये दोनों वाङ्मयी देवता सम्पूर्ण सिद्धियों को देने वाली हैं ॥ ९१-९२ ॥

इष्ट्वा पूर्ववदङ्गानि प्रज्ञाद्याः पूजयेत्ततः ।
प्रज्ञा मेधा श्रुतिः शक्तिः स्मृतिर्वागीश्वरी मतिः ॥ ९३ ॥
स्वस्तिश्चेति समाख्याता ब्रह्म्याद्यास्तदनन्तरम् ।
लोकेशानर्चयेद् भूयस्तदस्त्राणि च तद्बहिः ॥ ९४ ॥
इति सम्पूजयेद्देवीं साक्षाद्वाग्वल्लभो भवेत् ।
दशाक्षरीसमुक्तानि कर्माण्यत्रापि साधयेत् ।
पूजनं पूर्ववत् कुर्यादत्रापि साधकोत्तमः ॥ ९५ ॥

पूर्ववदिति तुर्योक्तरीत्या केसरेषु । वाग्वल्लभ इत्यनेन विनियोग उक्तः ॥ ९३-९५ ॥

इस प्रकार पूजन कर अङ्गादि आवरणों की, तदनन्तर प्रज्ञादि शक्तियों का पूजन करे । १. प्रज्ञा, २. मेधा, ३. श्रुति, ४. शक्ति, ५. स्मृति, ६. वागीश्वरी,

७. मति और ८. स्वस्ति—ये आठ प्रज्ञादि शक्तियाँ कही गई हैं । इसके बाद ब्राह्मी आदि (द्र. ६. १७-१८) की, तदनन्तर लोकेश्वरों की, उसके पश्चात् उसके बाहर उनके अस्त्रों की पूजा करे ।। ९३-९४ ।।

इस प्रकार देवी का जो पूजन करता है वह साक्षात् सरस्वती का कृपापात्र बन जाता है । उत्तम साधक दशाक्षरी मन्त्र में कहे गये समस्त कर्म इस मन्त्र की सिद्धि के लिये किये जाने वाले जप काल में भी करे ।। ९५ ।।

हंसवागीश्वरीमन्त्रान्तरकथनम्

वाचस्पतेऽमृते भूयः प्लुवः प्लुरिति कीर्त्तयेत् ।
वागाद्यो मुनिभिः प्रोक्तो रुद्रसंख्याक्षरो मनुः ॥ ९६ ॥
कुर्यादङ्गानि विधिवद्वागाद्यैः पञ्चभिः पदैः ।
मातृकां विन्यसेत् पूर्वं पूर्ववत्तां यथाविधि ॥ ९७ ॥

मन्त्रान्तरमुद्धरति वाचेति । वागाद्यो वाग्भवाद्यः । एकादशाक्षर इत्युक्तेः अमृते परे पूर्वेण सन्धिः न मन्त्रे । तदुक्तं नारायणीये—

वाक्कूर्मः पार्श्वयुक् शुक्रं ते केशान्ते मृते प्लुवः ।
प्लुरन्ता दशवर्णेयं विद्या मुख्या सरस्वती ॥ इति ।

एं बीजं प्लुः शक्तिः । पूर्वोक्तमृष्यादिकं कुर्यादिति । अत्र वाग्भवेन हृत् अन्यैश्चतुर्भिः पदैश्चत्वार्यङ्गानि । विधिवदिति । अनेन समस्तेनास्त्रमित्युक्तं भवति ।

ननु पञ्चभिः पदैः कुर्यादङ्गानि इत्युक्तेरत्र पञ्चाङ्गमेवास्तीति केचित् । नैतत् सारम् । यतः कुर्यादङ्गानीति विधिना षडङ्गमेव प्राप्तम् । तत्कथनाकांक्षायां पञ्चभिः पदैरित्युक्तिः । वागाद्यैरिति क्रमार्थम् । पदैरित्येतावत्युच्यमानेऽत्र षट् तानि कथमिति सन्देह एव स्यात् । तत्र गोपनेन व्यस्तसमस्तं बोधयितुं विधिवदित्युक्तिः पञ्चभिरित्यनेन प्रधानबाधायोगाच्च । किञ्च यत्र तथैवेष्टं तत्र तथैव विधास्यति । मन्त्रस्य पञ्चाङ्गमिति कल्पयेदित्यादिना ॥ ९६-९७ ॥

अब **वागीश्वरी का अन्य मन्त्र** कहते हैं—वाणी का आद्य मन्त्र 'ऐं', पश्चात् 'वाचस्पते', तदनन्तर 'अमृते', पुनः 'प्लुवः प्लुः' यह एकादश अक्षर का अन्य वागीश्वरी मन्त्र है ।। ९६ ।।

इसमें वागादि 'ऐं' पुनः 'वाचस्पते' पुनः 'अमृते' पुनः 'प्लुवः' पुनः 'प्लुः' मन्त्र के इन पाँच पदों द्वारा हृदयादि न्यास करे । तदनन्तर पूर्ववत् विधानानुसार मातृकाओं का न्यास करे ।। ९७ ।।

आसीना कमले करैर्जपवटीं पद्मद्वयं पुस्तकं
बिभ्राणा तरुणेन्दुबद्धमुकुटा मुक्तेन्दुकुन्दप्रभा ।
भालोन्मीलितलोचना कुचभराक्रान्ता भवद्भूतये
भूयाद् वागधिदेवता मुनिगणैरसेव्यमानाऽनिशम् ॥ ९८ ॥

कमले इति सिते । दक्षाधस्ताद्वामाधः पर्यन्तमायुधध्यानम् ॥ ९८ ॥

तदनन्तर **वागधिदेवता का ध्यान** इस प्रकार करे—जो कमलासन पर विराजमान हैं, अपने हाथों में जपमाला, दो पद्म तथा पुस्तक धारण की हैं । जिनके मस्तक में पूर्णचन्द्र का मुकुट शोभित हो रहा है । जिनके शरीर की कान्ति मोती, चन्द्रमा और कुन्द के समान है, जिनके भाल के तृतीय नेत्र खुले हुये हैं जो कुचभार से आक्रान्त हैं, ऐसी मुनिगणों से आसेव्यमान वागधिदेवता आपका कल्याण करें ॥ ९८ ॥

रुद्रलक्षं जपेन्मन्त्रं दशांशं जुहुयाद् घृतैः।
मातृकाकल्पिते पीठे पूजयेत्तां यथा पुरा ॥ ९९ ॥
पलाशकुसुमैर्हुत्वा परां सिद्धिमवाप्नुयात्।
कदम्बकुसुमैस्तद्वत् फलैः श्रीवृक्षसम्भवैः ॥ १०० ॥
अचिराच्छ्रियमाप्नोति वाचां कुन्दसमुद्भवैः।
नन्द्यावर्त्तप्रसूनैर्वा हुत्वा वाग्वल्लभो भवेत् ॥ १०१ ॥

रुद्रलक्षमेकादशलक्षम् । यथा पुरेत्येकादशाक्षर्युक्तमार्गेण । तद्वदिति वाक्सिद्धिमाप्नुयादित्यर्थः । अचिराद् वाचां श्रियं वाक्सम्पदं प्राप्नोतीति सम्बन्धः । नन्द्यावर्त्तो गन्धतगरः । वेति कुन्दसमुद्भवैरित्यनेन विकल्पः ॥ ९९-१०१ ॥

उपर्युक्त मन्त्र का ११ लाख जप करे । दशांश से घृत द्वारा होम करे । पुनः एकादशाक्षरी में कही गई विधि के अनुसार मातृका कल्पित पीठ पर वागीश्वरी का पूजन करे ॥ ९९ ॥

पलाश कुसुम द्वारा होम करने से सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है । इसी प्रकार कदम्ब के पुष्पों से अथवा श्री बिल्व वृक्ष के फलों से भी होम करने से शीघ्र ही वाणी का ऐश्वर्य प्राप्त होता है । कुन्द कसुमों के होम से अथवा नन्द्यावर्त्त (गन्धतगर) के फूलों से होम करने से साधक सरस्वती का प्रिय पात्र होता है ॥ १००-१०१ ॥

ब्राह्मीघृतगुणकथनम्

ब्राह्मीरसे वचाकल्के कपिलाज्यं पचेज्जपन्।
पिबेद्दिनादौ तन्नित्यं सर्वशास्त्रार्थविद्भवेत् ॥ १०२ ॥
अनया विद्यया जप्तं ब्राह्मीपत्रं प्रभक्षयेत् ।
न विस्मरति मेधावी श्रुतान् वेदागमान् पुनः।
बहुना किमियं विद्या जपतां कामदो मणिः ॥ १०३ ॥

ब्राह्मीरस इति । अत्रापि स्वरसपाक इति कृत्वा घृतस्याष्टमांशः स्वकल्कः घृत चतुर्गुणो ब्राह्मीरसः । अन्यत् पूर्ववत् । वचाकल्प इति क्वचित् पाठः । जपन् पचेदिति सम्बन्धः । अनया विद्यया जप्तं सप्तवासरमिति शेषः । नित्यं दिनादौ पिबेदिति त्रिवर्षं

पञ्चवर्षं वा । अनया विद्ययेत्यादि सर्वं ब्राह्मीपत्रेऽपि योजनीयम् । सर्वेत्यादि मेधावीत्यादि उभयमुभयस्य फलं समयप्रमाणभेदेन । तदुक्तं नारायणीये—

ब्राह्मीरसस्य कपिलाज्ययुतं प्रभाते जप्तं तया पिबति यश्चुलुकं त्रिवर्षम् ।
एकोदितं स खलु धारयति त्रिरुक्तं पञ्चाब्दतो मुखधृतं न तु विस्मरेत्तत् ॥
तत्पल्लवादनमपि स्मृतमेवम् । इति ।

कामदो मणिरिति । अनेनैतत् सूचितम् ।

एतज्जप्तं सुवीरजमपास्यति नेत्ररोगम् । इति ।
मूत्राशी तिथिलक्षं जप्त्वा योङ्कोल्लसर्पिषा जुहुयात् ।
अष्टसहस्रं वेति स भूतं भव्यं भविष्यच्च । इत्यादिकम् ॥ १०२-१०३ ॥

वचा के चूर्ण और ब्राह्मीरस में कपिला गौ का घृत इस मन्त्र को जपते हुये पकावे । घृत का अष्टमांश कल्क, तथा घृत का चौगुना ब्राह्मी रस होना चाहिए । इस प्रकार इस महामन्त्र से जपे गये उक्त पाक को सात दिन पर्यन्त प्रातःकाल पान करे तो वह संपूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता हो जाता है ॥ १०२ ॥

मेधावी साधक इस महामन्त्र को जपते हुये ब्राह्मीपत्र का भक्षण करे तो वह एक बार सुने हुये वेद एवं आगम शास्त्रों को कभी नहीं भूलता । इस विषय में बहुत अधिक क्या कहें यह मन्त्र जप करने वालों की कामनापूर्ण करने के लिये चिन्तामणि के समान हैं ॥ १०३ ॥

वागीश्वरीमन्त्रान्तरकथनम्

तोयस्थं शयनं विष्णोः सकेवलचतुर्मुखः ।
बिन्द्वार्घीशयुतो वह्निर्बिन्दुसद्योऽम्बुमान् भृगुः ॥ १०४ ॥
उक्तानि त्रीणि बीजानि सद्भिः सारस्वतार्थिनाम् ।
अङ्गानि कल्पयेद् बीजैर्द्विरुक्तैर्जातिसंयुतैः ॥ १०५ ॥

मन्त्रान्तरमुद्धरति तोयस्थमिति । विष्णोः शयनमनन्त आकारः । तोयस्थं वकारस्थं तेन वा । चतुर्मुखः ककारः सकेवलः स्वररहितः तेन वाक् । अयमेव मन्त्रांश इति केचित् । तदुक्तं नारायणीये—

खड्गीशो यः प्रांशुकः सान्तवेधाः कर्णान्तस्थो यः सदण्डौ भुजङ्गः ।
साम्भो दन्तो बिन्दुमान् यो भृगुः स्युर्वागीश्वर्यास्त्रीणि बीजान्यमूनि ॥ इति ॥

तट्टीकाकारेण वागिति मन्त्रांश उक्तः । अन्ये तु चतुर्मुखः कः सकेवलः बिन्दुमान् तेन कां । एवं सबिन्दुकस्य बीजत्वमुपपद्यत इति ते वदन्ति ।

सम्प्रदायविदस्तु पूर्वोद्धृतं यत् वाक्पदं तल्लक्षितं वाग्भवबीजमित्याहुः । एवं बीजत्वमप्युपपन्नं सारस्वतञ्च भवति । अन्ये तु प्रकारान्तरेण वाग्भवबीजोद्धारं कुर्वन्ति। विष्णोस्तोयस्थं शयनम् आकारः कशब्देन शिरस्तेन अकारः इ इति स्वरूपम् । कश्च इश्चेति समासे के इति पदम् । कीदृक् शयनं सके केसहितं वलनं वलः सम्मेलनं तस्मिन् जाते चतुर्मुखः कः तेन शिरः । ततो बिन्दुरिति । अर्घीश ऊ वह्नी रेफः सद्य

ओकारः अम्बु वकारः भृगुः सकारः । सारस्वतार्थिनामित्यनेन विनियोग उक्तः । आद्यं बीजं अन्त्यं शक्तिः पूर्वोक्तमृष्यादिकम् ॥ १०५ ॥

विष्णु का शयन अनन्त (आकार), तोयस्थ (वकार) इस प्रकार 'वा' सकेवलश्चतुर्मुखः, चतुर्मुख (ककार) वह केवलमात्र (स्वर रहित) इससे 'वाक्' मन्त्र का प्रथम अक्षर बिन्दु (अनुस्वार) अर्घीश (उ) उससे युक्त वह्नि (रुँ) तदनन्तर बिन्दु (अनुस्वार) सद्यो (ओङ्कार), उससे युक्त अम्बुमान् (वकार), पुनः भृगुः (सकार) यह एक अन्य प्रकार का सारस्वत मन्त्र है ॥ १०४ ॥

विद्वानों ने सरस्वती की प्राप्ति के लिये ऊपर तीनों बीज कहे हैं। इन तीनों बीजों को दो बार उच्चारण कर अङ्ग की कल्पना कर साधक को हृदयादि न्यास करना चाहिए ॥ १०५ ॥

आयुधध्यानम्

मुक्ताहारावदातां शिरसि शशिकलालङ्कृतां बाहुभिः स्वै-
र्व्याख्यां वर्णाक्षमालां मणिमयकलशं पुस्तकञ्चोद्वहन्तीम् ।
आपीनोत्तुङ्गवक्षोरुहभरविनमन्मध्यदेशामधीशां
वाचामीडे चिराय त्रिभुवननमितां पुण्डरीके निषण्णाम् ॥१०६॥

मुक्तेति । व्याख्या व्याख्यानमुद्रा पूर्वोक्ता । दक्षोर्ध्वतो वामोर्ध्वपर्यन्तमायुधध्यानम् ॥ १०६ ॥

अब **वागीशी एवं उनके आयुध का ध्यान** कहते हैं—जो मुक्ताहार धारण करने से सर्वथा शुभ हैं, शिर पर शशिकला धारण की हैं और अपने बाहुओं में व्याख्या मुद्रा, 'वर्णमय' अक्षमाला, मणिमयकलश तथा पुस्तक धारण की हैं, अत्यन्त स्थूल और उत्तुङ्ग स्तनों के भार से जिनका मध्यदेश नीचे की ओर झुका हुआ है, ऐसी श्वेत कमल पर विराजमान, त्रिभुवन से प्रणम्य वाणी की अधीश्वरी को मैं बहुकालपर्यन्त स्तुति द्वारा प्रसन्न कर रहा हूँ ॥ १०६ ॥

पुरश्चरणादिकथनम्

त्रिलक्षं प्रजपेन्मन्त्रं जुहुयात्तद्दशांशतः ।
पायसेनाज्यसिक्तेन संस्कृते हव्यवाहने ॥ १०७ ॥
वागीशीं पूजयेत् पीठे विधिना मातृकोदिते ।
प्राक्प्रस्तुतेन मार्गेण प्रत्यहं साधकोत्तमः ॥ १०८ ॥
व्याघातकुसुमैर्हुत्वा वाक्सिद्धिमतुलां लभेत् ।
जातिपुष्पैः सिताम्भोजैः सिक्तैश्चन्दनवारिणा ॥ १०९ ॥
नन्द्यावर्त्तैः शुभैः कुन्दैर्हुत्वा वाक्सिद्धिमाप्नुयात् ।
जपन् बीजत्रयं मन्त्री सभायां जयमाप्नुयात् ॥ ११० ॥

सितां वचां वा ब्राह्मीं वा जप्तां खादेद्दिने दिने ।
मेधां काममवाप्नोति साधको नात्र संशयः ॥ १११ ॥
एवमुक्तेषु मन्त्रेषु दीक्षितो यतमानसः ।
एवं यो भजते भक्त्या स भवेद्भुक्तिमुक्तिभाक् ॥ ११२ ॥

विधिनेति वक्ष्यमाण श्वेतगन्धपुष्पादिना । प्राक्प्रस्तुतेनेति एकादशाक्षर्युक्त-मार्गेणेत्यर्थः । साधकोत्तमः सरस्वत्युपासकसमयस्थ इत्यर्थः । व्याघातो राजवृक्षः 'आरग्वधो दीर्घफलो व्याघातश्चतुरङ्गुलः' इति कोषः । नन्द्यावर्त्तैर्गन्धतगरैः । शुभैः सुगन्धिभिरिति कुन्दविशेषणम् । काममत्यर्थम् । दीक्षित इति ग्रन्थकृदुक्त-प्रकारेणेत्यर्थः ॥ १०७-११२ ॥

ऊपर कहे गये मन्त्र का तीन लाख जप करे । उसके दशांश संख्या में घृतविमिश्रित खीर से सुसंस्कृत अग्नि में हवन करे ॥ १०७ ॥

आगे वर्णित पुष्प गन्धादि द्रव्यों द्वारा एवं एकादशाक्षरी मन्त्र में कही गई विधि के अनुसार मातृकामय पीठ में वागीशी की प्रतिदिन पूजा करे ॥ १०८ ॥

व्याघात (राजवृक्ष) के पुष्प से होम करने से अतुलनीय वाक्सिद्धि प्राप्त होती है । घिसे हुये चन्दन में डुबोये गये जाति पुष्प से अथवा श्वेत कमल से अथवा गन्धतगर अथवा सुगन्धित कुन्द पुष्पों से हवन करने वाला साधक वाक् सिद्धि प्राप्त करता है । ऊपर कहे गये तीन बीजाक्षरों वाले इस मन्त्र का जप करने वाला साधक सभा में विजयी होता है । प्रतिदिन जप की गई श्वेत वचा अथवा ब्राह्मी को खाए तो साधक अत्यन्त मेधा प्राप्त करता है, इसमें कदाचित् संशय नहीं है ॥ १०९-१११ ॥

इस प्रकार ऊपर कहे गये समस्त सारस्वत मन्त्रों में किसी एक मन्त्र की दीक्षा से दीक्षित साधक एकाग्रचित्त हो गुरु परम्परा से प्राप्त मन्त्र का भक्तिपूर्वक जप करे और आगे कहे जाने वाले नियमों का पालन करे तो वह भुक्ति एवं मुक्ति का भाजन हो जाता है ॥ ११२ ॥

सारस्वतसमयानाह

सुसितैर्गन्धकुसुमैः पूजा सारस्वते विधौ ।
दूर्वा बीजाङ्कुरं पुष्पं राजवृक्षसमुद्भवम् ॥ ११३ ॥
उत्पलानि प्रशस्तानि सिन्धुवाराङ्कुराणि च।
भजन् सरस्वतीं नित्यमेतानि परिवर्जयेत् ॥ ११४ ॥
आघ्रातं गृञ्जनं बिल्वं करञ्जं लशुनन्तथा ।
तैलं पलाण्डुं पिण्याकं शार्गाष्टमपि भोजने ॥ ११५ ॥
सर्वं पर्युषितं त्याज्यं सदा सारस्वतार्थिना ।
नाचरेन्निशि ताम्बूलं स्त्रियं गच्छेद्दिवा न च॥ ११६ ॥

न सन्ध्ययोः स्वपेज्जातु नाशुचिः किञ्चिदुच्चरेत् ।
प्रदोषेषु भवेन्मौनी दिग्वस्त्रां न विलोकयेत् ॥ ११७ ॥
न पुष्पितां स्त्रियं गच्छेन्न निन्देद्वामलोचनाम् ।
न मृषा वचनं ब्रूयान्नाक्रामेत् पुस्तकं सुधीः ॥ ११८ ॥
अक्षराढ्यानि पत्राणि नोपेक्षेत न लङ्घयेत् ।
चतुर्दश्यष्टमीपर्व प्रतिपद्ग्रहणेषु च ॥ ११९ ॥
संक्रमेषु च सर्वेषु विद्यां नैव पठेद् बुधः ।
व्याख्याने सन्त्यजेन्निद्रामालस्यं जृम्भनं पुनः ॥ १२० ॥

सारस्वतसमयानाह सुसितैरिति । बीजाङ्कुरं यवाङ्कुरम् । सिन्धुवारो निर्गुण्डी । एतानि वक्ष्यमाणानि भोजने परिवर्जयेदिति सम्बन्धः । आम्रातं अवार इति कान्यकुब्जभाषायाम् । गुञ्जनं गाजर इति प्रसिद्धम् । कलञ्जं कृष्णबीजः फलविशेषः कलिङ्गड़ इति गुर्जरभाषायां खर्बुजा इति गौड़भाषायाम् । रोड इति कान्यकुब्ज-भाषायाम् । तैलं प्रत्यक्षं व्यञ्जनाद्यसम्पृक्तम् । शार्ङ्गेष्टं सिङ्घाड इति कान्यकुब्ज-भाषायाम् । साङ्गुष्ठमित्यपपाठः साङ्गुष्ठभोजनस्य विहितत्वात् । यदाहुः—

दानं प्रतिग्रहो होमो भोजनं बलिरेव च ।
साङ्गुष्ठेन सदा कार्यमसुरेभ्योऽन्यथा भवेत् ॥ इति ।

सर्वं पर्युषितं घृतपक्वमपि । नाचरेन्निशि ताम्बूलमित्यस्यायमर्थः । रात्रौ मुखे ताम्बूलं कृत्वा न शयनं कार्यमित्यर्थः । स्मृतिरपि—'ताम्बूलं वदनात् त्यजेत्' इति । दिग्वस्त्रां नग्नां स्वीयामपि ॥ ११३-१२० ॥

समस्त सारस्वत उपासना की विधि में श्वेत सुगन्ध युक्त पुष्प, दूर्वा, यवांकुर, राजवृक्ष का पुष्प, उत्पल (लालकमल) निर्गुण्डी का अंकुर प्रशस्त माना गया है ॥ ११३-११४ ॥

अब सारस्वत मन्त्र का उपासक जिन जिन वस्तुओं को प्रतिदिन वर्जन करे उसे कहता हूँ—आम्रात, गाजर, विल्व, करञ्ज, लशुन, तैल, पियाज, पिण्याक, सिङ्घाडा भोजन में इन वस्तुओं का त्याग करे ॥ ११४-११५ ॥

इसी प्रकार सरस्वती चाहने वाला साधक सभी प्रकार के पर्युषित (बासी) चाहे घृतपक्व भी हो तो भी ऐसे अन्न का भोजन त्याग देवे । रात को ताम्बूल न खावे तथा दिन में स्त्री के साथ सहवास न करे ॥ ११६ ॥

भूलकर कभी भी दोनों संध्या में शयन न करे । अपवित्र होकर किसी शब्द का उच्चारण न करे । प्रदोष काल में मौन धारण करे और नङ्गी स्त्री की ओर दृष्टिपात न करे, चाहे अपनी भी स्त्री क्यों न हो । रजस्वला स्त्री के साथ सहवास न करे और न स्त्री जाति की निन्दा करे । कभी झूठ न बोले तथा पुस्तक को कभी न लाँघे ॥ ११७-११८ ॥

अक्षर युक्त पत्रों की उपेक्षा न करे और न तो उनका उल्लङ्घन करे । चतुर्दशी, अष्टमी पर्व तिथियों (अमावास्या, पूर्णिमा, अष्टमी) में, प्रतिपदा में, ग्रहण में, सभी संक्रान्तियों में विद्याध्ययन न करे । ग्रन्थ के व्याख्या काल में (पढ़ाने अथवा लिखने की स्थिति में) साधक को निद्रा, आलस्य और जंभाई त्याग देना चाहिए ॥ ११९-१२० ॥

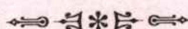
क्रोधं निष्ठीवनं तद्वन्नीचाङ्गस्पर्शनन्तथा।
मनुष्यसर्पमार्जारमण्डूकनकुलादयः ॥ १२१ ॥
अन्तरा यदि गच्छेयुस्तदा व्याख्यां परित्यजेत्।
निशासु दीपभ्रंशे च सद्यः पाठं परित्यजेत् ॥ १२२ ॥
ज्ञात्वा दोषानिमान् सम्यक् भक्त्या यो भारतीं भजेत् ।
वाचां सिद्धिमवाप्नोति वाचस्पतिरिवापरः ॥ १२३ ॥
॥ श्रीं ह्रीं ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचिते शारदातिलके
सप्तमः पटलः समाप्तः ॥ ७ ॥



नीचाङ्गानि नाभ्यधोवर्त्तीनि । आदिशब्दात् पश्वादयः ॥ १२१-१२३ ॥

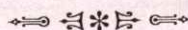
॥ इति श्रीराघवभट्टविरचित-शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां सप्तमः पटलः ॥ ७ ॥



इसी प्रकार साधक को क्रोध, थूकना, अपनी नाभि से नीचे के शरीर का स्पर्श त्याग देना चाहिए । मनुष्य, सर्प, विडाल, मण्डूक (मेढक) और नकुल, बीच में आ जाँय तो अध्यापन बन्द कर देवे । रात्रि काल में जब दीया बुझ जावे तो पाठ बन्द कर देवे ॥ १२१-१२२ ॥

इन दोषों को भलीभाँति जान कर जो साधक सरस्वती की उपासना करता है वह वाणी की सिद्धि प्राप्त कर साक्षाद् वाचस्पति हो जाता है ॥ १२३ ॥

॥ इस प्रकार शारदातिलक के सातवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ७ ॥



अथाष्टमः पटलः

अथ महालक्ष्मीप्रकरणम्

अथ वक्ष्ये श्रियो मन्त्रान् श्रीसौभाग्यफलप्रदान् ।
यस्याः कटाक्षमात्रेण त्रैलोक्यमभिवर्द्धते ॥ १ ॥

अथ प्रकारपञ्चके केनचित् प्रकारेण मन्त्राणां वक्तव्यत्वे प्राप्तेऽत्र शक्तिमन्त्राणां प्रकृतत्वात् शक्तिमन्त्रादित्वेन वक्तुमिच्छन् ब्रह्मशक्तिवाचकान् सरस्वतीमन्त्रान् उक्त्वा विष्णुशक्तिवाचकान् लक्ष्मीमन्त्रान् वक्तुमुपक्रमते अथेति । श्रीसौभाग्येति विनियोगोक्तिः । त्रैलोक्यमिति लक्षणया त्रैलोक्यनिवासिजना उच्यन्ते । यद् विष्णुपुराणम्—

स श्लाघ्यः स गुणी धन्यः स कुलीनः स बुद्धिमान् ।
स शूरः स च विक्रान्तो यस्त्वया देवि वीक्षितः ॥ इति ॥ १ ॥

अब इसके बाद श्री एवं सौभाग्य रूप फल प्रदान करने वाले श्री के मन्त्रों को कहता हूँ । जिनके एक मात्र चितवन से त्रैलोक्यवासी समस्त जन समृद्ध हो जाते हैं ॥ १ ॥

वान्तं वह्निसमारूढं वामेनेत्रेन्दुसंयुतम् ।
बीजमेतच्छ्रियः प्रोक्तं चिन्तामणिरिवापरः॥ २ ॥

लक्ष्मीमन्त्रः । ऋष्यादिकथनम्

ऋषिर्भृगुर्निवृच्छन्दो देवता श्रीः समीरिता ।
षड्दीर्घयुक्तबीजेन कुर्यादङ्गानि षट् क्रमात् ॥ ३ ॥

मन्त्रमुद्धरति वान्तमिति । वान्तं शः वह्नी रेफ वामनेत्रं ईकारः इन्दुर्बिन्दुः । चिन्तारत्नमित्यनेनैतदुक्तं भवति प्रणवादित्वं शक्त्यादित्वं वा वागादित्वं वा कामादित्वं वा तत्तद्योगे तत्तद्देवतानामुपसर्जनत्वञ्च । यथा प्रणवादित्वे परमात्मस्वरूपिणी श्रीर्देवता एवं शक्त्यादित्वे शक्तिस्वरूपिणी श्रीर्देवता इत्यादि । शकारो बीजम् ईकारः शक्तिः । षड्दीर्घेति क्लीबरहितैः । नेत्राभ्यां वौषडिति पञ्चमाङ्गे प्रयोगः । तेन यत्र यत्र नेत्रद्वयं तत्र तत्रायं प्रयोगो ज्ञेयः । यन्त्रान्तरे पञ्चाङ्गान्युक्तानि । महाश्रिये महाविद्युत्प्रभे स्वाहा हृत् । श्रिये विजये स्वाहा शिरः । गौरि महाबले बन्ध बन्ध स्वाहा शिखा । धृतिः स्वाहा वर्म । महाकाये पद्महस्ते हुँ फट् अस्त्रम् इति । कल्पान्तरे तु श्रिये स्वाहा हृत् । श्रीँ फट् शिरः । श्रीँ नमः शिखा । श्रिये प्रसीद नमः वर्म । श्रीँ फट् अस्त्रम् । इति पञ्चाङ्गम् ।

उक्तञ्च नारायणीये—अस्याङ्गानि द्विधोक्तानि तयोरेकं समाश्रयेत् । इति । क्रमादित्यनेन शक्त्यादियोगे दीर्घप्रयोगः प्रणवादित्वे तद्योग इति सूचितम् ॥ २-३ ॥

इस **महालक्ष्मी महामन्त्र का उद्धार** कहते हैं—वान्त (श) वह्नि (र) वामनेत्र (ईकार) इन्दु (अनुस्वार) इस प्रकार 'श्रीँ' यह महालक्ष्मी का बीज निष्पन्न हुआ । यह चिन्तामणि के समान चिन्तित मनोरथ को प्रदान करता है ॥ २ ॥

इस महालक्ष्मी बीजमन्त्र के भृगु ऋषि हैं, श्री देवता हैं । साधक छः दीर्घ वाले वर्णों से युक्त इस श्री बीज से षडङ्गन्यास करे । यथा—'ॐ आं श्रीं हृदयाय नमः' इत्यादि ॥ ३ ॥

महालक्ष्मीध्यानम् । पुरश्चरणादिकथनम्

कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजै-
र्हस्तोत्क्षिप्तहिरणमयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम् ।
बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलां
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बलसितां वन्देऽरविन्दस्थिताम् ॥ ४ ॥

कान्त्येति । हिमगिरीति उच्चत्वं श्वैत्यञ्च । अरविन्देति श्वेतम् । इदं सर्वं श्रीमन्त्रे ज्ञेयम् । वामाधस्तात् दक्षाधस्तनपर्यन्तम् आयुधध्यानम् । तदुक्तं नारायणीये—

चतुर्भुजां सुवर्णाभां सपद्मोर्द्ध्वभुजद्वयाम् ।
दक्षिणाभयहस्तां तां वामहस्तवरप्रदाम् ॥ इति ।

अत्र ध्यानानन्तरं लक्ष्मीमुद्रा दर्शनीया ।

चक्रमुद्रां तथा बद्ध्वा मध्यमे द्वे प्रसार्य च ।
कनिष्ठिके तथानीय तदग्रेऽङ्गुष्ठकौ क्षिपेत् ।
लक्ष्मीमुद्रा परा ह्येषा सर्वसम्पत्प्रदायिका ॥ इति ।

इयञ्च सर्वलक्ष्मीमन्त्रसाधारणीति ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

अब **महालक्ष्मी का ध्यान** कहते हैं—जिनकी कान्ति सुवर्ण के समान हैं, जो हिमालय जैसे ऊँचे ऊँचे दिग्गजों द्वारा शुण्ड में स्थित हिरण्यमय अमृत पूर्ण घड़ों से सिच्यमान हैं । जिनके हाथों में वर मुद्रा, दो कमल तथा अभय शोभित हो रहा है और मस्तक पर दिव्य मुकुट विराजमान है । जिनके नितम्ब प्रदेश पर रेशमी वस्त्र शोभित हो रहा है । कमलासन पर बैठी हुई ऐसी महालक्ष्मी की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ४ ॥

भानुलक्षं जपेन्मन्त्रं दीक्षितो विजितेन्द्रियः ।
श्रियमप्यर्चयेन्नित्यं सुगन्धिकुसुमादिभिः ॥ ५ ॥
तत्सहस्रं प्रजुहुयात् कमलैर्मधुरोक्षितैः ।
जपान्ते जुहुयान्मन्त्री तिलैर्वा मधुराप्लुतैः ॥ ६ ॥

बिल्वैः फलैर्वा जुहुयात् त्रिभिर्वा साधकोत्तमः।
अत्र सम्यग् यजेत् पीठं नवशक्तिसमन्वितम् ॥ ७ ॥
विभूतिरुन्नतिः कान्तिः सृष्टिः कीर्त्तिश्च सन्नतिः।
पुष्टिरुत्कृष्टिर्ऋद्धिश्च संप्रोक्ता नव शक्तयः ॥ ८ ॥

भानुलक्षं द्वादशलक्षम् । मन्त्रीत्यनेन नारायणाष्टाक्षरस्य शेषतया दशांशजप उक्तः । अतएव वक्ष्यति विष्णुभक्तो दृढव्रतः इति । जपान्त इत्यनेन जपाव्यवधाने तन्नियमस्थेन होमः कार्य इत्युक्तं भवति । त्रिभिर्वेति समुच्चितश्चतुर्थः पक्षः । तत्राप्येकैकेन द्रव्येण सहस्रचतुष्कं होतव्यम् । अथवा त्रिभिः साधकोत्तमो जुहुयात् इत्यनेन कमलवासिनीमहालक्ष्मीश्रीसूक्तैः सकृत् सकृत् हुत्वा पश्चान्मूलेन होतव्यमित्युक्तम् भवति । साधकोत्तम इति काकाक्षिगोलकन्यायेन उभयत्र सम्बध्यते । साधकोत्तमोऽत्र सम्यगित्यनेनैतत् सूचितं भवति । श्रीपूजायां मण्डूकादि परतत्त्वान्तं चतुर्थपटलोक्तरीत्या अभ्यर्च्य श्रीबीजाद्या नवपीठशक्तयः प्रागादिदिक्षु मध्ये च पूज्याः ॥ ५-८ ॥

पुरश्चरण—साधक दीक्षा लेकर इन्द्रियों को अपने वश में कर बारह लाख इस बीज मन्त्र का जप करे । प्रतिदिन कुसुमादि से महाश्री का पूजन करे ।। ५ ।।

जप समाप्त कर लेने पर मन्त्रवेत्ता तत्क्षण (व्यवधान रहित) कलश त्रिमधु से पूर्ण कर उससे अथवा त्रिमधु (को दूध, घी, मधु से) मिश्रित तिलों द्वारा होम करे । अथवा विल्व के फल से होम करे । अथवा इन तीनों द्रव्यों से पृथक् पृथक् चार चार सहस्र होम करे । तदनन्तर भलीभाँति नव शक्तियों से युक्त महापीठ का पूजन करे ।। ६-७ ।।

विभूति, उन्नति, कान्ति, सृष्टि, कीर्त्ति, सन्नति, पुष्टि, उत्कृष्टि और ऋद्धि—ये नव महाश्री की शक्तियाँ कही गई हैं ।। ८ ।।

पीठमन्त्रः

अत्रावाह्य यजेद्देवीं परिवारैः समन्विताम्।
बीजाद्यमासनं दत्त्वा मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ ९ ॥

अत्रेत्यष्टपत्रे श्रीबीजकर्णिके ।

तदुक्तमाचार्यैः—रुचिराष्टपत्रमथ वारिरुहम् । इति ।

पद्मपादाचार्यैर्व्याख्यातं श्रीबीजयोगः कर्णिकायां रुचिरत्वम् इति ।

संहितायामपि— अष्टपत्रं लिखेद् यन्त्रं बहिर्भूबिम्बभूषितम् ।
मध्ये बीजं विनिक्षिप्य । इति ।

पीठमन्त्रमुद्धरति बीजाद्यमिति । श्रीँ सर्वशक्तिकमलासनाय नमः इति पीठमन्त्रः सर्वश्रीमन्त्रसाधारण इति ज्ञेयम् । पद्मपादाचार्यैस्तु श्रीँ श्रीदेव्यासनाय नमः श्रीँ श्रीदेवीमूर्त्तये नमः इति पीठमूर्त्तिमन्त्रावुक्तौ । अत्र पद्मं श्वेतं ध्येयम् । तदुक्तं प्रयोगसारे—

सङ्कल्प्याम्भोरुहं शुभ्रं कर्णिकायां यजेच्छ्रियम् । इति ॥ ९ ॥

श्री बीज की कर्णिका में आसन की पूजा कर तदनन्तर परिवार समन्वित महाश्री का पूजन करे । श्रीबीज से संयुक्त सर्वशक्ति के कमलासन की इस प्रकार पूजा करे यथा 'श्रीं सर्वशक्तिकमलासनाय नमः' । इस प्रकार पूजित पीठ पर मूल मन्त्र से श्री की मूर्त्ति का आवाहन कर पूजा करे ॥ ९ ॥

यजेत् पूर्ववदङ्गानि दिग्दलेष्वर्चयेत्ततः ।
वासुदेवं सङ्कर्षणं प्रद्युम्नमनिरुद्धकम् ॥ १० ॥

वासुदेवादिध्यानम्

हिमपीततमालेन्द्रनीलाभान् पीतवाससः ।
शङ्खचक्रगदापद्मधारिणस्तान् चतुर्भुजान् ॥ ११ ॥

पूर्ववदिति चतुर्थपटलोक्तरीत्या केसरेषु । वासुदेवादीनामायुधध्यानं नारायणमन्त्रे मदुक्तमनुसन्धेयम् ॥ १०-११ ॥

तदनन्तर अङ्गों की पूजा करे । पुनः कर्णिका के चारों ओर के पत्र पर वासुदेव संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की पूजा करे ॥ १० ॥

ये ऊपर कहे गये चारों देवता क्रमशः स्वच्छ पीताम्बर, तमाल सदृश काला, इन्द्रनील सदृश कर्वुर एवं पीताम्बर धारण किये हुये हैं एवं सभी अपने हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुये हैं । ये सभी देवता चतुर्भुज स्वरूप हैं ॥ ११ ॥

विदिग्गतेषु पत्रेषु दमकादीन् यजेद् गजान् ।
दमकं सलिलञ्चैव गुग्गुलुञ्च कुरुण्टकम् ॥ १२ ॥

विदिग्गतेष्विति कल्प्यदिगपेक्षया । यत्तु नारायणीये—

आग्नेयादिषु पत्रेषु गुग्गुलुश्च कुरुण्टकः ।
दमकः सलिलश्चेति हस्तिनो रजतप्रभाः ॥
हेमकुम्भधरा ध्येयाः ।

इति तत्र प्रसिद्धाग्नेयदिशमङ्गीकृत्येत्यवधेयम् ॥ १२ ॥

आग्नेयादि कोण में स्थित कमल पत्र पर दमक आदि गजराजों की पूजा करे। उन चारों के नाम इस प्रकार हैं—दमक, सलिल, गुग्गुलु, कुरण्टक ॥१२॥

यजेच्छङ्खनिधिं देव्या दक्षिणे दयितान्विताम् ।
मुक्तामाणिक्यसङ्काशौ किञ्चित्स्मितमुखाम्बुजौ ॥ १३ ॥
अन्योन्यालिङ्गनपरौ शङ्खपङ्कजधारिणौ ।
विगलद्रत्नवर्षाभ्यां शङ्खाभ्यां मूर्द्धिन लाञ्छितौ ॥ १४ ॥

तुन्दिलं कम्बुकनिधिं वसुधारां घनस्तनीम्।
वामतः पङ्कजनिधिं प्रियया सहितं यजेत्॥ १५ ॥
सिन्दूराभौ भुजाश्लिष्टौ रक्तपद्मोत्पलान्वितौ ।
निःसरद्रत्नधाराभ्यां पद्माभ्यां मूर्द्धिनलाञ्छितौ ॥ १६ ॥
तुन्दिलं पङ्कजनिधिं तन्वीं वसुमतीमपि।
दलाग्रेषु यजेदेता बलाक्याद्याः समन्ततः ॥ १७ ॥

देव्या दक्षिणे वामत इति कर्णिकायाः । मुक्तामाणिक्येति क्रमेण शङ्खनिधि-वसुधारयोः वर्णौ । शङ्खपङ्कजधारिणावित्युभयमुभयत्र । एवमग्रेऽपि । आयुधध्यान-मेषां दक्षादि । कम्बुकनिधिं शङ्खनिधिम् । वसुधारामिति शङ्खनिधिशक्तिनाम । घनस्तनीमित्यन्तं पूर्वं ध्यानम् । पङ्कजनिधिं पद्मनिधिम् । वसुमतीमिति पङ्कज-निधिशक्तिनाम । अपिशब्दाद्यं घनस्तनीमित्यपि । एतदन्तं द्वितीयावरणमूर्त्तीः चतुष्क-निधियुगैरपरेत्युक्तेः ॥ १३-१७ ॥

देवी के दक्षिण भाग में भार्यासहित शङ्ख निधि की पूजा करे । ये दोनों दम्पती मुक्ता माणिक्य के समान लावण्य युक्त और स्वच्छ हैं और मुख कमल से मन्द मन्द मुस्कुरा रहे हैं ॥ १३ ॥

दोनों ही एक दूसरे को आलिङ्गन किये हुये हैं, शङ्ख तथा कमल धारण किये हुये हैं । दोनों ही अपने करकमलों में सुशोभित शङ्खों के द्वारा रत्न की वर्षा करते हुये दिखाई पड़ रहे हैं ॥ १४ ॥

शङ्खनिधि तुन्दिल (तोंद) हैं, उनकी भार्या वसुधारा के स्तनद्वय अत्यन्त कर्कश हैं । इसके बाद उसी कर्णिका में महालक्ष्मी के बाईं ओर प्रिया सहित पद्मनिधि की पूजा करे ॥ १५ ॥

दोनों के शरीर का वर्ण सिन्दूर के सदृश है, दोनों ही परस्पर भुजाओं से आश्लिष्ट हैं । दोनों के हाथों में रक्त वर्ण का कमल शोभित हो रहा है । और दोनों ही रत्न धारा की वर्षा करते हुये दो कमलों को अपने शिर पर धारण किये हुये हैं ॥ १६ ॥

पद्मनिधि शरीर से तुन्दिल हैं, वसुमती तन्वी होते हुये भी कर्कश स्तन वाली है । तदनन्तर पत्र के अग्रभाग में चारों ओर बलाका आदि (८ शक्तियों) की पूजा करे । अब बलाकादिकों के नाम कहते हैं—

बलाकी विमला चैव कमला वनमालिका ।
विभीषिका मालिका च शाङ्करी वसुमालिका॥ १८ ॥
पङ्कजद्वयधारिण्यो मुक्ताहार समप्रभाः ।
लोकेशानर्चयेदन्ते वज्राद्यस्त्राणि तद्बहिः॥ १९ ॥

बलाकीति । आसां ध्यानं नारायणीये—

बलाकीं वामनां श्यामां श्वेतपङ्कजधारिणीम् ।
ऊर्द्ध्वबाहुद्वयां ध्यायेत् श्रीदूतीं द्वारि पूर्वतः ॥
ऊर्द्ध्वीकृतेन हस्तेन रक्तपङ्कजधारिणीम् ।
श्वेताङ्गीं दक्षिणे द्वारि चिन्तयेद्वनमालिकाम् ॥
हरितां दोर्द्वयेनोर्द्ध्वमुद्वहन्तीं सिताम्बुजम् ।
ध्यायेद् विभीषिकां भक्त्या श्रीदूतीं द्वारि पश्चिमे ॥

तथाऽब्जमालाधृग् ध्येया क्षौद्राभाऽन्यत्र शाङ्करी । इति । प्रयोगसारे—

विमला कमला चाथ मालिका वसुमालिका ।
बाह्ये विदिक्षु सम्पूज्या दूतीरेताः । इति ।

अत्र तु कमलावनमालिकयोर्व्यत्यासः कल्पान्तरत्वेन समाधेयः ॥ १८-१९ ॥

बलाकी, विमला, कमला, नवमालिका, विभीषिका, मालिका, शांकरी, वसुमालिका—ये बलाकादि शक्तियों के नाम हैं ॥ १७-१८ ॥

ये सभी दो दो कमल अपने हाथों में धारण की हैं और सभी मुक्ता के हार के समान कान्तिमती हैं । तदनन्तर लोकेश्वरों की उसके बाद अस्त्रादिकों का पूजन करे ॥ १९ ॥

इत्थं यो भजते देवीं विधिना साधकोत्तमः।
धनधान्यसमृद्धिः स्याच्छ्रियमाप्नोत्यनिन्दिताम् ॥ २० ॥

विधिना साधकोत्तम इत्यनेनावाहनादि श्लोकेषु स्त्रीलिङ्गयोग उक्तः ॥ २० ॥

जो उत्तम साधक इस प्रकार देवी का पूजन करता है वह धन धान्य से समृद्ध हो जाता है और विशुद्ध लक्ष्मी से युक्त हो जाता है ॥ २० ॥

वक्षः प्रमाणे सलिले स्थित्वा मन्त्रमिमं जपेत् ।
त्रिलक्षं संयतो मन्त्री देवीं ध्यात्वाऽर्कमण्डले॥ २१ ॥
स भवेदल्पकालेन रमाया वसतिः स्थिरा ।
विष्णुगेहस्थबिल्वस्य मूलमास्थाय मन्त्रवित् ॥ २२ ॥
त्रिलक्षं प्रजपेन्मन्त्रं वाञ्छितं लभते धनम् ।

संयतो मन्त्रीत्यनेन श्रीँ रत्नगर्भायै नम इति मन्त्रस्य शतांशेन जपः सूचितः । ध्यात्वाऽर्कमण्डलेत्यत्राऽभयवरदाभ्यां निधिपात्ररत्नकुम्भधाराभ्यां रक्ता ध्येयेति ज्ञेयम् ।

तदुक्तम्— स्तनमात्रे जले तिष्ठन् रविमण्डलपीठगाम् ।
नवयावकसङ्काशां श्रियं माणिक्यभूषणाम् ॥
निधिपात्रमहारत्नपूर्णकुम्भकरद्वयाम् ।
त्रिलक्षजापी मनुजो न चिरात् स्याद्धनेश्वरः ॥ इति ॥ २१-२३ ॥

वक्षस्थल प्रमाण वाले जल में स्थित हो इस मन्त्र का जप करे और सूर्यमण्डल में देवी का ध्यान करे। इन्द्रियों को संयम में रखते हुये तीन लाख जप करे ॥ २१ ॥

वह महालक्ष्मी का स्थिर निवास स्थान बन जाता है यदि विष्णु मन्दिर में रहने वाले विल्ववृक्ष के नीचे इस मन्त्र का तीन लाख जप करे तो वह अभिलाषित धन प्राप्त करता है ॥ २२-२३ ॥

अशोकवह्नौ जुहुयात्तण्डुलैराज्यलोडितैः ॥ २३ ॥
वशयत्यचिरादेव त्रैलोक्यमपि मन्त्रवित्।
जुहुयात्तण्डुलैः शुद्धैरर्काग्नौ नियुतं वशौ ॥ २४ ॥
राज्यश्रियमवाप्नोति राजपुत्रो महीयसीम्।
जुहुयात् खादिरे वह्नौ तण्डुलैर्मधुरोक्षितैः ॥ २५ ॥
राजा वश्यो भवेच्छीघ्रं महालक्ष्मीश्च वर्द्धते।
बिल्वच्छायामधिवसन् बिल्वमिश्रहविष्यभुक् ॥ २६ ॥
संवत्सरद्वयं हुत्वा तत्फलैरथवाऽम्बुजैः।
साधकेन्द्रो महालक्ष्मीं चक्षुषा पश्यति ध्रुवम्॥ २७ ॥
हविषा घृतसिक्तेन पायसेन ससर्पिषा।
हुत्वा श्रियमवाप्नोति नियुतं मन्त्रवित्तमः॥ २८ ॥

अशोकवह्नाविति अशोककाष्ठसमिद्धेऽग्नावित्यर्थः। जुहुयादिति नियुतमिति सम्बध्यते। मन्त्रविदित्यनेनात्र प्रयोगे कामादित्वं सूचितम्। शुद्धैरित्यवकरं दूरीकृत्य प्रक्षाल्य शोषितैरित्यर्थः। आज्यलोडितैरित्यत्रापि योज्यम्। अर्काग्नावर्ककाष्ठ-समिद्धेऽग्नावित्यर्थः। नियुतं लक्षम्।

तथा च श्रुतिः—एका दश च शतञ्च सहस्रञ्चायुतञ्च नियुतञ्च प्रयुतञ्चार्बुदञ्च न्यर्बुदञ्च समुद्रश्च मध्यश्चान्तश्च परार्द्धश्च। इति।

त्रिकाण्डेऽपि—कोट्याः शतादिसंख्यान्या वा लक्षानियुतञ्च तत्। इति।

जुहुयाल्लक्षमिति सम्बध्यते। खादिर इति तत्काष्ठाग्नावित्यर्थः। शीघ्रमित्यनेनात्रापि कामयोगः सूचितः। हुत्वेत्यष्टोत्तरसहस्रम्। तत्फलैः बैल्वैः। अम्बुजैरिति तदभावे। हविषेति चरुणा ॥ २३-२८ ॥

यदि अशोक काष्ठ से जलती हुई अग्नि में घृत संपृक्त चावल से इस मन्त्र से होम करे तो वह स्वल्प काल में त्रिलोकी को भी वश में करने में समर्थ हो जाता है। यदि अपने इन्द्रियों को वश में कर मदार की लकड़ी से समृद्ध अग्नि में शुद्ध तण्डुल द्वारा दस हजार होम करे तो वह राजपुत्र विपुल राज्यलक्ष्मी प्राप्त करता है ॥ २३-२५ ॥

त्रिमधुर मिश्रित चावल से खैर की लकड़ी में होम करे तो राजा वश्य हो

जाता है और महालक्ष्मी की अभिवृद्धि होती हैं । बिल्व की छाया में रहकर बिल्वमिश्रित हविष्य का भोजन करे और विल्व फल एवं कमल से होम करे तो दो संवत्सर में साधकेन्द्र को निश्चय ही महालक्ष्मी प्राप्त होती हैं ॥ २६-२७ ॥

घृत मिश्रित हविष्य से अथवा घृतमिश्रित पायस (खीर) द्वारा दस हजार होम करने से मन्त्रवेत्ता लक्ष्मी प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

मधुरात्तारुणाम्भोजैर्जुहुयाल्लक्षमादरात् ।
न मुञ्चति रमा तस्य वंशमाभूतसंप्लवम् ॥ २९ ॥

मधुरेति । तत्र ध्यानविशेषस्तन्त्रान्तरे—

दधतीं मातुलिङ्गञ्च निधिपात्रं सरोरुहे ।
रक्तां सुरतरोर्मूले संस्थितां शोभनां श्रियम् ॥
अलङ्कृतां महारत्नैर्ध्यात्वा रक्ताम्बरान्विताम् ।
जुहोति लक्षं स्वाद्वक्तैः सरोजैरिन्दिराप्तये ॥ इति ।

आभूतसंप्लवमाकल्पम् ॥ २९ ॥

त्रिमधुर मिश्रित लाल कमल से श्रद्धापूर्वक एक लाख होम करने से लक्ष्मी साधक के वंश को तब तक नहीं छोड़ती जब तक महाप्रलय नहीं होता ॥ २९ ॥

चतुर्बीजात्मकमन्त्रः

वाग्भवं वनिता विष्णोर्माया मकरकेतनः ।
चतुर्बीजात्मको मन्त्रश्चतुर्वर्गफलप्रदः ।
अङ्गानि कुर्याद् दीर्घाढ्यरमाबीजेन मन्त्रवित् ॥ ३० ॥

मन्त्रान्तरमुद्धरति वाग्भवमिति । विष्णोर्वनिता श्रीबीजम् । मकरकेतनः कामबीजम् । चतुर्वर्गफलावह इत्यनेन विनियोगं वदतैतदुक्तं भवति । धर्मार्थं वाग्भवादित्वं अर्थार्थं लक्ष्मीबीजादित्वं कामार्थं कामबीजादित्वं मोक्षार्थं मायाबीजादित्वमिति । पूर्वोक्ता ऋष्याद्याः । द्वितीयं बीजं तृतीयं शक्तिः । अङ्गानीति । दीर्घाढ्यं षड्दीर्घयुक्तं यद्रमाबीजं तेनेत्यर्थः ॥ ३० ॥

अब महालक्ष्मी के **अन्य मन्त्र के उद्धार की विधि** कहते हैं—

वाग्भव (ऐं) विष्णोर्वनिता (श्रीँ) माया (ह्रीँ) मकरकेतन (काम बीज क्लीँ) इस प्रकार ऐं श्रीं ह्रीं क्लीँ ये चार बीजाक्षर धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष रूप चार पदार्थों को देने वाले हैं । मन्त्रवेत्ता आं ईं ऊँ ऐं औं अः इन दीर्घवर्णों को क्रमशः 'श्रीँ' इस लक्ष्मी मन्त्र से युक्त कर षडङ्गादिन्यास करे ॥ ३० ॥

चतुर्बीजाक्षरध्यानम् । पुरश्चरणादिकथनम्

माणिक्यप्रतिमप्रभां हिमनिभैस्तुङ्गैश्चतुर्भिर्गजै-
र्हस्ताग्राहितरत्नकुम्भसलिलैरासिच्यमानां सदा ।

हस्ताब्जैर्वरदानमम्बुजयुगाभीतीर्दधानां हरेः
कान्तां काङ्क्षितपारिजातलतिकां वन्दे सरोजासनाम् ॥ ३१ ॥

हस्ताब्जैरिति उपमितसमासः । वरदानमित्येकम् । आयुधध्यानं पूर्ववत् ॥३१॥

अब इस **चतुरक्षर बीज मन्त्र का ध्यान** कहते हैं—

जिनके शरीर की कान्ति माणिक्य के समान देदीप्यमान है हिमालय के समान ऊँचे ऊँचे चार महादिग्गज जिन्हें अपने हाथों में ग्रहण किये गये कुम्भों से आनन्दपूर्वक स्नान करा रहे हैं । जिन्होंने अपने कमल सदृश हाथों में वरदान, दो कमल तथा अभय मुद्रा धारण किए हुए हैं ऐसी विष्णुकान्ता महालक्ष्मी, जो मनोरथ पूर्ण करने के लिये साक्षात् कल्पलता के समान है और कमलासन पर विराजमान है, उनकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ ३१ ॥

ऋष्यादिकथनम्

भानुलक्षं हविष्याशी जपेदन्ते सरोरुहैः ।
जुहुयादरुणैः फुल्लैस्तत्सहस्त्रं जितेन्द्रियः ॥ ३२ ॥
रमायाः कल्पिते पीठे तद्विधानेन पूजयेत् ।
कुर्यात् प्रयोगांस्तत्रस्थान् मनुना तेन साधकः ॥ ३३ ॥
निधिभिः सेव्यते नित्यं मूर्त्तिमद्भिरुपस्थितैः ।

दशाक्षरमन्त्रः

दीर्घा यादिर्विसर्गान्तो ब्रह्मा भानुर्वसुन्धरा ॥ ३४ ॥
वान्ते सिन्यै प्रिया वह्नेर्मनुः प्रोक्तो दशाक्षरः ।
ऋषिर्दक्षो विराट् छन्दो देवता श्रीः समीरिता ॥ ३५ ॥

मन्त्रान्तरमाह दीर्घेति । प्रणवोत्थकलासु दीर्घा नकारः । यादिः मः । विसर्गान्तः सविसर्ग इति मकारविशेषणम् । ब्रह्मा कः । भानुः मंकारः । अत आत्मा रविः स्मृतः इत्युक्तेः । यद्वा महाकालो मकारमूर्त्तिः महाकालशब्दवाच्यं विषं च । तद्दक्षिणनासा-पुटगतम् । तेनादित्यो मः । तदुक्तम्—

रविः पिङ्गलायां चरत्येष तस्माद्विषं दक्षिणो भाग उक्तं मुनीन्द्रैः । इति ।

तेन यत् क्वचिदपि विषशब्देन मकारो गृह्यते तदपि व्याख्यातम् । वसुन्धरा लः । वा स्वरूपम् । सिन्यै स्वरूपम् । वह्नेः प्रिया स्वाहा । अस्मिन्नपि मन्त्रे प्रणव-शक्तिवाक्कामादित्वमिति पद्मपादाचार्याः । पूर्ववत्तत्तद्देवतानामुपसर्जनत्वञ्च । श्रीँ बीजं स्वाहा शक्तिः ॥ ३२-३५ ॥

हविष्य का भोजन करते हुये ब्रह्मचर्यादि नियमों का पालन करते हुये जो साधकेन्द्र उपर्युक्त घृतमिश्रित लाल कमल के पुष्पों से बारह हजार हवन करता है महालक्ष्मी के पीठ पर विधानपूर्वक पूजा एवं उसी कही गई विधि से समस्त

प्रयोगों को करता है तो समस्त नवनिधियाँ शरीर धारण कर उसकी साक्षात् सेवा करती हैं ।। ३२-३४ ।।

अब **महालक्ष्मी का अन्य मन्त्र** कहते हैं—दीर्घा (न) सविसर्गान्त यादि (म:), ब्रह्मा (क) भानु (म) वसुन्धरा (ल) फिर 'वा' उसके बाद सिन्यै शब्द, तदनन्तर वह्निप्रिया (स्वाहा) । इस प्रकार यह दशाक्षर महामन्त्र उद्धृत हुआ । इसका स्वरूप 'नम: कमलवासिन्यै स्वाहा' (१०) हुआ । इस मन्त्र के ऋषि 'दक्ष' हैं 'विराट्' छन्द है तथा 'श्री' देवता कही गई हैं ।। ३५ ।।

पञ्चाङ्गमन्त्रः

देव्यै हृदयमाख्यातं पद्मिन्यै शिर ईरितम् ।
विष्णुपत्न्यै शिखा प्रोक्ता वरदायै तनुच्छदम् ॥ ३६ ॥
अस्त्रं कमलरूपायै नमोऽन्ताः प्रणवादिकाः ।
अङ्गमन्त्राः समुद्दिष्टा ध्यायेद्देवीमनन्यधीः ॥ ३७ ॥

पञ्चाङ्गमन्त्रानाह देव्यै इति । ॐ देव्यै नमः हृदयाय नमः इत्यादि प्रयोगः । पञ्चाङ्गत्वान्नेत्राभावः ॥ ३६-३७ ॥

अब इस मन्त्र के **पञ्चाङ्ग न्यास का प्रकार** कहते हैं—'देव्यै नम: हृदये' इससे हृदय का, 'पद्मिन्यै नम: शिरसे स्वाहा' से शिर का, विष्णुपत्न्यै नम: शिखायै वषट्' से शिखा का, 'वरदायै नम: कवचाय हुँ' से दोनों भुजाओं का, 'कमलरूपायै नम: अस्त्राय फट्' से चारों ओर—इस प्रकार पञ्चाङ्गन्यास करे । यत: यह न्यास पञ्चाङ्ग है, अत: नेत्रद्वयाय वौषट्' के लिये न्यास नहीं कहा गया । यहाँ तक हमने पञ्चाङ्गन्यास कहा अब अनन्यबुद्धि से जिस प्रकार ध्यान करना चाहिए उस विधि को कहता हूँ ।। ३६-३७ ।।

महालक्ष्मीध्यानम् । पुरश्चरणादिकथनम्

आसीना सरसीरुहे स्मितमुखी हस्ताम्बुजैर्बिभ्रती
दानं पद्मयुगाभये च वपुषा सौदामिनीसन्निभा ।
मुक्तादामविराजमानपृथुलोत्तुङ्गस्तनोद्भासिनी
पायाद्वः कमला कटाक्षविभवैरानन्दयन्ती हरिम् ॥ ३८ ॥

आसीनेति । दानं वरम् । आयुधध्यानं तु पूर्ववत् ॥ ३८ ॥

जो कमलासन पर विराजमान हो ईषद्धास्य से युक्त हैं, जिनके हाथों में वरदान, दो कमल, तथा अभयमुद्रा शोभित हो रही है जिनका शरीर का वर्ण बिजली के जैसा देदीप्यमान है, जिनके उत्तुंगस्तनों पर विराजमान मोतियों की लड़ी उद्भासित हो रही है, एवं जो अपने नेत्र के कटाक्षों द्वारा श्री विष्णु के हृदय में आनन्द उत्पन्न कर रही हैं, ऐसी महालक्ष्मी आप की रक्षा करें ।। ३८ ।।

दशलक्षं जपेन्मन्त्रं मन्त्रविद्विजितेन्द्रियः ।
दशांशं जुहुयान्मन्त्री मधुराक्तैः सरोरुहैः ॥ ३९ ॥
श्रीपीठे पूजयेद्देवीमङ्गानि प्रथमं यजेत् ।
बलाकाद्यास्ततः पूज्या लोकेशास्त्रावृती अपि ॥ ४० ॥
इति सम्पूजयेद्देवीं सम्पदामालयो भवेत् ।
समुद्रगायां सरिति कण्ठमात्रजले स्थितः ॥ ४१ ॥
त्रिलक्षं प्रजपेन्मन्त्री साक्षाद् वैश्रवणो भवेत् ।

मन्त्रविदित्यनेन नारायणाष्टाक्षरस्य शेषतया दशांशं जपः । शतांशेन रत्नगर्भामन्त्रजपोऽपि सूचितः । मधुरं त्रिमधुरम् । सम्पदामित्यनेन विनियोगोक्तिः । समुद्रगायां साक्षादिति शेषः । वैश्रवणः कुवेरः ॥ ३९-४२ ॥

पुरश्चरण—ब्रह्मचर्य एवं समस्त इन्द्रियों को वश में रखते हुये साधक उपर्युक्त मन्त्र का दश लाख जप करे एवं त्रिमधुर (घी, दुग्ध, मधु) मिश्रित कमलों द्वारा दशांश होम करे ॥ ३९ ॥

श्री पीठ पर देवी की पूजा कर सर्वप्रथम अङ्गावरण की पूजा करे तदनन्तर 'बलाकादि' शक्तियों की पूजा करे । पुन: लोकपालों की, तदनन्तर उनके अस्त्रों की भी पूजा करे ॥ ४० ॥

इस प्रकार से जो साधक देवी का पूजन करता है उसका घर सम्पत्तियों से परिपूर्ण हो जाता है । यदि साधक समुद्रगामिनी किसी नदी में कण्ठ मात्र जल में स्थित होकर मात्र तीन लाख जप करे तो वह साक्षात् कुबेर जैसा धनाढ्य हो जाता है ॥ ४१-४२ ॥

आराध्योत्तरनक्षत्रे देवीं स्रक्चन्दनादिभिः ॥ ४२ ॥
नन्द्यावर्त्तभवैः पुष्पैः सहस्रं जुहुयात्ततः ।
पौर्णमास्यां फलैर्बिल्वैर्जुहुयान्मधुराप्लुतैः ॥ ४३ ॥
पञ्चम्यां विशदाम्भोजैः शुक्रवारे सुगन्धिभिः ।
अन्यैर्वा विशदैः पुष्पैः प्रतिमासं विशालधीः ।
स भवेदब्दमात्रेण सर्वदा सम्पदां निधिः ॥ ४४ ॥

आराध्येत्यादि सम्पदां निधिरित्येकः प्रयोगः । उत्तरानक्षत्र इति उत्तरात्रयमपि ज्ञेयम् । आराध्येति सहस्रमिति च सर्वत्र सम्बध्यते । मधुराप्लुतैस्त्रिमधुरार्द्रैरिति । अन्यैर्वेति वाशब्दः समुच्चये । एकत्रोभयसन्निपाते पृथगुभयहोमो न तन्त्रं भिन्नद्रव्यत्वात् भिन्ननिमित्तत्वाच्च ॥ ४२-४४ ॥

तीनों उत्तरानक्षत्र में माल्य चन्दनादि उपचारों से देवी का पूजन करे और यदि साधक नन्द्यावर्त्त के पुष्पों से एक सहस्र होम करे तो संपत्तिशाली हो जाता है । त्रिमधुर मिश्रित बिल्वफल से पूर्णमासी के दिन होम करे तो वह संपत्तिशाली

हो जाता है। पञ्चमी तिथि को जब शुक्रवार का दिन हो तो सुगन्धित कमल युक्त पुष्पों से एक हजार आहुति देने पर संमृद्धिशाली हो जाता है अथवा बुद्धिमान् साधक अन्य विशद पुष्पों से प्रतिमास पञ्चमी युक्त शुक्रवार को होम करे तो वह एक वर्ष में सारे संपत्तियों का निधान हो जाता है ॥ ४२-४४ ॥

द्वादशाक्षरश्रीमन्त्रः । ऋष्यादिकथनम्

वाग्भवं शम्भुवनिता रमा मकरकेतनः ।
तार्त्तीयश्च जगत् पार्श्वो वह्निबीजसमुज्ज्वलः ॥ ४५ ॥
अर्घीशाढ्यो भृगुस्त्यै हृन्मन्त्रोऽयं द्वादशाक्षरः ।
महालक्ष्म्याः समुद्दिष्टस्ताराद्यः सर्वसिद्धिदः ॥ ४६ ॥
ऋषिर्ब्रह्मा समुद्दिष्टश्छन्दो गायत्रमीरितम् ।
देवता जगतामादिर्महालक्ष्मीः समीरिता ॥ ४७ ॥

मन्त्रान्तरमुद्धरति वाग्भवमिति । शम्भुवनिता मायाबीजम् । तार्त्तीयं बालाया भैरव्या वा । केचिद्रेफहीनं भैरव्या इति वदन्ति । अयमेव साम्प्रदायिकः पक्षः । जगत् स्वरूपम् । पार्श्वः पकारः । वह्निबीजसमुज्ज्वलः रेफयुक्तः तेन प्र । अर्घीश ऊ तेनाढ्यो भृगुः सकारः तेन सू । त्यै स्वरूपम् । हृन्नमः । ताराद्यः प्रणवाद्यः त्रयोदशाक्षर इति शेषः । सर्वसिद्धिद इत्यनेन विनियोग उक्तः । प्रणवो बीजं तार्त्तीयं शक्तिः ॥ ४५-४७ ॥

अब अन्य प्रकार के **श्री मन्त्र का उद्धार** कहते हैं—वाग्भवं (ऐं) शम्भुवनिता (ह्रीँ) रमा (श्रीँ) मकरकेतनः क्लीँ, तार्तीय (ह्सौः), फिर 'जगत्' पद, वह्निबीज रेफ उससे युक्त पार्श्व (प) अर्घीश (ऊकार) उससे युक्त सकार वर्ण (सू), तदनन्तर 'त्यै' पुनः 'हृद्' नमः वर्ण, पुनः मन्त्र के आदि में तार (ॐ) इस प्रकार प्रणव सहित १३ अक्षरों का यह मन्त्र उद्धृत हुआ (प्रणव को छोड़ देने पर १२ अक्षर होता है)। प्रयोग स्वरूप—'ॐ ऐं ह्रीँ श्रीँ क्लीँ ह्सौः जगत्प्रसूत्यै नमः'। इस प्रकार यह महालक्ष्मी का मन्त्र कहा गया। इसके अनुष्ठान से सभी कार्यों की सिद्धि होती है ॥ ४५-४६ ॥

इस मन्त्र के ऋषि ब्रह्मा, गायत्री छन्द तथा जगत् की आदि कारणभूता महालक्ष्मी देवता कही गई हैं ॥ ४७ ॥

हस्तौ संशोध्य मन्त्रेण तारादिहृदयान्तिकम् ।
बीजानां पञ्चकं न्यस्येदङ्गुलीषु यथाक्रमम् ॥ ४८ ॥
मन्त्रशेषं न्यसेन्मन्त्री तलयोरुभयोरपि ।
मूर्द्धादि चरणं यावन्मन्त्रेण व्यापकं न्यसेत् ॥ ४९ ॥
मूर्द्धास्यवक्षोगुह्याङ्घ्रौ पञ्च बीजानि विन्यसेत् ।
शेषान् न्यसेत् सप्त वर्णान् हृदये सप्तधातुषु ॥ ५० ॥

अङ्गानि पञ्चभिर्बीजैरस्त्रं शिष्टाक्षरैर्भवेत्।
ज्ञानैश्वर्यादिभिर्युक्तैश्चतुर्थ्यन्तैः सजातिभिः ॥ ५१ ॥
ज्ञानमैश्वर्यशक्ती च बलवीर्ये सतेजसी ।
ज्ञानैश्वर्यादयः प्रोक्ताः षट् क्रमादङ्गदेवताः ॥ ५२ ॥

हस्तभावनामाह हस्तौ संशोध्येति। हस्तयोर्मूलमन्त्रं व्यापकत्वेन विन्यसेदित्यर्थः । मन्त्रेणेति मूलमन्त्रेण । तारादिहृदयान्तिकमिति मन्त्रशेषस्यापि विशेषणम् । यथाक्रममङ्गुलीष्विति अङ्गुष्ठाद्यासु । मूर्द्धादीत्यत्रापि न्यासे तारादिहृदयान्तिकमिति सम्बध्यते । अङ्गानीत्यत्रापि । ज्ञानैश्वर्यादिभिर्युक्तैरिति व्यधिकरणे तृतीये । चतुर्थ्यन्तैः ज्ञानैश्वर्यादिभिर्युक्तैरिति बीजैः । शिष्टाक्षरैरित्युभयविशेषणम् । अङ्गानीति नेत्रान्तानि । ऐँ ज्ञानाय हृदयाय नमः । श्रीँ ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा । इत्यादि प्रयोगः । केचन सम्प्रदायादात्मनेशब्दमप्याहुः । तन्मते ऐँ ज्ञानात्मने हृदयाय नम इत्यादि प्रयोगः ॥ ४८-५२ ॥

प्रणव से लेकर नमः पर्यन्त इस मन्त्र को पढ़कर दोनों हाथों में व्यापक न्यास करे । पुनः पाँच बीज मन्त्रों से (ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं ह्सौः) से अङ्गुष्ठादि पाँचों अङ्गुलियों में बारी बारी से एक एक बीजाक्षर द्वारा न्यास करे, तदनन्तर शेष मन्त्रं 'जगत्प्रसूत्यै नमः' इस मन्त्र से दोनों हाथ के तलवों में न्यास करे । इसी प्रकार ५ बीजाक्षरों से हृदयादिन्यास कर संपूर्ण मन्त्र से मूर्धा से लेकर पैर के तलवे पर्यन्त व्यापक न्यास करे ॥ ४८-४९ ॥

तदनन्तर शिर से लेकर वक्षःस्थल, गुह्य एवं दोनों चरणों में पाँच बीजांक्षरों से न्यास करे । शेष सात वर्णों से सात धातुओं में हृदयस्थान पर न्यास करे ॥ ५० ॥

बीजाक्षरों को क्रमशः उच्चारण कर उसके आगे ज्ञानेश्वर्यादि वर्णों में चतुर्थी विभक्ति लगावे, तदनन्तर क्रमशः हृदयादि स्थानों में अङ्गन्यास करे ।

विमर्श—इसका प्रयोग इस प्रकार जानना चाहिए—'ॐ ऐं ज्ञानाय नमः हृदये, ॐ ह्रीं ऐश्वर्याय नमः शिरसि' इत्यादि ॥ ५१ ॥

अब पूर्वोक्त ज्ञानादि का नाम संकथन करते हैं ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति बल वीर्य और तेज—ये ६ इस मन्त्र के अङ्ग देवता कहे जाते हैं ॥ ५२ ॥

महालक्ष्मीध्यानम्

एवं न्यस्तशरीरोऽसौ स्मरेदुद्यानमुत्तमम् ।
चम्पकाशोकपुन्नागपाटलैरुपशोभितम् ॥ ५३ ॥
लवङ्गमाधवीबिल्वदेवदारुनमेरुभिः ।
मन्दारपारिजाताद्यैः कल्पवृक्षैः सुपुष्पितैः ॥ ५४ ॥
चन्दनैः कर्णिकारैश्च मातुलिङ्गैश्च वञ्जुलैः ।

दाडिमीलकुचाङ्कोलैः पूगैः कुरवकैरपि ॥ ५५ ॥
कदलीकुन्दमन्दारनारिकेलैरलङ्कृतम् ।
अन्यैः सुगन्धिपुष्पाढ्यैर्वृक्षसङ्घैश्च मण्डितम् ॥ ५६ ॥
मालतीमल्लिकाजाती केतकीशतपत्रकैः ।
पारन्तीतुलसीनन्द्यावर्त्तदमनकैरपि ॥ ५७ ॥
सर्वर्त्तुकुसुमोपेतैर्नमद्भिरुपशोभितम् ।
मन्दमारुतसम्भिन्नकुसुमामोदिदिङ्मुखम् ॥ ५८ ॥
तस्य मध्ये सदोत्फुल्लैः कुमुदोत्पलपङ्कजैः ।
सौगन्धिकैश्च कह्लारैर्नवैः कुवलयैरपि ॥ ५९ ॥
हंससारसकारण्डभ्रमरैश्चक्रनामभिः ।
अन्यैः कलकलारावैर्विहगैरुपशोभिते ॥ ६० ॥
महासरसि तन्मध्ये पुलिनेऽतिमनोहरे ।
परितः पारिजाताढ्यं मण्डपं मणिकुट्टिमम् ॥ ६१ ॥

नमेरु रुद्राक्षः । तस्य मध्ये महासरसि । तन्मध्ये पुलिने मनसा मण्डपं सञ्चिन्त्य तन्मध्ये पारिजातं भावयेदित्युत्तरेण सम्बन्धः ॥ ५३-६१ ॥

साधक इस प्रकार अङ्गों का न्यास कर भगवती महाश्री के उद्यान का स्मरण करे । जो उद्यान चम्पक, अशोक, पुन्नाग एवं पाटल (गुलाब) से शोभित है ॥ ५३ ॥

जिसमें सुपुष्पित लवंग, मालती, विल्व, देवदारु, नमेरु (रुद्राक्ष) मन्दार, पारिजात एवं कल्पवृक्ष हैं । चन्दन, कर्णिका (करवीर) मातुलिङ्ग (बीजपूर) वज्जुल (वेंत) दाडिम (अनार) लकुच, अङ्कोल, पूग एवं कुरवक वृक्ष, कदली कुन्द मन्दार, नारिकेल एवं अन्यान्य सुगन्धित वृक्षों से जो शोभित हो रहा है । मालती, मल्लिका, जाती, केतकी, शतपत्रक, पारन्ती, तुलसी, नन्द्यावर्त्त एवं दमनक, इसी प्रकार सभी ऋतुओं के फूल एवं फल से झुके हुये वृक्षों से जो शोभित हो रहा है इस प्रकार के उद्यान का स्मरण करे । वायु के झकोरों से जिसमें फूले हुये वृक्षों के समुदाय, दिशाओं में अपनी सुगन्धि विकीर्ण कर रहे हैं । इस प्रकार के उस उद्यान के मध्य में एक महान् सर है जो सदैव पुष्पित कुमुद, उत्पल, पंकज, सौगन्धिक, कह्लार एवं नवीन कुवलयों से परिपूर्ण हैं । जो हंस, सारस, कारण्ड, भ्रमर, चक्रवाक एवं अन्य प्रकार के कलरव करने वाले मनोहर पक्षियों से सुशोभित है ॥ ५४-६० ॥

इस प्रकार के अत्यन्त मनोहर उस तालाब के मध्य पुलिन में मण्डप का ध्यान करे, जिसके चारों ओर पारिजात के वृक्ष लगे हुये हैं एवं जिस मण्डप की भूमि मणियों से निर्मित है ॥ ६१ ॥

उद्यदादित्यसकाशं भास्वरं शशिशीतलम् ।
चतुर्द्वारसमायुक्तं हेमप्राकारशोभितम्॥ ६२ ॥
रत्नोपक्लृप्तिसंशोभिकपाटाष्टकसंयुतम् ।
नवरत्नसमाक्लृप्ततुङ्गगोपुरतोरणम् ॥ ६३ ॥
हेमदण्डसमालम्बिध्वजावलिपरिष्कृतम् ।
नवरत्नसमाबद्धस्तम्भराजिविराजितम् ॥ ६४ ॥
सहस्रदीपसंयुक्तदीपदण्डविराजितम् ।
तप्तहाटकसंक्लृप्तवातायनमनोहरम् ॥ ६५ ॥
नानावर्णांशुकोद्बद्धसुवर्णशतकोटिभिः ।
किङ्किणीमालिकायुक्तपताकाभिरलङ्कृतम् ॥ ६६ ॥
जातरूपमयैरत्नविचित्रैरतिविस्तृतैः ।
माणिक्यवज्रवैदूर्यस्वर्णमालावलीयुतैः ॥ ६७ ॥
अन्तरान्तरसम्बद्धरत्नैर्दृष्टिमनोहरैः ।
विचित्रैश्चित्रवर्णैश्च वितानैरुपशोभितम् ॥ ६८ ॥
सर्वरत्नसमायुक्तं हेमकुट्टिममुज्ज्वलम् ।
केतकीमालतीजातीचम्पकोत्पलकेसरैः ॥ ६९ ॥
मल्लिकातुलसीजातीनन्द्यावर्त्तकदम्बकैः ।
एतैरन्यैश्च कुसुमैरलङ्कृतमहीतलम् ॥ ७० ॥
अम्बुकाश्मीरकस्तूरीमृगनाभितमालकैः ।
चन्दनागुरुकर्पूरैरामोदितदिगन्तरम् ॥ ७१ ॥
एवं सञ्चिन्त्य मनसा मण्डपं सुमनोहरम् ।
तन्मध्ये भावयेन्मन्त्री पारिजात मनोहरम् ॥ ७२ ॥
तस्याधस्तात् स्मरेन्मन्त्री रत्नसिंहासनं महत् ।
तस्मिन् सञ्चिन्तयेद्देवीं महालक्ष्मीं मनोरमाम् ॥ ७३ ॥

नानावर्णांशुकेनेति पताकाविशेषणम् । जातरूपमयैरित्यादि वितानैरित्यस्य विशेषणम् । तथा च पृथिव्यनन्तरं क्षीरसिन्धुं द्वीपम् उद्यानं महासरः पुलिनं मण्डपं पारिजातं रत्नसिंहासनं सम्पूजयेत् । शेषं समानम् ॥ ६२-६८ ॥

कुट्टिममिति । 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः' इति कोषः । अम्बु सुगन्धिद्रव्यम् । कुम्कुमा इति कान्यकुब्जभाषायाम् । कस्तूरीमृगस्य नाभिरिति विग्रहः । एवं सञ्चिन्त्य मनसा मण्डपमिति पूर्वं मण्डपमित्युक्तं तस्यैवानुवादः । तन्मध्ये इत्यस्य विशेषणै-र्व्यवहितत्वेन सम्बन्धस्य बुद्धिस्थत्वात् ॥ ६९-७३ ॥

जो मण्डप उदीयमान सूर्य के समान भासित हो रहा है और चन्द्रमा के समान शीतल है, जिसमें चार दरवाजे लगे हुये हैं एवं जिसके चारों ओर सुवर्ण का प्राकार (चहारदीवारी) बना हुआ है ॥ ६२ ॥

जिस मण्डप की रचना नवरत्नों से हुई है, जिसमें आठ किवाड़ लगे हुये हैं तथा जिसका गोपुर (मुख्यद्वार) अत्यन्त ऊँचा है, जो तोरणों से अलंकृत है । जिस गोपुर के ऊपर सोने के दण्डों में लटकते हुये महान् ध्वजों का समूह शोभा पा रहा है, इस प्रकार के उस मण्डप के खम्भों में नवरत्न जड़े गये हैं । जो तपाये गये संशुद्ध सुवर्णमय वातायनों से शोभित हो रहा है और जिसमें सहस्रों जलने वाले दीपों के दण्ड विराज रहे हैं । सुवर्ण की बनी हुई सैकड़ों क्षुद्रघण्टिका की मालाओं से अलंकृत तथा नाना वर्ण के वस्त्रों से रचित पताकायें जिस मण्डप में फहरा रही हैं ॥ ६३-६६ ॥

सुवर्ण एवं रत्नों के कारीगरी से युक्त, अत्यन्त विशाल माणिक्य रत्न, वैदूर्य तथा सुवर्णमय मालाओं से विभूषित बीच बीच में पिरोये गये रत्नों की प्रभा से अत्यन्त मनोहर ऐसे विचित्र एवं चित्रवर्णों वाले वितानों से जिसकी शोभा हो रही है, ऐसे मण्डप का ध्यान कर पूजन करना चाहिए ।

विमर्श—तन्त्रान्तरों में इसका क्रम इस प्रकार कहा गया है—पृथ्वी के बाद क्षीर-समुद्र, उसमें विद्यमान द्वीप, उस द्वीप में उद्यान, उद्यान के मध्य में महासर उसमें विद्यमान कमल मण्डप, पारिजात एवं रत्न सिंहासन की पूजा करे ॥ ६७-६८ ॥

वह मण्डप सभी प्रकार के रत्नों से युक्त है, उसका गच सुवर्ण का बनाया गया है । केतकी, मालती, जाती, चम्पक उत्पल, केशर, मल्लिका, तुलसी, जाती, नन्द्यावर्त्तः, कदम्बक एवं अन्य प्रकार के फूले हुये फूलों से जिसका महीमण्डल अलङ्कृत है ऐसे मण्डप का ध्यान कर पूजा करे ॥ ६९-७० ॥

कुंकुम, केशर मृगनाभि में रहने वाली कस्तूरी, तमाल, चन्दन, अगरु, कर्पूर आदि से जहाँ दिग् दिगन्त सुगन्धित हो रहे हैं ॥ ७१ ॥

साधक इस प्रकार ऊपर कहे गये अत्यन्त मनोहर मण्डप का मन में ध्यान करे । पुनः उस मण्डप के मध्य में मनोहर पारिजात वृक्ष का ध्यान करे ॥ ७२ ॥

उस पारिजात के नीचे साधक रत्नजटित सिंहासन का ध्यान करे । तदनन्तर उस रत्न सिंहासन पर विराजमान मनोरम महालक्ष्मी का इस प्रकार ध्यान करना चाहिए ॥ ७३ ॥

बालार्कद्युतिमिन्दुखण्डविलसत्कोटीरहारोज्ज्वलां
रत्नाकल्पविभूषितां कुचनतां शालेः करैर्मञ्जरीम् ।
पद्मे कौस्तुभरत्नमप्यविरतं सम्बिभ्रतीं सुस्मितां
फुल्लाम्भोजविलोचनत्रययुतां ध्यायेत् परां देवताम् ॥ ७४ ॥

कोटीरो मुकुटः । आयुधध्यानन्तु पूर्ववत् ॥ ७४ ॥

उदीयमान सूर्य के समान अर्धचन्द्र युक्त जिनका किरीट है, स्तनों पर मुक्ताहार धारण करने से जिनके शरीर की कान्ति उज्ज्वल है, जो रत्नजटित नाना प्रकार के आभूषणों को धारण की हैं तथा कुचभार से विनम्र हैं। जिनके हाथों में धान्य की मञ्जरी, दो कमल तथा कौस्तुभ रत्न धारण की हैं, जिनका मुखारविन्द मन्द मन्द हास्य से युक्त हैं और जिनके तीन नेत्र फूले हुये कमल की श्री से युक्त हैं ऐसी परदेवता स्वरूपा महाश्रीलक्ष्मी का ध्यान करना चाहिए ॥ ७४ ॥

शिञ्जन्मञ्जीरसंशोभिपदाम्भोजविराजिताम् ।
नवरत्नगणाकीर्णकाञ्चीदामविभूषिताम् ॥ ७५ ॥
मुक्तामाणिक्य वैदूर्यसम्बद्धोदरबन्धनाम् ।
विभ्राजमानां मध्येन वलित्रितयशोभिना ॥ ७६ ॥

जिनके पादारबिन्द बजते हुये मञ्जीर (पायजेब) से सुशोभित हो रहे हैं और कटिप्रदेश में नव रत्न जटित काञ्ची शोभा पा रही है ॥ ७५ ॥

जिनकी नीवी में मुक्ता, माणिक्य तथा वैदूर्य (मूँगा) जड़ा हुआ है और जो त्रिवलीयुक्त कटिप्रदेश से विराजमान है ॥ ७६ ॥

जाह्नवीसरिदावर्त्तशोभिनाभिविभूषिताम् ।
पाटीरपङ्ककर्पूर कुङ्कुमालङ्कृतस्तनीम् ॥ ७७ ॥
वारिवाहविनिर्मुक्तमुक्तादामगरीयसीम् ।
वहन्तीमुत्तरासंग दुकूलपरिकल्पितम् ॥ ७८ ॥
तप्तकाञ्चनसन्नद्धवैदूर्याङ्गदभूषणाम् ।
पद्मरागस्फुरत्स्वर्णकङ्कणाढ्यकराम्बुजाम् ॥ ७९ ॥
माणिक्यशकलाबद्धमुद्रिकाभिरलङ्कृताम् ।
तप्तहाटकसंक्लृप्तमालाग्रैवेयशोभिताम् ॥ ८० ॥
विचित्रविविधाकल्पकम्बुसङ्काशकन्धराम् ।
उद्यद्दिनकराकारमणिताटङ्कमण्डिताम् ॥ ८१ ॥

पाटीरं चन्दनं । ग्रैवेयं कण्ठभूषा । कम्बः शङ्खः ॥ ७७-८१ ॥

गङ्गा के भँवर के समान गोल गोल गहरी नाभि से जो अत्यन्त शोभित हो रही है तथा जिनके स्तनों में चन्दन, पंक, कर्पूर एवं कुंकुम का लेप लगा हुआ है। जो समुद्र के द्वारा निकाले गये मोतियों की माला धारण की हैं और उत्तरीय एवं शाटी के साथ दुकूल वस्त्र से युक्त हैं ॥ ७७-७८ ॥

जिनके वाहुमण्डल में दमकते हुये सुवर्ण, और वैदूर्य निर्मित बाजूबन्द सुशोभित हो रहे हैं तथा पद्मराग से देदीप्यमान कङ्कणों द्वारा जिनके कर कमल उद्भासित हो रहे हैं ॥ ७९ ॥

जिनके हाथों में रहने वाली अङ्गूठी में माणिक्य जटित है एवं जिनके गले में तपाये गये सुवर्ण निर्मित ग्रैवेयक शोभा दे रहे हैं । विविध आभूषणों से सुसज्जित जिनका गला एक विचित्र प्रकार के शङ्ख जैसा शोभित हो रहा है । कानों में उदीयमान सूर्य के समान मणिमय वालियाँ शोभा दे रही हैं ॥ ८०-८१॥

रत्नाङ्कितलसत्स्वर्णकर्णपूरोपशोभिताम् ।
जवाविद्रुमलावण्यललिताधरपल्लवाम् ॥ ८२ ॥
दाडिमीफलबीजाभदन्तपङ्क्तिविराजिताम् ।
कलङ्ककार्श्यनिर्मुक्तशरच्चन्द्रनिभाननाम् ॥ ८३ ॥
पुण्डरीकदलाकारनयनत्रयसुन्दरीम् ।
भ्रूलताजितकन्दर्पकरकार्मुकविभ्रमाम् ॥ ८४ ॥

रत्नजटित सुवर्ण के कर्णफूल धारण करने से जो शोभित हो रही हैं तथा जिनका अधरपल्लव जपा एवं प्रवाल की शोभा के समान सुसज्जित हैं । जो अनार के फल रूप बीज के समान दाँतों की पंक्तियों से शोभा पा रही हैं तथा जिनका मुख, कलंक तथा कार्श्यरहित चन्द्रमा के समान शोभा देता है । जो कमल पत्र के समान विशाल तीन नेत्रों से महान् सुन्दरी दीख रही हैं, जिन्होंने अपनी तिरछी चितवन से कामदेव द्वारा धारण किये गये धनुष को भी जीत लिया है ॥ ८२-८४ ॥

विकसत्तिलपुष्पश्रीविजयोद्यतनासिकाम् ।
ललाटकान्तिविभवविजितार्द्धसुधाकराम् ॥ ८५ ॥
सान्द्रसौरभसम्पन्नकस्तूरीतिलकाङ्किताम् ।
मत्तालिमालाविलसदलकाढ्यमुखाम्बुजाम्॥ ८६ ॥
पारिजातप्रसूनश्रीवाहिधम्मिल्लबन्धनाम् ।
अनर्घ्यरत्नघटितमुकुटाङ्कितमस्तकाम् ॥ ८७ ॥
सर्वलावण्यवसतिं भवनं विभ्रमश्रियः ।
तेजसां जन्मभूमिं तां महालक्ष्मीं मनोहराम्॥ ८८ ॥

मत्तालिमालेव विलसन्तः ये अलका इति विग्रहः ॥ ८२-८८ ॥

जिनकी नासिका फूले हुये तिल पुष्प की शोभा को विजित कर रही है और जो अपने ललाट की कान्ति से अर्धचन्द्र की शोभा को भी मात कर रही हैं । अत्यन्त सुगन्धित कस्तूरी का तिलक जिनके भाल प्रदेश में अंकित हैं, तथा मत्त भौरों के समूह जिन केशों पर विराज रहे हैं ऐसे केशों से सुशोभित जिनका मुख कमल है ॥ ८५-८६ ॥

पारिजात के प्रसून की श्री से जिनका केशबन्धन सुशोभित है तथा जिनके मस्तक में रहने वाले किरीट बहुमूल्य मणियों से जटित हैं । इस प्रकार जो समस्त

सौन्दर्यों की वसति हैं तथा समस्त हाव भाव युक्त विलासों के शोभा का घर हैं । जो समस्त तेजों की जन्मदात्री हैं, ऐसी महासुन्दरी महालक्ष्मी का ध्यान करना चाहिए ।। ८७-८८ ।।

पुरश्चरणादिकथनम्

एवं सञ्चिन्तयन् देवीं हविष्याशी जितेन्द्रियः ।
भानुलक्षं जपेन्मन्त्रं दशांशं जुहुयाद् घृतैः ॥ ८९ ॥
जुहुयाच्छ्रीफलैः पद्मैः प्रत्येकमयुतं ततः ।
तर्पयेत् सलिलैः शुद्धैः सुगन्धैरयुतद्वयम् ॥ ९० ॥
श्रीबीजस्योदिते पीठे महालक्ष्मीं प्रपूजयेत् ।
श्रीबीजेनासनं दद्यान्मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ ९१ ॥
पूजयेद्दक्षिणे पार्श्वे देव्याः शङ्करनन्दनम् ।
अन्यतः पुष्पधन्वानं पुष्पाञ्जलिकरं यजेत् ॥ ९२ ॥

घृतैरेव दशांशं होमः । अयुतद्वयहोमस्त्वधिकः । पीठे अष्टदलद्वादशदल-चतुरस्रचतुर्द्वाररूपे । शङ्करनन्दनं गणेशं स्कन्दमित्यपरे । पुष्पाञ्जलिकरमित्युभय-ध्यानम् ॥ ८९-९२ ॥

इन्द्रियों को वश में कर साधक हविष्यान्न भोजन करते हुये १२ लाख जप करे और घृत से उसका दशांश होम करे । पुनः श्री फल से तथा पद्म पुष्प से प्रत्येक से अलग अलग दस दस हजार होम करे, सुगन्धित शुद्ध जल से दो दस सहस्र (बीस हजार) तर्पण करे तथा पूर्वोक्त श्री बीज के मन्त्र का उच्चारण कर (द्र. ८. ९) पीठ पूजन करे । पश्चात् उस पर महालक्ष्मी का पूजन करे । श्री बीज से आसन दे और मूलमन्त्र पढ़कर मूर्त्ति का आवाहन करे । महालक्ष्मी की दाहिनी ओर पुष्पाञ्जलियुक्त गणपति का तथा बाईं ओर हाथ में पुष्पाञ्जलि लिये हुये कामदेव का पूजन करे ।। ८९-९२ ।।

अङ्गानि पूर्वमुक्तेषु स्थानेषु विधिवद् यजेत् ।
उमाद्याः पत्रमध्यस्थाः शक्तीरष्टौ यजेत् क्रमात् ॥ ९३ ॥
अथोमा श्रीसरस्वत्यौ दुर्गा धरणिसंयुता ।
गायत्री देव्युषा चैव पद्महस्ताः सुभूषणाः ॥ ९४ ॥
जहनुसूर्यसुते पूज्ये पादप्रक्षालनोद्यते ।
शङ्खपद्मनिधी पूज्यौ पार्श्वयोर्धृतचामरौ ॥ ९५ ॥
धृतातपत्रं वरुणं पूजयेत् पश्चिमे ततः ।
सम्पूज्य राशीन् परितो यजेदथ नव ग्रहान् ॥ ९६ ॥
पूजयेद् दिग्गजान् दिक्षु चतुर्दन्तविभूषितान् ।
ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः ॥ ९७ ॥

पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च ते क्रमात् ।
अभ्यर्चयेदथेन्द्रादीन् तदस्त्राण्यपि तद्बहिः ॥ ९८ ॥
आगमोक्तेन विधिना सुगन्धैः सुमनोहरैः ।
पूजयेद् गन्धपुष्पाद्यैर्देवीमन्वहमादरात् ॥ ९९ ॥
दूर्वाभिराज्यसिक्ताभिर्जुहुयादायुषे नरः ।
दशरात्रं समिद्धेऽग्नावष्टोत्तरसहस्रकम् ॥ १०० ॥
गुडूचीराज्यसंसिक्ता जुहुयात् सप्तवासरम् ।
अष्टोत्तरसहस्रं यः स जीवेच्छरदां शतम् ॥ १०१ ॥

पूर्वमुक्तेषु तुर्योक्तेषु । विधिवदिति शिरआद्यङ्गेषु नमोयोग उक्तः । अथवा यथान्यासमात्मनेपदसहितानीत्युक्तम् । पद्मे हस्तयोर्यस्याः सा पद्महस्ता । पश्चादष्टानां पद्महस्ताशब्दानामेकशेषे बहुवचनं ज्ञेयम् । जह्नु इत्यारभ्य पश्चिम इत्यन्तं तृतीयावरणम् । सम्पूज्येति द्वादशदले । राशीनिति । तद्वर्णा आचार्यैरुक्ताः—

चापनीरजयुक्कन्याः पीताः स्युरुभयास्त्वमी ।
वणिङ्मकरमेषाह्वकुलीरा रक्तरोचिषः ॥
चरावशिष्टाश्चत्वारः स्थिताः श्वेताः पृथङ्मताः । इति ।

तत्तन्नामानुरूपं स्वरूपं ज्ञेयम् । इदं चतुर्थावरणम् । अथ परितो यजेत् नव ग्रहानिति । तद्वर्णास्तत्स्वरूपञ्च चन्द्रमन्त्रे वक्ष्यति । दिग्गजानिति श्वेतान् । दिक्ष्विति स्वस्वदिक्षु । अष्टोत्तरसहस्रकमिति द्वयमपि प्रत्यहम् ॥ ९३-१०१ ॥

पुनः पूर्व में कही गई विधि के अनुसार अङ्गों का विधिवद् पूजन करे । अष्टपत्रों के मध्य भाग में उमा आदि आठ श्री की महाशक्तियों का क्रमशः यजन करे ॥ ९३ ॥

उमा श्री सरस्वती, दुर्गा, धरणी, गायत्री, देवी और उषा जो अपने अपने हाथों में कमल धारण की है तथा मनोहर आभूषणों से सुसज्जित है, ये महालक्ष्मी की आठ शक्तियाँ कही गई हैं ॥ ९४ ॥

पश्चात् महालक्ष्मी का पाद प्रक्षालन करने वाली गङ्गा और यमुना का पूजन करे । तदनन्तर चामर धारण किये हुये शङ्खनिधि तथा पद्मनिधि का अर्चन करे । देवी के पश्चिम भाग में देवी को छत्र लगाये हुये वरुण का पूजन करे । चारों ओर मेषादि राशियों का पूजन करे । तदनन्तर नवग्रहों का पूजन करे ॥ ९५-९६ ॥

तदनन्तर आठों दिशाओं में चार चार दाँतों वाले आठ दिग्गजों का पूजन करे । उनके नाम इस प्रकार हैं—ऐरावत, पुण्डरीक, वामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सुप्रतीक और सार्वभौम । इसके बाद इन्द्रादि लोकपालों का पूजन करे । उसके पश्चात् उनके वज्रादि अस्त्रों का यन्त्र के बाहर पूजन करें ॥ ९७-९८ ॥

शास्त्र में कही गई विधि के अनुसार गन्ध युक्त मनोहर पुष्पों एवं अन्य पूजन सामग्रियों से देवी का श्रद्धापूर्वक नित्य पूजन करे ॥ ९९ ॥

आयु की कामना वाला मनुष्य आज्य मिश्रित दूर्वा की १००८ आहुति से दश रात्रि पर्यन्त जलती हुई अग्नि में होम करे ॥ १०० ॥

यदि प्रतिदिन आज्य मिश्रित गुडूची से १००८ आहुति के क्रम से ७ रात्रि पर्यन्त इस मन्त्र से होम करे तो वह सैकड़ों वर्ष तक जीता है ॥ १०१ ॥

हुत्वा तिलान् घृताभ्यक्तान् दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।
आरभ्याऽर्कदिनं मन्त्री दशरात्रं दिने दिने ॥ १०२ ॥
आज्याक्तार्कसमिद्धोमादारोग्यं लभते ध्रुवम् ।
कण्ठमात्रोदके स्थित्वा ध्यात्वा देवीं दिवाकरे ॥ १०३ ॥
ऊर्द्ध्वबाहुर्दशशतमष्टोत्तरमिमं जपेत् ।
आरोग्यं लभते सद्यो(मर्त्यो)वाञ्छितान्यपि मन्त्रवित् ॥१०४
शालिभिर्जुहवतो नित्यमष्टोत्तरसहस्रकम् ।
अचिरादेव महती लक्ष्मीः सञ्जायते ध्रुवम् ॥ १०५ ॥
प्रसूनैर्जुहुयान्मन्त्री लक्ष्मीवल्लीसमुद्भवैः ।
नन्द्यावर्त्तसमुत्थैर्वा सिद्धार्थैश्च घृतप्लुतैः ॥ १०६ ॥
महतीं श्रियमाप्नोति मान्यते सर्वजन्तुभिः ।

हुत्वेत्यष्टोत्तरसहस्रम् । इदमुत्तरप्रयोगोऽपि । अर्कदिनमादित्यवासरः । जुहुयादित्यष्टोत्तरं सहस्रम् । लक्ष्मीवल्ली तु ताम्बूलाकारपत्रा रक्तमध्यबिन्दुः श्वेतपुष्पा । वाशब्दः समुच्चये ॥ १०२-१०७ ॥

घृतमिश्रित तिल से प्रतिदिन उतनी ही आहुति के क्रम से उतने ही दिन होम करे तो दीर्घायु की प्राप्ति होती है ॥ १०२ ॥

मन्त्रज्ञ साधक रविवार से आरम्भ कर प्रतिदिन आज्यमिश्रित अर्क की समिधा से दशरात्रि पर्यन्त १००८ आहुति प्रदान करे तो वह आरोग्य प्राप्त करता है । कण्ठ मात्र जल में स्थित होकर सूर्य में महालक्ष्मी का ध्यान कर अपने बाहु को ऊपर किये जो १००८ अर्क समिधा का जल में होम करता है, वह आरोग्य तो प्राप्त करता ही है, उसके अभिलषित भी सिद्ध हो जाते हैं ॥ १०२-१०४ ॥

जो प्रतिदिन शालि धान्य की मञ्जरियों से प्रतिदिन १००८ आहुति प्रदान करता है, उसे थोड़े ही दिन में अपरिमित लक्ष्मी प्राप्त होती हैं ॥ १०५ ॥

लक्ष्मीलता के पुष्पों से अथवा नन्द्यावर्त्त के पुष्पों से अथवा श्वेत सर्षप को घी में मिला कर होम करे तो साधक महान् लक्ष्मी प्राप्त करता है और सारा जगत उसका आदर करता है ॥ १०६-१०७ ॥

मरीचजीरकोन्मिश्रैर्नारिकेलरजोयुतैः ॥ १०७ ॥
सगुडैराज्यसम्पक्वैरपूपैराज्यलोलितैः ।

जुहुयात् पायसाहारो मन्त्रविद्विजितेन्द्रियः ॥ १०८ ॥
अष्टोत्तरशतं नित्यं मण्डलाद्धनदो भवेत् ।
हविषा गुडमिश्रेण जुहुयादन्नवान् भवेत् ॥ १०९ ॥
जवापुष्पाणि जुहुयादष्टोत्तरसहस्त्रकम् ।
गृहीत्वा प्रजपेद्भस्म नागवल्लीरसान्वितम् ॥ ११० ॥
तिलकं तनुयात्तेन सर्ववश्यकरं भवेत् ।
ब्रह्मवृक्षसमित्पुष्पैर्ब्राह्मणान् वशयेद्वशी ॥ १११ ॥
जातीपुष्पैश्च राजानं वैश्यान् रक्तोत्पलैः सुधीः ।
शूद्रान्नीलोत्पलैर्हुत्वा वशयेन्मन्त्रवित्तमः ॥ ११२ ॥
पुष्पैर्मधूकजैर्हुत्वा वशमानयति स्त्रियः।

मण्डलादेकोनपञ्चाशद्दिनैः । धनदः कुबेरः । प्रजपेदित्यष्टोत्तरशतमित्यादि । भस्मेति हुतजवाभस्म । ब्रह्मवृक्षः पलाशः । 'ब्रह्म वै पलाशः' इति श्रुतेः ॥ १०७-११३ ॥

मरीच तथा जीरा को मिलाकर नारिकेल के रज में उसे डुबोकर, अथवा घृत में पकाये गये गुड से मिश्रित अपूप को घृत में. मिला कर प्रतिदिन १०८ आहुति से होम करे, खीर का भोजन करे, इन्द्रियों को वश में रखे तो साधक कुबेर के समान धनी हो जाता है । यदि गुडमिश्रित हवि से होम करे तो अल्पकाल में अर्थ सम्पन्न हो जाता है ॥ १०७-१०९ ॥

यदि साधक जपा के पुष्प की १००८ आहुति से जलती हुई अग्नि में होम करे और उसका भस्म ले कर नागवल्ली से युक्त कर तिलक लगावे तो वह सबको अपने वश में कर लेता है । साधक जितेन्द्रिय हो पलाश की लकड़ी तथा उसके पुष्प से होम करे तो ब्राह्मणों को वश में कर लेता है ॥ ११०-१११ ॥

जाती पुष्प से होम करने से साधक राजा को वश में कर लेता है । यदि साधक शुभ रक्त कमल से होम करे तो वैश्य को और नील कमल से होम करे तो शूद्र को वश में कर लेता है । मधूक पुष्पों से होम करे तो स्त्रियों को वश में कर लेता है ॥ ११२-११३ ॥

कृत्वा नवपदात्मानं मण्डलं यन्त्रभूषितम् ॥ ११३ ॥
अभिषेकं प्रकुर्वीत विधिना सर्वसिद्धये ।
कलशान् स्थापयेत्तेषु पदेषु शुभलक्षणान् ॥ ११४ ॥
चन्दनालिप्तसर्वाङ्गान् दूर्वाक्षतसमन्वितान् ।
दुकूलवेष्टितानेतान् पूरयेत्तीर्थवारिणा ॥ ११५ ॥
नवरत्नसमाबद्धं कर्षकाञ्चनकल्पितम् ।
मध्यकुम्भे क्षिपेत् पद्मं यन्त्राढ्यं देशिकोत्तमः॥ ११६ ॥

चन्दनोशीरकर्पूरजातीकङ्कोलकुङ्कुमम् ।
कुष्ठागुरुतमालैलायुतं संपिष्य भागतः ॥ ११७ ॥
विलोड्य सर्वकुम्भेषु रत्नान्यपि विनिःक्षिपेत् ।

अभिषेकमाह कृत्वेति । नवपदात्मानं तृतीयोक्तं नवनाभम् । यन्त्रभूषितं वक्ष्यमाणं यन्त्रं तन्मध्यकर्णिकायां लिखेदित्यर्थः । विधिनेति उद्दिष्टं विधिमाह कलशानित्यादिना । कर्षकाञ्चननिर्मितं षष्ठ्यधिकशतरत्तिकापरिमितसुवर्णनिर्मितम् । यन्त्राढ्यं वक्ष्यमाणयन्त्रयुक्तम् । तेन यन्त्रपद्ममित्यर्थः । जाती जातीफलम् । भागत इति समविभागतः । रत्नानि मातृकापटलोक्तानि नव । सर्वकुम्भेषु इति । अत्रापिना सम्बध्यते ॥ ११३-११८ ॥

नव पदात्मक मण्डल का निर्माण कर उस पर यन्त्र स्थापित करे । पश्चात् सर्वसिद्धि के लिये उसका अभिषेक करे ॥ ११३-११४ ॥

अब उस **यन्त्र के अभिषेक का प्रकार** कहते हैं—उन नव पदों पर शुभ लक्षण युक्त कलश स्थापित करे ।

अब **कलश स्थापन का प्रकार** कहते हैं—कलश में सर्वत्र चन्दन का अनुलेप करे, उसमें दूर्वा और अक्षत डाले । पुनः तीर्थ के जल से उसे परिपूर्ण कर वस्त्र से चारों ओर वेष्टित करे । उसमें नव रत्न युक्त १६० रत्ती सुवर्ण निर्मित कार्षापण छोड़ देवे । पुनः उस कुम्भ के मध्य में आचार्य यन्त्र रूप पद्म डाल देवे । पुनः चन्दन, उशीर, कर्पूर, जायफल, कंकोल, कुंकुम, कुष्ठ, अगुरु, तमाल एवं इलायची को समभाग में लेकर उसे पीस देवे । तदनन्तर उस चूर्ण को सभी लग्नों में डाल कर भली प्रकार उसे कुम्भ के जल में विलोडित करे तथा मातृका (६) पटल में कहे गये नव रत्न (द्र. ६. ११२-११३) भी उसमें छोड़ देवे ॥ ११३-११८ ॥

लक्ष्मीर्दूर्वा सदाभद्रा सहदेवी मधुव्रता ॥ ११८ ॥
मुशली शक्रवल्ली च क्रान्तापामार्गपत्रकान् ।
प्रियङ्गुमुद्गगोधूमव्रीहींश्च सतिलान् यवान् ॥ ११९ ॥
शालितण्डुलमाषांश्च प्रक्षाल्यैतेषु निक्षिपेत् ।
धात्रीलकुचबिल्वानां कदलीनारिकेलयोः ॥ १२० ॥
फलान्यपि विनिक्षिप्य पुष्पाण्येतानि निक्षिपेत् ।
पद्मं सौगन्धिकं जातिं मल्लिकां बकुलन्तथा ॥ १२१ ॥
चम्पकाशोकपुन्नागतुलसीकेतकोद्भवम् ।
पल्लवानि वटाश्वत्थप्लक्षोडुम्बरशाखिनाम् ॥ १२२ ॥

लक्ष्मीः पूर्वोक्तलक्षणा १ दूर्वा २ सदाभद्रा भद्रमुस्ता ३ सहदेवी ४ मधुव्रता भृङ्गराजः ५ मुषली मुषलीकन्दः ६ शक्रवल्ली इन्द्रवारुणी ७ क्रान्ता विष्णुक्रान्ता ८

अपामार्गपत्रं ९ एतानि प्रक्षाल्य एतेषु नवकुम्भेषु प्रत्येकं निक्षिपेदित्यग्रिमेणान्वयः । प्रियङ्गुः कङ्गुः । निक्षिपेदिति प्रत्येकम् ॥ ११८-१२० ॥

फलान्यपीति पल्लवानीति च सर्वकुम्भेषु ॥ १२१ ॥

तदनन्तर लक्ष्मी, दूर्वा, सदाभद्रा (मुस्ता) सहदेवी, मधुव्रता (भृङ्गराज), मुसली (मुसलीकन्द), शूक्रवल्ली (इन्द्रवारुणी), कान्ता (विष्णुकान्ता), अपामार्ग का पत्र, प्रियंक (काँक), मूँग, गेहूँ, धान, तिल युक्त यव साठी का चावल और उर्द—इन्हें धो कर सभी कुम्भों में डाल देवे तदनन्तर आँवला, लकुच, विल्व, केला तथा नारिकेल का फल डालकर उन कमल सौगन्धिक जाती, मल्लिका, बकुल, चम्पक, अशोक पुंनाग तुलसी और केतक के पुष्पों को छोड़ देवे । तदनन्तर वट, अश्वत्थ (पीपर) प्लक्ष (पाकर) और उदुम्बर (गूलर) के पत्तों को भी उनमें छोड़ देवे ॥ ११८-१२२ ॥

ब्रह्मकूर्च्चं विनिक्षिप्य चषकैः सफलाक्षतैः ।
पिधाय कुम्भवक्त्राणि क्षौमैराच्छादयेत्ततः ॥ १२३ ॥
आवाह्य मध्यकलशे महालक्ष्मीं प्रपूजयेत् ।
यजेदुमाद्याः शिष्टेषु कलशेष्वष्टसु क्रमात् ॥ १२४ ॥
गन्धैर्मनोहरैः पुष्पैर्धूपदीपसमन्वितैः ।
निवेद्य भक्ष्यभोज्यानि तान् स्पृष्ट्वा प्रजपेन्मनुम् ॥ १२५ ॥
त्रिसहस्रं जपस्यान्ते साध्यमानीय संयतम् ।
संस्थाप्य स्थण्डिले पीठं तस्मिंस्तं विनिवेशयेत् ॥ १२६ ॥
रम्यैराभरणैर्वस्त्रैरलङ्कृत्य तमादरात् ।
सुमङ्गलाभिर्नारीभिः क्षिप्तपुष्पाक्षतान्वितम् ॥ १२७ ॥
अर्चितानां द्विजातीनामाशीर्वादपुरःसरम् ।
नदत्सु पञ्चवाद्येषु मुहूर्त्ते शोभने सुधीः ॥ १२८ ॥
मध्यस्थं कुम्भमुद्धृत्य महालक्ष्मीमनुं स्मरन् ।
अभिषिञ्चेत् क्रमादन्यैः कलशैरपि देशिकः ॥ १२९ ॥
करेणाऽस्य शिरः स्पृष्ट्वा प्रयुञ्जीताशिषं गुरुः ।
भद्रमस्तु शिवञ्चाऽस्तु महालक्ष्मीः प्रसीदतु ॥ १३० ॥

ब्रह्मकूर्चं दीक्षापटलोक्तम् । तान् स्पृष्ट्वेति कुशादिना युगपत् । सुमङ्गलाभिः चिरण्टीभिरित्यर्थः । आशिषमेवाह भद्रमस्त्विति ॥ १२३-१३० ॥

तदनन्तर कुशा छोड़कर फलयुक्त चम्पक पुष्प डालकर उनका मुख ढक कर क्षौम वस्त्र से उसे आच्छादित कर देवे ॥ १२३ ॥

तदनन्तर मध्य कलश में महालक्ष्मी का आवाहन कर पूजन करें । पुनः शेष आठ कलशों में उमादि अष्टशक्तियों (द्र. ८.९४) का पूजन मनोहर गन्ध, पुष्प,

धूप, दीप युक्त उपचारों के साथ नाना प्रकार के भक्ष्य भोज्य पदार्थों का नैवेद्य लगा कर करे। इस प्रकार पूजित सभी कलशों को कुश के द्वारा स्पर्श कर तीन सहस्र महालक्ष्मी के मन्त्र का जप करे। तदनन्तर ब्रह्मचर्यादि नियमों से युक्त शिष्य को वेदी पर आसन रख कर उसी पर उसे बिठावे ॥ १२४-१२६ ॥

आचार्य उसे भलीभाँति उत्तम प्रकार के वस्त्र एवं आभरणों से भूषित करे। तत्पश्चात् युवती एवं सौभाग्यवती स्त्रियाँ उस पर पुष्प एवं अक्षत की वर्षा करें। पुनः पूजित ब्राह्मणों के आशीर्वाद पूर्वक पञ्चवाद्य से युक्त शुभ मूहूर्त में आचार्य स्वयं मध्यस्थ कुम्भ से जल लेकर उससे महालक्ष्मी का स्मरण करते हुये शिष्य का अभिषेक करें। इसी प्रकार क्रमशः अन्य आठ कलशों से भी जल ले कर अभिषेक करें ॥ १२७-१२९ ॥

पुनः गुरु हाथ से अपने शिष्य का शिर स्पर्श कर इस प्रकार का आशीर्वाद प्रदान करें—हे शिष्य तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारा मङ्गल हो। महालक्ष्मी तुम पर सदैव प्रसन्न रहें ॥ १३० ॥

रक्षन्तु त्वां सदा देवाः सम्पदः सन्तु सर्वदा।
अथोत्थायाऽभिषिक्तः सन् वाससी परिधाय च ॥ १३१ ॥
यथाविधि समाचम्य दण्डवत् प्रणमेद् गुरुम्।
वस्त्रैराभरणैर्धान्यैर्धनै(र्गन्धै)र्गोमहिषादिभिः ॥ १३२ ॥
दासीदासैश्च विधिवत्तोषयेद्देवताधिया।
ब्राह्मणान् भोजयेत् पश्चाद्दीनान्धकृपणैः सह ॥ १३३ ॥
महान्तमुत्सवं कुर्याद्भवने बन्धुभिः सह।
तदा कृतार्थमात्मानं मन्यते मनुजोत्तमः ॥ १३४ ॥
अभिषिक्तो नरपतिः परान् विजयतेऽचिरात्।
पट्टेच्छुः पट्टमाप्नोति राजपुत्रो न संशयः ॥ १३५ ॥
अभिषिक्ता सती बन्ध्या सूते पुत्रं महामतिम्।
महारोगेषु जातेषु कृत्याद्रोहेषु देशिकः ॥ १३६ ॥
भूतेषु दुर्निमित्तादौ विदध्यादभिषेचनम्।
सर्वसम्पत्करं पुंसां सर्वसौभाग्यसिद्धिदम् ॥ १३७ ॥
सर्वरोगप्रशमनं सर्वापद्विनिवारकम्।
गर्भरक्षाकरं स्त्रीणां दीर्घायुर्जनकं परम् ॥ १३८ ॥
प्रसूतानामपि स्त्रीणां सूतिकागाररक्षकम्।
प्रणष्टपुष्पगर्भाणां पुष्पगर्भाभिरक्षणम् ॥ १३९ ॥
आसन्नशत्रुभीतानां नाशनञ्च महीभृताम्।
अभिषेकमिमं प्राहुरागमार्थविशारदाः ॥ १४० ॥

देवगण तुम्हारी रक्षा करें । तुमको सर्वदा सम्पत्ति प्राप्त होती रहे । इस प्रकार जब अभिषेक का कार्य सम्पन्न हो जाय तो अभिषिक्त शिष्य अपने आसन से उठकर पुनः अन्य अहत धौत वस्त्र एवं उत्तरीय वस्त्र धारण करे ॥ १३१ ॥

पुनः आचमन कर दण्ड के समान पृथ्वी पर गिर कर अपने गुरु को प्रणाम करे और गुरु में देवता बुद्धि करते हुये उन्हें वस्त्र, आभूषण, धान्य धन, गौ, महिषी, दासी एवं दास के दान द्वारा प्रसन्न करे । इसके अनन्तर ब्राह्मण भोजन कराकर दीन अन्ध एवं दरिद्रों को भी भोजन करावे ॥ १३२-१३३ ॥

उस दिन अपने बन्धु बान्धवों के साथ घर पर महान् उत्सव करे । ऐसा कर के वह उत्तम शिष्य अपने को कृतार्थ समझे ॥ १३४ ॥

उक्त रूप से अभिषिक्त राजा अपने शत्रुओं पर स्वल्प काल में विजय प्राप्त करता है और राजपुत्र यदि किसी पद की कामना से उक्त प्रकार से अभिषिक्त होता है तो वह अचिर काल में ही उस पद को प्राप्त कर लेता है ॥ १३५ ॥

यदि पतिव्रता वन्ध्या स्त्री का इस प्रकार अभिषेक किया जाता है तो वह स्वल्प काल में महाबुद्धिमान् पुत्ररत्न पैदा करती है । यदि महारोग उत्पन्न हो गया हो, अथवा द्रोहवश किसी ने कृत्या का प्रयोग कर दिया हो, अथवा किसी प्राणी को अपशकुन युक्त स्वप्न दिखाई पड़े तो उसे उपर्युक्त प्रकार से अभिषेक कराना चाहिए । क्योंकि यह अभिषेक प्राणियों को सब प्रकार की संपत्ति प्रदान करता है और सभी प्रकार के सौभाग्य तथा सिद्धियाँ प्रदान करता है ॥ १३६-१३७ ॥

यह अभिषेक सभी रोगों को शान्त कर देता है, सभी विपत्तियों को दूर करता है । स्त्रियों के गर्भ की रक्षा करता है तथा दीर्घायु प्रदान करता है । प्रसूता स्त्रियों के सूतिका के आगार की रक्षा करता है, जिससे उसके पुत्रादिकों पर कोई बाधा नहीं आती, जिन स्त्रियों के पुष्प (रज) एवं गर्भ नष्ट होते रहते हैं, उन्हें यह अभिषेक पुनः पुष्प प्रदान करता है तथा गर्भ धारण कराता है ॥ १३८-१३९ ॥

यह अभिषेक राजाओं के ऊपर आने वाले आसन्न शत्रुओं के भय को सद्यः प्रणष्ट करने वाला है । इस प्रकार आगमशास्त्र के विशेषज्ञों ने इस अभिषेक का माहात्म्य कहा है ॥ १४० ॥

लक्ष्मीयन्त्रम्

वेदादिस्थितसाध्यनाम युगशः श्रीशक्तिमारान्वितं
किञ्जल्केषु दिनेशपत्रविलसन्मन्त्राक्षरं तद्बहिः ।
पद्मं व्यञ्जनकेसरं स्वरलसत्पत्राष्टयुग्मं धरा-
बिम्बाभ्यां वषडन्तया त्वरितया यन्त्रं लिखेद् वेष्टितम् ॥१४१॥

भूपुरद्वयकोणेषु हक्ष्मौ लेख्यौ पुनः पुनः ।
महालक्ष्मीयन्त्रमिदं सर्वैश्वर्यफलप्रदम् ॥ १४२ ॥

सर्वदुःखप्रशमनं सर्वापद्विनिवारणम् ।
बहुना किमिहोक्तेन परमस्मान्न विद्यते ॥ १४३ ॥

यन्त्रमाह वेदादीति । पद्मं पद्मरूपं यन्त्रं लिखेदिति सम्बन्धः । किं विशिष्टम् । वेदादिः प्रणवः तत्रस्थं साध्यनाम साध्यसाधककर्मनाम यत्र तत् कर्णिकायामिति ज्ञेयम् । किञ्जल्केष्विति वक्ष्यमाणत्वात् । पुनः कीदृक् । किञ्जल्केषु केसरस्थानेषु युगशो द्विशः श्रीशक्तिमारान्वितम् । आद्ये किञ्जल्के श्रीशक्तीपरे मारश्रियौ तत्परे शक्तिमारौ इति क्रमेणेति सम्प्रदायविदः । तेन बीजत्रयस्याष्टावृत्तयः । पुनः कीदृक् । दिनेशपत्रेषु द्वादशपत्रेषु विलसन्ति मन्त्राक्षराणि यत्र । पुनः किं विशिष्टम् । तद्बहिः व्यञ्जनकेसरम्, व्यञ्जनानि ककारादीनि केसरेषु यत्र तत् । केसराणां द्वित्वात् व्यञ्जनद्वयमेकैकस्मिन् केसरस्थाने लेखनीयमित्यर्थः । पुनः कीदृक् स्वरैर्लसद् युक्तं पत्राष्टयुग्मं षोडशपत्रं यस्मिन् तत् । धराबिम्बाभ्यां परस्परव्यतिभिन्नाभ्यां वेष्टितम् । त्वरितया सहेति सम्बन्धः । इदञ्चोपरिष्टात् प्रभृति । तेन त्वरितया संवेष्ट्य पश्चाद् भूगृहाभ्यां वेष्टयेत् ।

अत्र परस्परव्यतिभिन्नत्वम् अर्थलभ्यम् । यदुपर्युपरि चतुरस्रकरणे एकेनैव चतुरस्रेण साक्षाद् यन्त्रवेष्टनम् । अन्येन तु चतुरस्रयैव वेष्टनं न मन्त्रस्य । परम्परया यन्त्रवेष्टनत्वमिति चेन्न । व्यतिभिन्नत्वे तु उभयोरपि साक्षादेव यन्त्रवेष्टितत्वसम्भवात् । कीदृश्या त्वरितया । वषडन्तया तत्र फट्कारस्थाने वषट्कार इति साम्प्रदायिकाः । अन्ये तु वषट्कारमधिकमाहुः । हक्षावित्यष्टधावृत्तौ ॥ १४१-१४३ ॥

अब पद्म स्वरूप इस **महालक्ष्मीयन्त्र** को लिखने का विधान कहते हैं— सर्वप्रथम कर्णिका में ॐकारपूर्वक साध्य एवं साध्य का कार्य लिखे । तदनन्तर केशरों में प्रथम केशर पर श्री बीज, दूसरे पर काम बीज एवं श्री बीज, तीसरे पर शक्ति बीज एवं काम बीज, इस क्रम से सभी केशरों पर लिखे । पुनः द्वादश पत्रों पर मन्त्राक्षरों को लिखे । उसके बाहर के केशरों पर दो दो व्यञ्जन अक्षरों के क्रम से ककारादि वर्णों को लिखे, पुनः षोडश पत्रों पर १६ स्वरों को लिखे । पुनः उसे त्वरिता मन्त्र से वेष्टित कर पश्चाद् भूपुर से वेष्टित करे । भूपूर के प्रत्येक दोनों कोनों पर ह क्ष इन दो अक्षरों को बारम्बार लिखे ॥ १४१-१४२ ॥

इस प्रकार से लिखा गया महालक्ष्मी यन्त्र सभी प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करता है । सभी प्रकार के दुःख का शमन करता है एवं सभी आपत्तियों को दूर करता है । इस विषय में इससे अधिक क्या कहा जा सकता है कि इस मन्त्र से बढ़कर और कोई मन्त्र नहीं है ॥ १४२-१४३ ॥

सप्तविंशत्यक्षरमहालक्ष्मीमन्त्रः

शम्भुपत्नी श्रिया रुद्धा कमौ भगवती मही ।
ब्रह्मादित्यौ धरा दीर्घा लः क्षादिर्भगवान् मरुत्॥ १४४ ॥
प्रसीदयुगलं भूयः श्रीरुद्धा भुवनेश्वरी ।
महालक्ष्मि नमोऽन्तः स्यात् प्रणवादिरयं मनुः ॥ १४५ ॥

सप्तविंशत्यक्षराढ्यः प्रोक्तः सर्वसमृद्धिदः ।
कमले हृदयं प्रोक्तं शिरः स्यात् कमलालये ॥ १४६ ॥
शिखा प्रसीद तेनैव कवचं चतुरक्षरैः ।
अस्त्रमेतैः पदैः कुर्यात् त्रिबीजपुटितैः पृथक्॥ १४७ ॥

मन्त्रान्तरमाह शम्भ्विति । शम्भुपत्नी मायाबीजम् । श्रिया रुद्धा श्रीबीजपुटिता । एकाक्षरत्वाद्रोधः सम्पुटे पर्यवस्यति । कमौ ककारमकारौ । भग एकारस्तद्युक्ता मही लः तेन ले । नागरलिपौ एकारस्य भगरूपत्वात् भगशब्दवाच्यता । ब्रह्मादित्यौ ककारमकारौ । धरा लकारः । दीर्घा दीर्घयुक्ता तत्र प्रथमातिक्रमे कारणाभावादाकारयुक्ता तेन ला । क्षादिर्लः मूर्द्धन्य इत्यर्थः । मरुत् यकारः । भगवानेकारयुक्तः तेन येति । महालक्ष्मीति स्वरूपम् । इदं पदं के चन चतुर्थ्यन्तमपीच्छन्ति । एभिस्तु यकारस्य कीलकत्वात् न तथोद्धृतम् ।

अन्ये तु द्विरुक्त्यादौ भेदमुद्धृत्याष्टाविंशतिवर्णमाहुः । सर्वसमृद्धि इति विनियोगोक्तिः । श्रीँ बीजं माया शक्तिः । कमलवासिनी चास्या ऋष्यादयः । तेनैवेति प्रसीदेत्यनेन । चतुरक्षरैरिति महालक्ष्मिपदेन । त्रिबीजपुटितैरिति मन्त्रादिस्थप्रणवव्यतिरिक्तत्रिबीजैः । पृथक् प्रत्येकं कुर्यादङ्गानीति शेषः । तत्र प्रयोगो यथा—'श्रीँ ह्रीँ श्रीँ कमले श्रीँ ह्रीँ श्रीँ हृदयाय नमः' इत्यादि ॥ १४४-१४७ ॥

अब **महालक्ष्मी के अन्य मन्त्र का उद्धार** बताते हैं—शम्भुपत्नी (ह्रीँ) इसे 'श्री' बीज से संपुटित करे, तदनन्तर 'कम' वर्ण के आगे ल को एकार से युक्त करे इस प्रकार 'कमले', पुनः ब्रह्मादित्य (क म) इसके पश्चात् लकार को दीर्घ आकार से संयुक्त करे, पुनः क्षादि (ल) वर्ण का उच्चारण कर यकार को एकार की मात्रा से युक्त करे इस प्रकार 'कमलालये' निष्पन्न हुआ । तदनन्तर 'प्रसीद' शब्द का दो बार उच्चारण कर श्री से संपुटित भुवनेश्वरी (श्रीं ह्रीं श्रीं) तदनन्तर 'महालक्ष्म्यै नमः' पद कहे । यह मन्त्र प्रणवादि हैं इस प्रकार २७ अक्षरों वाला यह श्री का महामन्त्र सभी प्रकार की समृद्धि प्रदान करता हैं । **मन्त्र का स्वरूप** इस प्रकार हुआ—'ॐ श्रीं ह्रीं श्रीं कमले कमलालये प्रसीद प्रसीद श्रीं ह्रीं श्रीं महालक्ष्म्यै नमः' (२७) ॥ १४४-१४६ ॥

'श्रीं ह्रीं श्रीँ' इस तीन बीज मन्त्र से पृथक् पृथक् संपुटित कर क्रमशः कमले, कमलालये, प्रसीद प्रसीद महालक्ष्म्यै पदों से हृदय, शिर, शिखा, कवच, एवं अस्त्र का न्यास करे । **प्रयोग विधि** इस प्रकार जानना चाहिए—यथा 'श्रीं ह्रीं श्रीं कमले श्रीं ह्रीं श्रीँ हृदयाय नमः इत्यादि ॥ १४७ ॥

महालक्ष्मीध्यानम् । पुरश्चरणादिकथनम्

सिन्दूरारुणकान्तिमब्जवसतिं सौन्दर्यवारां निधिं
कोटीराङ्गदहारकुण्डलकटीसूत्रादिभिर्भूषिताम् ।
हस्ताब्जैर्वसुपत्रमब्जयुगलादर्शौ वहन्तीं परा-
मावीतां परिचारिकाभिरनिशं ध्यायेत् प्रियां शार्ङ्गिणः ॥ १४८॥

आयुधध्यानं दक्षाधस्ताद्वामाधः पर्यन्तम् ॥ १४८ ॥

न्यास के पश्चात् अब **महालक्ष्मी के ध्यान** का प्रकार कहते हैं—जिनके शरीर की कान्ति सिन्दूर के समान अरुण वर्ण की है जो सौन्दर्य की राशिभूत समुद्र जैसी हैं और मुकुट, अङ्गद, हार, कुण्डल तथा काञ्ची युक्त आभूषणों से शोभित हो रही हैं जिन्होंने अपने हस्त कमलों में वसु, पुस्तक, अब्जयुगल एवं आदर्श (शीशा) धारण किए हुए हैं तथा निरन्तर परिचारिका गणों से घिरी रहती हैं ऐसी विष्णु पत्नी महालक्ष्मी का ध्यान करना चाहिए ।। १४८ ।।

लक्षं जपेत् फलैर्बिल्वैर्जुहुयान्मधुरोक्षितैः ।
दशांशं संस्कृते वह्नौ प्राक्प्रोक्तेनैव वर्त्मना ॥ १४९ ॥
श्रीबीजोक्ते यजेत् पीठे वक्ष्यमाणक्रमेण ताम् ।
अङ्गावृत्तेर्बहिः पूज्या मूर्त्तयः श्रीधरादयः॥ १५० ॥
श्रीधराख्यं हृषीकेशं वैकुण्ठं विश्वरूपकम् ।
वासुदेवं सङ्कर्षणं प्रद्युम्नमनिरुद्धकम् ॥ १५१ ॥
दलमूलेषु संपूज्य पत्रमध्येषु संयजेत् ।
भारतीं पार्वतीं चान्द्रीं शचीञ्च दमकादिकान् ॥ १५२ ॥
दलाग्रेष्वर्चयेद् बाणान् महालक्ष्म्याः क्रमादमून् ।
अनुरागञ्च संवादं विजयं वल्लभं मदम् ॥ १५३ ॥
हर्षं बलञ्च तेजश्च लोकनाथाननन्तरम् ।
तदायुधानि तद्बाह्ये पूजयेत् साधकोत्तमाः ॥ १५४ ॥
अनेन विधिना देवीं महालक्ष्मीमुपासते ।
ये तेषु निवसेल्लक्ष्मीरस्मरन्ती निजालयम् ॥ १५५ ॥
उत्पलैर्जुहुयाल्लक्षं चन्दनाम्भसि लोलितैः ।
शत्रूणां लभते राज्यं विना युद्धेन पार्थिवः ॥ १५६ ॥

अङ्गावृत्तेर्बहिः केसरेषु । तेन कर्णिकायामङ्गपूजा । अत एव दलमूलेषु सम्पूज्येत्युक्तिः । पत्रमध्येष्विति दिक्पत्रमध्येषु । दमकादिकान् इति विदिक् पत्रमध्येषु । तदग्रेषु पत्राग्रेषु । ये साधकोत्तमा उपासते इति सम्बन्धः । साधकोत्तमा इत्यनेनैतदुक्तं भवति सत्यवादित्वादिलक्ष्म्युपासकसमयनिष्ठा इति ॥ १४९-१५६ ॥

उपर्युक्त मन्त्र का एक लाख जप करे । पश्चात् त्रिमधुर सिक्त विल्व फल का होम सुसंस्कृत अग्नि में पूर्वोक्त बताये गये क्रम से करे ।। १४९ ।।

तदनन्तर श्री बीज में कहे गये पीठ पर आगे कही जाने वाली विधि के अनुसार श्री देवी की पूजा करे । कर्णिका में अङ्गपूजा एवं उसके बाहर के पत्र मूल में श्रीधरादिमूर्त्तियों की पूजा करे ।। १५० ।।

अब **श्री धरादि का नाम** कहते हैं—श्रीधर, हृषीकेश, वैकुण्ठ, विश्वरूपक, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध । इन आठों की चार दिशाओं में पत्र के मूल भाग में पूजा कर पत्र के मध्यभाग में भारती, पार्वती, चान्द्री एवं शची की पूजाकर पश्चात् चार कोणों में तथा दमक आदि दिग्गजों (द्र. ८. १२) की भी पूजा करे ॥ १५१-१५२ ॥

दल के अग्रभाग में महालक्ष्मी के वक्ष्यमाण बाणों की पूजा क्रमशः करे । अनुराग, संवाद, विजय, वल्लभ, मद, हर्ष, बल और तेज—ये महालक्ष्मी के बाणों के नाम हैं । इसके बाद लोकपालों की पूजा करे । उसके बाहर उत्तम साधक इन्द्रादि लोकपालों के वज्रादि आयुधों की पूजा करे ॥ १५३-१५४ ॥

इस प्रकार जो उत्तम साधक महालक्ष्मी की उपासना करते हैं लक्ष्मी उनके यहाँ सर्वदा निवास करती हैं, यहाँ तक कि अपने घर को भी भूल जाती हैं ॥ १५५॥

चन्दन के जल से संसिक्त उत्पलों के द्वारा उपर्युक्त मन्त्र से एक लाख आहुति प्रदान करे तो राजा बिना युद्ध किये ही अपने शत्रुओं के राज्य पर अधिकार कर लेता है ॥ १५६ ॥

जपन् राजसभां गच्छेत् सम्भाव्येत तया नरः ।
दूर्वा देवी महालक्ष्मीर्विष्णुक्रान्ता मधुव्रता ॥ १५७ ॥
मुशली शक्रवल्ली च सदाभद्राऽञ्जलिप्रिया ।
हरिचन्दनकर्पूरचन्दनाङ्कोलरोचनाः ॥ १५८ ॥
मालूरकेसरौ कुष्ठं सर्वं पिष्ट्वा निशारसैः ।
अष्टोत्तरसहस्रन्तु जपित्वा तिलकक्रियाम् ॥ १५९ ॥
कुर्वतो मन्त्रिणः सर्वे वशे तिष्ठन्त्यहर्निशम् ।
श्रियो मन्त्रं भजेन्मन्त्री श्रीसूक्तान्यपि संजपेत् ॥ १६० ॥

तयेति सभया । देवी सहदेवी । मधुव्रता भृङ्गराजः । सदाभद्रा भद्रमुस्ता । अञ्जलिप्रिया अञ्जलिनी । हाताजोडीति कान्यकुब्जभाषायाम् । हरिचन्दनं पीतचन्दनम् । मालूरं बिल्वम् । केसरो नागकेसरः । निशा हरिद्रा । श्री सूक्तं पञ्चदशर्चं बह्वृचानां प्रसिद्धतरम् । तद्विधानं यथा—

आद्यायाः श्रीर्ऋषिः प्रोक्तस्तत आनन्दकर्दमौ ।
चिल्कीतश्चेन्दिरापुत्रो मुनयः संप्रकीर्त्तिताः ॥
चतुर्दशानां छन्दः स्यादनुष्टुप् तिसृणां पुनः ।
चतुर्थ्यां बृहती पञ्चषष्ठयोस्त्रिष्टुबीरिता ॥
सप्तमादिषु चाष्टानामनुष्टुप् परिकीर्त्तितम् ।
प्रस्तारापङ्क्तिरन्त्याया अग्नी देवौ प्रकीर्त्तितौ ॥
आद्यन्ते बीजशक्ती स्तो विनियोगो धनाप्तये ।
मूर्द्धाक्षिकर्णघ्राणेषु मुखग्रीवाकरद्वये ॥

हृन्नाभिलिङ्गपायूरुजानुजङ्घापदे न्यसेत् ।
हिरणमयी च चन्द्रा च रजताद्या स्रजा तथा ॥
सुवर्णाद्या स्रजा चैव हिरण्या चैव पञ्चमी ।
हिरण्यवर्णा एताभिर्नमोऽन्ताभिरथाङ्गकम् ॥
रक्ताब्जसंस्थां पद्माक्षीं विचित्रानेकभूषणाम् ।
अरुणाब्जरजःपुञ्जवर्णां सद्रत्नशेखराम् ॥
अब्जयुग्मं वराभीती धारयन्तीं निजैर्भुजैः ।
देवीं त्रिलोकजननीमेवं ध्यायेत्तु देशिकः ॥
शुक्लप्रतिपदाद्येकादश्यन्तं प्रजपेन्मनुम् ।
अर्कसाहस्रमिध्मैस्तु बिल्वैः पद्मैर्घृतेन च ॥
पायसेन त्रिमध्वक्तैर्दशांशं जुहुयात्ततः ।
पुरोदितेन विधिना श्रीपीठे पूजयेच्छ्रियम् ॥
मूर्त्तिं मूलेन सङ्कल्प्य उपचारांस्तु षोडश ।
मन्त्रैस्तु पञ्चदशभिर्व्यस्तैः कुर्यात् समस्तकैः ॥
तत आवरणार्चायां केसरेष्वङ्गपूजनम् ।
पद्मा च पद्मवर्णा च पद्मस्थार्द्रा तुरीयका ॥
तर्पयन्ती च तृप्ता च ज्वलन्ती सप्तमी तथा ।
स्वर्णप्राकाराष्टमो स्यादेताः पत्रेषु संयजेत् ॥
लोकेशानायुधैः सार्द्धमेवं पूजा समीरिता । इति ।

अथ सर्वश्रीमन्त्रान्ते तन्त्रान्तरोक्तं श्रीयन्त्रं लिख्यते—

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि श्रियो यन्त्रं शृणु प्रिये ।
सर्वसिद्धिप्रदं यन्त्रं सर्वसम्मोहनं परम् ॥
तेजस्करं पुष्टिकरं श्रीकरञ्च यशस्करम् ।
अमृतत्वप्रदं नृणां सर्वाभीष्टफलप्रदम् ॥
शत्रूणां नाशनञ्चैव मित्राणां वर्द्धनं परम् ।
स्वसेनाहरणञ्चैव परसेनापसारणम् ॥
आथर्वणादिभिर्मन्त्रैः शत्रुभिः पीडिते सदा ।
रक्षणं परमन्त्राणां छेदनञ्च महेश्वरि ॥
धारणाचायुरारोग्यं श्रीसौभाग्यधनप्रदम् ।
अष्टपत्रं महापद्मं कर्णिकाकेसरैर्युतम् ॥
श्रीबीजं नामसंयुक्तं कर्णिकायां समालिखेत् ।
अयुतं वारुणं बिन्दुभूषितं प्राग्दले लिखेत् ॥

अकारयुतं सबिन्दुकं हल्मात्रं वकारमित्यर्थः । एवञ्च वं इति भवति । वैष्णवं बिन्दुमद्बीजं तस्य दक्षिणदिग्दले । अं इति भवति ।

नान्तं यान्तसमायुक्तं सबिन्दुं वारुणे दले । नान्तः पकारः । यान्तो रेफः । एवञ्च प्रं इति भवति । विष्णुं बिन्दुसमायुक्तं सौम्ये वै दिग्दले लिखेत् । अं इत्यर्थः । जान्तं वह्निसमायुक्तं बिन्दुमद्वह्निदिग्दले । जान्तो झकारः । वह्निः रेफः । एवं झ्रं इति भवति ।

वान्तं विष्णुसमायुक्तं बिन्दुमन्नैर्ऋते दले । वान्तः शकारः । विष्णुः अकारः । एवं शं इति भवति ।

ब्रह्मणो द्वादशं बीजं पञ्चमस्वरसंयुतम् ।
बिन्दुनादसमायुक्तं विलिखेत् पावने दले ॥

ब्रह्मा कः, तस्मात् द्वादशो वर्णः ठकारः । पञ्चम स्वरः उकारः । एवं ठुं इति भवति ।

वर्गाद्यं शान्तसंयुक्तं एकादशसमन्वितम् ।
बिन्दुनादसमायुक्तं न्यसेदीशानदिग्दले ॥

वर्गाद्यः ककारः । शान्तः षः । एकादश एकारः । क्षें इति भवति ।

तद्बाह्ये परितो मन्त्री श्रीबीजं प्रथमावृत्तौ ।
द्वितीयं कामबीजेन शक्तिबीजं तृतीयके ॥
ततो भूगृहमालिख्य प्राङ्मुखः सुप्रसन्नधीः ।
गुरुं संपूज्य यत्नेन वस्त्रधान्यधनादिभिः ॥
गन्धपुष्पाक्षताद्यैश्च यन्त्रं संपूजयेत् प्रिये ।
सहस्रं च जपं कृत्वा सर्वसिद्धिकरं प्रिये ॥
रौप्ये पत्रेऽथ लौहे वा भूर्जे वा लिख्य धारयेत् ॥
श्रीबीजे नाम संलिख्य ठान्तं तद्बाह्यतो लिखेत् ।
बिन्दुयुक्तेन लान्तेन वेष्टयित्वा निरन्तरम् ॥
पुनरष्टदलं पद्मं श्रीँ ह्रीँ प्रतिदलं लिखेत् ।
महामायां त्रिकोणाभ्यां वेष्टयित्वा बहिस्ततः ।
इदं धारयतो नित्यं वर्द्धते श्रीर्न संशयः ॥ इति ॥ १५७-१६० ॥

यदि इस मन्त्र का जप करते हुये राजसभा में जावे तो वह मन्त्रज्ञ उस राजसभा से पूजित होता है । दूर्वा, सहदेवी, महालक्ष्मी, विष्णुकान्ता, मधुव्रता (भृङ्गराज) मुसली, इन्द्रवारुणी, सदाभद्रा (मुस्ता) अञ्जलिप्रिया, हरिचन्दन (पीतचन्दन) कपूर, चन्दन, अङ्कोल, गोरोचन, मालूर (विल्व) केसर (नागकेशर) कुष्ठ इन सब औषधियों को समभाग लेकर निशा (हरिद्रा) के रस में पीस देवे । पुनः उसे हाथ में लेकर १००८ बार इस मन्त्र का जप कर तिलक करे तो सभी लोग सर्वदा उस मन्त्रवेत्ता के वशीभूत हो निवास करते हैं । मन्त्रज्ञ जिस प्रकार जप करे उसी प्रकार श्री सूक्त का भी जप करे ॥ १५७-१६० ॥

कमलोपासकधर्मकथनम्

भूयसीं श्रियमाकाङ्क्षन् सत्यवादी भवेत् सदा ।
प्रत्यगाशामुखोऽश्नीयात् स्मितपूर्वं प्रियं वदेत्॥ १६१ ॥
भूषयेद् गन्धपुष्पाद्यैर्वात्मानं नियतः शुचिः ।
शयीत शुद्धशय्यायां तरुण्या सह नान्यया ॥ १६२ ॥
नग्नो नाऽवतरेदम्भस्तैलाभ्यक्तो न भक्षयेत् ।

हरिद्रां न मुखे लिप्येन्न स्वपेदशुचिः क्वचित् ॥ १६३ ॥
न वृथा विलिखेद्भूमिं न बिल्वं द्रोणमम्बुजम् ।
धारयेन्मूर्ध्नि नैवाऽद्यात् लोणं तैलञ्च केवलम् ॥ १६४ ॥
मलिनो न भवेज्जातु कुत्सितान्नं न भक्षयेत् ।
द्रोणपङ्कजबिल्वानि पद्भ्यां जातु न लङ्घयेत् ॥ १६५ ॥
सहदेवीमिन्द्रवल्लीं श्रीवल्लीं विष्णुवल्लभाम् ।
कन्यां जम्बुं प्रवालञ्च धारयेन्मूर्ध्नि सर्वदा ॥ १६६ ॥

कमलोपासकस्य धर्मानाह भूयसीमिति । प्रत्यगाशामुखः पश्चिमास्यः । तरुण्येति । न च वृद्धया । उक्तं च 'वृद्धा तु कुरुते ज्वरम्' । पञ्चपञ्चाशद्वर्षोपरि स्त्रीणां वृद्धता । नान्ययेत्यनेन एतदुक्तं भवति । यदाहुः—

दुष्टां कष्टान्ववायां कलहकलुषितां मार्गदुष्टामनिष्टा-
मन्यासक्तामसक्तामतिविपुलकृशाङ्गीमतिह्रस्वदीर्घाम् ।
रोगार्त्तां भोगलीलां प्रतिपुरुषचलां राजकान्तामकान्तां
काकाक्षीभेकचारां गृहकुसुमयुतां न स्पृशेदिन्दिरार्थी ॥ इति ॥

द्रोणं गूमा इति कान्यकुब्जभाषायाम् । श्रीदेवी श्रीलता । विष्णुवल्लभा विष्णुक्रान्ता । कन्या घृतकुमारी ॥ १६१-१६६ ॥

अब ग्रन्थकार श्री प्राप्ति के लिये तन्त्र शास्त्रों में कहे गये नियमों का उपदेश करते हैं । अत्यधिक श्री चाहने वाले साधक को सर्वदा सत्य बोलना चाहिए और सदा पश्चिमाभिमुख भोजन करना चाहिए तथा स्मितपूर्वाभिभाषी होना चाहिए ।। १६१ ।।

गन्धपुष्पादिकों से अपने को अलंकृत करना चाहिए तथा नियमों का पालन करते हुये पवित्र रहना चाहिए । शुद्धशय्या पर युवती स्त्री के साथ शयन करना चाहिए अन्यथा (वृद्धादि) स्त्रियों के साथ शयन वर्जित हैं ।। १६२ ।।

नङ्गे होकर जल में स्नान नहीं करना चाहिए । तेल मिश्रित किसी भी पदार्थ का भक्षण नहीं करना चाहिए । हरिद्रा का लेप मुख में न लगावें और अपवित्र होकर किसी भी स्थान में शयन नहीं करना चाहिए ।। १६३ ।।

व्यर्थ पृथ्वी को न कुरेदे । बिल्व, गुमा एवं कमल शिर पर न धारण करे । केवल नमक एवं केवल तेल कभी न खावे ।। १६४ ।।

कभी भी मलिन न रहे । कुत्सित अन्न का भोजन कभी न करे । गुमा, कमल एवं विल्व को पैर से कभी न लाँघे ।। १६५ ।।

सहदेवी, इन्द्रवारुणी, श्रीलता, विष्णुकान्ता तथा घृत कुमारी एवं मूँगा सर्वदा शिर पर धारण करना चाहिए ।। १६६ ।।

इत्याचारपरो नित्यं विष्णुभक्तो दृढव्रतः ।
श्रियमाप्नोति महतीं देवानामपि दुर्लभाम् ॥ १६७ ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचिते शारदातिलके
अष्टमः पटलः समाप्तः ॥ ८ ॥



इत्याचारेति । तन्त्रान्तरोक्ताचारग्रहणम् । तदुक्तं नारायणीये—

न जिघ्रेन्नाक्रमेचाब्जं तद्बीजं न च भक्षयेत् ।
न स्यान्मलिष्ठो न छिन्द्यात् बिल्वं भूमौ शयीत न ॥
लवणामलकं वर्ज्यं नागादित्यतिथौ क्रमात् ।
पञ्चम्यामुत्तरे च स्त्री वर्ज्या प्रत्यङ्मुखोऽशने ॥
बिल्वैर्न मार्जयेत् दन्तान् त्रिसन्ध्यं प्रणमेच्च तान् ।
प्रातर्भक्ष्यास्तिलास्तेन (सेव्या) धार्या लक्ष्मीं च भक्षयेत् ॥
धारयेन्मूर्द्धिन तत्पुष्पमुत्तरे मधुरान्नभुक् ।
पायसं बिल्वबीजं च भक्षयेच्छुक्लपर्वणि ॥ इति ।

प्रयोगसारेऽपि—

धान्य यो गुरु हुताशनराणां न स्वपेदुपरि नाप्यनुवंशं नोत्तरापरशिरा
न च नग्नो नार्द्रपाणिचरणः श्रियमिच्छन् ।
नाभ्यञ्ज्यादपि तैलमेव रजनीं नैवानुलिम्पेन्मुखे ॥ इति ॥ १६७ ॥

॥ इति श्रीराघवभट्टविरचित-शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां
पदार्थादर्शाभिख्यायां अष्टमः पटलः ॥ ८ ॥



लक्ष्मी चाहने वालों को ऊपरोक्त सभी प्रकार के आचारों का पालन करना चाहिए, निरन्तर विष्णु में भक्ति रखनी चाहिए तथा नियमों का कड़ाई से पालन करना चाहिए ॥ १६७ ॥

॥ इस प्रकार शारदातिलक के आठवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय
कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ८ ॥



अथ नवमः पटलः

अथ भुवनेश्वरीप्रकरणम्

अथ वक्ष्ये जगद्धात्रीमधुना भुवनेश्वरीम् ।
ब्रह्मादयोऽपि यां ज्ञात्वा लेभिरे श्रियमूर्जिताम् ॥ १ ॥

एवं सरस्वतीश्रीमन्त्रानुक्त्वा तदन्तर्गतत्वात् एतदनन्तरं भुवनेशीमन्त्रान् वक्तुमारभते अथेति । यां ज्ञात्वा इत्यनेन अस्याः त्र्यक्षरा नानापि भेदाः सूचिताः । तत्र वाक्पुटितत्वं वाक्श्रीपुटितत्वं श्रीकामपुटितत्वं कामश्रीपुटितत्वं ग्रन्थकार एव वक्ष्यति । एवं कामपुटितत्वं श्रीवाक्पुटितत्वं वाक्कामपुटितत्वं कामवाक्पुटितत्वमिति चत्वारो भेदाः स्वयमूहनीयाः । तदुक्तम्—

कामाद्यन्ता प्रभवति यदा सर्वकामेश्वरी सा ।
साद्यन्तश्रीः सुतधनफला वाक्प्रदा वाग्भवेन ॥
एवं व्यस्तैर्विरचितपुटा कामधुक् सा हि शक्तिः । इति ।

अन्यत्रापि—संपुटीकृत्य वा मन्त्री कामबीजेन सुन्दरि ।
अभ्यसन् नियताहारः त्रैलोक्यं वशमानयेत् ॥ इति ।

पद्मपादाचार्यैः प्रणवपुटितत्वं श्रीबीजचतुष्टयपुटितत्वमिति भेदद्वयमन्यदप्युक्तम्। श्रियमूर्जितामिति विनियोगसूचनम् ॥ १ ॥

ग्रन्थकार सरस्वती तथा महाश्री के मन्त्रों को कह कर अब दश महाविद्यान्तर्गत होने से भुवनेश्वरी मन्त्र के कहने का उपक्रम करते हैं—

अब मैं समस्त जगद् की धात्री उन भुवनेश्वरी का वर्णन करता हूँ, ब्रह्मादि देवताओं ने जिन्हें जान कर अत्यन्त जाज्वल्यमान श्री की प्राप्ति की थी ।

विमर्श—भुवनेश्वरी का मन्त्र त्र्यक्षर है किन्तु शास्त्रों में इसके अनेक भेद प्राप्त होते हैं, जैसे वाक्पुटित, वाक् श्रीपुटित, श्रीकामपुटित, कामश्रीपुटित आदि, इसे स्वयं ग्रन्थकार आगे कहेंगें । इसी प्रकार भुवनेश्वरी मन्त्र के कामपुटित, श्रीवाक्पुटित, वाक् कामपुटित तथा कामवाक्पुटित—ये ४ भेद और हैं, जिसे साधक स्वयं ज्ञात करें ॥ १ ॥

भुवनेश्वरीमन्त्रोद्धारः

नकुलीशोऽग्निमारूढो वामनेत्रार्द्धचन्द्रवान् ।
बीजं तस्या यथाख्यातं सेवितं सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥ २ ॥

ऋष्यादिकथनम्

ऋषिः शक्तिर्भवेच्छन्दो गायत्री देवता मनोः ।
कथिता स्वरसङ्गेन सेविता भुवनेश्वरी ॥ ३ ॥

मन्त्रमुद्धरति नकुलीश इति । नकुलीशो हकारः अग्नी रेफः वामनेत्रम् ईकारः अर्द्धचन्द्रो बिन्दुः । एवं मिलित्वा बीजमेकम् । सिद्धिकाङ्क्षिभिः सेवितामित्यनेन अस्य केवलस्यापि सकलपुरुषार्थ साधनता सूचिता । तथा च भुवनेश्वरीपारिजाते-

मत्समः पुरुषो नास्ति त्वत्समा नास्ति चाङ्गना ।
मायाबीजसमो मन्त्रो न भूतो न भविष्यति ॥ इति ॥

शक्तिरिति वशिष्ठपुत्रः । तदुक्तं संहितायाम् 'ऋषिः शक्तिर्वशिष्ठस्य सुतः' इति । हं बीजं ईं शक्तिः । तदुक्तं दशपटल्याम्—

हं बीजम् ईं शक्तिः अस्य इष्टार्थे विनियोजनम् । इति ॥ २-३ ॥

अब मन्त्र के उद्धार का प्रकार कहते हैं—नकुलीश (हकार) अग्नि पर आरूढ़ (रेफ से संयुक्त) बाईं ओर अर्धनेत्र (ईकार) तथा अर्धचन्द्र (बिन्दु) यह भुवनेश्वरी मन्त्र का बीज कहा गया । सिद्धि चाहने वाले लोगों से पूर्वकाल से ही यह सेवित रहा है । इस प्रकार इसका स्वरूप 'ह्रीँ' हुआ ॥ २ ॥

इस मन्त्र के वशिष्ठ पुत्र शक्ति ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, स्वर (ईं) शक्ति हैं तथा 'हं' बीज है तथा भुवनेश्वरी देवता हैं ॥ ३ ॥

षड्दीर्घयुक्तबीजेन कुर्यादङ्गानि षट् क्रमात् ।
संहारसृष्टिमार्गेण मातृकान्यस्तविग्रहः ॥ ४ ॥

मन्त्रन्यासः

मन्त्रन्यासं ततः कुर्याद् देवताभावसिद्धये ।
हृल्लेखां मूर्द्धिन वदने गगनां हृदयाम्बुजे ॥ ५ ॥
रक्तां करालिकां गुह्ये महोच्छुष्मां पदद्वये ।
ऊर्द्ध्वप्राग्दक्षिणोदीच्यपश्चिमेषु मुखेषु च ॥ ६ ॥

षड्दीर्घेति । अत्र तु षडङ्गमन्त्रोद्धारमात्रं कृतम् । न्यासं वक्ष्यति न्यासावसरे । संहारसृष्टिमार्गेणेति । अत्राल्पक्षरत्वात् सृष्टिशब्दस्य पूर्वनिपातः कर्त्तव्यः । स च न कृतः तेन संहारन्यासं कृत्वा सृष्टिन्यासं कुर्यात् । तदुक्तं संहितायाम्—

अकाराद्यर्णपर्यन्तां विपरीतक्रमेण तु ।
गुरूपदेशविधिना मातृकां प्रथमं न्यसेत् ॥
संहारमातृकान्यासो ब्रह्मानन्दरसोज्ज्वलः । इति ।

आचार्या अपि-संहृत्य चोत्पाद्य शरीरमेवम् । इति । पदद्वये इति । एकदैव एकहस्तेनेति ज्ञेयम् अन्यथा मन्त्रावृत्तिप्रसङ्गात् ॥ ४-६ ॥

षट्दीर्घ (आं ईं ऊँ ऐं औं अँ) से युक्त बीज हकार से षडङ्ग न्यास करना चाहिए । तद् यथा ह्रां हृदयाय नमः इति हृदये, ह्रीं नमः शिरसे स्वाहा इति शिरसि' इत्यादि । इस न्यास के पहले साधक को मातृका वर्णों द्वारा संहार तथा सृष्टिमार्ग द्वारा न्यास कर लेना चाहिए ।। ४ ।।

इसके अनन्तर साधक को अपने में देवता भाव की सिद्धि के लिये मन्त्र देवता से न्यास करना चाहिए उसका क्रम इस प्रकार है—हल्लेखायै नमः मूर्ध्नि, गगनायै नमः वदने, रक्तायै नमः हृदये, करालिकायै नमः गुह्ये, महोच्छुष्मायै नमः, पदद्वये । इस प्रकार न्यास करने के पश्चात् अपने में पञ्चमुख की भावना करते हुये, ऊपर, पूर्व, दक्षिण, उत्तर तथा पश्चिम मुखों में भी ओंकारादि ह्रस्व से युक्त बीज मन्त्र से न्यास करे । ओं, ए, उ, इ अं पाँच ह्रस्व हैं इनसे युक्त बीज 'ह्रां हुं ह्रिं ह्रं हुआ । अतः इन्हीं से ऊर्ध्वमुखादि का ध्यान कर हृदय में न्यास करे । इसके बाद पञ्चभूत के समान कान्ति वाली (द्र. १. २१-२२) हल्लेखा, गगना, रक्ता, करालिका तथा महोच्छुष्मा रूप शक्तियों से उन मुखों पर न्यास करे । इसके पश्चात् पूर्वोक्त स्वजाति युक्त अङ्ग मन्त्रों से अङ्गन्यास करना चाहिए ।। ५-७ ।।

सद्यादिह्रस्वबीजाढ्या न्यस्तव्याः भूतसप्रभाः ।
अङ्गानि विन्यसेत् पश्चाज्जातियुक्तानि षट् क्रमात्॥ ७ ॥

सद्यादीति । सद्य ओकारस्तदादयः । पञ्चह्रस्वाः अनेन विलोमप्रकारेण नपुंसकव्यतिरिक्ताः पञ्चह्रस्वा गृह्यन्ते । ओ ए उ इ अ सद्यादि ह्रस्वा यस्मिन् एवं भूतं यद्बीजं तदाढ्या इति सम्प्रदायविदः । तेन ह्रों ह्रें ह्रुं ह्रिं ह्रं इति बीजानि भवन्ति ।

गूढार्थदीपिकाकारस्तु ओ ए ऌ ऋ उ इमान् पञ्चह्रस्वान् उक्तवान् । तन्न । सर्वत्राग्रेऽपि सम्प्रदायानुसारेण सद्यादिग्रहणे नपुंसकव्यतिरिक्तानामेव ग्रहणात् । यत् तु केचन स्वरमात्रं बीजत्वेनाहुः तदपि न । बीजशब्दोपादानवैयर्थ्यात् । उक्तञ्च दशपटल्याम्—

सद्योष्ठश्रुतिनेत्राद्यैर्विद्यां संभेद्य मन्त्रवित् । हल्लेखादीन् प्रविन्यस्येत् ॥ इति ।

भूतसप्रभा इति । पृथिव्यादिक्रमेणेत्यर्थः तेन हल्लेखा पीता गगना विशदा रक्ता रक्ता महोच्छुष्मा कृष्णा करालिका स्वच्छेति । अङ्गानीति । पूर्वोक्तैः स्वजातिभिरङ्गमन्त्रैरित्यर्थः । अतएव पश्चादिति । तदुक्तमाचार्यैः—

हल्लेखाख्यां गगनां रक्तां च करालिकां महोच्छुष्माम् ।
मूर्द्धनि वदने हृदये गुह्ये पादयोर्न्यस्येत्तदङ्गैश्च ॥ इति ॥ ७ ॥

योनिन्यासः

ब्रह्माणं विन्यसेद् भाले गायत्र्या सह संयुतम् ।
सावित्र्या संयुतं विष्णुं कपोले दक्षिणे न्यसेत् ॥ ८ ॥
वागीश्वर्या समायुक्तं वामगण्डे महेश्वरम् ।
श्रिया धनपतिं न्यस्येद् वामकर्णाग्रके पुनः ॥ ९ ॥

रत्या स्मरं मुखे न्यस्य पुष्ट्या गणपतिं न्यसेत् ।
सव्यकर्णोपरि निधी कर्णगण्डान्तरालयोः ॥ १० ॥
न्यस्तव्यौ वदने मूलं भूयश्चैतांस्तनौ न्यसेत् ।
कण्ठमूले स्तनद्वन्द्वे वामांसे हृदयाम्बुजे ॥ ११ ॥
सव्यांसे पार्श्वयुगले नाभिदेशे च देशिकः ।
भालांसपार्श्वजठरे पार्श्वांसापरके हृदि ॥ १२ ॥
ब्रह्माण्याद्यास्ततो न्यस्या विधिना प्रोक्तलक्षणाः ।
मूलेन व्यापकं देहे न्यस्य देवीं विचिन्तयेत् ॥ १३ ॥

योनिन्यासमाह ब्रह्माणमिति । तत्र हां ह्रीं हूं इति गायत्र्यादीनां बीजानि । हं हिं हुं इति ब्रह्मादीनाम् । अन्येषां स्वस्वबीजानि । निध्योराद्यक्षरं बीजमिति ज्ञेयम् । तत्र प्रयोगः । हां गायत्रीसहिताय हं ब्रह्मणे नम इत्यादि । शक्तिनामादित्वं पूजायां स्फुटीभविष्यति । वामकर्णाग्रके वामकर्णोपरि । शास्त्रे वृक्षवत् व्यवहारात् । सव्यकर्णोपरि दक्षकर्णोपरि । वामस्य पूर्वमुक्तेः । निधी श्रीपटलोक्तस्वरूपौ सशक्तिकौ । कर्णगण्डान्तरालयोरिति दक्षवामयोः । मूलं मूलमन्त्रम् । वदन इति तदेकदेशचिबुकं लक्ष्यते । एतानिति ब्रह्मादीन् मूलान्तान् । अयमेव साम्प्रदायिकः पाठः । केचन एतां तनौ न्यसेदिति पठन्ति । तन्मते एतां भुवनेशीं कण्ठादिषु नवसु स्थानेषु न्यसेत् । स्तनद्वन्द्वे दक्षवामे । सव्यांसे दक्षिणांसे । यद्यपि 'वामं शरीरे सव्यं स्यात्' इति कोषः । तथाप्यत्र सव्यशब्देन दक्षिण एव गृह्यते । वामस्य पूर्वं पृथगुक्तेः । तथा च शैवागमे 'विन्यसेत् सव्यवामयोः' इति बहुषु स्थलेषु व्यवहारः । 'सव्यं दक्षिणवामयोः' इति कोषान्तरं च । पार्श्वयुगले दक्षवामे । देशिक इत्यनेन सबीजत्वमुक्तम् । भालांसेति मातृकान्यासस्थानम् । अंसपार्श्वे वामगते । पार्श्वांसौ दक्षिणौ । अपरकं ककुत् । यद्यप्यपरगलशब्देन ककुदुच्यते तथाप्यत्र भीमो भीमसेन इतिवत् प्रयोगः । तदुक्तमाचार्यैः—

अलिकांसपार्श्वकुक्षिषु पार्श्वांसापरगलहृत्सु च क्रमशः ।
ब्रह्माण्याद्या विधिवत् न्यस्तव्या मातरोऽष्ट मन्त्रितमैः ॥

विधिनेति स्वबीजाद्याः । प्रोक्तलक्षणा मातृकापटलोक्तध्यानाः । व्यापकमिति कराभ्यां मस्तकाद्यापादाङ्गुष्ठम् ॥ ८-१३ ॥

गायत्री सहित ब्रह्मदेव को उनके बीज मन्त्रों से युक्त कर मस्तक में न्यास करना चाहिए ।

अब गायत्री आदि का बीज मन्त्र कहते हैं—हाँ गायत्री का, ह्रीं सावित्री का, तथा हूँ वागीश्वरी का बीज मन्त्र है । इसी प्रकार हं हिं हुँ, ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर का बीज मन्त्र है । उसका प्रयोग इस प्रकार करे—हाँ गायत्री सहिताय हं ब्रह्मणे नमः इति भाले, ह्रीं सावित्री सहिताय हिं विष्णवे नमः इति कपोले, हूँ वागीश्वरी सहिताय हुँ महेश्वराय नमः वामगण्डे । इसी प्रकार बीजयुक्त श्री के सहित बीजयुक्त कुबेर का वामकर्ण में, रति युक्त काम से मुख में, पुष्टि के सहित

गणपति से दाहिने कान पर, बीज और शक्ति सहित शङ्ख निधि तथा बीज शक्ति सहित पद्मनिधि से दोनों कान तथा गण्ड के बीच भाग में न्यास कर मुख में मूल मन्त्र का न्यास करे। पुनः ऊपर कहे गये शक्ति सहित ब्रह्मा से लेकर मूल मन्त्र पर्यन्त अथवा केवल भुवनेश्वरीं (ह्रीं) मन्त्र से शरीर के कण्ठमूल, दोनों स्तन, वामांस, हृत्कमल, दाहिना कन्धा, दोनों पार्श्व तथा नाभि इन स्थानों में न्यास करे। इसके बाद आचार्य भाल, अंस, पार्श्वभाग, जठर, अपर पार्श्व और ऊपर अंस तथा हृदय में पूर्व में कही गयी विधि के अनुसार ब्रह्मादि देवताओं का न्यास कर मूल मन्त्र से व्यापक करते हुये देवी का इस प्रकार से ध्यान करे।

विमर्श—उपर्युक्त सभी शक्ति सहित देवताओं का आगे चल कर ९. २३-३३ में स्पष्टीकरण हो जायगा ॥ ८-१३ ॥

भुवनेशीध्यानम्। पुरश्चरणादिकथनम्

उद्यद्दिनद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम्।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजेत् भुवनेशीम् ॥१४॥

ध्यानमाह उद्यदिति। इनः सूर्यः। रक्तपद्मस्थाम् इत्यपि। आयुधध्यानं वामाधो-हस्ते वरं दक्षिणोर्द्ध्वे अङ्कुशम्। वामोर्द्ध्वे पाशं दक्षाधोऽभयमिति सम्प्रदायविदः। तदुक्तं महासम्मोहने—

दक्षिणे चाङ्कुशं दद्याद् वामे पाशं प्रदापयेत्।
वरदं वामतो दद्यादभयं दक्षिणे करे ॥ इति ॥ १४ ॥

उदीयमान सूर्य के समान प्रकाश युक्त चन्द्रकिरीट वाली, उत्तुङ्ग स्तनो एवं तीन नेत्रों वाली भुवनेश्वरी का भजन करना चाहिए, जिनके मुख प्रदेश पर मन्द मन्द स्मित शोभित है तथा जिन्होंने अपने हाथों में वर-अंकुश-पाश तथा अभय मुद्रा धारण किया है ॥ १४ ॥

प्रजपेन्मन्त्रविन्मन्त्र द्वात्रिंशल्लक्षमानतः।
त्रिस्वादुयुक्तैर्जुहुयादष्टद्रव्यैर्दशांशतः ॥ १५ ॥

प्रजपेदिति मन्त्रार्थानुसन्धानपूर्वकम् हरिहरात्मकप्रकृतिपुरुषाकारेण अवस्थि-ताया आद्यशक्तेः प्रतिपादकोऽयं मन्त्रः। अतएव भुवनेशीति नाम।

तदुक्तम्— हरित्वाच्च हरत्वाच्च पुंप्रकृत्योस्तु युक्तयोः।
शिलष्टोच्चारितमेवेदं शब्दं तद्रूपमीरितम् ॥ इति।

संहितायान्तु— व्योमबीजे महेशानि कैलासादि प्रतिष्ठितम्।
वह्निबीजात् सुवर्णादि निष्पन्नं बहुधा प्रिये ॥
तेनायं वर्त्तते लोके भूमण्डल समास्थितः।
तुर्यस्वरेण पाताले शेषरूपेण धार्यते ॥
महाभूमण्डलं तस्मात् पातालस्यापि नायिका।
अतएव महेशानी भुवनाधीश्वरी प्रिये ॥

हकारे व्योम तुर्येण स्वरेणाऽनिलसम्भवः
विकारे सति रेफेण साक्षाद् वह्निस्वरूपिणी ॥
वह्नेर्वीर्यं वसु ज्ञेयं तस्माद् रेफो वसुन्धरा ।
अतएव महेशानि रलयोः सम्मता भवेत् ॥
बिन्दुचक्रामृताद् देवी प्लावयन्ती जगत्त्रयम् ।
द्रवरूपा भवेत् तस्मात् द्रवन्ती चार्द्धमात्रया ॥
अतएव महेशानी भुवनेशीति कथ्यते । इति ।

मन्त्रविदित्यनेन हसकलयोगः । मोक्षार्थं प्रणवयोगोऽपि सूचितः । यद्वा तन्त्रान्तरोक्तं पुरश्चरणम् । यथा—

एकलिङ्गे शिवागारे दक्षिणां मूर्त्तिमाश्रितः ।
बद्धपद्मासनो भस्मस्नायी च कुशविष्टरः ॥
कृष्णाष्टमीं समारभ्य यावत् स्यात् तच्चतुर्दशी ।
नित्यमिष्ट्वा शिवं शक्तिं जपेन्मन्त्रं सहस्रकम् ॥
दधिक्षौद्रघृताभ्यक्ता व्याघातसमिधो हुनेत् ।
ततः साग्रं सहस्रं च ध्यायेत् सर्वेश्वरीमुमाम् ॥ इति ।

त्रिःस्वादुयुक्तैः त्रिमधुरोपेतैः । तदुक्तं प्रयोगसारे—

पयोमधुघृतं चेति समं त्रिमधुरं स्मृतम् । इति ।

अन्ये पयः स्थाने शर्करामाहुः—

जपाद्दशांशं जुहुयादथाष्टद्रव्यैर्गुडक्षौद्रघृतावसिक्तैः । इति ।

तट्टीकाकारैः गुडः शर्करेति व्याख्यातम् । अष्टद्रव्यैरिति मातृकापटलोक्तैः ॥ १५ ॥

इस प्रकार ध्यान करने के पश्चात् मन्त्रवेत्ता उपर्युक्त मन्त्र का ३२ लाख जप करे तथा त्रिमधुर (दूध, घी, मधु) युक्त अष्टद्रव्यों (द्र. ६. ७२) से उसका दशांश हवन करे ।

विमर्श—आद्यशक्ति का प्रतिपादक यह मन्त्र हरिहरात्मक तथा प्रकृति पुरुषात्मक है इसलिये इनका नाम भुवनेशी है, ऐसे भगवती के माहात्म्य का भी मन में ध्यान रखे ॥ १५ ॥

भुवनेशीपूजायन्त्रम् । पूजाविधिः

दद्यादर्घ्यं दिनेशाय तत्र सञ्चिन्त्य पार्वतीम् ।
पद्ममष्टदलं बाह्ये वृत्तं षोडशभिर्दलैः ॥ १६ ॥
विलिखेत् कर्णिकामध्ये षट्कोणमतिसुन्दरम् ।
ततः संपूजयेत् पीठं नवशक्तिसमन्वितम् ॥ १७ ॥
जयाख्या विजया पश्चादजिता चाऽपराजिता ।
नित्या विलासिनी दोग्ध्री अघोरा मङ्गला नव ॥ १८ ॥

दद्यादिति मूलेन । तत्रेति सूर्यमण्डले । इयं सौरी शक्तिरिति कृत्वा अत्रार्घ्यदान-प्राधान्यादत्रोक्तिः । परन्तु सर्वमन्त्रेषु तत्तन्मन्त्रदेवतां सूर्यमण्डले संचिन्त्य सूर्यमण्डले सूर्यायार्घ्यः कर्त्तव्य इति ज्ञेयम् । तन्मया सन्ध्याकथनावसरे उक्तम् । अत्र ध्यानानन्तरम् आयुधपुस्तकज्ञानयोनिबीजमुद्राः प्रदर्शयेत् । यदाहुः—

एवं शक्तिं परां ध्यात्वा सम्यक् मुद्राः प्रदर्शयेत् ।
पाशाङ्कुशाभयाभीष्टपुस्तकज्ञानयोनयः ॥ इति ।

तत्र पाशमुद्रालक्षणं यथा—

वाममुष्टिस्थतर्जन्या दक्षमुष्टिस्थतर्जनीम् ।
संयोज्याऽङ्गुष्ठकाग्राभ्यां तर्जन्यग्रे स्वके क्षिपेत् ।
एषा पाशस्य मुद्रेति विद्वद्भिः परिकीर्त्तिता ॥ इति ।

शेषमुद्रालक्षणानि मया पूर्वमुक्तानि । बीजमुद्रा गुरुमुखादवगन्तव्या । अत्र स्वपूजासाधनप्रोक्षणमन्त्रोऽयं ज्ञेयः ।

प्रणवो वाग्भवो माया श्रीबीजं परमामृतम् ।
रूपे भगवति प्रोक्त्वा चन्द्रमण्डलवासिनि ॥
चन्द्रामृतेन पुरयद्वितयं द्रव्यमित्यपि ।
इदं पवित्रयद्वन्द्वं श्रीमायावाक्द्विठस्ततः ॥
तेनामृतेन सम्प्रोक्ष्येदात्मानं साधनानि च । इति ।

पूजायन्त्रमाह पद्ममिति । षट्कोणमिति ऊर्द्धाधोऽग्रत्रिकोणे परस्परभेदिते । अतिसुन्दरमित्यनेन यथा समं भवति तथा कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति । तत्र त्रिकोणादीनां समत्वे प्रकार उच्यते—

हित्वा वृत्तप्राग्गुणाङ्घ्रिं तिर्यगन्यौ तु पार्श्वयोः ।
त्र्यराः षट् त्वन्यतोऽप्येवं द्वादशारा उदीच्यपि ॥ इति ।

समं प्राचीसूत्रं कृत्वा तन्मध्यमालम्ब्य यथोप्सितं वृत्तं कृत्वा तत्र प्राचीसूत्रं चतुर्धा विभजेत् । एकस्मादग्रात् तुर्यांशं सन्तज्य एकं तिर्यक्सूत्रं पातयेत् । पार्श्वयोः सूत्रद्वयदानात् त्र्यस्त्रम् । एवमन्यतोऽपि कृते षडस्त्रम् । एवम् उदग्दक्षिणतः कृते द्वादशास्त्रमित्यर्थः । वृत्तप्रमाणमाचार्यैरुक्तम्—

षडङ्गुलप्रमाणेन वर्त्तुलं कर्त्तुरालिखेत् ।
षडङ्गुलावकाशेन तद्बहिश्च प्रवर्त्तयेत् ॥
वर्त्तुलं तावता भूयस्तद्बहिश्च तृतीयकम् ।
मध्यवर्त्तुलमध्ये तु हृल्लेखाबीजमालिखेत् ॥
द्वितीयं वर्त्तुलाश्लिष्टमीषत्श्लिष्टषडस्त्रकम् ।
पुटितं मण्डलं वह्नेरस्पृशत् मध्यवर्त्तुलम् ॥
इन्द्राग्निरक्षोवरुण वायुवीशान्तास्त्रकं लिखेत् । इति ।

अत्रोपरिवृत्तद्वयमपि षट्कोणसमत्वानयनायैव इति ज्ञेयम् । एतदुपरि चतुरस्त्रञ्च ज्ञेयम् । अन्त्यशक्तिमन्त्रपूजायन्त्रे तथोक्तेः । चतुर्द्वारमित्यपि । तस्य साधारणत्वात् अत्र नोक्तिः। तत इति नित्यजपानन्तरमित्यर्थः। अन्तर्यागानन्तरं तस्य कृतत्वात् ॥१६-१८॥

होम करने के पश्चात् सूर्यमण्डल में पार्वती का ध्यान करते हुये सूर्यार्घ्य प्रदान करे। पश्चात् अन्तर्याग कर पूजा के लिये यन्त्र निर्माण करे।

विमर्श—भुवनेश्वरी सौरी शक्ति हैं अत: इनकी उपासना में अर्घदान का विधान प्रधानत्वेन निर्देश किया गया है। इससे यह बात सूचित होती है कि जिस देवता का मन्त्रजप तथा होम करे, उस देवता का सूर्य में ध्यान करते हुये अर्घ्य भी देवे।

अब **यन्त्र के निर्माण का प्रकार** कहते हैं—अष्टदल कमल बनाकर उसके बाहर षोडशदल युक्त वृत्त का निर्माण करे ॥ १६ ॥

पुनः कर्णिका के मध्य में अत्यन्त मनोहर समकोण युक्त षट्कोण लिखे। उस पर नवों शक्तियों से युक्त पीठ (आसन) का पूजन करे ॥ १७ ॥

अब इन नव शक्तियों के नाम को कहते हैं—१. जया, २. विजया, ३. अजिता, ४. अपराजिता, ५. नित्या, ६. विलासिनी, ७. दोग्ध्री, ८. अघोरा और ९. मङ्गला—ये नव शक्तियाँ हैं ॥ १८ ॥

बीजाद्यमासनं दत्वा मूर्त्तिं तेनैव कल्पयेत्।
तस्यां संपूजयेद्देवीमावाह्यावरणैः सह ॥ १९ ॥

पीठमन्त्रः

मध्यप्राग्याम्यसौम्येषु पश्चिमेषु यथाक्रमम्।
हृल्लेखाद्याः समभ्यर्च्याः पञ्चभूतसमप्रभाः॥ २० ॥

अङ्गदेवताध्यानम्

वरपाशाङ्कुशाभीतिधारिण्योमितभूषणाः।
स्थानेषु पूर्वमुक्तेषु पूजयेदङ्गदेवताः॥ २१ ॥

पीठमन्त्रमुद्धरति बीजाद्यमिति। तत्र प्रयोगः। मूलबीजमुचार्य सर्वशक्तिकमलासनाय नम इति। तदुक्तम्—

सर्वशक्तिपदं प्रोच्य ङेऽन्तं च कमलासनम्।
नम इत्यासनं पूज्य तत्तद्बीजादिकं शिवे ॥ इति।

अयं पीठमन्त्रः सर्वभुवनेशीमन्त्रसाधारण इति ज्ञेयम्। अस्याः पद्मं रक्तं ध्येयम्। तदुक्तं प्रयोगसारे—

रक्ताम्भोजं समाधाय रत्नसिंहासनोपरि। तत्रावाह्य हृदा देवीम्। इति।

तेनैवेति। मध्यादि एता यथाक्रमं समभ्यर्च्या इत्यन्वयः। आदि- शब्दार्थमाह प्रागिति। हृल्लेखाद्या इति यथान्यस्ताः। आसामायुधध्यानं देवीवत्।

पूर्वमुक्तेषु चतुर्थपटलोक्तेषु आग्नेयादिषु। तानि आग्नेयादीनि कर्णिकान्तःस्थानि इति ज्ञेयम्। अङ्गानि केसरेषु इति यद्वक्ष्यमाणं ग्रन्थकृता सामान्योक्तस्य

अनुवादः कृतः अयमाशयः । अङ्गानि केसरेष्विति अन्यत्र । इह तु कर्णिकायामेव पूजेति । तदुक्तमाचार्यैः—

हृल्लेखाद्यास्तदनु च पूर्ववदङ्गानि पूजनीयानि । इति ।

केचित्तु उभयत्र षडङ्गन्यासस्थलद्वयेऽप्यङ्गपूजनम् इत्याहुः । तच्च प्रपञ्च-सारादिविरुद्धम् ॥ १९-२१ ॥

अब **पीठ मन्त्र का उद्धार** कहते हैं—मूल बीज (ह्रीं) का उच्चारण कर पश्चात् 'कमलासनाय नमः' उच्चारण कर आसन देवे और उसी मन्त्र से मूर्त्ति की कल्पना भी करे । इस प्रकार से पूजित पीठ पर आवरणों के सहित देवी का पूजन करे ॥ १९ ॥

यन्त्र के मध्य, पूर्व, दक्षिण, उत्तर तथा पश्चिम में पञ्चमहाभूतों के जैसे वर्ण वाली हृल्लेखा आदि (द्र. ९. ५-६) पञ्चशक्तियों का पूजन करे ॥ २० ॥

ये सभी शक्तियाँ अपने हाथों में वर, पाश, अंकुश तथा अभय धारण की हैं । तदनन्तर पूर्व में कहे गये (द्र. ४. ११०) अग्नि, नैर्ऋत्य, वायव्य तथा ईशान कोण रूप स्थानों में अङ्ग देवता का पूजन करे ॥ २१ ॥

षट्कोणेषु यजेन्मन्त्री पश्चान्मिथुनदेवताः ।
इन्द्रकोणे लसद्दण्डकुण्डिकाक्षगुणाभयाम् ॥ २२ ॥
गायत्रीं पूजयेन्मन्त्री ब्रह्माणमपि तादृशम् ।
रक्षःकोणे शङ्खचक्रगदापङ्कजधारिणीम् ॥ २३ ॥
सावित्रीं पीतवसनां यजेद्विष्णुञ्च तादृशम् ।
वायुकोणे परश्वक्षमालाभयवरान्विताम् ॥ २४ ॥
यजेत् सरस्वतीमित्थं रुद्रं तादृशलक्षणम् ।
वह्निकोणे यजेद्रत्नकुम्भं मणिकरण्डकम् ॥ २५ ॥
कराभ्यां बिभ्रतं पीतं तुन्दिलं धननायकम् ।
आलिङ्ग्य सव्यहस्तेन वामेनाम्बुजधारिणीम् ॥ २६ ॥
धनदाङ्कसमारूढां महालक्ष्मीं प्रपूजयेत् ।
वारुणे मदनं वाणपाशाङ्कुशशरासनम् ॥ २७ ॥
धारयन्तं जवारक्तं पूजयेद्रत्नभूषणाम् ।
सव्येन पतिमाश्लिष्य वामेनोत्पलधारिणीम् ॥ २८ ॥
पाणिना रमणाङ्कस्थां रतिं सम्यक् समर्चयेत् ।
ऐशाने पूजयेत् सम्यग्विघ्नराजं प्रियान्वितम् ॥ २९ ॥
सृणिपाशधरं कान्तावराङ्गस्पृक्कराङ्गुलिम् ।
माध्वीपूर्णकपालाढ्य विघ्नराज दिगम्बरम् ॥ ३० ॥

पुष्करे विगलद्रत्नस्फुरच्चषकधारिणम् ।
सिन्दूरसदृशाकारामुद्दाममदविभ्रमाम् ॥ ३१ ॥
धृतरक्तोत्पलामन्यपाणिना तु ध्वजस्पृशम् ।
आश्लिष्टकान्तामरुणां पुष्टिमर्चेद्दिगम्बराम् ॥ ३२ ॥

अथ पूजाप्रकारः । प्रथममूर्द्धाग्रत्रिकोण कोणेषु प्रादक्षिण्येन पश्चादीशानान्तां पूजामभिदधदधराग्रत्रिकोणकोणेषु प्रादक्षिण्येन पूजामाह षट्कोणेष्विति ।

अतएवेत्युक्तिः । वामोर्द्धादि आद्ये दक्षोर्द्धादि अपरे इत्यायुधध्यानम् । गायत्र्यां दक्षवामयोरूर्द्धयोः आद्ये अधस्थयोः परे इति । सावित्र्यां वामोर्द्धात् वामाधस्तनं यावत् । सरस्वत्यां रत्नकुम्भो वामेऽन्यो दक्षिणे । धननायके दक्षिणाधस्तात् वामाधः पर्यन्तम् । मदने वामदक्षयोः ऊर्द्धयोः अङ्कुशपाशौ । कान्तावराङ्गस्पृगिति अधोवामेन। माध्वीत्यादि दक्षिणाध इति विघ्नराजे । पुष्करं करिहस्ताग्रे । उद्दामेत्यादि शक्तिध्यानम्। धृतरक्तोत्पलमिति दक्षिणेन । अन्येनेति वामेन ॥ २२-३२ ॥

इसके अनन्तर मन्त्रज्ञ साधक षट्कोण में ऊपर के कोण से प्रारम्भ कर नीचे के कोणों तक मिथुन देवता का इस प्रकार पूजन करे । ऊपर इन्द्रकोण में दण्ड, कुण्डिका, माला तथा अभय हाथों में धारण करने वाली **गायत्री** तथा इसी प्रकार अपने हाथों में उक्त पदार्थों को धारण करने वाले **ब्रह्मदेव** का पूजन करे ॥ २२-२३ ॥

नैर्ऋत्य कोण में अपने हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण करने वाली पीतवसना **सावित्री** एवं उसी प्रकार के **विष्णु** का पूजन करे ॥ २३-२४ ॥

पुनः वायु कोण में परशु अक्षमाला, अभय तथा वर धारण करने वाली **सरस्वती** तथा उसी प्रकार के **रुद्र** का पूजन करे ॥ २४-२५ ॥

आग्नेयकोण में रत्न कुम्भ तथा मणि का बना हुआ पिटारा अपने दोनों हाथों में लिये हुये, पीत शरीर, एवं तुन्दिल **कुबेर** तथा दाहिने हाथ से उनका आलिङ्गन किये बायें हाथ में कमल धारण करने वाली, कुबेर की गोद में बैठी हुई **महालक्ष्मी** का पूजन करे ॥ २५-२७ ॥

पुनः पश्चिम में बाण पाश, अंकुश तथा शरासन हाथों में धारण किये, जवा के समान रक्तवर्ण वाले रत्नाभूषणों से भूषित कामदेव तथा दाहिने हाथ से पति का आलिङ्गन किये बायें हाथ में कमल धारण करने वाली अपने पति के गोद में विराजमान रति का भी सम्यक् पूजन करे ॥ २७-२९ ॥

पुनः ईशानकोण में अपनी प्रिया **पुष्टि** के साथ स्थित विघ्नराज गणेश का पूजन करे । अंकुश और पाश धारण किये अपनी अङ्गुलियों से स्त्री के वराङ्ग का स्पर्श किये हुये माध्वीक पूर्ण कपाल हाथों में लिये दिगम्बर **विघ्नराज गणेश** जो पुष्कर (कुम्भ) से निकले हुये रत्नों को चषक (पान पात्र) में धारण कर रहे हैं इस प्रकार के गणपति तथा सिन्दूर के सदृश आकार वाली, मद के कारण उत्कट

विलासों से युक्त, हाथ में कमल धारण किये, ध्वज (लिङ्ग) का स्पर्श किये पति का आलिङ्गन करने वाली दिगम्बरा **पुष्टि** का अर्चन करे ॥ २९-३२ ॥

कर्णिकायां निधी पूज्यौ षट्कोणस्याऽथ पार्श्वयोः ।
अङ्गानि केसरेष्वेताः पश्चात् पत्रेषु पूजयेत् ॥ ३३ ॥
अनङ्गकुसुमा पश्चादनङ्गकुसुमातुरा ।
अनङ्गमदना तद्वदनङ्गमदनातुरा ॥ ३४ ॥
भुवनपाला गगनवेगा चैव ततः परम् ।
शशिरेखाऽथ गगनरेखा चेत्यष्ट शक्तयः ॥ ३५ ॥
पाशाङ्कुशवराभीतिधारिण्योऽरुणविग्रहाः ।
ततः षोडशपत्रेषु कराली विकराल्युमा ॥ ३६ ॥
सरस्वती श्रीर्दुर्गोषा लक्ष्मीश्रुत्यौ स्मृतिर्धृतिः ।
श्रद्धा मेधा मतिः कान्तिरार्या षोडश शक्तयः ॥ ३७ ॥
खड्गखेटकधारिण्यः श्यामाः पूज्याश्च मातरः ।
पद्माद् बहिः समभ्यर्च्याः शक्तयः परिचारिकाः ॥ ३८ ॥
प्रथमाऽनङ्गरूपा स्यादनङ्गमदना ततः ।
मदनातुरा भुवनवेगा भुवनपालिका ॥ ३९ ॥
स्यात् सर्वशिशिरानङ्गवेदनाऽनङ्गमेखला ।
चषकं तालवृन्तञ्च ताम्बूलं छत्रमुज्ज्वलम् ॥ ४० ॥
चामरे चांशुकं पुष्पं बिभ्राणा करपङ्कजैः ।
सर्वाभरणसन्दीप्तान् लोकपालान् बहिर्यजेत् ॥ ४१ ॥
वज्रादीन्यपि तद्बाह्ये देवीमित्थं प्रपूजयेत् ।
पूज्यते सकलैर्देवैः किं पुनर्मनुजोत्तमैः ॥ ४२ ॥
मन्त्री त्रिमधुरोपेतैर्हुत्वाऽश्वत्थसमिद्वरैः ।
ब्राह्मणान् वशयेच्छीघ्रं पार्थिवान् पद्महोमतः ॥ ४३ ॥
पलाशपुष्पैस्तत्पत्नीर्मन्त्रिणं कुमुदैरपि ।
पञ्चविंशतिसञ्जप्तैर्जलैः स्नानं दिने दिने ॥ ४४ ॥
आत्मानमभिषिञ्चेद् यः सर्वसौभाग्यवान् भवेत् ।
पञ्चविंशतिसञ्जप्तं जलं प्रातः पिबेन्नरः ॥ ४५ ॥
अवाप्य महतीं प्रज्ञां कवीनामग्रणीर्भवेत् ।
कर्पूरागुरुसंयुक्तं कुङ्कुमं साधु साधितम् ॥ ४६ ॥
गृहीत्वा तिलकं कुर्याद्राजवश्यमनुत्तमम् ।
शालिपिष्टमयीं कृत्वा पुत्तलीं मधुरान्विताम् ॥ ४७ ॥

जप्तां प्रतिष्ठितप्राणां भक्षयेद्रविवासरे ।
वशं नयति राजानं नारीं वा नरमेव वा ॥ ४८ ॥
कण्ठमात्रोदके स्थित्वा वीक्ष्य तोयगतं रविम्।
त्रिसहस्रं जपेन्मन्त्रमिष्टां कन्यां लभेन्नरः।
अन्नं तन्मन्त्रितं मन्त्री भुञ्जीत श्रीप्रसिद्धये ॥ ४९ ॥
लिखित्वा भस्मना मायां ससाध्यां फलकादिषु ।
तत्काले दर्शयेद्यन्त्रं सुखं सूयेत गर्भिणी ॥ ५० ॥

कर्णिकायामिति पद्मकर्णिकायाम् । निधी इति यथान्यस्तौ । एता इति अनन्तरं वक्ष्यमाणाः अनङ्गकुसुमाद्याः । आसां ध्यानं देवीवत् ज्ञेयम् । खेटकम् फरी इति कान्यकुब्जभाषायाम् । श्यामा इत्यन्तं पूर्वशक्तिध्यानम् । पूज्याश्चेति चकारो भिन्नक्रमः । मातर इत्येतदनन्तरं द्रष्टव्याः । मातरश्चेति चकारात् वक्ष्यमाणशक्तयश्च । तेन मातरो यथान्यस्ताः पद्माद्बहिः पूज्याः । पद्माद्बहिः परिचारिका अपि अष्टदिक्षु । एता द्विभुजा वामहस्ते रक्तोत्पलं परहस्ते चषकादि । तदुक्तं प्रयोगसारे

रक्ता रक्तोज्ज्वलाकल्पा रक्तान्तायतलोचनाः ।
रक्तोत्पलकरा ध्येयाः सुन्दराः परिचारिकाः ॥

अत्र सर्वत्र तर्पणादीनामन्येषामप्यङ्गनां सत्त्वात् यत् ध्यानपूजाजपहोमानेवाह तेनैषां नित्यकर्त्तव्यत्वं सूचितम् । तदुक्तं पिङ्गलामते—

नाध्यातो नार्चितो मन्त्रः सुसिद्धोऽपि प्रसीदति ।
नाजप्तः सिद्धिदाने च्छुर्नाहुतः फलदो भवेत् ॥
पूजां ध्यानं जपं होमं तस्मात् कर्मचतुष्टयम् ।
प्रत्यहं साधकः कुर्यात् स्वयञ्चेत् सिद्धिमिच्छति ॥
जपश्रान्तः शिवं ध्यायेत् ध्यानश्रान्तः पुनर्जपेत् ।
जपध्यानसमायुक्तः शीघ्रं सिध्यति मन्त्रवित् ॥ इति ।

षट्कोणेषु यजेत् मन्त्री इत्यत एतदन्तं मन्त्रीति कर्त्तृपदमनुवर्त्तते । तेन चैतन्मन्त्रं समयाचारज्ञत्वेनैव सूचितम् । यदाहुः—

योगेशो सिद्धिमन्विच्छन् सद्व्रतानि समाचरेत् ।
नाऽद्यादनर्चयन् देवीं नैव स्यान्मलिनाकृतिः ॥
नाऽसत्यं प्रवदेत् किञ्चिन्नोपेयाद्विधवां क्वचित् ।
धारयेत् सर्वतो रम्यं रक्तालङ्कारमन्वहम् ॥
कन्यां रक्तदिने रक्तां यजेद्देवीमनुस्मरन् ।
अशुद्धो विचरेन्नैव विविक्ते शयने स्वपेत् ॥
न निन्दयेत् स्त्रियं जातु विशेषेण तु कन्यकाम् ॥ इति ।

देवीमित्यं प्रपूजयेत् इत्यनेन एतदुक्तं भवति । आवरणेषु षोडशशक्त्यनन्तरं द्वात्रिंशच्छक्तयस्तदनन्तरं चतुःषष्टिशक्तयोऽर्च्या इति । ताश्च भूतलिपिमन्त्रे उक्ता ज्ञेयाः । तत्फलमेवाह पूज्यते सकलैर्दैवैरिति । किं पुनः मनुजोत्तमैरित्यनेन एतदुक्तं भवति ।

स्वोक्तं मध्ये यदनङ्गकुसुमाद्यष्टशाक्त्यावरणं तदन्तस्य फलम् । मनुजेति । ततो यत् षोडशशक्त्यावरणं तदेतस्य फलम् तदुत्तमैरिति । तदुक्तं महासम्मोहने—

चतुर्भिर्वा त्रिभिर्वापि द्वयेनैकेन वा पुनः ।
सर्वैरावरणैरेवं भोगार्थी विस्तरं यजेत् ॥ इति ।

तथा गर्भावरणं बाह्यानां मध्ये तेषां प्रपूजनमिति तत्रैव । तेनास्याः सप्तावरणादारभ्य एकादशावरणान्ता पूजेति सूचितम् । एवं पञ्चावरणा षडावरणापि इत्यपि मन्त्री इत्यनेनैतदुक्तं भवति—

सिद्धः प्रसिद्धस्तेजस्वी त्यागी योगी जितेन्द्रियः ।
सर्वज्ञः सुभगः श्रीमान् निराधिः प्रियदर्शनः ॥

चौरादिव्यालवेताल गुह्यकासुरदानवैः ।
न भयं जायते तस्य सिद्धमन्त्रस्य देहिनः ॥
ग्रामे वा नगरे वाऽपि सभायां राजसन्निधौ ।
प्रसिद्धः पूज्यते सद्भिर्लभते वाञ्छितं हितम् ॥ इति ।

मन्त्री शीघ्रमित्यनेन अयुतहोम इत्युक्तम् । यत् प्रयोगसारे—

वश्यायाऽश्वत्थराजीवतिलक्षीरैर्यथाक्रमात् ।
जुहुयाद् ब्राह्मणादीनां तथैवाऽयुतसंख्यया ॥ इति ।

साधुसाधितमित्यष्टोत्तरसहस्रं जप्तम् । पुत्तलीमिति द्वादशाङ्गुलायामाम् । भक्षयेदिति दक्षिणपादाङ्गुष्ठादिवामपादाङ्गुष्ठान्तम् । स्त्रियान्तु वैपरीत्यम् । भस्मनेति गोमयभस्मना । चतुरस्त्र इति ज्ञेयम् । पुत्रसम्भावनायां पलाशभस्म इत्यपेक्षितार्थद्योतनिकायाम् । तदुक्तं नारायणीये—

भस्मना लिखितां साध्यां हल्लेखां शक्रवेश्मनि । इति ॥ ३३-५० ॥

तदनन्तर कर्णिका में शङ्ख निधि तथा पद्मनिधि का शक्ति समेत (द्र. ८. १३-१७) पूजन करे । षट्कोण के पार्श्वभाग में अनङ्ग कुसुमादि आठ अङ्गदेवता की तदनन्तर केशर और पत्रों में देवी गणों की पूजा करे । उनके नाम इस प्रकार हैं—१. अनङ्गकुसुमा, २. अनङ्गमातुरा, ३. अनङ्गमदना, ४. अनङ्गमदनातुरा, ५. भुवनपाला, ६. गगनवेगा, ७. शशिरेखा तथा ८. गगनरेखा—ये क्रमशः ८ शक्तियाँ हैं ॥ ३३-३५ ॥

ये सभी अपने हाथों में पाश, अंकुश, वर तथा अभय धारण की हैं सभी का शरीर रक्तवर्ण है । इस प्रकार अष्टशक्तियों का पूजन कर इसके पश्चात् षोडश पत्रों पर कराली, विकराली, उमा, सरस्वती, श्री, दुर्गा, उषा, लक्ष्मी, श्रुति, स्मृति, धृति, श्रद्धा, मेधा, मति, कान्ति और आर्या—इन १६ शक्तियों का पूजन करे ॥ ३६-३७ ॥

ये सभी अपने हाथों में खड्ग एवं खेटक धारण की हैं, सभी का शरीर श्याम वर्ण है इसके पश्चात् पद्म से बाहर वक्ष्यमाण मातृगणों की पूजा करे और

उसके भी बाहर परिचारिकाओं की भी आठों दिशाओं में पूजा करनी चाहिए। ३८

अब **मातृकाओं का नाम** कहते हैं—१. अनङ्गरूपा, २. अनङ्गमदना, ३. मदनातुरा, ४. भुवनवेगा, ५. भुवनपालिका, ६. सर्वशिशिरा, ७. अनङ्गवेदना एवं ८. अनङ्गमेखला—ये ८ मातृकायें हैं और अपने हाथों में क्रमशः चषक, ताड़ का पंखा, ताम्बूल, श्वेतच्छत्र, दो चामर, वस्त्र तथा पुष्प अपने कमलवत् हाथों में धारण की हैं। इसके बाद उसके भी बाहर लोकपालों की पूजा करे। उसके भी बाहर लोकपालों के वज्रादि आयुधों की पूजा करे। जो साधक इस प्रकार से भुवनेश्वरी का पूजन करते हैं वे देवताओं से भी पूजित होते हैं। फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या? ॥ ३९-४२ ॥

मन्त्रज्ञ साधक त्रिमधुर (पय, मधु, आज्य) मिश्रित अश्वत्थ (पीपल) की समिधा से भुवनेश्वरी के मन्त्रों द्वारा दस हजार संख्या में होम करे तो वह ब्राह्मणों को शीघ्र वश में कर लेता है, यदि कमल पुष्प से उतनी ही संख्या में होम करे तो राजा को भी वश में कर लेता है ॥ ४३ ॥

पलाश पुष्प से दस हजार होम करने पर राजपत्नी को और कुमुद द्वारा उतनी ही संख्या में होम करने से राजमन्त्री को भी वश में कर सकता है। भुवनेश्वरी के मन्त्रों से २५ बार अभिमन्त्रित जल से जो प्रतिदिन स्नान के पश्चात् अपना अभिषेक करता है वह सर्वापेक्षया अधिक सौभाग्यवान् होता है ॥४४-४५।

यदि मनुष्य भुवनेश्वरी मन्त्र से २५ बार अभिमन्त्रित जल को प्रातः काल में प्रतिदिन पान करता रहे तो वह बहुत बड़ा प्रतिभाशाली होकर कवियों में अग्रगण्य होता है। कपूर, अगुरु तथा केशर को अच्छी तरह घिस कर इस मन्त्र से १०८ बार अभिमन्त्रित कर यदि मस्तक में तिलक करे तो राजा क्या सम्राट् को भी अपने वश में कर सकता है ॥ ४५-४७ ॥

साधक रविवार के दिन मधु, आज्य, दूध से मिश्रित चावल के पिष्ट की १२ अङ्गुल लम्बी देवी की पुतली निर्माण करे उसमें भुवनेश्वरी के मन्त्रों द्वारा प्राण प्रतिष्ठा करे और उसे हाथ में ले कर १०८ बार जप कर, दाहिने पैर के अँगूठे से प्रारम्भ कर बायें हाथ के अँगूठे पर्यन्त भोजन करे तो वह पुरुष राजा अथवा नारी अथवा मनुष्य सबको वश में कर सकता है ॥ ४७-४८ ॥

मनुष्य यदि कण्ठमात्र जल में स्थित हो जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब देखते हुए प्रतिदिन तीन सहस्र भुवनेश्वरी मन्त्र का जप करे तो वह अपने अनुकूल जैसी कन्या चाहे वैसी प्राप्त कर सकता है ॥ ४९ ॥

काष्ठ के फलक अथवा भूर्ज पत्रादि पर गोबर के भस्म से अथवा पुत्र चाहता हो तो पलाश भस्म से माया युक्त साध्य (ह्रीँ अमुक नाम्न्याः गर्भिण्याः प्रसवं कुरु कुरु) अक्षरों को लिखकर वह यन्त्र गर्भिणी को दिखावे तो गर्भिणी सुखपूर्वक प्रसव करती है ॥ ५० ॥

त्रिगुणितयन्त्रम्

शक्त्यन्तः स्थितसाध्यकर्म भवने वह्नेर्वृतं शक्तिभि-
र्बाह्ये कोणगते युतं हरिहरैर्वर्णैः कपोलार्पितैः।
पश्चात्तैः पुनरीयुतैर्लिपिभिरप्यावीतमिष्टार्थदं
यन्त्रं भूपुरमध्यगं त्रिगुणितं सौभाग्यसम्पत्प्रदम् ॥ ५१ ॥

त्रिगुणितं यन्त्रमाह शक्त्यन्तरिति। एवं भूतं त्रिगुणितं यन्त्रं सौभाग्यसम्पत्प्रद-मित्यन्वयः। कीदृक् तत्। वह्नेर्भवने ऊर्ध्वाग्रे त्रिकोणे। शक्त्यन्तः शक्तिबीज-मध्यस्थितम्। साध्येति साधकोपलक्षकम्। साध्यसाधककर्मणि यत्र तत्। तत्र प्रयोगः। देवदत्तस्य यज्ञदत्तं वशं कुरु कुरु इति। तदुक्तं रामपूर्वतापनीये—

लिखेत् साध्यं द्वितीयान्तं षष्ठ्यन्तं साधकं तथा।
कुरुद्वयञ्च तत्पार्श्वे। इति।

तत्र बीजरेफभागे साध्यनाम। चतुर्थस्वरभागे साधकनाम। तयोर्मध्ये साधकांशे कर्म लिखेत्। तदुक्तं संहितायाम्—

तच्छक्तिरेफभागे तु साध्यनामाक्षरं लिखेत्।
तुरीयस्वरभागे तु साधकस्य वशं कुरु।
साध्यस्योपरि संस्पृष्टं विलिखेत् सर्वसिद्धये॥ इति।

आचार्याश्च— मध्यवर्त्तुलसंस्थाया हृल्लेखायाः कपोलयोः।
अधरे साध्यनामार्णं साधकस्योत्तरे लिखेत्॥
अन्तराग्निश्रियोः कर्म साधकांशे समालिखेत्। इति।

अनेनावश्यं वृत्तान्तः शक्तिं लिखेदित्यप्युक्तम्। अन्यत्रापि 'ठकारवेष्टितां कृत्वा' इति। बाह्ये त्रिकोणाग्रभागेषु। शक्तिभिरिति बहुवचनं कपिञ्जलाधिकरण-न्यायेन त्रित्वे पर्यवस्यति। तेन त्रिभिः शक्तिबीजैः वृतम्। आवरणं च गण्डद्वयलिखित हरिहरवर्णबहिर्भागे।

तदुक्तम्— कोणाग्रेषु परां लिखेत्। इति।

आचार्याश्च— शक्त्या विःसाध्यमिन्द्रानिलनिर्ऋतिगबीजानुबिद्धं पुरेऽग्नेः। इति।

अत्रावरणमित्थम्। एकैकस्य रेफाग्रेण तत्तद्बीजं प्रदक्षिणीकृत्य अन्यस्याधो नीत्वा तदीकाराग्रं बध्नीयादिति। तदुक्तं संहितायाम्—

स्थानत्रयेऽपि बन्धस्तु कथ्यते सिद्धिदायकः।
तद्बीजत्रयरेफाग्रं प्रादक्षिण्येन वेष्टयेत्॥
अधस्तत्त्रितयं चाऽस्य मायाग्रेण च वेष्टयेत्।
अन्योन्यकलनारम्यः शक्तिबन्ध उदाहृतः॥ इति।
कोणगतेषु तत्त्रिकोणान्तःकोणेषु ईं लिखेत्।

तदुक्तम्— त्रिकोणस्यान्तरालेषु वामनेत्रं सबिन्दुकम्। इति।

कपोलार्पितैर्हरिहरैर्वर्णैरुपलक्षितम्। कपोलयोः त्रिकोणकोणपार्श्वयोः हरि-

रित्येकत्र हर इत्यपरत्र च। केचन ह्रि ह्र इत्याहुः। तन्न। मानाभावात्। तथा च संहितायाम्— प्रत्येककोणपार्श्वेषु हर्यर्णौ च हराक्षरौ। इति।

पश्चात् तदनन्तरं तैः हरिहरैः ईंयुतैः। तेन हरि ईं हर ईं इत्यक्षरैरावीतम्। तदुक्तं संहितायाम्—पुनरेतद्द्वयोर्मध्ये तुर्यं चैव सबिन्दुकम्।
इत्यर्णैर्वेष्टयेद्बाह्ये वृत्तं कुर्याद्बहिस्ततः॥ इति।

गौरीतन्त्रेऽपि—हरिबीजं हरानादीन् क्षान्तवर्णांश्च बाह्यतः। इति।

आचार्याश्च—मध्ये समायैस्तैः। इति।

पद्मपादाचार्यास्तु प्रत्येकमीं योगमाहुः। हरि ईं हर ईं इति। लिपिभिः अकारादि क्षकारान्तैः। अपिशब्दः पूर्वसमुच्चये। आवीतं वेष्टितम्। भूपुरमध्यगं तद्-बहिः भूपुरं लिखेदित्यर्थः। आचार्यैस्तु इदमेवाष्टदलयुक्तं पूजायन्त्रमुक्तम्॥ ५१॥

षड्गुणितयन्त्रम्

बीजान्तः स्थितसाध्यनाम शरशो मायारमामन्मथै-
र्वीतं वह्निपुरद्वये रसपुटेष्वाख्याढ्यबीजत्रयम्।
सात्मानात्मकमींशिखं हरिहरैराबद्धगण्डं बहिः
षड्बीजैरनुबद्धसन्धिलिपिभिर्वीतं गृहाभ्यां भुवः॥ ५२॥
चिन्तामणिनृसिंहाभ्यां लसत्कोणमिदं लिखेत्।
यन्त्रं षड्गुणितं दिव्यं वहतां सर्वसिद्धिदम्॥ ५३॥

षड्गुणितं यन्त्रमाह बीजान्तरिति। इदं षड्गुणितं यन्त्रं लिखेदिति सम्बन्धः। कीदृक् यन्त्रम्। वह्निपुरद्वये परस्परव्यतिभिन्ने त्रिकोणद्वये। तच्चैवम् उक्तपरिमाणं वृत्तं कृत्वा प्राक्प्रत्यक्सूत्रमास्फाल्य तदग्रयोः सूत्रमवष्टभ्य वृत्तार्द्धपरिमाणेन सूत्रेण मत्स्य-द्वयं कुर्यात्। एवं कृते मत्स्यचतुष्कं निष्पद्यते। पूर्वमत्स्यद्वये पश्चिममत्स्यद्वये च दक्षिणोत्तरगं सूत्रद्वयमास्फाल्य प्राक्सूत्रस्य प्रागग्रे सूत्रादिं निधाय पश्चिममत्स्य-द्वयोदरयोः तिर्यक्सूत्रद्वयमास्फालयेत्। पुनः प्राक्सूत्रस्य पश्चिमाग्रे सूत्रादिं निधाय पूर्वदिङ्मत्स्यद्वयोदरयोः तिर्यक्सूत्रद्वयमास्फालयेत्। प्राक्सूत्रं वृत्तं च मार्जयेत्। एवं कृते संपुटितं वह्निपुरद्वयं जायते। तत्र बीजं शक्तिबीजं तदन्तःस्थितं साध्यनाम यत्र तत् तथा। साध्यसाधककर्मनामलिखनं तु पूर्ववदेव।

शरशः पञ्चधा। तत्र षट्कोणाभ्यन्तरे एवं पञ्चभिर्मायाबीजैः एकं वेष्टनम्। तदन्तराले एवं पञ्चभिः श्रीबीजैः द्वितीयं वेष्टनम्। तदन्तराले एवं पञ्चभिः कामबीजैः तृतीयं वेष्टनम्। एवं पञ्चदशबीजैरेकं वेष्टनं पर्यवसन्नं भवति।

तदुक्तं पद्मपादाचार्यैः—तत्र मायाबीजेन पञ्चधा वृत्तेनैकावृतिः। पुनस्तदन्तराले एव श्रीबीजेन। तथैव तदन्तराले मारबीजेन। इति। तदुक्तम्—

पुटितं वह्निमालिख्य मध्ये शक्तिं नियोजयेत्।
ठकारवेष्टितं कृत्वा बहिः शक्तिं तु पञ्चधा॥
विलिख्य तद्बहिस्तद्वत् श्रीबीजं कामराजकम्। इति।

आचार्या अपि— हरमायाः पञ्चकृत्वः स्युर्बहिर्गर्भवर्त्तुलम् ।
तद्बहिः शरमायाश्च कलमायाश्च तद्बहिः ॥ इति ।

अतोऽत्र वृत्तान्तरे च शक्तिबीजं मायाबीजं विलिख्य पश्चाद् बीजत्रयवेष्टनम् । रसपुटेषु षट्सु कोणेषु । आख्याढ्यबीजत्रयम् । अत्र आख्याशब्देन साध्यसाधककर्मनामानि उच्यन्ते । बीजत्रयं पूर्वप्रकृतं शक्तिश्रीमान्मथम् । तदुक्तम्—

वह्नेः कोणत्रये श्रीमत्पक्षीये त्रितयं लिखेत् ।
शक्तिश्रीकामबीजानां सदण्डं साधकार्णवत् ॥ इति ।

लिखेदिति द्विरावृत्त्या । सा च सात्मानात्मकशब्दादेव लभ्यते । तत्र सात्मकं सबिन्दु अनात्मकं पर्युदासेन सविसर्गम् । तत्र एवं लेखनक्रमः । ईकारगते तु ऊर्द्धभागकोणत्रये साधकनामवन्ति सबिन्दूनि त्रीणि बीजानि लिखेत् । ततः प्रादक्षिण्येन रेफगते अधोभागकोणत्रये साध्यनामकर्मवन्ति सविसर्गाणि लिखेत् ।

तदुक्तम्— वह्न्योः कोणेषु षट्सु च ।
ऊर्द्धभागे सबिन्दूनि त्रीणि बीजानि संलिखेत् ॥
साधकाख्यायुतान्येवमधोभागेषु तान्यपि ।
सविसर्गाणि साध्याख्या कर्मवन्ति च संलिखेत् ॥ इति ।

ईशिखं कोणान्तरग्रप्रदेशे ईम् इति लिखेत् । हरिहरैराबद्धगण्डम् । गण्डशब्देन षट्कोणकोणपार्श्वद्वयमुच्यते । तेन पूर्ववत् हरिहरान् वर्णान् लिखेत् । बहिः षट्कोणाग्रेषु षड्भिः मायाबीजैरनुबद्धसन्धिः । तत्र बद्धसन्धीत्येतावताऽपि अर्थप्राप्तौ यदनुबद्धसन्धीति वदति । तेन एकान्तरितसन्धिबन्धो विवक्षितो ग्रन्थकृतः ।

तदाहुराचार्याः— एकैकान्तरितास्तास्तु संबध्युरितरेतरम् ।
शिखाभिरान्तराभिस्तु बाह्याबाह्याभिरान्तराः ॥ इति ।

संहितायामपि— पूर्ववच्छक्तिबन्धस्तु कार्योऽत्रैकान्तरत्वतः । इति ।

अन्यत्रापि मन्त्रमुक्तावल्यादौ एकैकान्तरितबद्धसन्धित्वमेव उक्तम् । युक्तिश्चात्र एकान्तरितबन्धे स्वस्वत्रिकोणगबीजबन्धो भवति । तत्र प्रकारः । स्वस्वरेफेण तत्तद्बीजं प्रदक्षिणीकृत्य अन्यस्याधो नीत्वा एकान्तरित बीजस्य ईकाराग्रेण वध्नीयात् । सम्प्रदायविदश्चैवं मन्यन्ते । अन्ये तु सन्धौ बीजलिखनमाहुः ।

तदुक्तम्— षट्सु कोणान्तरालेषु हृल्लेखाषट्कमालिखेत् । इति ।

इदमुत्तरयन्त्रेऽपि । लिपिभिरिति सामान्योक्तेः । क्रमेण व्युत्क्रमेण च वष्टनम् । यदाहुराचार्याः—वर्णाः क्रमगताः शुभाः तद्बहिः प्रतिलोमाश्च । इति ।

संहितायामपि— अनुलोमेन तद्वृत्तमध्ये पञ्चाशदक्षरा ।
तद्वृत्तबाह्यतस्तद्वत् विलोमेन च मातृका ॥ इति ।

भुवो गृहाभ्यां परस्परभेदित दिग्विदिक्कोणाभ्यां वेष्टयेत् ।

तदुक्तमाचार्यैः— ततो विदर्भितं भूमेर्मण्डलद्वयमालिखेत् ॥ इति ।

चिन्तामणिनृसिंहाभ्यामित ईशानादिलेखनक्रमः । तेन दिक्कोणे नृसिंहबीजं विदिक्कोणे चिन्तामणिबीजं शैवम् ।

तदुक्तम्— महादिक्स्थनृसिंहार्णं चिन्तारत्नाश्रितात्मकम् । इति ।

विशेषश्चायमुक्तो दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

ततः कोणेषु सन्धिषु विलिख्य शूलान् । इति ।

आचार्याश्च—बहिः षोडशशूलाङ्कम् । इति ॥ ५२-५३ ॥

अब भुवनेश्वरी के **त्रिगुणित नामक यन्त्र बनाने का प्रकार** कहते हैं— त्रिकोण यन्त्र के ऊपर के आगे भाग में शक्ति के बीज अक्षर ह् र् और ईँ के मध्य में साध्य तथा साधक दोनों का नाम लिखें 'जैसे देवदत्तस्य' यज्ञदत्तं वशं कुरु कुरु' इसमें साध्य में द्वितीयान्त तथा साधक को षष्ठयन्त कर इस प्रकार लिखना चाहिए । जिसमें ह के भाग में साध्य नाम तदनन्तर (साधक नाम के बाद 'ईँ' मन्त्र हो) बीजाक्षर के मध्य में साध्य साधक नाम इसी प्रकार घटित करे । पुनः त्रिकोण के अग्रभाग वाले कोण में तीन शक्ति (ह्रीँ ह्रीँ ह्रीँ) लिखे और उसके दोनों पार्श्वों में एक ओर हरिवर्ण लिखे और दूसरी ओर हर वर्ण लिखे । तदनन्तर त्रिकोण के मध्यभाग को ईं ईं इस वर्ण से आवृत करे । इस प्रकार भूपुर के मध्य में रहने वाला यह त्रिगुणित नामक यन्त्र अभिलषित वस्तुओं को तो प्रदान करता ही है सौभाग्य तथा संपत्ति भी देता है ॥ ५१ ॥

अब **षड्गुणित यन्त्र** कहते हैं—दो संपुटित त्रिकोण परस्पर भिन्न षट्कोण बनाकर पूर्ववत् (द्र. ९. ५१) बीज अक्षरों के बीच साध्य तथा साधक का नाम लिखे । तदनन्तर षट्कोण के मध्य में पाँच माया बीज, एक बार पुनः उसके ही भीतर पाँच श्री बीज, द्वितीय बार पुनः उसी के बीच पाँच कामबीज, तीसरी बार बीज लिख कर वेष्टित करे । इस प्रकार १५ बीजाक्षरों का एक वेष्ठन निष्पन्न करे। तदनन्तर दोनों अग्निकोण के दोनों षट्कोणों के मध्य में साध्य के साधक तथा उनके कर्मों को लिख कर शक्ति (ह्रीं) श्री तथा काम बीजों से आवेष्टित करे अर्थात् एक एक षट्कोणों को साध्य साधक तथा कर्म को शक्ति, श्री एवं कामबीज से आवेष्टित करे । इसी प्रकार दूसरे भी षट्कोण को आवृत करे । यहाँ पर विशेषता यह है कि प्रत्येक साध्य साधक तथा कर्माक्षरों को एक बार सबिन्दुक लिखें, तथा दूसरी बार उन्हीं अक्षरों को सविसर्ग लिखे । तदनन्तर उनमें प्रत्येक के दोनों भागों को हरि एवं हर वर्ण से बाँध देवें । कोणों के छः सन्धि स्थलों को ६ बीजाक्षरों से बाँध देवे । भूपुर से उसे वेष्टित कर देवें ।

तदनन्तर दिशाओं के कोणो में नृसिंह मन्त्र तथा विदिक् कोणो में चिन्तामणी मन्त्र लिखे । जो इस प्रकार षड्गुणित इस यन्त्र को धारण करता है, उसे सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ५३ ॥

द्वादशगुणितयन्त्रम्

बीजं व्याहृतिभिर्वृतं गृहयुगद्वन्द्वे वसोः कोणगं
दौर्गं बीजमनन्तरं लिपियुगैराबद्धगण्डं लिखेत् ।

गायत्र्या रविशक्तिबद्धविवरं त्रिष्टुब्वृतं तत्ततो
वीतं मातृकया धरापुरयुगे सत्सिंहचिन्तामणिम् ॥ ५४ ॥
यन्त्रं दिनेशगुणितं प्रोक्तं रक्षाप्रसिद्धिदम् ।
सर्वसौभाग्यजननं सर्वशत्रुनिवारणम् ॥ ५५ ॥

अथ द्वादशगुणितं यन्त्रमाह—बीजमिति । वसोरग्नेः गृहयुगं षट्कोणम् । तद्वन्द्वे द्वादशकोणे । क्वचित् गुहमुखद्वन्द्व इति पाठः । तत्र गुहः स्कन्दः तस्य मुखानि षट् तद्वन्द्वे द्वादशकोणे । तत्र पूर्वोक्तप्रकारेण षट्कोणे कृते तत्रोत्पन्नयोः मत्स्ययोः दक्षिणोदग्गतं सूत्रमास्फाल्य तदग्रयोः सूत्रमवष्टभ्य वृत्तार्द्धपरिमाणेन सूत्रेण मत्स्य-चतुष्टयं कुर्यात् । तत्र दक्षमत्स्यद्वये उत्तरेमत्स्यद्वये च पूर्वप्रत्यग्गतं सूत्रद्वयम् आस्फाल्य दक्षोत्तरसूत्रस्याग्रे सूत्रादिं निधाय उत्तरमत्स्योदरयोः तिर्यक्सूत्रद्वयमास्फालयेत् । पुनर्द-क्षोत्तरसूत्रस्य द्वितीयाग्रे सूत्रादिं निधाय दक्षमत्स्यद्वयोदरयोः तिर्यक्सूत्रद्वयमास्फालयेत्। दक्षोत्तरसूत्रं मार्जयेत् । एवं द्वादशकोणे कृते बीजं शक्तिबीजं साध्यसाधककर्मसहितं पूर्ववदालिख्य सप्तव्याहृतिभिर्विलोमाभिरावीतं कुर्यात् । यत् संहितायाम्—

वेष्टयेत् प्रतिलोमतः सप्तव्याहृतिभिर्मन्त्री । इति ।

आचार्याश्च— शक्तिं प्रवेष्टयेच्च प्रतिलोमव्याहृतिभिरन्तःस्थाम् । इति ।

पद्मपादाचार्यैः व्याख्यातम्—सप्तव्याहृतिभिरिति ।

कोणगमिति । द्वादशसु कोणेषु दुरिति दुर्गाबीजमालिख्य अन्तरे कोणाग्रभागे ईं इति लिखेत् ।

तदुक्तं संहितायाम्—दुरात्मकं द्वादशारे सबिन्दुं तुर्यमेव च । इति ।

तदुक्तमाचार्यैः— कोणान्तर्दुंबीजकम् । इति ।

तथा— रविकोणेषु दुरन्तां मायां विलिखेदथात्र बिन्दुमतीम् । इति ।

नारायणीये च— अद्रिस्तद्बीजं शिवशक्तिवान् । इति ।

अपेक्षितार्थद्योतनिकायाम् ऋष्यादिकमुक्तम् । काश्यपः ऋषिः गायत्री छन्दः दुर्गा देवता । अष्टपत्रे कमले दूर्वाश्यामां त्रिनेत्रां शूलवाणखङ्गचक्रशङ्खखेटकधनुः-कपालानि दक्षिणाधःक्रमेण धारयन्तीं ध्यायेत् । लक्षं जपेत् । जपदशांशं तिलैर्होमः । पूजादिकं वनदुर्गावत् ज्ञेयम् । गायत्र्याः प्रसिद्धायाः लिपियुगैरक्षरयुगैः आबद्धगण्डं प्रत्येकं कोणपार्श्वयोर्विलोमतः गायत्र्यक्षरस्य द्वितयं द्वितयं लिखेदित्यर्थः । णियमिति पृथक्करणेन चतुर्विंशतिरक्षराणि । 'इत्यादि पुरणे' इति पिङ्गलसूत्रात् ।

यत् संहितायाम्—द्वन्द्वशो विलिखेद्वर्णान् गायत्र्यास्तु विलोमतः । इति ।

आचार्या अपि— गायत्रीं प्रतिलोभतः प्रविलिखेदग्नेः कपोलम् । इति ।

गायत्रीं द्वाविंशे वक्ष्यति । रविशक्तिभिः कोणाग्रबहिःस्थापित द्वादशशक्ति-बीजैः बद्धविवरम् । अत्रापि पूर्ववत् एकान्तरितत्वेन बन्धनम् ।

यत् संहितायाम्—पूर्ववच्छक्तिबन्धन्तु कुर्याद् द्वादशधा प्रिये । एकैकान्तरितं रम्यम् । इति ।

आचार्याश्च—एकैकान्तरितास्ताः परस्परं शक्तयश्च सम्बध्युः । इति ।
त्रिष्टुब्वृतं त्रिष्टुभा जातवेदस इति प्रतिलोमेन वेष्टितम् ।

तदुक्तम्—तद्बहिःकोणपार्श्वेषु विलोमाग्नेय सन्मनुम् । इति ।

त्रिष्टुभं द्वाविंशे वक्ष्यति । मातृकया अकारादिक्षान्तया विलोमया च वीतम् ।

तदुक्तं संहितायाम्—अनुलोमां विलोमाञ्च मातृकां वेष्टयेद्बहिः । इति ।

आचार्या अपि— वर्णान् प्रानु (प्रति) गतांश्च । इति ।

पूर्ववत् परस्परव्यतिभेदिधरापुरयुग्मं लिखेत् । सत्सिंहचिन्तामणिमिति पूर्वादि तेन दिक्कोणे नृसिंहबीजं विदिक्कोणे शैवं चिन्तामणिबीजम् । इदं दिनेशगुणितं द्वादशगुणितम् । अस्य पूर्वयन्त्रापेक्षया फलादिद्वैगुण्यं ज्ञेयम् ॥ ५४-५५ ॥

अब द्वादशगुणित **भुवनेश्वरी यन्त्र के निर्माण की विधि** कहते हैं—

सर्वप्रथम शास्त्रीय रीति से द्वादशकोण बनाकर शक्ति बीज के मध्य में साध्य साधक तथा उसके कर्मों को ऊर्ध्वाग्र कोण में लिखे (द्र. ९. ५१) और उसे विलोम व्याहृतियों द्वारा संपुटित करे । पुनः द्वादश १२ कोणों में दुर्गा के बीज (द्रः) को लिखकर प्रत्येक कोण के अग्र भाग में 'ईं' लिखे । पुनः उनके दोनों पार्श्वभाग में अलग-अलग गायत्री के दो-दो अक्षरों को विलोम क्रम से लिखे (ण्यम् को णि यम करने से २४ अक्षरों की पूर्त्ति होती है) । तदनन्तर कोणाग्र के बाहर स्थापित बारह शक्ति बीजों को लिखकर कोष्ठों को बन्द कर देवे ॥ ५४ ॥

यह द्वादश गुणित यन्त्र धारण करने वालों की रक्षा तो करता ही है, प्रसिद्धि भी प्रदान करता है । यह यन्त्र समस्त सौभाग्यों का जनक तथा समस्त शत्रुओं से बचाने वाला है ॥ ५५ ॥

पुत्रप्रदयन्त्रम्

लिखेत् सरोजं रसपत्रयुक्तं
मध्ये दलेष्वप्यभिलिख्य मायाम् ।
स्वरावृतं यन्त्रमिदं वधूनां
पुत्रप्रदं भूमिगृहान्तरस्थम् ॥ ५६ ॥

यन्त्रान्तरमाह—लिखेदिति । रसपत्राणि षट्पत्राणि तद्युक्तम् । मायामिति ससाध्यां सप्तषु स्थानेषु । स्वरावृतम् अकारादिविसर्गपर्यन्तैः स्वरैरावृतम् । नारायणीये तु अत्र चतुरस्रं नोक्तम्—

मध्ये षट्पत्रपद्मस्य लिखेद्देवीं दलेषु च ।
स्वरावृतमिदं यन्त्रं धारयेत् पुत्रकामिनी ॥ इति ॥ ५६ ॥

अब **अन्य यन्त्र का उद्धार** कहते हैं—षड्दल युक्त एक कमल लिखे । तदनन्तर मध्य में तथा षट्कमलों पर इस प्रकार सात स्थानों में साध्य (साध्य का

नाम तथा कार्य) के सहित माया (ईं) लिखे, पुनः उसे अकार से आरम्भ कर विसर्ग पर्यन्त स्वराक्षरों को चारों ओर भूपुर में लिख कर घेर देवे। इस प्रकार का यन्त्र यदि गर्भिणी धारण करे तो वह पुत्र प्राप्त करती है ॥ ५६ ॥

वश्यकरयन्त्रम्

षट्कोणमध्ये प्रविलिख्य शक्तिं
कोणेषु तामेव विलिख्य भूयः।
ससाध्यगर्भं वसुधापुरस्थं
यन्त्रं भवेद्वश्यकरं नराणाम् ॥ ५७ ॥

यन्त्रान्तरमाह षडिति। ससाध्यगर्भमिति सप्तसु स्थानेषु इति ॥ ५७ ॥

अब **अन्य यन्त्र** कहते हैं—षट्कोण के मध्य में शक्ति (ह्रीँ) लिखे, इसी प्रकार अन्य कोणों में भी शक्तिमन्त्र लिखे। भूपुर के सात स्थानों में साध्यनाम तथा कार्य लिखे। इस प्रकार का यह यन्त्र मनुष्यों का वशीकरण करने वाला होता है ॥ ५७ ॥

त्रिबीजात्मकमन्त्रः

वाग्भवं शम्भुवनिता रमाबीजत्रयात्मकम्।
मन्त्रं समुद्धरेन्मन्त्री त्रिवर्गफलसाधनम् ॥ ५८ ॥

मन्त्रान्तरमुद्धरति वाग्भवमिति। वाग्भवं द्वादशस्वरः सबिन्दुः। शम्भुवनिता शक्तिबीजम्। त्रिवर्गेति विनियोगोक्तिः आद्यं बीजं मध्यं शक्तिः। ऋषिच्छन्दसी पूर्वोक्ते। अतएव पाशादिमन्त्रे ऋष्याद्याः पूर्वमुक्ता इति। प्रत्याहारक्रमेणोक्तम् ॥ ५८॥

अब **अन्य मन्त्र** कहते हैं—वाग्भव (ऐं) शम्भुबनिता (ह्रीँ) तथा रमा बीज (श्रीँ) इस प्रकार से यह तीन बीज मन्त्र का उद्धार कहा गया। मन्त्रज्ञ यदि इस मन्त्र का जप करे तो उसे त्रिवर्ग धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होती है ॥५८॥

षड्दीर्घभाजा मध्येन वाग्भवाद्येन कल्पयेत्।
षडङ्गानि मनोरस्य जातियुक्तानि मन्त्रवित्।
कुर्यात् पूर्वोदितान्न्यासान् तथैवात्रापि साधकः॥ ५९ ॥

षड्दीर्घेति। ऐँ ह्रां हृत् ऐँ ह्रीं शिरः इत्यादि प्रयोगः। मन्त्रविदित्युत्तरेण सम्बध्यते ॥ ५९ ॥

वाग्भव (ऐं) संपुटित क्रमशः छः दीर्घ युक्त ह्र वर्ण जो मध्य (हृत्) से युक्त हो बीज मन्त्र से क्रमशः हृदयादि न्यास करे। तदनन्तर उसी प्रकार पूर्व में कहे गये अन्य न्यासों को करे।

इसका **स्वरूप**—'ऐं ह्रां हृत् ऐं ह्रीं शिरः' इति हृदये, इसी प्रकार 'ऐं ह्रीँ हृत् ऐं ह्रीँ शिरः' इति शिरसि इत्यादि ॥ ५९ ॥

परामम्बिकाध्यानम् । पुरश्चरणादिकथनम्

सिन्दूरारुणविग्रहां त्रिनयनां माणिक्यमौलिस्फुर-
त्तारानायकशेखरां स्मितमुखीमापीनवक्षोरुहाम् ।
पाणिभ्यां मणिरत्नपूर्णचषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं
सौम्यां रत्नघटस्थसव्यचरणां ध्यायेत् परामम्बिकाम् ॥ ६० ॥

ध्यानमाह—सिन्दूरेति । मौलिर्मुकुटः । शेखरः शिरोभूषणम् । रत्नपूर्णो घटः रत्नघटः । रक्तपद्मस्थामित्यपि ॥ ६० ॥

अब **ध्यान के लिये देवी का स्वरूप** कहते हैं—

जिनके शरीर की कान्ति सिन्दूर की अरुणाई से युक्त है, जो तीन नेत्रों वाली हैं । जिनके शरीर में माणिक्य रचित आभूषण तथा मस्तकस्थ मुकुट में चन्द्रमा शोभित हो रहा है । जिनका मुख कमल मन्द मन्द हास्य से युक्त है तथा वक्षस्थल पीन हैं जो अपने दोनों हाथों में मणिरत्नपूर्ण चषक (प्याला) तथा रक्त वर्ण का कमल धारण की हुई है, ऐसी सौम्य स्वरूपा, रत्नघट पर दाहिना पैर रखे हुये परा अम्बिका का ध्यान करना चाहिए ॥ ६० ॥

रविलक्षं जपेन्मन्त्रं पायसैर्मधुरप्लुतैः ।
दशांशं जुहुयान्मन्त्रीं पीठे प्रागीरिते यजेत् ॥ ६१ ॥
देवीं प्रागुक्तमार्गेण गन्धाद्यैरतिशोभनैः ।
हुत्वा पलाशकुसुमैर्वाक्श्रियं महतीं लभेत् ॥ ६२ ॥

रविलक्षं द्वादशलक्षम् । प्रागीरिते भुवनेशीप्रोक्ते । गन्धाद्यैरिति चतुर्थोक्तैः । अतिशोभनैरिति । आवरणाङ्गदेवताभ्यो विविक्तीकृतैरित्यर्थः ॥ ६१-६२ ॥

इस मन्त्र का बारह लाख जप करे तथा मधुरत्रय (घी, पय और मधु) मिश्रित पायस से दशांश हवन करे । पश्चात् प्रागुक्त पीठ पर देवी का मनोहर गन्धादि उपचारों से पूजन करे । तदनन्तर पुनः पलाश पुष्प से होम करे तो साधक अनन्त वाणी का ऐश्वर्य प्राप्त करता है ॥ ६१-६२ ॥

मन्त्रजप्तब्राह्मीघृतपानफलम्

ब्राह्मीघृतं पिबेज्जप्तं कवित्वं वत्सराद्भवेत् ।
सिद्धार्थान् लवणोपेतान् हुत्वा मन्त्री वशं नयेत् ॥ ६३ ॥
नरनारीनरपतीन्नात्र कार्या विचारणा ।
चतुरङ्गुलजैः पुष्पैश्चन्दनाम्भः समुक्षितैः ॥ ६४ ॥
हुत्वा वशीकरोत्याशु त्रैलोक्यमपि साधकः ।
जुहुयादरुणाम्भोजैरयुतं मधुराप्लुतैः ॥ ६५ ॥

राज्यश्रियमवाप्नोति सतिलैस्तण्डुलैस्तथा ।
प्रागुक्तान्यपि कर्माणि मन्त्रेणानेन साधयेत् ॥ ६६ ॥

ब्राह्मीघृतमिति । अत्र घृताच्चतुर्गुणे ब्राह्मीरसे घृतं पचेत् ।

उक्तं च—स्वकल्कोऽपि भवेत् स्नेहो यः साध्यः केवले द्रवे । इति ।

अन्यन् मातृकापटलोक्तमनुसन्धेयम् । सिद्धार्था गौरसर्षपाः । चतुरङ्गुलो राजवृक्षः ॥ ६३-६६ ॥

घृत से चतुर्गुण ब्राह्मीरस में घी पका कर ब्राह्मी घृत बनावे । तदनन्तर इस मन्त्र से अभिमन्त्रित कर उस ब्राह्मी घृत का पान करे तो एक संवत्सर के मध्य में कवित्व शक्ति प्राप्त हो जाती है । सिद्धार्थ (श्वेत सर्षप) को लवण से युक्त कर साधक इस मन्त्र से हवन करे तो वह समस्त नर नारी और राजाओं को भी वश करने में सक्षम हो जाता है इसमें संदेह नहीं है ।

राजवृक्ष के पुष्पों को घृष्टचन्दन के जल से मिश्रित कर होम करने से साधक त्रैलोक्य को भी वश करने में सक्षम हो जाता है । इसी प्रकार यदि साधक त्रिमधुर युक्त रक्त कमल से हवन करे अथवा तिलयुक्त तण्डुल से होम करे तो वह राज्य श्री को प्राप्त करता है, इस प्रकार से किये जाने वाले होम में इसी मन्त्र द्वारा उन सभी कार्यों को भी करे जिसे हम पहले कह आये हैं ॥ ६३-६६ ॥

मन्त्रान्तरकथनम्

वाग्बीजपुटिता माया विद्येयं त्र्यक्षरी मता ।
मध्येन दीर्घयुक्तेन वाक्पुटेन प्रकल्पयेत् ॥ ६७ ॥
अङ्गानि जातियुक्तानि क्रमेण मनुवित्तमः ।
यथा पुरा समुद्दिष्टान्न्यासान् कुर्वीत मन्त्रवित् ॥ ६८ ॥

मन्त्रान्तरमाह वागिति । बीजशक्ती ऋषिश्छन्दश्च पूर्ववत् । मध्येनेति माया-बीजेन । दीर्घयुक्तेन षड्दीर्घयुक्तेन । प्रयोगस्तु । ऐँ ह्रां ऐँ हृत् ऐँ ह्रीं ऐँ शिरः इत्यादि । मन्त्रविदित्यनेन हल्लेखादि बीजादौ वाक्पुटत्वम् उक्तम् । मूलमिति इमं मन्त्रम् ॥ ६७-६८ ॥

अब **अन्य प्रकार के भुवनेश्वरी मन्त्र** को कहते हैं—

वाग्बीज से संपुटित माया त्र्यक्षरी विद्या कही जाती है । इसका स्वरूप 'ऐं ह्रीं ऐं' है । इसे वाक् संपुटित दीर्घ वर्ण युक्त ह् र् के आगे हृत् लगा कर षडङ्गन्यास करना चाहिए ।

यथा—ऐं ह्रां ऐं हृत् ऐं ह्रीँ ऐं शिरः इति हृदये, इसी प्रकार ऐं ह्रीँ ऐं हृत् ऐं ह्रीँ ऐं शिरः इति शिरसि' इत्यादि । जैसा कि हम पूर्व में कह आये हैं (द्र. ९. ५९) उसी प्रकार से समस्त न्यासों को करना चाहिए ॥ ६७-६८ ॥

भुवनेश्वरीध्यानम् । पुरश्चरणादिकथनम्

श्यामाङ्गीं शशिशेखरां निजकरैर्दानं च रक्तोत्पलं
रत्नाढ्यं चषकं परं भयहरं संबिभ्रतीं शाश्वतीम् ।
मुक्ताहारलसत् पयोधरनतां नेत्रत्रयोल्लासिनीं
वन्देऽहं सुरपूजितां हरवधूं रक्तारविन्दस्थिताम् ॥ ६९ ॥

ध्यानमाह श्यामाङ्गीमित्यादि । दानं वरः । भयहरम् अभयम् । परम् उत्कृष्टं चषकविशेषणम् । रक्तपद्मस्थामिति । आयुधध्यानं पूर्ववत् ॥ ६९ ॥

अब **भुवनेश्वरी ध्यान का स्वरूप** कहते हैं—

जिनका शरीर श्याम वर्ण का है, जो मस्तक में चन्द्रमा तथा अपने हाथों में वर, रक्तकमल, रत्नपूर्ण प्याला, तथा अभय धारण की हैं जो मोतियों की माला से शोभायमान स्तन प्रदेश से कुछ झुकी हुई हैं, जिनके नेत्रत्रय उल्लसित हैं ऐसी देवताओं से पूजित रक्त कमल पर आसीन शिव बधू भुवनेश्वरी की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ६९ ॥

तत्त्वलक्षं जपेन्मन्त्रं जुहुयात्तद्दशांशतः ।
पलाशपुष्पैः स्वाद्वक्तैः पुष्पैर्वा राजवृक्षजैः ॥ ७० ॥

तत्त्वलक्षं चतुर्विंशतिलक्षम् । स्वाद्वक्तैः त्रिमधुराप्लुतैः ॥ ७० ॥

इस मन्त्र का २५ लाख जप करे और त्रिमधुर मिश्रित पलाश पुष्प से अथवा राजवृक्ष के पुष्पों से दशांश दो लाख पचास हजार हवन करे ॥ ७० ॥

हृल्लेखाविहिते पीठे पूजयेत् परमेश्वरीम् ।
मध्यादि पूजयेत् मन्त्री हृल्लेखाद्याः पुरोदिताः ॥ ७१ ॥
मिथुनानि यजेन्मन्त्री षट्कोणेषु यथा पुरा ।
अङ्गपूजा केसरेषु पूज्याः पत्रेषु मातरः ॥ ७२ ॥

हृल्लेखाविहिते भुवनेशीप्रोक्ते । तदुक्तं भुवनेशीपारिजाते—

मायाबीजमिदं प्रोक्तं भुवनत्रयमक्षरम् ।
हृल्लेखेयञ्च योगेशी । इति ।

पुरोदिता इति स्वस्वबीजसंयुक्ताः । यथापुरेति स्वस्वशक्त्यादिकानि सध्यानामानि ॥ ७१-७२ ॥

पुनः भुवनेश्वरी मन्त्र में कहे गये पीठ पर परमेश्वरी का पूजन करे । मन्त्रज्ञ साधक मध्य से पूजा आरम्भ कर स्व स्व बीज से संयुक्त हृल्लेखा आदि पर्यन्त (द्र. ९. ५) समस्त देवियों का पूजन करे ॥ ७१ ॥

मन्त्रज्ञ, षट्कोणो में शक्तियों सहित उन उन देवताओं का ध्यान करते हुये इस प्रकार पूजा करे । केशरों में अङ्गपूजा करे तथा पत्रों पर मातृकाओं की पूजा करे ॥ ७२-७३ ॥

अङ्गावरणदेवताः । पूजाफलम्

भैरवाङ्कसमारूढाः स्मेरवक्त्रा मदालसाः।
असिताङ्गी रुरुश्चण्डः क्रोध उन्मत्तसंज्ञकः॥ ७३ ॥
कपाली भीषणः पश्चात् संहारी चाऽष्टभैरवाः।
शूलं कपालं प्रेतञ्च बिभ्राणाः क्षुद्रदुन्दुभिम् ॥ ७४ ॥
गजत्वगम्बरा भीमाः कुटिलालकशोभिताः।
दीर्घाद्या मातरः प्रोक्ता ह्रस्वाद्या भैरवाः स्मृताः॥ ७५ ॥
पूज्याः षोडशपत्रेषु कराल्याद्याः पुरोदिताः।
तद्बाह्येऽनङ्गरूपाद्याः लोकेशास्त्राणि तद्बहिः ॥ ७६ ॥
एवमाराधयेद् देवीं शास्त्रोक्तेनैव वर्त्मना ।
वशं नयति राजानं वनिताश्च मदालसाः॥ ७७ ॥
मनुनाज्येन जुहुयाल्लभते वसु वाञ्छितम् ।
सुगन्धैः कुसुमैर्हुत्वा श्रियमाप्नोति वाञ्छिताम् ॥ ७८ ॥
मन्त्रेणाऽनेन संजप्तमश्नीयादन्नमन्वहम् ।
भवेदरोगी नियतं दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७९ ॥

भैरवाङ्केत्यादिना ध्यानविशेषः उक्तः । अन्यन् मातृकापटलोक्तमनुसन्धेयम् । क्षुद्रदुन्दुभिः डमरुः । भैरवायुधध्यानं तु दक्षोर्द्धादि दक्षाधः पर्यन्तम् । दीर्घा आकाराद्या अष्टौ तदाद्या मातरः अष्टौ यथाक्रमम् । अन्यत् क्षमादिकं पूर्वोक्तमुनसन्धेयम् । एवं ह्रस्वाद्या इत्यत्रापि । अत्र अ इ उ ऋ ऌ ए ओ अं इति पारिभाषिकह्रस्वग्रहणम् । प्रयोगस्तु । अं असिताङ्गभैरवाङ्कस्थायै आं क्षां ब्राह्मयै नमः इत्यादि ॥ ७३-७९ ॥

ये सभी मातृकायें भैरवों के गोद में बैठी हुई मन्द मन्द हास कर रही हैं मद से अलसाई हुई हैं । असिताङ्ग, रुरु, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त, कपाली, भीषण और संहार—ये ८ भैरव हैं । ये अपने हाथों में शूल, कपाल, प्रेत तथा क्षुद्र दुन्दुभी धारण किये हुये हैं ॥ ७४ ॥

सभी हाथी के त्वक् गजाजिन का वस्त्र धारण किये हुये हैं महाभयानक हैं और कुञ्चित केशों से युक्त हैं । आठ दीर्घ आ ई उँ ॠ ॡ ऐ औ एवं अं—ये मातृकायें हैं तथा अ इ उ ऋ ऌ ए ओ अं—ये ८ ह्रस्व भैरव स्वरूप हैं ॥ ७५॥

पुनः पत्रों पर पूर्व में कहे गये (द्र. ९. ३५-३७) कराली आदि का पूजन करे । उसके बाहर अनङ्गरूपादि (द्र. ९. ३९-४०) का, उसके बाहर इन्द्रादि

लोकपालों का (द्र. ४. ११४-११५), उसके भी बाहर उनके वज्रादि (द्र. ४. ११६) का पूजन करे ॥ ७६ ॥

साधक इस प्रकार शास्त्रीय रीति से देवी की आराधना करे तो वह राजा को भी वश में कर लेता है और मद से अलसाई युवती स्त्रियों को भी वश में कर लेता है ॥ ७७ ॥

यदि इस मन्त्र के द्वारा घी से होम करे तो उसे वाञ्छित धन की प्राप्ति होती है । इसी प्रकार सुगन्धित फूलों से होम करे तो मनमानी लक्ष्मी प्राप्त होती हैं । इस मन्त्र से अभिमन्त्रित अन्न का प्रतिदिन भोजन करना चाहिए । ऐसा करने से पुरुष निश्चित रूप से नीरोग तथा दीर्घायु प्राप्त करता है ॥ ७९ ॥

पाशादित्र्यक्षरम्

अनन्तो बिन्दुसंयुक्तो माया ब्रह्माऽग्नितारवान् ।
पाशादित्र्यक्षरो मन्त्रः सर्ववश्यफलप्रदः ।
ऋष्याद्याः पूर्वमुक्ताः स्युर्बीजेनाङ्गक्रिया मता ॥ ८० ॥

मन्त्रान्तरमाह अनन्त इति । अनन्त आकारः । बिन्दुसंयुक्तस्तेन आं । ब्रह्मा ककारः । अग्निः रेफः । तारः प्रणवः । ताभ्यां युक्तस्तेन क्रों । प्रथमबीजस्य पाश इति नाम । अन्तस्य अङ्कुश इति ।

यदाहुराचार्याः—

बिन्द्वन्तिका प्रतिष्ठा सन्दिष्टा पाशबीजमिति मुनिभिः ।
निजभूर्दहनाप्यायिनिशशधरखण्डान्वितोऽङ्कुशो भवति ॥ इति ।

अतएव पाशादि त्र्यक्षरो मन्त्र इति । सर्ववश्येति विनियोगोक्तिः । बीजशक्ती पूर्ववत् । बीजनेति मायाबीजेन । षड्दीर्घयुक्तेन पाशाङ्कुशपुटितेनेति परमगुरवः ।

प्रयोगस्तु—आं ह्रां क्रों हृदयाय नमः इत्यादि ।

पाशाङ्कुश पुटितबीजाद्यानां हृल्लेखाद्यानां न्यासोऽपि कर्त्तव्यः ॥ ८० ॥

अब **भुवनेश्वरी का अन्य मन्त्र** कहते हैं—

अनन्त (आकार), उसे बिन्दु से संयुक्त कर माया (ह्रीँ), पुनः ब्रह्मा (ककार) को अग्नी (रेफ) तार (ॐ) से युक्त कर (इस प्रकार क्रोँ) लिखे, इसके आदि में पाश (आँ) से आरम्भ कर अंकुश क्रों पर्यन्त कुल तीन अक्षर को लिखने से भुवनेश्वरी का मन्त्र निष्पन्न होता है ।

मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार हुआ—'आँ ह्रीँ क्रोँ' । यह मन्त्र सबको वश में करने वाला है इसके ऋषि आदि पहले कहे जा चुके हैं, बीज से अङ्गन्यास करना चाहिए ॥ ८० ॥

भुवनेश्वरीध्यानम्
पुरश्चरणादिकथनम्

वराङ्कुशौ पाशमभीतिविद्यां
करैर्वहन्तीं कमलासनस्थाम् ।
बालार्ककोटिप्रतिमां त्रिनेत्रां
भजेऽहमाद्यां भुवनेश्वरीं ताम् ॥ ८१ ॥

ध्यानमाह वरेति । अभीतिमुद्रामभयम् । कमलासनस्थां रक्तकमलासनस्थाम् । आयुधध्यानम् पूर्ववत् ॥ ८१ ॥

अब **भुवनेश्वरी का ध्यान** कहते हैं—

जो भगवती अपने हाथों में वर, अंकुश, पाश, अभय और विद्या धारण की हुई हैं, कमलासन पर विराजमान हैं, जिनके शरीर की कान्ति करोड़ों उदीयमान सूर्य के समान है तथा जिनके तीन नेत्र हैं ऐसी आद्या भुवनेश्वरी का मैं भजन करता हूँ ।। ८१ ।।

हविष्यभुग्जपेन्मन्त्रं तत्त्वलक्षं जितेन्द्रियः ।
तत्सहस्रं प्रजुहुयाज्जपान्ते मन्त्रवित्तमः ॥ ८२ ॥
दधिक्षौद्रघृताक्ताभिः समिद्भिः क्षीरभूरुहाम् ।
तत्संख्यया तिलैः शुद्धैः जलाक्तैर्जुहुयात्ततः ॥ ८३ ॥

तत्त्वलक्षं चतुर्विंशतिलक्षम् । तदुक्तमाचार्यैः—

जपेच्चतुर्विंशतिलक्षमेवं सुयन्त्रितो मन्त्रवरं यथावत् । इति ।

हविष्यभुक् जितेन्द्रिय इति पुरश्चरणधर्माणाम् उपलक्षणम् । तत्सहस्रं चतुर्विंशतिसहस्रम् । प्रत्येकं षट्सहस्रमित्याह । क्वचित् षट्सहस्रमित्येव पाठः । तदुक्तमाचार्यैः—

पयोद्रुमाणाञ्च समित्सहस्रषट्कं दधिक्षौद्रघृतावसिक्तम् ॥ इति ।

जपान्ते इति जपाव्यवधानेन नियमस्य एवेत्यर्थः । मन्त्रवित्तम इत्यनेन होमे स्वाहान्तता सूचिता । क्षौद्रं मधु क्षीरभूरुहामिति । अश्वत्थोदुम्बर प्लक्षवटानां प्रत्येकं षटसहस्रं होम इति । तत्संख्यया चतुर्विंशति संख्यया ॥ ८२-८३ ॥

साधक जितेन्द्रिय होकर इस मन्त्र का २४ लाख जप करे । पुनः जप के अन्त में उतने ही सहस्र होम करे ।

होम की विधि इस प्रकार है—दही, मधु तथा घृत इन तीनों में डुबोई गई क्षीरी वृक्षों (पीपल, उदुम्बर, पाकर, बटादि) की समिधा से अथवा जल में धोकर भली प्रकार शुद्ध किये गये तिलों से होम करना चाहिए ।। ८२-८३ ।।

हृल्लेखाविहिते पीठे नवशक्तिसमन्विते ।
अर्चयेत् परमेशानीं वक्ष्यमाणक्रमेण ताम् ॥ ८४ ॥
हृल्लेखाद्या यजेदादौ कर्णिकायां यथाविधि ।
अङ्गानि केसरेषु स्युः पत्रस्था मातरः क्रमात्॥ ८५ ॥
इन्द्रादयः पुनः पूज्यास्तेषामस्त्राणि तद्बहिः ।
एवं संपूजयेद् देवीं साक्षाद्वैश्रवणो भवेत् ॥ ८६ ॥
पूज्यते सकलैर्लोकैस्तेजसा भास्करोपमः ।
अनेनाऽधिष्ठितं गेहं निशि दीपशिखाकुलम् ॥ ८७ ॥
दृश्यते प्राणिभिः सर्वैर्मन्त्रस्याऽस्य प्रभावतः ।
सर्षपैर्लोणसंमिश्रैराज्याक्तैर्जुहुयान्निशि ॥ ८८ ॥
राजानं वशयेत् सद्यस्तत्पत्नीमपि साधकः ।
अन्नवानन्नहोमेन श्रीमान् पद्महुताद्भवेत् ॥ ८९ ॥
राजवृक्षसमुद्भूतैः पुष्पैर्हुत्वा कविर्भवेत् ।
अरोगी तिलहोमेन घृतेनायुरवाप्नुयात् ।
प्राक्प्रोक्तान्यपि कर्माणि साधयेत् साधकोत्तमः ॥ ९० ॥

हृल्लेखाविहिते भुवनेशीप्रोक्ते । तत्पीठशक्तयोऽत्रापि पूज्या इत्यर्थः । नवशक्तिसमन्विते इत्यनेन पीठमन्त्रस्य अन्यत्वम् । तेन पीठमन्त्रे बीजत्रययोग इत्युक्तम्। अत्र षट्कोणकर्णिकम् अष्टदलं पद्मं पीठम् । षोडशदलं नास्ति । तत्र पूजाया अनुक्तत्वात् । यथाविधीति बीजद्वयपुटित बीजाद्या इत्युक्तम् । मातर इति भैरवाङ्कस्थाः। पूज्यत इति कर्मप्रत्ययेन देवानुग्रह उक्तः । साक्षात् वैश्रवणः कुबेरोपमः । वशयेदिति ।

तत्र जपप्रकार उक्तः तन्त्रान्तरे—

ह्रीँकाराद्यां तयोर्नाम आं क्रों च विनियोजयेत् । इति ॥ ८४-९० ॥

पुनः भुवनेश्वरी पीठ पर नवशक्तियों के समेत आगे कही जाने वाली विधि के अनुसार उस परमेश्वरी भगवती का पूजन करे ।

यहाँ यह ध्यान देना चाहिए कि इस पूजा में पीठ का स्वरूप षट्कोण कर्णिका से युक्त अष्टदल कमल होना चाहिए, षोडश दल युक्त कमल नहीं । कर्णिका में हृल्लेखादि (द्र. ९. ५-६) का यथाविधि पूजन करे । अङ्गों की पूजा केशरों पर करे । पत्रों में क्रमशः मातृकाओं की पूजा करे (द्र. ९. ७२-७५) । इसके बाद इन्द्रादि देवताओं की पूजा करे, उसके बाहर इन्द्रादि के वज्रादि अस्त्रों की पूजा करे । जो इस प्रकार देवी का पूजन करता है वह साक्षात् कुबेर के समान धनी हो जाता है ॥ ८४-८६ ॥

वह समस्त संसार से पूजित होता है और सूर्य के समान तेजस्वी हो जाता

है । इस मन्त्र को यदि घर में लिख कर रखे तो वह घर दीप शिखा के समान चमकता रहता है । सभी प्राणियों से इस मन्त्र का ऐसा प्रभाव दिखाई पड़ता है । यदि इस मन्त्र के द्वारा घृत में डुबोये गये लवण युक्त संर्षपों का रात्रिकाल में हवन करे तो वह राजा को तथा रानी को सद्यः वश में कर लेता है । इस मन्त्र द्वारा होम करने से साधक अन्नवान् होता है और कमलों के होम से श्रीमान् होता है ॥ ८७-८९ ॥

तिल द्वारा होम करने से आरोग्य प्राप्त करता है, घृत द्वारा होम करने से आयु की वृद्धि होती है । इस क्रिया में उत्तम साधक को पूर्व में कहे गये सभी उपासनात्मक कर्म करने चाहिए ॥ ९० ॥

घटार्गलयन्त्रम्

आलिख्याऽष्ट दिगर्गलान्युदरगं पाशादिकं त्र्यक्षरं
कोष्ठेष्वङ्गमनून् परेषु विलिखेदष्टार्ण मन्त्रद्वयम् ।
अच्पूर्वापरषट्कयुग्लयवरान् व्योमासनानर्गले-
ष्वालिख्येन्द्रजलाधिपादिगुणशः पङ्क्तिद्वयं तत्परम् ॥ ९१ ॥
कोष्ठेष्वष्टयुगार्णमात्मसहितां युग्मस्वरान्तर्गतां
मायां केसरगां दलेषु विलिखेन्मूलं त्रिपङ्क्तिक्रमात् ।
त्रिः पाशाङ्कुशवेष्टितञ्च लिपिभिर्वीतं क्रमादुत्क्रमात्
पद्मस्थेन घटेन पङ्कजमुखेनावेष्टितं तद्बहिः ॥ ९२ ॥
घटार्गलमिदं यन्त्रं मन्त्रिणां प्राभृतं मतम् ।

घटार्गलं यन्त्रमाह आलिख्येति । अत्राष्टानाम् अर्गलानां साम्येन आनयन-प्रकार उच्यते—

कर्णार्द्धमित्या मध्ये द्विसूत्राङ्कास्तत् द्वये द्वये ।
चतुरस्रान्तरे सूत्रैः परिध्येधनमिच्छया ॥

वास्तुमण्डलोक्तरीत्या एकं चतुरस्रं प्रागुत्तरसूत्रोपेतं कृत्वा तत्र कोणसूत्रार्द्ध-मानेन चतुर्दिक्षु मध्यात् प्रागुदक्सूत्रे अङ्कयेत् । द्वयोर्द्वयोरङ्कयोः सूत्रदानात् दिग्गतकोणं पूर्वव्यतिभेदि चतुरस्रान्तरं जायते । ततः अष्टपरिधीनाम् इच्छया वर्द्धनं कृत्वा अर्गलाकारं कुर्यात् । सर्वत्र दिक्कर्णगुणाः मार्ज्याः । एवम् अष्टौ दिगर्गलानि आलिख्य मध्ये वृत्तं कृत्वा तत्र पाशादित्र्यक्षरमालिख्य चतुरस्रद्वयान्तः सन्धिषु वृत्तं कृत्वा तदष्टकोष्ठेषु पूजाप्रकारेण आग्नेयादि विदिक्कोष्ठेषु हृच्छिरःशिखाकवचाणूनालिख्य मध्ये अग्रभागे नेत्रं दिक्कोष्ठेषु अस्त्रमालिखेत् । तदुक्तम्—

अष्टकोणेषु विलिखेत् षडङ्गानि यथाक्रमम् ।
अग्नीशासुरवायव्यकोणेषु मनुवित्तमः ॥
कवचान्तानि संलिख्य मध्ये नेत्रं लिखेद्बुधः ।
चतुर्दिगन्तकोणेषु चतुर्धास्त्रं लिखेत् प्रिये ॥ इति ।

तदुपर्यष्टकोष्ठेषु पाशाद्यष्टाक्षरम् अग्रादि लिखित्वा पुनश्च बाह्यसन्धिषु वृत्तं कृत्वा तदुत्पन्नेषु अष्टसु कोष्ठेषु कामिन्यष्टाक्षरम् आलिख्य वर्द्धिताष्टपरिधिसन्धिषु वृत्तात् बहिः वृत्तं कृत्वा तदुत्पन्नेषु षोडशकोष्ठेषु अष्टयुगार्णं शाक्तं षोडशाक्षरं विलिखेत् इत्यनेन पूर्वेणान्वय इत्यपि केचन । अन्ये चतुरस्रद्वयान्तर्बहिःसन्धिषु वृत्तद्वयम् कारयित्वा वर्द्धिताष्टपरिधिसन्धिवृत्ताद्बहिः वृत्तं कारयन्ति । तत्र कोष्ठेषु अष्टयुगार्णं विलिखेत् इत्याहुः ।

अन्ये तु चतुरस्रबाह्यसन्धीनामुपरि वृत्तमेकं वर्द्धिताष्टपरिधिसन्धिषु च द्वितीयं वृत्तं कारयन्ति । तत्पक्षत्रयमपि असम्बद्धम् । श्रौतस्य क्रमस्य बाधितत्वात् । कर्णिका-वृत्तलग्नाधोमुखत्रिकोणाकाराष्टकोष्ठानां शून्यत्वाच्च । किञ्च पूर्वपक्षे वृत्तत्रय-कल्पनमन्यपक्षयोर्वृत्तद्वयकल्पनं च अप्रामाणिकम् । यावता विना न निर्वाहस्तावदेव कल्पनमर्हति नाधिकम् । अत एकमेव वृत्तं कल्पनीयम् । उपरिवृत्तस्य तु पद्मकर्णिका-त्वेन सर्वैरेवाङ्गीकरणात् । अतो वक्ष्यमाणसाम्प्रदायिकार्थानुसरणमेव श्रेयः ।

तत्परम् अच्पूर्वेत्यालिख्य कोष्ठेषु अष्टयुगार्णमालिख्य केसरगां मायां विलिखेदिति सम्बन्धः । अचां स्वराणां नपुंसकस्वरव्यतिरिक्तानाम् । नपुंसकव्यति-रिक्तत्वं पूर्वापर षट्कशब्देन प्राप्यते । पूर्वषट्कं अ आ इ ई उ ऊ अपरषट्कं ए ऐ ओ औ अं अः । एतद्युक्तान् लयवरान् व्योम्नः आसना स्थितिर्येषु ते व्योमासनास्तानिति वहुब्रीहिः कार्यः। 'स्यादास्या त्वासना स्थितिः' इति कोषः । अर्गलेषु इन्द्रजलाधिपादि पूर्वपश्चिमादि गुणशः अक्षरत्रितयक्रमेण पङ्क्तिद्वयं लिखेत् । इमानि सर्वाणि सबिन्दूनि ।

तत्र लेखनप्रकारः । पूर्वार्गलायां वर्द्धितरेखासन्धिकृतवृत्तमारभ्योत्तरतः ह्लं ह्लां ह्लिं इत्यर्गलान्तमालिख्य पुनर्दक्षिणतोऽर्गलाग्रमारभ्य ह्लीं ह्लुं ह्लूं इति वृत्तान्तमालिखेत् । एवं प्रादक्षिण्यं भवति ।

तदुक्तं संहितायाम्—

शक्तेरजलवह्न्याख्यं बिन्दुव्योमान्वितं कुरु ।
तद्बीजं स्वरसंयुक्तं ऋ ॠ ऌ ॡ विवर्जितम् ।
एवं द्वादशधा तत्र चतुर्धा कुरु सुन्दरि ।
वृत्तादिवसुकोणान्तं लिखेद् वृत्तान्तकं प्रिये ॥
आद्यं त्रिकं पूर्वमुख्यं लिखेदुत्तरतः प्रिये ।
द्वितीयं पूर्वमुख्यं तु लिखेत् दक्षिणतः सुधीः ॥ इति ।

पश्चिमार्गलायां दक्षिणतो वृत्तमारभ्य ह्लें ह्लैं ह्लों इत्यर्गलान्तमालिख्य पुनरुत्तरो-ऽर्गलाग्रमारभ्य ह्लौं ह्लं ह्लः इति वृत्तान्तमालिखेत् । तदुक्तम्—

तृतीयं पश्चिमे भागे तथा दक्षिणतो लिखेत् ।
चतुर्थमार्गले तद्वत् पश्चिमे तूत्तरान्ततः ॥ इति ।

एवमाग्नेयार्गलायां पूर्वतः पूर्ववत् ह्यं ह्यां ह्यिं इत्यालिख्य पश्चिमतः पूर्ववत् ह्यीं ह्युं ह्यूं इति लिखेत् । तदुक्तम्—

भुवं हित्वाऽर्कबीजानां तत्र वायुं नियोजयेत् ।
अग्न्यर्गलायां त्रितयमाद्यं पूर्वत आलिखेत् ॥

तथा पश्चिमतोऽप्यन्यत् त्रिकं संविलिखेत् प्रिये । इति ।

एवं वायुर्वर्गलायां पश्चिमतः पूर्ववत् ह्यें ह्यैं ह्यों इत्यालिख्य पूर्वतः पूर्ववत् ह्यौं ह्यं ह्यः इति लिखेत् । तदुक्तम्—

मारुतार्गलके तद्वत् लिखेत् पश्चिमतस्त्रिकम् । पूर्वतोऽपि च देवेशि । इति ।

एवं याम्यार्गलायां पूर्वतः पूर्ववत् ह्वं ह्वां ह्विं इत्यालिख्य पश्चिमतः पूर्ववत् ह्वीं ह्वं ह्वूं इति लिखेत् । तदुक्तम्—

वायुं हित्वाऽर्कबीजानां वरुणं तत्र निक्षिपेत् ।
याम्ये त्रिकं पूर्वतस्तु द्वितीयं पश्चिमान्तगम् ॥ इति ।

एवमुत्तरार्गलायां पश्चिमतः पूर्ववत् ह्वें ह्वैं ह्वों इत्यालिख्य पूर्ववत् पूर्वतः ह्वौं ह्वँ ह्वः इति लिखेत् । तदुक्तम्—

अथोत्तरार्गलायां तु त्रिकं पश्चिमतो लिखेत् । चतुर्थं पूर्वतो देवि । इति ।

एवं कन्या(नैर्ऋत्या)र्गलायां दक्षिणतः पूर्ववत् ह्रं ह्रां ह्रिं इत्यालिख्य उत्तरतः पूर्ववत् ह्रीं ह्रु ह्रू इति लिखेत् । तदुक्तम्—

नीरं हित्वाऽर्कबीजानां रेफं तत्र विनिक्षिपेत् ।
लिखेद्रक्षोऽर्गलायां तु त्रिकमाद्यं त्रिकं परम् ॥ दक्षिणोत्तरतो मन्त्री । इति ।

एवं शैवार्गलायाम् उत्तरतः पूर्ववत् ह्रें ह्रैं ह्रों इत्यालिख्य दक्षिणतः पूर्ववत् ह्रौं ह्रं ह्रः इति लिखेत् । तदुक्तम्—

क्रमाच्छैवार्गले पुनः । आदावुत्तरतो देवि पश्चाद्दक्षिणमार्गतः ॥ इति ।

पद्मपादाचार्यास्तु—चतुरस्रद्वयात्मकमष्टकोणं लिखित्वा कोणाष्टगतमृजुरेखाद्वयम् ऋजु प्रसारयेत् । यथा रेखाद्वयं मध्ये परस्परलग्नं क्षुद्रदुन्दुभ्याकारं भवति तथा प्रसार्य दुन्दुभिमध्योभयभागयोः वृत्तद्वयं विधाय बहिर्वृत्तस्य अष्टदुन्दुभ्यग्ररेखाद्वयादारभ्य अर्गलसमाग्राण्यष्टदलानि विरच्य वृत्तत्रयाद्बहिरम्बुजपुटितं घटं रचयेदिति यन्त्रशरीरस्य निर्माणप्रकारः ।

चतुरस्रसम्बन्धादष्टकोष्ठेषु अङ्गानि तदनन्तरकोष्ठेषु पाशाद्यष्टाक्षरं तदनन्तरकोष्ठेषु कामिन्याद्यष्टाक्षरम् अर्गलेषु अचपूर्वेति तदन्तरालकोष्ठद्वन्द्वेषु दुन्दुभ्याकारेषु षोडशाक्षरं लिखेदिति । मन्त्रलेखनस्य एवं श्रौतक्रमोऽपि अनुगृहीतो भवति । अयञ्च पक्षः साम्प्रदायिकः । तदुक्तं दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

ततो भूबिम्बयुगलं संपुटीकृत्य योजयेत् ।
अष्टकोणं यथा देवि जायते दृङ्मनोहरम् ॥
अष्टदिक्षु तदग्राभ्यां रेखे आक्रम्य मान्त्रिकः ।
रेखाभ्यामर्गलाकारं विदध्याद्देवि सुन्दरम् ॥
एकेनैव तु मानेन रचयेदर्गलाष्टकम् ।
वृत्तं तदग्रे चन्द्रस्य बिम्बवद् चरयेद् बुधः ॥
पुनरन्तः समाकृष्य पूर्ववृत्तमा नुत्तमम् ।
विलिख्य साधकेन्द्रस्तु वसुकोष्ठयुगं क्रमात् ॥

व्यक्तं यथा भवेद्देवि कोणानां च वसुद्वयम् ।
अर्गलानि च रम्याणि यथा सम्यग् भवन्ति हि ॥ इति ।

ततस्तदुपरि अष्टदलपद्मपत्रेषु केसरगां मायाम् । चतुर्थस्वरो मायाशब्दवाच्यः । तथा च निघण्टुमातृकायाम्—

ईस्त्रिमूर्त्तिर्वामनेत्रं शेखरः कौटिलस्तथा ।
वाग्मी शुद्धश्च जिह्वाख्यो मायाविष्णुः प्रकाशितः ॥ इति ।

आत्मा आत्ममन्त्रो हंसः इति ताभ्यां संहिताम् उभयपार्श्वे युताम् अकाराद्याकारद्यन्तगतां लिखेत् । तेनायमर्थः । प्रतिकेसरम् अं हंसः ईं हंसः आं इति सप्ताक्षराणि लिखेत् । तदुक्तम्—

हंसः पदं वामनेत्रं बिन्द्विन्दुपरिभूषितम् ।
पुनर्हंसः पदं चैतत् पञ्चार्णं मनुमालिखेत् ॥
स्वरद्वन्द्वोदरगतं सप्तार्णं चाष्टधा भवेत् । इति ।

आचार्याश्च— पद्मस्य केसरेषु च युगस्वरान्वितां तथा मायाम् । इति ।

पद्मपादाचार्यास्तु अं हं ईं सः आं एवमादयः केसरेषु लेख्या इत्याहुः । दलेषु त्रिपङ्क्तिक्रमात् मूलं लिखेत् । तत्र पङ्क्तिद्वयं तिर्यक् विलिख्य तदुपरि एकां पङ्क्तिं लिखेदिति सम्प्रदायविदः । अन्ये तु अधोऽधः पङ्क्तित्रयलेखनं वदन्ति । त्रिरिति । तत्रैका पाशाङ्कुशाभ्यां द्वितीया क्रमलिपिभिः तृतीया व्युत्क्रमलिपिभिरित्यर्थः । तदुक्तम्—

पाशाङ्कुशाभ्यां तद्बाह्ये वृत्ताकारेण वेष्टयेत् ।
अनुलोमप्रकारेण मातृकावेष्टनं प्रिये ॥
तथैव प्रतिलोमेन मातृकावेष्टनं लिखेत् । इति ।

आचार्याश्च—पाशाङ्कुशबीजाभ्यां प्रवेष्टयेद् बाह्यतश्च नलिनस्य ।
अनुलोमविलोमगतैः प्रवेष्टयेदक्षरैश्च तद्बाह्ये ॥ इति ।

पद्मस्थेन तूर्द्ध्वमुखाब्जकर्णिकास्थाने घटेन पङ्कजमुखेन अधोमुखपङ्कजवदनेन वीतम् । प्राभृतमुपपदारूपम् ॥ ९१-९३ ॥

आठ आठ कोणों का दो चतुरस्र निर्माण करे । उसके आठों दिशाओं में ८ अर्गला बनाकर एक वृत्त बनावें । उसमें पाश (आं) के सहित त्र्यक्षर (ह्रीँ) लिखे । पुनः दोनों चतुरस्रों के बीच के सन्धि में वृत्त बनावे । उसके आठों कोष्ठकों के आग्नेयादि कोणों में क्रमशः हृदय, शिर, शिखा तथा कवच का मन्त्र लिखे अग्रभाग में नेत्र लिखे, दिशाओं के कोणों में अस्त्र लिखे । उसके ऊपर के आठ कोष्ठकों में पाश (आं) से युक्त श्री (श्रीँ), शक्ति (ह्रीँ), कन्दर्प (क्लीँ), काम (क्लीँ), शक्ति (ह्रीँ), इन्दिरा (श्रीँ) तथा अंकुश इन आठ आँ अक्षरात्मक प्रथम अष्टक को लिखे (द्र. ९. ९३) । पुनः उसके बाहर की सन्धियों में वृत्त बना कर उससे उत्पन्न ८ कोणों में 'कामिनि रञ्जिनि स्वाहा' इस दूसरे अष्टक को लिखे । इस प्रकार दोनों अष्टकमन्त्रों को लिख लेने के पश्चात् आङ्गलाओं में पूर्व

पश्चिम दिशाओं के क्रम से अच् पूर्वक छः ह्रस्व दीर्घ वर्णों से युक्त ल् य् व् र् अक्षरों से युक्त व्योमासन (हकार) वर्णा को तीन पंक्ति में लिखें ॥ ९१ ॥

चतुरस्र सम्बन्ध से बने हुये आठ कोष्ठकों में अङ्ग उसके बाद वाले कोष्ठक में पाशनादि अष्टाक्षर मन्त्रों को लिखे (द्र. ९. ९३) पुनः उसके बाद वाले आठ कोष्ठकों में 'कामिनि रञ्जिनि स्वाहा' इस दूसरे अष्टक मन्त्र को लिखे (द्र. ९. ९४) । तदनन्तर केसरों पर दो दो स्वरों के मध्य में आत्मा मन्त्र (हंस) से संपुटित माया 'ईं' मन्त्र लिखे (अं हंसः ईं हंसः आँ) इस प्रकार सात अक्षर प्रथम केशर पर दूसरे तीसरे आदि केशरों पर अं के स्थान पर इं तथा 'आँ' के स्थान पर ईं इस प्रकार स्वरों को क्रमशः बदलते हुये लिखे । पुनः दलों पर तीन पंक्तियों में मूल मन्त्र इस प्रकार लिखे । प्रथम पक्ति पाश (आँ) अंकुश (क्रों) इससे संपुटित मूल मन्त्र लिखे । द्वितीय पङ्क्ति में अकार से लेकर क्षकारान्त वर्णों से संपुटित मूल मन्त्र लिखे । पुनः तृतीय पंक्ति में क्षकार से ले कर अकारान्त वर्णों को विलोम रूप से संपुटित कर मूल मन्त्र लिखे ॥ ९२-९३ ॥

अष्टार्णमन्त्रः

पाशश्रीशक्तिकन्दर्पकामशक्तीन्दिराङ्कुशाः ॥ ९३ ॥
प्रथमोऽष्टाक्षरो मन्त्रस्ततः कामिनि रञ्जिनि ।
स्वाहान्तोऽष्टाक्षरः सद्भिरपरः कीर्त्तितो मनुः ॥ ९४ ॥

अष्टार्णमन्त्रमाह पाशेति । पाशः आं कन्दर्पः कामबीजम् इन्दिरा श्रीबीजम् अङ्कुशः क्रों । अयमपि स्वतन्त्रो मन्त्रः । अस्य ऋष्यादिकं यथा—

ऋष्याद्या अजगायत्रशक्तयः समुदीरिताः ।
षड्दीर्घमाययाऽङ्गानि सर्वैरष्टाङ्गमिष्यते ॥
आनन्दरूपिणीं देवीं पाशाङ्कुशधनुः शरान् ।
बिभ्रतीं दोर्भिररुणां कुचार्त्तां हृदि भावयेत् ॥
अष्टलक्षं जपेत् साज्यैर्दशांशं जुहुयात्तिलैः ।
शाक्ते पीठे यजेद्देवीं हृल्लेखाद्याभिरङ्गकैः ॥
मातृभिर्लोकनाथैश्च वज्राद्यैः पञ्चमावृतिः ।
स्त्रीवश्याकर्षणादौ तु विनियोग उदाहृतः ॥ इति ।

द्वितीयमष्टाक्षरमुद्धरति तत इति । अयमपि स्वतन्त्रो मन्त्रः । अस्यर्ष्यादिकं यथा—

ऋषिः समोहनश्छन्दो निवृत् प्रोक्तोऽस्य देवता ।
सर्वसम्मोहिनी चाङ्गं द्विरावृत्तपदैर्भवेत् ॥
श्यामाङ्गी वल्लकीं दोर्भ्यां वादयन्तीं सुभूषणाम् ।
चन्द्रावतंसां विविधगानैर्मोहयन्तीं जगत् ॥
पूर्वमेवायुतद्वन्द्वं दशांशं जुहुयात्ततः ।
मधूकजैस्त्रिमध्वक्तैः सर्वं मोहयते जगत् ॥

पूजा मातङ्गिनीपीठे रत्याद्यास्तु त्रिकोणके ।
पञ्चकोणे पञ्चबाणाः केसरेष्वङ्गपूजनम् ॥
अनङ्गकुसुमाद्यास्तु पत्रेष्वग्रे च मातरः ।
लोकपालैश्च वज्राद्यैः सप्तावृत्तिरियं मता ॥

नारायणीये तु—लाक्षया लिखितं वामहस्तेऽष्टदलपङ्कजे ।
वश्यं स्याद्दर्शितं मन्त्रं पूर्ववत् क्रिययाऽपि च ॥
भूर्जे लिखित्वा चाष्टारे धारयेद् बाह्यवश्यकृत् ।
मन्त्रं विविक्तकुड्यादाविमं संलिख्य साधकः ।
पश्यन्नेव जपेन्मौनी तूर्णमायाति कांक्षिता ॥ इति ॥ ९३-९४ ॥

यह घटार्गल मन्त्र जिसका निर्देश हमने (९. ९२-९३) किया है । मन्त्रज्ञों का भगवती के लिये एक उपहार स्वरूप माना गया है । पाश (आँ), श्री (श्रीँ) शक्ति (ह्रीँ) कन्दर्प बीज क्लीं काम बीज (क्लीं), शक्ति (ह्रीँ) इन्दिरा (श्रीँ) अंकुश (क्रोँ) यह आठ अक्षर का समुदाय प्रथमाष्टक मन्त्र कहा जाता है, इसके बाद 'कामिनि रञ्जिनि स्वाहा' यह दूसरा अष्टक मन्त्र सज्जनों ने कहा है ॥ ९४ ॥

षोडशाक्षरमन्त्रः

ह्रीँ गौरि रुद्रदयिते योगेश्वरि सवर्म फट् ।
द्विठान्तः षोडशार्णोऽयं मन्त्रः सद्भिरुदीरितः ॥ ९५ ॥

षोडशाक्षरमन्त्रमुद्धरति ह्रीमिति । वर्म हुं । अयमपि स्वतन्त्रो मन्त्रः । अस्य ऋष्यादिकं यथा— ऋषिस्त्वजः समुद्दिष्टश्छन्दोऽनुष्टुप् च देवता ।
गौरीचण्डकात्यायनी वश्यसम्पत्प्रदायिका ॥
षड्दीर्घमायया कुर्यात् षडङ्गानि मनोरथ ।
हेमाभां बिभ्रतीं दोर्भिर्दर्पणाञ्जन साधने ॥
पाशाङ्कुशौ सर्वभूषां तां गौरीं सर्वदा भजे ।
एकलक्षं जपेन्मन्त्रं तद्दशांशं हुनेत् घृतैः ॥
धर्मादिकल्पिते पीठे पीठशक्तीरिमा यजेत् ।
प्रभा ज्ञाना च वाग्वागीश्वरी स्यात् ज्वालिनी परा ॥
वामा ज्येष्ठा च रौद्री च गुह्यशक्तिश्च ता नव ।
ह्रस्वत्रय क्लीबवर्जस्वराढ्या भृगुणाऽन्विताः ॥
गौं गौरि मूर्त्तये हृच्च पीठमन्त्रश्च कल्पिते ।
एवं पीठे यजेद्देवीं चन्दनाद्यैर्मनोहरैः ॥
सुभगायै च विद्यान्ते हेऽन्ते स्यात् काममालि च ।
न्यै स्यात् धीमहि तन्नो गौरी स्यात्तत् प्रचोदयात् ॥
गायत्र्या त्वनया सर्वानुपचारान् प्रकल्पयेत् ।
अङ्गानि पूर्वमभ्यर्च्य सुभगाद्यास्ततो यजेत् ॥
भृगुः साम्बुः सद्वितुर्यषष्टाकेन्दुस्तदादिकाः ।
सुभगा ललिता चान्या कामिनी काममालिनी ॥

दिक्ष्वन्यत्राऽप्यायुधानि लोकपालैस्तदायुधैः ।
वामाक्ष्या नाम निशया वामोरौ विलिखेत् निशि ॥
आच्छादयन् वामदोष्णा तन्मनाः प्रजपेन्मनुम् ।
शतं सहस्त्रं लोलाक्षीमानयेत् काममोहिताम् ॥ इति ।

नारायणीये तु—नृवश्ये दक्षिणं विदुरिति विशेषः ।
एतन्मन्त्रेण संजप्तं गन्धपुष्पजलादि च ।
दत्तं संसेवितं सर्वजनतावश्यकारकम् ॥
चण्डकात्यायनी विद्या त्रिषु लोकेषु दुर्लभा ॥ इति ॥ ९५ ॥

अब **अन्य षोडशाक्षर मन्त्र का उद्धार** कहते हैं—'ह्रीं गौरि रुद्रदयिते योगेश्वरि हुं फट् स्वाहा'—सोलह अक्षरों से युक्त इस मन्त्र को सज्जनों ने कहा है ।। ९५ ।।

यन्त्रधारणनियमः

लिखित्वा भूर्जपत्रादौ यन्त्रमेतद् यथाविधि ।
धारयन् वामबाहौ वा कण्ठे वा निजमूर्द्धनि ॥ ९६ ॥
वशयेत् सकलान् मर्त्यान् विशेषेण महीपतीन् ।
नीलपट्टे विलिख्यैतद् गुटिकां कृत्य तत् पुनः ॥ ९७ ॥
साध्यप्रतिकृतेः सिक्थनिर्मिताया हृदि न्यसेत् ।
पात्रे त्रिमधुरापूर्णे निःक्षिप्यैनां विधानतः ॥ ९८ ॥
संपूज्य गन्धपुष्पाद्यैर्बलिं निःक्षिप्य रात्रिषु ।
मूलमन्त्रं जपेन्मन्त्री नित्यमष्टसहस्त्रकम् ॥ ९९ ॥
सप्ताहाद्वाञ्छितां नारीमाकर्षेत् स्मरविह्वलाम् ।
भूर्जपत्रे विलिख्यैतद् गुटिकां कृत्य तत् पुनः ॥ १०० ॥

यथाविधि लिखित्वा इत्यनेन पुष्यार्कादौ कृतोपवासादिरित्युक्तम् । पुष्यार्कस्य अष्टमे भागे इत्युक्तेः नीलपट्टे विलिख्यैतदिति अनामारक्तादिभिः ।

तदुक्तम्—लिखेदनामारक्तेन लाक्षेन्द्रियमलैः सह । इति ।

सिक्थं मधूच्छिष्टम् । विधानतः सम्पूज्येति हस्तमात्रखातां रक्तैर्गन्धादिभिरित्यर्थः ।

उक्तञ्च नारायणीये— काञ्चिकाधो निधायैनां रक्तपुष्पैः समर्चयेत् । इति ।

बलिमिति पायसादिना । त्र्यक्षरेणैव निक्षिप्येति दत्त्वा । मूलमन्त्रं त्र्यर्णं । आकर्षेदिति प्रकारान्तरेण वा । तदुक्तं नारायणीये—

तापयेत् पुत्तलीं चाग्नी यथा सा न प्रलीयते इति ॥ ९६-१०० ॥

इस मन्त्र को भोज पत्रादि पर अथवा नीले वस्त्र पर उपवास युक्त हो रविवार के दिन जब पुष्य नक्षत्र हो तब शास्त्र के अनुसार अनामिका अङ्गुली के रक्त से

लिखे । तदनन्तर इसे बायें हाथ में, अथवा कण्ठ में अथवा मस्तक में धारण करे तो वह संपूर्ण मनुष्यों को अपने वश में कर लेता है, विशेष कर राजा महाराजाओं को वशीभूत कर लेता है । इसे नीले वस्त्र पर लिखे पुनः उसको मोड़कर गोला बना मधु निर्मित साध्य स्त्री की प्रतिकृति (पुतली) के हृदयस्थान में स्थापित करे और पुनः त्रिमधुर (आज्य, मधु, दूध) निर्मित पात्र में विधानपूर्वक स्थापित करे, गन्ध पुष्पादि से पूजा करे, प्रतिदिन रात्रि में पायसादि की बलि देवे तथा नित्य ८ हजार मूल मन्त्र का जप करे ॥ ९६-९९ ॥

ऐसा करने से सप्ताह के भीतर ही साधक जिस नारी को चाहे उसे कामार्त्त कर अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है ॥ १०० ॥

लाक्षया ताम्ररजतकाञ्चनैर्वेष्टयेत् क्रमात् ।
तत्कुम्भे न्यस्य संपूज्य यथावद्भुवनेश्वरीम् ॥ १०१ ॥
संस्पृश्य तं जपेन्मन्त्रं दिवाकरसहस्रकम् ।
अभिषिच्य प्रियं साध्यं बध्नीयाद् यन्त्रमाशिखम्॥ १०२ ॥
कान्तिपुष्टिधनारोग्ययशांसि लभते नरः ।
भित्तौ विलिख्य तन्मन्त्रं पूजयेन्नित्यमादरात् ॥ १०३ ॥
भूतप्रेतपिशाचास्तं न वीक्षितुमपि क्षमाः ।
तद्विलिख्य शिरस्त्राणे साधितं धारयन् भटः ।
युद्धे रिपून् बहून् हत्वा जयमाप्नोति पार्थवत् ॥ १०४ ॥

ताम्रेति पूर्वोक्तप्रमाणैः । यथावदिति त्र्यक्षर्यक्तमार्गेण । तं कुम्भम् । मन्त्रमिति कर्णिकास्थम् । दिवाकरेति द्वादश । भित्तौ विलिख्येति गैरिकया । तदुक्तम्—

गैरिकया लिखेद् यन्त्रं गृहभित्तौ वरानने ।
ग्रहाणां चैव सर्वेषां द्विषतां चैव नाशनम् ॥
विलिख्य पूज्यते तत्र सर्वे मूढाः सुमोहिताः ।
भवन्ति वशगास्तस्य न पुनर्यान्ति विक्रियाम् ॥
शत्रवो दुर्जया दुष्टाः सर्वे ते तस्य किङ्कराः ।
न तस्य जायते दुष्टो हिंसको न च बाधकः ॥
ग्रहयक्षपिशाचाश्च भूतवेतालदंष्ट्रिणः । इति ॥ १०१-१०४ ॥

अब इसका **अन्य प्रयोग** कहते हैं—इस मन्त्र को भोजपत्र पर लिखे । पुनः उसे गोलाकार बनाकर लौह, ताम्रा, रजत अथवा सुवर्ण के बने हुये यन्त्र में रख कर वेष्टित करे और कुम्भ पर रख कर उसमें भुवनेश्वरी का आवाहन कर पूजन करे ॥ १००-१०१ ॥

उस कलश का स्पर्श कर १२ हजार इस मन्त्र का जप करे । तदनन्तर उस कुम्भ के जल से अपने साध्य का अभिषेक करे और इस मन्त्र को शिखा में बाँध देवे ॥ १०२ ॥

ऐसा करने से उस साध्य को कान्ति पुष्टि, धन, आरोग्य तथा यश की प्राप्ति होती है । इस मन्त्र को गेरुक से आदरपूर्वक भीत पर लिखे ॥ १०३ ॥

भित्ति पर लिखने से उस घर को भूत, प्रेत पिशाच देख भी नहीं सकते, घुसने की बात ही क्या ? । यदि योद्धा सिद्ध किये गये इस मन्त्र को अपने शीर्षण्य (शिरो वस्त्र) में लपेट कर रखे तो वह युद्ध में अनेक योद्धाओं को मार कर अर्जुन की तरह विजय प्राप्त करता है ॥ १०४ ॥

यन्त्रान्तरद्वयम्

वज्राङ्किते वह्निपुरद्वये तां
पशाङ्कुशाढ्यामुदरस्थसाध्याम् ।
मध्येऽथ कोणेषु च बाह्यवृत्ते
पुनः पुनस्तत् विलिखेत् समन्तात् ॥ १०५ ॥
भूर्जे लिखितमेतत् स्यात् सर्ववश्यकरं नृणाम् ।
आरोग्यैश्वर्यजननं युद्धेषु विजयप्रदम् ॥ १०६ ॥

यन्त्रान्तरमाह वज्रेति । वह्निपुरद्वये परस्परव्यतिभिन्ने षट्कोणे । वज्राङ्किते स्वस्तिकस्थाने । वह्निपुरद्वये मध्ये इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ । तां मायाम् । तदिति त्र्यक्षरम् ॥ १०५-१०६ ॥

षट्कोण के मध्य में ह्रीँ से संपुटित पाश (आँ) अंकुश (क्रोँ) युक्त अपने साध्य को लिखे । इसी प्रकार कोणों पर, बाहरी वृत्तों पर और उसके चारों ओर बारम्बार लिखे ।

भूर्ज पत्र पर इस प्रकार के मन्त्र लिखने से साध्य को आरोग्य, ऐश्वर्य की प्राप्ति तो होती ही है और युद्ध में विजय भी होता है ॥ १०५-१०६ ॥

भूर्जे सरोजे स्वरकेसाराढ्ये
वर्गाष्टपत्रे वसुधापुरस्थे ।
पाशाङ्कुशाभ्यां गुणशः प्रबद्धां
मायां लिखेन्मध्यगतांससाध्याम् ॥ १०७ ॥
सर्वोत्तममिदं यन्त्रं धारितं कुरुते नृणाम् ।
आरोग्यैश्वर्यसौभाग्यविजयादीननारतम् ॥ १०८ ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचिते शारदातिलके
नवमः पटलः समाप्तः ॥ ९ ॥

यन्त्रान्तरमाह भूर्ज इति । पाशाङ्कुशाभ्यां प्रबद्धां मायां गुणशः त्रिशो लिखेदिति सम्बन्धः । प्रबद्धां निबद्धाम् । यदा लिखेदित्येव पाठः तदा लिखेत् सरोजं स्वरकेसराढ्यं वर्गाष्टपत्रं वसुधापुरस्थम् इति पठनीयम् ।

अन्ये लिखेदित्येव पठित्वा लिखेत् यन्त्रम् इति शेषः । तत् कीदृक् इत्यपेक्षायां सरोजे मायां लिखेदिति वदन्ति ॥ १०७-१०८ ॥

॥ इति श्रीराघवभट्टविरचित-शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां नवमः पटलः ॥ ९ ॥



भूर्ज पत्र पर अष्टदल कमल निर्माण करे, उसके केशरों पर दो दो स्वरों को लिखे । अष्टदल पर आठ वर्गाक्षरों को लिखे तथा भूपुर में आँ क्रों, ह्रीं आँ, क्रों, इस प्रकार पाश, अंकुश से बँधी हुई माया को तीन बार लिखे । मध्य में अपना साध्य लिखे । यह मन्त्र सर्वोत्तम हैं । इसको धारण करने वाला मनुष्य निरन्तर आरोग्य, ऐश्वर्य, भाग्य एवं विजय प्राप्त करता है ॥ १०७-१०८ ॥

॥ इस प्रकार शारदातिलक के नवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ९ ॥



अथ दशमः पटलः

अथ त्वरिताप्रकरणम्

ततोऽभिधास्ये त्वरितां त्वरितं फलदायिनीम् ।
तारो मायावर्मबीजमृद्धिरीशस्वरान्विता ॥ १ ॥

द्वादशाक्षरमन्त्रः । ऋष्यादिकथनम्

कूर्मस्तदन्त्यो भगवान् क्षः स्त्री दीर्घतनुच्छदम् ।
संवर्ती भगवान्माया फडन्तो द्वादशाक्षरः ॥ २ ॥
मुनिरर्जुन आख्यातो विराट्छन्दः समीरितम् ।
त्वरिता देवता प्रोक्ता पुरुषार्थफलप्रदा ॥ ३ ॥

एवं भुवनेश्वरीमन्त्रानुक्त्वा अत्र पाशादिमन्त्रस्य नित्यामन्त्रत्वात् तत्प्रसङ्गादन्यान् त्वरितानित्यादिमन्त्रान् वक्तुमुपक्रमते तत इति । त्वरितफलदायिनीमिति त्वरिताशब्दव्युत्पत्तिर्दर्शिता । तदुक्तम्—

भक्तियुतानां त्वरया सिद्धिकरी चेति मन्त्रिणं सततम् ।
देव्यास्त्वरिताख्या स्यात् त्वरितं क्ष्वेलग्रहादिहरणतया ॥ इति ।

मन्त्रमुद्धरति तार इति । तारः प्रणवः माया शक्तिबीजं वर्मबीजं हुं । ऋद्धि कलान्यासे खः ईशस्वर एकादशस्वरः एतेनान्विता तेन खे । कूर्मश्चकारः तदन्तः छः भग एकारस्तद्वान् भगवान् एकारयुक्तस्तेन छे । क्षःस्त्री स्वरूपम् । अत्र क्षकारः सविसर्गो ज्ञेयः । सामन्तमालयमित्युक्तेः । दीर्घतनुच्छदं हूं । संवर्त्तः क्षः भगवानेकारयुक्तः । तेन क्षे । अस्याश्च देव्याः शापोऽस्तीति प्रसिद्धिः । तेन केचन क्षे इति वर्णं कीलकं मन्यन्ते । तदर्थं च क्षेकारं पूर्वमुच्चार्याऽन्ते हूंकारमुच्चारयति । दक्षिणामूर्त्तिसंहितायां तु—कवचं स्त्रीमिमे बीजे कीलके तु प्रकीर्त्तिते । इति ।

केचन पूर्वं हूंकारं पश्चात् क्षेकारमिति महती आचार्याणां विप्रतिपत्तिः । तत्र यथा वृक्षादीनां क्वचिद् ग्रन्थयो भवन्ति तथैव मन्त्राणामपि स्वभावादेव कीलाख्या ग्रन्थयो भवन्ति । तेन कालविलम्बासिध्यादयो दोषाः भवन्ति । स च अक्षरविशेषगत एव जायते । तत्र केषु चिन्मन्त्रेषु तदक्षरमुद्धृत्य शास्त्रीयेण केनचिदक्षरेण परिपूर्य जपं कुर्वन्ति । केषु चित्तदनुद्धृत्यैवाऽक्षरान्तरप्रक्षेपेण जपं कुर्वन्ति । केषुचित् कीलाख्यो विद्यमानोऽपि दोषावहो न । यथा वृक्षादिषु विद्यमाना अपि ग्रन्थयः केषुचिदेव दोषावहाः केषुचित्तु गुणायैव भवन्ति । यथा—

चन्दनस्य त्रयः श्रेष्टा ग्रन्थिकर्पटकोटराः । इति ।

यदाहुः— दुष्टोऽणुः कीलको ज्ञातः सिद्धेस्तु प्रतिबन्धकः ।
अदुष्टः कीलको ज्ञातः स्यात् सुसिद्धिप्रदायकः ॥ इति ।

तत्र तु तत्कीलकदोषापहाराय मायाद्वयसहितो मन्त्र उद्धृतः ।

तदुक्तमाचार्यैः— तारान्तेऽस्त्रादावपि मायाबीजं प्रयोजयेत् मन्त्री ।
तेन हि कांक्षितसिद्धिः भूयादचिरेण मन्त्रविदाम् ॥ इति ।

नारायणीयेऽपि— फट्तारां तयोर्देव्या युक्तं तत् सर्वसिद्धिदम् । इति ।

प्रणवो बीजं माया शक्तिः । हुँ बीजमिति पद्मपादाचार्याः । पुरुषार्थेति विनियोगोक्तिः ॥ १-३ ॥

अब मैं त्वरित (शीघ्र) फल देने वाली त्वरिता के विषय में कहूँगा—तार (ॐ), मायाबीज (ह्रीँ), वर्मबीज (हुं) शेखर (एकार) से युक्त ऋद्धि खकार, कूर्म (चकार) उसके बाद भग (एकार) युक्त छकार (क्षः) फिर स्त्री पद तदनन्तर दीर्घतनुच्छद (हूँ) उसके बाद एकार युक्त क्ष तदनन्तर माया (ह्रीँ) अन्त में फट् इस प्रकार त्वरिता का द्वादशाक्षर मन्त्र उद्धृत किया गया ।

विमर्श—इसका स्वरूप इस प्रकार होना चाहिए—'ॐ ह्रीँ हुं खे च छे क्षः स्त्री हूँ क्षे ह्रीँ फट्' ॥ १-२ ॥

इस मन्त्र के मुनि अर्जुन हैं । इसका विराट् छन्द है तथा देवता त्वरिता हैं जो चारों पुरुषार्थों के फलों को प्रदान करने वाली हैं ॥ ३ ॥

मायाविवर्जितान् वर्णान्मूर्ध्नि भाले गले हृदि ।
नाभिगुह्योरुयुग्मेषु जानुजङ्घापदेषु च ॥ ४ ॥
विन्यस्य व्यापकं कुर्यात्समस्तेनैव साधकः ।
कूर्माद्यैः सप्तभिर्वर्णैः पूर्वपूर्वविवर्जितैः ॥ ५ ॥
द्वाभ्यां द्वाभ्यां षडङ्गानि कल्पयेत्साधकोत्तमः ॥ ६ ॥

अक्षरन्यासमाह मायेति । अनेन दशवर्णानामेव न्यासः । तत्र ऊरुयुग्मादि-स्थानद्वयेऽपि एकैकाक्षरन्यासः । पदेष्विति पादयोः । साधक इत्यनेन व्यापके माया-सहितोच्चारणमुक्तम् ।

षडङ्गमाह कूर्माद्यैरिति । कूर्मश्चकारस्तस्याद्यः खे । बहुवचनम् आद्यर्थं तेन खेप्रभृतिभिः सप्तभिर्वर्णैः अत्र कूर्माद्यैः सप्तभिर्वर्णैरिति । प्रधानेन पूर्वक्रियान्वये प्राकराकांक्षायामरुणाधिक न्यायेन द्वाभ्यां द्वाभ्यामित्यस्य पार्ष्णिकोन्वयः । तेन खे च इति हृत् । च छे शिरः छे क्षः शिखेत्यादि । तदुक्तं नारायणीये दशाक्षरं मन्त्रमुद्धृत्य—

नवमान्तं तृतीयादिपदस्यावर्णसप्तकम् ।
तेनाङ्गानि द्विवर्णानि कर्त्तव्याण्युपदेशतः ॥ इति ।

केचित्तु कूर्मश्चकारः स आद्यो येषां तैः सप्तभिर्वर्णैरिति व्याचक्षते । तन्मते

मायाविवर्जितानिति पदमनुवृत्य पश्चाद्विभक्तिविपरिणामेव विवर्जितैरिति कृत्वा प्रकृते योजनीयं तेन चकारादिफडन्तैः षडङ्गम् । तदुक्तं कादिमते दशाक्षरं मन्त्रमुद्धृत्य—

विद्या चतुर्थवर्णादि सप्तभिरक्षरैस्तथा ।
कुर्यादङ्गानि युग्मार्णैः षट्क्रमेण कराङ्गयोः ॥ इति ।

संहितायां च—च छे युग्मं हच्छिरस्तत् छेक्षो युग्मं शिखा ततः ।
क्षः स्त्रीयुगं च कवचं स्त्री हुमात्मयुगं तथा ॥
हूं क्षे नेत्रे तु विन्यस्य क्षे फडस्त्रं प्रकीर्त्तितम् ॥ इति ।

एतत्पक्षद्वयमपि स्वस्वगुरुसम्प्रदायानुसारेण बोद्धव्यम् । साधकोत्तम इत्यनेन ह्रीमिति कुण्डलिनीबीजस्य षड्दीर्घयुक्तमायाबीजस्य च अङ्गमन्त्रेषु योगः सूचितः । अतएव नारायणीये उपदेशत इत्युक्तिः ॥ ४-६ ॥

इस मन्त्र में दो स्थान पर ह्रीँ आया है, उन दोनों को निकाल देने पर दश अक्षर शेष रहते हैं उन दश अक्षरों से शिर, भाल, गला, हृदय, नांभि, गुह्य दोनों ऊरु, दोनों जानु दोनों जङ्घा, तथा दोनों पैर में क्रमशः एक एक त्वरिता के बीजाक्षरों से न्यास कर समस्त मन्त्र पढ़कर साधक व्यापक न्यास करे ।। ४-५ ।।

कूर्म (चकार) के आदि में रहने वाले, वर्ण (खे) उसके सहित दो दो वर्णों से उत्तम साधक क्रमशः न्यास करे । किन्तु आगे आगे न्यास स्थानों में पूर्व पूर्व वर्ण छोड़ता जावे । जैसे—खे च इति हृदये, इसी प्रकार इति शिरा से पुनः 'छे क्षः' शिखायाम् । क्षः स्त्री इति कवचाय हुँ, स्त्री हूं इति नेत्रयोः । 'हूं क्षे' इति सर्वांगे ।। ५-६ ।।

ध्यानम्

श्यामां बर्हिकलापशेखरयुतामाबद्धपर्णांशुकां
गुञ्जाहारलसत्पयोधरभरामष्टाहिपान् बिभ्रतीम् ।
ताटङ्काङ्गदमेखलागुणरणन्मञ्जीरतां प्रापितान्
कैरातीं वरदाभयोद्यतकरां देवीं त्रिनेत्रां भजे ॥ ७ ॥

ध्यानमाह श्यामामिति । कलापो बर्हः । इदं वलयादीनामुपलक्षकम् ।
तदुक्तं नारायणीये—मायूरवलया पिच्छमौलिः किसलयांशुका ।
सिंहासनस्था मायूरछत्रा बर्हिध्वजान्विता ॥ इति ।

ताटङ्कादीन् प्रापितानष्टाहिपान् सर्पेन्द्रान् बिभ्रतीम् । तत्रानन्तकुलिकौ ताटङ्कतां गतौ वासुकीशङ्खपालौ अङ्गदतां गतौ तक्षकमहापद्मौ मेखलतां गतौ कर्कोटकपद्मनागौ नूपुरतां गतौ ध्येयौ । तदुक्तं नारायणीये—

विप्राहिकुण्डला राजनागकेयूरसंयुता ।
वैश्यनागकटीबन्धा वृषलो नागनूपुरा ॥ इति ।

एषां ध्यानमुक्तम्—अनन्तकुलिकौ विप्रौ वह्निवर्णावुदाहृतौ ।
प्रत्येकं तु सहस्रेण फणानां समलङ्कृतौ ॥
वासुकिः शङ्खपालश्च क्षत्रियौ पीतवर्णकौ ।

प्रत्येकं तु फणासप्तशतसंख्याविराजितौ ॥
तक्षकश्च महापद्मो वैश्यावेतावही स्मृतौ ।
नीलवर्णौ फणापञ्चशततुङ्गोत्तमाङ्गकौ ॥
पद्मककर्कोटकौ शूद्रौ फणात्रिशतकौ सितौ ॥ इति ।
आयुधध्यानं वामदक्षिणयोरिति सम्प्रदायविदः ॥ ७ ॥

अब **त्वरिता का ध्यान** कहते हैं—जिनके शरीर का वर्ण श्याम है, तथा शिरोभाग में मोर मुकुट विराज रहा है। जो पत्तों के वस्त्र से सुशोभित हैं, जिनके स्तन प्रदेश पर गुञ्जा का हार लटक रहा है। जो 'अनन्त कुलिश' नामक फणीशों का कर्णफूल, वासुकि शङ्खपाल नामक नागराजों का केयूर, तक्षक महापद्म की मेखला तथा कर्कोटक, पद्मनाभ का नूपुर (इस प्रकार आठ नागराजों को) धारण की हैं, जिनके हाथ में वर तथा अभय मुद्रा है—ऐसी किरात वेषधारिणी, त्रिनेत्र त्वरिता का मैं भजन करता हूँ ॥ ७ ॥

पुरश्चरणादिकथनम्

लक्षं संजप्य मन्त्रज्ञो मनुमेनं जितेन्द्रियः ।
दशांशं जुहुयाद्बिल्वैर्मधुराक्तैः समिद्वरैः ॥ ८ ॥

मन्त्रज्ञ इत्यनेन ॐ ह्रीं नमो नित्ये स्वाहेति मन्त्रस्य दशांशजपः । शिवपञ्चाक्षरस्य किङ्करमन्त्रस्य ॐ ह्रीं नमो भगवते शवराय महाकिरातरूपाय कङ्कालधराय हूं फट् स्वाहेत्यस्य च शतांशजपः ॥ ८ ॥

साधक अपने इन्द्रियों को वश में कर इस मन्त्र का एक लाख जप करे तथा त्रिमधुर (दूध, घी, मधु) मिश्रित विल्वफलों से एवं उत्तम समिधाओं से उसका दशांश होम करे ॥ ८ ॥

हृल्लेखाकल्पिते पीठे नवशक्तिसमन्विते ।
पूजयेत् त्वरितां देवीं वक्ष्यमाणविधानतः ॥ ९ ॥

हृल्लेखाकल्पिते भुवनेशीप्रोक्ते । तत्पीठशक्तयोऽत्रापि पूज्या इत्यर्थः । नवशक्तिसमन्वित इत्यनेन पीठमन्त्रस्याऽन्यत्वं सूचयति । अत्र पीठमष्टदलमेव । षोडशदलपूज्यदेवतानामनुक्तत्वात् । तदुक्तं संहितायाम्—

अष्टपत्रं लिखेत्पद्मं बहिर्भूबिम्बमालिखेत् ।
प्रत्येकं वसुपत्रेषु कवचं चाष्टधा लिखेत् ॥
मध्ये तु भुवनेशानीं वेष्टयेन्मातृकां बहिः ।
सर्वरक्षाकरं नाम चक्रमेतदुदाहृतम् ॥
अत्रावाह्य पुनर्देवीमुपचारैः समर्चयेत् । इति ।

आचार्याश्च—अष्टहरिविधृतसिंहासने सामावाह्य सरसिजे देवीम् । इति ॥ ९ ॥

तदनन्तर भुवनेश्वरी के लिये कहे गये नवशक्तियों से युक्त पीठ की पूजा कर, आगे कही जाने वाली विधि से त्वरिता देवी की पूजा करे (यहाँ पर पूर्ववत्

अष्टदल पीठ का निर्माण करे, किन्तु उस पर रहने वाली नव शक्तियाँ तथा पीठ पूजा के मन्त्र भिन्न हैं) ॥ ९ ॥

संवर्तको बिन्दुयुतः कवचं सकलं वियत् ।
वज्रदेह पुरुद्वन्द्वमाभाष्य हिङ्गुलुद्वयम् ॥ १० ॥
गर्जयुग्मं वियत्सेन्दु वर्मान्त्यो दीर्घबिन्दुमान् ।
पञ्चाननाय हृदयं पीठमन्त्रः प्रकीर्त्तितः ॥ ११ ॥
दद्यादासनमेतेन मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ।
अङ्गैः प्रणीतां गायत्रीं केसरेष्वर्चयेत् क्रमात् ॥ १२ ॥

आसनमन्त्रमुद्धरति संवर्त्तक इति । बिन्दुयुतः संवर्त्तकः क्षं कवचं हुं । सकलं सबिन्दु कलाशब्देनार्द्धेन्दुः तेन बिन्दुवाचकत्वम् । वियत् हं वज्रदेहपुरुपुरुस्वरूपम् । क्षिमाभाष्येति सम्बन्धः । सेन्दु सबिन्दु वियत् हं । वर्म हुं अन्त्यः क्षः दीर्घ आकारः बिन्दुः तद्वान् तेन क्षां । हृदयं नमः ॥

आवरणपूजामाह अङ्गैरिति । क्रमादित्यत्रादिषट्सु केसरेषु षडङ्गानि सम्पूज्य कौवेरेशानयोः प्रणीतां गायत्रीं च पूजयेत् इति सम्प्रदायविदः ।

तदुक्तमाचार्यैः—अङ्गैः सह प्रणीतां गायत्रीं पूजयेद्दिशां क्रमतः । इति । पद्मपादाचार्यैरप्येवमेव व्याख्यातम् ।

अन्यत्रापि— अष्टसिंहासने पूज्या दले पूर्वादिके क्रमात् ।
अङ्गप्रणीतां गायत्रीम् । इति ।

त्रोतलामतेऽपि— यजेत्तत्राष्टपत्रेषु पूर्वाशाद्यङ्गदेवताः ।
सौम्ये प्रणीतामैशे च गायत्रीमभिपूजयेत् ॥ इति ।

मन्त्रदेवप्रकाशिकाकारादीनामिदमेव सम्मतम् ॥ १०-१२ ॥

अब **पीठ पूजा का मन्त्र** कहते हैं—बिन्दु युक्त संवर्त्तक (क्षँ) कवच (हुँ) कला सहित वियत् (हय) तदनन्तर 'वज्रदेह पुरु पुरु' यह शब्द पुनः हिङ्गुलु शब्द को दो बार (क्षिँ क्षिँ) तदनन्तर गर्जशब्द दो बार (क्ष्रौं क्ष्रौं) सन्द्र वियत् (हँ) वर्म्म (हुँ) अन्त्याक्षर (क्ष) उसे आकार और बिन्दु से युक्त कर (क्षाम् पश्चात् 'पञ्चाननाय' यह शब्द उसके बाद हृदय (नमः) शब्द वही पीठ पूजन का मन्त्र है। 'क्षं हं वज्रदेह पुरु पुरु क्षिं क्षिं क्ष्रौं क्ष्रौं हं क्षां पञ्चाननाय नमः'—यह मन्त्र का स्वरूप हुआ ॥ १०-११ ॥

इस मन्त्र के द्वारा भगवती को आसन देवे । मूल मन्त्र पढ़कर उस पर भगवती का आवाहन करे । तदनन्तर केशरों पर षडङ्ग की पूजा कर उत्तर में प्रणीता तथा ईशान में गायत्री का पूजन करे ॥ १२ ॥

दलेषु पूजयेदेताः श्रीबीजाद्याः सुभूषिताः ।
हुङ्कारीं खेचरीं चण्डां छेदनीं क्षेपणीं स्त्रियम् ॥ १३ ॥

हूङ्कारी क्षेमकारीं च लोकेशायुधभूषणाः।
फट्कारीमग्रतो बाह्ये कोदण्डशरधारिणीम्॥ १४॥
द्वारस्य पार्श्वयोः पूज्ये हैमवेत्रकराम्बुजे।

दलेष्विति। एता वक्ष्यमाणा मन्त्रार्णशक्तयः सुभुषिता इत्यस्य व्याख्यानम्। लोकेशेति। भूषणशब्दो वर्णवाहनोपलक्षणः। तेनेन्द्रादीनामिव तासां वर्णायुधभूषण-वाहनानीत्यर्थः। उक्तं च त्रोतलामते—

इन्द्रादिलोकपालानां वर्णवाहायुधैः समाः। इति। अग्रत इति देव्याः। केचनात्र लोकपालतदायुधपूजां न कारयन्ति शक्तीनामेव तद्रूपत्वादिति। अन्ये योषिद्रूपान् पूजयन्ति। तदुक्तं त्रोतलामते—

योषिद्भूतान् दिशां नाथान् तद्बाह्यावरणे यजेत्। इति।

अन्ये तु दलाग्रेषु भैरवाङ्कस्था मातरः पूज्या इत्याहुः। उक्तं च त्रोतलामते—

तद्बाह्ये भैरवानष्टौ पीठमातृसमन्वितान् इति॥ १३-१४॥

पुनः अष्ट दलों पर श्री बीज से युक्त १. हुंकारी, २. खेचरी, ३. चण्डा, ४. छेदनी, ५. क्षेपणी, ६. स्त्री, ७. हूँकारी एवं ८. क्षेमकारी—इन आठ महाशक्तियों की पूजा करे। ये सभी शक्तियाँ मनोहर आभूषणों से भूषित हैं तथा लोकेश इन्द्रादिकों के जैसे आयुध, वर्ण, वाहन तथा भूषण धारण करने वाली हैं। इसके बाद अष्टदल कमल से बाहर द्वार के बाहर अग्रभाग के दोनों ओर फट्कारी तथा कोदण्डधारिणी की पूजा करे, जिन्होंने अपने हाथों में सुवर्णमय वेत्र धारण किया है॥ १३-१५॥

किङ्करमन्त्रः

जयाख्या विजयाख्या च किङ्कराय पदं ततः॥ १५॥
रक्षरक्षपदस्याऽन्ते त्वरिताज्ञा स्थिरो भव।
वर्म्मास्त्रान्तेन मनुना किङ्करं तद्बहिर्यजेत्॥ १६॥
लगुडं बिभ्रतं कृष्णं कृष्णबर्बरमूर्द्धजम्।
आरण्यैररुणैः पुष्पैरतिमुक्तैः सुगन्धिभिः॥ १७॥
पूजयेद् धूपदीपाद्यैर्नृत्यगीतैर्मनोरमैः।
एवं सिद्धमनुर्मन्त्री नारीनरनरेश्वरैः॥ १८॥
मान्यते वत्सरादर्वाक् लक्ष्म्या जितधनेश्वरः।
योनिकुण्डं प्रकल्प्यात्र कुर्याद्धोमं निजेच्छया॥ १९॥
मल्लिकाकुसुमैर्हुत्वा वशयेदखिलं जगत्।
कृत्याद्रोहादिशमनं पलाशकुसुमैर्हुतिम्॥ २०॥
इक्षुखण्डैः शुभैर्हुत्वा महतीमृद्धिमाप्नुयात्।
दीर्घमायुरवाप्नोति दूर्वाहोमेन साधकः॥ २१॥

द्वारस्य पार्श्वयोः द्वारबाह्यपार्श्वयोः । द्वारबाह्ये स्थिते इत्युक्तेः । एते अपि द्विभुजे देवतासमानवर्णे च । उक्तं च—शक्तो तत्सदृशा इति ।

किङ्करमन्त्रमुद्धरति किङ्करायेति । वर्म हुं । अस्त्रं फट् । किङ्करो नाम देव्याः प्रेष्यभूतो भूतविशेषः । सोऽपि द्विभुज एव । तद्बहिर्द्वारबहिर्भागे । बर्बरमूर्द्धजमुद्धुषितकेशं कुटिलकेशमिति यावत् ।

त्रोतलातन्त्रे विशेषः—प्रेतासनगतं द्वारबाह्यदेशेऽतिभीषणम् । इति ।

त्वरितामन्त्रजापी त्वरितागायत्रीं जपेत् । यदाहुः—

त्वरितादेविशब्दान्ते विद्महे वर्णमुच्चरेत् ।
विद्यां धीमहि च प्रोक्त्वा तन्नो देवी प्रचोदयात् ॥
गायत्री त्वरितायास्तु जपात् सान्निध्यकारिणी । इति ।

निजेच्छयेति । अनेनैतदुक्तम् । वक्ष्यमाणप्रयोगेषु कार्यगौरवलाघवात् सहस्रं वक्ष्यमाणायुतसंख्या त्रियुता वा होमस्य । जपस्यापि तावतीति ।

तदुक्तम्—हुतसंख्या साहस्त्री त्रियुता वाथाऽयुतान्तिकी भवति ।
यावत्संख्यो होमस्तावज्जप्यश्च मन्त्रिणा मन्त्रः ॥ इति ।

अन्यत्रापि—हुतसंख्या च साहस्त्री सहस्त्रत्रियुतावधि ।
लाघवं गौरवं कार्ये विचार्य निपुणश्चरेत् ॥ इति ।

एतद्धोमदशांशेन पञ्चाक्षरकिङ्कराभ्यामपि होमः सर्वप्रयोगेष्विति ज्ञेयम् ॥

वशयेदित्यत्र कामादित्वम् । कृत्याद्रोहादीत्यत्र नृसिंहादित्वम् । महतीमृद्धिमिति शक्त्यादित्वम् । दीर्घमायुरवाप्नोतीति मृत्युञ्जयादित्वम् । साधक इत्यनेन त्रिःकृतपुरश्चर्य इत्युक्तम् ॥ १५-२१ ॥

अब **किंकर मन्त्र का उद्धार** कहते हैं—'जया', पश्चात् 'विजया', तदनन्तर 'किंकराय', पुनः 'रक्ष रक्ष त्वरिताज्ञा स्थिरो भव', इसके बाद वर्म (हुँ) एवं अस्त्र (फट्) का उच्चारण करे । इस प्रकार 'जया विजया किंकराय रक्ष रक्ष त्वरिताज्ञा स्थिरो भव हुं फट्'—यह **मन्त्र का स्वरूप** हुआ ॥ १६ ॥

इसी मन्त्र से द्वार के बाहरी भाग में देवी के प्रेष्य भूत किंकर की पूजा करनी चाहिए । देवी का यह किंकर हाथ में लगुड लिये हुये है, इसके शरीर का वर्ण काला है, केश काले तथा कुञ्चित (घुंघराले) हैं ॥ १७ ॥

इस प्रकार के किंकर की जङ्गली लाल लाल फूलों से तथा सुगन्धित अतिमुक्तक के पुष्पों से धूप, दीप, मनोहर नृत्य एवं गीतों द्वारा पूजा कर सिद्ध करे । तब मन्त्र की सिद्धि होती है । इस प्रकार से मन्त्र को सिद्ध करने वाला सभी स्त्रियों पुरुषों एवं राजाओं से पूजित होता है ॥ १८ ॥

वह साधक एक संवत्सर के पहले ही अपनी संपत्ति से कुबेर को जीत लेने में समर्थ हो जाता है । अब योनिकुण्ड बनाकर उसमें तत्तत्पदार्थों के होम से जिन जिन कामनाओं की पूर्त्ति होती है, उसे कहते हैं ॥ १९ ॥

मल्लिका पुष्पों के होम से साधक समस्त जगत् को वश करने में समर्थ हो जाता है । पलाश कुसुमों से होम करने से कृत्या तथा समस्त द्रोह अपने आप शान्त हो जाते हैं ।। २० ।।

उत्तम उख के टुकड़ों के होम से बहुत बड़ी समृद्धि प्राप्त होती है । साधक दूर्वा द्वारा होम करने से दीर्घ आयु प्राप्त करता है ।। २१ ।।

धान्यैः प्रक्षालितैर्हुत्वा श्रियमिष्टां समाप्नुयात् ।
यवैर्धान्यसमृद्धिः स्याद्गोधूमैरिष्टसिद्धयः ॥ २२ ॥
तण्डुलैरक्षया सिद्धिः स्याद् वृद्धिर्महती तिलैः ।
मन्त्री नीलोत्पलैर्हुत्वा नृपपत्नीं वशं नयेत् ॥ २३ ॥
प्रबुद्धैः पङ्कजैर्हुत्वा वशं नयति मेदिनीम् ।
अशोकैः पुत्रमाप्नोति मधूकैरिष्टमाप्नुयात् ॥ २४ ॥
फलैर्जम्बुभवैर्हुत्वा लभते धनमीप्सितम् ।
पुष्पैः पाटलिसम्भूतैरिष्टामाप्नोति सुन्दरीम् ॥ २५ ॥

प्रक्षालितैरिति तिलान्तानां विशेषणम् । श्रियमिष्टामिति श्रीयोगोऽपि । पुत्रमाप्नोतीति कामयोगः । मेदिनीमिति मेदिनीस्था लोका लक्ष्यन्ते । बहुत्वं व्यंग्यम् । इष्टां सुन्दरीमिति बालायोगः ॥ २२-२५ ॥

धोये गये धान्य की आहुति से अभिलषित श्री की प्राप्ति होती है । यव के होम से धान्य की समृद्धि तथा गोधूम के होम से इष्ट सिद्धि होती है ।। २२ ।।

तण्डुल की आहुति से अक्षय सिद्धि, तिलों के होम से महती वृद्धि होती है। मन्त्रज्ञ साधक नील कमल के पुष्पों के होम से रानी को भी वश में कर लेता है । खिले हुये कमलों के होम से समस्त पृथ्वी को वश में कर सकता है । अशोक के होम से पुत्रप्राप्ति तथा मधूक के होम से इष्टसिद्धि होती है ।। २३-२४ ।।

जामुन के फल के होम से यथेष्ट धन प्राप्त होता है, गुलाब के फूलों के होम से अपने अनुकूल सुन्दरी स्त्री प्राप्त होती है ।। २५ ।।

पुष्पैर्बकुलसम्भूतैः कीर्त्तिः स्यादनपायिनी ।
दीर्घमायुर्लभेदाम्रैश्चम्पकैः काञ्चनं लभेत् ॥ २६ ॥
कुर्वीत सर्षपैर्होमं शत्रोर्नाशकरं सुधीः ।
पत्रैर्बकुलजैर्हुत्वा शीघ्रमुत्सादयेदरीन् ॥ २७ ॥
शाल्मलीपत्रहोमेन सपत्नान् नाशयेद् ध्रुवम् ।
कोद्रवैः कण्डनैस्तद्वन्निम्बैर्विद्वेषयेन्मिथः ॥ २८ ॥

कीर्त्तिः स्यादित्यजपायोगो ज्ञेयः । अनपायिनी अविनश्वरा । लभेरात्मनेपदित्वात् कथं लभेदिति । लभत इति लभः पचाद्यच् लभ इवाचरेदिति । आचारे नाम धातोः क्विप् । सनाद्यन्ता इति धातुत्वम् । ततः परस्मैपदं लिङीति समाधिः । क्वचिद्भवेदित्येव

पाठः । आम्रैरिति । अत्र पुष्पैरित्यनुषज्यते । उत्सादयेदिति वायुबीजादित्वम् । सपत्नान् शत्रून् । कण्डनैस्तुषकणैः । तद्वन्नाशयेदित्यर्थः । निम्बैः निम्बफलैः ॥ २६-२८ ॥

वकुल (मौलसिरी) पुष्पों के होम से अक्षय कीर्त्ति प्राप्त होती है । आम के पुष्पों के होम से दीर्घायु तथा चम्पक के होम से सुवर्ण की प्राप्ति होती है ।।२६।।

बुद्धिमान् साधक शत्रु के विनाश के लिये सर्षप से होम करे । वकुल के पत्र द्वारा होम करने से साधक शीघ्र ही अपने शत्रुओं को नष्ट कर देता है । सेमर के पत्ते के होम से निश्चय ही शत्रु का विनाश होता है । कोदों की भूसी के होम से तथा निम्ब के फल के होम से परस्पर मित्रों में विद्वेष होता है ॥ २७-२८ ॥

माषहोमेन मूकः स्यादुन्मत्तोऽक्षैर्भवेदरिः ।
अयुतं होमसंख्या स्याज्जपस्तावान् प्रकीर्त्तितः ॥ २९ ॥

अक्षैर्बिभीतकफलैः ॥ २९ ॥

माष के होम से शत्रु मूक होता है । विभीतक फल से होम करने पर शत्रु उन्मत्त हो जाता है । इन सब कार्यों के लिये दस हजार होम तथा उतनी ही संख्या में जप भी अपेक्षित है ॥ २९ ॥

स्नानं तन्मन्त्रितैस्तोयैः सर्वव्याधिहरं स्मृतम् ।
तज्जप्तं चुलुकं तोयं मुखे क्षिप्तं विषापहम् ॥ ३० ॥
आर्त्ताय भेषजं दद्यान्मन्त्रेणाऽनेन मन्त्रवित् ।
स भवेद् व्याधिनिर्मुक्तो मन्त्रस्याऽस्य प्रभावतः ॥ ३१ ॥

विषापहमिति गरुडबीजयोगः । मन्त्रविदित्यनेन नृसिंहबीजयोगः ॥ ३०-३१ ॥

त्वरिता के मन्त्र से अभिमन्त्रित जल द्वारा स्नान करने से सब प्रकार की व्याधि नष्ट हो जाती है । इतना ही नहीं इस मन्त्र से अभिमन्त्रित एक चुल्लू जल पीने से समस्त विष नष्ट हो जाते हैं ॥ ३० ॥

मन्त्रवेत्ता साधक इस मन्त्र से अभिमन्त्रित औषधि रोगी को दे तो वह रोग रहित हो जाता है । इस मन्त्र का इतना बड़ा प्रभाव है ॥ ३१ ॥

त्रिलोहीमुद्रिकाऽनेन मनुना साधु साधिता ।
कृत्याद्रोहादिशमनी सर्वव्याधिविनाशिनी ॥ ३२ ॥

त्रिलोहीति । साधुसाधिता एतन्मन्त्रजप्ता कृतसम्पाता च । अत्रापेक्षितार्थद्योतनिकाकारेण लोहानां प्रत्येकं समभागा उक्ताः ॥ ३२ ॥

समभाग युक्त सुवर्ण, रजत एवं चाँदी मिश्रित अङ्गूठी बनवा कर उसे इस मन्त्र से सिद्ध कर धारण करे तो उससे कृत्यादि अभिचार, समस्त द्रोह एवं सब प्रकार की व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥ ३२ ॥

सर्वसम्पत्प्रदा नित्यं सर्ववश्यकरी मता ।
यद्यद्वाञ्छति मन्त्रज्ञस्तत्तदेतेन साध्यते ॥ ३३ ॥

यद्यद्वाञ्छति मन्त्रज्ञ इत्यनेन प्रणवयोगे मुक्तिकरी । वाग्योगे धर्मज्ञानकरी । शक्तियोगे सर्वकरीति सूचितम् ॥ ३३ ॥

उपर्युक्त प्रकार से धारण की गई अङ्गूठी सब प्रकार की संपत्ति प्रदान' करती हैं सभी लोगों को वश में करने वाली हैं । किं बहुना मन्त्रज्ञ जो जो चाहता है, वह सभी इससे सिद्ध हो जाता है ॥ ३३ ॥

विजयप्रदयन्त्रम्

मध्ये सरोजे दशपत्रयुक्ते मायां लिखेद्वाञ्छितसाध्यगर्भाम् ।
तारादिवर्णान् दश मन्त्रसंस्थान् षट्कोणबीजं वसुधापुरस्थम् ॥३४॥
कृत्याद्रोहादिशमनं व्यालचौरभयापहम् ।
विधृतं त्वरितायन्त्रं विशेषाद्विजयप्रदम् ॥ ३५ ॥

यन्त्रमाह मध्य इति । मध्ये सरोजे इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ । वाञ्छितं वश्यादि साध्यञ्च तद्गर्भाम् । तारादीनिति । मायाव्यतिरिक्तान् । विशेषाद्विजयप्रदमित्यनेन मायायां दुर्गाबीजे साध्यलेखनमिति सूचितम् ॥ ३४-३५ ॥

दश पत्र युक्त कमल के मध्य में माया (ह्रीं) के मध्य में साध्य, कार्य तथा साधक को लिखे (द्र. ९. ५१) । दश पत्रों पर माया रहित त्वरिता के ॐकारादि दश अक्षरों को लिखे तथा भूपुर में षट्कोण के बीजाक्षर लिखे ।

इस प्रकार का यन्त्र धारण करने से कृत्यादि अभिचार एवं समस्त द्रोह नष्ट हो जाते हैं, साँप व चोर की बाधा नहीं होती । बहुत क्या ? इस मन्त्र के धारण से विशेष रूप से विजय प्राप्त होता है ॥ ३४-३५ ॥

लक्ष्मीकीर्त्तिप्रदयन्त्रम्

तारे हुं विलिखेत्सरोजकुहरे साध्याभिधानान्वितं
मन्त्रार्णान् वसुसंख्यकान् वसुदलेष्वालिख्य तद्बाह्यतः ।
शक्त्या त्रिःपरिवेष्टितं घटगतं पद्मस्थमब्जाननं
यन्त्रं वश्यकरं ग्रहादिभयहृल्लक्ष्मीप्रदं कीर्त्तिदम् ॥ ३६ ॥

यन्त्रान्तरमाह तार इति । सरोजकुहरे अष्टदलकर्णिकायाम् । मन्त्रार्णानिति मायाद्वयतारवर्मरहितान् । तेषामन्यत्र विनियोगात् । अब्जाननमिति । घटमुखमेव तद्वत्त्वेन यन्त्रे उपचरितम् । कीर्त्तिदमिति । अजपायां साध्यनामेति ज्ञेयम् ॥ ३६ ॥

अब **अन्य प्रकार का त्वरिता यन्त्र** कहते हैं—अष्टदल कमल की *कर्णिकाओं में तार (प्रणव) के मध्य में हुंपूर्वक साध्यनाम, कर्म तथा साधक का* नाम लिखे और अष्टदल कमल पर ॐकार, दो माया के वर्ण ह्रीँ एवं कवचाक्षरों (हुँ) को छोड़कर त्वरिता मन्त्र के शेष आठ अक्षरों को लिखे (द्र० १०.२) । तदनन्तर उसके बाहर तीन शक्ति मन्त्र लिख कर उसे परिवेष्टित करे । पुनः अष्टदल कमल की आकृति बनाकर उस पर घट स्थापित करे । उसके मुख पर

कमल स्थापित करे । तदनन्तर उस यन्त्र को उसी कलश पर स्थापित कर पूजा करे । इस प्रकार धारण किया गया यन्त्र वश्यकारक होता है, ग्रहादिकों के भय को दूर करता है लक्ष्मी तथा कीर्त्ति प्रदान करता हैं ॥ ३६ ॥

वश्यावहश्रीप्रदयन्त्रम्

कोष्ठानां शतमेकविंशतियुतं कृत्वा ध्रुवं मध्यतः
साध्याढ्यं त्वरितां शिवादि विलिखेन्मायां विना मन्त्रवित् ।
रेखाग्रेषु लसत्त्रिशूलमसकृत् संजप्य सम्पातितं
यन्त्रं क्ष्वेडमहाभिचारशमनं वश्यावहं श्रीप्रदम् ॥ ३७ ॥

यन्त्रान्तरमाह कोष्ठानामिति। दक्षिणोदक्पूर्वापरायतद्वादशद्वादशरेखाभिः शतमेकविंशतियुतं कोष्ठानि जायन्ते । मध्यत इति सप्तम्यर्थे तसिः । तत्र शिवादि ईशानादि प्रदक्षिणक्रमेण द्वादशावृत्ति मन्त्रं लिखेत् । अत्र क्ष्वेडशमने गरुडबीजे साध्यलिखनम् । महाभिचारशमने नृसिंहबीजे । वश्ये कामबीजे, श्रिये श्रीबीजे, सर्वार्थे शक्तावित्यादि ज्ञेयम् । साम्प्रदायिकास्त्वन्यथा व्याचक्षते । ध्रुवं मध्यतः शिवादि विलिखेत् । अत्र पञ्चम्यर्थे तसिः । आदिशब्देन आग्नेयनैर्ऋतवायव्यानि । तेनायमर्थः । मध्ये प्रणवं विलिख्य तत ईशगतपञ्चसु कोणकोष्ठेषु पञ्चप्रणवान् लिखेत् । एवमाग्नेयादिषु पञ्चसु कोणकोष्ठेष्वपि । मायां विना साध्याढ्यं यथा स्यात्तथा त्वरितां मन्त्रविद्विलिखेदिति । अत्र मन्त्रविच्छब्देन लेखनक्रमः सूचितः । साध्याढ्यमित्यनेन ध्रुवे प्रति कोष्ठं चैकैकवर्णक्रमेण साध्यलिखनम् । मध्यध्रुवे च सर्वकर्मसाध्यलिखनमित्यर्थः ।

अत्राक्षरलेखनक्रमः—तत्रेशानतारपञ्चके आद्यस्य प्रणवस्य पूर्वदिग्गतपदचतुष्के हुमादिछेऽन्तवर्णचतुष्कं विलिख्य तद्दक्षिणकोष्ठे क्षः आलिख्य तत्पश्चात् पदचतुष्के शेषं वर्णचतुष्कं मध्यप्रणवान्तं लिखेदित्येकावृत्तिः । ततो द्वितीयतारस्य पूर्वपदत्रये हुं खे चेति विलिख्य पूर्वलिखितानुवाचनेन द्वितीया । एवं तृतीयतारपूर्वपदद्वये हुं खे विलिख्य पूर्वलिखितोपजीवनेन तृतीया । एवं चतुर्थतारपूर्वपदे हुमालिख्य पूर्वलिखितोपन्यासेन चतुर्थी । पुनः पञ्चमं प्रणवमारभ्य पूर्वलिखितवाचनेनैव पञ्चम्यावृत्तिः । एवमेव प्रणवपञ्चकमारभ्य पूर्वपदावृत्तिपञ्चकम् । एवमेकस्मिन् कोणे दशावृत्तयः । एवमाग्नेयादिकोणत्रयेऽपि । तथाचाचार्यवचने 'अनुविलिखेद्वा' इति छेदं कृत्वा वाशब्दः समुच्चये दशावृत्ति लिखेदिति व्याख्यातम् ।

नारायणीये च— भूर्जे सकारकपुटे जवशूलदीप्ते
कोणेषु तारमुदरे निहितस्य नाम्नः ।
फट् स्याद्दिशासु च यथा लिखिता तथैषा
मालार्णयुक् प्रति पुटं हरति ग्रहार्त्तिम् ॥ इति ।

कारकेति १२१ जवेति ४८ । अन्यत् स्पष्टम् । तन्त्रान्तरोक्तं यन्त्रान्तरं—

रेखाः पूर्वापरा द्वादशगिरिशमिता दक्षिणोदक् च कृत्वा
साध्यं मध्यस्थकोष्ठेष्वप्यसुरपतिदिक्कोष्ठकेषु ध्रुवः स्यात् ।
पश्चात्तेष्वस्त्रमन्या मनुभवलिपयः शेषकोष्ठेषु लेख्या
बाधन्ते यन्त्रयुक्तं न नरमथ सुराः किं पुनर्मानवौघाः ॥ इति ॥ ३७ ॥

द्वादश रेखा पूर्व से पश्चिम की ओर तथा द्वादश रेखा उत्तर से दक्षिण की ओर खींचे । इस प्रकार परस्पर रेखाओं के संयोग द्वारा १२१ कोष्ठक का निर्माण करे । उसके मध्य में ईशान कोण से आरम्भ कर ॐ कार संपुटित साध्याक्षर, साध्य, कर्म तथा साधक का नाम लिखे । पश्चात् मायाक्षररहित त्वरिता के दशाक्षरों को बारह आवृत्ति में लिखे और पूर्व से पश्चिम की ओर खींची गई एकादश रेखाओं को तथा उत्तर से दक्षिण खींची गई रेखाओं को बढ़ाकर उन्हें त्रिशूल की आकृति बनावे । इस प्रकार से लिखा हुआ यह यन्त्र पागलपन, अभिचार का शमन करता है, वशीकरण है और लक्ष्मी प्रदान करने वाला है ।

विमर्श—यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यदि उन्मत्तता (पागलपन) की शान्ति करनी हो तो गरुड़ मन्त्र के भीतर साध्यनाम, महाभिचार की शान्ति करनी हो तो नृसिंह मन्त्र के भीतर साध्य नाम, वश्य में काम बीज के भीतर तथा लक्ष्मी प्राप्ति के लिये लक्ष्मी बीज के भीतर साध्य नाम लिखना चाहिए ॥ ३७ ॥

अनुग्रहाख्ययन्त्रम्

एकाशीतिपदेषु टान्तविवरे साध्यं लिखेन्मध्यतः
पश्चात् पङ्क्तिषु दिग्गतासु लिपिशो जूंसः शिखान्तं लिखेत् ।
शिष्टेष्वीशनिशाचरादि विलिखेल्लक्ष्मीमनुं पङ्क्तिशः
शस्त्राविर्वषडन्तया त्वरितया वीतं चतुर्दिक्ष्वपि ॥ ३८ ॥

यन्त्रान्तरमाह एकेति । दश पूर्वापरायता दश दक्षिणोत्तरायता रेखा विलिखेत् । एवम् एकाशीतिकोष्ठानि जायन्ते । तत्र मध्यकोष्ठे ठान्तं ठं विलिख्य तन्मध्ये साध्यं विलिखेत् । साध्यमित्युपलक्षणं साधकादीनामपि । दिग्गतासु पङ्क्तिष्विति । मध्यकोष्ठात्पूर्वापरदक्षिणोत्तरचतुःकोष्ठात्मकचतुःपङ्क्तिषु । जूंसः स्वरूपम् । शिखान्तं वषडन्तं तेन जूंसः वषट् इति लिपिशः एकैकाक्षरक्रमेण लिखेत् । लक्ष्मीमनुं वक्ष्यमाणं श्रीसेत्यादिकम् । शस्त्रं फट् तस्मिन्नाविर्भवत् यत् वषट् तदन्ते यस्याः सा तया त्वरितया त्वरितामन्त्रेण चतुर्दिक्षु दिशि दिशि एकैकावृत्या वेष्टयेत् ।

तदुक्तम्— दिक्दिक्संस्थामस्त्रपदादिर्वषडन्ताम् । इति ।

अन्यत्रापि—वषडन्ता बहिः शीघ्रा दिक्षु ठं कलशं वह्निः । इति ।

अत्र केचन अन्यथा व्याचक्षते । अस्त्रं च आविर्भवदधिकं वषट् यत्रेति । तेन फट्कारं समुच्चार्य वषट्कारमुच्चारयेदिति । तदयुक्तं तन्त्रान्तरविरोधात् ।

तदुक्तम्—त्वरिता वषडन्ता स्यात् फट्कारपरिवर्जिता । इति ।

अत्र वेष्टने अग्रे च मायासहितो मन्त्रः ॥ ३८ ॥

दश रेखा पूर्व से पश्चिम एवं दश रेखा उत्तर से दक्षिण की ओर खींच कर ८१ कोष्ठक निर्माण करे । पुनः उसके मध्य में दो 'ठं' अक्षरों के बीच साध्यनाम, कर्म तथा साधक के नाम लिखे ॥ ३८ ॥

अनुग्रहाख्यचक्रः

लान्तैः प्रवीतं कमलासनेन घटेन वीतं कमलासनेन ।
संसाधितं चक्रमनुग्रहाख्यं दध्याद् यथावत्कनकादिबद्धम् ॥३९॥

लान्तैर्वकारैः । प्रकर्षेण वीतमिति मालाकारेणेत्यर्थः । तदुक्तमाचार्यैः— मेदोमालावेष्टितबिम्बम् । इति । दध्यात् धारयेत् । यथावदित्युक्तप्रमाणेन । कनकादीत्यादिशब्देन रजतताम्रे ॥ ३९ ॥

पुनः उस मध्य से चारों दिशाओं के चार चार कोष्ठात्मक ४ पंक्तियों में 'जूं सः वषट्' इन चार अक्षरों के एक एक वर्ण को अलग अलग लिखे । तदनन्तर नैर्ऋत्य कोण से आरम्भ कर ईशानकोण पर्यन्त आगे कहा जाने वाला (द्र. १०. ४१) लक्ष्मी मन्त्र एक एक अक्षर के क्रम से एक पंक्ति में लिखे । फिर चारों दिशाओं में त्वरिता मन्त्र के अनन्तर फट् एवं वषट् अक्षरों को एक एक आवृत्ति के क्रम से चार बार लिख कर उसे घेर देवे । उसे भी लान्त (वकार) से माला की तरह घेर देवे । तदनन्तर कमलासन पर स्थापित घट पर रख कर पद्मासन से बैठ कर साधक उस मन्त्र को सिद्ध करे । यह **अनुग्रह** नामक चक्र यन्त्र है ॥ ३९ ॥

कृत्यापमृत्युरोगादीन् क्ष्वेडभूतमहाग्रहान् ।
जीवेद्वर्षशतं पुत्रैः पौत्रैर्लक्ष्म्या च नन्दति ॥ ४० ॥

तन्त्रान्तरेऽस्य फलमुक्तम्—यमेन तु धृतं यन्त्रं ब्रह्मणा विष्णुना पुरा ।
बुधेन भैरवेणापि हेरम्बेन गुहेन च ॥
सर्वे ते वशमायान्ति विद्यायाश्च प्रसादतः ।
त्रिलोके यानि दुःखानि कृत्रिमाकृत्रिमाण्यपि ॥
क्षीयन्ते तान्यसन्देहो विद्याराज्ञीप्रभावतः ।
कुड्ये समे स्वटिकया भवने लिखित्वा संपूजयेत् परमनुग्रहचक्रमेतत् ।
सर्वो नरो भवति तत्र कुटुम्बवर्गः सर्वात्मना वशयतीह मनुष्यलोकम् ॥
इति ॥ ४० ॥

इसे कनक, रजत अथवा ताम्र के पात्र में बन्द कर धारण करे, तो कृत्या, अपमृत्यु, रोगादि, पागलपन, भूतबाधा, ग्रहबाधा से रक्षा होती है । वह पुरुष पुत्र-पौत्र एवं लक्ष्मी से संयुक्त रह कर सैकड़ों वर्ष तक जीता है ॥ ४० ॥

श्रीमन्त्रः

श्री सा माया यामा सा श्री सानो याज्ञे ज्ञेया नोसा ।
माया लीला लाली यामा याज्ञे लाली लीला ज्ञेया ॥ ४१ ॥

चतुःषष्टिपदयन्त्रम्

लिखेच्चतुःषष्टिपदेषु विद्वानीशादि कन्यादि रमामनुं तम् ।
बाह्ये यथावत् त्वरिताभिवीतं लान्तैश्च वीतं वरकाञ्चनस्थम् ॥ ४२॥

देशे पुरे वा नगरे गृहे वा विनिःक्षिपेच्चक्रमिदं यथावत् ।
तत्र ध्रुवं गोमहिषाभिवृद्धिः सम्यक् प्रजाशस्यसमृद्धयः स्युः ॥४३॥

यन्त्रान्तरमाह लिखेदिति। प्रागपरदक्षिणोत्तरायता नव रेखा विलिख्य चतुःषष्टिपदं कुर्यात् । कन्यादि नैर्ऋत्यादि । रमामनुं श्रीसेत्यादि । यथावदिति वषडन्तया चतुर्दिक्ष्वपि। अत्र मध्यगतचतुर्षु कोष्ठेषु ठकारमालिख्य तन्मध्ये साध्यसाधककर्मनामानि लिखेत् । यथावद्विनिक्षिपेदिति । हस्तमात्रप्रमाणे क्षिप्तं पूजितमित्युक्तम् ॥ ४१-४३ ॥

'श्री सा माया, वामा सा श्री सानो याज्ञे ज्ञेया, नोसा, माया, लीला, लालीयामा याज्ञे लाली लीला ज्ञेया' यह ६४ अक्षरों का महालक्ष्मी का मन्त्र है । इसे नव रेखा पूर्व पश्चिम की ओर तथा नव रेखा उत्तर दक्षिण की ओर खींचकर बनाये गये ६४ कोष्ठकों में ईशान कोण से आरम्भ कर एक एक अक्षर के क्रम से एक बार लिखे । पुनः नैॠत्य कोण से आरम्भ कर दूसरी बार उसी प्रकार लिखे । बाहर चारों ओर त्वरिता मन्त्र तथा उसके अन्त में वषट् शब्द लिखकर घेर देवे । उसे भी वँ इस अक्षर से माला की तरह लिखकर घेर देवें । तदनन्तर उस यन्त्र चक्र को श्रेष्ठ सुवर्ण निर्मित पात्र में रख कर जिस देश, पुर, अथवा गाँव में गाड़े वहाँ निश्चय ही गो महिष्यादि की समृद्धि होती है और प्रजा धन धान्य से युक्त हो जाती है ॥ ४१-४३ ॥

त्रिकण्टकीमन्त्रः

कवचं भगवांश्चण्डो मेरुः सर्गसमन्वितः ।
त्रिकण्टकी समाख्याता विद्या वर्णत्रयात्मिका ।
द्विरुक्तैर्मन्त्रवर्णैः स्यादङ्गक्लृप्तिरितीरिता ॥ ४४ ॥

मन्त्रान्तरमाह कवचमिति । कवचं हुं । चण्डः खः भगवानेकारयुक्तः तेन खे । मेरुः क्षः । अत्र अकारादिलान्तानां पञ्चाशद्वर्णानाम् अक्षमालात्वात् मेरुस्थानीयः क्षकारो मेरुशब्दवाच्यः । सर्गसमन्वितो विसर्गयुक्तः । इदमेव पूर्वमन्त्रेऽप्ययं सविसर्ग इति द्योतयति । तदुक्तं नारायणीये—यत्तोतलायाश्च दशाक्षराया बीजं द्वितीयं सतृतीयषष्ठम् । त्रिकण्टकीनाम तदा सुसिध्येत् । इति ।

आद्यं बीजं अन्त्यं शक्तिः ॥ ४४ ॥

अब **त्रिकण्टकी विद्या का उद्धार** कहते हैं—कवच (हुं) भगवान् (एकार) युक्त चण्ड (ख) सर्गसमन्वित (विसर्गयुक्त) मेरु (क्षकार) इस प्रकार 'हुं खे क्षः' वर्णत्रयात्मिका इस विद्या को त्रिकण्टकी कहते हैं—इस मन्त्र को दो दो बार उच्चारण कर अङ्गन्यास करना चाहिए ॥ ४४ ॥

त्रिकण्टकीविद्याध्यानम्

नीला नाभेरधस्तादरुणरुचिरधः कण्ठदेशात्सिताऽऽस्याद्
वक्त्रैर्दंष्ट्राकरालैरुदरपरिगतैर्भीषणाङ्गीं चतुर्भिः ।

दीपौ कम्बुरथाङ्गं करसरसिरुहैर्धारयन्ती जटान्तः
स्फूर्जच्छीतांशुखण्डा भवतु भयहरा देवता वस्त्रिनेत्रा ॥४५॥

पुरश्चरणादिकथनम्

त्रिलक्षं प्रजपेदेनमाज्येनाऽन्ते दशांशतः ।
हुत्वा प्राक् प्रोक्तमार्गेण पूजयेत्तां त्रिकण्टकीम् ॥ ४६ ॥

नीलेति । आस्यात् सितेत्यन्वयः । दंष्ट्वाकरालैः उदरपरिगतैः चतुर्भिर्वक्त्रैर्भीषणाङ्गीति सम्बन्धः । उदरपरिगतैरिति उदरचतुःपाश्यर्वे । कम्बुः शङ्खः । आयुधध्यानमूर्द्धयोर्दक्षाद्ययोराद्ये तदधस्तनयोरन्त्य इति ॥ ४५-४६ ॥

अब इस **मन्त्र के देवता का ध्यान** कहते हैं—जो नाभि से अधोभाग में नील वर्ण की हैं, कण्ठ के नीचे नाभि पर्यन्त भाग में अरुण वर्णा हैं तथा मुख से लेकर कण्ठभाग पर्यन्त श्वेतवर्णा हैं । जो अपने मुखों में रहने वाले भीषण उदर पर्यन्त बड़े-बड़े दाढ़ों से अत्यन्त भयानक प्रतीत हो रही हैं तथा अपने पेट के चारों ओर चार कमलवत् हाथों में दो में दीपक और शेष दो में शङ्ख तथा चक्र धारण की हैं, जिनकी जटाओं में चन्द्रशकल देदीप्यमान है, ऐसी तीन नेत्र वाली देवता हमारे भय को दूर करने वाली होवें ॥ ४५ ॥

उपर्युक्त त्रिकण्टकी मन्त्र का तीन लाख जप करे । उसका दशांश होम करे। तदनन्तर पूर्व में कही गई विधि के अनुसार उनकी पूजा करे ॥ ४६ ॥

त्रिशूलमुद्रां पाणिम्यां बद्धात्मानं त्रिकण्टकीम् ।
ध्यायन् स्पृष्ट्वा जपेद् ग्रस्तं सद्यस्तं मुञ्चति ग्रहः ॥ ४७ ॥

त्रिशूलमुद्रामिति । सा तु 'कनिष्ठाङ्गुष्ठसंयोगात् शेषाणां तु प्रसारणात्' इति । एतन्मन्त्रान्त्याक्षरद्वयं छे युक्तमन्ते विषहा त्रिकण्टकी ज्ञेया । तदुक्तं नारायणीये—

तस्याः त्रिपञ्चमपुटो विषहा च षष्ठः । इति ।

ऋष्यादिसर्वं पूर्वेण समानं त्रितयस्य ॥ ४७ ॥

तदनन्तर त्रिकण्टकी का ध्यान करते हुये अपने दोनों हाथों से त्रिशूल मुद्रा (दोनों हाथ के अङ्गूठों को परस्पर दोनों कनिष्ठिका अङ्गुलियों से संयुक्त करे, शेष तीनों अङ्गुलियों को ऊपर उठाये,) बाँध कर उपर्युक्त मन्त्र का जप ग्रहग्रस्त पुरुष का स्पर्श करते हुये करे तो ग्रह उसे तत्काल छोड़ देते हैं ॥ ४७ ॥

वश्यत्रिकण्टकीमन्त्रः

क्षेरुद्धा स्त्री त्रिवर्णेयं विद्या वश्या त्रिकण्टकी।
मन्त्रार्णैर्वीप्सितैः कुर्यादङ्गषट्कं यथा पुरा ॥ ४८ ॥
पूर्वोक्तां देवता ध्यायन् मन्त्रं त्रिनियुतं जपेत् ।
दशांशं सर्पिषा हुत्वा वशयेद्वनितां नरान् ॥ ४९ ॥

मन्त्रान्तरमाह क्षे इति । वश्येति विनियोगोक्तिः । आद्यं बीजं मध्यं शक्तिः । वीप्सितैर्द्विरुक्तैः । त्रिनियुतं त्रिलक्षम् ॥ ४८-४९ ॥

'क्षें' वर्ण से संपुटित 'स्त्री' शब्द इस प्रकार त्रिवर्णा यह विद्या वश्या त्रिकण्टकी नाम से प्रसिद्ध हैं । इस मन्त्र को दो दो बार आवृत कर पूर्ववत् षडङ्गन्यास करना चाहिए ॥ ४८ ॥

पूर्वोक्त देवता का (द्र १०. ४५) ध्यान करते हुये इस मन्त्र का तीन लाख जप करे । उसका दशांश घी से हवन करे तो वह साधक स्त्री और पुरुष सब को वश करने में सक्षम हो जाता है ॥ ४९ ॥

पञ्चदशाक्षरनित्यामन्त्रः

तारो माया वाग्भवान्ते नित्यक्लिन्ने मदद्रवे ।
वाङ्माया वह्निजायान्तो मन्त्रः पञ्चदशाक्षरः ॥ ५० ॥
द्वाभ्यां द्वाभ्यां पुनर्द्वाभ्यां द्वाभ्यां पञ्चभिरक्षरैः ।
वाचं विना समस्तेनाप्यङ्गषट्कमथाचरेत् ॥ ५१ ॥

नित्यामन्त्रमाह तार इति । वाग्भवम् ऐं । अनन्तरवक्ष्यमाणनित्यामन्त्रोक्त-छन्दर्ष्यादिकमत्र ज्ञेयम् । प्रणवो बीजं स्वाहा शक्तिः । श्रिये श्रीबीजादित्वं रोगशमनादौ दुर्गाबीजादित्वम् । दुःखदौर्भाग्यशमने कामबीजादित्वम् । जरापमृत्युशमनादौ दुर्गा-बीजादित्वम् । दुःखदौर्भाग्यशमने कामबीजादित्वम् । जरापमृत्युशमने मृत्युञ्जयादि-त्वम् । मदद्रवे इत्यतः पूर्वं साध्यनामप्रयोगोऽपि । एवं वक्ष्यमाणमन्त्रयोरपि ज्ञेयम् । वाचं विनेत्युभयत्र सम्बध्यते । तेन त्रयोदशभिरक्षरैरुक्तरीत्या पञ्चाङ्गानि कृत्वा शिष्ट-समस्तेनास्त्रमित्यर्थः । अथानन्तरमित्यनेने वाग्भवेन पुनरङ्गानि कुर्यात् इति ।

तदुक्तं नारायणीये—रात्रिक्रूरांशसंख्यैः स्ववर्णैः स्वेन च वाग्विना ।
न्यस्याङ्गषट्कं वाचैव पुनश्चाङ्गानि विन्यसेत् । इति ॥ ५०-५१ ॥

तार (ॐ), माया (ह्रीँ), वाग्भव (ऐं), इसके बाद 'नित्यक्लिन्ने', मदद्रवे वाड्, (ऐं) माया (ह्रीँ) स्वाहा' यह त्वरिता के पञ्चदशाक्षर मन्त्र का उद्धार कहा गया ॥ ५० ॥

इसमें दो अक्षर से हृदय, दो अक्षर से शिर, दो अक्षर से शिखा, दो अक्षर से कवच और पाँच अक्षर से नेत्रद्वय, इस प्रकार कुल १३ बीजाक्षरों से पञ्चाङ्गन्यास कर पुनः समस्त मन्त्र से अस्त्र न्यास करे । इस षडङ्गन्यास में दो बीजाक्षरों को छोड़ देवे ॥ ५१ ॥

द्वीपं त्रिकोणं विपुलं सुरद्रुममनोहरम् ।
कूजत्कोकिलनादाढ्यं मन्दं मारुतसेवितम् ॥ ५२ ॥
भृङ्गपुष्पलताकीर्णमुद्यच्चन्द्रदिवाकरम् ।
स्मृत्वा सुराब्धिमध्यस्थं तस्मिन्माणिक्यमण्डपे ॥ ५३ ॥

रत्नसिंहासने न्यस्ते त्रिकोणोज्ज्वलार्णिके ।
पद्मे सञ्चिन्तयेद्देवीं साक्षात्त्रैलोक्यमोहिनीम् ॥ ५४ ॥

द्वीपमिति । सुराब्धिमध्यस्थं त्रिकोणं द्वीपं स्मृत्वा तस्मिन् द्वीपे माणिक्यमण्डपे रत्नसिंहासने पद्मे देवीं चिन्तयेदित्यन्वयः । व्यधिकरणे सप्तम्यः उभयत्र । त्रिकोणमित्यधोमुखम् । सुराब्धीत्यनेनैतदुक्तं पृथिव्यनन्तरं सुराब्धिं त्रिकोणं द्वीपं माणिक्यमण्डपं रत्नसिंहासनं पीठन्यासे न्यस्येदिति । शेषं समानम् । इदमग्रिममन्त्रेऽपि ज्ञेयम् । त्रैलोक्यमोहिनीमित्यनेन विनियोगोक्तिः ॥ ५२-५४ ॥

क्षीराब्धि के मध्य में त्रिकोणात्मक द्वीप है, उसमें कल्पवृक्षों का उद्यान है, जहाँ निरन्तर कोकिलों का शब्द होता रहता है मन्द मन्द हवा चलती रहती है, भौंरे निरन्तर गुञ्जार करते हैं । वह उद्यान पुष्पित लताओं से परिपूर्ण है । वहाँ सूर्य और चन्द्रमा निरन्तर उदित रहते हैं ॥ ५२-५३ ॥

ऐसे क्षीर समुद्र के मध्य में कलवृक्षों से पूर्ण उद्यान में माणिक्यमण्डप के नीचे रत्नसिंहासन पर स्थित त्रिकोणात्मक पद्म के त्रिकोण युक्त उज्ज्वल कर्णिका में आसीन साक्षात् त्रैलोक्यमोहिनी देवी का ध्यान करे ॥ ५४ ॥

नित्याध्यानम् । पुरश्चरणादिकथनम्

नित्यां भजेद् बालशशाङ्कचूडां पाशाङ्कुशौ कल्पलतां कपालम् ।
हस्तैर्वहन्तीमरुणां त्रिनेत्रामास्फालयन्तीं कलवल्लकीं ताम् ॥ ५५ ॥

कलवल्लकीमास्फालयन्तीमित्यनेन षट्करेत्युक्तं भवति । आयुधध्यानं तु पूर्ववत् ॥ ५५ ॥

जो त्रैलोक्य मोहिनी देवी अपने भाल प्रदेश में नवोदित द्वितीया का चन्द्रमा धारण किये हुये हैं, अपने चार हाथों में पाश, अंकुश, कल्पलता एवं कपाल धारण की है जिनके शरीर का वर्ण रक्त है, तथा जो तीन नेत्रों से युक्त है और अपने शेष दो हाथों से वीणा बजा रही हैं (यहाँ पर देवी के छ हाथों का वर्णन किया गया है) ॥ ५५ ॥

त्रिलक्षं प्रजपेन्मन्त्रमाज्येन जुहुयात्ततः ।
दशांशं पूजयेत्पीठं चतुःशक्तिसमन्वितम् ॥ ५६ ॥
आंपूर्वां द्राविणीं वामां शम्भुकोणे समर्चयेत् ।
आह्लादकारिणीं ज्येष्ठामीङ्काराद्यां हुताशने ॥ ५७ ॥
पूजयेत् क्षोभिणीं रौद्रीमूङ्काराद्यां निशाचरे ।
मध्ये(वायौ)यजेद् गुह्यशक्तिं वाग्भवाद्यां विचक्षणः ॥ ५८ ॥

चतुःशक्तिसमन्वितमिति पीठशक्तयश्चतस्त्रः । तत्र द्राविणीमित्यादीनि तु वामाज्येष्ठारौद्रीणां विशेषणानि । अत्र शक्तित्रयमीशादिकोणेषु विन्यस्य तुर्यां मध्ये न्यसेदित्यर्थः ।

तदुक्तं नारायणीये—कोणेष्वीशादि मध्ये च तत्र शक्तीर्न्यसेदिमाः । इति । मध्ये यजेद् गुह्यशक्तिमिति पाठः । वायाविति पाठो ज्ञानेनोपस्कृतो मन्तव्यः ॥ ५६-५८ ॥

उपर्युक्त मन्त्र का तीन लाख जप करे । तदनन्तर दशांश घृत से होम करे पुनः आगे कहीं जाने वाली चार शक्तियों से पीठ का पूजन करे । तीन शक्तियों का ईशानादि कोण में तथा एक का मध्य में पूजन करे ॥ ५६ ॥

त्रिकोण पीठ के ईशान कोण में आं पूर्वक द्राविणी शब्द से युक्त वामा का पूजन करे (आं द्राविण्यै वामायै नमः) अग्निकोण में 'ईं' आह्लादकारिण्यै ज्येष्ठायै नमः' से ज्येष्ठा का पूजन करे, ॐ क्षोभिण्यै रौद्र्यै नमः से नैर्ऋत्य कोण में रौद्री का पूजन करे तथा मध्य में 'ऐं गुह्य शक्त्यै नमः' से गुह्य शक्ति का पूजन करे ॥ ५७-५८ ॥

मायाद्यमासनं दत्त्वा मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ।
अत्र सम्पूजयेद्देवीं वक्ष्यमाणक्रमेण तु ॥ ५९ ॥
अङ्गार्चनं केसरेषु दलेष्वेताः समर्चयेत् ।
आद्या नित्या सुभद्राऽन्या मङ्गला नरवीरिणी ॥ ६० ॥
सुभगा दुर्भगा भूयः सप्तमी स्यान्मनोन्मनी ।
अष्टमी रुद्ररूपा च वीणावादनतत्पराः ॥ ६१ ॥

मायाद्यमिति । भुवनेशीबीजमुचार्य सर्वशक्तीत्यादिना पीठपूजेत्युक्तम् ॥५९-६०॥

आद्येति । नित्या आद्या प्रथमा । आदीति स्वराणामाद्यन्ते ये युग्मे क्लीबाश्च तद्रहिता अन्ये अष्टौ बिन्दुयुतास्तासां मन्त्राः ॥ ६०-६१ ॥

तदनन्तर माया मन्त्र से युक्त 'सर्वशक्त्यात्मने नमः' इस मन्त्र से आसन देकर मूल मन्त्र द्वारा देवी का आवाहन करे । पुनः आगे कही जाने वाली विधि से त्वरिता देवी का पूजन करे ॥ ५९ ॥

केशरों पर अङ्गों की पूजा करे । दल पर वक्ष्यमाण आठ देवियों की पूजा करे । प्रथमा १. नित्या, २. सुभद्रा, ३. मङ्गला, ४. नरवीरिणी, ५. सुभगा, ६. दुर्भगा, ७. मनोन्मनी और ८. रुद्रा—ये उन आठ शक्तियों के नाम हैं । ये सभी शक्तियाँ वीणा बजाने में तत्पर हैं ॥ ६०-६१ ॥

रक्ता मनोरमा दूत्यः सुवेषा मदमन्थराः ।
आद्यन्तयुग्मरहिताः स्वराः क्लीबविवर्जिताः ॥ ६२ ॥

सभी भगवती त्वरिता की दूती स्वरूपा हैं, सभी शरीर से रक्तवर्ण और मनोहर हैं, सुन्दर सुवेष युक्त तथा काम के मद से अलसाई हैं । स्वरों के दो आदि (अ आ) दो अन्त (अं अः) तथा नपुंसक वर्ण (ऋ ॠ ऌ ॡ) इस प्रकार कुल आठ स्वरों को छोड़कर शेष आठ स्वरों पर बिन्दु लगाने से इनका मन्त्र हो जाता है । यथा—'इं आद्यायै नित्यायै नमः' इत्यादि ॥ ६२ ॥

बिन्दून्ता मनवस्तासामनङ्गस्मरमन्मथाः ।
कामो मारश्च पञ्चेषुपाशाङ्कुशधनुर्भृतः ॥ ६३ ॥

अनङ्गेत्यादीनां पञ्चानामष्टदलोपरि परितः पूजा । आयुधध्यानं दक्षाधस्ताद्वामाधःपर्यन्तम् ॥ ६३ ॥

तदनन्तर अष्टदल के चारों ओर अनङ्ग, स्मर, मन्मथ, काम तथा मार इन पाँचों की पूजा करे । ये सभी पञ्चबाण, पाश, अंकुश, तथा धनुष अपने हाथों में धारण की हैं ॥ ६३ ॥

अपराङ्गनिषङ्गाढ्या रक्ताः पूज्याः सुभूषणाः ।
मान्मथं व्योमसर्गाढ्यं तेषां बीजमुदाहृतम् ॥ ६४ ॥

अपराङ्गनिषङ्गाढ्याः पृष्ठस्थतूणोराः । मान्मथं कामबीजम् । व्योमसर्गाढ्यं हकारविसर्गयुक्तम् ॥ ६४ ॥

सभी की पीठ पर तरकस हैं, सभी के शरीर का वर्ण रक्त है सभी सुन्दर वेष से युक्त हैं । मन्मथ (काम बीज क्लीं) तथा विसर्गान्त हकार (हः) इनका बीज कहा गया है—इनकी भी पूजा करनी चाहिए ॥ ६४ ॥

रतिः स्याद्विरतिः प्रीतिर्विप्रीतिर्मतिदुर्मती ।
धृतिश्च विधृतिस्तुष्टिर्वितुष्टिश्च दश स्मृताः ॥ ६५ ॥
रक्ता वीणाकरा द्वे द्वे कामानां पार्श्वयोः स्थिताः।
सर्वाभरणसम्पन्नाः पूज्याः स्मेरमुखाम्बुजाः ॥ ६६ ॥

रतिरित्यादि दशशक्तिनामानि ॥ ६५-६६ ॥

रति, विरति, प्रीति, विप्रीति, मति, दुर्मति, धृति, विधृति, तुष्टि तथा वितुष्टि ये दश काम की पत्नियाँ हैं । ये दो-दो के क्रम से पाँचों कामों (द्र.१०.६३) के पार्श्व में स्थित रहने वाली हैं । सभी अपने अपने पतियों में अनुरक्त हैं और हाथों में वीणा धारण की हुई हैं । सब प्रकार के आभूषणों से भूषित और मन्द-मन्द हास्य से युक्त हैं । काम के पार्श्व में इन कामपत्नियों की पूजा करे ॥ ६५-६६॥

क्लीबौष्ठद्वयनिर्मुक्तखराढ्यश्चतुराननः ।
बिन्दुमान् बीजमेतासां क्रमाल्लोकेश्वरान् बहिः॥ ६७ ॥
एवं संपूजयेद्देवीं देवानामपि दुर्लभाम् ।
परमैश्वर्यमाप्नोति प्रार्थ्यते वनिताजनैः॥ ६८ ॥

क्लीबेति । क्लीबचतुष्टयम् ओष्ठद्वयम् एऐ । एतन्निर्मुक्ता ये दश स्वराः तदाढ्यः तद्युक्तश्चतुराननः जकारः तेन जं जां जिं जीं जुं जूं जों जौं जं जः इति मन्त्राः । क्रमादिति पूर्वत्रान्वेति । लोकेशास्त्राण्यनुक्तानि अपि पूजनीयानि । चतुर्थपटले सामान्यत उक्तेः ॥ ६७-६८ ॥

चार क्लीव स्वर (ऋ ॠ ऌ ॡ) तथा दो ओष्ठस्वर (ए ऐ) इनको छोड़कर शेष दश स्वर उनसे युक्त चतुरानन जकार (जं जां जिं जीं जुं जूं जों जौं जं जः) यही कामदेव पत्नियों के पूजन के बीज मन्त्र हैं । इनकी पूजा के अनन्तर बाहरी भाग में लोकपालों की पूजा करे ॥ ६७ ॥

इस प्रकार जो त्वरिता देवी का पूजन करता है वह देव दुर्लभ ऐश्वर्य तो प्राप्त करता ही है, वनिता जनों से भी पूजित होता है ॥ ६८ ॥

त्वरितामन्त्रान्तरम् । ऋष्यादिकथनम्

वाग्भवं मान्मथं बीजं नित्यक्लिन्ने मदौ पुनः ।
द्रवे वह्निवधूमन्त्रो द्वादशार्णोऽयमीरितः ॥ ६९ ॥
ऋषिः सम्मोहनश्छन्दो निवृन्नित्या च देवता ।
वाचा कृत्वा षडङ्गानि नित्यां ध्यायेन्निजेष्टदाम् ॥ ७० ॥

मन्त्रान्तरमाह वागिति । मदौ मकारदकारौ । क्लीँ बीजं स्वाहेति शक्तिः । वाचेति वाग्भवेन । षड्दीर्घकामबीजयुक्तेनेति परमगुरवः । निजेष्टदामिति विनियोगोक्तिः ॥ ६९-७० ॥

त्वरिता का अन्य मन्त्र—वाग्भव (ऐं), मान्मथ बीज (क्लीँ), नित्यक्लिन्ने, मदद्रवे पद वह्निवधू (स्वाहा) इस प्रकार द्वादश अक्षरों का त्वरिता मन्त्र का उद्धार कहा गया । इसका **स्वरूप**—'ऐं क्लीं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा' होगा ॥ ६९ ॥

इस मन्त्र के सम्मोहन ऋषि हैं निवृत छन्द है और नित्या देवता है । केवल बीज मन्त्र से षडङ्गन्यास कर तदनन्तर इष्ट प्रदान करने वाली नित्या का इस प्रकार ध्यान करे ॥ ७० ॥

त्वरिताध्यानम् । पुरश्चरणादिकथनम्

अर्द्धेन्दुमौलिमरुणाममराभिवन्द्या
मम्भोजपाशसृणिपूर्णकपालहस्ताम् ।
रक्ताङ्गरागवसनाभरणां त्रिनेत्रां
ध्यायेच्छिवस्य वनितां मदविह्वलाङ्गीम् ॥ ७१ ॥
चतुर्लक्षं जपित्वाऽन्ते मधुराक्तैर्मधूकजैः ।
कुसुमैरयुतं हुत्वा तोषयेद् गुरुमात्मनः ॥ ७२ ॥

अर्द्धेन्द्विति । सृणिः अङ्कुशः । पूर्णेति सुरापूर्णम् ।
आयुधध्यानं पूर्ववत् ॥ ७१-७२ ॥

जिनके भाल प्रदेश में द्वितीया का चन्द्र शोभित हो रहा है, जिनके शरीर का वर्ण रक्त हैं जो देवताओं के द्वारा अभिवन्दनीय हैं, जिन्होंने अपने हाथों में कमल पाश, अंकुश और सुरापूर्ण कपाल धारण किया है, जो रक्तवर्ण के दिव्य अङ्ग रागों एवं दिव्य वस्त्र और आभूषणों से सुशोभित हैं ऐसी त्रिनेत्र, युवावस्था के

मद से विह्वल शरीर वाली शिव पत्नी त्वरिता का मैं ध्यान करता हूँ ॥ ७१ ॥

इस मन्त्र का चार लाख जप कर त्रिमधुर (दूध, घी एवं मधु) मिश्रित मधूक पुष्पों से दश हजार होम करे, पश्चात् अपने गुरु को संतुष्ट करे ॥ ७२ ॥

शक्तिपीठे यजेद्देवीं वक्ष्यमाणेन वर्त्मना ।
अङ्गान्यर्चेद्यथापूर्वं ततः शक्तीरिमा यजेत् ॥ ७३ ॥
नित्या निरञ्जना क्लिन्ना क्लेदिनी मदनातुरा ।
मदद्रवा द्राविणी च द्रविणेत्यष्टशक्तयः ॥ ७४ ॥
नीलोत्पलकपालाढ्यकरा रक्ताम्बुजेक्षणाः ।
लोकपालान् यजेदन्त्ये वाहनायुधसंयुतान् ॥ ७५ ॥
सिद्धमन्त्रं जपेन्मन्त्री सहस्रं शयनस्थितः ।
यां विचिन्त्य स्त्रियं रात्रौ सा समायाति तत्क्षणात् ॥ ७६ ॥

शक्तिपीठ इति । शक्तिपीठोक्ता नव शक्त्योऽत्र पूज्या इत्यर्थः । यथापूर्वमिति तुर्योक्तरीत्या । रक्ताम्बुजेक्षणा इत्यत्र रक्ताम्बुजप्रभा इत्यपि ॥ ७३-७६ ॥

तदनन्तर आगे कही जाने वाली विधि के अनुसार शक्ति पीठ पर देवी का पूजन करे । तदनन्तर पूर्ववत् अङ्गों का पूजन कर आगे कही जाने वाली आठ शक्तियों का पूजन करे । नित्या, निरञ्जना, क्लिन्ना, क्लेदिनी, मदनातुरा, मदद्रवा, द्राविणी एवं द्रविणा—ये आठ शक्तियाँ हैं ॥ ७३-७४ ॥

सभी के हाथों में नीलकमल एवं कपाल है, सभी के नेत्र लाल कमल जैसे रक्त हैं, इस प्रकार इन आठ शक्तियों की पूजा कर अन्त में नाना प्रकार के वाहन और आयुध से संयुक्त लोकपालों की पूजा करे ॥ ७५ ॥

मन्त्रज्ञ साधक इस मन्त्र को सिद्ध कर रात्रिकाल में जिस स्त्री का ध्यान कर शयन पर बैठे बैठे एक सहस्र इस मन्त्र का जप करे तो वह स्त्री तत्क्षण उसके पास चली आती है ॥ ७६ ॥

वज्रप्रस्तारिणीमन्त्रः । ऋष्यादिकथनम्

वाङ्मायाऽनन्तरं नित्ये भूयो क्लिन्ने मदद्रवे ।
द्विठान्तो रविसंख्यार्णो मनुर्वश्यप्रदायकः ॥ ७७ ॥
अङ्गिराः स्यादृषिस्त्रिष्टुप् छन्दो मुनिभिरीरितम् ।
वज्रप्रस्तारिणी प्रोक्ता देवताऽभीष्टदायिनी ॥ ७८ ॥

वज्रप्रस्तारिणीमन्त्रमाह वागिति । वाक् वाग्भवम् । अन्ये एवं योजयन्ति । मायानन्तरं क्लिन्ने भूयः पश्चाद्वाक् । ततो नित्येति अविभक्तिकोऽयं निर्देशः । ततो मदद्रवे । ठः बिन्दु द्विठः बिन्दुद्वयं विसर्गः । सर्गः शक्तिरित्युक्तेः भुवनेशी-बीजम् । रविसंख्यार्णः द्वादशाक्षर इत्युक्तेर्वाग्भवान्तरमङ्कुशबीजम् । एतेनैतदुक्तं

भवति । प्रथमतो माया ततः क्लिन्ने ततो वाग्भवाङ्कुशौ ततो नित्यमदद्रवे ततो मायाबीजम् ।

तदुक्तमाचार्यैः— स्मरदीर्घेऽधरार्काग्न्यों दीर्घेत्पक्षेमदद्रलान्तशिवाः ।
अभितः शक्तिनिरुद्धो द्वादशवर्णोऽयमीरितो मन्त्रः ॥ इति ।

नारायणीयेऽपि— क्लिन्ने वागङ्कुशौ नित्यशब्दः कालश्च दद्रवे ।
वध्वेशीशक्तिरुद्धैषा । इति ।

अन्ये वाग्भवरहितं मायाद्यमेकादशाक्षरमाहुः ।

तदुक्तं नारायणीये—नतौ साक्षित्वचौ क्लिन्ने कालोऽत्रिश्च द्रवे शिरः । इति ।

आचार्याश्च—निद्रयोरन्तरा त्यक्लिन्ने मदाः स्युश्च वे शिरः ।
मायादिकस्तथा । इति ।

मन्त्रद्वयमपि साम्प्रदायिकमेव । वक्ष्यमाणविधिः सर्वेषां समान एव । प्रथममन्त्रे वाक् बीजं स्वाहा शक्तिः । द्वितीयमन्त्रे वाक् बीजं माया शक्तिः । तृतीये माया बीजं स्वाहा शक्तिः । वश्येति अभीष्टदेति च विनियोगोक्तिः ॥ ७७-७८ ॥

अब **त्वरिता का अन्य मन्त्र** कहते हैं—वाङ्, (ऐं) माया (ह्रीँ) तदनन्तर नित्ये क्लिन्ने मदद्रवे' के पश्चात् स्वाहा उच्चारण करे इस प्रकार १२ अक्षरों के मन्त्र का उद्धार कहा गया ॥ ७७ ॥

इस मन्त्र के ऋषि अङ्गिरा हैं, त्रिष्टुप् छन्द है और वज्रप्रस्तारिणी देवता हैं जो समस्त अभीष्ट प्रदान करती हैं ॥ ७८ ॥

वाग्भवेन षडङ्गानि विदध्यान्मन्त्रवित्तमः ।
वज्रप्रस्तारिणीं ध्यायेत् समाहितमना ततः ॥ ७९ ॥

वाग्भवेनेति । षड्दीर्घमायायुक्तेनेति परमगुरवः । द्वितीयमन्त्रे तु ।
द्वाभ्यां वा चैकेन द्वाभ्यां द्वाभ्यां तथा पुनर्द्वाभ्याम् ।
मन्त्राक्षरैर्विदध्यादङ्गविधिं जातिसंयुतैर्मन्त्री ॥ इति ।

अस्मिन् पक्षे वाग्भवेन शिर इति शेषः । एवं षडङ्गानीति श्लोकयोजना । मन्त्रवित्तम इत्यनेन तन्त्रान्तरोक्तान्यङ्गानि सूचितानि । आह्लादिनी हृत् क्लिन्ने शिरः क्लेदिनि शिखा नित्ये वर्म मद नेत्रं द्रवेऽस्त्रमिति तानि ॥ ७९ ॥

मन्त्रवेत्ता साधक केवल वाग्बीज (ऐं) से षडङ्गन्यास करे । न्यास करने के पश्चात् समाहित चित्त हो वज्रप्रस्तारिणी का इस प्रकार ध्यान करे ॥ ७९ ॥

वज्रप्रस्तारिणीध्यानम् । पुरश्चरणादिकथनम्

रक्ताब्धौ रक्तपोते रविदलकमलाभ्यन्तरे सन्निषण्णां
रक्ताङ्गी रक्तमौलिस्फुरितशशिकलां स्मेरवक्त्रां त्रिनेत्राम् ।
बीजापूरेषुपाशकुशमदनधनुः सत्कपालानि हस्तै-
र्बिभ्राणामानताङ्गी स्तनभरनमितामम्बिकामाश्रयामः ॥ ८० ॥

मन्त्री मन्त्रं जपेल्लक्षं जपान्ते जुहुयात्ततः ।
अयुतं राजवृक्षोत्थैर्घृतसिक्तैः समिद्वरैः ॥ ८१ ॥

रक्ताब्धावित्यनेनैतदुक्तं भवति । पृथिव्यनन्तरं रक्तसमुद्रं रक्तपोतं भानुदलाब्जं पीठन्यासे न्यसेदिति । शेषं समानम् । इषुर्बाणः । मदनधनुरिक्षुचापम् । आयुधध्यानं वामोर्ध्वतः पाशचापकपालानि दक्षोर्ध्वतः अङ्कुशशरबीजपूराणि । केचन द्वितीयमन्त्रे बीजपूरस्थाने दाडिममाहुः । स्तनभरस्य भरणमाधिक्यं तस्मादानताङ्गी । आदिशब्देन रक्तगन्धः । स्वयमप्येतादृशवेष एव । तदुक्तम्—

शक्तिपीठे पूज्या देवी कुसुमानुलेपनैररुणैः । स्वयमप्यलङ्कृताङ्गः । इति । तृतीयेऽङ्गानि ध्यानं च यथा—

वर्णद्वन्द्वैश्चाङ्गविधिः स्मृतः । पूर्वोक्तरूपामभयपाशाङ्कुशकपालिनीमिति । समिद्वरैः श्रेष्ठसमिद्भिः ॥ ८०-८२ ॥

अम्बिका भगवती का ध्यान—लाल वर्ण के जल समुद्र में रक्त वर्ण के पोत पर १२ पत्तों वाले कमल के भीतर बैठी हुई रक्तवर्णा, मस्तक पर रक्तवर्ण की शशिकला धारण किये हुये, मन्द स्मित करने वाली, त्रिनेत्र अम्बिका भगवती का मैं आश्रय लेता हूँ। जिन्होंने अपने छः हाथों में बीजपूर, बाण, पाश, अंकुश, इक्षुदण्ड का धनुष तथा कपाल धारण किया है और जो स्तन भार से क्षीण कटि होने के कारण शरीर से कुछ झुकी हुई हैं उनका मैं ध्यान करता हूँ ॥ ८० ॥

मन्त्रवेत्ता साधक उक्त मन्त्र का एक लाख जप करे। जप के पश्चात् घी में डुबोये गये राजवृक्ष की श्रेष्ठ समिधा से दस हजार हवन करे ॥ ८१ ॥

शक्तिपीठे यजेद्देवीमरुणैः कुसुमादिभिः ।
अङ्गानि केसरेषु स्युरर्चनीया दलेष्विमाः ॥ ८२ ॥
हृल्लेखा क्लेदिनी क्लिन्ना क्षोभिणी मदनातुरा।
निरञ्जना रागवती सप्तमी मदनावती ॥ ८३ ॥
मेखला द्राविणी पश्चाद्वेगवत्यपरा स्मृता ।
कपालोत्पलधारिण्यः शक्तयो रक्तविग्रहाः ॥ ८४ ॥

आवरणपूजामाह अङ्गानीति । केसरेषु यान्यङ्गानि सामान्यत उक्तानि तानि स्युः। त्रिकोणोपरि कर्णिकायामिति शेषः । ध्यानस्य नारायणीये तथोक्तेः । रक्तसिन्धुचरत्पोतमासपत्राब्जयोनिगा । इति ।

तदुक्तं च—अङ्गैः शक्तिभिराभिराशाधिपैः क्रमात् पूज्या । इति ।

तन्त्रान्तरेऽपि त्रिकोणषट्कोणद्वादशदलं पीठमुक्त्वा—

अङ्गानि पूजयेदादौ त्रिकोणस्थास्तु पूजयेत् ।
इच्छाज्ञानक्रियासंज्ञाः षट्कोणेष्वर्चयेत्ततः ॥
डाकिन्याद्याः द्वादशसु हृल्लेखाद्याः समर्चयेत् । इति ।

स्मरा द्वादश । पुस्तकेषु बिन्दुद्वयस्य रेखात्मकता लेखकदोषवशात् ।

उक्तं च नारायणीये-मेखला द्राविणी वेगवती कामश्च ताः स्मृताः । इति ।

आचार्या अपि—सस्मरा द्वादश प्रोक्ताः । इति । अत एव शक्तय इत्युक्तिः । अन्यथा ध्यानमात्रमेव वदेत् । तेन शक्तीनामिदं ध्यानम् । स्मरस्तु प्रसिद्धध्यान इति भावः । रक्तविग्रहाः अरुणदेहाः ॥ ८२-८४ ॥

पुनः शक्तिपीठ पर लाल पुष्पों से देवी की पूजा करे । केशरों में अङ्ग पूजा कर पत्रों में नीचे लिखी देवियों की पूजा करे ॥ ८२ ॥

हृल्लेखा, क्लेदिनी, क्लिन्ना, क्षोभिणी, मदनातुरा, निरञ्जना, रागवती, मदनावती, मेखला, द्राविणी और वेगवती और स्मरा इन देवियों की द्वादश पत्र पर पूजा करे । ये सभी शक्तियाँ कपाल एवं रक्तवर्ण का कमल धारण की हुई हैं एवं सभी के शरीर का वर्ण रक्त है ॥ ८३-८४ ॥

मातरो दिग्विदिक्ष्वर्च्याः पुनः पूज्या दिगीश्वराः ।
भजेन्मन्त्री मनुं नित्यमर्चनादिभिरादरात् ॥ ८५ ॥
दारिद्र्यरोगनिर्मुक्तः स जीवेच्छरदां शतम् ।
अस्मिन्मन्त्रे रतो मन्त्री वशयेदखिलं जगत् ॥ ८६ ॥
नित्यं मन्त्रैर्बुधः कुर्यान्मुखक्षालनमन्वहम् ।
अञ्जनं तिलकं पुण्यं धारयेन्मन्त्रितं सुधीः ॥ ८७ ॥
ताम्बूलं मन्त्रितं भक्ष्येन्मन्त्री स स्याज्जगत्प्रियः ।

मातरो दिग्विदिक्ष्विति । द्वादशदलाद्बहिः स्थानमात्रनिर्देशः । तेन पुरोभागादि-प्रादक्षिण्येन चतुरस्रान्तरष्टदिक्षु मातृपूजनम् । दिगीश्वरा इति तदस्त्रोपलक्षकम् । तृतीये तु आवरणपूजा अङ्गैः पूर्वमन्त्रोक्ताष्टशक्तिभिर्लोकपालैस्तदस्त्रैश्च ।

दीक्षितः प्रजपेल्लक्षं मनुमेनं हुनेत्ततः ।
मधूकपुष्पैः स्वाद्वक्तैरयुतं हविषाऽथवा ॥ इति ॥ ८५-८७ ॥

इसके बाद द्वादश पत्र के बाहर चारों दिशाओं और चारों कोनों में अष्ट मातृगणों की पूजा करे । उसके भी बाहर अस्त्र वाहन सहित लोकपालों की पूजा करे । इस प्रकार मन्त्रवेत्ता साधक आदरपूर्वक आवरणों की पूजा कर मन्त्र का मनन करता रहे ॥ ८५ ॥

इस प्रकार का अनुष्ठान करने वाला साधक दारिद्र्य एवं रोग से विमुक्त हो जाता है और सैकड़ों वर्ष पर्यन्त जीवन लाभ करता है । इस मन्त्र का अनुष्ठान करने वाला साधक सारे जगत् को अपने वश में कर लेता है ॥ ८६ ॥

बुद्धिमान् साधक इसी मन्त्र से प्रतिदिन मुख प्रक्षालन करे । किं बहुना अञ्जन तिलक तथा सभी पुण्य कार्य इसी मन्त्र से निरन्तर अभिमन्त्रित कर करे । यदि साधक मन्त्र से अभिमन्त्रित ताम्बूल का भक्षण करे तो वह सारे जगत् का प्रिय बन जाता है ॥ ८७-८८ ॥

त्रैपुटमन्त्रः

श्रीमायामदनैः प्रोक्तो मन्त्री बीजत्रयात्मकः ॥ ८८ ॥
ऋषिः सम्मोहनश्छन्दो गायत्री देवता मनोः ।
त्रिपुटाख्या द्विरुक्तैस्तैर्बीजैरङ्गानि षट् क्रमात् ॥ ८९ ॥

त्रैपुटमन्त्रमाह श्रीति । सम्मोहन इत्युपलक्षणम् । भृगुशक्तिसन्मोहना ऋषय इति ज्ञेयम् । आद्यं बीजं द्वितीयं शक्तिः ॥ ८८-८९ ॥

अब त्रैपुट मन्त्र का उद्धार कहते हैं श्री (श्रीँ) माया (ह्रीँ) मदन (क्लीँ) यह तीन बीजात्मक मन्त्र त्रैपुट कहा जाता है ॥ ८८ ॥

इस मन्त्र के ऋषि सम्मोहन हैं, गायत्री छन्द हैं तथा त्रिपुटा इसकी देवता हैं। इन मन्त्रों को दो दो बार आवृत्ति कर षडङ्गन्यास करे ॥ ८९ ॥

पारिजातवने रम्ये मण्डपे मणिकुट्टिमे ।
रत्नसिंहासने सौम्ये पद्मे षट्कोणशोभिते ।
अधस्तात् कल्पवृक्षस्य निषण्णां देवतां स्मरेत् ॥ ९० ॥

पारिजातेति । पारिजातवने मण्डपे कल्पवृक्षस्याऽधस्तान् मणिकुट्टिमे रत्नसिंहासने पद्मे निषण्णां देवतां स्मरेदित्यन्वयः । व्यधिकरण्यः सप्तम्यः । पद्मे चतुःपत्रे अष्टपत्रे च । तत्र षट्कोणकर्णिकायां चतुःपत्रमन्यत् तत्कर्णिकायाम् ।

उक्तं च नारायणीये—यजेदेनां चतुःपत्रे षट्कोणस्थाम्बुजे च ताम् । इति ।

अथ चैतदुक्तं भवति । अनन्तरं सुवर्णभूमिं पारिजातवनं रत्नमण्डपं मणिकुट्टिमं रत्नसिंहासनं पूजयेत् । शेषं समानम् । नवकनकभासुरोर्वीविरचितमणिकुट्टिमे सकल्पतरौ । इत्याचार्योक्तेः ॥ ९० ॥

अब **त्रिपुटा के ध्यान का प्रकार** कहते हैं—पारिजात वन के मध्य में स्थित मण्डप में कल्पवृक्ष के नीचे मणिकुट्टिम युक्त रत्नसिंहासन पर षट्कोण शोभित पद्म पर विराजमान भगवती त्रिपुटा का ध्यान करना चाहिए ॥ ९० ॥

ऋष्यादिकथनम् । ध्यानम्

चापं पाशाम्बुजसरसिजान्यङ्कुशं पुष्पबाणान्
बिभ्राणां तां करसरसिजै रत्नमौलिं त्रिनेत्राम् ।
हेमाब्जाभां कुचभरनतां रत्नमञ्जीरकाञ्ची-
ग्रैवेयाद्यैर्विलसिततनुं भावयेच्छक्तिमाद्याम् ॥ ९१ ॥

चापमितीक्षुचापम् । आयुधध्यानं वामाधस्तात् दक्षाधःपर्यन्तम् ।

तदुक्तम् आचार्यैः— ध्यायेद्धृताब्जयुगपाशवराङ्कुशेक्षु
चापां सपुष्पविशिखां नवहेमवर्णाम् ॥ इति ॥ ९१ ॥

जिन त्रिपुटा देवी के कमल सदृश हाथों में इक्षु का धनुष, पाश, जल में उत्पन्न कमल समूह, अंकुश तथा पुष्पबाण सुशोभित हो रहे हैं । मस्तक पर रत्नजटित किरीट है, तीन नेत्रों वाली हैं, जिनके शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान देदीप्यमान हो रही है, जो कुचों के भार से झुकी हुई हैं, जिनकी मञ्जीर और काञ्ची रत्नजटित है, जिनका शरीर ग्रैवेयक (गले का आभूषण) से उल्लसित है, ऐसी आद्या शक्ति का ध्यान करना चाहिए ॥ ९१ ॥

चामरादर्शताम्बूलकरण्डकसमुद्गकान् ।
वहन्तीभिः कुचार्ताभिर्दूतीभिः परिवारिताम् ।
करुणामृतवर्षिण्या पश्यन्तीं साधकं दृशा ॥ ९२ ॥

ताम्बूलकरण्डकमित्येकम् । समुद्गकः सम्पुटकः गन्धादिस्थापनपात्रम् । दूतीभिरिति । घृणिनी सूर्या आदित्या प्रभावतीति चतस्रः । सौम्यादिचतुर्दलस्थाः । एता अपि द्विभुजाः । दक्षिणहस्ते चामरादि, वामहस्तेऽभयम् । तदुक्तम्—

निरायुधे करे प्रोक्तो वरः साधारणः सदा । अभयश्च । इति ।

नारायणीये तु कृताञ्जलित्वमुक्तम्—तद्दूतीश्च कृताञ्जलीः । सौम्यादि घृणिनीं सूर्यामादित्यां च प्रभावतीम् । इति ॥ ९२ ॥

जो चामर, आदर्श (दर्पण), ताम्बूल, करण्डक (पानदान) तथा इत्रादि की बन्द शीशी लिये हुये (कुचार्त) सेविकाओं से घिरी हुई हैं और जो अपने करुणामृतवर्षिणी दृष्टि से अपने साधक की ओर निहार रही हैं ऐसी भगवती का ध्यान करना चाहिए ॥ ९२ ॥

पुरश्चरणादिकथनम्

भानुलक्षं जपेदेनं मनुं तावत्सहस्रकम् ।
बिल्वारग्वधसम्भूतैर्मधुराक्तैः समिद्वरैः ॥ ९३ ॥
जवापुष्पैश्च जुहुयात्तोषयेद्वसुना गुरुम् ।
हल्लेखाविहिते पीठे पूजयेत्तां विधानतः ॥ ९४ ॥
आग्नेयादिषट्कोणेषु लक्ष्म्याद्याः परिपूजयेत् ।
लक्ष्मीं हेमप्रभां तन्वीं सवराब्जयुगाभयाम् ॥ ९५ ॥
चक्रशङ्खगदाम्भोजधरं हेमनिभं हरिम् ।
पाशाङ्कुशाभयाभीष्टधरां गौरीं जवारुणाम् ॥ ९६ ॥
मृगटङ्काभयाभीष्टधरं स्वर्णनिभं हरम् ।
नीलोत्पलकरां सौम्यां रतिं काञ्चनसन्निभाम् ॥ ९७ ॥
धृतपाशाङ्कुशेष्वासपुष्पेषुमरुणं स्मरम् ।
पूर्ववन्निधियुग्मं तद्यजेदुभयपार्श्वयोः ॥ ९८ ॥

भानुलक्षं द्वादशलक्षम् । आरग्वधो राजवृक्षः । विधानत इत्यनेन तन्त्रान्तरोक्तं यन्त्रे बीजलिखनं सूचितम् । तदुक्तं संहितायाम्—

षट्कोणं पूर्वमालिख्य मध्ये विद्यां लिखेत् सुधीः ।
वीप्सया तां तु षट्कोणकोणेषु क्रमतो लिखेत् ॥
बाह्ये वसुदलं कुर्याद्दीर्घस्वरविभूषितम् ।
चतुरस्रं चतुर्द्वारभूषितं मण्डलं लिखेत् ॥ इति ।

टङ्कः परशुः । इष्वासो धनुः । आयुधध्यानं स्वस्वप्रकारणेऽनुसन्धेयम् ॥ ९३-९८ ॥

इस मन्त्र का बारह लाख जप करना चाहिए और त्रिमधुर (पय, घृत, मधु) में डुबोई गई विल्व तथा राजवृक्ष की लकड़ी से जवा पुष्प के द्वारा उतने लाख होम करे, गुरु को दक्षिणा से संतुष्ट करे और हृल्लेखा (ह्रीँ) से विहित पीठ पर विधान पूर्वक त्रिपुरा का पूजन करे ॥ ९३-९४ ॥

आसन के आग्नेयादि षट्कोणों में लक्ष्मी आदि शक्तियों की पूजा करे । लक्ष्मी के शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान हैं जो सूक्ष्म कटि से युक्त है और हाथों में वर-कमल का जोड़ा तथा अभय धारण की हुई हैं इसी प्रकार चक्र, शङ्ख, गदा एवं कमल धारण करने वाले श्री हरि की अग्निकोण में पूजा करे ॥ ९५-९६ ॥

तदनन्तर नैर्ऋत्य में पाश अंकुश अभय तथा वर मुद्रा धारण करने वाली, जवा पुष्प के समान वर्ण वाली गौरी और मृग, टंक (परशु) अभय, तथा वरमुद्रा धारण किये हुये स्वर्ण के समान आभा वाले हर का पूजन करे । तदनन्तर नील कमल धारण करने वाली, काञ्चन वर्णा, अत्यन्त सौम्य स्वभाव वाली, रति एवं पाश, अंकुश, धनुष तथा पुष्प बाण धारण करने वाले, अरुण वर्ण काम की पूजा करे ॥ ९६-९८ ॥

उसके दोनों पार्श्व भाग में पूर्ववत् शङ्खनिधि और पद्मनिधि की उनके शक्तियों सहित पूजा करे (द्र. ८. १३, १४) ॥ ९८ ॥

बहिरङ्गानि सम्पूज्य पूज्याः पत्रेषु मातरः ।
लोकेशान् वनितारूपानर्चयेत् सौम्यविग्रहान् ॥ ९९ ॥

पूर्ववदिति सशक्तिकध्यानम् । उभयपार्श्वयोः षट्कोणपार्श्वयोः । एतदन्तमावरणम् । बहिरिति । षट्कोणादष्टदलकेसरेषु । सौम्यविग्रहानित्यनेन 'उत्तुङ्गयौवनोन्मत्तदेव्याराधनगर्वितान्' इति तन्त्रान्तरोक्तमुक्तं भवति ॥ ९९ ॥

इसके बाद बाहर अङ्गो की पूजा कर पत्रों पर अष्टमातृकाओं का पूजन करे । पुनः उसके बाहर स्त्री रूप धारण किये हुये सौम्यस्वरूप लोकपालों का पूजन करे ॥ ९९ ॥

इत्थं यः पूजयेद्देवीं नित्यं भक्तिसमन्वितः ।
सम्प्राप्य कवितां दिव्यां प्राप्य लक्ष्मीमनन्तराम् ॥ १०० ॥
सौभाग्यमतुलं लब्ध्वा विहरेत् सुचिरं भुवि ।

कवितामित्यत्र वाग्भवादित्वम् । प्राप्य लक्ष्मीमिति श्रीबीजादित्वम् ।

तदुक्तं नारायणीये—श्रीकामशक्तिबीजात्मा श्रीकरो वश्यकृन्मनुः । इति ।

सौभाग्यमिति कामादित्वं मायामध्यत्वम् । मायान्तत्वे तु त्रिपुरामन्त्रान्तर्भावः । एवमुभयशक्त्यादित्वे यशस्करं ज्ञेयम् । यद्बीजादिको मन्त्रस्तदादिकान्यङ्गान्यपि कुर्यात् ॥ १००-१०१ ॥

जो साधक इस प्रकार भक्तियुक्त हो भगवती त्रिपुटा का पूजन करता है, वह दिव्य कविता और महालक्ष्मी इन दोनों विभूतियों को प्राप्त कर अतुलनीय सौभाग्य से युक्त हो पृथ्वी में चिरकाल पर्यन्त बिहार करता है ॥ १००-१०१ ॥

अश्वारूढामन्त्रः

पाशाङ्कुशपुटा शक्तिर्झिण्टीशो गगनं सदृक् ॥ १०१ ॥
परमेश्वरिशब्दान्ते द्विठान्तः प्रणवादिकः ।
अश्वारूढामनुः प्रोक्तस्त्रयोदशभिरक्षरैः ॥ १०२ ॥
द्वाभ्यामेकेन चैकेन द्वाभ्यां पञ्चभिरक्षरैः ।
द्वाभ्यामङ्गानि षट् कुर्यात्ततो देवीं विचिन्तयेत् ॥ १०३ ॥

अश्वारूढामन्त्रमाह पाशेति । पाश अं अङ्कुशः क्रों शक्तिर्मायाबीजं तेन पाशादित्र्यक्षरः । त्रयोदशभिरक्षरैरित्युक्तेराद्यन्तयोः पाशाभ्यां पुटितत्वं न गृह्यत इति ज्ञेयम् । झिण्टीशः ए गगनं हः सदृगिकारसहितं तेन हि । साम्प्रदायिका अस्य एहि पदस्य द्विरुक्तिं वागादित्वं च वदन्ति । अन्ये तु अब्धितः शरतो बाणतः ऋक्पादान् त्रीन् पठित्वा अन्ते द्विठाङ्कुशमायापाशप्रणवा इति ।

'यदद्य कच्चवृत्रहन्नुदगाँ अभि सूर्यः । सर्वं तदिन्द्र ते वशे' इति ऋक् । अस्य ब्रह्मा ऋषिः विराट् छन्दः प्रणवो बीजं स्वाहा शक्तिः । अन्ये पूर्वोद्धृतामेव दशाक्षरीं मन्यन्ते— मूर्द्धालिकाक्षिनासाग्रवक्त्रकण्ठेषु च क्रमात् ।
हृन्नाभिध्वजमूलाङ्घ्रिष्वक्षराणि प्रविन्यसेत् ॥ इति ।

त्रयोदशाक्षरन्यासो यथा—मूर्द्धालिकाज्ञाकर्णाक्षिनासाग्रास्याङ्गुलेषु च ।
हृन्नाभिध्वजमूलाङ्घ्रिष्वक्षराणि प्रविन्यसेत् ॥ इति ।

षड्दीर्घमायया दशाक्षर्या षडङ्गम् । ग्रन्थोक्तषडङ्ग्रेष्वपि षड्दीर्घमायायोगमाहुः साम्प्रदायिकाः । दशाक्षर्या ध्यानम्—अरुणामरुणाब्जस्थामरुणाम्बरभूषणाम् ।
चतुर्भुजा त्रिनेत्रां च प्रसन्नवदनां शिवाम् ॥
खड्गं चर्म च यष्टिं च दधानां दक्षवामयोः ।
अधस्ताद्धेमवेत्रं स्यात् पाशस्तस्योर्द्ध्वतः स्थितः ॥
कण्ठे बद्धाऽथ पाशेन साध्यं वेत्रसमाहृतम् ।
बद्धाञ्जलिकरं व्योम्नि भ्रमन्तं पातितं पदे ॥
आकर्षयन्तीं ध्यायेत्ताम् । इति ॥ १०१-१०३ ॥

विमर्श—इस मन्त्र मे वाग्भव का फल कवित्व है, महा श्री बीज का फल

अनन्त लक्ष्मी की संप्राप्ति है तथा कामबीज का फल अनन्त सौभाग्य सम्पन्न समझना चाहिए ॥ १०१ ॥

अब **अश्वारूढा मन्त्र का उद्धार** कहते हैं—पाश (आं), अंकुश (क्रों), इससे संयुक्त शक्ति (ह्रीँ), झिण्टीश (ए), सदृक्, इकार सहित गगन (हि), तदनन्तर 'परमेश्वरि' पद, उसके बाद द्विठान्त (स्वाहा) तथा इस मन्त्र के आदि में प्रणव (ॐकार) लगावे । इस प्रकार १३ अक्षरों का अश्वारूढा मन्त्र का उद्धार कहा गया । इसका **स्वरूप** इस प्रकार है—'ॐ आँ क्रों ह्रीँ एहि परमेश्वरि स्वाहा' (१३) ॥ १०२ ॥

दो अक्षर, एक अक्षर, पुनः एक अक्षर, दो अक्षर इसके बाद पाँच अक्षर तदनन्तर दो अक्षरों से षडङ्गन्यास करे । फिर साधक को देवी का इस प्रकार ध्यान करना चाहिए ॥ १०३ ॥

अश्वारूढाध्यानम् पुरश्चरणादिकथनम्

रक्तामश्वाधिरूढां शशधरशकलां बद्धमौलिं त्रिनेत्रां
पाशेनाबध्य साध्यां स्मरशरविवशां दक्षिणेनानयन्तीम् ।
हस्तेनाऽन्येन वेत्रं वरकनकमयं धारयन्तीं मनोज्ञां
देवीं ध्यायेदजस्रं कुचभरनमितां दिव्यहाराभिरामाम् ॥ १०४ ॥

त्रयोदशाक्षर्या ध्यानमाह रक्तामिति । अश्वेति रक्तोऽश्वः । स्मरशरविवशां साध्यां पाशेनाबध्य कण्ठ इति ज्ञेयम् । 'कण्ठे बद्धाऽथ पाशेन' इति उक्तेः । अन्येन वामेन हस्तेनानयन्तीम् । पुनः किं विशिष्टाम् । दक्षिणेन वेत्रं धारयन्तीम् ।

तदुक्तम्— अश्वारूढा कराग्रे नवकनकमयीं वेत्रयष्टिं दधाना ।
दक्षेऽन्येनानयन्ती । इति ॥ १०४ ॥

देवी का ध्यान—जिनके शरीर की आभा रक्तवर्ण है, जो घोड़े की पीठ पर आरूढ़ हैं, जिनके भालस्थ मुकुट में चन्द्रकला आबद्ध है, जिनके तीन नेत्र हैं, जो अपने दाहिने हाथ से अपने साधक के लिये साध्यभूता स्त्री को काम से विवश कर एवं उसके कण्ठ को पाश से बाँधकर ले आ रही हैं और बायें हाथ में सोने का वेत्र-दण्ड धारण की हैं ऐसी कुचभार से विनम्र दिव्यहार से सुशोभित, सर्वथा मनोज्ञ अश्वारूढ़ा देवी का निरन्तर ध्यान करना चाहिए ॥ १०४ ॥

बाणलक्षं जपेन्मन्त्रमाज्येनाऽन्ते जितेन्द्रियः ।
दशांशं जुहुयाद्देवीं शक्तिपीठे समर्चयेत् ॥ १०५ ॥
पाशादित्र्यक्षरोक्तेन विधानेन समाहितः ।
आज्याढ्यान्नहुतान्मन्त्री लभते वाञ्छितं फलम् ॥ १०६ ॥
लवणैर्मधुसंसिक्तैर्होमेन वशयेन्नृपान् ।
तेनैव विधिना मन्त्री वशयेद्वनितामपि ॥ १०७ ॥

बाणलक्षं पञ्चलक्षम् । दशाक्षर्यास्तु—

हविष्याशी जपेद्वर्णलक्षं होमं दशांशतः ।
विदध्यात्तु पलाशैर्वा जवापुष्पैश्च वा प्रिये ।
कुसुम्भकुसुमैर्वाज्यैरन्यैर्वा रक्तपुष्पकैः ॥ इति ।

पूजा तु— पञ्चपत्राब्जयुगलं षट्कोणाष्टदलाब्जयुक् ।
चतुरस्रद्वयं द्वारद्वययुक्तमिति प्रिये ॥
चक्रं विधाय तां देवीमावाह्याऽत्र प्रपूजयेत् ।
अङ्गैर्बाणैश्च शब्दाद्यैराकर्षण्यन्तिकैः परम् ॥
श्रोत्रादिभिश्च बुद्ध्यन्तैराकर्षण्यन्तिमैः परम् ।
प्राणात्मशक्तिचैतन्यं मनोऽहङ्कारभावकान् ॥
शरीरं चाष्टपत्रेष्वाकर्षणीपदपश्चिमान् ।
ब्राह्म्याद्या लोकपालांश्च तदस्त्राणि च तद्बहिः ॥ इति ।

यन्त्रं च— त्रिकोणषट्कोणवृत्तं यन्त्रं कृत्वा सवृत्तकम् ।
तन्मध्ये विलिखेत् पूर्वं विद्याद्यं च ततः परम् ॥
वर्णत्रयं त्रिकोणेषु षट्कोणेषु षडक्षरान् ।
तद्बाह्यवृत्तवीथ्यां तु मातृकां वेष्टयेत् क्रमात् ॥
एवं मध्ये प्रविन्यासाद्दश यन्त्राणि कल्पयेत् ।
जपपूजनसम्पातैर्वश्याकृष्टिवसुस्त्रियः ।
भूरत्नकीर्त्तिसौभाग्यनिधिकान्तीश्च साधयेत् ॥

इति ॥ १०५-१०७ ॥

जितेन्द्रिय हो इस अश्वारूढा मन्त्र का पाँच लाख जप करे, तदनन्तर उसका दशांश घी की आहुति देवे । पुनश्च शक्ति पीठ में उनका अर्चन करे । मन्त्रज्ञ साधक समाहित चित्त से केवल पाशादि त्र्यक्षर (आं क्रों ह्रीँ) मन्त्र से आज्य मिश्रित अन्न की आहुति दे तो वह अपना मनोरथ प्राप्त करता है । लवण अथवा मधु मिश्रित अन्न की आहुति इस मन्त्र से देकर साधक उसी विधि से पूजा करे तो वह राजा को किं बहुना स्त्री को भी वश में कर लेता है ॥१०५-१०७॥

यन्त्रम्

आलिख्य कोष्ठानि विकारसंख्यान्यन्तश्चतुष्के प्रणवं ससाध्यम् ।
अन्येष्वपि द्वादश मन्त्रवर्णान् लिखेदिदं यन्त्रमशेषवश्यम् ॥१०८॥

यन्त्रमाह आलिख्येति । विकारः षोडश । लिखेदिति अग्रादि प्रादक्षिण्येन ॥ १०८ ॥

१६ कोष्ठक का चतुष्कोण निर्माण कर अन्त के चार कोठों में प्रणव से युक्त साध्य नाम, कार्य तथा साधक के अक्षरों को लिखे शेष १२ कोष्ठकों में इस मन्त्र के द्वादश अक्षरों को एक एक के क्रम से लिखे, तो यह यन्त्र सभी को वश में करने वाला होता है ॥ १०८ ॥

अन्नपूर्णामन्त्रः

मायाहृद्भगवत्यन्ते माहेश्वरिपदं वदेत्।
अन्नपूर्णे ठयुगलं मनुः सप्तदशाक्षरः।
अङ्गानि मायया कुर्यात्ततो देवीं विचिन्तयेत्॥ १०९ ॥

अन्नपूर्णामन्त्रमाह मायेति । हृन्नमः । अत्र नमः शब्दसकारस्य रोरुत्वे गुणे च उकार इति ज्ञेयम् । ठयुगलं स्वाहा । अत्र सप्तदशाक्षर इत्युक्तेः रि अ इत्यत्र न यणादेशः । केचनास्य प्रणवादित्वमाहुः । ब्रह्मा ऋषिः अनुष्टुप् छन्दः माया बीजं स्वाहा शक्तिः । माययेति षड्दीर्घयुक्तया ॥ १०९ ॥

अब **अन्नपूर्णा का मन्त्रोद्धार** कहते हैं—

माया (ह्रीँ) हृत् (नमः) तदनन्तर 'भगवति माहेश्वरि' अन्नपूर्णे' ये तीन पद तदनन्तर दो ठकार (स्वाहा) लिखे । इस प्रकार १७ अक्षरों का अन्नपूर्णा मन्त्र का उद्धार कहा गया । इसका **स्वरूप** इस प्रकार है—'ह्रीँ नमः भगवति माहेश्वरि अन्नपूर्णे स्वाहा' (१७ अक्षर) ॥ १०९ ॥

अन्नपूर्णाध्यानम्

रक्तां विचित्रवसनां नवचन्द्रचूडा
मन्नप्रदाननिरतां स्तनभारनम्राम् ।
नृत्यन्तमिन्दुशकलाभरणं विलोक्य
हृष्टां भजेद्भगवतीं भवदुःखहन्त्रीम्॥ ११० ॥

अन्नप्रदाननिरतामिति विनियोगोक्तिः इन्दुशकलाभरणं शिवम् ॥ ११० ॥

अब **अन्नपूर्णा का ध्यान** कहते हैं—

जिनका शरीर रक्तवर्ण हैं जो नाना प्रकार के चित्र विचित्र वस्त्रों को धारण की हैं, जिनके शिखा में नवीन चन्द्रमा विराजमान है, जो निरन्तर त्रैलोक्यवासियों को अन्न प्रदान करने में निरत हैं, स्तनभार से विनम्र, भगवान् सदाशिव को अपने सामने नाचते देख प्रसन्न रहने वाली, संसार के समस्त पाप तापों को दूर करने वाली भगवती अन्नपूर्णा का इस प्रकार ध्यान करना चाहिए ॥ ११० ॥

पुरश्चरणादिकथनम्

यथाविधि जपेन्मन्त्रं वसुयुग्मसहस्रकम् ।
साज्येनाऽन्नेन जुहुयात् तद्दशांशमनन्तरम् ॥ १११ ॥
शक्तिपीठे यजेद्देवीमङ्गलोकेश्वरायुधैः ।
प्रातरेनं जपेन्मन्त्रं नित्यमष्टोत्तरं शतम् ॥ ११२ ॥
एतस्याऽन्नसमृद्धिः स्याच्छ्रिया सह महीयसी ।

यथाविधीति पुरश्चरणोक्तमार्गेण । वसुयुग्मसहस्त्रं षोडशसहस्त्रम् । एतस्य साधकस्य ॥ १११-११३ ॥

पुरश्चरण की रीति के अनुसार अन्नपूर्णा मन्त्र का सोलह हजार जप करे और इसके बाद उसका दशांश घी युक्त अन्न से होम करे ॥ १११ ॥

शक्ति पीठ पर अङ्ग, वाहन एवं आयुध सहित लोकेश्वरों के साथ देवी का पूजन करे और प्रातःकाल प्रतिदिन १०८ बार इस अन्नपूर्णा मन्त्र का जप करे तो लक्ष्मी के साथ उसे महान् अन्नराशि की उपलब्धि होती है ॥ ११२ ॥

पद्मावतीमन्त्रः

माया पद्मावतिपदं ततः पावकवल्लभा ॥ ११३ ॥
सप्तार्णो मनुराख्यातः सर्ववश्यप्रदायकः ।
अङ्गानि मायया कुर्यात् ध्यायेत् त्रैलोक्यमोहिनीम् ॥११४॥

पद्मावतीमन्त्रमाह मायेति । सर्ववश्येति विनियोगोक्तिः । त्रैलोक्यमोहिनी-मित्यपि । ब्रह्मा ऋषिः गायत्री छन्दः माया बीजं स्वाहा शक्तिः । अत्रापि माययेति पूर्ववत् ॥ ११३-११४ ॥

अब **पद्मावती मन्त्र का उद्धार** कहते हैं—माया (ह्रीँ), उसके बाद 'पद्मावति' यह पद, तदनन्तर 'स्वाहा' लगावे । इस प्रकार सात अक्षरों वाले पद्मावती मन्त्र का उद्धार कहा गया । सात अक्षरों वाला यह पद्मावती मन्त्र सर्ववश्यकारी है । माया मन्त्र से षडङ्गन्यास कर त्रैलोक्यमोहिनी पद्मावती का इस प्रकार ध्यान करे ॥ ११३-११४ ॥

पद्मावतीध्यानम्

पद्मासनस्थां करपङ्कजाभ्यां रक्तोत्पले संदधतीं त्रिनेत्राम् ।
आबिभ्रतीमाभरणानि रक्तां पद्मावतीं पद्ममुखीं भजामि ॥११५॥

पद्मावतीध्यानमाह पद्मेति ॥ ११५ ॥

पद्मवती का ध्यान—जो पद्मासन पर विराजमान हैं, अपने दोनों करकमलों में रक्तवर्ण का एक एक कमल धारण की हैं, जिनके तीन नेत्र है, जो सभी प्रकार के आभरणों से विभूषित हैं तथा रक्त वर्ण वाली हैं—ऐसी पद्ममुखी पद्मावती का मैं भजन करता हूँ ॥ ११५ ॥

पुरश्चरणादिकथनम् । यन्त्रम्

पक्षलक्षं जपेन्मन्त्रं दशांशं जुहुयाद् घृतैः ।
शक्तिपीठे यजेद्देवीमङ्गाद्यावरणैः सह ॥ ११६ ॥
किञ्जल्केष्वङ्गपूजा स्यात् पूज्याः पत्रेषु मातरः ।
लोकपाला बहिः पूज्यास्तदस्त्राणि ततो बहिः ॥ ११७ ॥

इत्थं यो भजते मन्त्रं जपहोमार्चनादिभिः ।
सुभगः सर्वनारीणां भवेत् काम इवापरः ॥ ११८ ॥

पक्षलक्षं लक्षद्वयम् ॥ ११६-११८ ॥

दो लाख पद्मावती मन्त्र का जप करे और उसका दशांश घी से होम करे तदनन्तर शक्ति पीठ पर अङ्गादि आवरणों के साथ देवी का पूजन करे ॥ ११६॥

केशरों पर अङ्गपूजा, पत्रों पर मातृकाओं की पूजा करे । इसके पश्चात् बाहर लोकपालों की और उसके भी बाहर उनके अस्त्रों की पूजा करे ॥ ११७ ॥

इस प्रकार जो साधक पद्मावती का जप होम तथा अर्चन द्वारा सेवा करता है वह सभी स्त्रियों को दूसरे काम के समान सुन्दर दिखाई पड़ता है ॥ ११८ ॥

पद्मावतीमन्त्रमाह

षडस्रमध्ये प्रविलिख्य शक्तिं कोणेषु शिष्टानि षडक्षराणि ।
तद्बाह्यतो मातृकयाऽभिवीतं पद्मावतीयन्त्रमिदं प्रशस्तम् ॥११९॥

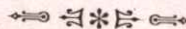
यन्त्रमाह षडस्रेति ॥ ११९ ॥

षट्कोण का निर्माण कर उसके मध्य में शक्ति (ह्रीँ) लिखे पश्चात् कोणों में पद्मावती मन्त्र के शेष अक्षरों को लिखें उसके बाहर चारों ओर मातृका के ५१ अक्षरों को लिख कर घेर देवे तो यह पद्मावती यन्त्र नितरां प्रशस्त कहा जाता है ॥ ११९ ॥

अमठन्यासः

तारं शिरसि विन्यस्य देवीं सञ्चिन्त्य भारतीम् ।
शक्तिबीजं न्यसेद्भाले संस्मृत्य भुवनेश्वरीम् ॥ १२० ॥
अमसौ नेत्रयोर्न्यस्येत् ध्यात्वा सूर्यं हुताशनम् ।
मुखवृत्तेन विन्यस्येद्दान्तं चन्द्रमनुस्मरन् ॥ १२१ ॥
जिह्वायां विन्यसेद्बीजं रमायास्तां विचिन्तयन् ।
स्वाहार्णौ गण्डयोर्न्यस्येत् तद्गजेन्द्रधिया सुधीः ॥ १२२ ॥
अमठं न्यासमाख्यातं कुर्वन् प्रतिदिनं नरः ।
कीर्त्तिश्रीकान्तिमेधानां वल्लभो भवति ध्रुवम् ॥ १२३ ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचिते शारदातिलके
दशमः पटलः समाप्तः ॥ १० ॥



अमठन्यासमाह तारमिति । अमसौ अं बिन्दुः अः विसर्गः । मुखवृत्तेन मुखवृत्त इत्यर्थः । क्वचिन्मुखे वृत्तेनेति पाठः । वृत्तेन वृत्तरूपेण मुखे न्यसेदिति । टान्तं ठकारम् तद्गजेन्द्रधिया लक्ष्मीगजेन्द्रबुद्ध्या । विचिन्त्येत्युक्तेः तत्तत्प्रकरणे तत्तद्-ध्यानमनुसन्धेयम् । तत्र तर्जन्यनामिकाकनिष्ठाः समाकुञ्च्य युक्ताभ्यां मध्यमा-ङ्गुष्ठाभ्यां गजशुण्डाकाराभ्यामयं न्यासः कर्त्तव्य इत्युपदेशः साम्प्रदायिकानाम् ।

गजेन्द्रध्यानं यथा— तारकुन्देन्दुधवलौ गलगण्डमदोत्कटौ ।
लसत्पुष्करशोभाढ्यौ स्फुरद्दन्तौ गजौ भजे ॥

इति ॥ १२०-१२२ ॥

कीर्त्तिश्रीत्यनेनास्य स्वातन्त्र्यमुक्तम् । तत्र प्रयोगः—ॐ सरस्वत्यै नमः । ह्रीं उमायै नमः । अं सूर्यमण्डलाय । अः वह्निमण्डलाय । वं सोममण्डलाय । श्रीं श्रिये स्वां दन्तिने । हां दन्तिने । अस्य छन्दऋष्यादिकं यथा । अमठश्रीमन्त्रस्य लक्ष्मीनारायण ऋषिः । बृहती छन्दः । अमठश्रीः देवता । ह्रीं बीजं श्रीं शक्तिः । सर्ववश्यार्थे विनियोगः । ॐ श्रीं हृत् । श्रीकरि शिरः । धनकरि शिखा । धान्यकरि वर्म । ऋद्धिकरि नेत्रम् । पुष्टिकरि अस्त्रम् ॥ १२०-१२३ ॥

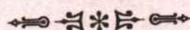
॥ इति श्रीराघवभट्टविरचित-शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां दशमः पटलः ॥ १० ॥



भारती का ध्यान करते हुये प्रणव से शिर पर न्यास करे । पुनः भुवनेश्वरी का ध्यान कर शक्तिबीज से ललाटपट्ट पर न्यास करे सूर्य एवं अग्नि का ध्यान कर अँ अः से दोनों नेत्रों पर न्यास करे, पुनः चन्द्रमा का स्मरण करते हुये 'ठं' से मुखवृत्त पर न्यास करे । पुनः महालक्ष्मी का ध्यान करते हुये लक्ष्मी बीज (श्रीँ) से जिह्वा पर न्यास करे। इसके पश्चात् लक्ष्मी के दो गजेन्द्र का ध्यान करते हुये 'स्वाहा' मन्त्र से दोनों गण्डस्थलों पर न्यास करना चाहिए ॥ १२०-१२२ ॥

ऊपर कहे गये न्यास को अमठन्यास कहते हैं जो मनुष्य प्रतिदिन इस न्यास का आचरण करता है वह कीर्त्ति श्री, कान्ति तथा मेधा का निश्चित रूप से प्रिय पात्र हो जाता है ॥ १२३ ॥

॥ इस प्रकार शारदातिलक के दसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दीं व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १० ॥



चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली-११०००७

Designed by Rama Enterprises, N. Delhi Ph. 9810216688